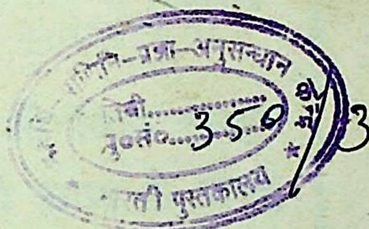
सचित्र

माधव मिश्र-निबन्ध-माला

अर्थात्

[स्वर्गीय सुदर्शन-सम्पादक पं० माधवप्रसाद मिश्र के प्रसिद्ध गद्य लेखों का संग्रह ।]

प्रथम भाग





सम्पादक

साहित्यभूषण चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा एम० आर० ए० एम०

श्री झावरमल्ल शर्मा

[भूतपूर्व दैनिक कलकत्ता-समाचार सम्पादक]

प्रकाशक

इंडियन प्रेस लिमिटेड,

प्रयाग ।

संवत् १९९२ वि०

Published by
K. Mittra
at The Indian Press, Ltd.,
Allahabad.

Printed by
P. N. Chaturvedi
Bharatwasi Press,
Allahabad.

कतिपय विशिष्ट सम्मतियाँ

"स्वर्गीय पण्डित माधवप्रसाद जी मिश्र का स्थान प्राचीन हिन्दी लेखकों में बहुत ऊँचा है।.......मिश्र जी हिन्दी के बहुत ही मर्मज्ञ प्रतिभाशाली लेखक थे।"........

—स्वतन्त्र

"पण्डित माधवप्रसाद जी मिश्र संस्कृतज्ञ, काव्यमर्मज्ञ और हिन्दी भाषा के अच्छे लेखक थे।"

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

"हिन्दी के प्रतिभाशाली, मर्मज्ञ और ओजस्वी लेखक स्वर्गवासी पं० माधवप्रसाद जी मिश्र का स्थान हिन्दी के इतिहास के निर्माताओं में है।"

—विश्वमित्र

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ

प्रथम खण्ड—जीवनचरित

द्वितीय खण्ड—पुरातत्त्व

विषय | पृष्ठ

तृतीय खण्ड—पर्व या त्यौहार

चतुर्थ खण्ड—साहित्य

पञ्चम खण्ड—राजनीति

षष्ठ खण्ड—स्थान-वर्णन और भ्रमण-वृत्तान्त

निवेदन

'विशाल भारत' के सम्पादक चतुर्वेदी बनारसीदास 'विशाल भारत' द्वारा स्वर्गीय साहित्यसेवियों की कीर्तिरक्षा के सम्बन्ध में कार्तिक संवत् १९८७, सन् १९३० ई० से समय समय पर हिन्दी-संसार का ध्यान आकर्षित करते आ रहे हैं। इसी प्रसङ्ग में उन्होंने श्रद्धाभाजन साहित्यसेवी पण्डित माधवप्रसाद जी मिश्र की, जिनके कि देहावसान को प्राय: २७ वर्ष बीत चुके हैं, चर्चा करते हुए, उनके लेखों और कविताओं को पुस्तकाकार प्रकाशित करने की कई बार आवश्यकता प्रकट की। प्रथितनामा साहित्याचार्य स्वर्गीय पण्डित पद्मसिंह जी शर्मा ने तो "विद्यार्थी" (के स्वर्गीय पण्डित रामजी लालजी शर्मा के स्मारकाङ्क) द्वारा इसके लिये मिश्रजी के हिन्दी-साहित्य-सेवी मित्रों को खुली फटकार बतलायी थी। शर्मा जी ने लिखा था—

"......मिश्र जी के सुयोग्य सहोदर भ्राता मौजूद हैं, अनेक अन्तरङ्ग मित्र भी हैं, पर उनके ओजस्वी लेखों का संग्रह आजतक न हो सका। यहीं तक नहीं लोग बहुत जल्दी उनके सदा संस्मरणीय नाम को भूल गये। "हिन्दी भाषा और साहित्य" के नाम पर अभी हाल ही में एक बड़ा सा "वृथा पुष्ट पोथा" प्रकाशित हुआ है, जिसमें हिन्दी के उस परम ओजस्वी उद्भट विद्वान् लेखक का नाम तक नहीं आया। यद्यपि मिश्र जी के 'सुदर्शन' के सैकड़ों प्रेमी पाठक अभी जीते हैं, मिश्र जी की निराली शैली को मुक्तकण्ठ से सराहनेवाले अनेक विद्वान् लेखक वर्तमान हैं, बहुतों के पास 'सुदर्शन' की फाइल भी सुरक्षित हैं, हिन्दी के पारखी उसे पढ़ते हैं और सिर धुनते हैं; तथापि हिन्दी साहित्य के यह दिवान्ध लेखक मिश्र जी के प्रकाशमान नाम को भी नहीं देख सकते।"......

इसी प्रकार हिन्दी के यशस्वी लेखक (बूंदी निवासी) पण्डित लज्जाराम जी मेहता मिश्र जी के निबन्धों और कविताओं को प्रकाशित देखने की प्रिय अभिलाषा प्रकट करते हुए परलोकगामी हो गये!

हिन्दी साहित्य संसार के चिरपरिचित कवि और लेखक सहृदय पण्डित लोचनप्रसाद जी पाण्डेय ने मिश्र जी के संस्मरण में लिखा है :—

"पूज्य पं० माधवप्रसाद मिश्र हिन्दी के उन इने गिने प्रतिभाशाली विद्वान् लेखकों में थे कि जिनके द्वारा हिन्दी साहित्य का गौरव बढ़ा है। आपकी लेखनी में ग़ज़ब की शक्ति थी। उच्चकोटि की साहित्यिक भाषा लिखने में आप सिद्धहस्त थे। उनकी शैली बड़ी ही आकर्षक और अपने ढंग की निराली थी। प्रौढ़ता और सरसता के साथ साथ ओज और आकर्षकता उनकी रचना की प्रधान विलक्षणता थी। आप संस्कृत भाषा तथा दर्शन-शास्त्र के तो पण्डित थे ही पर हिन्दी काव्य रचना में भी आपको कमाल हासिल था। उनकी "युवा संन्यासी" नामक कविता पढ़कर किसके नेत्र अश्रुप्लुत न होंगे, हृदय न भर आवेगा! सीधी सादी खड़ी बोली में स्वामी रामतीर्थ के संन्यास ग्रहण के उपलक्ष में लिखित इन पंक्तियों में ग़ज़ब का जादू भरा हुआ है। यदि वे केवल इसी एक कविता ही की रचना करते तो भी हिन्दी साहित्य में अमर हो सकते थे। इस कविता में एक विश्व-विख्यात सर्वस्वत्यागी की "वीरता" और एक ब्राह्मण कवि-हृदय की करुणा का अद्भुत सम्मिलन है। अद्भुत रस ही काव्य की जीवनी शक्ति है। "युवासंन्यासी" कविता एक अद्भुत रचना है—इसमें सन्देह नहीं।

मुझे स्मरण है "विद्यार्थी और स्वदेशी आन्दोलन" पर आपका एक लेख १९०५—०६ में "श्रीवेंकटेश्वर समाचार" (बम्बई) में छपा था। वह महामना मालवीय, श्रीमती एनी बेसेंट तथा अन्यान्य नरमदली नेताओं के इस उपदेश की तर्कपूर्ण आलोचना थी कि विद्यार्थीवृन्द राजनैतिक आन्दोलन से अलग रखे जांय। विदित हो कि उस समय 'स्वदेशी आन्दोलन' राजनैतिक आन्दोलन का पर्यायवाची शब्द था। कहना न होगा कि उस लेख का व्यावहारिक रूप सन् १९२१ के 'असहयोग आन्दोलन' में पूर्ण रूप से भारत में परिलक्षित हुआ था। मिश्र जी अतीव दूरदर्शी राजनैतिक नेता और निर्भीक वक्ता थे। वे सत्य के उसी प्रकार अनुयायी थे जिस भाँति महात्मा गाँधी। इतने पर भी वे 'सनातनधर्म' के प्राण और सनातनधर्म सभाओं के अद्वितीय पोषक और स्तम्भ स्वरूप थे।

'विशुद्ध चरितावली' में उनकी लेखनी का चमत्कार देखिए। जीवन-चरित भी उपन्यास से बढ़कर आकर्षक रूप में लिखा जा सकता है, उन्होंने यह प्रमाणित कर दिया है। 'दर्शन-शास्त्र' उनकी प्रौढ़ रचना का आदर्श

है। वह 'शोध (Research) गल्प, भ्रमण, समालोचना आदि कई विषयों में खूब सफलता के साथ लेखनी सञ्चालन कर सकते थे। उनकी गद्य पद्यमयी रचनाएँ हिन्दी की स्थायी सम्पत्ति हैं। वे चाणक्य की भाँति बड़े तेजस्वी नीतिनिपुण थे। वे समाजसुधार, देशोद्धार, स्वराज्य, स्वदेशी आदि के पूर्ण पक्षपाती और अनुयायी थे। देशभक्तों में उनका स्थान निस्सन्देह बहुत ऊँचा है।"

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने "हिन्दी साहित्य का इतिहास" नामक अपनी पुस्तक में "गद्य साहित्य का आविर्भाव" शीर्षक प्रकरण में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के परवर्ती काल में जिस समय कि 'निबन्ध लिखने की परम्परा कुछ शिथिल सी पड़ गई थी, उस समय पण्डित गोविन्द नारायण मिश्र, पण्डित माधवप्रसाद मिश्र, पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ऐसे दो चार इने गिने लेखक ही शुद्ध साहित्यिक निबन्ध लिखते रहे'* यह माना है। वस्तुतः मिश्र जी का ज्ञान विस्तृत एवं उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। इसलिये उन्होंने विभिन्न विषयों पर उत्साहवर्द्धक, मनोरञ्जक एवं ज्ञानप्रद निबन्ध लिखने में सफलता पायी। पण्डित अम्बिकाप्रसाद जी बाजपेयी के मतानुसार वे (मिश्र जी) जैसा लिखते थे, लाजबाब लिखते थे और वैसा विरले ही लेखक लिख सकते थे। उनके लिखने का ढंग निराला था। वे हिन्दी गद्य और पद्य लिखने में सिद्धहस्त थे।†

मिश्र जी के सम्बन्ध में पण्डित रामचन्द्र शुक्ल "हिन्दी साहित्य के इतिहास" में लिखते हैं:—

"द्वितीय उत्थान के आरम्भ काल में एक बड़े ही प्रभावशाली लेखक के उदय की उज्वल आभा हिन्दी-साहित्य-गगन में कुछ समय के लिये दिखाई पड़ी, पर खेद है कि अकाल ही विलीन हो गई। सुदर्शन-सम्पादक पण्डित माधवप्रसाद के मार्मिक और ओजस्वी लेखों को जिन्होंने पढ़ा होगा उनके हृदय में उनकी मधुर स्मृति अवश्य बनी होगी। उनके निबन्ध अधिकतर भावात्मक होते थे और धाराशैली पर चलते थे। उनमें

---

*हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृष्ठ ५२१

†विशाल भारत भाग १२ अंक ४ संवत् १९९०

बहुत सुन्दर मर्म पथ का अनुसरण करती हुई स्निग्ध वाग्धारा लगातार चलो चलती थी।"*

मिश्र जी के असामयिक निधन को तत्सामयिक पत्रपत्रिकाओं ने बड़े शोकपूर्ण शब्दों में हिन्दी की 'पूर्ति न होने योग्य क्षति' कहा था। भारतमित्र-सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा था:—"...मिश्र माधव-प्रसाद हिन्दी में एक बड़े नामी लेखक थे।......कड़ी समालोचना करने में वह बड़े ही कुशल थे। अति तीव्र और ज़हर में बुझे लेख लिखने पर भी, वह हँसी के लेख लिखकर पाठकों के चेहरे पर खुशी ला सकते थे। लिखने में वह बड़े ही निडर और निर्भीक थे। हिन्दी इतनी अच्छी लिखते थे कि दूसरा कोई उनके जोड़ का लिखने वाला दिखाई नहीं देता।"†

स्वर्गीय पण्डितप्रवर गोविन्दनारायण जी मिश्र कहा करते थे कि "पण्डित माधवप्रसाद जी मिश्र की भाषा बड़ी मनोहर ओजपूर्ण, प्राञ्जल और मर्म-स्पर्शिनी होती थी। उनसे पहले कोई भी वैसी सुमधुर हिन्दी नहीं लिख सका और आज भी उनकी भाषा किसी की तुलनाकोटि में नहीं आ सकती।"

परलोकवासी पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के मतानुसार—

'मिश्र जी के लेखों में भावों की भरमार रहती थी। वैसी भाषा लिखने वाला लेखक कोई ही हो तो हो। भाषा में लंबे वाक्य लिखकर काव्यमय बनाने वाले लेखक और भी हो गये हैं और हैं, किन्तु मिश्र जी में यह विशेषता थी कि छोटे छोटे वाक्य लिखकर भी और उनमें भावों का पुट देकर उनको रसमय बना देते थे। उनके लेख और पद्य हिन्दी साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं।'

हिन्दी में छोटी आख्यायिका या कहानी (बङ्गला गल्प के ढंग की) लिखने के समारम्भक मिश्र जी ही थे। "मन की चञ्चलता"‡ उनकी पहली कहानी है, जो 'सुदर्शन' के दूसरे भाग की दूसरी संख्या (फरवरी सन् १९०१) में प्रकाशित हुई थी।

---

*हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रकरण तीसरा पृष्ठ ४३८.

†भारतमित्र २७ एप्रिल १९०७ द्वि० चैत्र सुदि १४ सं० १९६४.

‡"आख्यायिका सप्तक" नाम से मिश्र जी की कहानियों का संग्रह प्रकाशित हो चुका है, उसमें यह कहानी भी आ गयी है।

अब से प्रायः दो वर्ष पूर्व विशाल भारत में पण्डित अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने ठीक ही लिखा था कि "गत २५ वर्ष में जिन्होंने हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश किया है, उनमें बहुत कम ने स्वर्गवासी पं० माधवप्रसाद जी मिश्र का नाम सुना होगा, और इनकी रचनाएं पढ़ने का अवसर तो उनसे भी कम लोगों को मिला होगा। इसका कारण यह है कि, हमारे यहाँ हिन्दी में ऐसे प्रकाशक नहीं हैं, जिन्हें साहित्य-प्रेम हो और जो स्वार्थ के साथ परमार्थ साधन की चेष्टा करते हों। यही कारण है कि मिश्र जी की रचनाएं सुलभ नहीं हैं। इसके साथ ही पार्टीबन्दी का बाज़ार इतना गर्म है कि, जो अपनी पार्टी में नहीं है उसके सम्बन्ध में लोगों को कुछ ज्ञान भी नहीं होने दिया जाता। इसलिये आज लोग मिश्र जी के विषय में अनभिज्ञ हैं। हमारी राय में मिश्र जी का वर्तमान साहित्यकों और पाठक पाठिकाओं को परिचय देने का सर्वोत्तम साधन उनकी गद्य पद्यात्मक रचनाएं ही हैं। उन रसमयी रचनाओं—मिश्र जी की अमर कृतियों को प्रकाशित कराने के लिये हम बहुत समय से (शायद सन् १९०८ से) कृतसङ्कल्प थे। इस सम्बन्ध में हमें अपने कई एक साहित्य रसज्ञ कृपालु मित्रों के उपालम्भों का पात्र भी बनना पड़ा, किन्तु हमारा विश्वास है कि, ईश्वर की इच्छा हुए बिना तुच्छ शक्ति सम्पन्न मनुष्य का कभी कोई काम पूरा नहीं होता है। अस्तु,

आज हिन्दी के गौरव का सम्बर्धक और अपना चिर-सङ्कल्पित, स्वर्गीय मिश्र जी के गद्य लेखों का संग्रह, पुस्तक के रूप में हिन्दी साहित्यानुरागियों के सामने उपस्थित करते हमे विशेष आनन्दानुभव हो रहा है। आशा है, इसके द्वारा हिन्दी जगत् अपने एक अनन्य हितचिन्तक विद्वद्रत्न की पाण्डित्य पूर्ण प्रतिभा को परख कर, उसके वास्तविक स्वरूप एवं महत्त्व को समझेगा।

"माधव मिश्र-निबन्ध-माला" के इस प्रथम भाग के (१) जीवन चरित, (२) पुरातत्त्व, (३) पर्व या त्योहार, (४) साहित्य, (५) राजनैतिक, (६) स्थान वर्णन और भ्रमण वृत्तान्त, (७) धर्मचर्चा और आन्दोलन तथा (८) कहानियाँ—इन आठ खण्डों में विषय विभागानुसार ६६ और परिशिष्ट खण्ड में विभिन्न विषयों के ८—इस प्रकार कुल ७४ गद्य निबन्धों का समावेश किया गया है। इन निबन्धों के विषय

में हमें कुछ वक्तव्य नहीं है। क्योंकि प्रत्येक निबन्ध अपने विषय का निदर्शक एवं महत्त्व का स्वयं परिचायक है। यहाँ यह बतलाना भी आवश्यक है कि मिश्र जी के समस्त गद्यलेख इस भाग में पुस्तक का आकार बहुत बढ़ जाने के भय से नहीं दिये जा सके।

हमने चाहा था कि यह ग्रन्थ भी उसी लहरी प्रेस से जहाँ से "सुदर्शन" प्रकाशित होता था, हो, किन्तु प्रेसाध्यक्ष ने जब अपनी असमर्थता प्रकट की; तब हमें अन्यत्र प्रबन्ध करना पड़ा। अब, मिश्र जी की रचनाओं को प्रकाशित देखने के आकांक्षी हिन्दी-हित-निरत साहित्य प्रेमियों को इण्डियन प्रेस लिमिटेड (प्रयाग) के प्रधान व्यवस्थापक श्रीयुत् हरिकेशव घोष महाशय को हृदय से धन्यवाद देना चाहिये, जिनकी उदारता से ऐसे सुन्दर रूप में "माधव मिश्र निबन्ध माला" का यह सचित्र प्रथम भाग प्रकाशित किया जा रहा है।

स्वर्गीय पं० माधवप्रसाद जी के सुयोग्य कनिष्ठ भ्राता पण्डितवर राधाकृष्ण जी मिश्र समय समय पर हमें सत्परामर्श देते रहे हैं, केवल इतना ही नहीं, उन्होंने इस निबन्धमाला के गद्य और पद्य दोनों भागों की सामग्री संग्रह कराने में भी हमें धन्यवादार्ह सहायता दी है। 'सुदर्शन' और 'वैश्योपकारक' की पुरानी फाइलें पं० राधाकृष्ण जी के ही पुस्तकालय से हमें मिली हैं। एतदर्थ हम उनके कृतज्ञ हैं।

प्रूफ सम्बन्धी जो त्रुटियाँ कहीं कहीं दृष्टिदोष से रह गयी हैं, उनके लिये हम क्षमाप्रार्थी हैं। हिन्दी भाषानुरागियों में यदि इस पुस्तक को आशानुरूप समादर और प्रश्रय मिला तो शीघ्र ही इसके द्वितीय भाग द्वारा मिश्र जी की पद्यरचनाओं का रसास्वादन कराने का भी प्रयत्न किया जायगा।

दारागंज–प्रयाग
अक्षय तृतीया
संवत् १९९२वि०

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा
श्री झावरमल्ल शर्मा



स्वर्गीय पंडित माधवप्रसाद मिश्र

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

मिश्र जी के जीवन पर एक दृष्टि

जन्म

पञ्जाब प्रदेशान्तर्गत हिसार ज़िले में भिवानी के समीपवर्ती ग्राम कूंगड़ में विक्रम संवत् १९२८ के भाद्र मास की शुक्ला त्रयोदशी को पण्डित माधवप्रसाद जी मिश्र ने जन्म ग्रहण किया था। कीचड़ में ही कमल पैदा होते हैं। वन की झोंपड़ियों ही में दर्शन-शास्त्र के रचयिता हमारे त्रिकालदर्शी लोक-पावन पूजनीय ऋषियों का आविर्भाव हुआ था। प्रायः देखा गया है कि गाँव ही असाधारण प्रतिभाशाली महानुभावों के जन्मस्थान होने का गौरव रखते हैं। जिस कूंगड़ की भूमि में प्रसिद्ध वृत्तिप्रभाकरकार वेदान्तविद् साधु निश्चलदास जैसे त्यागी महात्मा उत्पन्न हो सकते हैं, वह कूंगड़ यदि मिश्र जी जैसे नररत्न की जननी जन्मभूमि होने का सौभाग्य प्राप्त करे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

मिश्र जी के पुण्य-श्लोक पूज्यपाद पितामह पण्डित जयरामदास जी और पिता पण्डित रामजीदास जी संस्कृत के ख्यातिलब्ध विद्वान् थे। हरियाना प्रान्त और कुरुक्षेत्र में उनके पाण्डित्य का बड़ा प्रभाव और प्रतिष्ठा थी। भिवानी के क्षमताशाली रईस हलवासिया-कुटुम्ब के विशेष आग्रह से पण्डित जयरामदास जी भिवानी में बस गये थे, किन्तु कूंगड़ से आपका सम्बन्ध टूटा नहीं, बना ही रहा।

शिक्षा

मिश्र जी के पिता पण्डित रामजीदास जी के संस्कृत के नामी विद्वान् होने से उन्हें पढ़ने के लिये किसी पाठशाला में प्रविष्ट होने की आवश्यकता नहीं पड़ी। घर पर ही पठनपाठन होता रहा। प्रतिभाशाली व्यक्ति में एक ऐसी असाधारण शक्ति रहती है कि, जो उसे

दूसरों से बड़ा बना देती है। यह शक्ति जिसमें होती है, उसका परिचय बचपन से ही मिलने लग जाता है। भस्माच्छादित अग्नि जिस तरह अपने को अधिक समय तक छिपा नहीं सकता, उसी तरह प्रतिभा की प्रभा को भी कोई रोक नहीं सकता। साधारण स्थान और काल में वह शक्ति प्रायः सीमाबद्ध नहीं रह सकती। अपना असाधारणत्व किसी न किसी तरह वह प्रकट करती ही है। हमारे चरित-नायक पण्डित माधवप्रसाद की प्रतिभा का परिचय भी लोगों को उसी अवस्था में मिलने लग गया था। जिस प्रकार वह पढ़ने में तेज थे, उसी प्रकार दूसरे दूसरे कामों में भी उनकी खटपट जारी रहती थी। सभा-समितियों के बनाने और समाचार-पत्रों के पढ़ने का उसी समय से आपको शौक लग गया था। आन्दोलन-प्रियता भी आपके हृदय में आसन जमा चुकी थी। बाल्यावस्था में दादी और माता की शिक्षा का प्रभाव बच्चों पर खूब पड़ता है। उस समय अच्छे व बुरे जो संस्कार जम जाते हैं, वे जन्मभर दूर नहीं होते। उस समय के जमे हुए विश्वास को कभी कोई हिला नहीं सकता। मिश्र जी के हृदय-पटल पर भी उनकी दयावती पितामही श्रीमती सरजा देवी द्वारा धर्मभाव का निर्मल चित्र अङ्कित हो चुका था। वह बड़ी हरि-भक्ति-परायणा साध्वी स्त्री थीं। श्रीमद्भागवत, रामायण और महाभारत की प्रायः सभी कथाएं उनको कण्ठस्थ थीं। मीराबाई और सूरदास जी के बहुत से भजन उनको याद थे। भगवान् की सेवा पूजा में ही उनका समय बीतता था। वह अपने प्रिय पौत्र को कथा कहानियाँ सुना कर और भजन गाकर धर्म का तत्त्व और भगवद्भक्ति का रहस्य समझाती रहती थीं। मिश्र जी का भी दादी की बातों में बड़ा मन लगता था और वह बड़े प्रेम से उनकी कथाओं को सुनते थे। यहाँ तक कि रात को नींद भी दादी के मुँह से कहानी सुन लेने पर ही आती थी। जब कभी खेल-कूद में बच्चों के साथ ऊधम मचाने की शिकायत पहुँचती तो पिता जी की ताड़ना से दादी ही बचाती थीं। मिश्र जी के बालसखा पण्डित शम्भूराम जी पुजारी कहा करते हैं कि, दादी हमारे लिए उस समय

"पनाह" (आश्रय) की एक खास जगह थीं। कोई कसूर कर के भी वे वहाँ पहुँच जाते, तो निर्भय हो जाते।

जैसे जैसे अवस्था बढ़ती गयी, वैसे वैसे खेल कूद से मन हट कर विद्याप्राप्ति की ओर झुकता गया और यथासमय मिश्र जी ने अपने पूज्य पिता जी से व्याकरण, काव्य, पुराण एवं धर्म शास्त्रादि की शिक्षा प्राप्त कर संस्कृत में अच्छी व्युत्पत्ति लाभ कर ली। किन्तु आपकी तृप्ति नहीं हुई। शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से आप घर से निकल पड़े। बुलन्दशहर जिले के डासनास्थ छत्रपति पण्डित श्रीधर जी के पाण्डित्य की उन दिनों बड़ी धूम थी। मिश्र जी उनके पास पहुँचे और पढ़ने लगे। कुछ समय के पश्चात् आपको आपके मन का उत्साह विद्या के धाम काशी में ले गया। वहाँ सर्वतन्त्र स्वतंत्र महामहोपाध्याय वैकुण्ठवासी पण्डित राम मिश्र शास्त्री जी से आपने आनुपूर्वीय दर्शन-शास्त्र की शिक्षा पायी और पण्डित उमापति जी (प्रसिद्ध पं० नकछेद राम तिवाड़ी) से साहित्य का अध्ययन किया। उर्दू, बङ्गला, मराठी, गुजराती और गुरुमुखी आदि भाषाओं में भो आपकी पूरी गति हो गई। आपने उक्त भाषाओं के साहित्य का मर्म समझने में विशेष मन लगाया था। सरस्वती की उपासना कभी व्यर्थ नहीं जाती। मिश्र जी ने अन्तःकरण से वाग्देवी की आराधना की थी। इसलिए उनकी मनस्कामना पूर्ण हुई। गुरु की कृपा का प्रसाद मिश्र जी को मिल गया।

सोलह वर्ष की अवस्था में विवाह हो जाने पर भी मिश्र जी के अध्ययन का क्रम २५ वर्ष की अवस्था तक ज्यों का त्यों बना रहा। तदनन्तर संवत् १९५२ में आपके पूज्य पिता जी का स्वर्गवास हो गया। वे संस्कृत के विशिष्ट विद्वान् और बहुत अच्छे कवि थे। उनकी रचित कितनी ही फुटकर कविताएं अमुद्रित होने पर भी अब तक प्रचलित हैं। उन्होंने कर्मकाण्ड और धर्मशास्त्र के कई व्यवहारोपयोगी निबन्ध बनाये थे, जो पण्डितों के काम की चीजें हैं।

कार्य-क्षेत्र में

पिता जी की मृत्यु हो जाने के कारण मिश्र जी को अध्ययन की ओर

से मुड़ कर कार्यक्षेत्र की ओर झुकना पड़ा। यद्यपि आपके सहोदर पण्डित राधाकृष्ण मिश्र ने—(जिनको मिश्र जी सदा अपने स्नेहशील गुणज्येष्ठ कनिष्ठ सहोदर कह कर सम्बोधित किया करते थे), घर-गृहस्थी के भार को सँभाल कर आपको निश्चिन्त कर दिया था; तथापि अन्यान्य साँसारिक बन्धनों से आप बरी कैसे हो सकते थे। अतएव आप अपनी कार्य-प्रणाली निर्धारण कर के कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुए।

आपामर साधारण का जीवन-क्रम जिस प्रकार एक ढर्रे का होता है, प्रतिभाशाली का जीवन उस प्रकार सङ्कुचित परिधि में सीमा बद्ध नहीं रहता। उसका क्षेत्र बड़ा विस्तीर्ण होता है। पण्डित माधव-प्रसाद मिश्र यदि चाहते तो केवल भिवानी—हरियाना के और अधिक से अधिक शेखावाटी के निवासियों से अपना सम्बन्ध रख, कर आनन्द एवं प्रतिष्ठा के साथ जीवन-यापन कर सकते थे; परन्तु मिश्र जी का हृदय बड़ा विशाल था। उनका ममत्व समस्त देश पर समान भाव से था। कभी प्रान्तीयता के सङ्कुचित विचारों ने उनके चित्त में स्थान न पाया। वे भारत को अपना देश और भारतवासियों को अपना आदरणीय भाई समझते थे। उन्होंने जितने कार्य किये, उन सब में इसी लक्ष्य को सदा सामने रखा। उनका जीवन-कर्ममय था। उन्होंने कभी अतीत की निष्फलता को याद कर अपने उत्साह में कमी नहीं पड़ने दी और वे गन्तव्य पथ पर बढ़ते ही गये।

जीवन की त्रिधारा

कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होते ही मिश्रजी की जीवन-सरिता त्रिधारा रूप से धर्म, देश और साहित्य की ओर प्रवाहित हुई। उनके कार्यों लेखों और कविताओं में ये तीनों रेखाएँ स्पष्ट दिखलायी देती हैं।

साहित्यिक-जीवन

मिश्र जी के साहित्यिक-जीवन की आलोचना करने के लिए जिस योग्यता की आवश्यकता है, हम अपने में उसका अभाव पाते हैं, इसलिये यहाँ हम उनकी साहित्य सेवा का परिचय मात्र देने का ही प्रयत्न करेंगे। मिश्र जी ने सन् १९०० ई० में काशी के लहरी प्रेस के मालिक

एवं प्रख्यात "चन्द्रकान्ता" के रचयिता स्वर्गवासी बाबू देवकीनन्दन खत्री की सहायता से अपने सम्पादकत्व में "सुदर्शन" नामक मासिक पत्र निकाला था। वह समय ऐसा था जब कि, अवस्था की उमङ्ग अधीत विद्या का जोश और ईश्वरप्रदत्त प्रतिभा की प्रेरणा उन्हें आगे बढ़ने को उत्साहित कर रही थी। बड़ा मन और बड़े मन का विचार भी बड़ा ही था। सुदर्शन की पहली संख्या में उसकी सूचना उन्होंने इन शब्दों में दी थी:—

सुदर्शन

"यदि कोई पत्र यह कहे कि हमारा उद्देश्य केवल मातृभाषा की उन्नति करना है, तो हो सकता है। यदि कोई कहे कि हमारा केवल समाजसुधार वा राजनैतिक उद्देश्य है तो वह भी हो सकता है। परन्तु कोई इस कलिकाल में यह कह बैठे कि, हमारा वह उद्देश्य है जो श्रीसुदर्शनधारी भक्त-भयहारी भगवान् श्रीकृष्णदेव का है, जिसके अन्तर्गत ब्रह्माण्ड भर के समस्त सदुद्देश्य भरे पड़े हैं, तो लोग उसे उन्मत्त वा ग्रहग्रस्त नहीं कहेंगे तो क्या कहेंगे ? क्योंकि छोटे मुँह बड़ी बात शोभा नहीं देती। इस समय "सुदर्शन" के पक्ष में भी वही बात है। जो कुछ इसका उद्देश्य है वा यह किया चाहता है, वह इतना गुरुतर कार्य्य है कि, जिसके सम्बन्ध में यहाँ चुप रहना ही अच्छा है और यों तो विचारशील पुरुष इसके नाम मात्र से इसके भावी कार्य का अनुमान भी कर सकते हैं और अनुबन्ध चतुष्टय को भी जान सकते हैं। परन्तु विस्तृत और स्पष्ट रूप से इसके उद्देश्य जानने के लिए कुछ दिनों पत्र का पाठ करना होगा। कुछ दिनों में आप ही लोग कह देंगे कि हिन्दी भाषा और सनातन धर्म के प्रचार में "सुदर्शन" ने अपूर्व कार्य कर दिखाया।"

काम करनेवाले लोग बातें नहीं बनाते। कहने की अपेक्षा वे कर दिखाना अच्छा समझते हैं। मिश्र जी ऐसे ही लोगों में से थे। वे 'सुदर्शन' के उद्देश्य प्रकट करते समय अधिक नहीं बोले; किन्तु आगे चल कर अपनी अपूर्व लेखन-शक्ति के प्रभाव से उन्होंने 'सुदर्शन' की धाक जमा दी। 'सुदर्शन' की पहली संख्या में ही उन्होंने "श्रीपञ्चमी" शीर्षक महत्वपूर्ण निबन्ध के साथ 'दर्शन शास्त्र का उपक्रम' एवं

विशुद्ध चरितावली—अपनी इन दो पाण्डित्य पूर्ण रचनाओं को आँशिक रूप से प्रकाशित करना आरम्भ किया। दर्शन विषयक मिश्र जी की वह लेखावली "भारतीय दर्शन शास्त्र की उपक्रमणिका" के नाम से मिश्र जी के कनिष्ठ सहोदर श्रद्धास्पद पण्डितवर राधाकृष्ण जी मिश्र की दार्शनिक गवेषणा एवं विशद विवेचना युक्त प्रस्तावना के साथ पुस्तकाकार मिश्रनिकेतन (भिवानी) द्वारा प्रकाशित हो चुकी हैं। हिन्दी में भारतीय दर्शन शास्त्र विषयक यह पहली पुस्तक समझी गयी और विद्वन्मण्डली ने इसको अत्यधिक पसन्द किया। 'विशुद्ध चरितावली' काशी के कैवल्य-पद-प्राप्त स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती जी का पुण्य चरित है। यद्यपि मिश्र जी अपने विचारानुसार इसको पूर्ण करने का अवसर नहीं पा सके; तथापि जितना अंश वे लिख गये हैं, वह अद्वितीय है और बाणभट्ट की अमर कृति कादम्बरी की तरह हिन्दी का गद्य काव्य है। प्रस्तुत निबन्धमाला के जीवन चरित विषयक प्रथम खण्ड का श्रीगणेश इसीसे होता है। भावों के साथ ही भाषा पर मिश्र जी का कितना अधिकार था, इसका परिचय विशुद्धचरितावली से अच्छी तरह मिल सकता है। अधिक क्या कहा जाय धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक जितना भी गद्य पद्यात्मक साहित्य मिश्र जी की लेखनी से निकला, वह विशेषता से रहित नहीं है। उनकी स्मृति-शक्ति विलक्षण थी। उसीके बल से शास्त्रों के अवतरण, देशी विदेशी इतिहासकारों के अभिमत और भारतीय अन्य भाषाओं के साहित्य की बारीकियाँ उनकी वाणी पर विराजमान थीं और इसलिये वे प्रमाणों का सम्पुट देकर अपने आलोच्य या लेख्य विषय का ऐसे विशद भाव से प्रतिपादन एवं स्पष्टीकरण करते थे कि उस सम्बन्ध में कहने के लिये कोई बात बाक़ी न रह जाती थी। किन्तु एक बात थी और वह यह कि, मिश्र जी की शक्ति बँटी हुई थी—वह केवल साहित्यक्षेत्र तक ही सीमित नहीं थी। देश के धार्मिक एवं राजनैतिक कार्यों में भी उनका पूरा लगाव था। अतएव 'सुदर्शन' के लिये उन्हें समय बहुत कम मिलता था। वे अपनी मौज से लिखते थे——शर्तबन्द होकर नहीं।

जैसे मिश्र जी मनमस्त थे, वैसे ही उनकी निराली शैली पर मुग्ध लहरी प्रेस के मालिक सहृदय बाबू देवकीनन्दन जी खत्री थे। जब 'सुदर्शन' समय पर न निकल कर पिछड़ जाता, तब बाबू देवकीनन्दन मिश्रजी को सीधे या पण्डित राधाकृष्ण जी के द्वारा पत्र भेजते, लेखों के लिये तकाज़ा करते, विलम्ब हो जाने का स्मरण कराते और आग्रह पूर्ण अनुरोध करते, किन्तु कभी उन्होंने उन पर दबाव नहीं डाला।

'सुदर्शन' के दर्शन हिन्दी जगत् को पूरे दो वर्ष और चार महीने हुए। वह बंद भी हुआ तो इसलिये नहीं कि, उसके प्रेमियों का अभाव होगया था, बल्कि मिश्र जी की धार्मिक एवं राजनैतिक कार्यों में संलग्नता ही 'सुदर्शन' के अदर्शन का कारण हुई। लोग तो मिश्र जी के लेखों और कविताओं के लिये तरसते ही रहे। मिश्र जी साहित्यिक या धार्मिक विवाद छिड़ जाने पर लिखने में डट जाते थे—यह उनका स्वभाव था। इसलिये उनके लेखों को पढ़ने के आकांक्षी उस समय के प्रसिद्ध पत्र समालोचक ने—जिसके सम्पादकीय आसन पर स्वनाम धन्य स्वर्गीय पण्डित चन्द्रधर जी शर्मा गुलेरी बी० ए० विराजमान थे, एक बार लिखा था—

"पण्डित मिश्र बिना किसी excitement अभिनिवेश के लिख नहीं सकते और यदि हमें उनके लेख पाने हैं तो सदा एक न एक टँटा उनसे छेड़ ही रक्खा करें।"

अपने समय—विशेषकर संवत् १९५७ से १९६४ तक मिश्र जी ने साहित्य, धर्म और राजनीति—तीनों क्षेत्रों में किसी के भी अनौचित्य या अन्धाधुन्धी को सहन नहीं किया। उनकी लेखनी हिन्दू धर्म, आर्य संस्कृति, साहित्य तथा महत्पुरुषों की कीर्ति पर किये गये आक्षेपों का युक्ति और सप्रमाण उत्तर देने के लिये सदा तैयार रहती थी। वे बड़े निर्भीक और तीव्र, पर साथ ही आदर्श समालोचक थे। समालोचना करते समय वे सदा यथार्थता को अपने सामने रखते थे। कोई भी बात उनकी दृष्टि से बच नहीं पाती थी। उन्होंने समालोचना के प्रसङ्ग में एक बार अपना यह सिद्धान्त प्रकट किया था—

"गुण दोष के सम्यक् विचार का नाम समालोचना है। जो सज्जन सद् विचार पूर्वक समालोचना करते हैं वे रत्नपरीक्षक (जौहरी) के समान केवल अपनी उन्नति के सम्पादक ही नहीं हैं वरन् उस व्यापार के भी उन्नायक और साधक हैं जिसमें उनकी विवेचना शक्ति का आधिपत्य है। इसी प्रकार जो महाशय राग द्वेष से वा हठ अज्ञान के कारण समालोचना के नाम को कलङ्कित करते हैं वे न केवल अपनी ही हानि करते हैं प्रत्युत उस व्यवसाय की भी जो उनके मनोविनोद का ही नहीं—आजीवन का भी मूल है।"

वे स्वयं अपने इसी सिद्धान्तानुसार समालोच्य साहित्य—पुस्तक, संस्था और व्यक्ति के गुण दोष का विवेचन करते समय किञ्चित भी नहीं हिचकते थे—बेधड़क विचार प्रकट करते थे।

मिश्र जी के 'सुदर्शन' के साथ ही साथ 'सरस्वती' मासिक पत्रिका प्रकाशित हुई थी। उस समय वह पाँच सज्जनों की एक सम्पादक समिति द्वारा सम्पादित होती थी। 'सरस्वती' के प्रथमाङ्क को पाकर मिश्र जी ने 'सुदर्शन' के "समालोचना-स्तम्भ" में उसकी खरी समालोचना की थी।

समालोचना की शैली

मिश्र जी की समालोचना की शैली का नमूना दिखलाने के लिये हिन्दी के गौरव स्वरूप कविवर स्वर्गीय पण्डित श्रीधर पाठक रचित "ऊजड़गाम," "एकान्त वासी योगी" और "गुनवन्त हेमन्त" तथा हिन्दी संसार के यशस्वी आचार्य पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी महोदय लिखित "नैषधचरित्र चर्चा" की समालोचनाएँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं:—

ऊजड़ गाम

इंगलेण्ड के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ के 'डिजर्टेड् विलेज्' का अनुवाद आगरा निवासी श्रीयुक्त पण्डित श्रीधर पाठक कृत। इस ग्रन्थ की जैसी छपाई सफाई उत्तम है, वैसी ही सर्वोत्तम कविता। काव्य रचना प्रणाली अतिशय प्राञ्जल, मधुर, हृदयग्राही और भावमयी है। स्वभावोक्ति का तो इसे भण्डार समझना चाहिये, पर इसकी उपमा भी अनादर के योग्य नहीं है। हमारे एक अंग्रेज़ी पढ़े संस्कृतविद् मित्र की सम्मति है कि जो लोग स्वर्गीय

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र-कृत 'मुद्राराक्षस' के अनुवाद से फूल रहे हैं, उन्हें पाठक जी के चरण लेने चाहिये कि विदेशी कवि के काव्य का कैसा सुन्दर अनुवाद किया है। भारतवर्ष में जो पुरुष भावुक हों, हिन्दी भाषा के रसिक हों और स्वदेश चिन्तारत हों; वे इस काव्य को बराबर पढ़ें, देखें और अंग्रेज़ कवि की चिन्ताशीलता को विचारें। जिस देश में ऐसे महात्मा कवि हों, वह देश क्यों न उन्नत हो ? घोर दुर्भिक्ष और महामारी के समय जिस देश के कविकुल-कलङ्क नायिका के रूप वर्णन में मग्न हैं; वहाँ "ऊजड़ गाँव" जैसे काव्य का प्रचार न होना आश्चर्य नहीं है, ऐसे भावमय काव्य का पाठक जी ने आजकल के समय में जन्म ले कर अनुवाद कर डाला, यही आश्चर्य है। पाठक जी आँख फेर कर इधर भी देखें, अब 'ऊजड़ गाम' इंगलैंड में कहीं नहीं है; उनकी जन्मभूमि हतभाग्य भारतवर्ष में सर्वत्र है।

"लसत लह लही जहाँ सघन सुन्दर हरियाई।
तहँ अब ऊसरमयी भयी, नसि गयी निकाई ॥"

* * * *

एकान्तबासी योगी

यह भी अंग्रेज़ कवि गोल्डस्मिथ के 'हर्मिट' काव्य का खड़ी हिन्दी के सरस पद्य में उक्त पाठक जी कृत सुन्दर अनुवाद है। इसमें प्रेमियों के पढ़ने योग्य एक प्रेम कहानी है, जिसे एक पद्यमय छोटा उपन्यास कहना चाहिये। ग्रन्थ छोटा है पर तज्जनित आनन्द छोटा नहीं है। इस काव्य के पदलालित्य के कारण जी चाहता है कि, पाठक जी को कविवर दण्डी के शून्य सिंहासन पर बैठा दें। वस्तुतः योगी की विशुद्ध रचना से हम बहुत ही प्रसन्न हुए हैं। हिन्दी में जो वङ्गकवि माइकेल का अनुकरण किया चाहते हैं उन्हें श्रीधर का अनुकरण करना चाहिये। सुना है कि जोधपुर के महाराज ने एक बड़े पोथे की स्थूल रचना पर प्रसन्न हो किसी ग्रन्थकर्त्ता को एक लाख रुपये दिये हैं। यदि केवल कविता के कारण कवियों का सत्कार हो तो हमारे श्रीयुक्त श्रीधर सचमुच श्रीधर हो सकते हैं। मृत कवि गोल्डस्मिथ को हिन्दी में अमर कर साहित्य संसार में पाठक जी स्वयं अमर हुए हैं।

* * * *

गुनवन्त हेमन्त

यह भी उक्त पाठक जी की एक कविता है जिसमें हेमन्त ऋतु का वर्णन है। छन्द की विचित्रता और 'मूरी मटर मलूक' आदि पदार्थों

की शुष्क भरती के अतिरिक्त इसमें अन्य गुण हमने कुछ भी नहीं पाया। पाठक जी इसमें अन्तरङ्ग रहस्यमय 'दम्पति प्रणय और सुरति सुख' तक का वर्णन कर गये हैं, किन्तु सड़कों और बाजारों में दुर्भिक्ष-दलित, वस्त्रहीन, दीन दुःखितों को बिलकुल भूल गये। 'गुनवन्त हेमन्त' में इन बेचारों की क्या दशा हुई यह कुछ न जाना। क्या यह पाठक जी जैसे क्षमताशाली मार्मिक कवि के लिए उचित था ?*

नैषध-चरित-चर्चा

झांसी स्थित पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी-रचित और नागरी प्रचारिणी पत्रिका द्वारा प्रकाशित एवं काशी के हरिप्रकाश यन्त्रालय में मुद्रित हुई है।

प्रसिद्ध दार्शनिक पण्डित महाकवि विद्वद्वर श्रीहर्ष कृत महाकाव्य "नैषध चरित" का पण्डित मण्डली में बड़ा समादर है, इसमें पुण्य-श्लोक राजर्षि नल के चरित्र को लक्ष्य कर श्रीहर्ष ने अपनी अप्रतिम प्रतिभा का जैसा अपूर्व परिचय दिया है, उसको संस्कृत-साहित्य-निष्णात पुरुष भी बिरले ही जानते हैं, परन्तु हमारे सुविज्ञ मित्र पण्डित महा-वीरप्रसाद द्विवेदी जी ने 'नैषध-चरित-चर्चा' द्वारा हिन्दी भाषा में नैषध चरित की आलोचना कर इस काव्य का वर्णनीय विषय और अपनी समझ के अनुसार उसके गुण दोष दिखाये हैं और प्रसङ्ग से श्रीहर्ष के जन्मकाल, देश, अवस्था आदि के विचारों को उठा अनेक प्रकार के ऐतिहासिक रहस्यों को उपस्थित किया है, जिससे वास्तव में इतिहास रसिक पण्डितों को बहुत कुछ मिलने की आशा है। द्विवेदी जी के विचारों के साथ हमारा अनेक अंशों में विरोध होने पर भी हमें इस बात के स्वीकार करने में कुछ सङ्कोच नहीं है कि 'नैषध-चरित-चर्चा' अपने ढंग की हिन्दी भाषा में प्रथम पुस्तक हुई है जो ऐतिहासिक और आलोच्य विषय के कारण श्लाघ्य न होने पर भी सर्वथा अनुपादेय वा गर्हणीय भी नहीं है। द्विवेदी जी ने श्रीहर्ष के सम्बन्ध में कई प्रकार की अटकलें लगाई हैं, जो विलायती पण्डितों के विचारों के समान किसी

* सुदर्शन वर्ष १ संख्या २—फरवरी सन् १९०० ई०

प्रकार के निश्चय तक नहीं पहुँचने देतीं। डाक्टर व्युहलर और हाल आदि के संशयाच्छन्न और कण्टकाकीर्ण पथ का अनुसरण कर वाण भट्ट को 'रत्नावली', "नागानन्द" का कर्त्ता मानना नितान्त ही भ्रम मूलक है। इस विषय में आयुष्मान् राधाकृष्ण मिश्र 'सुदर्शन' में लिख ही रहे हैं। हमारे विचार में इस श्रीहर्ष के स्थिति काल का आज तक किसी ने भी विशेष अनुसन्धान नहीं किया। द्विवेदी जी भी साधारण रीति पर परस्पर विरुद्ध मतों का उल्लेख करने के अतिरिक्त किसी प्रकार एक-वाक्यता करने में समर्थ नहीं हुए जो उनका प्रधान कर्त्तव्य था। यदि श्रीहर्ष के समसमयिक कई एक ग्रन्थकारों का कालनिर्णय किया जाय तो सम्भव है कि श्रीहर्ष के स्थिति काल का ठीक निर्णय हो सके। नैषध चरित के टीकाकार भगीरथ ने "श्रीहर्षं कविराजराजि मुकुटालङ्कार हीरः सुतं श्रीहीरः सुषुवे" इस श्लोक के व्याख्यान में इस बात को सूचित किया है कि श्रीहर्ष के पिता श्रीहीर के साथ प्रसिद्ध तार्किक उदयनाचार्य्य का शास्त्रार्थ हुआ था और श्रीहर्ष ने भी उदयनाचार्य की "न्याय कुसुमाञ्जलि" (१) का अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'खण्डन खण्ड खाद्य, (२) में खण्डन कर मानों पिता के वैर का बदला लिया है। यहाँ यह कह देना भी अनुचित नहीं है कि प्रसिद्ध तार्किक श्रीगङ्गेशोपाध्याय ने तत्वचिन्तामणि के अनुमान खण्ड में खण्डनकार का खण्डन कर उदयनाचार्य का स्थिति काल १०३२ के आस पास अनुमित किया है। श्रीहर्ष का पिता सम्भवतः इसी काल का है। जैन कवि राजशेखर अपने "प्रबन्ध कोष" में लिखते हैं कि "श्रीहीरसुत (श्रीहर्ष) ने वाराणसी

---

(१) शङ्का चेदनुमास्त्येव न चेच्छङ्का ततस्तराम्।
व्याघाता वधिराशङ्का तर्कः शङ्का वधि कुतः॥

(२) तस्मादस्माभिरप्यस्मिन्नर्थे न खलु दुष्पठा।
त्वद् गाथैवान्यथा कारमक्षराणि कियन्त्यपि।
व्याघातो यदि शङ्कास्ति न चेच्छाङ्का ततस्तराम्।
व्याघात विधिरा शङ्का तर्कः शङ्का वधिः कुतः॥
(खण्डन प्रथम परिच्छेदः)

में जन्म लिया और वहाँ के राजा गोविन्दचन्द्र के पुत्र महाराज जयन्तीचन्द्र के आदेश से "नैषध चरित" बनाया।"

यह जयन्तचन्द्र वा जयचन्द्र भी उसी समय के आस पास में काशी और कान्यकुब्ज के महाराज हुए हैं। बुद्धिमान् बाबू हरिश्चन्द्र ने 'काश्मीर कुसुम' में छतरपुर की लिपि के अनुसार जयन्तीचन्द्र के काल का निर्णय भी किया गया है। परन्तु कृतार्थ वे भी नहीं हुए हैं। वृद्ध लोग काव्य प्रकाशकार मम्मट भट्ट को नैषधचरितकार का सम्बन्धी मानते हैं। मम्मट भट्ट काश्मीराधिपति यशस्कर देव के संवत् १०२४ में विद्यमान थे। इसी महाराज के मंत्री प्रसिद्ध अभिनवगुप्ताचार्य्य के भ्राता मनोरथ गुप्त थे। सुतरां डाक्टर ब्यूलर के मतानुसार इस सिद्धान्त पर उपस्थित होना कि श्रीहर्ष ईसा की बारहवीं शताब्दी में हुए यह किस प्रकार उचित हो सकता है?

आजकल के समालोचक पण्डितों का एक विलक्षण सिद्धान्त हो गया है कि प्राचीन पूज्य महा कवियों की दिल्लगी उड़ाना और वर्तमान निकृष्ट कवियों की प्रशंसा करना। इनकी समझ में उन स्वर्गीय महापुरुषों के प्रति शिष्टाचार दिखाना निरा निष्फल है, जिनका न तो स्थूल शरीर इस लोक में विद्यमान है और न कोई उनका बन्धु बान्धव ही शेष रहा है, जिससे 'ताम्बूल द्रव्य' का सहारा मिले। सुतरां वे भूभार स्वरूप जीव ही इनके लिए अच्छे हैं, जिनसे इन्हें किसी प्रकार की लौकिक सहायता प्राप्त होती रहे। हमारे कहने का यह प्रयोजन है कि काशी की नागरी प्रचारिणी से काव्यालोचना सम्बन्धी दो निबन्ध निकले और दोनों ही में प्राचीन महाकवियों पर अनुचित कटाक्ष किये गये और उनकी दिल्लगी उड़ाई गई। साहित्याचार्य श्रद्धेय पण्डित अम्बिकादत्त व्यास जी ने गद्यकाव्य मीमांसा में सब से प्रथम 'साहित्य दर्पणकार' माननीय पण्डित विश्वनाथ जी का वह मान किया है कि जो चिरकाल तक सहृदय मण्डली को स्मरण रहेगा। अब दूसरा नंबर हमारे सहृदय मित्र महावीरप्रसाद जी का आया है। वे भी व्यास जी के पीछे पीछे चले हैं। नैषध काव्य को जटिल, नीरस,

दुर्बोध और अश्लील ठहराया है और महामान्य महाकवि को 'गपोड़े बाज' आदि कह कर अपनी काव्य रसिकता का परिचय दिया है ! प्रोफेसर वेबर जैसे अशास्त्रज्ञ, अहङ्कारी और झूठे लेखक को संस्कृत का परम विद्वान् मान कर उनकी समालोचना को समुचित कहा है। वेबर के बताये हुए दोषों का भण्डार इस महाकाव्य को ठहराया है और तिस पर तुर्रा यह है कि द्विवेदी जी के मत में कोई कोई स्थल ऐसे "कारुणिक" भी हैं कि, वहाँ पर पाषाण के भी द्रव होने की सम्भावना होती है। कहीं कहीं "मार्मिक सहृदयता" के भी उदाहरण दिखलाई देते हैं, तथापि 'सारल्य' नहीं है; इसलिए उनका मन 'तल्लीन' नहीं होता है। प्रथम हम समझते थे कि द्विवेदी जी श्रीहर्ष ही पर अप्रसन्न हैं किन्तु अब भारतमित्र में देखा जाता है कि वे लाला सीताराम बी० ए० के काव्य की तरह महाकवि कालिदास के महाकाव्य की भी भूल सुधार रहे हैं और मजा यह है कि श्रीधर पाठक की कविता के सामने अमृत तक को तुच्छ समझते हैं ! धन्य द्विवेदी जी आपकी 'मार्मिक सहृदयता।'

❀ ❀ ❀ ❀

"ऊजड़ ग्राम" और "एकान्तवासी योगी"

की प्रशंसापूर्ण आलोचना को पढ़कर पण्डित श्रीधर पाठक जी प्रसन्न हुए अथवा नहीं—यह तो पता नहीं; किन्तु "गुनवन्त हेमन्त" पर लिखी हुई मिश्र जी की इन कुछ पंक्तियों से नाराज अवश्य हुए थे और पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी भी अपनी नैषध-चरित-चर्चा की समालोचना को सहन नहीं कर सके थे—उनका आसन हिल गया था। फलतः पर्य्यालोचक के नाम से पाठक जी ने "भारतमित्र" और "श्रीवेंकटेश्वर समाचार" में और द्विवेदी जी ने "सरस्वती" में लेखों के रूप में अपने मनोभावों को प्रकट किया था। इस पर मिश्र जी ने पाठक जी और द्विवेदी जी दोनों के उत्तर में एक साथ ही "काव्यालोचना" शीर्षक एक लेख सुदर्शन में लिखकर यह दिखला दिया था कि, उन्होंने जो

❀ सुदर्शन प्रथम वर्ष संख्या ६, जून सन् १९०० ई०

कुछ लिखा साधिकार लिखा, और यथार्थ लिखा। उस समय द्विवेदी जी सरस्वती के एक लेखक थे—सम्पादक नहीं।

मिश्र जी और द्विवेदी जी में कौन 'सीनियर' और कौन 'जूनियर' है यह एक विवादास्पद प्रश्न है। इस पर मैं वय की बात नहीं कहता। कारण वय में मिश्र जी द्विवेदी जी से प्रायः ७ वर्ष छोटे थे। किन्तु वे उनसे साहित्य क्षेत्र में 'जूनियर' नहीं थे। उस समय के साहित्य को ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि ये दोनों महानुभाव साथ साथ ही अपने लेखों और कविताओं द्वारा हिन्दी साहित्य को अलङ्कृत करने लगे थे। समालोचना करते समय मिश्र जी जिस प्रकार दोष दिखलाने में नहीं चूकते थे, उसी प्रकार गुण प्रकट करने में उन्हें सङ्कोच नहीं होता था। साहित्यिक विवाद में द्विवेदी जी की तीव्र समालोचना करने के बाद भी वे उनके गुणों का और उनकी योग्यता का समादर करते थे। उन्होंने कभी उस आलोचना प्रत्यालोचना को अपनी ओर से व्यक्तिगत वैमनस्य का कारण नहीं बनाया। जब द्विवेदी जी की "बेकन विचार रत्नावली" की समालोचना करने का फिर अवसर आया, तब मिश्र जी ने पुस्तक के अनुवादक के रूप में द्विवेदी जी का सुन्दर और उपयुक्त शब्दों में नामोल्लेख किया। वह पुस्तक उस वर्ष (सन् १९०१ में) श्रीवेंकटेश्वर समाचार के उपहार में दी गयी थी। मिश्र जी किसी पुस्तक की समालोचना करते समय उसके लेखक के मुँह की ओर दृष्टि न कर मुख्यतः लेख पर ही ध्यान रखते थे। वे 'शत्रोरपि गुणावाच्याः दोषा वाच्या गुरोरपि' के स्वयं आदर्श थे। समालोचना करते समय अपने पूजनीय गुरु सर्वतंत्र स्वतंत्र महामहोपाध्याय पण्डित राममिश्र शास्त्री जी रचित "तुरीय मीमांसा" की त्रुटियाँ प्रदर्शित करने में भी उनकी लेखनी नहीं रुकी थी।

वैश्य महासभा के महामंत्री रायबहादुर लाला बैजनाथ जी बी० ए० ने धर्म्म-विचार नामक एक पुस्तक बनाकर प्रकाशित की थी। इस पुस्तक में लाला साहब ने अपने विचारानुसार "भारत के धर्म्म तथा वर्णाश्रम की ऐतिहासिक संक्षिप्त समालोचना और उसके संशोधन के

उपाय" लिखे थे। वह पुस्तक समालोचनार्थ मिश्रजी के हाथों में पहुँची तो उन्होंने उसका समीक्षण किया। पुस्तक का परिचय देते हुए मिश्रजी ने लिखा था:—

"इस पुस्तक के 'प्रथम भाग' में वेद, स्मृति और इतिहास आदि की आलोचना कर" भारतवर्ष की प्राचीन दशा का दिग्दर्शन किया गया है। इसके वर्णन का ऐसा अच्छा ढंग है कि जो विचार-शील पुरुष इसको देखेगा वह लाला बैजनाथ जी के विचारों की प्रशंसा किए विना न रहेगा। कारण ग्रन्थकार महाशय प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग, नवीन और प्राचीन, अंग्रेजी और संस्कृत, कर्म्म और ज्ञान यूरोपीयन और भारतवासी इत्यादि प्रतियोगी किन्तु उपयोगी विषयों के बीच में खड़े होकर बातें करते हैं और दोनों के गुणमात्र को प्रकट कर अपनी योग्यता से इन्हें मिलाया चाहते हैं। सिद्धान्तियों के लिए यह विषय कौतूहलवर्द्धक होने पर भो विद्वानों के लिए आनन्द-जनक है। जिन्हें अपने धर्म्म कर्म्म का कुछ ज्ञान नहीं और संस्कृत पढ़े नहीं हैं, ऐसे लोगों का इससे बहुत उपकार हो सकता है और विद्वान् पुरुष भी इससे लाभ उठा सकते हैं; किन्तु कई जगहों पर ग्रन्थकार बहुत चूके हैं। इसका कारण यही जान पड़ता है, उन जगहों पर उन्होंने स्वयं कुछ अनुसन्धान न कर, यूरोपियन पण्डितों के भ्रान्त मत को ग्रहण कर लिया है, जो हो, ऐसी बातों को यहाँ दिखाना हम आवश्यक समझते हैं।

वेद की नित्यता वर्णन करते हुए लाला साहब ने जो यह कहा कि "सब हिन्दुओं का सनातन से यह विश्वास चला आता है कि जैसे जगत अनादि है वैसे वेद भी अनादि हैं" सो बहुत ठीक है; किन्तु यहाँ पर "सब हिन्दुओं" के "विश्वास" की बात के साथ अपने विश्वास की बात को भी वे प्रगट करते तो अच्छा था। इस प्रकार बचकर एक बात को लिखना असाम्प्रयिक पुरुष की सत्यप्रिया लेखनी पर सन्देह करने का अवसर देता है। उनका यह कहना भी यूरोपियन पण्डितों के भ्रान्त वचन की पुनरुक्ति मात्र है कि "वेदों में ऋग्वेद सब से

पहला है यजुर और साम के बहुत से मन्त्र उससे ही लिए गये हैं और मन्वादि ने प्रायः तीन ही वेद माने हैं।" जब वेद नित्य है और एक ही वस्तु चार हिस्सों में बटी है तब यह क्यों कहा जाता है कि ऋग्वेद सब से पहला है यह बात उसीको शोभा दे सकती है जिसे उसकी नित्यता स्वीकार करने में सङ्कोच हो। जान पड़ता है मन्वादि महर्षियों के "ऋक यजुः सामलक्षणम्" इत्यादि वाक्यों में अथर्व वेद का नाम न देख कर ऐसी धारणा हुई है, कि उन्होंने "तीन ही वेद माने हैं" पर वास्तव में ऐसा नहीं है। चारों वेदों की रचना तीन प्रकार की होने से "वेदत्रयी" शब्द का व्यवहार हुआ है, न कि उनकी संहिताओं के कारण। महर्षि जैमिनि के मीमांसासूत्र और कात्यायन के श्रौत सूत्रों में इस विषय पर खूब विचार हुआ है कि वेदों के मंत्र चार प्रकार के हैं कि तीन प्रकार के।

दुःख की बात है कि संस्कृत के अनेक पण्डित भी वैदिक पुस्तक न देखने के कारण इस विषय में भ्रान्त हुए और हो रहे हैं। यह कोई नहीं सोच देखता कि जब अथर्ववेद में यही ऋगादि रूप रचना है, तब उसका पृथक् नाम लेने की आवश्यकता ही क्या है? हम इस विषय को अन्यत्र सप्रमाण विस्तार से लिख चुके हैं। यहाँ बहुत कहने की आवश्यकता नहीं। यही कह देना यथेष्ट है कि अथर्ववेद के विषय में लाला साहब का यह लिखना कि "किसी ऋषि ने इसको प्रमाण माना है किसी ने नहीं"—भ्रान्तिमूलक है। वह अपने सन्देह को मिटा लें।

आगे भी इसी प्रकार कई जगहँ भूले हैं। पुस्तक के तीसरे पृष्ठ में उन्होंने लिखा है "सामवेद की दो शाखा हैं, कौथी (१) राणायनी। यजुर्वेद के दो भाग हैं शुक्ल यजुर्वेद व कृष्ण यजुर्वेद। शुक्ल यजुर्वेद में केवल संहिता भाग है, कृष्ण यजुर्वेद में संहिता व ब्राह्मण दोनों भाग हैं। इस वेद की बहुत सी शाखाएँ हैं। उनमें से कठ मैत्रायणी और वाजसनेयी अब तक मिलती हैं।"

वेद के विषय में बड़े बड़े पण्डितों से भी भूल हो सकती है; किन्तु लाला साहिब की भूलों की तरह कभी कोई विद्वान् ब्राह्मण भूल

नहीं कर सकता। उनके सुन्दर विचार और संग्रह चातुर्य्य को देख कर जितना चित्त प्रसन्न होता है, उतना ही ऊपरवाली बातों को पढ़ कर खिन्न हो जाता है और यही कहने को जी चाहता है कि सुनी सुनाई बातों को लिख कर अनधिकार चर्चा करने से मूढ़ पुरुष उतना बदनाम नहीं हो सकता, जितना एक विद्वान् पुरुष हो सकता है। लोग जब यह देखेंगे कि जिस पुरुष को वेदों की शाखा का साधारण ज्ञान भी नहीं, वह पुरुष उनके विद्वान्-गम्य गहन विषयों पर विचार कर रहा है, तो क्या कहेंगे ? अस्तु सामवेद की "दो शाखा" नहीं बहुत सी हैं, सहस्र तो महाभाष्यकार पतञ्जलि ने स्वीकार की हैं, पर सब नहीं मिलतीं। "कौतुभी" नाम की कोई शाखा नहीं "कौथुमी" है। "शुक्ल यजुर्वेद में केवल संहिता भाग" ही नहीं है, उसके जगद्विख्यात "शतपथ" ब्राह्मण के समान वृहत् उपदेशपूर्ण और समालोच्य किसी भी वेद का ब्राह्मण नहीं है। वेबर साहब इसको बर्लिन में छपा चुके हैं और अब कलकत्ते से भी "एशियाटिक सोसायटी" द्वारा खण्डशः प्रकाशित हो रहा है। यजुर्वेद की काण्व आदि शाखाएँ भी मिलती हैं। सुप्रसिद्ध स्वामी शङ्कराचार्य्य जी ने "वृहदारण्यक" आदि उपनिषदों में काण्व शाखा ही के पाठ का अवलम्बन किया है।"

"वैश्योपकारक"

संवत् १९६१ में कलकत्ते के रामप्रेस के मालिक बाबू रामलाल जी नेमाणी से मिलकर सुविज्ञ मारवाड़ी लेखक और कवि स्वर्गीय बाबू शिवचन्द्र भरतिया ने "वैश्योपकारक" नाम का मासिक पत्र निकाला था; किन्तु नेमाणी जी और भरतिया जी का साथ अधिक निभ नहीं सका। उन दिनों मिश्र जी प्रायः कलकत्ते रहते थे। वैश्योपकारक की स्थिति डावांलोड हो रही थी। उस दशा में विद्वत्सेवी शास्त्रानुरागी रईस सेठ रूढमल्ल गोयनका और भरतिया जी के विशेष अनुरोध से उसका सम्पादन भार मिश्र जी को लेना पड़ा था। प्रायः दो वर्ष 'वैश्योपकारक' के साथ मिश्र जी का सम्बन्ध रहा। उस समय के लोगों को यह बात

४

अविदित नहीं है कि, मिश्र जी की लेखनी के चमत्कार से वह पत्र भी चमक उठा था और उसके द्वारा मारवाड़ी समाज में विद्या प्रचार एवं कुरीति सुधार के कार्यों को बड़ा प्रोत्साहन मिला। हिन्दी के यशस्वी कविवर बा० मैथिली शरण गुप्त की आरम्भिक रचनाओं को स्थान दे कर "वैश्योपकारक" द्वारा मिश्र जी ने ही उनके उत्साह को बढ़ाया था। पं० रामचन्द्र शुक्ल, गुप्त जी को द्विवेदी स्कूल का छात्र मानते हैं परन्तु वे निष्पक्ष हो कर "वैश्योपकारक" की फाइल देखेंगे तो इस विषय में सन्देह करने का कोई कारण नहीं रहेगा। 'वैश्योपकारक' में सर्वोपयोगी लेखों के अतिरिक्त मिश्र जी "आलोचना की समालोचना" शीर्षक द्वारा सामयिक पत्रों की समालोचना लिखा करते थे। उसका ढंग चित्ताकर्षक था और उसमें साहित्यिक चर्चा मर्मस्पर्शिनी रहती थीं। कुछ नमूने देख लीजिये:—

आलोचना की समालोचना

"समालोचक साहब हिन्दी पत्रों पर इसलिए नाराज हुए हैं कि, उन्होंने नागरी भवन के उत्सव पर "सहानुभूति नहीं दिखाई" और उनके विचार में "सभा के कल्पित दोषों पर चटकनेवाले पत्रों के प्रतिनिधि नहीं आये थे।" हम पूछते हैं इसमें दोष किसका है? सभा का या पत्रों का? हिन्दी-पत्र-सम्पादकों के साथ सभा के कार्यकर्ताओं की कितनी सहानुभूति है, इसका नमूना हम समालोचक ही से कई पंक्तियाँ उद्धृत कर के दिखाते हैं "नागरी प्रचारणी सभा के एक पुराने अधिवेशन में बाबू श्यामसुन्दर दास ने ठीक ही कहा था कि युनिवर्सिटी बिल पर हिन्दी सम्पादकों ने अपनी स्वतंत्र राय यों न लिखी कि कदाचित् उनमें से किसी को भी विश्वविद्यालय में पैर रखने का सौभाग्य न मिला हो।" कहिये समालोचक जी, इस धृष्टतापूर्ण ग्राम्य कथन में कितना सार है? आप कदाचित् किसी "विश्वविद्यालय में पैर रखनेवाले" के हाथ का खिलौना हैं, इसीलिए आपको यह "ठीक" जान पड़ता है। पर जिन पत्रों के आप प्रतिनिधि चाहते थे, उनके लिए

इसमें कितनी सहानुभूति है ? ऐसी सभा के साथ जब आरावाले "विषस्य विषमौषधम्" का बर्ताव करते हैं, तब आप चटकते क्यों हैं ? बाबू श्यामसुन्दर दास तो संस्कृत के न जानने पर भी वेद, वेदाङ्ग, इतिहास, पुराण, सब की आलोचना कर डालें ! और हिन्दी सम्पादक विश्वविद्यालय में पैर रखे बिना एक बिल पर अपनी स्वतंत्रराय भी न दे सकें ? भला यह कोई बात है !!"

❀ ❀ ❀ ❀

"एक प्रवासिनी वङ्ग महिला" का "हिन्दी के ग्रन्थकार" शीर्षक लेख भी उल्लेख योग्य है। उल्लेख योग्य इसलिए नहीं कि, उसमें कोई नई बात है, वरञ्च इसलिए है कि वह एक स्त्री के नाम से प्रकाशित हुआ है। बहुत से लोग प्रवासिनी जी को स्त्री वेषधारी पुरुष समझेंगे, पर वास्तव में वे स्त्री ही हैं। वे किस वंश और किस ग्राम की शोभा हैं, यह न जानने पर भी हम समालोचक द्वारा इतना जान गये हैं कि नागरी भवन के गत उत्सव में जिस रमणी की कविता पर मोहित हो मिर्ज़ापुर के किसी बाबू ने "रामायण" और "समालोचक के" स्वत्वाधिकारी महाशय ने एक "सांगानेरी साड़ी" समर्पण की थी——कदाचित् ये वही हैं। सुतरां इनके स्त्रीत्व को कल्पित समझने का कोई कारण नहीं है। परन्तु स्त्री, फिर भी "प्रवासिनी" तत्रापि "वङ्गमहिला" होकर हिन्दी के ग्रन्थकारों पर इस प्रकार चढ़ाई करना कम बहादुरी की बात नहीं है। बात बहादुरी की होने पर भी हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि इस लेख में कुलरमणी के रक्षण योग्य मर्यादा की रक्षा नहीं हुई। लेख में हिन्दी ग्रन्थकारों से कहा गया है कि वे स्त्री-जाति के सम्मान की रक्षा करें। किन्तु दुःख की बात है कि, स्वयं लेखिका ने एक "लेखक" की "सहधर्म्मिणी" और "जननी" पर भी मर्मभेदक प्रश्न का प्रहार कर दिया है ! हम नहीं कह सकते हैं कि समालोचक की ओट में हिन्दी लेखकों पर यों चोट चलाने में "वङ्ग महिला" ने क्या भलाई सोची है ? सच पूछिये तो "प्रवासिनी जी" ने वङ्गीय सहयोगी "प्रवासी" के लेख का चर्वित चर्वण किया है वा यों

कहिये कि उसीके सूत्रों पर एक पक्षपातपूर्ण भाष्य रचा है। बङ्गालियों ने भी अँग्रेजी ग्रन्थकारों की चोरी की है—न तो इस बात को स्वीकार किया है और न यही कहा है कि बङ्गला के नाटक और उपन्यास भी अश्लीलता के दोष से दूषित है। वरञ्च एक प्रकार की उनके साथ सहानुभूति दिखलाई है। बड़े भोक से लिखा है कि "हिन्दी पाठकों का सिद्धान्त है कि वङ्ग भाषा के कितने हो उपन्यास अश्लील हैं" पर यदि उनको 'रङ्गालय' सम्पादक की "निरपेक्ष समालोचना" का ज्ञान होता तो कहना पड़ता कि, "हिन्दी पाठकों का ही नहीं बहुत से बङ्गीय सम्पादकों का भी यही सिद्धान्त है।" "काशी के गोस्वामी" रचित चपला और तारा को देखकर यदि सचमुच प्रवासिनी जी के "देवता कूंच कर गये" हैं तो उनको चाहिये कि कलकत्ते के "वङ्ग महिला समाज" और प्रसिद्ध "भारती" पत्रिका की सम्पादिका श्रीमती सरला देवी की उस पत्रिका का पाठ करें जो कुछ दिनों पहले उन्होंने "उपन्यास और समालेचक" के विषय में "हिन्दुस्थान रिव्यू" में छापी थी। उसके पाठ से प्रवासिनी जी को विदित होगा कि जिसमें वे "स्त्री जाति मात्र का ही अपमान" समझती हैं और जिसे "एक समाचार पत्र के हिन्दी साहित्य का उज्वल "तारा" बताने पर वे अधीरा हो रही हैं" उसे एक सुप्रसिद्ध वङ्ग महिला कैसा समझती है। आपको उपदेश देने ही का चाव है तो आप उन्हें दीजिये। गोस्वामी जी के उपन्यास गन्दे होने पर भी रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कई एक अश्लील कविताओं और बड़तले की पुस्तकों से अच्छे हैं। अब रहा "ऐयारी" और "तिलस्म" इसके विषय में "सुदर्शन" में बहुत लिखा जा चुका है। "असम्भव सम्भव" का बखेड़ा फिर से खड़ा करना किसी किसी के चातुर्य्य का लक्ष्य होने पर भी श्रेयस्कर नहीं है।

"हिन्दीप्रदीप"

"यह मासिक पत्र हिन्दी के लेखक धुरंधर साहित्यनिष्णात स्वतंत्रचेता श्रद्धास्पद पं० बालकृष्ण भट्ट जी द्वारा २५ वर्ष से सम्पादित होता है। इस पत्र की एक संख्या में जितना सार रहता है, उतना दूसरे पत्रों

की संख्या बटोरने पर भी हाथ लगना कठिन है। वह कौन सा विषय है, जिसकी इस पत्र में समालोचना न होती हो। भक्त हो, भावुक हो, देश हितैषी हो, सुलेखक हो, चाहे कैसा ही कोई क्यों न हो जो विद्वान् इसे देखेगा इसमें अपना अभिमत विषय पाकर अवश्य प्रसन्न होगा, परन्तु दुःख की बात है कि गुणग्राहकता के अभाव से भट्ट जी का सुभाषित अङ्कों में ही जीर्ण हो रहा है। २५ वर्षों तक मातृभाषा की सेवा करने पर भी इसके वृहत् कुटुम्ब सम्पादक इस पत्र को इस योग्य न बना सके, कि यह निज के प्रेस में प्रति मास ठीक समय पर छपता और न इतने ग्राहक ही जुटा सके जिससे इसकी ज्योति किसी प्रकार मन्द न पड़े। साहित्य के स्नेहियों के अभाव से प्रदीप की यह दशा हो गई कि उसका प्रकाश वर्ष में चार बार होने लगा! नए नागरी प्रचारकों के लिए इससे बढ़ कर और लज्जास्पद विषय क्या होगा कि पत्र भी लें और दाम न दें। लेख भी उद्धृत करें और नाम भी न लें। अब न भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र हैं, न पं० प्रताप नारायण मिश्र हैं और न व्यास अम्बिकादत्त ही रहे हैं। उन लोगों में से दो एक अकर्मण्य हो गए दो एक जीवन्मृत हैं, एक मात्र भट्ट जी ही सजीवता का परिचय दे रहे हैं। पर खेद है कि यहाँ मरने पर सब रोना जानते हैं, जीते जी किसी का आदर करना नहीं जानते।"

❀ ❀ ❀ ❀

"सरस्वती"

"भुवनमोहनी आकृति और अतुलनीय महिमा के कारण सरस्वती का गौरव पूर्ववत् स्थिर है। इस संख्या में सभी लेख उत्तम हुए हैं, किन्तु "पुस्तकपरीक्षा" के समय उसकी वीणा का मधुर स्वर कुछ उग्र हो गया है। अपने भूतपूर्व सम्पादक और "सौम्य-शील-निधान" बाबू श्यामसुन्दरदास तथा नागरी प्रचारिणी सभा के विषय में सुनी सुनाई बातों के आधार पर अटकल से जिन शब्दों का उसने प्रयोग किया है, वे तदुपयुक्त नहीं हैं। कारण वह "काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से संस्थित" है। पुस्तकों की खोज के उत्तरदाता बाबू श्याम-

सुन्दरदास नहीं हैं वरञ्च सभा है, जिसके तत्वावधान में उन्होंने निःस्वार्थ भाव से इस महत्कार्य का सम्पादन किया है। 'सरस्वती' का यह कर्तव्य था कि बोलने से प्रथम इस विषय में सभा से अपनी तसल्ली कर लेती। जो हो उससे भूल हुई, पर वह इस योग्य नहीं है कि उस पर सभा में विचार किया जाय। सुना है कि काशी के एक विद्यादिग्गज पण्डित इस बात पर इतने बिगड़ गये हैं कि उन्होंने इस बात का प्रस्ताव ही कर डाला कि सरस्वती के "टाइटल पेज" से उस सम्मानसूचक वाक्य को उठवा दिया जाय, जो सभा की ओर से उसे मिला है। हमें विश्वास है, यह बात सही भी हो तो सभा इस विषय में गाम्भीर्य दिखावेगी और कदापि इस अयोग्य प्रस्ताव को ग्रहण न करेगी। उस वाक्य के उठा देने से सरस्वती की प्रतिष्ठा में अणुमात्र भी न्यूनता न होगी वरञ्च लोगों की दृष्टि में सभा गिर जायगी कि उसमें ऐसे अनुदार लोगों का आधिपत्य है, जो स्वयं तो हिन्दी के पत्रों पर तीव्र से तीव्र अनावश्यक प्रहार करते हैं, पर आप किसी सम्पादक की दो बातें भी सुन नहीं सकते। 'सरस्वती' के तेजस्वी सम्पादक (उस समय पण्डित महावीर प्रसाद जी द्विवेदी सरस्वती के सम्पादक थे) भूलने पर भी उन पग्गड़धारी पण्डितों के तुल्य नहीं भूलते, जिनकी उन्नत दशा में काशी के महामहोपाध्याय पद का अधःपतन हो रहा है!"

विभिन्न पत्रों में लेख और कविता

'सुदर्शन' और "वैश्योपकारक" के अतिरिक्त "श्रीराघवेन्द्र", "प्रयाग समाचार", "श्रीवेंकटेश्वर समाचार", "भारतमित्र" और "हिन्दी वङ्गवासी" आदि पत्रों में मिश्र जी के लेख और कविताएं छपती रहती थीं।

हिन्दी साहित्य सभा

कलकत्ते में मिश्र जी के प्रयत्न से सेठ फूलचन्द जी हलुवासिया के सभापतित्व में एक हिन्दी साहित्य सभा की स्थापना हुई थी। सेठ रूड़मल्ल जी गोयनका के स्थान पर जो विद्वानों और साहित्य सेवियों का एक केन्द्र रूप था, हिन्दी साहित्य सभा के अधिवेशनों का समारोह होता

था और पण्डित गोन्दिनारायण जी मिश्र जैसे साहित्य-धुरन्धर विद्वान् निबन्ध पाठ किया करते थे। इस सभा के मंत्री बा० शिवचन्द्र जी भरतिया बनाये गये थे।

मिश्र जी की साहित्य सेवा के परिचय प्रसङ्ग में सम्पादकप्रवर पण्डित अमृतलाल जी चक्रवर्ती के साथ मिल कर वङ्गभाषा के महाराष्ट्र लेखक पण्डित गणेश देउस्कर महाशय-लिखित 'देशेर कथा' का जो हिन्दी अनुवाद 'देश की बात' के नाम से उन्होंने किया था, वह भी विस्मर्तव्य नहीं है। श्रीवेंकटेश्वर प्रेसाध्यक्ष सेठ खेमराज जी ने अपने यहाँ छपवा कर यह पुस्तक श्रीवेंकटेश्वर समाचार के उपहार में दी थी। वङ्गभङ्ग के बाद पण्डित देउस्कर जी की "देशेर कथा" ने आत्मविस्मृत वङ्गालियों को जगाने में अद्भुत कार्य कर दिखाया था। "देश की बात" का समर्पण मिश्र जी ने अपने मित्र हिन्दी साहित्य सभा के सभापति सेठ फूलचन्द जी हलुवासिया को किया था।

साहित्य सेवी मित्र

मिश्र जी की मैत्री का विस्तार भी बहुत व्यापक था। उनके साहित्य-सेवी मित्रों में स्वर्गीय पं०गोविन्दनारायण जी मिश्र, पं० अम्बिकादत्त जी व्यास साहित्याचार्य, बा० बालमुकुन्द जी गुप्त, बा० देवकीनन्दन जी खत्री, पं० किशोरीलाला जी गोस्वमी, बा० राधाकृष्णदास जी, पं० राधाचरण जी गोस्वामी, पं० बदरी नारायण जी चौधरी, पं० मधुसूधन जी गोस्वामी, पं० अमृतलाल जी चक्रवर्ती, बा० शिवचन्द्र जी भरतिया, पाण्डेय प्रभुदयाल जी, बा० हरिकृष्ण जी जौहर, पं० चन्द्रधर जी गुलेरी, पं० जगन्नाथ शर्मा राजवैद्य, पं० जगन्नाथ प्रसाद जी शुक्ल, पं० रामनायण जी मिश्र, बा० रामरणविजयसिंह जी, पं० सखाराम गणेश देउस्कर जी, पं० शिवबिहारी लाल जी वाजपेयी, विद्यावाचस्पति पं० अप्पाशास्त्री, पं० विष्णुदत्त जी शर्मा बी०ए० इत्यादि सज्जनों की गणना की जा सकती है।

महानुभावता

मिश्र जी महामना थे—क्षुद्रमना नहीं। दूसरों के, चाहे वे उनसे

सिद्धान्तों में मतभेद रखने वाले ही क्यों न हों, कीर्तिकर कार्यों का उल्लेख करने में उन्हें आनन्द आता था। स्वर्गीय हिन्दी सेवकों की कीर्तिरक्षा एवं स्मृतिरक्षा के लिये उनके हृदय में एक खास भावना थी। स्वर्गीय साहित्याचार्य पं० अम्बिकादत्त जी व्यास और पाण्डेय प्रभुदयाल जी प्रभृति के असामयिक परलोकवास पर उन्होंने जो लेख एवं शोक कविताएं लिखीं, उनमें उनके हृदय की उस कारुणिक भावना की स्पष्ट झलक है। स्वार्थत्यागी महत्पुरुषों की स्मारक रक्षा को मिश्र जी कितना आवश्यक समझते थे, यह उनके ही शब्दों में सुनिये :—

"जिस जाति में विद्या का आदर है, स्वार्थत्याग की महिमा है, महत्व और स्नेह का समादर है, वही जाति अपने कर्त्तव्य को पालन करती है। उस जीवित जाति के पुरुष समझते हैं कि जिस महापुरुष ने हमारी जाति, विद्या और धर्म का प्रचार कर स्वदेश का असीम उपकार किया है, जिसने अपने स्वार्थ का वलिदान कर केवल परमार्थ का काम किया है, यदि उस पूजनीय पुरुष का स्मारक नियत न किया जाय तो इससे बढ़ कर आत्म-विस्मृत-निर्भरता और नीचता अन्य क्या हो सकती है ? किसी स्वदेश हितैषी महापुरुष का स्मारक न करना केवल उस पुरुष की अप्रतिष्ठा का द्योतक नहीं है, वरञ्च उस जाति मात्र का ! वह कृतघ्न जाति अपने बाल बच्चों को यही विष-भरी शिक्षा दे रही है कि जिस प्रकार हमने अपने पुण्यात्मा पूर्वजों को भुलाया उसी प्रकार तुम भी हमारे पाप पूरित नाम को भूल जाना और जो उनका स्मारक नियत करते हैं, वे यह उपदेश दे जाते हैं कि, जैसे हमने उनका स्मरण किया, वैसे ही तुम भी हमारा करना।"..........

"हिन्दुओं में सदैव से वर्ण विभाग रहने पर भी—शास्त्रसिद्ध चारों सम्प्रदायों की विभिन्नता होने पर भी चारों ओर सब सम्प्रदाय मिल कर उस महापुरुष का सत्कार करते थे जो अपने जीवन में स्वार्थ त्याग की महिमा दिखाता था। वह दिन याद करना चाहिये जिस दिन महाराज शान्तनु के लिये युवराज भीष्म ने स्वार्थत्याग किया था। कामान्ध पिता की इद्रिय लालसा चरितार्थ करने को प्रसन्न होकर सदा के लिये जिस दिन यौवराज पद को परित्याग कर दिया था। पिता के न्याय प्राप्त, बड़े भारी सुरेप्सित राज्य की हृदय में वासना तक न रक्खी और आजीवन ब्रह्मचारी रहे थे। महात्मा भीष्म के इस स्वार्थत्याग की

सम्पूर्ण देश में धूम मच गई; जिसके एक भी पुत्र नहीं, उसके सब पौत्र हो गये ! एक इस कृत्य से भारतवर्ष ने उनको पितामह बना लिया । क्षत्रिय भीष्म को उदार ब्रह्मर्षियों ने 'पितामह' का सहर्ष सम्बोधन दिया ! न ब्राह्मणों ने यह संशय किया कि भीष्म ने पिता को प्रसन्न किया तो क्या ? हम क्यों पितामह बनावें ? और न किसी शैव ही ने कहा कि वैष्णव भीष्म से हमारा क्या वास्ता है ? अहो ! एक वे लोग थे और एक आज कल के हम लोग ।"

पद्य-रचना

मिश्र जी हिन्दी गद्य के ही नहीं,—पद्य के भी सिद्धहस्त लेखक थे । गद्य लिखने में, यद्यपि उनकी निराली शैली थी, तथापि पद्य-रचना में वे भारतेन्दु-सखा स्वर्गीय पण्डित प्रतापनारायण मिश्र को अपना आदर्श मानते थे । व्रजभाषा एवं खड़ी बोली दोनों में मार्मिक कविता करने की मिश्र जी शक्ति रखते थे । उनकी कविता उच्च कोटि की है और वह प्रसाद गुण युक्त है । मिश्र जी का हृदय बड़ा भावुक था । इसलिये वे किसी साधारण विषय को भी अपने भावों की प्रचुरता से असाधारण बना देते थे । मिश्र जी की पद्य-रचना में यह विशेषता है कि साधारण पढ़े लिखे भी उसका रसास्वादन कर सकते हैं । ईश्वरप्रार्थना, राष्ट्रीयता और देशभक्ति, प्रकृति-वर्णन, समाज-सुधार, धर्म, साहित्य और विनोद–आदि विषयों पर उनकी सरस रचनाएँ हैं ।

खेद का विषय है, कि पण्डित रामचद्र जी शुक्ल अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास की पद्य सम्बन्धी नई धारा के द्वितीय उत्थान को लिखते समय पण्डित माधवप्रसाद जी के शुभ नाम को बिलकुल भूल गये हैं । शुक्ल जी "द्वितीय उत्थान के आरम्भ काल में पण्डित महावीर प्रसाद जी द्विवेदी ही को पद्य-रचना की एक प्रणाली के प्रवर्त्तक रूप में पाते हैं ।" किन्तु द्विवेदी जी के बराबर खड़े हुए पण्डित माधवप्रसाद जी मिश्र उन्हें दिखलायी नहीं पड़े । यह ठीक है कि शुक्ल जी ने अपने इतिहास के गद्य प्रकरण के द्वितीय उत्थान में मिश्र जी का उल्लेख किया है । परन्तु पद्य प्रकरण में भी उनका नाम संस्मरणीय था । मिश्र जी की

५

तरह ही शुक्ल जी ने बाबू शिवचन्द्र भरतिया और पण्डित राधाकृष्ण मिश्र को भी भुला दिया है। हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखकों के लिये ऐसा करना कहाँ तक उचित है, इसका विचार वे स्वयं करें।

धार्मिक क्षेत्र में

मिश्र जी अपने पूर्वजों के आचरित श्रुति-स्मृति-पुराण प्रतिपाद्य सनातन धर्म्म के प्रति पूरे आस्थावान थे। आर्य संस्कृति के विरोधियों को अकाट्य प्रमाणों और युक्तियों द्वारा उत्तर देने के लिये वे सदा सन्नद्ध रहते थे।

धार्मिक क्षेत्र में उन्होंने व्याख्यान वाचस्पति पण्डित दीनदयालु जी शर्मा की अधिनायकता में प्रवेश किया था। किन्तु आगे चल कर भारत धर्म महामण्डल को विधिवद्ध कराने के प्रश्न पर उनका मतैक्य नहीं रहा था। महामण्डल के लिये मिश्र जी ने असाधारण परिश्रम किया था। यह मिश्र जी के प्रयत्न का ही प्रभाव था कि जिससे लोकमान्य तिलक महोदय ने यह विघोषित कर दिया था कि हम राजनैतिक क्षेत्र में कांग्रेस और धार्मिक क्षेत्र में महामण्डल के अतिरिक्त किसी अन्य संस्था को नहीं मानते। भारतधर्म महामण्डल को चाहे मिश्र जी की धर्मसेवा का स्मरण न रहा हो, किन्तु सनातन धर्मी संसार उसको भूल नहीं सकता। महामण्डल के स्थायी सभापति स्वर्गीय दर्भंगाधीश महाराज सर रामेश्वर सिंह बहादुर मिश्र जी की राय का बड़ा आदर करते थे। उनके उद्योग से देश में कितनी ही सनातन धर्मसभाएँ स्थापित हुई थीं।

हरियाना प्रान्त में जिन लोगों ने सतीधर्म के विपरीति विधवा विवाह को प्रवर्त कर हिन्दू समाज की पवित्रता को नष्ट करना चाहा था, उस समय पञ्चायती संगठन द्वारा उनके दुस्साहस को तोड़ना, मिश्र जी ही का काम था। भिवानी की सनातन धर्म सभा के आदि संस्थापक भी वे ही थे। मिश्र जी के परम विश्वस्त एवं आज्ञानुवर्ती मंत्री थे पण्डित रामरूप जी शर्मा भिषग्रत्न।

कलकत्ते में मिश्र जी ने संवत् १९६० में पण्डित कन्हैयालाल जी गोपालाचार्य, पं० शम्भूराम जी पुजारी, पं० बालमुकुन्द जी पुजारी, पं० केदारनाथ बावलिया, पं० उमाशंकर जी वेदपाठी, पं० रामदयाल जी मिश्र, पं० भूरालाल जी मिश्र, पं० श्रीनारायण जी वैद्य, पं० हीरालाल जी शर्मा और पं० रामचन्द्र जी जोशी आदि सज्जनों को उत्साह दिला कर कलकत्ता ब्राह्मण सभा की स्थापना करवायी थी। इस "ब्राह्मण सभा" द्वारा कलकत्ते में समय समय पर अनेक धार्मिक और समाज सुधार के कार्य सम्पन्न हुए।

मिश्र जी के धार्मिक क्षेत्र के मित्रों की ओर दृष्टिपात करने पर सब से पहले श्रीभारतधर्म महामण्डल के जन्मदाता व्याख्यानवाचस्पति पं० दीनदयालु जी शर्मा दिखायी देते हैं। इस क्षेत्र में उनके अन्य मित्रों, सहायकों और साथियों में पं० शङ्करदाजी पदे शास्त्री (बम्बई), विद्या-वारिधि पं० ज्वालाप्रसाद जी मिश्र (मुरादाबाद), पं० रामचन्द्रजी वेदान्ती (दिल्ली), विद्यानिधि पं० गणेशदत्त जी शास्त्री (कन्नौज), पं० सीताराम जी शास्त्री विद्यामार्तण्ड (भिवानी), पं० गोविन्दराम जी शास्त्री (बरेली), पं० नन्दकिशोर जी देव शर्मा (अमृतसर), पं० मुकुन्ददेव जी शास्त्री (मथुरा), पं० देवदत्त जी शर्मा (भिवानी), पं० बालमुकुन्द जी जुकालिया (पंजाब), बा० वरदाकान्त लाहिड़ी (दीवान फरीदकोट), पं० गोपीनाथ जी (लाहौर), जोषी बाबा माधवलाल जी (मथुरा), रावसाहब गोपाल-सिंह जी राठौर (खरवा), बा० तुलापतिसिंह जी (दर्भंगा), पं० महाराज नारायण शिवपुरी जी (बनारस), पं० दामोदर जी शास्त्री (मथुरा), पं० वनमालीदत्त जी शास्त्री (अमृतसर), पं० श्रीकृष्ण जी शास्त्री (पटियाला), पं० बालचन्द्र जी शास्त्री (जयपुर), पं० कन्हैयालाल जी गोपालाचार्य (कलकत्ता), गोस्वामिवर्य श्री देवकीनन्दनाचार्य जी महाराज (बम्बई), श्री स्वामी ज्ञानानन्द जी महाराज (बनारस) और धर्मरत्न सेठ खेम-राज जी (श्रीवेंकटेश्वर प्रेसाध्यक्ष बम्बई) आदि सज्जनों के नाम मुख्यतः उल्लेखनीय हैं। रायबहादुर बा० जालिमसिंह जी पोस्टमास्टर-जनरल ग्वालियर-राज्य और फैजाबाद के वकील बा० वलदेवप्रसाद जी, मिश्र जी

के अनुरक्त भक्त थे। ब्रह्मपदलीन जगत् प्रसिद्ध स्वामी रामतीर्थ जी महाराज का आपसे प्रगाढ़ स्नेह था। उनके संन्यास ग्रहण करने के उपलक्ष्य में मिश्रजी ने "युवा संन्यासी", शीर्षक एक मर्मस्पर्शिनी एवं भावमयी कविता की रचना की थी। काशी की विभूति एवं परमपद-प्राप्त श्री स्वामी विशुद्धानन्द जी सरस्वती महाराज एवं श्रीशारदा पीठ के जगद्गुरु श्रीमच्छङ्कराचार्य श्रीमन्माधव तीर्थ जी महाराज मिश्र जी पर पूर्ण कृपा रखते थे। धर्म के सम्बन्ध में मिश्र जी किसी का मुलाहिज़ा नहीं रखते थे। आवश्यकता उपस्थित होने पर अपने चिरन्तन मित्रों के मत-विरोध में लिखने में भी उनको आपत्ति नहीं होती थी। यह सर्वजन विदित बात है कि, भारतधर्म महामण्डल के श्री स्वामी ज्ञानान्द जी का मिश्र जी से एकान्त प्रेम था; परन्तु स्वामी जी की मधुसूदन संहिता के महामण्डल द्वारा पाठ्य पुस्तकों में नियत होने की बात जब उनके सामने आयी, तब उन्होंने उसका उठकर विरोध किया और तब तक किया जब तक कि उसका बहिष्कार न करवा दिया।

इसी तरह काशी के किसी ठाकुरदास गुप्त ने तारायंत्रालय में छपवा कर "स्वार्थान्ध प्रकाशिका" नामक एक पुस्तक प्रकाशित की थी, जिसमें ब्राह्मण जाति को बुरी तरह गालियाँ देने की वीरता दिखायी गयी थी। वह गन्दी पोथी तत्सामयिक भिनगा नरेश की सहायता से बनी थी। उस समय मिश्र जी ने उसपर अपनी क़लम उठायी और उसकी धज्जियाँ उड़ा कर उसकी निस्सारता सिद्ध कर दी। यह स्मरण रखने की बात है कि उस निन्दनीय पुस्तक के प्रकाशकों ने काशी के पण्डितों को दक्षिणा दे देकर पुस्तक के पक्ष में हस्ताक्षर कराने का माया-जाल फैलाया था।

मिश्र जी को दम्भ—आडम्बर से घृणा थी। वे योरप वालों की तरह "पबलिक लाइफ और प्राइवेट लाइफ" में अन्तर रखने के पक्षपाती नहीं थे। बहिश्चरित और अन्तश्चरित के भेद को मिश्र जी हिन्दूजीवन के विपरीत समझते थे। इस विषय में उनका जो सिद्धान्त था, उसको उन्होंने एक स्थल पर यों प्रकट किया है:—

"मनुष्य जिस शुभाशुभ कार्य्य को करता है, उसका फल उसे अवश्य

मिलता है। यह सम्भव है कि जन समाज किसी व्यक्ति के अन्तरंग चरित्र की यथार्थता न जाने और इसलिए वह उसका यथार्थ प्रतिफल भी न दे सके परन्तु यह तीन काल में असम्भव है कि जिस सृष्टिकर्ता परमात्मा की नियम व्यवस्था से जगत का सब कार्य्य परिचालित हो रहा है, वह उसका पुरस्कार वा दण्ड न दे। यद्यपि परमात्मा सब कुछ करता है तथापि उस अन्तर्य्यामी के कार्य्य करने का द्वार भी प्रायः जनसमाज ही है। यदि ऐसा न होता तो राजा अपनी प्रजा को दण्ड न देता और सभ्य समाज में निन्दित पुरुष घृणा की दृष्टि से न देखे जाते। प्रत्येक पुरुष के अन्तःकरण में पापी को दण्डित करने की प्रवृत्ति ही न होती। क्योंकि परमात्मा और उसकी व्यवस्था पर सब का विश्वास है, परन्तु फिर भी वे अपनी ओर से उसे तत्कृत कार्य्य का समुचित फल देने में नहीं चूकते। आज कल विलायती विद्या का ज़ोर है। इसलिए एतद्देशीय लोगों का विश्वास भी प्रायः तदनुकूल हो रहा है। हिन्दू लोग भी, विशेषकर, धर्म्मव्यवसायी कहने लगे हैं कि, "हमारे उस कार्य की आलोचना करो जिसे हम सब लोगों के सामने करते हैं पर कोठड़ी के भीतर क्या कर रहे हैं उसे प्रगट न करो और न उस पर अपनी सम्मति दो। क्योंकि वह हमारा अन्तरङ्ग जीवन है, उससे औरों का क्या वास्ता! उसें हम एक पंच या पण्डित की हैसियत से नहीं करते।" ऐसी बात कोई कृष्टान कहे, तो वह किसी प्रकार उचित भी हो सकती है, पर हिन्दू के मुँह से ऐसी बात का निकलना ही उचित नहीं है। कृष्टानों में सामाजिक जीवन से अन्तरङ्ग जीवन पृथक समझा जाता है; परन्तु हिन्दुओं में नहीं। हिन्दू, हैसियत को नहीं देखता केवल कर्त्तव्य को देखता है। वह समझता है कि, एक ही शरीर की जीवात्मा से सब अवस्थाओं में सम्बन्ध रहता है। फिर बाहिर भीतर क्या? पाप सर्वदा ही पाप है। एक एक पुरुष का चरित्रबल ही तो सामाजिक बल कहलाता है। घर के साँप के समान गुप्त पापी समाज का अधिक शत्रु होता है। क्योंकि, किस समय वह क्या कर बैठेगा, यह कौन जान सकता है? सुतरां प्रकट चरित्र की अपेक्षा अन्तरङ्ग चरित्र की अधिक आलोचना होनी चाहिए। विशेषतः वह पुरुष जो अपने को एक जाति वा सम्प्रदाय का मुखिया मान रहा है, उसका अन्तरङ्ग चरित्र बाह्य की अपेक्षा अधिक प्रयोजनीय है। क्योंकि उसका चरित्र एक आदर्श चरित्र होता है। उसके कार्यों का सब अनुकरण करने लगते हैं। कोठरी के भीतर वह जिस मन्त्र का पाठ करता है, अर्द्ध रात्र में सब के सोने पर जिस प्रतिमा की उपासना में मग्न होता है, दूसरे भी उसीमें तत्पर होना चाहते हैं। और यदि वह दुराचार निरत होता है तो और लोग भी उसे उदा-

हरण बना कार्य्य करने लगते हैं। राजा रानी के निन्दित आचार से उतनी हानि नहीं हो सकती जितनी एक पण्डित वा पुरोहित के दुराचार से। क्योंकि वे सब के उपदेष्टा होते हैं, राजा भी उनके उपदेश से लाभ उठाते और शिक्षा ग्रहण करते हैं। इसलिए जिस अपराध में औरों का सहज में छुटकारा हो सकता है, वहाँ इनको बड़ा बड़ा दण्ड मिलता है। पुष्प चुराने पर महर्षि लिखित के हाथ काटे गए। गन्धर्व क्रीड़ा देखने मात्र से रेणुका को प्राण दण्ड मिला। परस्त्री-साभिलाष-निरीक्षण मात्र से जावालि के नेत्र निकाले गए और सरस्वती के पीछे दौड़ने ही से ब्रह्मा का सीस काटा गया! तब यह कौन बुद्धिमान स्वीकार करेगा कि धर्म्मप्रचारक का जीवन रहस्य आलोच्य नहीं है। उक्त महापुरुषों से जो पाप हुआ था वह भी तो गुप्त था, फिर पुराणों में उसकी आलोचना क्यों हुई? संसार में लाखों पापी हुए उन सब का पुराणों में नाम तक नहीं; किन्तु ऋषियों के ज़रा ज़रा से पाप का भी विस्तार से वर्णन किया गया है।"

* * * *

कितने उच्च विचार हैं? अपने ऐसे ही सद्विचारों के कारण मिश्र जी सनातन धर्मियों के श्रद्धाभाजन बने थे। उन्होंने कभी किसी धनिक को खुश करने का प्रयत्न नहीं किया और न कभी वे सत्य बात कहने में पीछे हटे। उनकी तेजस्विता और सत्यप्रियता प्रधान निर्भीकता का परिचय लोगों को, भारतधर्म महामण्डल के उस जलसे के अवसर पर मिला था, जो दिल्ली में लार्ड कर्जन के शानदार दरबार के साथ साथ हुआ था। महामण्डल के उस स्मरणीय महाधिवेशन के समय श्रीमान् काश्मीरनरेश के प्रभाव में आकर लोग चुपचाप एक ऐसा प्रस्ताव स्वीकार कर रहे थे कि जो सब की आत्मा के विरुद्ध था। यह दुर्दशा देख कर मिश्र जी से रहा नहीं गया और उन्होंने यह। कहते हुए कि श्रीमान् काश्मीराधिपति नरेश हैं, धर्मेश नहीं, उस प्रस्ताव का विरोध किया। इतना ही नहीं, उसे अपनी दलीलों के ज़ोर से गिरा दिया।

वस्तुतः मिश्र जी सभा-समितियों एवं धार्मिक सामाजिक और साहित्यिक विवादों में कभी किसी से नहीं दबे। वे अपने सिद्धान्तों के दृढ़ानुयायी थे। उनको श्रीभारतधर्म महामण्डल, बङ्गाल की विबुध

जननी सभा, बम्बई प्रान्त की सनातनधर्म परिषद आदि संस्थाओं और जगद्गुरु श्री मच्छङ्कराचार्य प्रमुख महानुभावों ने समय समय पर उपाधि-प्रदान करना चाहा; किन्तु उपाधियों के व्यामोह और स्वर्ण पदकों के प्रलोभन से वे निरन्तर बचते ही रहे। जब अवसर आया, तभी उन्होंने धन्यवादपुरस्सर प्रत्याख्यान कर दिया और 'सोपाधिक जीवन से निरुपाधिक जीवन को ही बहुत उत्तम माना।'

समाजसेवा

धन वैभव-सम्पन्न किन्तु विद्याविमुख मारवाड़ी समाज को जगाने और उसका कर्तव्य-बोध कराने के महत्कार्य में मिश्र जी ने प्रशंसनीय भाग लिया था। 'अश्लील सीठना' गाने और ब्राह्मणियों से अपने पावों में मेंहदी लगवाने जैसी कुरीतियों के कारण मारवाड़ी समाज बदनाम हो रहा था। उन कुरीतियों को दूर कराने में मिश्र जी का पूरा हाथ था। इसके अतिरिक्त कलकत्ते के मारवाड़ी-समाज के कीर्ति-स्तम्भ श्री विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय की स्थापना में मिश्र जी की लेखनी ने जो विलक्षण कार्य किया था, उसके जाननेवाले लोग अब तक भी विद्यमान हैं।

उक्त विद्यालय की प्रबन्धकारिणी सभा ने गत पूर्व वर्ष (सन् १९३२ में) विद्यालय-भवन में गोवर्द्धन मठ के जगद्गुरु श्री मच्छङ्कराचार्य श्री भारतीकृष्ण तीर्थ जी महाराज द्वारा मिश्र जी का चित्रोद्घाटन करा के उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाश की। चित्र खोले जाने के अवसर पर विद्यालय के सुयोग्य सभापति एवं मारवाड़ी समाज के प्रधान कार्यकर्ता रायबहादुर सेठ रामदेव जी चोखानी ने अपने समयोचित भाषण में मिश्र जी का गुणानुवाद करते हुए उनके उपकारों का स्मरण करा, आगे की पीढ़ी के सामने एक अच्छा आदर्श उपस्थित किया था। चोखानी जी ने कहा था:—

"जिन सुदर्शन-सम्पादक स्वनामधन्य वैकुण्ठवासी पण्डित माधवप्रसाद जी मिश्र के चित्रोद्घाटन की क्रिया आज सम्पन्न हो रही है, उनके नाम और कार्यों से वर्तमान मारवाड़ी समाज यद्यपि विशेष परिचय नहीं रखता; तथापि

अब से पचीस वर्ष पूर्व, इस समाज के प्रायः सभी उन्नति विधायक सदनुष्ठानों के साथ मिश्र जी का सम्बन्धसूत्र जुड़ा हुआ था। मारवाड़ी समाज के कीर्ति-स्तम्भ श्री विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय की स्थापना और उसके स्थायी चंदे की पूर्ति में उनकी तीक्ष्ण लेखनी ने जो काम किया था, वह चिरस्मरणीय रहेगा। मारवाड़ी समाज की कुरीतियों के दूर करने के आन्दोलन के प्रारम्भिक युग में पण्डित माधवप्रसाद जी मिश्र ने बड़ा भाग लिया था और इसके लिये मारवाड़ी समाज उनका कृतज्ञ है।*

चित्रोद्घाटन का विवरण प्रकाशित करते हुए कलकत्ते के "स्वतंत्र" और "विश्वमित्र" ने मिश्र जी किस उच्चश्रेणी के हिन्दी साहित्य सेवी थे, यह स्मरण कराया था और इस बात पर खेद प्रकट किया था कि हिन्दी में कद्रदानो—गुणग्राहकता नहीं, पार्टीबन्दी का जोर है। वास्तव में यही बात है। यदि पार्टीबन्दी का पचड़ा न होता तो राय-बहादुर बा० श्यामसुन्दर दास जी बी० ए० अपने हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास में मिश्र जी जैसे विशिष्ट हिन्दी सेवक का नाम तक न लेने की सङ्कीर्णता न दिखलाते। अस्तु।

स्मारक

मिश्र जी का कलकत्ते में एक उल्लेखनीय स्मारक और भी है और वह स्मारक है, मिश्र जी के शुभ नाम पर स्थापित कलकत्ते का अन्तर्वर्ती सलकियास्थ "विद्यालय"। मिश्र जी के परलोकवास के अनन्तर स्वर्गीय मिश्र जी के प्रेमियों की प्रेरणा से पं० उमाशङ्कर जी वेदपाठी ने एक छोटी सी हिन्दी संस्कृत पाठशाला के रूप में इस स्मारक का बीजाङ्कुर जमाया था। इस पाठशाला को बा० तुलाराम जी गोयनका, बा० फूलचंद जी हलुवासिया और बाबू गुलाबराय जी पोद्दारका मुख्यतः आश्रय प्राप्त था। प्रायः डेढ़ युग के बाद इस पाठशाला के दिन फिरे और उसे बाबू सूरजमल जी जालान, बा० ठाकुर दास जी सूरेका और पं० सोहनलाल जी शर्मा की सहायता का योग मिला। इसके बाद ही मिश्र जी के अनन्य भक्त परमोदार सेठ तुलाराम जी

* दे० भारतमित्र खण्ड २० संख्या १८९ (८ जनवरी १९३२)

गोयनका ने इस ओर विशेष ध्यान दिया और प्राय: एक लाख रुपये के व्यय से मिश्र जी के नामाङ्कित इस विद्यालय के लिये विशाल भवन बनवा कर समर्पित कर दिया। इस विद्यालय में मैट्रिक्युलेशन तक अंग्रेजी और हिन्दी की पढ़ाई का प्रबन्ध है। संस्कृत-विभाग में काशी की आचार्य और बङ्गाल की 'तीर्थ' परीक्षाओं के लिये विद्यार्थी भेजे जाते हैं।

दृढ़ता

विद्या प्रचारार्थ श्रीस्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती जी के स्मारक में विद्यालय स्थापित करने के प्रसङ्ग में मारवाड़ी समाज की हितपूर्ण कठोर किन्तु परिणाम-मधुर आलोचना से नाराज़ होकर कलकत्ते के प्रभावशाली धनिकों के एक गुट्ट ने मिश्र जी को क्षमा माँगने के लिये विवश करना चाहा था, किन्तु उनकी दुरभिसन्धि का आभास पाकर उन्होंने उनके बढ़ते हुए साहस को तोड़ दिया। मिश्र जी ने उस मौक़े पर द्विगुणित तेजस्विता के साथ लिखा :—

"किसी का अपराध करने पर क्षमा माँगना योग्य मनुष्य का कर्तव्य कर्म है, किन्तु दुराचारियों के रक्त भरे हाथों से डर कर "त्राहिमां" पुकारना उत्तम पुरुष का कार्य नहीं है। निज कर्तव्य-पालन में वह मनुष्य, मनुष्य से डर सकता है, जिस पामर का विश्व-नियन्ता पर पूरा विश्वास न हो। हमने जो कुछ लिखा है, उसे न्यायानुमोदित, धर्मानुगत सत्य और कर्तव्यकर्म समझ कर लिखा हैं, राग द्वेष से नहीं। तिस पर भी जो हमारे साथ "प्रकोपाय न शान्तये" की उदारता दिखा रहे हैं, उन सपूतों को समझना चाहिये कि यहाँ वह सिर नहीं है, जो आपकी तेज तलवार से कम्पित हो।"

एक बार उन्होंने लिखा था—

"हमारा मारवाड़ियों से बड़ा प्रेम और घनिष्ठ सम्पर्क है, उसी गुरुतर सम्बन्ध से हम मारवाड़ियों की चर्चा करने को बाध्य हैं। हमारी चर्चा से मारवाड़ी चाहे प्रसन्न हों या अप्रसन्न, न यहाँ उनकी प्रसन्नता के पुरस्कार का लोभ है और न अप्रसन्नता के तिरस्कार का डर। जो उचित समझा वह किया है और जीवन भर उसी प्रकार करने का उत्साह है।"

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सामाजिक सुधार में कलकत्ता

ही उनका केन्द्र था और इस शुभ कार्य में स्वर्गीय बा० रूड़मल्ल जी गोयनका, बा० तुलाराम जी गोयनका, बा० ज्ञानीराम जी हलुवासिया, बा० फूलचंद जी हलुवासिया, बा० गुलाबराय जी पोद्दार, बा० रङ्गलाल जी पोद्दार, बा० मोतीलाल जी चांदगोठिया, बा० रामकुमार जी जालान, बा० राधाकृष्ण जी टीवड़ेवाला, बा० रामलाल जी नेमाणी एवं कलकत्ता-ब्राह्मण-सभा के सर्वस्व पं० कन्हैयालाल जी गोपालाचार्य, पं० बालमुकुन्द जी पुजारी, पं० शंभूराम जी पुजारी और पं० भूरालाल जी मिश्र का उन्हें सहयोग प्राप्त हुआ था।

स्वदेश-प्रेम

राजनीति में मिश्र जी के विचार राष्ट्रीयता के पोषक थे। वे लोकमान्य तिलक के मतानुयायी थे। बङ्गभङ्ग को लेकर पहली बार देश में जो विदेशी-वस्तु-वर्ज्जन और स्वदेशीग्रहण का आन्दोलन उठा था, उसके स्वर में स्वर मिलाकर उन्होंने भी देशवासियों को स्वदेशी की महिमा समझायी थी। राष्ट्रीय उत्थान के कार्यों में वे सोत्साह योग देते थे। बङ्गभाषा में प्रसिद्ध महाराष्ट्र लेखक "देशेर कथा" के रचयिता स्वर्गीय पं० सखाराम गणेश देउस्कर जी के प्रयत्न से बङ्गाल में जागृति करने के लिये स्वाधीनता के उपासक छत्रपति शिवा जी के उत्सव की जो प्रतिष्ठा हुई थी, उसमें मिश्र जी का भी सहयोग था। दो बार मिश्र जी की उपस्थिति में लोकमान्य तिलक कलकत्ते पधारे और दोनों ही बार उन्होंने उनका स्वरूपानुरूप स्वागत बड़ा बाजार निवासियों से करवाया। लोकमान्य तिलक मिश्र जी को अपना परामर्शदाता मित्र समझते थे।

मिश्र जी के लेखों और कविताओं में देशभक्ति के भावों का पूरा समावेश है। वे एक दूरदर्शी सुदक्ष राजनीतिज्ञ थे। उन्होंने उस समय अपने लेखों और कविताओं में जो भाव व्यक्त किये थे, उनकी देश-व्यापिनी प्रतिध्वनि सन् १८२१ में सुनायी दी।

"मालवीय जी के नाम खुली चिट्ठी" शीर्षक लेख मिश्र जी के राजनैतिक विचारों का नमूना है। यह लेख "श्रीवेंकटेश्वर समाचार" में

प्रकाशित हुआ था। यही उनका अन्तिम लेख है। इसमें महामना मालवीय जी की उस समय की नीति की समालोचना की गयी है। माननीय मालवीय जी ने विद्यार्थियों के राजनैतिक आन्दोलन में भाग लेने का विरोध किया था और प्रयाग पधारने पर लोकमान्य तिलक के आदरातिथ्य में उदासीनता दिखलायी थीं।

तीर्थ-यात्रा

मिश्र जी ने श्रद्धासमन्वित हृदय से हिन्दुओं के चारों धामों की यात्रा की थी। संवत् १९५४ में वे श्रीबद्रीनारायण दर्शनार्थ गये थे और संवत् १९६३ में जगन्नाथपुरी, सेतुबन्धुरामेश्वर एवं श्रीद्वारका। शेषोक्त यात्राओं में उनकी पूजनीया माता भी साथ थीं। काशी, प्रयाग, अयोध्या, मथुरा और वृन्दावन तो उनका घर हो रहा था, जहाँ वे प्रायः महीनों रहते थे। पर्य्यटन-प्रियता मिश्र जी में खूब ही थी।

स्वर्गवास

देश के दुर्भाग्य से मिश्र जी ने उम्र अधिक नहीं पायी। अपने पूर्वजों के ग्राम कूंगड़ में,—जहां वे भिवानी में प्लेग का प्रकोप देखकर, सकुटुम्ब चले गये थे, प्लेगाक्रान्त होकर चैत्र वदी ४ संवत् १९६४ को स्वर्गवासी हुए। उनके असामयिक परलोकवास से देश में शोक का एक गम्भीर भाव छा गया था।

सन्तान

देशवासियों ने बड़े दुःख के साथ मिश्र जी के वियोग को सहन किया। मिश्र जी के पुत्र शिवकुमार की अवस्था उस समय केवल १२ वर्ष की थी। बालक शिवकुमार में उसके प्रतापी पिता की तेजस्विता का प्रतिविम्ब देखकर और देशवासियों की सम्मिलित समवेदना एवं सहानुभूति का बल पाकर मिश्र जी के शोकसन्तप्त कनिष्ठ सहोदर पण्डित राधाकृष्ण जी ने धैर्यावलम्बन किया। शिवकुमार के लिये शिक्षा पाने की पं० राधाकृष्ण जी ने पूर्ण व्यवस्था कर दी थी। १६ वर्ष की अवस्था में पटियाला राज्य में डाक्टर जयदयालु सिंह जी की सुशीला

कन्या के साथ शिवकुमार का विवाह हुआ और उसके एक वर्ष बाद संवत् १९६९ में द्विरागमन।

विधि की विडम्बना से जब कि शिवकुवार युवावस्था में पहुँच कर अपने कठोर कर्तव्य-परायण पितृव्य पं० राधाकृष्ण जी को चिन्ताओं से मुक्त करने वाला था, उस पर क्षयरोग का आक्रमण हुआ। औषधोपचार बहुत किया गया किन्तु सब प्रयत्न निष्फल! अन्त में संवत् १९७१ चैत्र शुक्ला १४ को शिवकुमार की मृत्यु हो गयी! यह मृत्यु नहीं वज्रपात था।

उस समय पण्डित राधाकृष्ण जी का एकमात्र पुत्र कृष्णकुमार केवल अढ़ाई—तीन वर्ष का था। आयुष्मान कृष्णकुमार इस समय श्रीहरियाना शेखावाटी ब्रह्मचर्याश्रम (भिवानी) के कुलपति विद्यामार्तण्ड पं० सीताराम जी शास्त्री के तत्वावधान में पञ्जाब विश्वविद्यालय की "शास्त्री" एवं "हिन्दी प्रभाकर"—परीक्षाएं पास कर अंग्रेजी भाषा का ज्ञान-सम्पादन कर रहा है। वह बड़ा सुन्दर हिन्दी गद्य और पद्य लिखता है। ईश्वर उसको मार्कण्डेय की आयु दें, वही पण्डित माधव प्रसास जी एवं पण्डित राधाकृष्ण जी का वंश-प्रदीप है।

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा
झाबरमल्ल शर्मा

स्वर्गीय मिश्र जी

(लेखक पण्डित चन्द्रशेखर शास्त्री ओझा साहित्याचार्य*)

जातीय योग्यता पाने का केवल एक ही उपाय है और वह उपाय है अपनी जाति के कर्म्मवीरों के मार्ग का अनुसरण करना। किन्तु हमारा अपने कर्म्मवीरों से सम्बन्ध है तो केवल इतना ही कि, उनके अवसान पर हम एक लेख लिख दें या छोटी सी टिप्पणी। हमारी आँखें स्वर्ग की ओर पहुँच कर देखने लगती हैं कि वह देखो विमान पर हमारा कर्म्मवीर चला जा रहा है! उस समय हम यह नहीं देखते कि उस कर्म्मवीर ने हमारे लिए क्या छोड़ा है? वह जातीय जीवन के मार्ग में कहाँ तक आगे बढ़ा है? इसका फल यही होता है कि उसका किया कराया सब मिट्टी में मिल जाता है। अपने समस्त जीवन में परिश्रम करके जो मार्ग वह तैयार करता है वह मार्ग सदा के लिये कटीली घासों से घिर जाता है।

पण्डित माधवप्रसाद मिश्र एक ऐसे ही व्यक्ति थे। उन्होंने कई पुस्तकें लिखीं, कतिपय मासिक पत्रों का सम्पादन भी किया। भारत-धर्ममहामण्डल के शुभचिन्तक थे, इसके अतिरिक्त उनके विषय में आज के हिन्दी लेखकों को कुछ भी मालूम नहीं। स्वयं मैं भी उनके विषय में इससे अधिक नहीं जानता था। यद्यपि उनके कई अन्तरङ्ग मित्रों से भी मेरा कुछ दिनों साथ रहा, तथापि उनके विषय में मैं इससे अधिक जान नहीं सका। जब मुझे मालूम हुआ कि भारतधर्म्म महा-मण्डल से उनका सम्बन्ध था, तब उनके प्रति मेरी धारणा बिल-

---

*दुःख का विषय है कि पण्डित चन्द्रशेखर जी शास्त्री अब इस संसार में नहीं रहे। गत वर्ष उनका देहान्त हो गया। शास्त्री जी बड़े प्रेमी पुरुष थे। सन् १९१६ में वे कलकत्ते जाकर मेरे पास "कलकत्ता-समाचार-कार्यालय" में ठहरे थे। उसी समय स्वर्गीय मिश्र जी के सम्बन्ध में मेरी उनसे बातें हुई थीं। यह लेख शास्त्री जी ने बाँकीपुर की "शिक्षा" के २० वें खण्ड की ४ संख्या (ता० २७ एप्रेल सन् १९१६) में प्रकाशित कराया था। झाबरमल्ल शर्मा

कुल बदल गई, उनके भारतीय दर्शन-शास्त्र के देखने से उनके प्रति मेरी जो भक्ति हुई थी वह भी महामण्डल से सम्बन्ध रहने की बात जान जाने से धीरे धीरे खिसकने लगी। मैंने समझ लिया कि वे भी दूसरे उपदेशकों के समान धर्म के रोजगारी थे।

अभी हाल में मैं कलकत्ते गया था। पंण्डित झावरमल्ल जी से मिश्र जी की बातें छिड़ने पर उनके विषय में जो मेरी धारणा थी वह मैंने कह सुनाई। पण्डित झावरमल्ल जी बड़े चतुर हैं। उन्होंने मुझे उत्तर तो नहीं दिया किन्तु उत्तर देने के बदले एक बड़ा सा पिटारा मेरे सामने लाकर उन्होंने रख दिया और कहा—"इस पिटारे को खोलकर देख जाओ मिश्र जी का स्वरूप तुम्हें मालूम हो जायगा।" सचमुच वैसा ही हुआ। मेरी धारणा तो बदल ही गई, मुझे इस बात पर दुःख भी हुआ कि क्या इसी बल पर हम अपनी उन्नति करेंगे? मिश्र जी के काम को आगे बढ़ाना तो दूर रहा, दुःख है उनकी जीवनी भी अभी तक प्रकाशित नहीं हुई। मस्त भारतवासियों को इन बातों के लिये फुरसत कहाँ!

पण्डित माधवप्रसाद मिश्र जी का जन्म संवत् १९२८ में हुआ था। आप भिवानी निवासी थे। आपने प्रारम्भिक संस्कृत शिक्षा घर पर ही पाई पुनः उच्च शिक्षा के लिये आप काशी चले आये। काशी में महामहोपध्याय पण्डित राममिश्र शास्त्री जी से संस्कृत के अन्यान्य उच्च विषयों के साथ दर्शन शास्त्रों का अध्ययन किया।

विद्या पढ़ लेने पर आपने अपने जीवन का जो कर्ममय मार्ग निश्चित किया, वह मार्ग संस्कृत के पण्डितों को अभीष्ट नहीं है। मिश्र जी का जीवन कर्ममय था। परन्तु वह कर्म अपने लिए नही था, किन्तु देश और समाज के लिए था। विद्यार्थी की अवस्था में ही मिश्र जी की आँखों से देश की, समाज की और धर्म की बुरी दशा छिप नहीं सकी। उन्होंने देश की दशा को देखा और देखकर आँसू बहाये। आँसू बहाकर ही चुप हो जाना कायरों का काम है, कर्मी आँसू बहाने के साथ ही उठके खड़े हो जाते हैं। उनके बाहु फड़क उठते हैं, बुद्धि अपना उद्देश्य

तथा परिणाम निश्चित कर लेती है। उनके जीवन का उद्देश्य होता है कर्म और वे उसीमें रम जाते हैं।

मिश्र जी का सम्बन्ध मारवाड़ी समाज से विशेष था। उस समय आवश्यकता थी इस समाज में चेतनता लाने की, आवश्यकता थी विद्या की। उपयोगिता की ओर उस समाज का ध्यान आकृष्ट करने की। मिश्र जी ने इधर ध्यान दिया, अपने मित्रों से उन्होंने राय ली। मारवाड़ी समाज में इस विषय का आन्दोलन प्रारम्भ किया। उनकी तीखी लेखनी से निकले हुए जोरदार वाक्यों से मारवाड़ियों की सुस्ती और काहिली दूर हुई। उनकी बन्द आँखें खुल गयीं। उन्होंने आँखें फैलाकर दुनियाँ की ओर देखा और फिर एक बार अपनी ओर। सन्देह जाता रहा, विद्यार्जन की ओर उन्होंने चित्त दिया। श्री विशुद्धानन्द विद्यालय स्थापित हुआ। इसी प्रकार के अन्य भी दूसरे कामों की ओर मारवाड़ियों ने ध्यान दिया। महामण्डल को बनाने के लिए, उसको सुव्यवस्थित करने के लिए, उन्होंने कम प्रयत्न नहीं किये। केवल देश और धर्म के लिए उन्हें अपने चिरन्तन मित्रों का विरोध करना पड़ा। उन्होंने किया और बहुत अच्छे ढंग से किया। उन्होंने अपने कार्यों से बतलाया कि देश और धर्म के लिए सांसारिक सम्बन्ध कोई वस्तु नहीं, इनकी कुछ गणना नहीं है। ये सम्बन्ध ऐसे नहीं हैं जो किसी कर्तव्य-शील को अपने कर्तव्यपथ से अलग कर सकें। सांसारिक सम्बन्धों की तुलना में देश और धर्म का सम्बन्ध बहुत बड़ा है।

मिश्र जी ब्राह्मण थे परन्तु किसी राजा, रईस की खुशामद करना उन्हें इष्ट नहीं था। सभा सोसाइटियों में चाहे कोई राजा हो या और कुछ, उसके अनुचित मत का विरोध करना ये अपना कर्तव्य समझते थे। ये राजा के भी अनुचित मत का विरोध करते थे और बड़े स्पष्ट शब्दों में इसका उदाहरण दिल्लीवाले महामण्डल के अधिवेशन में लोगों ने पाया था।

मिश्र जी वैष्णव थे परन्तु उनके विचार उतने ही उदार थे जितने

कि दूसरे भारतीयों के होते हैं। वे उपासना परलोक के लिए करते थे, उनकी साम्प्रदायिकता पारलौकिक थी। समाज में वे सब के साथ मिलकर काम करते थे। अत्याचार या अन्याय सहने के आदी नहीं थे। बड़े से बड़े नेताओं को उनके किसी अनुचित काम के देखने पर, फटकार देते। किसी से मतभेद होने के कारण वे उसको अपना शत्रु नहीं समझते थे। कर्मक्षेत्र में आये हुए सभी को वे अपना सहयोगी समझते थे।

ऐसे विचार वाले का किसी से विरोध नहीं होता। मिश्र जी के सभी भारतवासी प्रिय थे। उनकी अप्रीति अन्याय से थी, अत्याचार से थी। उनकी घृणा, स्वार्थ से थी, उनका द्वेष कायरता से था, वे घबड़ाते थे साम्प्रदायिक कलह से। वह पुरुषसिंह निर्भय आया। उसने लोकारण्य में गर्जना की, उस गर्जना में, उस गम्भीर गर्जना में मधुरता थी सज्जनों के लिए, उस गर्जना में सुरसता थी देशहितैषियों के लिए, उस गर्जना में आशा थी देश के बच्चों के लिए, परन्तु वह गर्जना उन लोगों के लिए जो स्वार्थी और अहम्मानी हैं, काल की भेरी थी। उसने निर्भय गर्जना की। अज्ञान और कुरीतियों को तोड़ फोड़ अपनी गर्जना से देश के गरीब बच्चों के लिए विद्या के अङ्कुर जमाने योग्य वृष्टि करवायी, और वह पुरुषसिंह, वह भारत का हितैषी ब्राह्मण, वह गुणियों का सेवक पुरुषरत्न, वह अभिमानियों के अभिमान को चूर करनेवाला हिमालय, हम लोगों की आँखों के ओट हो गया। ता० १८ अप्रेल १९०७ तक ही भारतवासियों ने उस पुरुषसिंह की गर्जना सुनी।

विशुद्ध-चरितावली

का

उपक्रम

परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमत्स्वामी श्री ६ विशुद्धानन्द सरस्वती जी की कुछ दिनों से यह इच्छा थी कि उनके परमगुरु महामहिम श्री १०८ श्रीस्वामी तारकब्रह्मानन्द सरस्वती जी (प्रसिद्ध गौड़ स्वामी) महाराज का एक सचित्र बृहत् जीवन-चरित लिखा जाय, जिसमें उनके कृपापात्र लब्धप्रतिष्ठ संन्यासी और गृहस्थ पण्डित तथा प्रसिद्ध पुरुषों का भी जीवन-चरित साथ हो।

वे कहा करते थे, "हमारे दुर्बल हृदय को बलवान् करने के लिए विदेशियों के चरित की आवश्यकता नहीं, हमारे पूर्वपुरुषों का निर्मल चरित ही हमारे हृदय की दृढ़ता-सम्पादन में यथेष्ट है। एक बात और भी है। कलियुग के लोग अन्य युगों के महात्मा जनों का अनुकरण नहीं कर सकते, इस हेतु समयानुसार शिक्षा देने को भगवान् वा भगवत्प्रेरित महापुरुष पृथ्वीतल पर अवतीर्ण होते हैं, उन्हीं के उपदेश और आचरण द्वारा अनेक लोग इस लोक और परलोक के फल को प्राप्त होते हैं"।

"पुराणप्रसिद्ध मनु, याज्ञवल्क्य और वसिष्ठ आदि महर्षियों के वन्दनीय चरित से इस समय हम उतना लाभ नहीं उठा सकते, जितना स्वामी विद्यारण्य-प्रणीत 'शङ्करचरित' से। यह उनके चरित की त्रुटि नहीं है; देश, काल और पात्र का प्रभाव है"।

हमारे प्रश्न करने पर और भी उन्होंने कई बातें कही थीं। अन्य बातों को छोड़कर प्रकृतोपयुक्त का यहाँ उल्लेख करते हैं। उन्होंने बड़ी धीरता के साथ कहा था, "विश्वेश्वर का यह चिरन्तन नियम है कि जहाँ जिस पदार्थ की विशेष आवश्यकता होती है ठीक उसी समय में

उस पदार्थ को वहाँ भेजकर उस वस्तु के अभाव को दूर कर देता है। जैसे रात्रि के पीछे दिन, अत्यन्त गर्मी के पीछे वर्षा और दुःख के पश्चात् सुख अवश्य होता है, वैसे ही जब कोई जाति किसी जाति से दबाई जाती है, वा अविद्या-अन्धकार से व्याप्त होती है तब परमात्मा किसी अलौकिक पुरुष को भेज उस जाति का उद्धार करता है। संसार की चाहे जिस जाति का इतिहास देखिए, विश्वपति के इस प्रशंसनीय नियम का सर्वत्र चमत्कार मिलेगा। हमारे महाराज भी इसी नियम के अनुसार किसी कार्य को पूरा करने के लिए अपनी विभूति को साथ लेकर इस असार संसार में आये थे। वे निज कर्तव्य का पालन कर परमपदारूढ़ हुए, विभूति भी साथ गई केवल मैं............।"

चिन्ताशील पाठक! बस आगे कुछ न पूछिए। गुरुस्मरण से उस समय वृद्ध स्वामीजी की जो दशा देखने में आई वह लिखने की शक्ति से बाहर है, यहाँ इतना ही कह देना यथेष्ट है कि कई दिन तक लगातार मुझे अपने पास बुलाकर जगद्गुरु गौड़ स्वामी जी का समस्त जीवन-चरित सुनाया और कहा कि हमने जैसे कहा वैसे लिखकर उपस्थित करो।

यद्यपि मुझमें एक भी सद्गुण न था और न मैं इस गुरुतर कार्य का उपयुक्त पात्र था, तथापि पूज्यपाद स्वामी जी ने मुझे इस योग्य समझा था। उचित तो यह था कि मैं इस असाधारण कृपा को बहुमूल्य समझता और इसके लिए जगदीश्वर और स्वामी जी का धन्यवाद करता कि उन्होंने मुझे इस बात की प्रतिष्ठा दी और उसी समय जीवन-चरित का सम्पूर्ण उपकरण लेकर लिखने लगता; परन्तु नहीं—मेरे मन्दभाग्य ने मुझे इसके प्रतिकूल ही शिक्षा दी कि—क्यों व्यर्थ की बेगार में पड़ते हो! सुतरां, आज, कल करके समय टालता रहा और समझता रहा कि जब चाहेंगे तब लिख लेंगे। यहीं स्वामी जी हैं और यहीं मैं। क्या जल्दी है। भविष्य की मुझे क्या खबर थी? थोड़े ही दिनों में गृहस्थी के जंजाल में फँसकर स्वदेश में गया और वहाँ जाकर इस विषय को एक-दम भूल गया।

गत वर्ष नवम्बर में जब फिर काशी आया और स्वामी जी की सेवा में उपस्थित हुआ तब दीर्घ निश्वास लेकर उन्होंने कहा, "अरे! कुछ

लिखा जाय तो लिख ले, फिर कोई लिखानेवाला भी न मिलेगा"। इस कथन से हृदय में बड़ी चोट लगी। चित्त व्याकुल होगया। बात साधारण थी, इस प्रकार की बातें वे वर्षों से कहा करते थे कि लोग चाहे अब कुछ न समझें पर हमारे बाद हमारी एक एक बात दुर्लभ हो जायगी। कोई बतानेवाला भी न मिलेगा। पर न जाने क्यों आज इस बात ने असर किया। एक प्रकार निश्चय होगया कि अब स्वामी जी धरातल पर अधिक दिनों नहीं रहेंगे।

मैंने पिछले विलम्ब की क्षमा माँग कर निवेदन किया कि प्रभो! आज ही से आज्ञापालन करता हूँ, यद्यपि महाकवि कालिदास का यह श्लोक स्मरण होता है, "मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्। प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः"॥तथापि 'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया'; यह समझ निश्चिन्त हूँ। और फिर न मैं कवि हूँ और न यशःप्रार्थी। यह कह कर मैंने कागज़ और पेंसिल जेब से निकाल ली और लिखने को प्रस्तुत हुआ।

स्वामी जी हँसे और कहा कि तू अभी अपने को वामन समझता है तो फिर प्रांशु किस चीज़ का नाम है? अच्छा आज ही से सही। हम कहते हैं, नोट करते जाओ। यह कह कर कुछ नोट कराये और कहा, बस आज श्रीगणेशाय नमः होगया। मैंने प्रार्थना की कि "आज तो मैं समस्त चरित के नोट कर सकता हूँ कुछ तो और लिखवाइए"। कहा कि 'अल्पारम्भ श्रेयस्कर' होता है और तुम्हें लिखने में नहीं, पर हमें अधिक बोलने में कष्ट होता है।' इस पर मैं कहता ही क्या? चुप हो रहा।

इस समय वे प्रसन्न थे पर चेहरे पर एक प्रकार की चिन्ता सी प्रतीत होती थी। मैंने जिज्ञासा की कि 'महाराज! छप्पन का साल कैसा है? ज्योतिर्विद् तो बड़ा हल्ला कर रहे हैं।' स्वामी जी ने कहा, "करते रहें? जो जीवेगा वह आप देखेगा कि छप्पन का साल कैसा है? हमें क्या?......।"

दूसरे दिन उनकी तबीयत कुछ खराब होगई थी इस कारण कई दिनों तक कुछ विशेष न लिखा सके। इसी बीच में देखा गया कि अच्छे अच्छे योग्य पुरुषों को मठ-सञ्चित पुस्तकें और वस्त्र, पात्र ब्राह्मणों को वितरण कर रहे हैं। जिस प्रकार कोई यात्री अपनी यात्रा के कार्य में

व्यस्त रहता है ठीक उसी प्रकार वे एक ढंग के साथ कैलास-यात्रा का उपयुक्त उपकरण सङ्ग्रह कर रहे थे।

इन्हीं दिनों में अत्यावश्यक कार्य के लिए मुझे फिर घर जाना पड़ा। वहाँ से हरिद्वार। वैशाख का महीना, हरिद्वार का स्थान और गङ्गा का तट, एक से एक बढ़ कर था। इसी कारण वहीं कुछ दिनों ठहर गया। अकस्मात् वहाँ यह ख़बर पहुँची कि वैशाख बदी एकादशी की रात्रि को २ बजे काशी का कलश गिर गया! संस्कृतविद्या का भण्डार लुट गया! विद्यार्थी अनाथ होगये! दया का सागर शुष्क होगया! मीमांसा मारी गई! दर्शन का अदर्शन हुआ! सत्यवादिता सो गई! लोकयात्रा लोप हो गई। प्रियालापिता लीन हो गई! दानशीलता दीन हुई! शास्त्र सब निरुपयोग हुए! हा! स्वामी विशुद्धानन्द के कैलासवास से विशेषज्ञता की अब कथा शेष रह गई!!

लोग अब और्जित्य को जलाञ्जलि दें। मनस्विता का नाम भी न लें। दीनदयालुता प्रव्रज्यता को प्राप्त हो। विद्या वैधव्यवेणी बाँध ले। वाराणसी धवल वस्त्र धारण करे। विधाता को ऐसे महापुरुष निर्माण करने योग्य परमाणु अब कहाँ मिलेंगे? गुणों की दशों दिशाएँ शून्य होगईं! भारत में अन्धकार छागया! सनातनधर्म का जन्म अब निष्फल है! स्वप्न में भी क्या—वह दीर्घकमलनयन, वह मुखसरोज फिर दिखाई देगा? वह आजानुविलम्बित भुजयुगल, वह वृषभस्कन्ध वरवपु फिर भी कभी दृष्टिगोचर होगा? वह पीयूष-वर्षिणी, मथ्यमान-सागरोद्गार-गम्भीरा वाणी फिर भी कभी सुनेंगे? काल भी बड़ा विलक्षण है, मनोरथ सब धरे ही रहते हैं और यह अपना एक नया ही खेल खेल जाता है। कहाँ गौड़ स्वामी जी के जीवनचरित का विचार और कहाँ यह दारुण वज्रपात! स्वामी जी के कैलासवास का रोना नहीं है, क्योंकि उन्होंने मनुष्य-दुर्लभ ९३ वर्ष की पूरी आयु पाई, सैकड़ों ब्राह्मणों को महा विद्वान् बनाया और सहस्रों को विद्यादान दिया। राजा महाराजाओं का शासन और धर्म का प्रचार किया, फिर उनके लिए रोना कैसा?

रोना उनके लिए नहीं, रोना अपने लिए है। शोक—उस गौड़-गद्दी के लिए है, जिसे महात्मा गौड़ स्वामी ने प्रतिष्ठित किया था और जिसकी विश्वरूप और विशुद्धानन्द ने महिमा बढ़ाई थी,—आज वह विद्यापीठ

शून्य हो गई ! जहाँ राजा महाराजा से लेकर निर्धन, दरिद्र, दुखिया तक समान भाव से भक्तिपूर्वक उपदेश ग्रहण करने आते थे, आज उस उपदेश की 'इतिश्री' होगई। यही दुःख है। पृथ्वीराज-रहित इन्द्रप्रस्थ, प्रतापसिंह-त्यक्त चित्तौड़ और रणजीतसिंह से ख़ाली लाहौर जैसे हमारे दर्शनमात्र की सामग्री हो रही है, आज उसी दुर्दैव ने महात्मा गौड़ स्वामी के इस 'सिद्ध पीठ' को भी उसी प्रकार चिन्तयितव्य और केवल दर्शनीय बना दिया। जो हो। 'बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा'।

हरिद्वार से भिवानी और वहाँ से कई जगह घूमता फिरता अन्नोदक की प्रबलता से गत कार्तिक मास में महामन्त्री जी के साथ कलकत्ते पहुँचा। यहाँ अनेक वङ्गदेशीय विद्वानों के समालाप और पुस्तकावलोकन से बङ्गालियों के आचार-विचार का बहुत कुछ ज्ञान हुआ। उनकी यह बात मुझे अत्यन्त ही प्रिय और अनुकरणीय लगी कि वे अपने समाज के नेता, अभिभावक और प्रसिद्ध पुरुष के जीवनचरित लिखने में विलम्ब नहीं करते। यदि कोई शीघ्रता के कारण अथवा उपयुक्त साधनाभाव के हेतु प्रथम बार पूरा नहीं कर सकता है तो दूसरी तीसरी बार उसे अधूरा भी नहीं छोड़ता और एक के अपूर्ण कार्य को सम्पूर्ण करना दूसरा भी अपना कर्त्तव्य समझता है।

हम लोगों में "शेख़चिल्ली" के से विचार ही विचार हुआ करते हैं, और वे लोग कार्य के द्वारा उसे प्रकट करते हैं। हमारे में यदि कोई महापुरुष किसी कार्य के लिए अग्रसर भी हो तो, उसकी सहायता और पृष्ठ-पोषकता करना कैसा ?—उलटा उससे डाह कर उसे हतोत्साह करने को चेष्टा करते हैं! बङ्गालियों में क्या वैष्णव और क्या ब्राह्म, सब अपने अपने समाज के महापुरुषों के चरित्र को अङ्कित कर कृतज्ञता प्रकाश करते हैं और हम लोग ऐसे अकृतज्ञ हैं कि यहाँ तक अपने महापुरुषों को भूल जाते हैं,—इतना तक याद नहीं रहता कि उनका क्या ग्राम और क्या नाम था !

महामहोपाध्याय भारद्वाज श्रीयुक्त पण्डित गोविन्द शास्त्री जी के साथ मैं एक दिन संस्कृतकालिज कलकत्ता को देखने गया था। वहाँ जो कुछ देखा वह इस जन्म में विस्मरण न होगा। कालिज में प्रवेश करते ही सबसे प्रथम प्रसिद्ध पण्डित श्रीयुक्त ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के दर्शन

हुए ! देखा विद्यासागर महाशय की एक श्वेत प्रस्तरनिर्मित सुन्दर मूर्ति उच्चासन पर विराजमान है। पास ही संस्कृत एवं बङ्गभाषा की ललित कविता में महात्मा विद्यासागर के स्वरूप और साथ ही बङ्गालियों की कृतज्ञता एवं कर्तव्यता का परिचय मिल रहा है। अहा ! देखकर चित्त कैसा प्रसन्न हुआ है।

विद्यासागर महोदय को तो प्रणाम किया ही, पर मन ही मन उन पुरुषों को भी किया जिन्होंने मूर्ति की प्रतिष्ठा कर जातीयता और सजीवता का परिचय दिया है। मसल है—ख़रबूज़े को देखकर ख़रबूज़ा रंग पकड़ता है। विद्यासागर की मूर्ति और उनके कई जीवनचरित अवलोकन करने से यह बात जी में आई कि यदि महात्मा गौड़ स्वामी हमारी निर्जीव गौड़ जाति के स्वामी न होकर, बङ्गालियों के स्वामी व वङ्गदेश में उत्पन्न हुए होते, तो लोग उन्हें इतना शीघ्र नहीं भूल जाते। कहीं न कहीं, उनका स्मारक अवश्य मिलता। गौड़ स्वामी का दुर्भाग्य (शिव ! शिव !) वे हमारी कृतघ्न गौड़ जाति के स्वामी हुए और वैश्य भी मिले तो अग्रवाले ! 'यथा गुरुस्तथा शिष्यः' यह जो इस देश में जहाँ तहाँ बड़े बड़े पण्डित दृष्टिगोचर हो रहे हैं ये कहाँ से आये हैं ? घर घर में गौड़ पण्डित पूजित हो रहे हैं यह किसकी कृपा है ? कितने मनुष्य हैं जो इस बात को जानते हों कि यह सब माननीय गौड़ स्वामी का अद्भुत प्रताप है। जो दो चार वृद्ध पुरुष इन बातों के जाननेवाले थे सो भी अब हमारे दुर्भाग्य से गुरुदेव गौड़ स्वामी के पास धीरे धीरे चले जा रहे हैं !

मैंने अपने मन में विचारा कि यद्यपि मेरी अल्प सामर्थ्य है जैसा चाहिए वैसा जीवनचरित शीघ्रता से तैयार होना कठिन है तथापि कैलासवासी स्वामी श्री ६ विशुद्धानन्द सरस्वती जी के सङ्कल्प को जैसे हो सके वैसे पूरा करना चाहिए। अब के नहीं तो दूसरी बार सर्वाङ्गपूर्ण जायगा। वे सत्यसङ्कल्प थे, उनका सङ्कल्प किसी न किसी प्रकार से अवश्य पूरा हो रहेगा। इस विचार को मैंने भारतधर्म-महामण्डल के महामन्त्री श्रीयुक्त पण्डित दीनदयालु शर्म्मा के सामने प्रकट किया। उनको मेरे विचार-मात्र से जो आनन्द हुआ वह वर्णन से बाहर है। गौड़ स्वामी जी के शिष्य और बङ्गदेश के प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् श्रीयुक्त

पं० सत्यव्रत सामश्रमी और संस्कृतकालिज कलकत्ता के धर्मशास्त्राध्यापक और 'विजयप्रकाश'-प्रणेता श्री पण्डित प्रमथनाथ तर्कभूषण महाशय ने मेरे विचार की प्रशंसा कर इस विषय में सहायता देने की प्रतिज्ञा की। किम्बहुना, जिस जिसने यह विचार सुना उस उसने सराहा और मुझे उत्साहित किया।

अब यह विचार पैदा हुआ कि यह कार्य आरम्भ कहाँ से और किस प्रकार किया जाय? यद्यपि पूज्यपाद श्रीस्वामी विशुद्धानन्द जी का यही आदेश था कि गुरुदेव श्री गौड़ स्वामी महाराज का चरित लिखा जाय, अपनी चरित-चर्चा की उन्हें परवाह न थी; तथापि मैंने जो कुछ निवेदन उनकी सेवा में किया था उसका उन्होंने प्रतिवाद भी नहीं किया था। सुतरां उसी प्रकार से इसका प्रचार करना उचित समझा गया है।

"विशुद्ध-चरितावली" के नाम से यह विशुद्ध चरित, पूज्य स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती जी के जीवन-चरित से आरम्भ होगा और उनके कैलासवास पर पूर्ण। जिन जिन प्रसिद्ध पुरुषों का इनके चरित से कुछ सम्बन्ध है, उन सब पुरुषों के यथा-लब्ध चित्र (फ़ोटो) और चरित भी इसमें दिये जायँगे।

यहाँ यह सन्देह न करना चाहिए कि गौड़ स्वामी जी के जीवन-चरित को प्रतिज्ञा करके श्रीविशुद्धानन्द जी का जीवन-चरित क्यों लिखा जाता है? गौड़ स्वामी और विशुद्धानन्द जी के चाहे विग्रह दो थे, पर विभूति एक ही थी! चाहे जिसके चरित से आरम्भ हो, बात एक ही है। परस्पर में इन महापुरुषों का ऐसा ही घनिष्ठ सम्बन्ध था।

अभी उस दिन कलकत्ते में 'विशुद्धानन्द-महाविद्यालय' का प्रस्ताव करते हुए भारतविख्यात वक्ता श्री पं० दीनदयालु शर्म्मा ने अपनी वक्तृता में कहा था कि 'गौड़ स्वामी इस समय के गौड़पादाचार्य थे और विशुद्धानन्द शङ्कराचार्य'। पण्डित जी का यह कथन प्यारा ही नहीं था, सत्य भी था। दोनों महापुरुषों का ऐसा ही सम्बन्ध था। शङ्कर और रामानुज आदि आचार्यों की जन्मभूमि दक्षिण को छोड़ कर किस महापुरुष के अनुसन्धान के लिए विशुद्धानन्द उत्तर देश में आये थे? यह पण्डित जी जैसे विचारशील ही विचार सकते हैं। गौड़ स्वामी और विशुद्धानन्द की कतिपय लौकिक बातों में चाहे भेद प्रतीत हो, किन्तु

विज्ञजनों के विचार में उनका एक ही उद्देश्य, एक ही वैभव और एक ही प्रताप था, जिनकी यथास्थान आगे आलोचना की जायगी।

सच पूछिए तो गौड़ स्वामी, विश्वरूप और विशुद्धानन्द ये तीनों मूर्तियाँ ब्रह्मा, विष्णु और शिव के समान थीं। जैसे देवत्रय का यथार्थ स्वरूप और उद्देश्य एक है, परन्तु कार्य की विभिन्नता से भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं उसी प्रकार ये महापुरुष भी एक और भिन्न भिन्न हैं। महात्मा गौड़ स्वामी जिस विभूति को साथ लेकर आये थे, जो बात उन्होंने उत्पन्न की थी; उसी का तपस्वी विश्वरूप जी ने पालन किया था और अन्त में तेजस्वी विशुद्धानन्द उसको पराकाष्ठा पर पहुँचा कर अपने साथ ले गये। एक ने काशीक्षेत्र में बीज रोपण कर अङ्कुरित किया, दूसरे ने उसे पल्लवित और पुष्पित कर दिखाया और तीसरे ने फलवान् कर उसका फल पाया। गौड़ स्वामी जी के ये दो महात्मा संन्यासी शिष्य, जैसे महा-विद्वान् और महाप्रतापी हुए उसके कथन की यहाँ आवश्यकता ही नहीं; यथास्थान चरितावली में सब वर्णन होगा।

राजा में यदि प्रजा भक्तियुक्त हो, पति में यदि पत्नी अनुरक्त हो और शिष्य यदि गुरु के पूर्ण भक्त हों, तो समझना चाहिए कि दोनों ही बड़भागी हैं। वे अपने कर्तव्य से उभयलोक जय कर चुके। प्रतिपाद्य मूर्तित्रय के जितने शिष्य हैं वे इनको ईश्वर से कम नहीं समझते। इसी से समझना चाहिए कि ये तीनों महापुरुष असाधारण थे।

मैं अभी एक दिन चरित संग्रह करने काशी के प्रसिद्ध वृद्ध विद्वान् वैयाकरणधुरन्धर ऋषिकल्प महात्मा श्रीपण्डित विभवराम जी के पास गया था। जब मैंने गौड़ स्वामी जी के चरित की जिज्ञासा की तब गुरु-स्मरण से वृद्ध पण्डित की वही दशा हो गई; जो श्रीकृष्ण-स्मरण से एक दिन भक्तोत्तम उद्धव की हुई थी। गला भर आया, कुछ कहना चाहा, पर कह न सके! अन्त में हिचकियों को थमा, नेत्रों को पोंछ, जी को कड़ा कर कहा भी तो वाष्पावरुद्ध कण्ठ से इतना ही कहा— 'उनके गुण वर्णनातीत हैं! कौन कह सकता है?' निस्सन्देह, जब वयोवृद्ध, तपोवृद्ध एवं विद्यावृद्ध पण्डित विभवराम नहीं कह सकते तो और की क्या सामर्थ्य है? पण्डित विभवराम वे हैं—जो महाविद्वान् एक-मात्र वार्द्धक्य के

अवलम्बन पुत्ररत्न के स्वर्गवास होने पर भी विचलित नहीं हुए। किन्तु गुरुवियोग का गुरुतर दुःख उन्हें भी दुःख दे रहा है।

अब तक जो मुझे 'चरितावली' की सामग्री मिली है, वह कार्य आरम्भ कर देने योग्य है। किन्तु यथेष्ट नहीं है। इसलिए सब कृतविद्य उत्साही महापुरुषों की सेवा में निवेदन है कि निम्नलिखित महापुरुषों का गौड़ स्वामी, विश्वरूप और विशुद्धानन्द जी से किस समय क्या सम्बन्ध हुआ इस विषय का जो मुझे यथार्थ संवाद देंगे उनका मैं अपने मासिक पत्र में धन्यवाद तो करूँगा, इसके अतिरिक्त वे स्वर्गीय महापुरुषों के आशीर्वाद-भाजन भी बनेंगे। जिन पुरुषों का नीचे नामोल्लेख है उनका और मूर्तित्रय से किसी प्रकार का सम्बन्ध रखनेवाले अन्य पुरुष का भी, जिसका चरित देना उपकारी और उचित समझा जाय, जीवन-चरित और चित्र भेज कर जो मुझे कृतार्थ करेंगे उन परोपकारी उदार पुरुषों का कृतज्ञता-पूर्वक विशेष धन्यवाद प्रकाश किया जायगा। गौड़ स्वामी, विश्वरूप जी और विशुद्धानन्द जी इन तीनों महानुभावों का ऐसा कोई चित्र जो मेरे पास न हो पहुँचावेगा वा पता देगा, उसका मैं ही अनुगृहीत होऊँगा। इनके अपूर्व चित्रों का मूल्य भी दिया जायगा—

१ गौड़ स्वामी श्री १०८ तारक ब्रह्मानन्द सरस्वती जी।
२ श्री १०८ विश्वरूपानन्द सरस्वती जी।
३ श्री १०८ विशुद्धानन्द सरस्वती जी।
४ श्री स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी—काशी।
५ श्री स्वामी नारायणाश्रम जी—काशी।
६ श्री स्वामी मनीषानन्द जी—काशी।
७ श्री पं० श्रीधर जी महाराज—डासना (ग़ाज़ियाबाद)।
८ श्री पं० हरीयशराय जी—भट्टाना (हाथरस)।
९ श्री पं० रामलाल शास्त्री—राणी का रायपुर (अम्बाला)।
१० श्री पं० विश्वराम जी—काशी।
११ श्रीयुक्त पण्डित सखाराम भट्ट—काशी।
१२ श्रीमान् पण्डित काकाराम जी—काशी।
१३ श्री पं० राघवेन्द्राचारी जी—बिठूर (कानपुर)।

F. 2

१४ श्री पं० सत्यव्रतसामश्रमी—कलकत्ता।
१५ श्रीयुक्त स्वामी काष्ठजिह्व जी—काशी।
१६ श्री पं० ताराचरण तर्करत्न—रामनगर (काशी)
१७ महामहोपाध्याय श्री पं० महेशाचन्द्र न्यायरत्न—कलकत्ता।
१८ श्री पं० हलधर झा जी—मिथिला।
१९ श्री पं० चेतराम जी—मंडावा (शेखावाटी)।
२० श्री पं० नानूराम शास्त्री—बंबई।
२१ श्री पं० तुलसीराम जी—चिड़ावा (शेखावाटी)।
२२ श्री पं० वंशीधर जी—भिवानी (हिसार)।
२३ श्री पं० दीनदयालु शर्म्मा महामन्त्री 'भा०ध०म०मं०' झज्झर (रोहतक)
२४ सेठ गुरुसहाय मल जी—रामगढ़ (शेखावाटी)
२५ महामहोपाध्याय श्री पं० शिवकुमार शास्त्री—काशी।
२६ महामहोपाध्याय श्री पं० स्वामी राममिश्र शास्त्री—काशी।
२७ भारतभास्कर श्री पं० अम्बिकादत्त व्यास—बाँकीपुर
२८ श्री पं० जयनारायण तर्कपञ्चानन—कलकत्ता।
२९ श्री पं० स्नेहीराम जी—चिड़ावा (शेखावाटी)।
३० श्रीयुक्त गुसांई बिहारीपुरी जी—काशी।
३१ महामहोपाध्याय श्री पं० गुरुप्रसाद जी—लाहौर।
३२ श्री पं० मिहिरचन्द्र जी—अलीगढ़।
३३ श्री पं० सेवकराम जी—मेरठ।
३४ श्रीमन्महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह देवबहादुर—काशी।
३५ ,, प्रभुनारायणसिंह ,, —काशी।
३६ ,, रणवीरसिंह ,, —जम्बू।
३७ ,, प्रतापसिंह ,, —जम्बू।
३८ ,, रामसिंह ,, —जयपुर।
३९ ,, जियाजीराव सेंधिया ,, —ग्वालियर।
४० ,, तुकोजीराव होलकर ,, —इन्दौर।
४१ ,, लक्ष्मीश्वरसिंह ,, —दर्भङ्गा।
४२ ,, कृष्णप्रतापशाह ,, —हथुआ।
४३ ,, श्रीयुक्त राजा चन्द्रशेखर ,, —सिसेंडी (लखनऊ)

इत्यादि धर्मात्मा नृपतिवृन्द का चरित भी यथोपलब्ध प्रकाशित होगा। भक्तवत्सल भगवान् भूतभावन विश्वनाथ इस प्रस्तुत कार्य्य को निर्विघ्न पूरा करें।

लहरी प्रेस, काशी।
१—१—१९००

निवेदक—
माधवप्रसाद मिश्र

———

प्रथम परिच्छेद

पितृचरित

[उस समय की देश-दशा—पिता का जन्मस्थान—उनकी दक्षिण-यात्रा—कल्याणी में पहुँचना—वहाँ उनका विवाह]

मङ्गलाचरणम्

'संसारं परिहाय यः स्वकृपया संसारिणां सर्व्वत-
स्त्राणाय प्रयतः प्रसादित-जगत्-कीर्त्या महत्त्वेन च ।
शं दिश्यात् स सदेकवेद्यविभवः शास्त्रार्थरत्नाकरः
श्रील-श्रीयतिवृन्दवन्दित 'विशुद्धानन्द'-रूपो हरिः ॥"

वाचकवृन्द !

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य्य श्री १०८ श्रीस्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती जी के विशुद्ध चरित की भूमिका का उस समय से आरम्भ है, जिस समय भारतवर्ष में राजा से रंक तक "त्रायस्व माम्, त्रायस्व माम्' पुकार रहे थे। दीन दुःखित की बात उस समय कौन पूछ सकता था जब कि नरपतियों के कण्ठों पर शस्त्राघात हो रहा था !

दिल्ली के जिस पवित्र राजसिंहासन पर बैठ कर धर्मपुत्र राजाधिराज युधिष्ठिर ने सत्यधर्म्म का पालन किया था और जिस सिंहासन पर आसीन होकर वीरवंशभूषण चौहानकुलकलस महाराज पृथ्वीराज ने पराजित और शरणागत नरपिशाच विश्वासघातक 'अलाउद्दीन' को वीरधर्म्म के अनुसार अभयदान दिया था और जिस सिंहासन का महत्त्व समझ कर चतुरचूड़ामणि यवनसम्राट् अकबर ने उसकी यथासाध्य मान-मर्य्यादा की रक्षा की थी, दिल्ली के उसी वन्दनीय सिंहासन

पर ऐसे नराधमों का पाँव पड़ा कि इस देश की सुख-समृद्धि, तेज-कीर्ति सब की सब एक ही बार लीन होगई !

राजा की जो कृपाण प्रजा की रक्षा के लिए ईश्वर ने बनाई है, उसी से प्रजा का रक्त बहाया जा रहा था। शत्रुओं की जगह धर्म्मप्राण अनाथ ब्राह्मणों का संहार किया जाता था। धर्म्ममन्दिरों पर राजा की दनादन तोप चलती थी और गाजर मूलो की तरह इतने मनुष्य कट रहे थे जिनकी गणना करनी अति कठिन थी। जहाँ पाप ताप का नाम भी न था वहाँ चारों ओर इसी का स्रोत बह रहा था।

जिस समय का हम वर्णन करते हैं उस समय भारत पर नादिरशाह का भयङ्कर आक्रमण हो चुका था। दिल्ली का 'शाही तख़्त' अपने पुराने पापों से काँप रहा था और दिन दिन मुग़लों की क्षमता का ह्रास हो रहा था, समस्त भारतवर्ष में घोर अराजकता छा रही थी और जगह जगह युद्धाग्नि जल उठी थी। उस समय दिल्ली के बादशाह में राज्य-शासन करने का सामर्थ्य नहीं रहा था। रहता भी क्यों ? केवल पशुबल से राज्यरक्षा कोई कब तक कर सकता है ? जाने हो, चाहे बिना जाने—असल में प्रजा ही राजा को राज्य-शासन का भार दान करती है। राजा को चाहिए कि प्रजा से शासनशक्ति पाकर उसका अपने को प्रतिनिधि समझ कर उसकी रक्षा करे और प्रजा से अपना उचित लभ्यांश मात्र ग्रहण करे। सच पूछिए तो वास्तव में राजा सारी प्रजा का भृत्य है इस कारण प्रजारञ्जन के बिना राजा का राज्य चिरस्थायी कैसे रह सकता है ?

अकबरशाह ने प्रेम से प्रजा का लालन-पालन किया था इसी कारण प्रजा का उसमें अनुराग भी असाधारण हुआ था, इसी कारण अब तक मुग़लों का राज्य अचल रहा था। किंतु अब दिल्ली में अकबर नहीं था। उसके बदले अर्थपिशाच नीचाशय इन्द्रियासक्त लुटेरों ने 'शाहीताज' शिर पर रख लिया था। ये लोग प्रजारञ्जन को क्या जानें ? इनके दुराचार ही ने घोर अराजकता का समय उपस्थित कर दिया था। भारत के सब 'सूबेदार' और सेनापति दिल्ली की परतन्त्रता छोड़ कर स्वतन्त्र होगये और सबने अलग अलग अपनी स्वाधीनता का डंका बजा दिया। चारों ओर नये नव्वाबों की भरमार हो गई।

किन्तु ये सब सूबेदार वा नव्वाब स्वतन्त्र होकर केवल राज्यवृद्धि पर मरते थे, पूर्व प्राप्त राज्य की किस प्रकार रक्षा करनी चाहिए इस बात की एक दिन भी चिन्ता न करते थे। इन मन्दबुद्धियों की समझ में यह बात नहीं आती थी कि राज्यलाभ की अपेक्षा राज्यरक्षा करना कठिन कार्य्य है।

इस संसार में दुराशा ही मनुष्य के विनाश का हेतु है। अनुचित उच्चाभिलाष ही मनुष्य का अधःपतन करती है। भारतवर्ष में उस समय दिल्ली की बादशाही का विनाशकाल देख कर सब नव्वाब और राजा महाराजाओं को राज्यवृद्धि की चिन्ता ने घेर लिया था। ऐसे दुस्समय में परस्पर ऐक्य और सौहार्द से सम्पूर्ण साम्राज्य की रक्षा करना परम धर्म्म और राजनीति का गूढ़तत्त्व है, यह उन अभागे शूराभिमानियों की समझ में न आया। सब अपने अपने पड़ोसी भाइयों पर खार निकालने और उनका पैतृक राज्य हड़पने की फिकर में पड़ गये। मदान्ध मरहठे अपने पूर्वपुरुषों का महत्त्व भूल कर कभी 'राजपूताने के मरे मराये राजपूतों का राज्य लूटते और कभी घर की फूट में पड़ कर द्वेषाग्नि में सर्वस्व को स्वाहा करते। अवध के नव्वाब रुहेलों को दबाते और वे पहाड़ियों पर खार खाते। हैदरअली को निज़ामराज्य की तृष्णा थी और निज़ाम को बराड़ की।

इस प्रकार अठारहवीं शताब्दी (संवत्) में घोर घमासान मच रहा था, समग्र भारतवर्ष मानों भूत-प्रेत-पिशाचों से परिपूर्ण था, देश भर में युद्ध-विग्रह और मार-काट से हाहाकार था। अपनी राज्यरक्षा में असमर्थ और परराज्यलोलुप यहाँ के कायर राजा और नव्वाब विदेशियों से सहायता लेते और अन्त में अपनी करतूतों के कारण राजपाट से बिलकुल हाथ धो बैठते।

इधर अँगरेज़ों की दूरदर्शिता और चतुरता के कारण प्रतिदिन भारत में इनका प्रभाव बढ़ रहा था, अब ये साधारण वणिक् जनों के बदले अपने को प्रबल पराक्रान्त समझ कर भारत को दुर्दशापन्न जान उसका दावा करने लगे थे। पलाशी के चिरस्मरणीय, पर नाम-मात्र के युद्ध में इनको बात की बात में वङ्गदेश मिल गया था और अब बक्सर के युद्ध से अवध की आशा हुई। केवल अवध की क्यों, सम्पूर्ण भारतवर्ष पर अँगरेज़ी झंडा उड़ने की आशा होगई थी।

सन् सत्रह सौ के आस पास जिस समय कि दिल्ली के तख्त पर अन्धा बादशाह शाह आलम बैठा हुआ बादशाही के अन्तिम दिन पूरे कर रहा था; उस समय एक अवध देश का रहनेवाला युवा ब्राह्मण-कुमार आजीवन के लिए दक्षिण देश में फिर रहा था, कभी वह अपनी उस सम्पत्ति को याद करता था जो पिता की छत्रच्छाया में देख चुका था और कभी अपनी उपस्थित दशा पर पश्चात्ताप कर भविष्य की चिन्ता में मग्न होता था। यद्यपि मार्ग के कष्ट और रात-दिन की चिन्ता के कारण उसका शरीर कुछ दुर्बल और साँवला होगया था, तथापि इससे उसकी सुन्दरता में कुछ भी फर्क नहीं पड़ा था। उसके दर्शन-मात्र से विज्ञ पुरुषों को उसके बलवान् और तेजस्वी होने में सन्देह नहीं होता था।

पाठक! यह कान्यकुब्जभूषण नभेल के शुक्ल श्रीमान् पं० संगमलाल शर्म्मा थे। निवासस्थान इनका अवध देश में बौडी ग्राम था। इनके पिता एक बड़े प्रतापी और वीर पुरुष थे। उनका युद्ध ही व्यवसाय था और युद्ध ही में काम आये। अराजकता के कारण घरबार सब लुट गया, माता बाल्यावस्था ही में इन्हें मातृहीन कर गई थी। पिता ही इनके एक-मात्र आधार थे—अब वे भी वैकुण्ठवासी हुए। देश में जब कोई अपना ही नहीं तब वह देश कैसा? जैसे देश वैसे परदेश! विशेष कर दुःख दर्द की दशा में स्वदेश में रहना एक भार हो जाता है, इस हेतु ये आजीवन देश-भ्रमण के लिए दक्षिण में चले आये।

इनको इस बात की खबर थी कि दक्षिण में अवध के बहुत लोग रहते हैं और वहाँवाले यहाँवालों को विश्वासपात्र और स्वामिभक्त जानते और मानते हैं।

दक्षिण में हून बरसने (स्वर्णवृष्टि) की किंवदन्ती इन्होंने सुनी थी कि नहीं, सो कुछ नहीं कह सकते; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इनको अवध की अपेक्षा दक्षिण ही सुखप्रद लगा था।

ये कई जगह फिर कर कल्याणी में पहुँचे। कल्याणी, दक्षिण हैदराबाद से पश्चिम और गुलबर्गे से उत्तर दिशा में अनुमान २० कोश है। यहाँ एक क़िला भी है। जो निज़ाम के अधिकार में है। इस दुर्ग के हेतु इधर इसे 'क़िला कल्याणी' के नाम से भी पुकारते हैं।

निज़ाम की अधीनता में यहाँ एक छोटे से नव्वाब रहते हैं, उस समय जो नव्वाब थे उनका नाम 'मुमताज़ुलउमरा' था पर बहुत से लोग इन्हें 'मोहना शाह' भी कहते थे। इनके अधीन यहाँ के दुर्ग और सेना का भार तो था ही, इसके अतिरिक्त प्रजाशासन भी यही करते थे।

इसी सरकार में एक बड़े प्रतिष्ठित कान्यकुब्ज ब्राह्मण श्री पं० लछीराम दुबे के पुत्र सबसुखराम जी थे। ये सेना के एक नायक होने के सिवाय मनसबदार भी थे। इनका स्वभाव अति कोमल और अतिथिप्रिय था। संगमलाल जी का इन्होंने यथोचित सत्कार किया और इन्हें अपने पास टिकाया। बातों ही बातों में इनके गोत्र, वंश और आस्पद-सम्बन्धी बातों का भेद जान कर वे यत्परो नास्ति प्रसन्न हुए। उनकी इस असाधारण प्रसन्नता का कारण क्या है? इसका रहस्य तो आगे प्रकट होगा, पर यहाँ यह कह देना उचित है कि हमारे 'ये अतिथि महाराज श्रीसंगमलाल ही श्रीस्वामी विशुद्धानन्द जी के भावी पिता हैं। इन्हीं के सकाश से स्वामी जी का जन्म होगा, अस्तु।

सबसुखराम के पिता के पाँच संतानें हुईं, एक सेवकराम, दूसरे सबसुखराम, तीसरे छोटेलाल और चतुर्थ मोतीलाल, ये चार पुत्र और पाँचवीं यमुनादेवी एक कन्या। इनकी माता का परलोक हुए कई वर्ष हुए, किन्तु पाँचों भाई बहिनों में सौभ्रात्र और प्रेम के कारण श्रीमती यमुनादेवी को एक दिन भी 'मा-बाप' को याद करने का अवसर नहीं मिला। यों तो बड़े सेवकराम थे, किन्तु सबसुखराम की बुद्धिमत्ता और कर्तव्यता ने उन्हीं को सबमें मुखिया बना दिया था।

यमुना जब पाँच वर्ष की थी तब उसकी स्नेहमयी जननी का स्वर्गवास हुआ था। मरते समय वह अपने चारों पुत्रों को पास बैठा कर यमुना को धरोहर की तरह सौंप गई थी और कह गई थी कि 'देखना, यदि मेरी यमुना को ज़रा भी दुःख पहुँचा तो परलोक में तुम्हारा पल्ला पकड़ूँगी।' माता की इस अन्तिम आज्ञा को मातृभक्त पुत्र भूले नहीं थे; विशेषकर जब सबसुखराम यमुना की ओर ताकते थे तभी उन्हें माता याद आती और शय्यागतामृत-कल्पा जननी का वही अन्तिम स्वर उनके हृदय में गूँज उठता कि देखना यमुना को कष्ट न हो। उस समय सबसुखराम के नेत्र छलछल करने लगते।

भाई चाहे कैसा ही सदय और मा-जाई बहिन का प्यारा क्यों न हो ? यदि भावज (भ्रातृजाया) का स्वभाव क्रूर और ईर्ष्यासम्पन्न हो तो सब मिट्टी है। किसी काम का नहीं। भाई और भावज दोनों सदय मिलें यह कम पुण्य का फल नहीं है। पुण्यवती यमुना के पुण्य से यहाँ सुवर्ण और सुगन्ध का एकत्र सन्निवेश था। यमुना की भावज यमुना को खिलौना बनाये थीं। एक घड़ी जब एकान्त में यमुना 'गौरीशङ्कर' का पूजन करती तब वह उन्हें वर्ष के बराबर बीतती।

यमुना का बालिकास्वभाव चाहे विद्यमान हो, किन्तु वह अब यथार्थ में बालिका नहीं रही, इस कारण भाई को अब यमुना के विवाह की चिन्ता हो रही थी। कान्यकुब्जों में वर मिलना क्या सहज है? विशेष कर कौलिन्यसम्प्रदाय के कारण न जाने कन्यापिता को कितना कष्ट भोगना पड़ता है। एक तो उस समय युद्धविग्रह के कारण आना-जाना रुक रहा था, मार्गविपद्सङ्कुल था अतएव पात्र का अनुसन्धान कठिन व्यापार था और फिर श्रीमान् पण्डित सबसुखराम सर्वगुणसम्पन्न पात्रनिर्वाचन किया चाहते थे! क्योंकि माता के वाक्य सर्वदा हृदय में जागरूक रहते थे। वे समझते थे यदि अपात्र के साथ यमुना का पाणिपीडन होगया तो आजन्म उसे कष्ट रहेगा और मातृशाप से हमारा नरक-वास होगा।

सुतरां जिस समय सबसुखराम भगिनी के लिए वर की चिन्ता में व्यस्त थे उस समय कल्याणी में पुण्यात्मा श्रीयुक्त सङ्गमलाल का संगम हुआ और वे इनके यहाँ आ कर अतिथि हुए।

सबसुखराम एक वीर पुरुष था। वह जैसा अच्छा सवार था वैसा ही शस्त्र चलाने में चतुर और व्यवहारकुशल था और इसी हेतु उसे कल्याणी की क़िलेदारी मिली हुई थी, उस समय पोथी पत्रे मात्र की ख़ाली विद्या से काम नहीं था। जो शस्त्रविद्या में मूर्ख था उसे लोग सभी विषय में मूर्ख समझते थे। समय के प्रभाव से वीरता का आदर था। सबसुखराम को जब यह मालूम हुआ कि आगन्तुक अतिथि शस्त्र-विद्या में पारदर्शी है और धर्म में शैव तथा जाति में कान्यकुब्ज ब्राह्मण है तब उनके आनन्द की सीमा न रही, विशेष कर यह जान कर कि अभी तक उस युवा का विवाह नहीं हुआ है और वह सुन्दरता, कुलीनता

तथा गुणों के कारण सब प्रकार यमुना के लिए उपयुक्त पात्र है। तथापि अज्ञातकुलशील की बात पर सहसा विश्वास करना उचित नहीं, यह विचार कर बुद्धिमान् सबसुखराम ने उस समय हृदय का भाव गुप्त रक्खा और गुप्तरीति से उनके चाल-चलन और कुल-गोत्र की परीक्षा आरम्भ की। उस समय सङ्गमलाल को यह क्या ख़बर थी कि जिनके तुम आश्रित हुए हो कुछ दिनों में उनकी प्यारी बहिन के प्रिय पति बनोगे और यहाँ तुम्हारे द्वारा एक ऐसे तेज का प्रकाश होगा जो भारत के घोर अज्ञानान्धकार को दूर करने में समर्थ होगा।

संगमलाल को यहाँ अनुमानतः एक वर्ष हो चुका, वे परिवार में एक प्रकार हिलमिल गये। अब वे अतिथि नहीं रहे, उनकी परीक्षा भी हो चुकी। विश्वस्त बन्धुजनों के द्वारा अब सबसुखराम को सब बातें ज्ञात होगईं। उनके कुलगोत्र में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहा और प्रतिदिन के मेल-मिलाप से यह भी विदित होगया कि संगमलाल यमुना के समान केवल सुन्दर ही नहीं हैं, किन्तु सरलता, धीरता और दयालुता आदि सद्गुणों में भी उसके समान हैं। धीरे धीरे यह शुभ संवाद संगमलाल को भी मालूम हुआ कि शीघ्र ही यमुना देवी के साथ तुम्हारा विवाह होने की बात है।

सन् १७६९ के शकाब्द में श्रीयुक्त संगमलाल शुक्ल के साथ श्रीमती यमुनादेवी का शुभ परिणय हुआ। जैसे शची इन्द्र को, लक्ष्मी नारायण को, उमा महेश्वर को, अरुन्धती वसिष्ठ को और सावित्री सत्यवान को पाकर प्रसन्न हुई थी, उसी प्रकार संगमलाल को प्राणपति बना कर यमुना ने अपने को धन्य माना।

प्रायः जहाँ पति सुशील और लिखा पढ़ा होता है, वहाँ उसे ऐसी दुःशीला चण्डिका पत्नी मिलती है कि बेचारा सुख से खाने-पीने भी नहीं पाता और जहाँ पत्नी सुशीला और सुन्दरी होती है वहाँ उसे ऐसे शनिश्चर पतिदेव मिलते हैं कि बेचारी का जीवन ही दुःखमय हो जाता है न कुछ सह सकती है और न कुछ कह सकती है। विधाता की सृष्टि में ऐसे ऐसे अनमिल मेल मिल रहे हैं कि जिनको देखकर सहृदय-मात्र का हृदय काँप उठता है।

किन्तु संगमलाल और यमुना का विवाह मणिकाञ्चन के समान एक दूसरे की शोभा बढ़ानेवाला हुआ। यमुना के भाई सबसुखराम

इस विवाह से कृतार्थ होगये। मानों एक बड़े भारी कर्तव्य को उन्होंने पूरा कर लिया। स्वर्गीया मातृदेवी इस कार्य से प्रसन्न हो मानों उन्हें आशीर्वाद दे रही है, ऐसा ही उस समय उन्हें बोध हुआ था।

संगमलाल और यमुना को इस विवाह से जो आनन्द हुआ वह कथन से बाहर है। तब दम्पति के उस सुख की आलोचना कर अनधिकारचर्चा का महापाप लेना हम नहीं चाहते।

द्वितीय परिच्छेद

मातृचरित

[माता का स्वभाव—पहली दो सन्तानों की उत्पत्ति और मरण—तज्जनित आनन्द और शोक—यमुना देवी की दृढ़ता और देवभक्ति—यमुना का तृतीय गर्भ—स्वामीजी का जन्मकाल—नामकरण—वंशीधर—पतिव्रता—सहमरण—सती का पुत्र को उपदेश—सती का स्वामी (वंशीधर जी) को आशीर्वाद—लोगों का आश्चर्य]

हम पहले ही कह चुके हैं कि यमुनादेवी के भाई भौजाई सभी उसे प्यार करते थे, इसमें केवल भाई भावज ही के स्वभाव की प्रशंसा नहीं है, यमुना का सरल स्वभाव भी उसका मुख्य कारण है। यह अपने सहज सरल स्वभाव के कारण केवल कुटुम्बियों ही की प्यारी नहीं हुई वरन् पड़ोस की स्त्रियाँ भी उसके चरित से इतनी मोहित थीं कि देवी के समान उसका आदर करतीं और काम पड़ने पर उससे उचित शिक्षा ग्रहण करती थीं।

यह भी पड़ोसिनों के बालकों को प्यार करती, रोते हुए को हँसाती, भूखों को भोजन देती, और दुखियों पर दया करती थी। यद्यपि क्रोध को इसके स्वभाव में स्थान नहीं था, तथापि निन्दित आचार को यह सहन नहीं कर सकती थी। माता के इन उत्तम गुणों का प्रभाव सन्तान पर भी पड़ा था। यथास्थान आगे देखने में आवेगा। क्योंकि "कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते"। अर्थात् कारण के गुणों ही से कार्य के

गुण पैदा होते हैं। कहावत है कि "माँ पर पूत पिता पर घोड़ा, बहुत नहीं तो थोड़ा थोड़ा"।

विवाह के पहले ही वर्ष में यमुना के पुत्र हुआ। संगमलाल के आनन्द का ठिकाना न रहा। सबसुखराम को 'मामा' कहलाने का बड़ा चाव था। इसलिए उसने इस अवसर पर ख़ूब गाने बजाने का ठाठ जमाया। स्त्रियों ने भी मङ्गलगीत गाने में त्रुटि नहीं की। सूतिकागार में यमुना ने भी मन ही मन मङ्गलाचार किया। पर हाय! दो चार दिन बाद सूतक ही में उस बालक का परलोकवास होगया। सब आनन्द मिट्टी में मिल गया। जन्मोत्सव से बढ़कर इस समय इस नन्हे से बच्चे के शोक की धूम मची! अन्त को ज्यों त्यों कर सबने सन्तोष किया। भगवान् के किये पर सन्तोष के सिवाय और मनुष्य का जोर क्या चल सकता है?

दूसरे वर्ष फिर यमुना के पुत्र हुआ। फिर वही गाने बजाने की धूम मची और अन्त को फिर उसी प्रकार हाहाकार हुआ। दूसरा लड़का भी उसी प्रकार सूतकागार ही से चल दिया। दो पुत्र हुए, पर संगमलाल को पुत्र का दर्शन तक न हुआ। सोचा था कि पुत्रजन्म से पितरों का ऋण दूर होगया किन्तु हुआ इसके विपरीत। ऋण ज्यों का त्यों रहा और दुःख शोक अधिक हो गया।

जिनके कभी पुत्र नहीं हुआ उन्हें उतना दुःख नहीं जितना उनको होना है कि जिनके पुत्र होकर चला गया! लड़के क्या हुए—यह घर ही शोक-मय हो गया। घर के क्या स्त्री और क्या पुरुष सभी इस विषय की चिन्ता कर दुःखित होते थे। अधिक दुःख की बात यह थी कि सबसुखराम आदि चारों भाइयों में तब तक सन्तान किसी के भी न थी! सबने सोचा था कि भानजे को खिला पिला कर ही पुत्रसुख अनुभव करेंगे, परन्तु दुर्दैव ने सबकी आशा निर्मूल कर दी। क्योंकि अब आगे को भी बालकों के जीने की आशा न रही। गाँव की वृद्धा स्त्री और सयाने लोग सभी एकवाक्य हो कहने लगे कि "यमुना के मसान का रोग हो गया! अब बिना किसी उपाय के सन्तान के जीवन की आशा निष्फल है"।

परमात्मा का धन्यवाद है कि उस समय तक बाल्य विवाह के विरोधी वाग्वीरों का जन्म भारत में नहीं हुआ था, नहीं तो आँख बंद

कर कह उठते कि "यमुना का विवाह बीस वर्ष की अवस्था में होना चाहिए था। यह जो दो सन्तान नष्ट हो गईं, इसका कारण यमुना का बाल्य विवाह ही है। अब भविष्य की आशा भी नहीं, लड़का हुआ और जीया भी तो क्या, बिलकुल निर्बल होगा। "जीवेद् वा दुर्ब्बलेन्द्रियः"। पर उस समय न तो कहीं कान्फ्रेंसों का पता था और न उनके 'लाल बुझक्कड़' गुरुओं का। सुतरां इस आपत्ति से उस समय के लोगों का छुटकारा था। विचारशील आगे चल कर देखेंगे कि बालिका यमुना के गर्भ से एक ऐसे हृष्ट-पुष्ट, बलिष्ठ और दीर्घायु बालक का जन्म होगा कि जो उक्त आपत्ति का खण्डन न केवल उपदेश से करेगा वरञ्च अपने जीवन-चरित से भी।

दो बार प्रसववेदना सही और बालक को खिलाने भी न पाई,— इस बात का बेचारी यमुना को भी बहुत दुःख हुआ परन्तु उसने लज्जा के कारण भाई भौजाई की तरह रो रो कर प्रकट नहीं किया। चुपके चुपके सब सहन किया। न उसका टोने टनमन पर विश्वास हुआ और न उसने स्त्रियों के कहे हुए 'जन्तर मन्तर' पर कभी श्रद्धा की। वह सदैव की तरह बराबर श्रद्धापूर्वक जगत् के माता पिता अशरण शरण पार्व्वती शङ्कर का पूजन करती रही।

एक बार यमुना पूजा कर रही थी। उसकी भौजाई ने आ कर दुःखित हो कहा कि "यमुना! इस पूजा-पाठ से कुछ न होगा, दई-देवता हमारी ओर के सब मर गये!" इस कथन को वह सह न सकी और कह उठी कि "ख़बरदार! देवता की निन्दा न करना, वे जो कुछ करते हैं, हमारे कल्याण के लिए। हमने किया ही क्या है जो उस पर इतना अहङ्कार करें? लोग देवतों को दोष तो देते हैं, पर करते कराते कुछ भी नहीं, विचारने से मालूम होगा कि देवता जड़ नहीं हैं, जड़ मनुष्य हैं जो उन्हें भूल गये।"

यमुना की भौजाई उत्तर सुन सन्तुष्ट हो चली गई। पर यमुना को यह जान कर बहुत दुःख हुआ कि उसके कारण उसके उपास्य देव की निन्दा होती है, पर करती भी क्या—सिवाय इसके कि वह उसी प्रकार अचल श्रद्धा से गौरीशङ्कर की आराधना करती और अपना दुःख एकमात्र उन्हीं के सामने प्रकट करती। यह आराधना

अकेली यमुना ही नहीं करती प्रायः संगमलाल भी इसके सहकारी थे।

तीसरी बार फिर यमुना ने गर्भधारण किया। फिर सबके चित्त में आशा का सञ्चार हुआ। इस बार की आशा निष्फल नहीं हुई। चाहे पहले पहल उन्हें इस बात का ज्ञान नहीं हुआ कि सन्तान जीती रहेगी परन्तु अन्त में सबको सफलता का निश्चय हो गया था, अब की यमुना के भाइयों ने विचार कर लिया कि "जन्मोत्सव" जन्म के दिन न करके बालक के बड़े होने पर करेंगे, क्योंकि उनके विचार में बालक का बचना दुस्साध्य था। परन्तु उनको यह क्या ख़बर थी कि यह ऐसा विचित्र बालक है कि जो ऐसे दिन उत्पन्न होगा कि जिस दिन कल्याणी ही में नहीं भारतवर्ष के समस्त हिन्दुओं के घरों में जन्मोत्सव का आनन्द मनाया जायगा।

जिस दिन भारतवसुन्धरा का आर्तनाद सुनकर सनातनधर्म्म की रक्षा के लिए परब्रह्म पुराणपुरुषोत्तम अवतीर्ण हुए थे, जिस दिन भारतवर्ष के शोचनीय गोवंश और अनाथ ब्राह्मणों को एक दिन अपार हर्ष हुआ था, जिस दिन चिरकाल से यज्ञों की बुझी बुझाई अग्नि आपसे आप फिर प्रज्वलित होगई थी और जिस दिन निरपराध वसुदेव देवकी की आप से आप हथकड़ी झड़ गई थी, हिन्दुओं के उसी चिरस्मरणीय दिन में यमुना देवी के गर्भ से एक महापुरुष बालक का जन्म हुआ, जिसका नाम स्वामी विशुद्धानन्द पड़ा।

सन् १७२७ के शकाब्द में भाद्रपदकृष्णा श्रीकृष्णजन्माष्टमी के ठीक अर्द्धरात्र में जिस समय चन्द्रमा अपने उदय से पूर्व्वदिशा की शोभा बढ़ा रहा था, उस समय दक्षिण दिशा में हमारे इस विशुद्ध चन्द्र का उदय हुआ था। जिस प्रकार कल्याणी में उस दिन आनन्द-मङ्गल हो रहा था, उसी प्रकार सर्वत्र भारतवर्ष में आनन्दस्रोत उमड़ रहा था। यद्यपि युद्ध-विग्रह के बखेड़ों में उस दिन भारत के हिन्दू राजे महाराजे व्याप्त थे, तथापि जन्माष्टमी के उत्सव में कोई न्यूनता न थी। जिस दिन इस उत्सव में न्यूनता होगी उस दिन भारत की सभी बातों में न्यूनता होगी।

सबसुखराम ने यह देखकर कि बालक ऐसे समय में हुआ है कि आप से आप सब लोग उत्सव कर रहे हैं, अपने पहले सङ्केत को दूर

कर ख़ूब उत्सव मनाया और एक प्रकार निश्चय कर लिया कि ऐसे शुभ समय में होनेवाला बालक अवश्य होनहार है। उनका यह अनुमान सही निकला, यह बात सब पर प्रकट है।

बालक के जातकर्म्मादि संस्कार सब यथासमय होने लगे, इनके माता-पिता ने इनका वंशीधर नाम रक्खा। हमारे स्वामी विशुद्धानन्द जी सबसे प्रथम संसार में वंशीधर के नाम से विदित हुए। मानों पहले ही पहल परमात्मा ने उन्हें निर्भय पद दे दिया। परमहंस रामकृष्णदेव ने कहा है कि "मुझको सब अवतारों से प्यारे श्रीकृष्ण लगते हैं क्योंकि वे वंशीधर हैं। कोई धनुर्द्धर है, कोई चक्रधर है, और कोई त्रिशूलधर है, परन्तु प्यारे कृष्ण वंशीधर हैं। इन्हें किसी शत्रु का डर नहीं, आनन्द से वंशी बजा रहे हैं। यही निर्भय पद है"। सच है, वंशीधर नाम ऐसा ही प्रिय है।

जब ये एक वर्ष के हुए, तब यद्यपि इनके जीवन की आशा सबके जी में होगई थी, तथापि इसी समय में एक भयङ्कर बीमारी इनको होगई, जिससे इनके जीवन में सन्देह होगया। ये मृगी रोग से अचानक पीड़ित होगये थे। ये सुन्दर बहुत थे। प्रशस्त ललाट, दीर्घ नेत्र और सुन्दर सरल मुख को जो एक बार देख लेता वह पुनः पुनः देखने की इच्छा करता। जब कोई इन्हें देखता तब ये हँसते बहुत थे। एक दिन ऐसे हँसे कि मृगी रोग उत्पन्न होगया। कहाँ एक वर्ष का दुग्धपोष्य कोमल बालक और कहाँ यह भयङ्कर कठोर मृगी रोग! अनेक उपाय किये गये, परन्तु रोग शान्त नहीं हुआ।

एकदा कल्याणी में एक पतिव्रता क्षत्रिया अपने पति के साथ सती होती थी। (उस समय में सतीदाहप्रथा प्रचलित थी) उसका वीर पति युद्ध में मारा गया था, समरक्षेत्र से कल्याणी में जब उसका शव आ कर पहुँचा तब पतिव्रता ने सती होने की अभिलाषा प्रकट की। उसके एक बारह वर्ष का लड़का भी विद्यमान था। कल्याणी के बड़े बूढ़े और माने हुए लोगों ने पतिव्रता को बहुत समझाया कि 'तू सती मत हो' पर उसके विचार को वे किसी प्रकार भी बरज नहीं सके। अन्त को कल्याणी के वृद्ध नव्वाब मोहनशाह ने स्वयं उसे

साम, दाम, दण्ड और भेद से समझाया पर कुछ फल नहीं हुआ। लाचार सती होने को सबने आज्ञा दी।

नगर के बाहर एक बड़े मैदान में चिता बनाई गई, हजारों स्त्री-पुरुष सती को घेर कर खड़े होगये। पत्र, फल, पुष्प सबके पास मौजूद थे। पतिव्रता की स्वर्गयात्रा देखने गाँव के लोग दौड़े आ रहे थे। ऐसे समय में यमुना देवी को भौजाई ने उससे कहा कि "जिसके बालक जीते न हों, वह यदि सती की चिता पर से अपने बालक को फेर लावे तो सती के आशीर्वाद से उसका बालक दीर्घायु हो सकता है। आज एक पतिव्रता सती हो रही है, तुम भी बंशीधर को साथ लेकर मेरे साथ चली चलो।" भौजाई की बात से प्रसन्न हो यमुना उसके साथ वहाँ आई जहाँ सती होने को पतिव्रता उपस्थित थी। यहाँ और भी अनेक स्त्रियाँ अपने बालबच्चों को सती का आशीर्वाद दिलाने आई थीं।

जब सती होने की सब तैयारी हो चुकी और पुरोहित जी "सह-मरण"-पद्धति के पत्रे लेकर खड़े होगये तब उसके दस बारह वर्ष के बालक कुमार से न रहा गया। माता के पैरों पर गिर पड़ा और रोकर कहने लगा "मा! पिता गये और अब तुम भी जाती हो इस हतभाग्य पितृहीन को मातृहीन कर रही हो! संसार में अब हमारा कौन है? मा! मुझे भी पिता के पास ले चलो......।" कण्ठ बंद हो गया, नेत्रों से अश्रुधारा चल पड़ी। देखनेवाले लोग भी फूट फूट कर रोने लगे। परन्तु सती के चित्त पर इसका कुछ भी असर नहीं हुआ। पुत्र को गले लगा और पुचकार कर कहा,—"बेटा! तुम अकेले नहीं हो, धर्म्म तुम्हारे साथ है जिसके लिए तुम्हारे पिता ने युद्ध में जीवनदान किया और मैं अग्नि में कर रही हूँ, वही धर्म्म तुम्हारी रक्षा करेगा। यदि माता-पिता के पास आना चाहते हो, तो युद्ध करो।" कुछ देर के बाद फिर कहा—"बेटा! क्षत्रियकुमार होकर कायरों की तरह मत रो, पुत्र वही है जो माता-पिता की आज्ञा पालन करे। अब विलम्ब मत करो, संस्कारकार्य्य पूरा करो।"

माता के उपदेश से पुत्र ने जी को कड़ा किया। प्राणपति के शव को गोद में रख कर हँसती हुई पतिव्रता चिता पर बैठ गई। उसके कठोर-कर्तव्य-परायण पुत्र ने जलती हुई अग्निशिखा से मरे हुए वीर

पिता और जीती हुई वीर माता का अग्निसंस्कार किया। लोग जय जयकार करने लगे और शङ्ख, घड़ियाल आदि बाजे बजने लगे। पत्र, फल, पुष्पों से सब पतिव्रता का पूजन करने लगे।

जो स्त्रियाँ बालकों की दीर्घायुकामना से उन्हें चिता पर फेरने के लिए खड़ी थीं, वे इस समय अपने उस कार्य्य को शीघ्रता से करने लगीं। यमुना देवी ने कई बार वंशीधर को चिता पर फेरना चाहा, पर लज्जालु यमुना फेर न सकी। उसकी चेष्टा से इस बात को पतिव्रता जान गई। उसने पास खड़ी हुई यमुना से हमारे बालक (स्वामी जी) को लेकर हृदय से लगाया और दीर्घायु होने का आशीर्वाद दिया। कहते हैं कि उसने यह भी कह दिया था कि 'यह बालक विख्यात संन्यासी होगा।'

पतिव्रता के इस कार्य्य से लोग बड़े अचम्भे में आये थे। क्योंकि ज्वलन्त चिता पर बैठी हुई पतिव्रता की जो कि अपने सगे सम्बन्धियों से नेह तोड़ मुँह मोड़ चुकी थी, यह कुछ साधारण कृपा न थी और फिर ऐसे नाजुक समय में जब कि चिता प्रज्वलित हो चुकी थी। यह कार्य्य इतनी फुर्ती के साथ हुआ कि सब चकित होगये।

बात की बात में अग्नि प्रचण्ड हुई। चिता से लोग दूर दूर भाग गये। हँसती हुई पतिव्रता पतिलोक में चली गई। मा-बाप का सत्कार कर पुत्र भी भीड़ के साथ बिदा हुआ। उस दिन कल्याणी में घर घर इस विषय की चर्चा रही, सती के भाग की सब सराहना करते थे। सतीदर्शन का यमुना के चित्त पर विलक्षण असर हुआ।

तृतीय परिच्छेद

शिशुचरित

[महापुरुषों की अलौकिक बातें—उनका कारण—उनसे हानि—अवतारतत्त्व की दुर्दशा—स्वामी जी के चरित्र की उत्तमता—बाल्यकाल की आश्चर्य्य-घटना—रोग की पुनरुत्पत्ति—स्वामी जी का सबसे पहला उच्चारण "मेरी पुस्तक कहाँ है?"—योगाश्रम के योगी—पुरानी पुस्तक की प्राप्ति और रोगशान्ति—]

महापुरुषों के सम्बन्ध में बड़ी बड़ी अलौकिक, आश्चर्य्ययुक्त बातें प्रसिद्ध हो जाया करती हैं, यह एक पुराना नियम है। कुछ तो उनके श्रद्धालु विश्वासान्ध शिष्य अपने गुरु की बड़ाई और यश के लिए ऐसी अलौकिक बातें स्वयम् गढ़ लेते हैं जिससे उस मठ वा सम्प्रदाय के भोले भाले लोग अधिक शिष्य बनें और उन्हें अधिक चढ़ावा मिले; और कुछ रुपये के लोभ से कवि लोग अलौकिक बातों की कल्पना कर अपनी अलौकिक प्रतिभा की मिट्टी ख़राब करते हैं और उनके जीवन-चरित के इतिहास को ये लोग ऐसा चौपट करते हैं कि उनकी तुच्छता के कारण हमारे ऋषि-महर्षियों की निन्दा होती है और अर्द्धशिक्षित लोग यह समझने लगते हैं कि बस राम कृष्ण आदि अवतारों की बातें इसी प्रकार गढ़ी गई हैं।

हमारे यहाँ अवतार का निर्ख़ बहुत सस्ता है, यहाँ तक कि अनन्त पुरुष भगवान् के अनन्त अवतार तो उचित ही थे, पर फिर साम्प्रदायिक लोगों ने इस भाव को यहाँ तक बिगाड़ा कि इनके आधुनिक गुरुओं के 'खाट खटोले' और 'मंजें पीढ़े' सभी स्वर्ग से अवतीर्ण हुए! और अब इनकी इतनी अधिक संख्या होगई कि भारतभूमि में अवतार ही अवतार हो गये। इनसे यदि कोई यह कहे कि "आप यह

क्या करते हैं ?" तो चट आँखें बदल कर गीता के विभूति-अध्याय का पाठ करने लगते हैं और कहते हैं कि देखिए, भगवान् स्वयं कह रहे हैं कि "जो जो विभूति-सम्पन्न शोभायुक्त वस्तु दिखाई दे सो सब मेरे ही तेज का अंश जान"। ये लण्ठ इतने हैं कि गीता के इस वाक्य का तात्पर्य समझाने पर भी नहीं समझते। यदि यों ही सब अवतार हो सकते हैं तो फिर गुरु चेले में क्या भेद रहा ? कुछ न कुछ तो उसमें भी विभूति का अंश है।

भगवान् की विभूति समझ कर किसी की प्रतिष्ठा करना यह तो हमारे शास्त्र का तत्त्व है, और भक्ति ज्ञान का एक उत्तम निदर्शन है; परन्तु झगड़ा तो यह है कि जान बूझ कर अलौकिक, असम्भव और मिथ्या बातों की कल्पना कर उन्हें साक्षात् पुराणपुरुषोत्तम सिद्ध किया जाता है। यह बात मूर्खों ही में नहीं है, बड़े बड़े प्रसिद्ध विद्वान् भी जीती हुई मक्खी निगल जाते हैं और लोभ मोह के कारण दुराचारी को ब्रह्मचारी और अल्पज्ञ को सर्वज्ञ सिद्ध कर डालते हैं। अवश्य ही हम इस कार्य्य को अन्याय समझते हैं।

स्वामी विशुद्धानन्द जी के चरित्र में भी अलौकिक बातों की कमी नहीं है। हम उनको अलौकिक महापुरुष मान कर भी संसार के सामने मनुष्य ही सिद्ध करेंगे। न अपनी आत्मा के विरुद्ध कुछ लिखेंगे और न अपने विश्वास को इतिहास में ठूँस उसे नष्ट करेंगे। केवल उनके जीवन की प्रकृत घटनाओं का प्रकाश करना हमारा काम है। महामहोपाध्याय श्री पं० शिवकुमार शास्त्री जी ने स्वामी भास्करानन्द जी को और महामहोपाध्याय श्री पं० गङ्गाधर शास्त्री जी ने श्री पं० बालशास्त्री जी को जिस प्रकार सजाया है हम वैसे स्वामी विशुद्धानन्द जी को सजाया नहीं चाहते। न सजाने को वैसी अलौकिक विद्या है और न उतना अलौकिक सामर्थ्य ! यहाँ जो कुछ है सब लौकिक है। हमारी अलौकिकता भी लौकिक से भिन्न नहीं है।

स्वामी जी के बाल्य जीवन की अनेक अलौकिक बातों को जिन पर हमारा स्वतः विश्वास नहीं है छोड़ कर एक अति प्रसिद्ध घटना का जिसे हमारी आत्मा ने सत्य और प्रमाणित माना है यहाँ उल्लेख करते हैं। विश्वासमूलक कहावतें भी सर्वांश में निर्मूल नहीं होतीं।

अनुसन्धन किया जाय तो उसमें बहुत कुछ सत्य मिल सकता है। जिस घटना को मैं लिख रहा हूँ उसे मैं सत्य और अद्भुत मानता हूँ पर दूसरे भी उसे वैसा हो मानें, इसका अनुरोध नहीं करता। घटना को सुन कर जो कुछ वे उचित समझें सो स्वीकार करें।

प्रथम कहा जा चुका है कि जब स्वामी जी एक वर्ष के थे तभी से इनके अपस्मार (मृगी) रोग हो गया था, इस कारण इनके माता, पिता, मामा आदि सम्बन्धी स्नेहियों को बहुत दुःख हुआ। अधिकन्तु जब उपाय करने पर भी रोग शान्त नहीं हुआ तब उनको एक प्रकार यह निश्चय हो गया कि बालक का जीना बड़ा कठिन है, दो चार मास में यह काल का कलेवा हो जायगा। किन्तु जिस दिन चिता पर बैठी हुई सती से इनको आशोर्वाद मिला था उसो दिन से इनकी माता यमुनादेवी की मुरझाई हुई आशा-लता फिर से खिलने लगी थी। एक तो पुरुषों की अपेक्षा स्वभावतः स्त्रियों में धर्म-प्रेम, विश्वास और श्रद्धा अधिक होती है, दूसरे यमुना का धर्म्मानुराग अन्यान्य स्त्रियों से भी दृढ़तर था। ये, केवल विश्वासान्ध हो, चाहे जिस बात में आधुनिक स्त्रियों की नाईं प्रवृत्त नहीं होती थीं, खूब छान बीन कर विवेचना-पूर्व्वक कार्य्य करती थीं। इसीसे इनको निश्चय हो गया था कि "जो धर्म्म पालन के लिए समस्त संसार और प्राण तक को भी न्योछावर कर सकती है, उस पतिव्रता का वाक्य कभी मिथ्या नहीं हो सकता।" साथ हो इनका पतिव्रत धर्म्म भी उत्तेजित होने लगा और तब से ये पुत्र के रोग की चिन्ता न कर स्वामो की सेवा-शुश्रूषा में व्यस्त रहती थीं और उसोको निज मनोरथसिद्धि का द्वार समझती थीं।

इधर रोग का यह हाल था कि वह औषधि करने पर कुछ दिन के लिए तो दब जाता परन्तु फिर अकस्मात् प्रकट होकर अपनी भयङ्करता से बालक स्वामी जी को प्रपीड़ित और कुटुम्बियों को व्यथित करता था। इनके मामा पं० सबसुखराम जी रोगशान्ति के लिए नये नये उपाय किया करते पर कुछ बस नहीं चलता था। योंहीं आज कल करते और अपस्मार को पीड़ा सहते बालक वंशीधर तीन वर्ष के हो गये। माता को आशा हुई कि "अब पुत्र बोलने लगेगा। मीठी मीठी बातें सुना करेंगे। सबसे पहले 'मामा' 'चाचा' की प्यारी आवाज सुनाई

देगी!" भगवान् की दया से माता की यह अभिलाषा शीघ्र ही पूरी हुई, तीन वर्ष के रोगग्रस्त बालक ने एक दिन अकस्मात् अपनी क्षीणकण्ठ ध्वनि से सबको आनन्दित कर दिया। परन्तु पहले पहल जिन शब्दों को माता-पिता सुना चाहते थे, संसार भर के बालक प्रायः जिन शब्दों का प्रथम बार व्यवहार किया करते हैं, वे गृहस्थोपयोगी मामा, चाचा आदि शब्द बालक ने उच्चारण नहीं किये। जो कुछ उच्चारण किया उससे आनन्द के साथ सबका आश्चर्य भी बढ़ गया!

बालक ने सबसे प्रथम वृद्ध के समान अपने कुटुम्बियों के सम्मुख हो कहा कि—"मेरी पुस्तक कहां है?" उस समय घर में बहुत से स्त्री-पुरुष उपस्थित थे। एकमात्र बालक की व्यक्त वाणी से सब चौंक पड़े। कोई चकित हो टकटकी लगा उधर देखता ही रहा, किसी ने हँस दिया और किसी किसी रसिक ने उपहास से कहा कि "विवाह बिना पुस्तक कैसी?" किसी ने कहा कि "वाह! ये तो अभी से काशी जाने को तैयार हो गये!" दो चार पड़ोसिनें जो वहाँ उपस्थित थीं डर कर कहने लगीं "हँसते क्या हो? देखते नहीं लड़के में भूत आ रहा है! हम मुद्दत से कह रही हैं कि यह मृगी रोग नहीं है, कुछ जन्तर मन्तर करवाइए। पर हमारी सुनता कौन है?"

निदान सबको एक 'तमाशा' होगया। सब अपनी अपनी तान उड़ाने लगे। बुद्धिमान् सवसुखराम एक पुस्तक को उठा लाये और बोले—"यह लो, तुम्हारी पुस्तक" बालक ने एक बार स्थिर दृष्टि से पुस्तक की ओर देखा और झुँझला कर मामा से कहा कि—"मेरी पुस्तक कहाँ है?" उस दिन तो यह सबको आनन्द-जनक दिखाई दिया किन्तु जब दूसरे दिन से बालक ने उसी बात की हठ लगाई तब घर के लोगों ने समझा कि "यह एक और दूसरी बीमारी हुई।"

एक दिन सबसुखराम किसी विचार में बैठे हुए थे कि अचानक "मामा जी!" की आवाज़ ने इनका ध्यान अपनी ओर खींच लिया, देखा कि पीछे वंशीधर जी खड़े हुए हैं और कुछ कहने के लिए उनके होंठ फरक रहे हैं। सबसुखराम जी वंशीधर जी को देख चकित हो गये, क्योंकि वे उनको स्त्रियों में बैठा छोड़ कर एकान्त में किसी घरू विचार के लिए आये थे, यहाँ बिना किसी के लाये लिवाये वंशीधर

एकाएकी आकर इनके काम में विघ्न डालेंगे, यह उन्हें सम्भावना ही न थी। यद्यपि ये वंशीधर जी के पुनः पुनः यह कहने पर कि "मेरी पुस्तक कहाँ है?" एक प्रकार की बीमारी वा ग्रहप्रकोप के सिवाय अन्य कुछ भी स्थिर न कर सके थे, तो भी कभी कभी उनके मन में इस प्रकार का भी एक भाव उदय होता था कि बालक का इस 'पुस्तक' के साथ अवश्य किसी गूढ़ रहस्य का सम्बन्ध है। पर वह क्या है? किस प्रकार का है? इस जन्म का है कि पूर्व जन्म का? जब इस विषय की मीमांसा करने लगते तो कुछ भी निश्चय न कर सकते और डाँवाडोल हो अन्त में उसे एक प्रकार का रोग समझ चित्त को यथाकथञ्चित् आश्वासन देते थे।

जब कोई नई घटना होती है तब कुछ दिन तो लोग उसकी चर्चा करते हैं पर ज्यों ज्यों अधिक दिन होने लगते हैं त्यों त्यों लोग उसे साधारण-सी बात समझने लगते हैं, चाहे वह कैसी ही विचित्र और अलौकिक घटना क्यों न हो! कुछ दिनों तक वंशीधर जी की पुस्तक की चर्चा हाट-बाट में सर्वत्र होती रही, जब सब लोग उस पर टीका-टिप्पणी कर चुके तब अगत्या सबने मुनिजनों की वृत्ति अवलम्बन की। अन्त को सब चुपके होगये, परन्तु वंशीधर जी चुपके नहीं रहे। वे खाते, पीते, हँसते, खेलते सर्व्वदा कहते रहते कि "पुस्तक कहाँ है?" सबसुखराम के सब उपाय और उनकी सब चेष्टायें व्यर्थ हुईं। न तो वंशीधर जी का अपस्मार रोग ही दूर हुआ और न वे यह कहना ही भूले कि "मेरी पुस्तक कहाँ है?"

सबसुखराम को 'मामा' कहलाने का बड़ा चाव लग रहा था यह हम प्रथम ही कह चुके हैं। भगवान् की कृपा से चिर काल का मनोरथ आज सिद्ध हुआ देख कर वे आनन्दमग्न होगये। भगवान् आशुतोष का धन्यवाद कर उन्होंने भानजे को गोद में उठा लिया और उनके मन्दस्मित मुखारविन्द का चुम्बन कर क्षणमात्र के लिए संसार का दुःख शोक चित्त से सब भुला दिया। कुछ देर तक धूलि-धूसरित, दिगम्बर, गतव्रीड़, शिवसमान, बालक के दुर्लभ दर्शन का आनन्द लूटते रहे पर जब उनको इनके दुःसाध्य रोग का स्मरण हुआ, तब आनन्द की जगह निरानन्द ने प्रकट हो उनके चेहरे का रंग बदल

दिया। एक लंबी साँस भर कर उन्होंने मन ही मन भगवान् का ध्यान कर कहा—"वंशी अच्छा कब होगा ?"

यह मन की बात ध्यान ही ध्यान में शब्द द्वारा प्रकट हो गई। उन्होंने यह प्रश्न न तो अवधानपूर्व्वक ही किया था और न इसके उत्तर मिलने ही की आशा थी। क्योंकि बालक के सिवाय और कोई यहाँ उपस्थित ही न था और तीन वर्ष के बालक से वे प्रश्न ही क्या करते ? चाहे 'काकतालीयन्याय' ही से हो अथवा किसी अन्य ही कारण से हो, वंशीधर ने उनके प्रश्न का उत्तर देकर आश्चर्य्य की सीमा तक पहुँचा दिया। "वंशी ! अच्छा कब होगा ?" इस प्रश्न का उत्तर मिला कि "जब आप चाहेंगे" !

सबसुखराम ने प्रसन्नता से कहा कि "हम अभी चाहते हैं।"

वंशी०। अच्छा कहिए मेरी पुस्तक कहाँ है ?

सबसुख०। जाने दीजिए पुस्तक को, यह कहिए रोग कैसे नष्ट होगा ?

वंशी०। पुस्तक को देखकर।

सबसुख०। किसकी पुस्तक को देखकर ?

वंशी०। अपनी को।

सबसुख०। हम क्या जानें तुम्हारी पुस्तक कहाँ है ? आप ही कहें—वह कहाँ मिलेगी ?

वंशी०। पर्णकुटीर पर।

सबसुख०। किसकी पर्णकुटीर पर ?

जब उत्तर नहीं मिला तब फिर पूछा कि वह "कुटिया कहाँ है ?" इसका उत्तर कुछ देर के बाद यह मिला कि "खोज कर देख लो"।

कौतुकप्रिय सबसुखराम ने और भी कई प्रकार के प्रश्न किये पर उत्तर एक का भी नहीं मिला। अधिक कहने पर बालक ने अपना बल प्रकट कर दिखाया। "बालानां रोदनं बलम्" उनके रोने की ध्वनि सुन कर स्त्रियाँ दौड़ी चली आईं और "बताओ तुम्हें किसने मारा ?" इस अभियोग की धूम मच गई ?

इस समय सबसुखराम के सम्पूर्ण विचार सिमट कर उनके सामने आगये, उनको निश्चय हो गया कि "ये कोई योगभ्रष्ट योगिराज हैं। इनकी आयु केवल तीन वर्ष की और बातें वृद्धों की सी हैं। अवश्य

इस कुटिया और पुस्तक में कोई गुप्त भेद है पर वह कुटिया कहाँ है, जिसमें वह पुस्तक रक्खी हुई है ? कुटिया से हमारे मकान की ऊपरवाली "मांवढ़ी" (एक प्रकार का छप्पर) से तो इसका कुछ सम्पर्क नहीं है ? पर वहाँ पुस्तक कहाँ है ? कदाचित् वहाँ इस कठिन समस्या का पता लगे, अनुसन्धान तो करें।"

यह विचार कर वे बिना किसी को कुछ कहे सबसे ऊपर की छत पर चढ़ गये। यहाँ एक छोटा सा तृण और पर्णसमूह का बँगला बना हुआ था, इसके नीचे ऊपर सर्वत्र अनुसन्धान किया। किन्तु कहीं भी कुछ न पाया। जिस उत्कण्ठा से वे खोज करने में प्रवृत्त हुए थे उसका परिणाम अन्त को यह हुआ कि उनके पहले विचार भी दृढ़ नहीं रहे और उन्होंने समझा कि "बालक की बात पर विश्वास करके वृथा तुमने इतना कष्ट उठाया।" किन्तु साथ ही जब उस कथोपकथन का स्मरण हुआ तब पहला विचार अपनी ओर खींचने लगा कि, क्या कभी साधारण बालक ऐसे कह सकता है ! बस कभी इधर और कभी उधर का पक्ष प्रबल होने लगा और यों एक सन्देह ने उनके हृदय में घर कर लिया।

कल्याणी से उत्तर दिशा में दस ग्यारह कोस एक "औरात" ग्राम है। वहाँ कीर्णा मञ्जिरी नाम की दो नदियों का सङ्गम हुआ है। वैशाख मास में सङ्गम का स्नान करने को दूर दूर के यात्री आते हैं। नाना प्रकार की दूकानें लगती हैं। केवल स्नानवालों ही की यहाँ भीड़ नहीं होती थी, सैर तमाशेवाले भी यहाँ जुट जाते थे। वसन्त ऋतु में यहाँ का दृश्य भी दर्शनीय है।

जिस समय 'पुस्तक' की चर्चा से सबसुखराम के मन में अनेक तरह की तरङ्गें उठ रही थीं उस समय वैशाख मास भी आ पहुँचा। समस्त कुटुम्ब को साथ लेकर ये भी सङ्गम का स्नान करने गये। आवश्यक स्नानादि कार्य्य को कर सबने वंशीधर की आरोग्य-कामना से मनौती मनाई। वहाँ पास ही एक बड़े प्रतिष्ठित महापुरुष योगी का आश्रम था जिनके दर्शन को दूर दूर से लोग आया करते। लोग उन्हें "योगाश्रम के योगी" के नाम से पुकारते थे। उनकी करामात की सब प्रशंसा करते और उन्हें देवता के तुल्य पूजते थे। आश्रम में आये हुए

अतिथियों का आतिथ्य सत्कार जिस उत्तमता से होता था उससे बढ़ कर संसारी लोगों के दुःखदर्द दूर करने को उपदेश को भी व्यवस्था थी।

सबसुखराम जी यह सोचकर कि बालक कहाँ जाकर क्या करेगा, कदाचित् मलमूत्र के परित्याग से आश्रम को दूषित कर हमें एक नये झंझट में डालने का कारण हो, वंशीधर को डेरे ही में छोड़ कर चलने लगे; परन्तु जब वंशीधर जी ने देखा कि मामा मुझे साथ ले जाना नहीं चाहते हैं तब बड़ी नम्रता से कहा, कि—

"मामा जी! हमें छोड़ कर न जाओ। हम तुम्हारे किसी कार्य्य में विघ्न नहीं करेंगे। अच्छा मामा! हमें साथ ले चलो। वहाँ हमारा जाना शुभदायक होगा।"

इनका विनय नम्र अनुरोध निष्फल नहीं हुआ। मातुल हँसते हुए भानजे को साथ लेकर आश्रम में पहुँचे। साथियों सहित योगाश्रम के महात्मा योगी को प्रणाम कर हँस कर वंशीधर से कहा कि "वत्स! देखो यही योगाश्रम है और ये यहाँ के मठ-गुरु हैं। इनको प्रणाम करो और तुम्हारा यहाँ क्या कार्य्य है?"

मामा के वाक्य को सुनकर और आश्रम को देखकर बालक कुछ सोचने लगे। भूला हुआ पुरुष जिस प्रकार किसी पुरानी बात को याद करते समय जो चेष्टा किया करता है, उसी प्रकार इस समय बालक वंशीधर करने लगे। कभी वे सजल दृष्टि से आश्रम के चारों ओर देखते, कभी योगी के सरल और तेजस्वी मुख का अवलोकन करते और कभी कभी दोनों नेत्र बंद कर योगी के समान बन बैठते तथा क्षणमात्र के लिए घबड़ा कर काँपने लगते। कुछ देर इस प्रकार की बाललीला दिखाकर अपने मामा से कहा कि—

"इस कुटीर के ऊपर मेरे सब रोगों को दूर करनेवाली मेरी—उस पुस्तक को देखो। उसके देखने से सहज में शान्ति होगी और आधि-व्याधि सब चली जायँगी।"

बालक की इस बात को पुनः पुनः सुन कर भी मामा को दृढ़ निश्चय नहीं हुआ था, न होने का कारण भी स्पष्ट है, बिना प्रमाण के वृद्ध का कथन भी मान्य नहीं होता, बालक बेचारे को तो बात ही क्या

है ? इनके स्नेही मातुल ने इस बार भी इनके कथन का समादर ही किया। मठ के दयालु योगी की आज्ञा लेकर अपने एक अनुयायी को कुटिया पर चढ़ा दिया और कहा, "कहीं कुछ पुस्तक पत्रा मिले तो खोज कर निकाल लाओ"।

कुछ देर के बाद वह मनुष्य कुटिया से नीचे उतरा और उसके हाथ में एक फटे पुराने भगवा वस्त्र से बँधी हुई पुस्तक को देखकर सबको आश्चर्य हुआ। सबसुखराम चित्र की तरह देखते ही रह गये। उस मनुष्य ने आकर वह पुस्तक बालक के हाथ में जो सबसुख की गोदी में बैठा हुआ था, अर्पण की। पुस्तक को देखकर बालक के नेत्रों से दो चार जल की बूँदें निकल पड़ीं। मानों उन्होंने भगवती वीणापाणि को अर्घ्यदान देकर बाल्यावस्था ही में निज सारस्वत प्रेम का परिचय दिया। कुछ देर तक वंशीधर पुस्तक की ओर चुपके देखते रहे फिर हँस कर अपने मामा से कहने लगे कि "आज से मेरा रोग और आपका क्लेश दोनों एक साथ ही दूर हुए !"

आश्रम के विद्वान् योगी ने, जो अब तक इस व्यापार को बालविनोद समझ उदासीनता से चुपचाप देख रहे थे, पुस्तक को पहिचान कर बालक की समस्त कहानी फिर से सुनी।

अद्भुत भावदीपनी बालवार्ता को सुन योगी बार बार बालक की ओर देखकर इनके मामा से कहने लगे—

"आज जो कुछ आपने देखा, सुना वह जैसे आपके लिए आश्चर्य्य-जनक है, वैसे ही मेरे लिए। अपने आश्चर्य्य का मूल कारण जो इस विचित्र घटना का विचित्र मूल है आपको सुनाता हूँ जिससे आपका आश्चर्य्य घटने का नहीं प्रत्युत अधिकतर बढ़ेगा। इस पवित्र योगाश्रम के स्वामी जिसकी सेवा आजकल मैं कर रहा हूँ हमारे महामहिम, महाभाग गुरुदेव थे; जिनका नाम और तपःप्रभाव सभी लोग जानते हैं। तीन वर्ष से कुछ अधिक काल हुआ कि उन्होंने निज पार्थिव शरीर त्याग कर योगाश्रम से योग दूर कर दिया।

शरीर त्याग करने से कुछ काल प्रथम गुरुदेव ने मुझे अपने पास बुला कर टूटती हुई आवाज़ से कहा था कि "कुटीर पर मेरी गीता की पुस्तक रक्खी हुई है उसीसे मेरी समस्त पीड़ा दूर होगी। उसको एक

वार मेरे पास लाओ। उसी में मेरा सर्व्वस्व है। उसी में संसार-सागर से पार होने का उपाय है।"

गुरुदेव की आज्ञानुसार हमने समस्त मठ को टटोल डाला पर कहीं भी पुस्तक की प्राप्ति नहीं हुई। उनके तत्कालीन बताये हुए सङ्केत को हम समझे नहीं और हमें पुस्तक का पता न था। अगत्या हमने गुरुदेव के पास आकर कहा कि "हमने सम्पूर्ण मठ के ऊपर नीचे सर्व्वत्र अनुसन्धान किया किन्तु पुस्तक कहीं न मिली।"

हमारे वचन को सुनकर गुरुचरण का मुख मलीन हो गया। दीर्घश्वास लेने लगे। कण्ठ शुष्क हो गया और सदैव के लिए नेत्र बंद कर लिये! प्रारब्ध कर्म्म की समाप्ति हुई! नश्वर शरीर नष्ट हुआ; किन्तु शरीर त्याग के समय उनके मुख से जो अन्तिम शब्द निकला था उसे मैं भूला नहीं हूँ। कभी भूलूँगा कि नहीं, यह भी अभी नहीं कह सकता। उनका वह अन्तिम वाक्य यह था कि—"हा!! पुस्तक !!!"

आज तुम्हारे इस महापुरुष बालक का अप्राप्त पुस्तक में दृढ़ संस्कार देखने से मुझे निश्चय हुआ है कि हमारे महात्मा गुरुदेव की पवित्र आत्मा ने इस शरीर से सम्बन्ध किया है। पूर्व जन्म में यही महापुरुष हमारे इस मठ के स्वामी थे, इसमें संशय नहीं। यह बात केवल लोक ही में प्रसिद्ध नहीं है कि "अन्त मता सो गता" वरञ्च शास्त्रकारों का भी सिद्धान्त है कि अन्तकाल में जो पुरुष जिस विषय का स्मरण करता है, वही दृढ़ संस्कार तदनुरूप जन्म का कारण होता है। जन्मान्तर में वह विषय उसको अवश्य मिलता है जिसके चिन्तन में उसने प्राण परित्याग किये हैं।

अच्छा अब आपका कल्याण हो। यतिराज का मनोरथ सिद्ध हो। इनका दीर्घ रोग नष्ट हुआ पर अब देखें हमारा होता है कि नहीं? अब इस विषय में सन्देह न करना चाहिए। जाओ इस लीला-बालक को घर ले जाओ। परन्तु स्मरण रखना—अन्त में ये बालक अपने परम प्रिय—यतीन्द्रपथ का अनुसरण करेंगे।"

योगी के वाक्य सुन सब लोग हर्षित हुए केवल माता क यह दुःख हुआ कि "पुत्रवधू का मुख देखना दुर्लभ है। पर अच्छा, यह तो दृढ़

निश्चय हुआ कि अब पुत्र के जीवन में सन्देह नहीं" इस बात को सोचकर सुख के समुद्र में उस क्षुद्र दुःख का पता भी नहीं लगा कि वह कहाँ गोता खा गया।

हमारे बहुत से पाठक ऊपर लिखे हुए इतिवृत्त को केवल उपन्यास वा कविकल्पना समझेंगे; परन्तु विचारशील पाठक अवश्य इस बात को मान जायँगे कि इस घटना के मूल में सत्य है। जिसके मूल में सत्य है, उसके अन्त में भी सत्य है। बिचली अवस्था सभी की कल्पित है, सुतरां विज्ञ विद्वान् जानते हैं कि परमप्रतापी महाराज भरत जिनके नाम से यह देश "भारत" कहला रहा है, अन्तकाल में हरिणशावक को स्मरण कर जन्मान्तर में हरिणता को प्राप्त हुए थे। इस प्रकार की घटना विचित्र होने पर भी असम्भव नहीं है। दार्शनिक युक्तियों से इसका भली भाँति मण्डन हो सकता है, पर यहाँ युक्ति प्रदर्शन कर उसके समर्थन का स्थान नहीं है।

जन्मान्तरीण दृढ़ संस्कार सभी पुरुषों के हृदय में भरे पड़े हैं जो समय समय पर प्रादुर्भूत हुआ करते हैं। मूर्ख लोग इस बात को समझते नहीं कि जिस बात का हमारे वर्तमान शरीर से कभी सम्पर्क नहीं हुआ, जिसकी आज तक कहीं शिक्षा भी प्राप्त नहीं हुई, वह विषय भी अकस्मात् हमारे अन्तःकरण में कहाँ से उदय हो जाता है; परन्तु पण्डित जन जानते हैं कि अन्तःकरण में अनेक जन्मों के संस्कार सञ्चित हैं जिनका यह पता लगाना कि कौन संस्कार किस जन्म का है, सिवाय योगिराज के हमारे जैसे पुरुषों के लिए, इस दशा में कठिन ही नहीं वरञ्च असम्भव है। इस जन्म के संस्कार से जो ज्ञान होता है, उसका नाम "स्मृति" और जन्मान्तर के संस्कारजन्य ज्ञान का नाम "अनुभव" है। हमारे अनेक अनुभववादी मित्र संस्कार के प्रस्तुत महत्त्व को स्वीकार करने में सर्व्वाग्र हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

हमने उक्त घटना श्री ६ स्वामी जी महाराज ही से नहीं सुनी अन्य भी वयोवृद्ध आप्त पुरुषों से श्रवण की है। हमारा अपराध है तो इतना ही है कि हमने इसको अपने ढंग पर सजा लिया है। यदि हमारे इस दोष के कारण कोई स्वामी जी के विशुद्ध चरित्र में दोषदृष्टि करे तो यह उसकी बड़ी भारी भूल है। यदि लेख का अपने ढंग पर करना ही पाप

है और इसीसे ग्रन्थ की ऐतिहासिकता नष्ट होती है, त फिर कहिए इस पाप से कौन सा चरित-लेखक बचा है? संसार भर में एक भी इतिहास आपके इस दोषाभास से रिक्त नहीं है। हाँ, घटना का उलट-फेर करना जैसे महापाप है, वैसे ही प्रकृत घटना न लिखना भी घोर पाप है। सुतरां हमने पाप से बचने के लिए उक्त घटना का उल्लेख किया है?

अब रही यह बात कि स्वामी जी महाराज ही के कहने में क्या प्रमाण? सम्भव है उन्होंने अपनी प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा के लिए ही इस आख्यायिका का अवतार कर करा लिया होगा! हाँ, यह हो सकता है। प्रतिष्ठा के लिए ऐसी बातों की प्रायः रचना हुआ करती है और हम भी इस रचना-प्रणाली के पक्ष में नहीं हैं। यह हम प्रथम ही प्रकाश कर चुके हैं। किन्तु श्री ६ स्वामी विशुद्धानन्द जी के विषय में इस प्रकार के सन्देह का अवकाश नहीं है। क्योंकि यदि मिथ्या ही प्रचार करना उनका अभीष्ट होता तो वे शिव, विष्णु आदि दिव्य देवों में से किसी एक का अपने को अवतार सिद्ध करते, एक मनुष्य-मात्र का नहीं। योगभ्रष्ट साधारण योगी का अपने को अवतार (पुनर्जन्म) कहना यह उनकी प्रतिष्ठाद्योतक नहीं, सच पूछिए तो यह ऐसे महापुरुष की अप्रतिष्ठा है! अप्रतिष्ठा है, यही समझ कर इस सत्य घटना को उन्होंने प्रकाश कर दिया था। यह न समझना कि वे किसी देवता का अवतार अपने को प्रसिद्ध करते तो कृतकार्य्य नहीं होते। नहीं वे चाहते तो सब कुछ हो सकता था। घर घर में उनकी मूर्ति पूजी जा सकती थी। पर ऐसा करना वे अकर्तव्य और पाप समझते थे वरञ्च ऐसे प्रस्ताव करनेवालों को डाटते थे, जो यथावसर पर विदित होगा।

निदान, उक्त घटना के अप्रमाण कहने में कुछ भी प्रमाण नहीं है। अघटन-घटन-पटीयसी भगवान् की माया जन्मान्तर के संस्कार का अकस्मात् आविर्भाव करती है और क्षण-मात्र में तिरोभाव। इस बात को कोई भी निश्चय नहीं कह सकता कि वह कब किस संस्कार को प्रकट करेगी? उसी माया ने स्वामी जी की बाल्यावस्था में उक्त घटना घटाई थी। यदि हमारे इस निवेदन पर भी हमारे नास्तिकप्राय अविद्य-चरित लेखकों को सन्तोष न हो, तो वे इस वृत्तान्त को उपन्यास

ही समझें। हम भी महाकवि कालिदास के इस उपदेश से सन्तुष्ट हैं कि,—

अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं
द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम्।

चतुर्थ परिच्छेद

विद्यारम्भ

[अयोध्याप्रसाद—स्वामी जी का विद्यारम्भ—भट्ट जी का इन पर स्नेह—बुद्धि का चमत्कार—लड़कपन का संस्कार—संगमलाल का स्वर्गवास—उनका यमुना को उपदेश—मातृवियोग—नव्वाबज़ादों से मेल-मिलाप]

जब स्वामी जी की चार वर्ष की अवस्था हुई तब श्रीयुत सङ्गमलाल जी के एक और पुत्र हुआ। इस द्वितीय पुत्र का नाम अयोध्याप्रसाद था। माता-पिता समानभाव से पुत्रों को प्यार करते और उनसे वंश-विस्तार की आशा भी किया करते! यमुना देवी को द्वितीय पुत्र के जन्म से अधिक आनन्द इस कारण हुआ कि प्रथम पुत्र सती देवी और योगाश्रम के योगी की भविष्यवाणी के अनुसार यदि संन्यासी हो गया तो यह पुत्र गृहस्थ होकर वंश बढ़ाने का कारण होगा। भोली माता को यह क्या ख़बर थी कि उनके यश-प्रताप का प्रथम पुत्र ही कारण है। वंशीधर ही वंशपरम्परा का रक्षक होगा, उसी के नाम से उनका नाम संसार में अमर होगा। और जिस अयोध्याप्रसाद से वे वंशविस्तार और कुल-रक्षा की आशा करती हैं, वह अपनी भी रक्षा न कर सकेगा। जो हो, जिस प्रकार अयोध्याप्रसाद के जन्म से यमुना के सुख-स्वप्न की वृद्धि हुई, उसी प्रकार परिवार के दूसरे लोगों को भी सुख हुआ। पर हाय! वह बाल्यावस्था ही में कहाँ चला गया और क्या हुआ? अनुसन्धान करने पर भी इस बात का आज तक पता नहीं चला!

स्वामी जी के मातुल सबसुखराम ने पाँच वर्ष की अवस्था में इनको विद्यारम्भ कराया और ये कल्याणीस्थ पाठशाला में मराठी और फ़ारसी पढ़ने लगे। जिनकी विद्या का प्रकाश एक समय पण्डितवर राघवेन्द्राचार्य्य और महात्मा गौड़ स्वामी जी की अनुकूलता के कारण हुआ था, लड़कपन में भी उनको एक उपयुक्त महात्मा शिक्षक मिले थे, जिनसे उनकी विद्या का सूत्रपात हुआ था। आप एक महाराष्ट्र ब्राह्मण थे। अवस्था में अस्सी वर्ष के वृद्ध होने पर भी कर्तव्य-पालन में युवा से बढ़कर थे। पाठशाला में ये भट्टजी के नाम से प्रसिद्ध थे।

एक तो स्वामी जी लड़कपन में निर्भीक तथा उद्दण्ड प्रकृति के बालक थे, तिस पर ये पाठशालाओं के मुसलमान अध्यापकों को पुनः पुनः झुक कर "सलाम" करने की प्रथा से पीछे हटते थे, इस कारण पाठशाला के (जिसे वहाँवाले "मक़तब" के नाम से पुकारते थे) मुसलमान अध्यापक इन पर प्रसन्न नहीं थे। इनकी श्रद्धाभक्ति केवल भट्ट जी में थी और उनकी भी इन पर विशेष कृपा थी। दूसरे अध्यापक जब भट्ट जी से इस बात की शिकायत करते कि "वंशीधर आपसे सुनी हुई पुरानी कथा को याद रखता है और बालकों को एकान्त में ले जाकर उसी का उपदेश भी किया करता है, फ़ारसी का नियमित पाठ याद नहीं करता"। तब भट्ट जी इनकी परीक्षा लेते और सब अध्यापक इस बात को देखकर चमत्कृत होते कि जिसे वे पढ़ता नहीं पाते वह अपनी प्रखर बुद्धि के कारण अपने पाठ को सहज ही में याद कर लेता है और पाठशाला के सब विद्यार्थियों से उत्तम है। इनके इसी गुण से मोहित हो भट्ट जी इनको वंशीधर न कहकर प्यार से "श्रुतधर" कहा करते। अर्थात् सुनी हुई विद्या को धारण करनेवाला।

लड़कपन में मनुष्य जिस शिक्षा को ग्रहण करता है, उसे वृद्ध होने पर भी नहीं भूल सकता। बालकपन का दृढ़ संस्कार किसी के मिटाने से मिटनेवाला नहीं है। किसी नीतिविशारद ने सच कहा है कि बालक का हृदय कच्चे घड़े के समान है, उस पर चाहे जैसी लकीर निकाल सकते हैं, किन्तु जब युवा होने पर पक जाता है तब वह पुरानी लकीर वा पुराना संस्कार बिलकुल अमिट हो जाता है। इसी कारण हमारे महर्षियों ने लड़कपन ही में बालकों के लिए धर्म्मशिक्षा की व्यवस्था

की है। इसी कारण देवर्षि नारद ने ध्रुव, प्रह्लाद को सबसे प्रथम भगवद्भक्ति का उपदेश किया था, जिसका दृढ़ संस्कार अनेक प्रकार की बाधा-विपत्तियों में भी बना रहा। हमारे स्वामीजी उस समय में पढ़ने में उतना परिश्रम नहीं करते थे जितना उनके दूसरे सहपाठी किया करते। इनका मन खेल-कूद में अधिक लगता था या पौराणिक इतिहास के सुनने में। पढ़ाई की पुस्तकों में इनका तादृश उत्साह वा आग्रह नहीं था। पुराणकथा सुनने ये भट्ट जी के स्थान पर जाया करते और अनेक प्रकार के उनसे प्रश्न भी किया करते। कभी कभी ऐसा कठिन प्रश्न भी कर बैठते कि जिनके उत्तर देने में भट्ट जी इनके प्रश्न से दब जाते और जब उपस्थित प्रश्न का उत्तर तक नहीं दे सकते तब वे इनकी अनुसन्धानकारिणी बुद्धि की प्रशंसा कर आशीर्वाद दे कहा करते कि,—"वत्स! शास्त्रार्थ में कोई तुमसे विजयी न होगा"।

संवत् १८८५ में जब इनकी अवस्था सात वर्ष की थी तब इनके महात्मा पिता सङ्गमलाल जी का स्वर्गवास हुआ। काल की कुटिलता से वंशीधर पितृहीन हो गये! अहा! जिस पिता ने पुत्रप्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के कष्ट सहे थे, कितने ही प्रकार के व्रत और जप किये थे—वह पिता पुत्र के प्रताप को देखने भी न पाया! जो मन ही मन बालक वंशीधर को शुभकामना तथा उससे सुखप्राप्ति की आशा कर रहा था, वह सङ्गमलाल पुत्र-सुख से वञ्चित ही रहा!

पुत्र-सुख का सौभाग्य केवल सङ्गमलाल को प्राप्त नहीं हुआ—यह बात नहीं है। संसार में जिनके प्रतापी पुत्र हुए हैं, प्रायः वे सभी इनकी तरह पुत्र के प्रताप से वञ्चित रहे हैं। महाराज दशरथ ने भगवान् रामचन्द्र के लिए क्या क्या नहीं किया, पर उन्होंने उनका कितना प्रताप देखा? महाराज पाण्डु यदि अपने पञ्च महावीर पुत्रों का प्रताप देखते तो उनके आनन्द का क्या ठिकाना था? अनेक जप तप करने पर भी शङ्कराचार्य्य ऐसा पुत्र पाकर 'शिवगुरु' उनका प्रताप देखने नहीं पाये! असहिष्णु विधाता की लीला बड़ी विचित्र है। उसी की करतूत से सङ्गमलाल का सब लोगों से संग छूट गया।

पतिप्राणा यमुनादेवी की पतिदेव के साथ ही चितारोहण करने की इच्छा थी, इस बात को सङ्गमलाल पहले ही से जानते

थे। इसलिए उन्होंने मरते समय यमुना को पास बैठाकर कहा कि,—

"प्रिये ! आज हमारा अन्त का मिलना है ! आज तक तुमने हमारी सब आज्ञाएँ पालन की हैं। क्या एक अन्तिम आज्ञा भी पालन करोगी ?"

यमुना के स्वीकार करने पर उन्होंने फिर कहा कि—"स्त्री का परम धर्म्म पति का आज्ञापालन करना है। चिता पर जलकर मरना उतना कठिन नहीं है जितना जीते जी मन को मार कर रहना और मृत पति का आज्ञापालन करना कठिन कार्य्य है। देवी ! तुम चितारोहण कर हमारी सहगामिनी हुआ चाहती हो, इस बात का हमें भी बड़ा हर्ष है। वह स्वर्ग ही क्या, जहाँ तुम्हारी जैसी पतिव्रता न हो, किन्तु—सन्तान बालक हैं। यही बड़ा भारी दुःख है। हमारे बाद उनका लालन पालन कौन करेगा ? हमारा अनुरोध है कि तुम सहमरण का सङ्कल्प परित्याग करो। पाण्डुपत्नी कुन्ती देवी के समान सन्तान पालन कर पतिव्रत-धर्म्म को निभाओ !"

यद्यपि यमुना के लिए यह आज्ञा बड़ी कठोर थी, वह बहुत दिनों से पतिव्रत-धर्म्म में दीक्षित हो चुकी थी, वह जान चुकी थी, कि स्त्री पुरुष का नित्य सम्बन्ध है, पुरुष का परलोक होने से स्त्री का जीना व्यर्थ है; तथापि उसने पति की आज्ञा का जीवन तक पालन किया। घंटे भर की अग्नि में न जलकर पतिवियोग की असह्य अग्नि में जीवन भर जलना स्वीकार किया। सधवा का सुन्दर शृङ्गार विधवा के मलिन वेश से बदल गया। वह हास-विलास, वह वेश-विन्यास, सब स्वप्न-राज्य हो गया। चन्द्रमा के विना यामिनी की जैसे दशा बदलती है, वैसे ही प्राणपति के विना पतिव्रता स्त्री की। थोड़े ही दिनों में पतिवियोग से यमुना की सूरत बदल गई। देखने पर पहचानना कठिन हो गया ! वह ज्यों त्यों कर जीने लगी, पर अपने लिए नहीं, अपने स्वर्गवासी पति के लिए। वह भोजन करती थी पर उतना ही जितने से शरीर-रक्षा होती रहे। उतना जल वह पीती नहीं थी जितना प्रतिदिन अश्रुपात होता था !

इस प्रकार घुन खाई लकड़ी की तरह उसका अधिक दिन रहना कठिन हो गया। जल के विना मीन कितने दिन रह सकती है ?

F. 6

उसने यथाशक्य पति की आज्ञा का पालन किया। तीन वर्ष के बाद जब कि स्वामी विशुद्धानन्द जी की अवस्था ग्यारह वर्ष की हो गई थी तब भाई भौजाई के भरोसे पर अपनी पितृहीन सन्तान को मातृहीन कर गई। यमुना के स्वर्गवास से वंशीधर बिना माँ बाप का बालक हो गया। जिसके यत्न और आदर से वंशीधर ने पिता का मरना तक न जाना था आज उस दयामयी जननी का वियोग हो गया। अब तक जो रोना नहीं जानता था माता के वियोग ने उसे भी रोना सिखा दिया!

स्वामी जी कहा करते कि "हमारा लाड चाव जितना मामा मामी किया करते उतना माँ बाप नहीं। पिता हमसे बहुत ही कम बोलते थे। कुछ तो उनका स्वभाव ही कम बोलने का था और कुछ परिवार के लोगों से लजाते थे। हमको याद नहीं, कभी हमने उनको पुकारा कि नहीं। उनके मरने पर भी हम रोये नहीं थे किन्तु माता के मरने का हमें बहुत ही दुःख हुआ। यद्यपि हमें जो कुछ इच्छा होती उसे हमारी मामी ही पूरी करती और वह अपने साथ ही खिलाया पिलाया करती; तथापि माता माता ही होती है, माता के मरने पर हमने कई दिनों तक नहीं खाया! पिण्डदान के समय हमारा हृदय उभलने लगता, ख़ूब रोते, मामा का समझाना कुछ काम नहीं आता। एक दिन हमारे मामा जी ने पूछा कि "वंशी! तुम रोते क्यों हो? तुम्हें किस बात का कष्ट है?" हमने कहा कि "हमें और किसी बात का कष्ट नहीं, अब माँ किसे कहा करेंगे? कौन हमें बेटा कहकर पुकारेगी?" मामा हमारे प्रबोध के लिए ज़बान से तो कहने लगे कि "छिः क्या तुम इसी बात के लिए रो रहे हो? यह तो सब हम करने को तैयार हैं।" परन्तु हृदय के दुःख को वे गुप्त नहीं रख सके। नेत्रों से अश्रुधारा बह निकली।"

माँ बाप के मरने बाद मामा मामी ने लाड चाव की हद कर दी। वंशीधर और अयोध्याप्रसाद दोनों ही को वे समान भाव से प्यार करते थे। उनका लक्ष्य यह था कि कोई यह न कहे कि बिना माँ बाप के लड़के ख़राब हो रहे हैं, कोई बात तक नहीं पूछता। इसलिए उन्होंने लिखाने-पढ़ाने का भी आग्रह छोड़ दिया। पहिले जो कुछ पढ़ने के लिए धमकी दी जाती थी अब उसका भी काम न रहा। जिस बात को ये चाहते मामा उसी का अनुमोदन करते।

१३ वर्ष की अवस्था में शिक्षा का स्रोत दूसरी ओर बदला। फ़ारसी का लिखना-पढ़ना छोड़कर केवल कुश्ती करना, डंड पेलना, पटा खेलना और घोड़े का फेरना आदि फौजी व्यवसाय हो में इन्होंने मन लगाया। इस समय तक इनका देशभाषा (मरहठी और फारसी) में अच्छा अभ्यास हो गया था। आठ वर्ष की अवस्था में जब इनका उपनयन हुआ था तब भट्ट जी ने इन्हें सन्ध्या-मात्र पढ़ायी थीं। हाँ, पौराणिक उपाख्यान और ऐतिहासिक बातों का इनके हृदय पर अच्छा प्रभाव पड़ चुका था। भगवद्भक्त ध्रुव, प्रह्लाद आदि की कथा और पुण्यश्लोक नल, युधिष्ठिर प्रभृति नृपतियों का इतिहास वे बड़े चाव से सुनते सुनाते थे।

हम प्रथम लिख चुके हैं कि स्वामी जी के मामा पं० सबसुखराम कल्याणी के नव्वाब मुमताज़ुलमुल्क (लोकप्रसिद्ध मोहनाशाह) के यहाँ एक प्रतिष्ठित पद पर विद्यमान थे। नव्वाब की इन पर बहुत कृपा थी। इस कृपा का कारण सबसुखराम का सौभाग्य ही नहीं था, उनकी कार्य्यपटुता भी इसका प्रधान कारण था। कहते हैं कि एक बार हैदराबाद के निज़ाम ने किसी कारणवश वहाँ के नव्वाब पर अप्रसन्न हो प्रसिद्ध 'बिदर' के दुर्ग में उनको रोक दिया था। उस समय किसी प्रकार मोहनाशाह के पास नव्वाब के हितैषियों का सन्देश पहुँचाया था और उनका प्रत्युत्तर कल्याणी में पहुँचा कर प्रभुभक्त सबसुखराम ने अपने कर्तव्य को पूरा किया था। नव्वाब पर जब निज़ाम प्रसन्न हुए और उनको कल्याणी में पुनः प्रतिष्ठित किया तब वे भी सबसुखराम के उपकार को भूले नहीं। बड़ी प्रतिष्ठा के साथ उन्हें अपना क़िलेदार बनाया।

यद्यपि अब दक्षिण में पहले का सा उपद्रव नहीं था, अभागे बाजीराव का प्रताप बिठूर में शान्त हो चुका था और पिंडारे भी अँगरेज़ी राज्य की ज्वाला में भस्म हो चुके थे; तथापि अब के भारतवर्ष से उस समय के भारत में बहुत अन्तर था। सब लोग वस्त्रों को तरह शस्त्रों को धारण करते थे। मरने मारने से इतना डरते भी न थे। यद्यपि अग्नि बुझ चुकी थी; तथापि उष्णता (गरमी) बनी हुई थी। इसी कारण पटा फेरना, शस्त्र चलाना और सवार होना तब तक लोग आवश्यक समझते

थे। गुरु लोग इस बात को जानते थे कि 'कलियुग में' वीर्यरक्षा का उपाय योग-विद्या की अपेक्षा कुश्ती वा व्यायाम का अभ्यास करना ही सर्वोत्तम और समयसङ्गत है। इसलिए समयानुसार स्वामी जी भी उसी बल-वीर्य बढ़ानेवाले मार्ग के अनुयायी हुए।

किलअ् कल्याणी के नव्वाब मोहनाशाह के दो भ्रातुष्पुत्र (भाई के लड़के) थे। पहले का नाम 'मेंहदीहुसेन' था और दूसरे का नाम 'बबरहुसेन'। इनकी अवस्था भी स्वामी जी के समान थी और इनको 'घुड़दौड़' का बड़ा शौक़ था। सबसुखराम की चेष्टा और यत्न से स्वामी जी भी उनके सहकारी हुए। ये एक साथ पढ़ते और एक साथ खेलते तथा सवार हो साथ ही सैर करने जाया करते थे। यद्यपि वे नव्वाबपुत्र थे और ये एक ब्राह्मणकुमार थे; तथापि लोगों की समझ में जैसे इनकी बराबरी न थी, वैसे ही हमारी समझ में भी इनकी तुलना करना भूल थी। परन्तु बाल-स्वभाव-सुलभ सरलता के कारण इनमें बहुत प्रेम हो गया था। बालक के हृदय में स्वर्गीय भाव रहता है। वह मूर्तिमान् प्रेम होता है। छुटाई, बड़ाई को यह नहीं जानता। इसके सिवाय नीच और उच्च सब समान हैं।

ध्रुव यदि अपने और उत्तम में कुछ भेद समझता तो उत्तानपाद की गोद में बैठना न चाहता। दरिद्र द्रोण यदि राजकुमार द्रुपद को अपना समकक्ष न जानता तो अश्वत्थामा के लिए गौ लाने न जाता और निर्धन सुदामा यदि लक्ष्मीकान्त श्रीकृष्ण और अपने में छुटाई बड़ाई देखता तो उनको 'मित्र' कहने का साहस नहीं होता। हाय! बालकपन के उस पवित्र भाव को कितने जन हैं जो अन्त तक पालन करते हैं? लड़कपन के निर्धन मित्रों को 'मित्र' कह कर पुकारनेवाले और उनके दुःख-दर्द दूर करनेवाले कितने पुरुष हैं? सब संसार स्वार्थपरायण है। वही बात यहाँ स्मरण रहती है जिसमें गहरा स्वार्थ भरा हो। ज्यों ज्यों मनुष्य के आयु, आकार और डीलडौल बढ़ने लगते हैं, त्यों त्यों उसके उदार विचार सङ्कुचित होने लगते हैं और वह अहङ्कार का पुतला बन जाता है!

पञ्चम परिच्छेद

[स्वामी जी की शास्त्रशिक्षा—उनकी बुद्धितीव्रता—बबरहुसेन का डाह—अरबी घोड़ा—चाबुकसवार का गिरना—स्वामी जी का अश्वारूढ़ होना—घटनावैचित्र्य से घोड़े का मरना—बबर की चुगली—स्वामी जी की क़ैद और आत्मग्लानि—क़ैद से छूटना—भट्ट जी की मृत्यु—महादेव बावड़ी पर स्वामी जी का आना और एक परमहंस संन्यासी से गीत सुनना]

एक ही काल में एक ही मेघ की बूँदें भिन्न भिन्न वस्तुओं में गिरने से भिन्न भिन्न प्रकार के गुण पैदा करती हैं। एक ही प्रकार का बीज खेत के गुणदोष से अलग अलग प्रभाव प्रकाश करता है। भगवान् सूर्य्यनारायण का प्रकाश यद्यपि काँच और रत्न पर समान भाव से पहुँचता है, तथापि काँच का प्रतिबिम्ब रत्न के प्रतिबिम्ब की समानता को नहीं पहुँचता। स्वामी विशुद्धानन्द और दोनों नव्वाबज़ादे यद्यपि एक ही साथ कला-कौशल सीखते थे और सिखानेवाले भी अपने कार्य्य में निपुणतम थे; तथापि स्वामी जी निज बुद्धिवैभव से जितना शीघ्र शिक्षा के मर्म्म को समझते थे, चेष्टा और यत्न करने पर भी नव्वाबज़ादे उसे हृदयङ्गम नहीं कर सकते थे। इनको अपनी बुद्धि की दुर्ब्बलता का उतना दुःख नहीं था; जितना स्वामी जी की बुद्धि की प्रखरता का खेद था।

शस्त्रपरीक्षा के समय स्वामी जी का अव्यर्थ सन्धान जिस प्रकार लक्ष्य से नहीं चूकता था, उसी प्रकार घुड़दौड़ के समय उनका साधारण अश्व नव्वाबज़ादों के बहुमूल्य क़ीमती घोड़ों से आगे निकल जाता। कोट खाई का लाँघना और दीवारों का फाँदना एक साधारण बात थी। क्या पटेबाज़ी और क्या तीरन्दाज़ी सबमें आप निपुण हो गये थे। इनकी यह निपुणता इनके समवयस्क मित्र नव्वाबज़ादे बबरहुसेन के डाह का कारण हुई। किसी प्रकार विशुद्धानन्द को नीचा दिखाया जाय, इस प्रकार का अवसर देखने लगे। संसार में इस प्रकार के दृष्टान्तों की कमी नहीं है, जिधर देखिए उधर ही से यह बात सिद्ध होगी कि

'पराई सम्पत्ति के उत्कर्ष से हीन पुरुष को दुःख होता है!' उन्होंने अपने बड़े भाई मेहदीहुसेन को भी अपना सहकारी बनाना चाहा था, किन्तु गुणग्राही मेहदीहुसेन उनके अनर्थ भरे विचार से सम्मत नहीं हुए—इतना ही नहीं, वरञ्च उनको फटकारने में भी कसर नहीं की। मेहदीहुसेन स्वामी जी के गुणों का सर्व्वदा सम्मान किया करते और उनको अपना एक भृत्य न समझ कर मित्र समझा करते; परन्तु बबरहुसेन का आचरण इसके विपरीत था। जो हो, स्वामी जी को इसकी कुछ भी परवाह न थी।

इसी समय में नव्वाब के किसी मित्र ने एक बड़ा सुन्दर अरबी घोड़ा उनको नज़र किया था। कहते हैं कि इसका मूल्य पाँच सहस्र से अधिक था। देखनेवाले लोग इसके सौन्दर्य्य और गुणों की प्रशंसा करते थे। नव्वाब ने चाहा कि उस पर सवार होकर अपने मन की उमङ्ग निकालें, परन्तु अश्व की चपलता और उद्दण्डता देख उन्हें भय हुआ कि कहीं यह 'बदमाश' पटक न दे। इसलिए वह 'चाबुक-सवार' को सौंपा गया और कहा गया कि इसको सीधा करके दरबार में 'पेश' करो।

इनाम का भूखा बेचारा चाबुकसवार ज्यों ही अश्वारूढ़ हुआ कि घोड़ा पवन वेग से छूटा और अपने सवार को एक गढ़े में ले जा पटका! कुशल यही हुई कि प्राण बच गये और स्वामी विशुद्धानन्द जी की सहायता से अश्व पकड़ा गया। जब चाबुकसवार घोड़े पर सवार हुआ था, तब कौतुकप्रिय स्वामी जी भी अश्वारूढ़ हो उसके पीछे हो लिये थे।

इन्होंने चाबुकसवार से कहा कि "मियाँ! ज़रा घोड़ा हमारे हवाले कीजिए, देखिए फिर इसकी बदमाशी निकलती है कि नहीं? हम अभी एक चक्कर में इसे पानी बना देते हैं।"

चाबुकसवार गिरने से कुछ तो झुँझलाया हुआ था और कुछ वह स्वामी जी को भी असाधारण सवार समझता था, इसलिए उसने इनकी सम्मति को सहर्ष स्वीकार कर लिया, इधर 'हाँ' करने की देर थी कि स्वामी जी चट् घोड़े की पीठ पर पहुँचे। नव्वाबज़ादे बबरहुसेन ने आन कर देखा कि वंशीधर नये घोड़े को चक्कर दे रहे हैं। वह बदमाश

घोड़ा जो कुछ देर पहले अपने खुरों से पृथ्वी का समुद्र बना रहा था, जो अपने वेग के सामने वायु के वेग को भी तुच्छ समझता था और अच्छे से अच्छे सवार को पीठ पर टिकने तक न देता था, वह वंशीधर के इशारे पर कठपुतली की तरह नाच रहा है। यह दृश्य मनोहर होने पर भी बवरहुसेन को मनोहर नहीं लगा। नव्वाब साहिब की सवारी के घोड़े पर एक सामान्य हिन्दू का सवार होना उनको सह्य नहीं हुआ।

कौन जानता था कि यह घटना स्वामी विशुद्धानन्द जी के जीवन की विशेष घटना होगी? कौन जानता था कि घोड़े पर सवार होना ही वंशीधर के जगत्प्रसिद्ध संन्यास का कारण हो जायगा? कौन जानता था कि बालक ध्रुव का तिरस्कृत होना ही उसके उच्चाधिकार का सोपान बन जायगा? किसने जाना था कि द्रौपदी का हँसना ही महाभारत के घोर युद्ध का कारण हो जायगा? किसने विचारा था कि निरपराध ब्राह्मण कुमारिल भट्ट[१] का प्रासाद से गिराना ही वैदिक धर्म्म के अभ्युत्थान का हेतु हो जायगा? किसने जाना था कि अनाथ रघुनाथ[२]

---

१ प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्ट ही ने वैदिक धर्म्म को बौद्धों के हाथ से बचाया है। एक दिन वे छद्मवेश में बौद्ध पण्डितों से अकेले शास्त्रार्थ कर रहे थे। उन्होंने अपनी तीव्र युक्तियों से प्रतिवादियों के युक्तिजाल को छिन्नभिन्न कर दिया। शास्त्रार्थ में कुमारिल को पराजित करना असम्भव जानकर उन्होंने कुमारिल को ऊपर से नीचे ढकेल दिया। वे समझते थे कि इतने ऊँचे महल से गिरकर कुमारिल के प्राण नहीं बचेंगे, परन्तु भगवान् की दया से कुमारिल जीते जागते बचे और भारत में फिर वैदिकधर्म्म की धूम मची।

२ प्रसिद्ध नैयायिक पण्डित रघुनाथ शिरोमणि एक दुर्दशाग्रस्त विधवा ब्राह्मणी के पुत्र थे, पिता इनका मुख भी न देखने पाये थे, भिक्षा के अन्न से इनकी माता ही जैसे तैसे पालन करती थी। एक दिन माता ने कहा कि बेटा! पाठशाला के विद्यार्थियों से अग्नि माँग लाओ। पाँच वर्ष के बालक रघुनाथ ने यह नहीं पूछा कि अग्नि किस पात्र में लाऊँ। वहाँ विद्यार्थी ने कहा कि 'अग्नि को किस चीज़ पर रक्खोगे', ? तब ये कुछ रुके पर इनकी विलक्षण प्रतिभा ने इनको बता दिया कि हाथ पर बालू रेत रखने से अग्नि ले जाना ठीक होगा। पाठशाला के अध्यापक ने इनको होनहार समझ अपने पास रख लिया और ऐसा पण्डित बनाया कि इनके कारण न्याय शास्त्र ने एक नया शरीर धारण कर लिया।

का अग्नि माँगना ही न्यायशास्त्र के बुझे हुए तेज को प्रदीप्त कर देगा ? कौन जानता था कि ढकने का खड़कना[१] स्टीम इंजन आदि की उत्पत्ति का एक कारण हो जायगा ? किसने सोचा था कि एक फल के गिरने से न्यूटन[२] की बुद्धि लुप्तप्राय आकर्षिणी विद्या को ग्रहण कर लेगी ? महापुरुषों के जीवन-चरित में साधारण घटनाएँ ही उनकी असाधारणता में विशेष कारण हुई हैं। यही बात स्वामी विशुद्धानन्द जी के जीवन-चरित में भी पाई जाती है।

अश्वविद्या में निपुण स्वामी जी ने घोड़े को ख़ूब चक्कर दिये। उसके बदन से ज्यों ज्यों पसीना गिरता था, त्यों त्यों उसकी चपलता दूर होती थी। जब देखा कि अब यह ठीक हो गया है, बदमाशी न करेगा, तब चाबुकसवार के सुपुर्द किया और इसके बदले धन्यवाद भी उससे पाया। घोड़े को वह चाबुकसवार अपने साथ नव्वाब साहिब के खासे (अश्वशाला) में ले गया और उसकी दैनिक शुश्रूषा सदैव की तरह की गई। उसने सदा की नाईं घास दाने को भी चाह कर खाया था। कोई बीमारी भी न थी परन्तु अकस्मात् रात को बीमार हुआ और थोड़ी देर में तड़प तड़प कर मर गया !

---

११ आग पानी की भाप से जो रेल आदि के इंजन चल रहे हैं, यह एक यूनान* देश के विचारशील विद्वान् के विचार का फल है। एक समय दाल की बटुली के ऊपर रक्खा हुआ ढकना हिलता देखकर उसने यह सिद्धान्त किया कि आग से पानी भाप बन बड़ी भारी सामर्थ्य रखता है। इसके पीछे उसने रेल के इंजन की रचना रची।

२ न्यूटन† यूनान देश का प्रसिद्ध दार्शनिक था, एक दिन वृक्ष से नीचे फल को गिरते देखकर उसने इस बात पर विचार किया कि यह फल ऊपर को न जाकर नीचे क्यों गिरा, जब कि दोनों ओर अवकाश है। तत्पश्चात् उसने यह निगमन निकाला कि आकर्षण शक्ति से ऐसा हुआ है। न्यूटन के साइंस की यही जड़ है।

---

* रेल के इंजन का आविष्कार-कर्त्ता जार्ज स्टीफनसन अँगरेज़ था, यूनानी नहीं।

† न्यूटन इँगलेंड के लिंकनशायर का रहनेवाला था। सम्पादक

घोड़े के मरने का नव्वाब साहिब को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने जब इस बात का अनुसन्धान किया कि इसके मरने का कारण क्या है तब किसी ने कहा कि कोई विषैला जानवर लड़ गया, किसी ने बताया कि यह जंगली घास में किसी ज़हरीली औषध को खा गया, एक ने कहा कि 'नहीं, यह चाबुकसवार की करतूत है।' अन्त में बबरहुसेन ने कहा कि सारा दोष वंशीधर का है। अनुसन्धान करने पर जाना गया कि वंशीधर ही इस पर सवार हुए थे और दौड़ाने के समय कशाघात भी करते थे। सत्यवादी वंशीधर ने अपनी साक्षी से इस बात का अपने आप मण्डन किया था और अन्त में कहा था कि "यह बात सच होने पर भी अश्ववध का भार मेरी गर्दन पर नहीं है। यदि घोड़ा दाना पानी न लेता तो कदाचित् इस अपराध का मैं दोषी भी ठहर सकता था, पर अब मुझे अपराधी समझना भूल है।"

स्वामी विशुद्धानन्द जी की इस प्रार्थना पर किसी ने भी ध्यान नहीं दिया। बबरहुसेन के आग्रह से वे अपराधी ठहराये गये। हाथों में हथकड़ी डाल कर वे कठोर अपराधियों की तरह किले में रोके गये। वृद्ध मोहनाशाह इनको धमका कर और इस प्रकार भय प्रदर्शन कर इन्हें विनीत किया चाहते थे! उनकी क़ैद करने की इच्छा न थी, कुछ देर तक रोक कर अन्त में छोड़ देना ही उनको अभिप्रेत था; पर बबरहुसेन ने इस अवसर को ग़नीमत समझ उनको सचमुच क़ैदी बना दिया।

स्वामी जी के मामा सबसुखराम किसी सरकारी काम के लिये हैदराबाद गये थे, वहाँ न थे। जब तक वे न आये तब तक वंशीधर के क़ैद होने का समाचार नव्वाब साहिब को विदित नहीं हुआ। स्वामी जी इस कारण एक अहोरात्र क़िले में क़ैद रहे थे। स्वामी जी नव्वाब साहिब को अपना अभिभावक समझते थे, बबरहुसेन और अपने को एक ही प्रकार का मनुष्य जानते थे, पर इस घटना से उनके नेत्र खुल गये, अब उन्होंने समझा कि राजपुत्र और प्रजा में बड़ा भेद है। जिस स्नेह में पक्षपात है, जहाँ इस प्रकार का भेद है, वह स्नेह नहीं, घृणा के योग्य एक धोखे की टट्टी है। संसार में सब स्वार्थपरायण

F. 7

लोग हैं। उनका प्यार स्वार्थ से भरा हुआ है, जब तक स्वार्थ है, तब तक उनका प्रेम है। ऐसे प्रेमियों की प्रीति में फँसना बुद्धिमान् का काम नहीं है !

दिन भर के भूखे प्यासे स्वामी जी ज्यों ज्यों अपनी उपस्थित दशा पर पश्चात्ताप करते थे, त्यों त्यों उनकी मर्मवेदना बढ़ती जाती थी। उनकी दृष्टि में संसार त्यागने और एकमात्र जगदीश्वर के चरणारविन्द ही सेवा योग्य दिखाई देते थे। इस समय ध्रुव, प्रह्लाद आदि के पौराणिक उपाख्यान जिनको वे भट्ट जी से कई बार सुन चुके थे, स्मरण आये जिनसे उनके घबड़ाये हुए मन को बहुत कुछ धैर्य्य हुआ।

दूसरे दिन सबसुखराम ने आन कर इन्हें छुड़ाया। नव्वाब साहिब ने इस घटना पर पश्चात्ताप किया और बबरहुसेन को बहुत लज्जित किया; किन्तु इस शिष्टाचार से स्वामी जी के मन को कुछ भी सन्तोष नहीं हुआ। सबसुखराम को भी अल्प दुःख नहीं हुआ पर सन्तोष के अतिरिक्त इसका अब और कुछ उपाय भी न था।

स्वामी जी कारागार से मुक्त हो अपने घर पर न जा कर भट्ट जी के स्थान पर पहुँचे, पर हाय ! अफ़सोस ! वहाँ उनको भी न पाया ! उसी दिन वृद्ध महात्मा भट्ट जी का अचानक परलोकवास हो गया था ! कहाँ तो यह अपने चित्त को सन्तुष्ट करने के लिए यहाँ आये थे और कहाँ इसके विपरीत और भी इनको घोर कष्ट हुआ ! भट्ट जी की मृत्यु ने इनके जी में जले पर नोंन का सा असर किया। पिता के मरने पर जिसके अश्रुपात नहीं हुआ था, आज वह अपने कृपालु शिक्षक के लिए फूट फूट कर रोने लगा।

कल्याणी में इनके मकान से थोड़ी दूर पर एक "महादेववावड़ी" थी। बावड़ी पर महादेव जी का मन्दिर था। इस कारण उसका नाम भी वैसा ही हो गया था। सुन्दर सघन वृक्षों की छाया से वहाँ का दृश्य भी मनोहर था और जल भी अपनी उत्तमता के लिए प्रसिद्धि लाभ कर चुका था। भट्ट जी के स्थान से स्वामी जी इसी जगह पर पहुँचे। यद्यपि आप दिन रात के भूखे प्यासे थे, यद्यपि घर में साथ ले जाने के लिए सबसुखराम अत्यन्त आग्रह कर चुके थे; तथापि आपने अपनी

बाल्यावस्था के गुरुचरण को इस समय प्रणाम करना और उनसे एक बार उपदेश ग्रहण करना आवश्यक समझा था। परन्तु विधाता ने वह मनोरथ भी पूरा नहीं होने दिया। निर्जीव शरीर की तरह उनका स्थान भी अब अधिक देर तक देखा नहीं गया। बावड़ी पर आन कर आपने स्नान किया और भट्ट जी के उद्देश्य से जलाञ्जलि देकर अपने सन्तप्त हृदय को शीतल किया।

रात तीन चार घड़ी जा चुकी थी। चैत की चाँदनी रात में दूर दूर की चीज़ें दिखाई देती थीं। शीतल मन्द सुगन्ध वायु इस समय क्या कुछ कर रहा है और चाँद की चाँदनी में कुमुदनी क्या कर रही है, यद्यपि इसके विचार की फ़ुरसत नहीं थी; तथापि स्वामी विशुद्धानन्द स्थिर दृष्टि से एक ओर वृक्षराजि में कुछ देख रहे थे, एक सुहावनी आवाज़ जो वृक्षों के बीच से आ रही थी, इनका ध्यान उसी ओर था। थोड़ी देर के बाद देखा कि एक हृष्ट पुष्ट, कौपीनमात्र पास रखने वाले संन्यासी गाते हुए इनकी ओर चले आ रहे हैं। उस गीत को ये बड़े ध्यान से सुनने लगे,—

हरि से लाग रहो रे भाई।
तेरी बनत बनत, बन जाई॥ टेक०॥

अङ्का तारे बङ्का तारे, तारे सदन कसाई।
सुवा पढ़ावत गनिका तारी, तारी मीरां बाई॥ हरि से०॥
दौलत दुनिया माल खजाना, बनियाँ बैल चराई।
एक बात से ठंढा पड़ि गया, खोज खबर ना पाई॥ हरि से०।
खासी भक्ति करो घट भीतर, छोड़ कपट चतुराई।
सेवा बन्दन अरु अधीनता, सहज मिलै रघुराई॥ हरि से०॥

षष्ठम परिच्छेद

[महात्मा के दर्शन और उनको अभिवादन—साधु का आशीर्वाद—परस्पर कथोपकथन—ब्रह्मचर्य ग्रहण का उपदेश और उसमें कारण—पुनर्मिलन की प्रतिज्ञा—वंशीधर का निर्वेद—सबसुखराम का आना और अपने साथ घर ले जाना—आमोद प्रमोद—सबके सो जाने पर वंशीधर का कल्याणी परित्याग और उत्तर दिशा में गमन]

वंशीधर जी संन्यासी के गीत को सुन मन्त्रमुग्धवत् उनकी ओर देखते रहे। दर्शन से कृतार्थ हुए। उनके पवित्र हृदय में नव्वाब के आचरण और भट्ट जी के मरण से जो विचार उत्पन्न हो गया था इस अवधूत साधु के दर्शन से वह और भी पुष्ट हो गया। जब कि उन्होंने देखा कि उन महात्मा के पास न कुछ शरीर-उपयोगी संग्रह है और न कोई संगी साथी है; तथापि वे उन लोगों से कहीं हृष्ट पुष्ट और सन्तुष्ट हैं जो प्रत्येक समय साथियों से घिरे रहते हैं! विशेषता है तो यह है कि वे रात-दिन उनकी चिन्ता में व्यग्र और इनके पास उसका नाम तक नहीं। "अहा! इनके आनन्द का क्या ठिकाना है।" यह कहते हुए साधु के पास जा भक्ति-भाव से इन्होंने प्रणाम किया।

इधर उनका पद भी पूरा होगया था, गान के कारण जो चारों ओर के वृक्षों से प्रतिध्वनि हो रही थी वह भी अपने कारण के साथ शून्य में लीन होगई और प्रकृति देवी ने शान्ति की चादर पहन ली। मानों उस शान्त स्वरूप परिव्राजक का इन सबने सम्मान किया !!

उस साधु ने भगवान् का नाम ले आशीर्वाद दिया और कहा कि "कहो क्या चाहते हो ?"

वंशीधर०। संन्यास।

वंशीधर के मुख से संन्यास का नाम सुन साधु को बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने कुछ देर इनकी ओर देखकर कहा कि "युवा अवस्था में संन्यास लेने की इच्छा क्यों हुई ?"

वंशीधर०। सांसारिक दुःख देखकर।

साधु०। संन्यास लेकर भी संसार से भाग कर कहाँ जाओगे ?

वंशीधर०। तब क्या करें? आप ही कहिए, संसार के दुःख क्लेश किस प्रकार दूर हों?

साधु०। वासनाक्षय से।

वंशीधर०। वासनाक्षय कैसे हो?

साधु०। ब्रह्मज्ञान से।

वंशीधर०। उसका उपाय क्या है?

साधु०। भगवान् की प्रसन्नता।

वंशीधर०। भगवान् प्रसन्न कैसे हों?

साधु०। सत्कर्म से।

वंशीधर०। कहिए इसके लिए किस सत्कर्म का अनुष्ठान किया जाय?

वंशीधर जी की जिज्ञासा देख महात्मा ने अति प्रसन्न हो कहा कि "वत्स! अभी तुम संन्यास के अधिकारी नहीं हुए हो। यद्यपि तुम्हारी आकृति से तुम्हारे ब्रह्मचारी होने में मुझे किसी प्रकार का सन्देह नहीं है; किन्तु विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य्य ग्रहण और गुरुकुल में वास कर जब तक वेदादिशास्त्रों को अध्ययन न किया जाय तब तक ब्राह्मण इतर आश्रम का अधिकारी नहीं हो सकता। ब्राह्मण का परम तप वेदाध्ययन है। उसीसे भगवान् प्रसन्न होते हैं। उनका अवतार भी वर्णाश्रमधर्म की रक्षा ही के लिए होता है।" इस प्रकार वे महात्मा उपदेश देकर सहसा खड़े हो गये और बड़े प्यार से इनके अर्चनीय शिर और दर्शनीय नेत्रों का निज करकञ्ज से स्पर्श कर कहा,—

"लो अब मैं जाता हूँ। देखना, आज जो तुमसे कहा है उसे भूलना मत। फिर भी मैं तुम्हें नासिक और हरिद्वार में यथासमय मिलूँगा। मङ्गलमय तुम्हारी मङ्गलकामना परिपूर्ण करेंगे।"

"हरहर महादेव" की ध्वनि से दिशा गूँज उठी और देखते देखते वे सदाशय महापुरुष अन्तर्हित हो गये। इतने शीघ्र कहाँ चले गये! यह कुछ भी समझ में न आया। वे महात्मा वैष्णव थे कि शैव, दण्डी थे कि परमहंस, किस सम्प्रदाय और नाम को विख्यात करनेवाले थे, इसका निश्चय न हो सका! इस बात का वंशीधर जी को जैसा पश्चात्ताप हुआ, वैसा ही हमें भी हुआ कि हम अपना और अपने पाठकों का सन्देह निवृत्त न कर सके! जो हो।

वंशीधर जी की मामी इस संवाद से भयभीत होगई कि नव्वाब साहिब के तिरस्कार से खिन्न हो वंशीधर घर पर नहीं आये। वे इनके असहिष्णु स्वभाव से परिचित थीं, सुतरां उनको इस बात का डर हुआ कि वह क्रुद्ध हो कहीं चला न गया हो। इसलिए उन्होंने कई आदमियों को इनके अनुसन्धान में भेजा और स्वयं सबसुखराम जी भी खोजते हुए वहीं आ पहुँचे जहाँ ये इस दिन की विचित्र घटनाओं को सोच रहे थे। पुत्रोपम वंशीधर को चिन्तित देख कर स्नेहपरायण मामा को दुःख हुआ सही, पर उसके प्रगट होने पर कहीं वह अधिकतर दुःखित न हो जायँ, इसी भय से उस भाव को छिपा कर कहा कि,—

"वंशी! यहाँ क्या कर रहे हो? चलो भोजन तैयार है। घर के सब लोग तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

सबसुखराम ने विचारा था कि घर पर आने में वह कुछ बहाना करेगा और आश्चर्य्य नहीं कि वह अपने दुःख को रो कर प्रगट करे, जिसका सम्हालना असम्भव नहीं तो एक कठिन कार्य्य अवश्य है। परन्तु जब बिना वाक्यव्यय वंशीधर को पीछे चलता और एक प्रकार प्रसन्न देखा तब तो उनके आनन्द की सीमा न रही। विशेष कर जब घर में आकर प्रतिदिन की तरह हँस हँस कर भोजन किया और सबके सामने अश्वसम्बन्धी सब बातें कह सुनाई और अपने को निर्दोष सिद्ध करके भी उस पर किसी प्रकार का क्रोध व खेद प्रगट नहीं किया; तब उनके मन से इस बात का ध्यान ही जाता रहा कि आज की घटना का वंशीधर पर कुछ असर हुआ होगा। परन्तु उन्होंने प्रसङ्ग से कहा कि "मुझे नव्वाब साहिब के आचरण से खेद नहीं, भट्ट जी के मरण से खेद है। संसार का सम्बन्ध बड़ा अनित्य है। एक दिन पहिले जो पुत्रवत् हमें पढ़ाया करते और पिता के समान जो हमें उपदेश दिया करते, वे भक्तिभाजन देवोपम अध्यापक भट्ट जी अब कहाँ गये? मामा जी! क्या कोई मरे हुए मनुष्यों से मिल सकता है? यदि मैं आज स्वर्ग में जा सकता तो अवश्य वहाँ पहुँच कर भट्ट जी के दर्शन करता! और साथ ही अपने माता-पिता.........."।

यह न समझना चाहिए कि इस साधारण सी बात के निकलते ही एकाएक युवा वंशीधर ही का गला भर गया था, वरञ्च इनके सब

मामा-मामी भी इनकी बात से व्याकुल हो गये, कई क्षण तक बिलकुल निस्तब्धता रही, सब चुपचाप, मानों पत्थर की मूर्तियाँ हैं। किसी के मुँह से कुछ न निकला। थोड़ी देर पीछे सबने एक आध लंबी साँस खैंच कर इस करुणोत्पादक प्रसङ्ग को छोड़ दूसरी बातों की ओर मन लगाया और बुद्धिमान् वंशीधर ने भी उनका साथ दिया। बस इसी आमोद-प्रमोद में रात आधी से अधिक बीत गई।

हाय ! यह किसी ने भी न जाना कि वंशीधर की यह प्रसन्नता, यह आमोद-प्रमोद सब छल से भरे हुए हैं। निर्वाणोन्मुख प्रदीप की तरह यह चमत्कार क्षणस्थायी है ! यह सब कौशल तुम्हारे भुलाने के लिये है। भला एक बार तो सोचते जिसने माता पिता को एक साथ कभी भी स्मरण नहीं किया, आज क्या कारण है जो वह 'माता-पिता' के दर्शन के लिए व्याकुल हो रहा है ?

सबसुखराम ! आप तो बड़े बुद्धिमान् हैं फिर यह क्या करते हैं जो आज निद्राभिभूत हो रहे हैं ! हा !! यदि तुम यह जानते कि तुम्हारी आँखों का तारा, तुम्हारे घर का प्रदीप, तुम्हारे बुढ़ापे का सहारा, तुम्हारी आशा का घर और तुम्हारा एकमात्र प्यारा भागिनेय वंशीधर आज तुमसे बिदा हो जायगा, तो कदापि इतने निश्चिन्त होकर न सोते ! आज तुम्हारी वह निधि निकली जा रही है जिसकी रक्षा का भार स्वर्गीया यमुनादेवी तुम पर छोड़ गई थी !

वंशीधर के साथ हँसते हँसते सबसुखराम सोये थे। उन्हें क्या ख़बर थी कि आज का हँसना अन्तिम हँसना है। जीवन भर फिर इनका दर्शन न मिलेगा। एक देश और एक काल में जीवित रहने पर भी इस जन्म में फिर वंशीधर को देखने न पावेंगे। सूर्य्य के उदय होने पर, नेत्रों के खुलने पर प्रकाश के स्थान में सब जगह अन्धकार दिखाई देगा ? शाक्यसिंह के दर्शन, बुद्ध होने के पश्चात् उनके परिवार को फिर भी एक बार मिल गये थे, स्वामी शङ्कराचार्य्य को भी उनकी एकाकिनी जननी देखने में समर्थ हुई थी, पर हाय ! संन्यासी दशा में भी तुम वंशीधर के दर्शन से हृदय शीतल न कर सकोगे ! उनके प्रताप से विद्या का प्रचार होगा, उनके यश से देश की मलिनता दूर होगी, उन्हें बड़े बड़े पण्डित और राजा महाराजा घेरे रहेंगे, किन्तु तुम उनके पास भी फटकने न पावोगे !

वंशीधर सबको गाढ़निद्रा में सोया देखकर धीरे धीरे शय्या से खड़े हुए। एक एक बार सबके पास जा जा कर देखा कि कोई जागता तो नहीं है। जब देखा कि उनका मार्ग खुला हुआ है कोई बाधक नहीं, तब शरीर से वस्त्रों को उतार एक कौपीनमात्र धारण कर सदा के लिए घर से बाहर हो गये! जिस कल्याणी में जन्म हुआ था, जहाँ माता-पिता की गोद में बाल्य जीवन बिताया था, जहाँ मामा-मामी की छत्र-च्छाया में सुख से यौवनारूढ़ हुए और जहाँ के सिवाय अन्यत्र कहीं जिन का मन ही न लगता था, आज उसी स्वर्गादपि गरीयसी जन्मभूमि को परित्याग करते हुए न रोये, न चिल्लाये और न कुछ विशेष दुःख ही प्रकाश किया; केवल प्रसुप्त एवं निस्तब्ध नगरी से बाहर हो स्थिर दृष्टि से कुछ देर तक उसकी ओर देखते रहे और न जाने क्या सोचते रहे!! तदनन्तर, शिखासूत्रधर, कौपीनमात्रसम्बल, एकाकी वंशीधर कल्याणी से उत्तर की ओर चल निकले।

——

सप्तम परिच्छेद

[सबसुखराम की निष्फल आशा—स्वामी जी को न पाकर घरवालों का घबड़ाना—उनके वस्त्र और चिट्ठी—अनुसन्धान और सन्देश—तात्कालिक देशदशा—नासिक क्षेत्र—पण्डित स्वामी—ब्रह्मचर्य्य और वेदाभ्यास]

मनोरथ किसी बिरले ही पुरुष के पूरे होते हैं, नहीं तो यही देखा गया है कि सोचनेवाले सोचते ही रहते हैं और काल भगवान् अपना एक नया खेल खेल जाते हैं।

जिस दिन स्वामी विशुद्धानन्द का जन्म हुआ था, उस दिन उनके माता-पिता के चित्त में न जाने क्या क्या विचार उत्पन्न हुए थे! आशा के फेर में पड़ कर न जाने कैसी कैसी सुखकल्पनाएँ कर रहे थे। बेटा बड़ा होगा, हम वृद्ध होंगे और यह सेवा-शुश्रूषा करेगा, इसके विवाह का आनन्द लूटेंगे, पुत्रवधू के आगमन से घर की शोभा बढ़ेगी एवं वंश

का विस्तार होगा ! मा-बाप की अकाल मृत्यु से निर्दय काल ने जिस प्रकार उनकी आशालता निर्मूल की, उसी प्रकार इनके मामा सबसुखराम के सब मनोरथ इस संन्यास से नष्ट होगये !

हम पहले कह चुके हैं कि वे निस्सन्तान थे, अवस्था भी कुछ कम न थी, पचास वर्ष के पार होगये थे। उनकी समझ में, उनके कुल का प्रदीप, उनके बुढ़ापे का भरोसा और उनकी आशा का अवलम्ब—एकमात्र वंशीधर था। वंशीधर को वे बहुत काल से अपने मन में अपना चुके थे और इसी लिए उसको राजदरबार में अपने प्रतिष्ठित पद तक पहुँचा रहे थे। उनको यह क्या ख़बर थी कि वंशीधर से आशा करना व्यर्थ है ! वह उन्हें मँझधार में छोड़ चला जायगा।

प्रातःकाल जब घरवालों ने देखा कि वंशीधर की शय्या शून्य है, सब घबरा गये ! सबसुखराम ने पहले तो समझा कि कहीं इधर-उधर सो गया होगा, किन्तु जब उसके पहरने के वस्त्रों पर दृष्टि पड़ी जो वहीं खटिया पर रक्खे हुए थे, तब उनके दुःख की सीमा न रही ! समझा कि अवश्य कुछ दाल में काला है ! कहीं उसने कलह के दुःख से नदी, कूप में गिरकर प्राण तो नहीं खो दिये हैं ? किंवा लज्जा और रोष के कारण जन्मभूमि को त्याग कहीं चल तो नहीं दिया ?

सबसुखरामादि सब घर के लोग मुखमलीन मणिहीन सर्प की तरह साँस ले रहे थे और इनकी मामी वत्सहीन गौ की तरह व्याकुल हो रही थी। उन्होंने सोचा कि यदि वंशीधर को अन्यत्र जाना ही था, तो क्या इन वस्त्रों का बोझ लगता था, या इनके पहिरने में कुछ पाप था ? मरनेवाला भी वस्त्रों को निकाल कर नहीं मरता, फिर वस्त्रों को निकाल कर रखने का क्या कारण है—कुछ समझ में नहीं आता !

सबसुखराम ने वस्त्रों को उठाया, देखा कि पहिरने के सब कपड़े हैं ! धोती जोड़ा तक रक्खा हुआ है। तो क्या वह कहीं नंगा ही गया है ? नहीं, नहीं, वैसा लज्जालु युवा नग्न कभी नहीं हो सकता ! तो फिर क्या बात है ? इस तरह चिन्ता करते हुए जब वे वस्त्रों को देख-भाल रहे थे, तब उन्हें एक पत्र मिला जिसे सबसुखराम के नाम वंशीधर जाने के समय लिख गये थे। उसका आशय यह था—

F. 8

"मामा जी !

"जिस प्रकार इस घर में ख़ाली हाथ एक दिन आया था उसी प्रकार आज रिक्तहस्त जाता हूँ। आप मेरे लिए कुछ चिन्ता न करें। क्योंकि विश्वम्भर सबके रक्षक हैं! संसार में जैसे आये हैं वैसे ही सब लोगों को जाना होगा। आप मेरी खोज न करना, मैं उस मार्ग से जा रहा हूँ, जिसका बहुत घना विस्तार है और जहाँ गया हुआ फिर नहीं लौट सकता। आशा है कि आप मेरी यात्रा से अप्रसन्न न होंगे।"

पत्र को पाकर भी उनका सन्देह दूर नहीं हुआ। वही दुमानी बात उसमें भी थी। ममता के मारे मामा ने जहाँ तहाँ अपने आदमियों को दौड़ाया परन्तु कुछ भी फल नहीं निकला। सब दौड़ धूप व्यर्थ गई। दस पन्द्रह दिन के बाद एक प्रतिष्ठित मनुष्य ने कहा कि हमको वंशीधर मार्ग में मिले थे। पूछने पर उन्होंने कहा है कि "उत्तर देश में जाकर ब्राह्मणोचित कार्य्य करेंगे। ब्रह्मचारी होकर वेद-वेदाङ्ग पढ़ेंगे और संन्यासी होकर वेदान्त। संसार में फँसने से क्या लाभ?"

कहते हैं कि यह संवादवाहक स्वामी जी के सहचरों में से एक था, यह 'कुलकर्णी' जाति का ब्राह्मण दक्षिण देश में 'मानक प्रभु' के नाम से बहुत प्रसिद्धि पा चुका है और आज-कल इसके नाम से एक मत भी चल निकला है। जो हो। वंशीधर के मिलने का संवाद पाकर घरवालों को उनके पुनर्मिलन की आशा हुई और उनको निश्चय हुआ कि वंशीधर आनन्द से है, वेद पढ़ने के लिए गया है, कोई चिन्ता की बात नहीं। आदमी भेजकर बुला लेंगे अथवा स्वयं जाकर समझा देंगे।

स्वामी जी कल्याणी से चल कर पतितपावनी स्रोतस्वती पुण्य-सलिला गोदावरी के तट पर नासिक क्षेत्र में पहुँचे जहाँ संस्कृत के बड़े बड़े बुद्धिमान् विद्वान् विद्यमान थे। मार्ग में उन्हें अनेक प्रकार के कष्ट हुए तथापि वे घबराये नहीं। क्योंकि, "कार्य्यं वा साधयेयं, शरीरं वा पातयेयम्" यही एक उनका मूल मन्त्र था।

इस समय स्वामी जी १७ वर्ष के थे, पर उनके सुन्दर सुडौल और बलिष्ठ शरीर को देखकर लोग उन्हें पच्चीस वर्ष का जवान समझते थे। आजकल हैदराबाद के मनुष्य के लिए नासिक क्षेत्र कुछ दूर नहीं है। रेल के कारण वहाँ तक पहुँचना साधारण बात है। परन्तु आज

के समय से उस समय का बड़ा अन्तर है। रेल, तार कैसा, उस समय सीधी सड़क भी न थी। इसके सिवाय उस समय मारने काटने की धूम मची हुई थी। एक युद्ध का अन्त होने भी न पाता था कि झट दूसरा आरम्भ हो जाता था।

हम जिस समय की बात कह रहे हैं उस समय भारतवर्ष में ईसवी सन् १८३९ का दौरदौरा था। लार्ड आकलैण्ड भारतवर्ष के गवर्नर-जनरल थे। प्रतिदिन अँग्रेज़ी राज्य का विस्तार हो रहा था। यद्यपि वृद्ध बाजीराव पेशवा अपने विस्तृत राज्य से हाथ धो कर आठ लाख की पेंशन पर उस समय सन्तोष कर बिठूर में गङ्गासेवन कर रहे थे, हुल्कर सेंधिया भी अपनी उद्दण्डता को तिलाञ्जलि देकर अँग्रेज़ों के पदावनत हो चले थे, कुड़ग का अहङ्कारी राजा दक्षिण से निकाला जा कर बनारस में क़ैद हो रहा था, पिण्डारे भी लूट-मार को छोड़ अँग्रेज़ों की दी हुई जागीरों पर चले गये थे और हिन्दुओं की शास्त्रसिद्ध सह-मरण प्रथा 'बुरी रसम' की पदवी पाकर अँग्रेज़ों की कृपा से सत्यलोक में चली गई थी; तथापि दक्षिण में शान्ति नहीं थी। बुद्धिमान् और भाग्यवान् अँग्रेज़ दक्षिण को हस्तगत कर उसको निष्कण्टक कर भारतवर्ष के अन्यान्य प्रदेशों के लिए हाथ पसार रहे थे।

इसलिए सितारे के महाराष्ट्रराज को पुर्तगीज़ों से जोड़ तोड़ लगाने का सन्देह कर बनारस भेज दिया और उसके स्थान पर उसका भाई अँग्रेज़ों के हाथ की कठपुतली बन रहा था। इधर नागपुर के आपा साहब वीरव्रत पालन के लिए आपे से बाहर हो ब्रिटिश सरकार के कोपभाजन हो रहे थे। इस प्रकार दक्षिण में उखाड़-पछाड़ और छेड़-छाड़ बराबर चल रही थी।

उधर पञ्जाब में महावीर-प्रतापी सिक्खनरेश रणजीतसिंह ने अपना राज्य सिन्ध की सीमा से चीन की अमलदारी तक पहुँचा, ख़ैबर की घाटी से सतलज तक बिलकुल अपने अधीन कर लिया था और हमारी सरकार भी उसके प्रताप से सशङ्क हो और उसे अपना मित्र बना, उस समय के अफ़ग़ान-युद्ध में उनसे सहायता ले रही थी।

इस कारण उस समय स्वामी जी का एकाकी नासिक क्षेत्र तक चला जाना कोई साधारण बात न थी। जिसका आज तक कहीं अकेले

आने-जाने का बिलकुल काम नहीं पड़ा था वह पुरुष अपने दृढ़ व्रत के कारण नदी-नद पर्वतों को लाँघ कर निज सिद्धि के स्थान तक पहुँचा।

उस समय का नासिक-क्षेत्र भी कुछ विलक्षणता रखता था। वहाँ पण्डित स्वामी प्रभृति अनेक विद्वान् विद्या का दान कर रहे थे। सैकड़ों पण्डित और सहस्रों विद्यार्थी स्वाधीन हिन्दू-नरेशों से सहायता पाकर संस्कृत विद्या के अभ्यास में दत्तचित्त थे। नासिक में अग्निहोत्र के पवित्र धुएँ से जिस प्रकार आकाशमण्डल आच्छादित और सुगन्धित हो रहा था, उसी प्रकार उसकी वनस्थली ब्रह्मचारियों की वेदध्वनि से गूँजती थी और इसी लिए उस समय नासिक दक्षिण की काशी समझा जाता था।

हम लिख चुके हैं कि उस काल में वहाँ पण्डित स्वामी भी विराजमान थे। पण्डित स्वामी ही प्रसिद्ध यतिराज गौड़स्वामी हैं। इसी महापुरुष के विशुद्धानन्द और विश्वरूपानन्द प्रभृति अनेक विद्वान् संन्यासी शिष्य हुए थे। यहाँ यह भी कह देना उचित है कि इनका गुरुप्रदत्त नाम स्वामी तारकब्रह्मानन्द सरस्वती था परन्तु उस समय दक्षिण देश के संन्यासियों में इनके समान दूसरा पण्डित न था, इसी कारण आदर के लिए सब दक्षिण देश के विद्वान् इन्हें पण्डित स्वामी के नाम से पुकारते थे। स्वामी विशुद्धानन्द जी उस समय इनके पास न पढ़ कर एक गृहस्थ विद्वान् से विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य ग्रहण कर वेद पढ़ने लगे। जिस वेदविद्या के बिना अन्य शास्त्रों में विद्वान् होने पर भी ब्राह्मण हव्य-कव्य का अधिकारी नहीं हो सकता उसी विद्या में सर्वप्रथम स्वामी जी ने मन लगाया। तीन वर्ष तक नासिक में निवास कर 'संहिता' आदि को कण्ठ करने के अनन्तर व्याकरण में मन दिया। भगवान् जिन पर प्रसन्न हों उनके सम्पूर्ण कार्य्य सुशृङ्खला-सम्पन्न होते हैं। हमारे पाठक देखेंगे कि उस समय की सुन्दर पाठ्य-प्रणाली भी स्वामी विशुद्धानन्द के विद्वान् होने में एक मुख्य कारण है।

———

अष्टम परिच्छेद

[भवितव्यता के अनुसार बुद्धि—बुद्धि की अनुकूलता से स्वामी जी के विद्योपार्जन का श्रेष्ठ क्रम—संहिता आदि का कण्ठस्थ करना—वेदाङ्ग अध्ययन की उत्कण्ठा—दक्षिण में अर्थशास्त्र का अप्रचार—अवधूत दर्शन—नासिक क्षेत्र का परित्याग—मार्ग में रोग का होना—चोरों का पुस्तकापहरण—पटैल के स्थान में स्थिति]

प्रायः देखने में आता है कि जैसी भवितव्यता (होनहार) होती है तदनुकूल ही बुद्धि उपजती है। यदि स्वामी विशुद्धानन्द जी आरम्भ ही से 'वेदाङ्ग' वा दर्शनशास्त्र पढ़ने लगते तो चाहे अपनी शाणित प्रतिभा के कारण उसी समय पारङ्गत हो जाते, तथापि फिर संहिता को कण्ठस्थ करना कठिन होता और न स्वाध्याय की यथार्थ सिद्धि होती। वेद के बिना ब्रह्मतेज कहाँ से आता? वे भी आजकल के शुष्क वैयाकरण और नैयायिकों की तरह 'घटपट' के फेर में वा फक्किका क्रोड़पत्रों के जाल में फँस जन्म खो देते। पर नहीं, जगदीश्वर उन पर प्रसन्न थे। इसलिए अवस्था और समय के अनुकूल गुरु और शिक्षा की प्राप्ति भी होती रही। यदि ये स्थिरमति न होते तो इतनी शीघ्र सरस्वती की इन पर कृपा किस प्रकार हो सकती थी? और फिर थोड़े से वर्षों में किस प्रकार ये भारत-विख्यात विद्वान् हो सकते थे?

ब्रह्मचारी वंशीधर जी को सबसे पहिले अवधूत महात्मा के उपदेश से विद्याध्ययन में प्रवृत्ति हुई थी। विद्या के लिए वे विद्या का उपार्जन नहीं करने लगे थे, शान्ति के लिए उनका यत्न था। इसके द्वारा धनोपार्जन का विचार तो उन्होंने स्वप्न में भी नहीं किया था। क्योंकि, घटनाक्रम से धन और धनी पुरुषों पर वे घृणा करने लगे थे। पर संसार का भी क्या विचित्र नियम है। जो जिससे जितनी दूर भागना चाहता है, उतना ही वह उसके समीप पहुँचता है। स्वामी जी धनिकों से दूर भागे, पर अन्त तक वे उनके साथ रहे! इसी को कहते हैं—भोक्ता के भोग्य की प्रबलता!!

बाल्यावस्था वा अध्ययन के आरम्भ में पाठ का कण्ठ करना जितना सहज है उतना ही उसका अर्थ समझना कठिन है। यद्यपि एक दो पुरुष इस प्रकार के भी देखे गये हैं जो बुढ़ापे में भी बालकों की नाईं अद्वैत-सिद्धि आदि 'वेदान्त के ग्रन्थों का' हिल हिल कर घोखने में आनन्द मानते थे और कुछ बालक भी ऐसे विलक्षण देखने में आये हैं कि जिन्हें लड़कपन ही में व्याकरण को वेदान्त के समान मनन कर लेना कोई बड़ी बात ही न थी; तथापि प्रशस्त राजमार्ग यही है कि आरम्भ में कण्ठ करना और पीछे अर्थ समझना।

हमारे चरितनायक बालक न होने पर भी उसी बालोचित मार्ग पर चले, जिसमें किसी प्रकार की बाधा वा उत्साहभङ्ग होने की सम्भावना न थी और उनके उस समय के सुयोग्य अध्यापक ने उसी प्रणाली का सहर्ष अनुमोदन किया था।

स्वामी जी जब संहिता को कण्ठ कर चुके तब उसके सस्वर पाठ से न केवल अपरापर श्रोता प्रसन्न होते प्रत्युत उनकी आत्मा भी कृतकृत्य होती और वे इच्छा करते कि वह शुभ दिन कब देखने में आवेगा जिस दिन वेदाङ्ग की सहायता से मन्त्रार्थ का ज्ञान होगा।

इसी अवसर में वे अष्टाध्यायी और अमरकोश को भी कण्ठ कर चुके थे कि वे उनके भविष्य अध्ययन में काम आवें। इनकी बड़ी भारी अभिलाषा यह थी कि किसी बड़े भारी पण्डित से व्याकरणशास्त्र पढ़ना चाहिए। यद्यपि दक्षिण में वैयाकरण पण्डितों का अभाव नहीं था; तथापि दक्षिण की अपेक्षा व्याकरणादि अर्थशास्त्रों में उत्तर-देश सर्वदा उत्तम रहा है। विशेषत: उन दिनों बाजीराव पेशवा की दानशीलता के कारण दक्षिण की भी रही-सही विभूति उत्तर में चली आ रही थी। कुछ दाक्षिणात्य पण्डित काशी सेवन के लिए और कुछ अपने निर्वासित हतभाग्य नरपतियों के साथ दक्षिण की भोग्य भूमि को अन्धकार में छोड़ उत्तर की पवित्र भूमिका में जा रहे थे।

भाग्य का भी बड़ा फेर है। कभी यह दक्षिण को उत्तर से बढ़ाता है और कभी उससे इसको घटाता है एवं कभी दोनों को समानता पर स्थित कर देता है। कभी दक्षिण की कृपाण से समस्त भारतवर्ष काँपता था, दक्षिण की 'राजश्री' सबसे बढ़ी हुई थी, दक्षिण का ज्ञान भारत के

समस्त प्रान्तों को प्रकाशित करता था, परन्तु दैवदुर्विपाक से अब सब बातें विपरीत हो चली थीं।

महावीर शिवा जी की जन्मभूमि वह परिश्रमलब्ध स्वतन्त्रता और स्वाधीन सुख को 'जलाञ्जलि' दे रही थी और एक, एक आँखवाले वीर के भरोसे वेदप्रसिद्ध पञ्चनद देश की पुण्य भूमि, काबुल, कन्दहार स्थित म्लेच्छों के पाषाण हृदय पर लोह लेखनी से अपना अन्तिम विजय-पत्र लिख रही थी। दक्षिण के वीर जिनसे सब अभयदान की प्रार्थना किया करते, अब समय के फेर से विदेशियों से प्राण-भिक्षा माँग रहे थे और हमारे प्रतापी अँग्रेज बहादुर, सिक्खों की सहायता से दुराचारी अकबर ख़ाँ के अत्याचार का स्मरण कर काबुल में अफ़गानों का दर्प दलन कर रहे थे।

सन् १८४२ में जब उत्तर दिशा की ओर सबका लक्ष्य हो रहा था तब हमारे स्वामी विशुद्धानन्द का भी इधर ध्यान हुआ। अपने सहपाठियों से कहा कि "आजकल पढ़नेवालों के लिए जैसा उत्तर में सुभीता है, वैसा अन्यत्र नहीं। जिस प्रकार इस देश से थोड़े ही दिनों में उधर के वाणिज्य-व्यवसायी बहुत-सा धन सञ्चय कर ले जाते हैं, उसी प्रकार इधर के विद्यार्थी वहाँ जाकर अल्पकाल ही में बड़े बड़े विद्वान् होकर चले आते हैं। जो सचमुच विद्यार्थी हो उसे हमारे साथ चलना चाहिए।"

स्वामी जी के बहुत कहने सुनने और कई प्रकार के लालच देने पर भी कोई इनके साथ चलने पर राज़ी न हुआ वरञ्च बहुतों ने इन्हें भी मना किया और कहा कि कहाँ नासिक और कहाँ काशी? बड़ा भयङ्कर मार्ग है। ठग और डकैतों के हाथ से बचना बहुत ही कठिन है। यात्रियों के बड़े बड़े समूहों तक का पता नहीं चलता कि वे किस जगह किस प्रकार मारे गये तुम्हारी तो बात क्या है? यद्यपि उत्तर में इन्होंने बहुत कुछ उन्हें धैर्य्य दिया और यात्रियों के लुटने तथा मारे जाने का कारण धन का बताया, जिसका उनके पास नितान्त ही अभाव था; तथापि इनका कहना सुनना अरण्यरोदन के समान सब निष्फल गया! डरपोंक विद्यार्थियों ने स्पष्ट कह दिया कि 'तुम जहाँ चाहो जाओ पर हमें अपने प्राणों और बन्धुजनों का मोह है क्षमा करो।' एक दिन एक जगह बैठे हुए

इसी विषय का विचार कर व्याकुल हो रहे थे कि क्या करें? यहाँ से जायें कि न जायें ? अकस्मात् एक ऐसा शब्द सुन पड़ा जिससे इनकी सब चिन्ता दूर हो गई। नेत्रों में जल भर गया, हृदय प्रेम से उछल उठा और ये अपने आपको बिलकुल भूल गये! यह शब्द और कुछ न था, वही पूर्वपरिचित "हर हर शङ्कर महादेव" था।

स्वामी जी के भक्तिपूर्ण हृदय ने स्वर ही से जान लिया था कि यह उसी परमहंस का मधुर स्वर है, पर जब ये परमहंस जी के पास गये और उन्होंने देखते ही इन्हें पहिचान लिया तब फिर किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहा और ये बहुत ही प्रसन्न हुए, अपने को बड़ा बड़भागी समझा। परमहंस जी को जब यह ज्ञात हुआ कि किसी दूसरे विद्यार्थी के साथ की प्रतीक्षा की जा रही है तब बहुत ही हँसे और बोले कि "वत्स! अकेले आये और अकेले जावोगे। फिर साथ किसका होना है? जो कुछ करना हो करो, अब यहाँ ठहरना उचित नहीं.. ....।"

परमहंस स्वामी जिस प्रकार "हर हर महादेव!" कहते हुए आये थे, उसी प्रकार चले गये। पहिली बार जब इनका दर्शन स्वामी विशुद्धानन्द जी को हुआ था तब ये कुछ विशेष बातें करने न पाये थे। परमहंस जी कौन हैं? किस सम्प्रदाय के हैं? क्या नाम है? और कहाँ रहते हैं? इत्यादि बातें जानने की इस बार बड़ी लालसा थी। किन्तु जब तक वे इनके पास रहे, तब तक तो इन बातों का स्मरण नहीं हुआ और जब स्मरण हुआ तब परमहंस जी रहे नहीं !

यहाँ के पढ़ने से इनका जी पहिले ही उचट गया था, परमहंस जी के मिलने पीछे और भी उद्वेग बढ़ा। नासिक से कुछ यात्री औरङ्गाबाद को जाते थे आप भी उन्हीं के साथ हो लिये। कई मंज़िल तय करने के पीछे मार्ग में उनको सन्देह हुआ कि कहीं यह कोई ठगों का भेदिया तो नहीं है? अपने इसी सन्देह पर आरूढ़ हो उन्होंने इनको साथ चलने से मना किया और धमकाया कि यदि ज़रा भी ननु नच किया तो ऐसी बुरी गत की जायगी जो बहुत दिनों तक याद रहेगी!

सन्देहाकुल यात्रियों ने जब निर्दोष स्वामी को इस प्रकार अलग कर दिया तब ये 'रौज़ा' नामक बस्ती से जो दौलताबाद से छः मील इल्लरू वा इलोरा के मार्ग में ४५० फ़ुट ऊँचे उसी पहाड़ के घाटे पर है, जिसमें इलोरा के

जगत्प्रसिद्ध मन्दिर पहाड़ काट कर बनाये गये हैं और जिनकी कारीगरी देखने दूर दूर से यात्री आया करते हैं अकेले ही अपने सुदीर्घ पथ के पथिक हुए।

जब ये इलोरा से दौलताबाद की ओर इस कारण शीघ्रता से जा रहे थे कि एक ही दिन में औरङ्गाबाद पहुंच कर वहां से आगे चले जायंगे तब मार्ग में ज्वर आ गया और पैर उठाना कठिन होगया, तिस पर दस्तों ने इन्हें और भी व्याकुल कर दिया। कहां तो ये उसी दिन औरङ्गाबाद पहुंचा चाहते थे और कहां ये दौलताबाद भी न पहुचने पाये मार्ग ही में लटकते रह गये! एक टूटे हुए पुराने खंडहर में जो किसी बौद्ध मन्दिर का भग्नावशेष था, विश्राम किया और तीन दिन तक बराबर उसी निर्जन स्थान में अचेत पड़े रहे। जब इनको कुछ चेत होता, धीरे धीरे पानी के नाले तक पहुंचते और पात्र में जल लेकर उसी खंडहर में आ पड़ते। दुःख और क्लेश का कुछ ठिकाना न था। प्यास तो इस प्रकार बुझ जाती थी पर क्षुधा निवृत्ति का कोई उपाय न था।

एक दिन सायंकाल के समय दो हिन्दू पथिक इनके पास आये, जो स्वभाव के सीधे और डरपोक जान पड़ते थे। उन्होंने यहां रसोई बनाने का विचार प्रकट किया जो इन्हें बहुत ही भला मालूम हुआ। दोनो ने वहां रसोई बनाई और खाई; कुछ बनी बनाई मिठाई इन्हें भी दी, जिसे उत्कट भूख के कारण इन्होंने उसी समय बिना किसी प्रकार के सोच विचार के खा लिया। उस समय यह क्या जानते थे कि इस भोजन में विष मिला हुआ है और भलेमानस दोनों यात्री पूरे ठग हैं, जो इन्हें मालदार समझ रहे हैं। क्योंकि इनके पास कोई धन तो था ही नहीं जो इतना सोच विचार करते। पढ़ने की पुस्तक, ओढ़ने पहिरने के वस्त्र तथा दो एक पात्रों को छोड़ और रुपया पैसा कुछ पास न था, इस सामान्य सामग्री के लिये भी कोई इनके प्राणों का ग्राहक हो सकता है, यह इन्होंने एक बार भी न विचारा! और इधर दोनों ठग यह विचारते थे कि आज कल कितने ही बड़े बड़े

रईस इस विचार से कि कहीं मार्ग में ठगों के हाथ न जा पड़ें, ब्रह्मचारी और सन्यासियों के रूप में अपने आदमियों को भेजा करते हैं जिसका तात्पर्य्य यह है कि हम लोग उन्हें निर्धन समझ कर अपने फन्दे में न फसाने पावें यह ब्रह्मचारी भी कोई उन्हीं में से एक है और इसकी पुस्तक तथा वस्त्रों में अवश्य कुछ न कुछ छिपा हुआ माल है जो अब हमारे हाथ लगेगा।

विष ने स्वामी जी के ऊपर अपना शीघ्र ही अधिकार कर लिया, श्वांस खिंच कर आने लगा, कण्ठ शुष्क होगया और नेत्रों ने उन पापियों के कार्य्य को देखना न चाहा, मानो इसीलिये वे भी बन्द हो रहे। इतने हा पर उनकी तृप्ति न हुई। एक रस्सी से इनके हाथ पैर जकड़, मुंह में कपड़ा ठूंस और पुस्तक वस्त्रादि को उठा जिनमें ये मूर्ख जवाहर छिपे हुए समझते थे, लेकर चल दिये। निस्सन्देह, स्वामी जी के पुस्तकों में धन छिपा हुआ था पर वह ऐसा धन न था, जिसको कोई ठग वा चोर ग्रहण कर सके। यह वह विचित्र धन था जिसकी ताली सर्वदा उसके स्वामी के पास रहा करती है। विद्या धन ऐसा नहीं हैं जिसे कोई अनधिकारी योंहीं ग्रहण करले। ठग अपने विचार में स्वामी जो को मार कर चले गये परन्तु क्या महिमा है उस परमात्मा की कि जब इनको चेत हुआ, तो अपने को एक सुहावने स्थान में कोमल शय्या पर पड़े हुए पाया!

विशुद्धानन्दजी ने नेत्र खोले सही, परन्तु फिर उसी क्षण बन्द कर लिये। सोचा कि 'यह सब सुख स्वप्न है, जब तक रहे तभी तक अच्छा है। न अब ज्वर की यन्त्रणा है न किसी प्रकार की उदर व्याधि ही प्रतीत हो रही है।' परन्तु जब किसी के बोलने का शब्द इनको सुनाई दिया तब ये विषम सन्देह में जा पड़े। आँखें खोल कर देखा, तो अपने पास दो पुरुषों को बैठे हुए पाया जो इनके दुःख की चिन्ता कर रहे थे। इनमें से एक युवा था और एक वृद्ध। युवा का सैनिकों जैसा वेश था और वृद्ध का पण्डितों का सा। दोनों को कई बार देखा परन्तु ये कुछ स्थिर न कर सके कि वे अपरिचित कौन हैं।

पूर्व दिन की घटना स्मरण करने पर ये घबरा उठे। दोनों ठगों का सब कृत्य आंखों देख चुके थे। यद्यपि उस समय इन्होंने कुछ कहा न था क्योंकि बोलने की शक्ति न थी तथापि चुपके चुपके उनकी बातें सुनी थीं और अन्य प्रकार की चेष्टा से पहिचान चुके थे कि ये ठग हैं। अब तक उसका स्मरण हो रहा था इसलिये मन ही मन कह रहे थे कि "क्या ठग ही यहां ले आये हैं ? नहीं इनकी दया-पूर्ण दृष्टि ही कह रही है कि ये कोई अच्छे लोग हैं। फिर कौन हैं ? कहीं हमारे मामा सबसुखराम की तो यह कृपा नहीं है ? परन्तु उनको मेरा पता कैसे लगा ? वे यहां कहां ? उनके सिवाय संसार में और कौन है जो हमें इस प्रकार प्यार करे ? और संकट के समय काम आवे ? तो क्या मैं फिर संसार के चक्र में पड़ गया" ? इसी प्रकार स्वामी विशुद्धानन्द जी देर तक कल्पना करते रहे पर कुछ निश्चय न कर सके।

कई बार नेत्र खोले और बन्द किये फिर अन्त में साहस करके उन पास बैठे हुए पुरुषों से पूछा कि "मैं कहां हूं" ? यहां मुझे कौन लाया है और आप लोग कौन हैं ?

युवा ने बड़े प्यार और आनन्द से कहा कि—

"आप दौलताबाद में हैं और यह हमारा मकान है। मैं यहां का पटैल हूं और (वृद्ध की ओर लक्ष्य कर) ये हमारे वैद्य हैं। आज तीन दिन हुए कि इलौरा के मार्ग में एक डाका पड़ा। आधीरात का समय था। डकैत मुसाफिरों का माल असबाब लूट कर इधर उधर छिप गये। इस खबर के पहुंचने के साथ ही यहां के हाकिम ने मुझे कुछ सवारों के साथ उसी समय उनके पकड़ने को भेजा। अक्सर डकैत लोग छापा मार कर खंडहरों में छिप जाया करते हैं, इसी खयाल से हम वहां पहुंचे जहां आप पड़े हुए थे। देखा कि दो आदमी हाथों में कुछ लिये हुए उस खंडहर से निकल कर भाग रहे हैं, उनको पुकार कर हमने कहा कि अगर अपनी भलाई चाहते हो तो ठहर जाओ मगर उन्होंने हमारे कहने की कुछ भी परवाह न की, लाचार

इधर से गोली चली और उन दोनों का काम तमाम हुआ। मरते समय एक ठग ने हमसे कहा कि "इस खंडहर में एक ब्रह्मचारी पड़ा हुआ है उसे बचाओ हमने उसे जहर दिया है" आगे वह कुछ और भी कहा चाहता था पर कह न सका उसी समय उसका प्राण पखेरू उड़ गया। जल्दी से हम लोग खंडहर में आए और आपको तड़पते हुए देखा। हमें यह आशा न थी कि आप बच जायंगे क्योंकि मरने के समय जो चिह्न आदमी के हो जाया करते हैं वे सब उस समय आपके भी थे, तो भी परमात्मा पर भरोसा कर हम आपको यहाँ ले आये और इन्हीं वैद्य जी से इलाज करवाया। उस समय इनको भी आपके बचने की कोई उम्मीद न थी पर तो भी ये दवा करने में न चूके। कई बार वमन और दस्त करवाने के बाद आपने ऐसी औषध दी कि जिससे सब तरह के जहर का असर दूर हो जाता है। परमात्मा की दया से तीन दिन के बाद आज हम लोगों को पूरा निश्चय हुआ है कि हमारी मेहनत यों ही नहीं गई। उसने एक ब्रह्मचारी ब्राह्मण की प्राणरक्षा की है। इससे बढ़ कर हमारे लिये और आनन्द की क्या बात हो सकती है। आपकी पुस्तकें और वस्त्र सब रक्खे हुए हैं। अब आप इस घर को अपना घर समझें और किसी प्रकार की चिन्ता न करें।"

नवम परिच्छेद

[भगवान की माया—पटैल का परिचय—परस्पर स्नेह की वृद्धि—दौलताबाद वा देवगढ़—देवगढ़ का दुर्ग—कथा प्रसङ्ग—भरत का उपाख्यान अपनी अवस्था का ध्यान—गंगाधर का स्नेह—ओङ्कारनाथ—दरिद्र ब्राह्मण—पटैल का पत्र—और अशर्फियों का दान।]

परमेश्वर की माया कैसी अपरम्पार और अद्भुत है जिसके तत्व का किसी को भी कुछ ज्ञान नहीं। हम लोग जब चर्म्म चक्षु ही से संसार की ओर देखते हैं तो उस परम पुरुष की महामाया की कैसी

विलक्षण महिमा देख पड़ती है। कभी सर्व प्रकार से सुरक्षित पुरुष भी काल के गाल में चला जाता है, कभी निस्सहाय साधारण पुरुष भी मृत्यु मुख से निकल आता है और कभी चिन्तित एवं पीड़ित मनुष्य की चिन्ता और पीड़ा भी आपसे आप दूर भाग जाती है।

देखिये अभी थोड़े समय पहिले जिन स्वामी विशुद्धानन्द को हम घोर सङ्कट में देखते थे उन्हें क्षण मात्र में कैसे आनन्द में पाया। पटैल की विनय प्रेम भरी बातों का स्वामीजी के चित्त पर जैसा अच्छा असर हुआ उससे अधिक जगदीश्वर की दया का प्रभाव पड़ा, जिससे कि इनका इस अवसर पर दुःख समुद्र से उद्धार हुआ। स्वामीजी ने निज जीवन रक्षक पटैल का बहुत ही सम्मान किया और वैद्य के प्रति भी कृतज्ञता प्रकाश की।

पटैल जाति का क्षत्रिय और उसका नाम गङ्गाधर था। इस स्वधर्म्मनिष्ठ पुरुष को गो ब्राह्मण की सेवा और रक्षा करने का बड़ा चाव था। स्वामी जी को उस दिन मृत्यु पाश में फँसे देख कर यह बहुत ही दुखित हुआ था और इसके यत्न और सेवा सुश्रुषा से इनका कष्ट निवृत्त हो गया तो इसके आनन्द की कुछ सीमा न थी। अभी इसकी उमर तीस वर्ष से अधिक न होगी तथापि स्त्री के मरने पर दूसरी बार दारपरिग्रह नहीं किया। पहली स्त्री से दो सन्तानें थीं, एक पुत्र और एक कन्या। अपनी वृद्धा जननी सहित यह निज सन्तान का बड़े प्यार से पालन करता था। दूसरी स्त्री के आने पीछे कहीं इन्हें कष्ट न हो जाय, यही विचार इस सन्तान वत्सल पिता के दूसरे विवाह का प्रतिबन्धक था।

गंगाधर यहाँ के क़िलेदार की मातहती में रहते थे जो दौलताबाद वा देवगढ़ के हाकिम भी कहलाते थे। सौभाग्य से क़िलेदार मुसलमानों के उस सम्प्रदाय में थे, जो वेदान्त के अद्वैत को मानता है और इसी कारण उनमें साम्प्रदायिक विद्वेष का अभाव होता है नहीं तो गंगाधर जैसे स्वधर्म्म प्रेमी पुरुष का एक मुसलमान के नीचे कार्य्य करना जरा कठिन था।

कुछ दिनों में जब स्वामी विशुद्धानन्द जी को आराम हो गया और शरीर की निर्बलता दूर होने लगी तब वे अपनी पठित पुस्तकों का अभ्यास करने और साथ ही अपने जीवनरक्षक आश्रयदाता दयालु गंगाधर राव के पुत्र कन्या को पढ़ाने लगे। कभी कभी गंगाधर के साथ ये देवगढ़ के प्रसिद्ध दुर्ग में भी जाया करते। इनके वाक्यालाप से किलेदार बहुत ही सन्तुष्ट होते और अनेक प्रकार के साधु सज्जनों का प्रसंग सुनते। सायंकाल के समय अपने घर पर गंगाधर और इनकी माता 'भक्तमाल' की कथा सुना करते और किसी किसी समय ये वैद्य जी के पास जिन्होंने इनकी चिकित्सा बड़ी उत्तमता से की थी, जाया करते और कभी वे भी इनके पास आ बैठते। निदान इन सब के साथ थोड़े ही दिनों में ऐसा प्रेम हो गया कि मानो एक परिवार के सब लोग हैं।

इस दौलताबाद के क़िले को देख कर स्वामी जी काल की महामहिमा का विचार किया करते। यही दौलताबाद प्रथम देवगढ़ के नाम से प्रसिद्ध था, पहाड़ की चोटी पर जहाँ अब नव्वाब का निशान खड़ा है, किसी समय क्षत्रियों की वैजयन्ती उड़ रही थी और अजां की जगह शंख की ध्वनि सुन पड़ती थी। चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में मुहम्मद तुगलक शाह दिल्ली उजाड़ कर वहाँ वालों को देवगढ़ में बसाने के लिये लाया था अन्त में उसे निराश हो दिल्ली ही लौटना पड़ा था। हा ! आज वे सब कहाँ हैं ? अभागे देवगढ़ ने निज नाम भी खोया और वस्तुतः 'दौलताबाद' भी न हुआ।

देवगढ़ के इस दुर्ग को देख यह सन्देह होता है कि यह मनुष्यों का बनाया हुआ है कि देवनिर्म्मित। ऐसा सुन्दर और दुर्गम दुर्ग मनुष्य तो बना नहीं सकते क्योंकि, इसके समान कोई दूसरा दुर्ग भारतवर्ष में दृष्टिगोचर नहीं होता ! और देवनिर्मित वस्तु इस प्रकार दुर्दशा में क्यों पड़ने लगी ? जो हो "यह किला महादेव की पिंडी की तरह एक खड़े पहाड़ पर बना है, प्रायः ५०० फुट वहां से ऊँचा और चारों तरफ से बेलाग है, इस पहाड़ का अधोभाग प्रायः एक

तिहाई तक छील छील कर दीवार की तरह सीधा कर दिया है, चढ़ने की राह उस पर किसी तरफ़ भी नहीं, पहाड़ के गिर्द खाई है, और फिर खाई के गिर्द तेहरी दीवार, इन तीनों दीवारों के बाहर शहर बसता है और शहर के बाहर फिर शहर पनाह है। किले के अन्दर जाने के लिये सुरंग की तरह पहाड़ के अन्दर ही अन्दर पत्थर काट कर सीढ़ियां बनाई हैं, जैसे किसी मीनार पर चढ़ते हैं उसी तरह इसमें भी मशाल बाल कर जाना होता है, पहिले तो वह रास्ता ऐसा तंग है कि आदमी को झुक कर दुहरा हो जाना पड़ता है, पर फिर तीन गज चौड़ा और तीन गज ऊँचा है, बीच बीच में एक आदमी के जाने लायक जीने काट कर पानी लाने के लिये खाई तक रास्ते बना दिये हैं, जखीरे रखने के वास्ते बड़े बड़े तहखाने बने हैं और फिर जहां वह रास्ता पूरा हुआ वहां उसके मुंह पर एक बड़ा भारी लोहे का तवा रक्खा है, कि शत्रु इस रास्ते में भी आ घुसे तो उस तवे को उसके मुंह पर डाल कर आग फूंक दें, जिसमें मारे गर्मी के वह उसी रास्ते में जल कर भस्म हो जावे। क़िले के अन्दर एक मीनार १६० फुट ऊँची है, पहाड़ की चोटी पर एक पीतल की तोप १८ फुट लंबी बारह सेर के गोले वाली रक्खी है, किले के अन्दर कई एक पानी के कुण्ड हैं, मालूम नहीं कि यह किला किस ज़माने में और किसने बनाया, पर जब पहाड़ छीलने और सुरंग काटने की मेहनत पर खयाल करते हैं, तो अक्ल भी हैरान हो जाती है, लड़ कर इस किले को फतह करना कठिन है, केवल किले वालों की रसद बन्द करने से हाथ आ सकता है"।

दौलताबाद में स्वामीजी को रहते पूरे दो महीने हो गये। चाहे जीवनरक्षा के प्रतिकार स्वरूप में हो, चाहे आश्रयदाता के प्रति कृतज्ञता दिखलाने के लिये हो, अथवा मनुष्य स्वभाव सुलभ परस्पर की प्रेमपरायणता के कारण ही हो, पर स्वामी विशुद्धानन्द यहां आन कर मोह जाल में फँस गये, इसमें सन्देह नहीं। यह सच है कि ये आरोग्य होने पर मधुकरी वृत्ति से शरीर यात्रा करते थे और

यह भी सच है कि ये अपनी पढ़ी हुई विद्या और ब्रह्मचर्य्य के सीखे हुए नियमों को भूले नहीं थे, तथापि कार्य्यतत्परता में शिथिलता आगई थो। एक दिन आप सायंकाल को कथा सुना रहे थे, दिन भर का थका हुआ गंगाधर अपनी माता और संतान के साथ कथा प्रसंग से चित्त की थकान दूर करता था, राजर्षि भरत का उपाख्यान आ रहा था। चक्रवर्ती महाराज भरत, जिनके नाम से यह देश भारत कहा जाता है, अपने भरे पूरे राज्य को छोड़ और पुत्रकलत्र से मुंह मोड़, दयावश एक मृगी के बच्चे को पाल कर जिस प्रकार तपोभ्रष्ट हुए थे, यह सब इस उपाख्यान का विषय था जिसे स्वामोजी प्रीतिपूर्वक सुना रहे थे, सहसा इस कथा ने इनके हृदय पर आघात किया जिससे इनकी मोहनिद्रा टूट गई।

उस समय इनको विदित हुआ कि जो दशा भरत की हुई थी वही दशा अब तुम्हारी हो रही है। भरत, राज्य और पुत्रादि को छोड़ कर मृग शावक के स्नेह में फँसे थे और तुम अपने जनकोपम् मामा मामी के कुटुम्ब को त्याग अब नया कुटुम्ब बना रहे हो। अहो! भगवान की माया भी क्या विचित्र है? जिन धनिक और गृहस्थों के स्नेह का फल एक बार पा चुका, अब फिर उसी फल की तृष्णा हो रहा है? यदि गृहस्थों ही में रहना था तो वहाँ क्या दुःख था?"

कथा के अन्त में और दिनों गंगाधर से इनकी खूब बातें हुआ करतीं, इस दिन इनको चुप देख कर उन्होंने इसका कारण पूछा। अब तक ये अपना भेद छिपाए हुए थे इसलिये कि कहीं हमारे मामा का कोई सम्बधी वा बन्धु मिल जायगा तो वह हमें आगे नहीं जाने देगा, यहीं रोक लेगा, पर अब सब बातें स्पष्ट रूप से गंगाधर के सामने प्रकाश कर दीं। माता पिता का मरना, मामा मामी का प्रेम, नव्वाबजादों की मित्रता, घोड़े का मरना, नव्वाब की ताड़ना, भट्ट जी का वियोग, और परमहंस जी का समागम इत्यादि सब बातें कह सुनाईं।

धर्मात्मा गंगाधर इनको गमनोद्यत देख कर दुखित हुए सही पर इनके सङ्कल्प में वाधा न दी, वरञ्च यात्रा का सामान जो उपयोगी

समझा सो उपस्थित कर दिया। बहुत चाहा कि किसी प्रकार का अपने पास द्रव्य रख लेवें परन्तु इन्होंने 'ना' के अतिरिक्त और कुछ कहा ही नहीं। पहिले से जो वस्तु संग्रह कर ली थी, अब उन्हें भी यहीं छोड़ दिया। पुस्तकों के सिवा अन्य कुछ भी साथ न लिया। बहुत कह सुन कर गंगाधर ने एक शीत निवारण के लिये गुदड़ी दी और चढ़ने के लिये एक टट्टू। गुदड़ी के बिना सरदी जाना कठिन था और टट्टू के बिना इतनी दूर पहुँचना दुस्साध्य था। कुछ ऐसी विशेष यह सम्पत्ति भी न थी, जिसको साथ लेने में किसी प्रकार को हानि समझते। चलते समय गंगाधर दूर तक साथ पहुँचाने आये और हाथ में एक बन्द पत्र देकर कहा कि इसमें कुछ आवश्यक बातें लिख दी हैं, जहाँ आपको किसी वस्तु की आवश्यकता पड़े, इसे खोल कर पढ़ना, यह आपकी अभिलाषा पूर्ण करेगा। स्वामी जी ने इस पत्र को भी सिफारसी चिट्ठी वा हुँडी समझ कर बिना आपत्ति के ग्रहण कर लिया, उन्हें यह क्या खबर थी कि इसमें भी किसी प्रकार का रहस्य है और न यह सिफारसी पत्र है और न किसी प्रकार की हुँडी, वरञ्च यह द्रव्य की ताली है जिसे गंगाधर ने इनकी गुदड़ी में छिपा कर ठगों के उस विचार को यथार्थ कर रक्खा है जिसके कारण ये मृत्यु के मुख तक जा आये और उन दोनों के प्राण व्यर्थ गये। स्वामी जी अपने स्नेही गंगाधर के अनुरोध का इस तरह प्रतिवाद भी न कर सके। आज विशुद्धानन्द के वियोग से गंगाधर के घर में सन्नाटा छा रहा है, न वह कथा की धूमधाम है न बालकों के पढ़ने की। बुढ़िया और बालक रोकर चुप हो गये और गंगाधर विचार कर। इधर इनको जितना देवगढ़ का छोड़ना प्रतीत हुआ उतना कल्याणी का नहीं। वहाँ नवाबजादों का तिरस्कार और भट्ट जी की मृत्यु, कई निर्वेद के कारण उपस्थित थे और यहाँ उसके प्रतिकूल सत्कार और स्नेहियों के समागम का ठाठ था।

देवगढ़ वा दौलताबाद से अब ओङ्कारनाथ पहुँचे। ओङ्कारनाथ, भगवान् महेश्वर के द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में से एक है। यह स्थान पुण्य

सलिला नर्मदा के दक्षिण तट पर परमरम्य और बड़ा सुहावना है। राज्य यहां हुलकर का है। उन दिनों यहां इधर उधर से बहुत से सन्यासी और ब्राह्मण आए हुए थे जो सदाशिव के आराधन में तत्पर हो रहे थे। एक दरिद्र कान्यकुब्ज ब्राह्मण, जो उमर में अस्सी वर्ष से कम न होगा बड़े ऊँचे और मधुर स्वर से "दारिद्र्य दुःखदहनाय नमः शिवाय" इस स्तोत्र का मन्दिर के सामने नित्य पाठ करता हुआ मिलता। पाठ करते करते ब्राह्मण का कण्ठ रुक जाता और नेत्र आँसुओं से डबडबा उठते। पूछने पर इन्हें मालूम हुआ कि उस पुत्रहीन वृद्ध ब्राह्मण के चार पुत्री अविवाहिता हैं। मदान्ध धनी पुरुषों की अपेक्षा और अपने कान्यकुब्ज भाइयों को उस विवाह प्रथा से जिसमें कन्यादान करने में बहुत से द्रव्य की आवश्यकता पड़ती है दुःखित हो महेश्वर के दरबार में अपने दुःखों की पुकार करता है।

स्वामी विशुद्धानन्द ने सोचा कि क्या इस बूढ़े ब्राह्मण के इस प्रकार रोने का कुछ फल न होगा? अवश्य होगा। क्योंकि, सारा संसार बधिर हो किन्तु महेश्वर बधिर नहीं हैं अवश्य वे ब्राह्मण की पुकार सुनेंगे। साथ ही इनको गंगाधरराव का पत्र याद आया और विचारा यदि उसके द्वारा कुछ सिद्ध हो सके तो इस ब्रह्मण का उपकार करना चाहिये, पत्र खोल कर देखा उसमें यह लिखा पाया,—

महाशय!

श्रीमान् के समागम से जो हमें आनन्द और खुशी हुई थी, उसका कहना वा लिखकर दिखाना सहज नहीं है। थोड़े ही दिनों में हमारी जैसी भक्ति और प्रेम आप में हुआ ऐसा इससे पहिले किसी में भी न हुआ था और न अब आगे उसकी सम्भावना ही है। आप जाते हैं विद्या पढ़ने और सन्यास लेने के लिये, अच्छा, जाइये आपके मार्ग में कांटे बोना और इस सत्कार्य्य में विघ्न करना किसी हिन्दू का कार्य्य नहीं है। किन्तु हमारा हृदय इस बात को कैसे स्वीकार करे, कि आप जैसा सत्पात्र ब्राह्मण हमारे पास से

खाली हाथ यात्रा करे ? आप द्रव्य ग्रहण नहीं करते और विना द्रव्य के जगत् में काम चलना कठिन है, बात बात में उसकी जरूरत पड़ती है, इसलिये आपकी आज्ञा के विना थोड़ी सी अशर्फियां मैंने इस तरह इस गुदड़ी में छिपा दी हैं कि जिनका सहज में किसी को पता ही न लगे। जहां जहां मोटा टांका लगा हुआ है, और आप उसे फटा पुराना कपड़ा समझते हैं वहां सब जगह अशर्फियां हैं। आशा है कि ये आपके किसी समय काम आवेंगी।"

"यदि हमारे स्मरण से आप के पठन पाठन में विघ्न न हो तो कभी कभी इस दास को भी याद कर लेना।"

चरण सेवक—

गंगाधर राव।

इसे पढ़ कर स्वामी विशुद्धानन्द बड़े हीं प्रसन्न हुए। गूदड़ी को फाड़ कर देखा तो अशर्फियों का ढेर हो गया। अब इस बात का तत्व निकला कि गूदड़ी में इतना बोझ क्यों था। जिसे वे मामूली खाली टट्टू पर बिछाने वाली चीज समझ कर योंही निरादर से फेंक देते थे, उसमें एक ब्राह्मण के 'दारिद्र्यदहन' की शक्ति भरी थी। सब अशर्फियां चुपके से ब्राह्मण को सौंप दीं, प्रथम उस महात्मा ने चोरी का माल समझ अस्वीकार किया, किन्तु अन्त में इनके आग्रह करने पर इसे महेश्वर की कृपा का फल समझ सादर स्वीकार किया।

दशम परिच्छेद।

[ओङ्कारनाथ से उज्जैन—महाकालेश्वर—जप—एक मारवाड़ी—गवालियर—वहां की दशा—तारा बाई—दादा खासगीवाल और वापूसितौलिया में युद्ध—कैद—मुक्ति—पण्डितजी—सर्कारी फौज के बन्दी—युद्ध—सेंधिया से सन्धि—बन्दियों की मुक्ति—बिठूर यात्रा]

ओङ्कारनाथ जी से उज्जैन आये। यहां किसी से सुना कि "महाकालेश्वर के मन्दिर में शिव पञ्चाक्षर मन्त्र का जप करने से

सब प्रकार की कामना पूरी होती हैं।" विद्या की लगन लगी हुई थी। इसलिये स्वामी जी ने यहां विधिपूर्वक जप किया और भक्ति भाव से भगवान् महाकालेश्वर की आराधना कर विद्या का वरदान चाहा।

महादेव जी के द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में उज्जैन के महाकालेश्वर भी हैं। जिस प्रकार विश्वनाथ जी के दर्शन के लिये काशी जी में दूर दूर से यात्री आते हैं, उस प्रकार वहां भी देश देशान्तर से आये हुए दर्शनार्थियों का समागम रहता है। विशेषत: उस समय किसी पर्व के कारण और भी अधिक भीड़ थी। इनकी इच्छा तो यह थी कि रात दिन मन्दिर में महाकालेश्वर जी के समीप ही रहें, पर भीड़भाड़ के कारण वहां अधिक देर नहीं रह सकते थे। द्रव्य जो पास था वह सब दान करही चुके थे, पुस्तकों के अतिरिक्त अब और कुछ पास ही न था। क्षेत्र में भोजन करना इनकी जाति प्रथा और इनके विचार से विपरीत था। सुतरां, भिक्षावृत्ति के सिवा अब अन्य जीवन का उपाय ही न था, पर उज्जैन में भिक्षा मांगना भी इन्हें स्वीकार न हुआ, उसे यह अपनी पूजा पाठ का विघ्न समझने लगे।

उज्जैन के एक मारवाड़ी का यह नियम था कि वह प्रतिदिन भुने हुए चने घाट बाट में सर्वत्र दीन जनों को बाँटा करता था। स्वामी जी जहां ठहरे थे वहां वह नित्य आता और नियमानुसार दो मुट्ठी चने दे जाता, वही इनका आधार था। उससे आपको कुछ भी कष्ट नहीं था। जब तक वहां रहे तब तक दो मुट्ठी चनों ही में आनन्द माना।

उज्जैन से इन्दौर होते हुए सेन्धिया की राजधानी गवालियर में आये। गवालियर आजकल भी एक अच्छा स्थान है, पर उन दिनों जो यहां था, वह अब नहीं है। बड़े बड़े पण्डित राजधानी की शोभा बढ़ाते थे। सेन्धिया के यहां उनका बड़ा आदर था। दान धर्म्म के लिये गवालियर का खजाना खुला रहा था। स्वामी जी

ने सुना था कि इस समय गवालियर में बहुत अच्छी पढ़ाई होती है, इसलिये वे यहां आये थे। उन्हें क्या खबर थी कि इस समय गवालियर में जाना विपत्ति के घर में जाना है।

सन् १८४३ में झुनकूजी राव सेन्धिया का परलोक हो गया था। इनके कोई सन्तान न थी। रानी तारा बाई ने जो इस सयम तेरह चौदह वर्ष की थी अपने कुटुम्ब से एक आठ बरस का लड़का जयाजी-राव नामक गोद लेकर उसे अपने स्वामी की गद्दी पर बैठा दिया था। रेजीडेंट की सम्मति से महाराज के मामा साहब कार्य्य को चलाने लगे, यह बात तेजस्वी दादा खासगी वाले को सह्य न हुई। उसने रानी से मिल कर मामा साहब को निकलवा कर काम सब अपने हाथ में ले लिया था। रेजीडेंट साहब ने बात बिगड़ती देख धौलपुर राज्य में डेरा जा किया था।

इधर सेन्धिया की सेना में वैमनस्य हुआ और फूट पड़ी। कुछ लोग दादा खासगी वाले की ओर हुए और कुछ बापू सितौलिया के सहायक बने। परस्पर में युद्ध चला। एक दूसरे पर गोले बरसाने लगे और एक दूसरे के आदमी पर सन्देह कर कैद करने और मारने लगे। इस समय स्वामी जी बापू सितौलिया के स्नेही सर्दार के यहाँ एक पण्डित के साथ ठहरे हुए थे। दादा खासगी वाले के आदमियों ने रात को आक्रमण किया, सर्दार मारा गया, घर लूटा गया, आदमियों के साथ स्वामी जी कैद हो एक मकान में बन्द हुए!

बुद्धिमती रानी ताराबाई ने परस्पर के युद्ध से सेना और राज्य का विनाश देख कर सेना को आपस की लड़ाई से मना किया। दादा खासगी वाला कैद कर आगरे भेजा गया और बापू सितौलिया दीवान हुआ। इनको जब अपने मित्र के मारे जाने और आदमियों के कैद होने का वृत्तान्त विदित हुआ तब इन अभागे कैदियों को वहाँ से निकाला गया जो दो दिन से भूखे प्यासे तड़फ रहे थे। यदि उस दिन यह निकाले नहीं जाते, तो इनके जीवन प्रदीप का उसी अन्धकार में निर्वाण हो जाता!

इस समय भारतवर्ष के गवर्नर जनरल लार्ड एलनबरा ने जिनकी सेना गवालियर की सीमा पर पहुँच गई थी गवालियर वालों से कहला भेजा था कि यदि सन्धि रखना स्वीकार हो तो गवालियर में सर्कारी कांटिजैंट की फौज बढ़ा दीजिये और उसके व्यय के लिए कुछ भूमि सर्कार के अधीन कर देना चाहिये। यह सेन्धिया के सर्दारों को स्वीकार न था। अतएव उधर से सर्कारी फौज महाराज की रक्षा करने के व्याज से चढ़ी आ रही थी और इधर युद्ध करने के निमित्त गवालियर की वीर सेना भी उन्मत्त हो रही थी। इस होनहार युद्ध की आशङ्का कर गवालियर की प्रजा भयभीत हो रही थी।

स्वामी जी के साथ सितौलिया का विशेष परिचय हो गया था। पण्डित रामकृष्ण शास्त्री, जिनके साथ स्वामी जी कैद हुए थे और जो बापू सितौलिया के मृत मित्र के बड़े कृपा पात्र थे, वही इस नवीन परिचय के मुख्य कारण थे। पण्डित जी नागपुर प्रान्त के रहने वाले और विद्या में बड़े निष्ठावान् थे। महाराष्ट्र पति पेशवा के यहाँ इनकी वार्षिक वृत्ति बन्ध रही थी। पेशवा का राज्य नष्ट हो गया था पर संस्कृत विद्या का प्रेम ज्यों का त्यों बन रहा था। जिन पण्डितों का वार्षिक एक बार नियत हो चुका था, फिर उनको उन्होंने निराश न किया। जो वहां गये कुछ न कुछ लेकर ही आये। पण्डित रामकृष्ण शास्त्री को राज्य भ्रष्ट बाजी राव उसी प्रकार मानते थे। इस कारण ये बिठूर में पेशवा के पास जा रहे थे। मार्ग में स्वामी विशुद्धानन्द से परिचय हुआ और साथ रहने से स्नेह बढ़ा। गवालियर में साथ ही ठहरे, साथ ही बन्दी हुए और अन्त में बापू सितौलिया से साथ ही सत्कृत और पुरस्कृत हुए। यहां युद्ध को तय्यारियां देख कर बापू साहब से विदाई चाही। उन्होंने प्रथम तो ठहरने को बहुत कुछ कहा, जब किसी प्रकार भी ये सहमत न हुए तो अगत्या जाने की अनुमति दी और वस्त्रालङ्कार से इनका सन्मान किया।

गवालियर से जब बिठूर की ओर अग्रसर हुए तब सर्कारी फौज ने इन्हें सेन्धिया का गुप्तचर समझ बन्दी बना लिया। ये बहुत पुकारे,

चिल्लाये कि हम निरपराध हैं तथापि सर्कारी कर्म्मचारियों को कुछ विश्वास न हुआ। उनको यह सन्देह हो गया कि ये लोग गवालियर वालों का सम्बाद बाजी राव के पास लेजा रहे हैं। सुतरां इनको तब तक सर्कारी फौज के साथ बन्दी हो कर रहना पड़ा जब तक महाराजपुर और पनियर के युद्ध में सेन्धिया की सेना परास्त न हुई और गवालियर में गवर्नर जनरल साहब उपस्थित न हुए। सर्कार और सेन्धिया में नई सन्धि हुई। जिसका तात्पर्य्य यह था कि "जब तक सेन्धिया अट्ठारह वर्ष का न हो तब तक रेजीडेंट की सम्मति से सब कर्म्मचारी राज्य कार्य्य किया करें। कांटिजेंट की फौज बढ़ा दी जाय, उसके व्यय के लिये कुछ इलाके सर्कार अलग कर ले। महाराज की सेना कभी नौ सहस्र से अधिक न होने पाये और तोप बारह जंगी और कुल बीस ऐसी वैसी रहें"।

इस सुलह के साथ ही गवालियर राज्य के चारों ओर शान्ति हो गई। लोगों ने समझ लिया कि अब इसी में कुशल है कि प्रतापी अंग्रेजों के अधीन हो जायँ और वीरोचित अहङ्कार के फेर में पड़ कर वृथा विषय सुख को नष्ट करें। यदि जीवन है तो सब कुछ है और जब जीवन ही नहीं, तो फिर क्या है ?

गवालियर वालों के जो मनुष्य सन्देह होने पर बन्दी किये गये थे, उन सब की छुट्टी हुई। पण्डित जी के साथ हमारे स्वामी जी भी मुक्त हुए। फिर कहीं सन्देह पर बन्दी न बनाये जायँ, इसीलिये सेना नायक से पत्र ले लिया और दोनों बिठूर को रवाने हुए।

पण्डित जी को यह देख कर आश्चर्य्य हुआ कि जहाँ उनकी धैर्य्यच्युति होती है वहाँ वह युवा ब्रह्मचारी अपनी धीरता का परिचय देता है। दोनों दो बार बन्दी हुए, साथ हो रहे, पर दोनों में से एक रोता रहा और दूसरा उसे एक खेल समझ कर देखता था। पण्डित और स्वामी में यहाँ वैसे ही प्रश्नोत्तर हुए जैसे इससे पूर्व हो चुके थे। पण्डित जी ने कहा, कि—

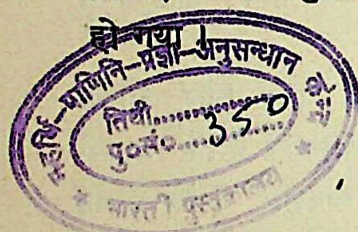
"ब्रह्मचारी जी ! विपत पड़ने पर सब को अपने घरवाले स्मरण

आया करते हैं और हाहाकार करने लगते हैं। पर देखा गया कि विपत्ति में भी आप किसी की याद नहीं करते। क्या करते हो? क्या पढ़ते हो? यह तो आपने कहा किन्तु अभी तक अपने घर के वृत्तान्त से विदित नहीं किया।"

स्वामी जी बोले, कि—

"पण्डित जी! जो पुरुष कभी समय पाकर अचानक दुःख में पड़े वह रोता है और स्वजनों को स्मरण करता है किन्तु जिसके दुःख और विपत्ति सर्वदा साथ रहें, उससे रोया नहीं जाता। आप जो दो बार दुःख में पड़े यह भी हमारे साथ रहने का फल है।"

पीछे स्वामी जी ने निज जीवन वृत्तान्त सुनाया जिससे पण्डित को बड़ा आश्चर्य्य हुआ और स्वामी जी का गौरव भी उसके मन में हो गया।



एकादश परिच्छेद

[बिठूर—वहाँ की दशा—पण्डित राघवेन्द्राचार्य्य—व्याकरण का अध्ययन—गुरुभक्ति का उदाहरण—डूबते हुए विद्यार्थी का बचाना—आचार्य्य का आशीर्वाद—योग शास्त्र की शिक्षा के लिये हरिद्वार की यात्रा]

बिठूर इन दिनों भी हिन्दुओं का प्यारा स्थान है, क्योंकि बिठूर केवल ऐतिहासिक स्थान ही नहीं है, हिन्दुओं का परम पवित्र तीर्थ भी है। इसका असली नाम ब्रह्मावर्त है। शास्त्र में इसकी बड़ी बड़ाई है, एक तो भगवती भागीरथी का पुण्यतट, दूसरे जगत्प्रसिद्ध, आदि कवि, महर्षि, वाल्मीकि जी का आश्रम, फिर कहिये मणिकाञ्चन का योग किस हिन्दू को प्यारा न हो?

यही स्थान है, जहाँ सर्व प्रथम कविता का जन्म हुआ था, यहीं हिन्दुओं के नहीं नहीं—सम्पूर्ण जगत् के परमोत्तम काव्य रामायण की उत्पत्ति हुई थी। यह वही स्थल है, जहाँ एक दिन महर्षि मनु ने आर्य्यावर्त की पवित्र सीमा निर्द्धारित की थी। इसी स्थल पर रोती

हुई अन्तः सत्वा पतिप्राणा-जनकनन्दिनी को दाशरथी की आज्ञा से लक्ष्मण छोड़ कर गये थे। यहीं के वृक्ष एक दिन लवकुश के समान के जनकदुलारी के द्वारा पालित और परिवर्द्धित हुए थे। अतएव धर्म्मात्मा के लिये, रामभक्त के लिये और सहृदय पुरुष के लिये बिठूर एक बहुत ही अच्छी जगह है। भागीरथी की शोभा और आश्रम की शोभा अतीत घटना के कारण से कुछ और ही प्रकार के भाव को उत्पन्न करती है।

जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं उस समय के बिठूर से आजकल के बिठूर का बड़ा प्रभेद है। इस समय बिठूर में अनेक घटना पूरित ब्रह्मावर्त की पुण्य भूमि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सब सुनसान है। किन्तु उस समय यह एक सुन्दर सुहावना वाराणसी का प्रतिस्पर्द्धी नगर हो रहा था। सन् १८१८ ई० में विख्यात महाराष्ट्र नरेश बाजीराव पेशवा अंग्रेज़ों से परास्त हो स्वदेश और स्वराज्य से से हाथ धो आठ लाख की पेंशन ले बिठूर में आ गये थे। इस समय इनके पास चाहे बड़ी बड़ी भारी सेना और वह बीर मण्डली न थी जो इनको सदा घेरे रहा करती तथापि राज्य नष्ट होने पर भी वह विप्रमण्डली साथ थी जिसने इनके प्रचण्ड प्रताप का समय अपनी आँखों से देखा था और जो इनकी उदारता के सामने समस्त भूमण्डल के राजाधिराजों को अकिञ्चित्कर समझते थे।

पराजित, निर्वासित और संतापित महाराष्ट्र नरेश के पास सहस्रों विद्वान् ब्राह्मण उसी प्रकार धर्म्म चर्चा करते थे, जिस प्रकार द्यूतप्रवञ्चित महाराज युधिष्ठिर के साथ बनवास में महर्षि लोग रहा करते थे। वेद पाठ की ध्वनि से बिठूर भरपूर था। स्वाहा स्वधा वषट्-कार का शब्द चारों ओर से कान में पहुंचता था। हव्य कव्य से देव पितृ गण की तृप्ति हो रही थी। अनेक अध्यापक और अध्येता संस्कृत के पठन पाठन में दत्तचित्त थे। दूर दूर से बड़े बड़े विद्वान् पण्डित आते थे और योग्यतानुसार पेशवा से पुरस्कृत होते थे। उस सुन्दर और संजीवदृश्य को जिसने एक बार देखा उसी ने कहा कि

बाजीराव ने यहां की बाजी में मात होकर भी परलोक की बाजी मारली है।

उस समय बिठूर में वैष्णवकुलतिलक पण्डितवर राघवेन्द्राचार्य्य एक महावैयाकरण विद्वान् विराजते थे। पेशवा के यहां से वृत्ति पाते, गंगा सेवन करते और विद्यार्थियों को पढ़ाते थे। वे जैसे विद्वान थे, वैसे ही सदाचार सम्पन्न और हरिभक्त थे। जो व्याकरणशास्त्र इस समय सुपरिष्कृत हो उन्नीसवीं शताब्दी के पण्डितों की अपूर्व प्रतिभा का उद्घोष कर रहा है, उस समय उसके पण्डित राघवेन्द्राचार्य्य ही एकमात्र परिष्कारकर्ता थे। नागेशभट्ट के उपादेय और अत्युत्तम ग्रन्थ 'परिभाषेन्दुशेखर' को कठिन देख कर आचार्य्य ने उस समय जो टीका बनाई थी, चाहे वह अब आश्चर्य की दृष्टि से नहीं देखी जाती, तथापि व्याकरण के पठन पाठन में उसकी प्रधानता अभी तक ज्यों की त्यों बनी हुई है। आचार्य्य के दो चार वृद्ध विद्वान् शिष्य इस समय जीवित हैं, वे कहते हैं कि राघवेन्द्र के आश्रम को देख कर यही बोध होता था कि वाल्मीकि एवं पाणिनिजी के पुण्य और श्रम का यह फल प्रगट हो रहा है।

पण्डित रामकृष्ण शास्त्रीजी स्वामी विशुद्धानन्दजी को साथ ले अपने माननीय मित्र पण्डित राघवेन्द्राचार्य्य जी के आश्रम में पहुंचे और परस्पर के कुशल प्रश्न के पश्चात् पण्डितजी ने हँस कर कहा कि श्रीमान् की भेंट करने के लिये आज हमारे पास इस विद्यार्थी के सिवा और कुछ नहीं है। इस विद्यार्थी को आप साधारण विद्यार्थी न समझें,—यह एक बड़े ही होनहार पुरुष हैं। जान पड़ता है इनके पास आपकी संस्कृत विद्या पहुंच कर वैसे ही फल को प्रगट करेगी, जैसे तपस्वी विश्वामित्र की शस्त्रविद्या ने दशरथ कुमार के पास पहुंच कर किया था—

हँसमुख आचार्य्य ने उत्तर दिया कि—

हां, इसमें क्या सन्देह है ? सौभाग्यशाली विश्वामित्र ने जिस प्रकार दशरथकुमार को अपना आराध्य समझ स्वीकार किया था,

वैसे ही हम भी इन्हें सादर ग्रहण करते हैं। उसी प्रकार कृतार्थ भी हों तो आश्चर्य क्या है?"

पण्डित रामकृष्ण शास्त्री स्वामी विशुद्धानन्दजी को अनेक प्रकार की शिक्षा देकर आश्रम में छोड़ चले गये। स्वामीजी के हृदय में आचार्य्य के दर्शनमात्र से अपार आनन्द और भक्तिभाव का उद्रेक और निश्चय हो गया कि मनोरथ पूर्ण होने का यही स्थान है। जैसी इनकी अपार श्रद्धा हुई वैसो ही उनपर इनकी दया। दोनों ने पढ़ने पढ़ाने में खूब मन लगाया। जिसका फल यह हुआ कि तीन ही वर्ष में सिद्धान्तकौमुदी, मनोरमा, शब्देन्दुशेखर, परिभाषेन्दुशेखर और महाभाष्य जैसे व्याकरण के सब ग्रन्थ अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न गुरुभक्त स्वामीजी को आगये।

किसी ने सच कहा है कि "कवि, दार्शनिक और महाविद्वान् बनाये नहीं जाते—स्वाभाविक रीति पर माता के गर्भ से उत्पन्न होते हैं वे पहिले ही से पढ़े पढ़ाये होते हैं, पढ़ने का उन्हे केवल लोक शिक्षा के लिये बहाना करना पड़ता है।" वास्तव में स्वामीजी के पक्ष में भी यही बात थी। जिन ग्रन्थों को इन्होंने इतने दिन में पढ़ा दूसरा उन्हें बांच भी नहीं सकता।

बाल्यकाल ही से स्वामीजी गुरुभक्ति करना सीख गये थे, यह तो हम पहिले ही कह चुके हैं। इस समय वह और भी दृढ़ हो गई थी। एक दिन इनके गुरु पण्डित राघवेन्द्राचारीजी अपने सब शिष्यों के साथ गंगातट पर सन्ध्योपासन कर रहे थे। चौमासे का समय था। गंगा जी में बाढ़ आ रही थो। भागीरथी का घनघोर शब्द बिठूर के शान्त तट की शान्ति भङ्ग कर रहा था। अकस्मात् एक विद्यार्थी का पैर रपट गया और उसने प्रवाह में बहते हुए चिल्ला कर कहा कि "गुरुजी! बचाओ, मैं गया"! किंकर्तव्य विमूढ़, दयालु गुरु ने समीपवर्ती शिष्य से घबरा कर कहा कि 'देखो डूबने न पावें'। सुनते ही वह कूद पड़ा और बहते हुए के साथ बह निकला। देखते ही देखते दोनों अदृश्य हो गये। साथ

ही तमिस्रा रात्रि के घोर अन्धकार ने सब की दृष्टि को व्यर्थ कर दिया।

रात्रि पहर भर से अधिक जा चुकी। सब लोग घाट से लौट आये। गंगा के तट पर कोसों तक कई विद्यार्थी दौड़ाये गये, सब ने निराश होकर यही उत्तर दिया कि "गुरुजी ! कहीं भी पता न चला।" सब का पाठ बन्द हो गया। आश्रम में सन्नाटा छा गया। सब यही चिन्ता करते थे कि पहिला गया तो गया ही था, पर बेचारा दूसरा विद्यार्थी भी काल के मुंह में जा गिरा। इस बात का अधिक दुःख गुरुजी को हो रहा था। उनकी विद्या का शुद्ध पात्र, उनके मनोरथों का पूर्ण करने वाला, आज्ञाकारी प्रिय शिष्य विशुद्धानन्द अब कहां है? वह गुरुदेव की अविचारणीय आज्ञा के साथ ही अपने सहपाठी के साथ बह निकला! यह न सोचा कि इसके बचाने में प्राण विसर्ज्जन का भय है। धन्य गुरुभक्त, धन्य।

दूसरे दिन प्रातःकाल जब आश्रम में इस बात का विचार हो रहा था कि "इन जल में डूबे हुए विद्यार्थियों के लिये अब क्या कर्तव्य है" तब स्वामी विशुद्धानन्द ने अपने सहपाठी विद्यार्थी के साथ अचानक गुरुचरण को प्रणाम कर सब के शोक को आनन्द में बदल दिया। आचार्य्य अपने गुरु भक्त शिष्य को हृदय से लगा आनन्द से अधीर हो गये और आशीर्वाद दिया कि हमारी सब विद्या का तुम्हारे अन्तः-करण में प्रकाश हो। जिस प्रकार तुमने इसे बचाया है उसी प्रकार हमारी विद्या भी तुम्हारे नाम और यश को डूबने न देगी।

यहाँ यह भी प्रकाश कर देना चाहिये कि रातभर स्वामी विशुद्धा-नन्द कहाँ रहे? और किस प्रकार अपने दुर्दशाग्रस्त गुरु भाई का उद्धार किया?

विशुद्धानन्द जल में कूद कर साथ ही बह निकले और बड़ी कठिनता से दूर जाकर उसे पकड़ा। वह बेचारा कुछ पैरना जानता था, पर गंगा जी के प्रवाह में पड़ते ही सब भूल गया। एक बार मृत्यु दिखाई दी। वायुवेग से बढ़ी हुई तरङ्गों के आघात ने उसे मृतकल्प

बना दिया था। ऐसी दशा में उसका निकालना कुछ सहज कार्य्य न था किन्तु साहसी विशुद्धानन्द को उसमें विशेष कष्ट नहीं हुआ। धीरे धीरे तट पर उसे पहुँचाया और कई प्रकार से उस जल को निकाला जो गोते खाने के समय उसके पेट में भर गया था और जिसके कारण वह निश्चेष्ट हो रहा था।

उपाय सफल हुआ। विद्यार्थी ने नेत्र खोल कर अपने चारों ओर फैले हुए अन्धकार को देखा और देखा अपने उद्धारकर्ता विशुद्धानन्द को; और कहा कि "मुझे शीत लग रहा है! उसका भी उपाय होना चाहिये।"

विद्यार्थी को सजीव देख विशुद्धानन्द कृतकृत्य हुए सही, किन्तु उसकी प्रार्थना ने उनके चित्त में चिन्ता उत्पन्न कर दी। वस्त्र भीगे हुए, घोर अन्धकार और वहाँ से बस्ती कई कोस दूर, ऐसी दशा में शीत निवारण का क्या उपाय किया जाय?—यही सोच कर वे तब तक चिन्तित रहे, जब तक सौभाग्य से एक नौका उन्हें दिखलाई दी। इस पर अग्नि जल रही थी, जिसके प्रकाश से न केवल नौका और माँझियों ही की मूर्ति दृष्टिगोचर होती थी वरञ्च उसके दर्शनीय प्रतिबिम्ब से भागीरथी के प्रवाह में भी एक सुन्दर दृश्य का दर्शन होता था।

मल्लाहों को पुकारा और उसको पास बुला कर अपनी सब दशा सुनाई और कहा कि "उसे यदि शीत से न बाचाया जायगा तो उसको डूबने से बच कर भी मृत्यु बचना सहज नहीं है' बड़ी प्रसन्नता से उन्होंने इस कहे को मान लिया। आग से उनको तपा कम्बल ओढ़ने को दिया और जंगली जानवरों का डर दिखा अपनी नौका पर चढ़ा लिया। यह कोई न समझे कि केवल दया के कारण उनका ऐसा बर्ताव था, नहीं, इसमें उनको लोभ भी था। कई नौका बिठूर से इसीलिये दौड़ाई गई थीं कि वे बहे हुए मनुष्यों को किसी प्रकार बचावें। उन्हीं में से यह एक थी, जो यदृच्छा से यहाँ तक आपहुँची थी। इसमें सन्देह नहीं कि जो यह नौका न मिलती' तो दूसरे दिन तक स्वामी

विशुद्धानन्द अपने अधमुये गुरु भाई के साथ गुरुचरण तक कदापि नहीं पहुँच सकते थे।

स्वामी विशुद्धानन्द से उपरोक्त सब बातें सुन कर गुरु राघवेन्द्राचार्य्य अति प्रसन्न हुए। मल्लाहों को पुरस्कार मिला। गुरुभक्त विशुद्धानन्द को सब ने धन्यवाद दिया और उनके साहस की प्रशंसा हुई।

गुरु कृपा से विशुद्धानन्द जिस प्रकार प्रशंसित हुए उसी प्रकार शास्त्रार्थ में विजय भी पाते रहे। व्याकरण शास्त्र में इनकी व्युत्पत्ति, बाद में कुशलता, और युक्ति में प्रगल्भता देख कर सब विद्वान् इनका आदर करते थे। प्रति वर्ष "श्रीमन्त" के दरबार में जो पण्डितों का शास्त्रार्थ समर होता, उसमें पण्डितप्रवर राघवेन्द्राचार्य्य की अध्यापन शक्ति का प्रबल परिचय इनके द्वारा मिलता। "श्रीमन्त" ने इनको पुरस्कृत भी किया था।

आदर्श पुरुष की शिक्षा भी आदर्श होनी चाहिये जिसको और लोग उदाहरण बना अनुकरण करें यह हम पहिले ही कह चुके हैं। स्वामी विशुद्धानन्द ने जब अपने को व्याकरण—महा समुद्र के पारङ्गत देखा, तब इनके सन्यासोन्मुख चित्त में योग पढ़ने की लालसा हुई। योग मार्ग में कुशल अनेक सन्यासियों का उत्तर देश में विचरना सुन कर इन्होंने बिठूर से हरिद्वार की यात्रा की। क्योंकि सद्गुरु राघवेन्द्राचार्य्य ने कह दिया था कि "यद्यपि हम लोग योगशास्त्र के सब ग्रन्थों को पढ़ा सकते हैं, तथापि क्रिया सहित अध्यापन कार्य्य में हम समर्थ नहीं हैं। हरिद्वार से परे समस्त उत्तर देश में योगियों ही का निवास है। सन्यासानुगण शिक्षा की वहीं प्राप्ति होगी।"

बिठूर से हरिद्वार तक पहुँचने में तीन चार मास लगे। प्रथम तो पैदल यात्र करने में ये बड़े कुशल थे, और दूसरे अभाव ज्ञान से भी मनुष्यों की कर्तव्य में प्रवृत्ति होती है। इसमें सन्देह नहीं कि आज कल लोग पैर होते हुए भी रेल की कृपा से पैरों से काम लेना भूल गये! जिसके पास पहरने को वस्त्र और खाने को अन्न तक नहीं है, वह भी अब रेल के बिना पैर हिलाना नहीं चाहता। अमीर और

धनाढ्य लोगों को क्या कहें-जब आज कल के सन्यासी भी सवारी के बिना अपने 'परिव्राजक' नाम को चरितार्थ नहीं कर सकते। यह सब रेल का महात्म्य है और महात्म्य है उस समझ का जिसमें यह समाई हुई है कि हमें पैदल फिरने से क्या काम ? इनके विचार में मनुष्य की मानों एक ही दशा रहती है ! जो हो। उस समय रेल की सवारी न थी, इसलिये लोगों को पैदल आने जाने का अभ्यास भी था।

जिस हरिद्वार में भागीरथी का अपूर्व दृश्य है, जहां पर स्वर्ग-दुर्लभ सुधा का प्रवाह सुलभ है, वहां एक दिन महात्मा मैत्रेय से विदुर का सम्वाद हुआ था और श्रीमद्भागवत की कथा कही गई थी, उस हरिद्वार को देख कर स्वामी जी को बहुत ही आनन्द हुआ। मानों अपने मनोरथ को यहां सजीव मूर्तिमान देख लिया। हरिद्वार से दक्षिण-'कनखल' में जहां दक्षेश्वर महादेव का प्रसिद्ध मन्दिर है और जो भगवती दाक्षायणी के पवित्र चरित्र का स्मारक है, उसी प्रसिद्ध स्थान में आपने जा निवास किया।

द्वादश परिच्छेद।

[कनखल—बद्रिकाश्रम यात्रा—योगिराज-हृषीकेश—स्वामी गोविन्दाश्रम—योगविषयक प्रश्नोत्तर—बिल्वकेश्वर—अवधूत समागम—स्वामीकृष्णा-नन्द—परिचय—अन्तिम उपदेश शरीर त्याग—काशी यात्रा]

हरिद्वार की अपेक्षा कनखल एकान्त स्थल है। जप तप करने वाले के लिये यहां बहुत ही सुभीता है। स्वामी विशुद्धानन्द ने निश्चय कर लिया कि आस पास के तीर्थों का पर्य्यटन कर यहीं किसी सन्यासी के पास योगाभ्यास करेंगे। यदि यहाँ कोई वैसा गुरु न मिला, तो जहां मिलेगा वहीं शिक्षा पावेंगे परन्तु अवसर मिलने पर अभ्यास अवश्य यहां आन कर करेंगे।

आज कल कनखल क्षेत्र विगतप्राण सा हो रहा है। राजा महा-

राजाओं की बड़ी २ धर्म्मशालाएं और धर्म्मस्थान प्रायः सब सूने पड़े हैं। अथवा उन पर उन लोगों का अधिकार हो रहा है जिनका अधिकार होना धर्म्म और न्याय से किसी प्रकार उचित नहीं है। पाठशाला है, परन्तु विद्यार्थी और अध्यापक नहीं। कहीं हैं भी तो अन्नाभाव से परम कष्ट भोग रहे हैं! किन्तु उस समय में यह बात न थी। धर्म्म-स्थान धार्मिकों से भरे थे। अध्येता और अध्यापक भोजनाच्छादन से निश्चिन्त थे। सेठ साहूकार इनका सत्कार करना अपना परम धर्म्म समझते थे। उस समय में यहां साधु सन्यासी भी निष्परिग्रह वा सच्चे सन्यासी थे। आज कल के से यजमान सर्वस्वसंहर्ता न थे। यही कारण था कि स्वामी जी को यह स्थान उस समय इतना अच्छा लगा था।

कनखल में कुछ दिन निवास कर आप बदरिकाश्रम पधारे। पर्वताधिराज हिमालय की लोक शास्त्र-विश्रुत विभूति को देखते हुए विश्व-कर्म्मा के अचिन्त्य वैभव का स्मरण करते चले। देखा कि जिन वृक्षों को बालुकामयी कोमल भूमि में लगाने के अनेक यत्न किये जाते हैं और तो भी लोग कृतकार्य्य नहीं होते वे यहाँ पाषाण में आप से आप सुन्दर वृक्ष लग रहे हैं!

पहिले शङ्का थी कि जब समतल भूमि में भी जल खोदने पर निकलता है, तब हिमालय की ऊँची ऊँची चोटियों पर तृषा निवृत्त किस प्रकार होगी? पर अब देखने से विदित हुआ कि उसका ऐसा अच्छा नियम है कि जहां खोद सकते हैं, वहीं खोदने की आवश्यकता होती, है जहाँ खोद नहीं सकते, वहां उसका काम ही नहीं पड़ता! जितने ऊँचे चढ़ते हैं उतना ही जल भी ऊपर मिलता है। उतरते हैं तो जल पृथ्वीतल में छिपता चला जाता है।

बदरिकाश्रम में जहां अलकनन्दा का इतना सुशीतल जल है कि स्नान तो क्या स्पर्श करना भी असह्य जान पड़ता है वहां पास ही तप्तकुण्ड विद्यमान है, जिसके देखने से विश्वकर्ता के निर्माण कौशल का एक अच्छा ज्ञान हो सकता है और आप से आप यह कहना

पड़ता है कि धन्य ! प्रभु धन्य ! जो लोग लोकालय को परित्याग कर हिमालय में निवास करते हैं, उनको तुमने वह सात्विक सम्पत्ति दी है कि जिसके सामने जगत् भर की राजसी तामसी सब विभूतियां तुच्छ हैं।

सुन्दर सुगन्धित पुष्प, नयनाभिराम मनोहर दृश्य, सुस्वादु सुमिष्ठ बन्य फल, सुमधुर सुशीतल पाचक अतिस्वच्छ जल और देव दुर्लभ यह पवित्र तीर्थस्थान परमात्मा की कृपा से यहां जैसे सुलभ है, अन्यत्र कहां।

बदरिकाश्रम में आये हुए परमहंस, योगी, संन्यासियों का दर्शन कर उनसे योग विषय की जिज्ञासा की। सौभाग्य से एक योगिराज से इनका साक्षात्कार हुआ। उन्होंने कहा कि "बदरिकाश्रम के उत्तम अधिकारी वे महापुरुष हैं जो योगाभ्यास वा आत्मज्ञान से अपने को निष्पाप कर योगारूढ़ वा ज्ञानी कहलाने के अधिकारी बना चुके हैं। आरुरुक्षु अर्थात् जो योग के ऊंचे मार्ग पर चढ़ना चाहते हैं और जिज्ञासु अर्थात् जिनको आत्मतत्व वा योगशास्त्र के जानने की इच्छा है उनको चाहिये कि नीचे ही हरिद्वार हृषीकेशादि में प्रथम अपने अधिकार को सम्पादन करें"।

अधिक शीत के कारण बदरिकाश्रम में कोई नहीं ठहर सकता। सब पण्डे लोग वहां से देवप्रयाग आदि स्थानों में चले आते हैं और बदरिकाश्रम के मुख्य अध्यक्ष जो कि "रावल" कहे जाते हैं अपने दल बल समेत 'ज्योसी मठ' में जिसका असली नाम "ज्योतिर्मठ" है आबिराजते हैं। छः मास तक भगवान् बदरी नारायण जी का यहां पर पूजन किया जाता है। आश्रम बर्फ के नीचे दबा रहता है।

योगिराज स्वामी जी को अपने साथ 'ज्योसी मठ' में ले आये, क्योंकि वे ज्योसी मठ के पास ही विष्णु प्रयाग में हिमालय के एक निभृत और गुप्त स्थान में रहते थे। कभी दयालु योगिराज इनके पास आते और कभी ये उनके पास जाते। पर न रात्रि को वे अपने स्थान में इन्हें रहने देते और न कभी इनके पास आप रहते। इस कारण कभी कभी चार पाँच मील स्वामी जी को आना जाना पड़ता। तथापि

F. 12

योगक्रिया और योगशास्त्र सब का रहस्य थोड़े ही दिनों में उनसे जान लिया।

हिमालय के सब दर्शनीय तीर्थस्थानों को देख कर हृषीकेश को आन रहे। हृषीकेश का बन उन दिनों सचमुच 'तपोबन' था। वहाँ एक भरतजी के मन्दिर के अतिरिक्त और कोई पक्का स्थान ही न था। न धर्म्मशाला थी और न सदाबर्त का ठाठ था, न आज कल की तरह "साधु" नामधारियों की छावनी पड़ी हुई थी और न पुलिस की चौकी तथा बाजार की धूमधाम थी, क्योंकि उस समय यह सैरगाह वा मनोविनोद का स्थान नहीं था, आत्म चिकित्सा की जगह थी।

' आजकल हृषीकेश नगर के आकार में परिणत हो रहा है। नगरों के तमोगुणी रजोगुणी पुरुष इसे अपने विहार वा व्यापार का स्थल बना रहे हैं। पर उन दिनों कुछ बात ही दूसरी थी। हृषीकेश में बीस पच्चीस संन्यासियों से अधिक संन्यासी वा ब्रह्मचारी न थे। जिनमें सुप्रसिद्ध स्वामी गोविन्दाश्रम, स्वामी पूर्णाश्रम सतुआस्वामी आदि लोक पावन महात्मा मुख्य थे, न इनकी कहीं कुटिया थी और न इन्हें अन्न की चिन्ता थी। जहाँ जिस वृक्ष के नीचे बैठ जाते, वहीं इनका डेरा था और जो पत्र फल पुष्प मिल जाता उसी में सन्तोष था।

उस समय के हृषीकेश की चर्चा चलने पर स्वामी विशुद्धानन्दजी कहा करते कि "महर्षियों के जिन शान्त आश्रमों का वर्णन हमारे इतिहास पुराणों में प्रसिद्ध है, उनका अविकल चित्र उस समय का हृषीकेश था। आज कल की तरह न वहाँ किसी साधु की कोठी बनी थी और न किसी का बंगला। न कोई संन्यासी अपने पास धन रखता था और न किसी के नाम की हुंडियाँ चलती थीं। तथापि उन सन्यासियों का जीवन इतना बहुमूल्य था कि आज कल के सब सन्यासी भी उस समय के एक सन्यासी का मोल नहीं हो सकते। जगत् भर की समस्त सम्पत्ति उन तपस्वियों की दृष्टि में तुच्छ थी। यहाँ के दर्शन मात्र से 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के दुष्यन्त समान उस समय सब के मुंह से यही शब्द निकलते थे कि—

"शान्तमिदमाश्रमपदम् ।"

हृषीकेश में स्वामी विशुद्धानन्दजी ने कुछ दिन रह कर स्वामी गोविन्दाश्रमजी से योगविद्या और ब्रह्मविद्या का अभ्यास किया। स्वामी गोविन्दाश्रमजी पूरे विरक्त थे। एक जगह नहीं रहते थे। प्रतिदिन अपने स्थान को बदलते थे। इसलिये यद्यपि मौखिक शिक्षा का अवसर उन्हें नहीं मिलता था तथापि इनके पवित्र आचरण द्वारा भी कुछ कम लाभ न था।

स्वामी विशुद्धानन्द इन दिनों आस पास के स्थानों में घूमते रहते। अधिकतर वे कनखल और हृषीकेश में रहते थे। कभी कभी हरिद्वार में भी ठहर जाते। उनके ठहरने का स्थान कनखल में दक्षेश्वर का मन्दिर, हरिद्वार में विल्वकेश्वर और हृषीकेश में गङ्गातट की झाड़ी थी।

इस समय इनका वेश भी ऐसा था जिसमें मस्ती की सी झलक पड़ती थी। सिर पर छोटे छोटे बाल, एक हाथ में सोंटा और एक में कमण्डल, कन्धे पर मृगछाला, काँख में पुस्तक, तरुणवय और सुन्दर शरीर, देखनें वालों के चित्त को आकर्षण करते थे। स्वामी गोविन्दाश्रम जी ने एक दिन इन्हें प्यार से "बीरभद्र" के नाम से पुकारा था। तब से वहाँ के लोगों में इनका यही नाम प्रसिद्ध हो गया। कोई बंशीधर ब्रह्मचारी और बहुत से बीरभद्र ब्रह्मचारी के नाम से पुकारते थे।

उत्तर देश में तीन वर्ष तक इन्होंने निवास किया। इतने समय में अनेक तीर्थस्थानों का दर्शन और बहुत से सयोगी संन्यासियों का सत्सङ्ग लाभ हुआ। अनेक प्रकार के कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रत और गायत्री आदि मन्त्रों का जप किया जिससे शरीर एवं अन्तःकरण के दोष दूर होवें, बुद्धि निर्मलता को ग्रहण करे और हृदय में विद्या का प्रकाश हो। ज्योतिर्मठ के योगिराज से जो विद्या ग्रहण की थी वह फिर दूसरे योगियों के संग से निरन्तर बढ़ती रही। कई दिन तक

समाधिस्थ हो ध्यान परायण रहते थे। हठयोग की शिक्षा में तो निपुण हो गये परन्तु राजयोग में इनकी क्षमता अधिक नहीं हुई।

स्वामी गोविन्दाश्रम जी से जिस समय ये राजयोग की शिक्षा पा रहे थे, उस समय एक दिन उन्होंने कहा कि,—

योगशास्त्र में तुम्हारा अत्यन्त अनुराग देख कर हमको कहना पड़ता है कि जिस प्रकार संन्यासी के लिये लौकिक विषय विषवत् त्याज्य हैं उसी प्रकार योगज विषय भी दूष्य हैं। यदि तुम्हारी इच्छा संन्यास ग्रहण करने की हो तो स्मरण रखना चाहिये कि एक दिन योगसिद्धि की दुर्वासना भी परित्याग करनी होगी।"

विशुद्धानन्द जी ने सन्देहाकुल चित्त से निवेदन किया कि—

"भगवन्! क्या संन्यास का योग प्रतिबन्धक है? जो एक दिन योगसिद्धि की दुर्वासना भी परित्याग करनी होगी!" क्या योग कामना भी विषय वासना के समान दुर्वासना है? यदि ऐसा ही है तो फिर शास्त्र ने उसका विधान क्यों किया है?"

गोवि०। हाँ, वत्स! योगकामना भी ऐसी ही है। शास्त्र ने यथाधिकार सभी बातों का विधान किया है। राजयोग एक प्रकार से संन्यासी का सहायक भी हो सकता है किन्तु हठयोग नहीं। संन्यास प्रकरण में जहाँ योग की प्रशंसा हो समझना चाहिये कि वहाँ राजयोग से तात्पर्य है और निन्दा की जगह हठयोग से।

विशु०। लौकिक विषय तो प्रत्यक्ष ही मनुष्य के अधःपतन के हेतु हैं किन्तु हठयोग भी वैसा ही है यह बात इस मन्दबुद्धि की समझ में न आई।

गोवि०। हाँ ठीक है। लौकिक विषय तो प्रत्यक्ष ही मनुष्य के अधःपतन के हेतु हैं। पर इसको जान कर भी मनुष्य क्यों उनमें प्रवृत्त होते हैं? क्योंकि प्रवृत्ति तो इष्ट में होनी चाहिये, अनिष्ट में नहीं। यही न कि मनुष्य भ्रमवश वैसा करते हैं। जो भ्रमग्रस्त नहीं, वे उनमें फँसते भी नहीं।

भ्रमवश ही लोग हठयोग वा योगसिद्धि को प्राप्त हो उसी को

परमपुरुषार्थ की अवधि मान महाअहङ्कारी बन जाते हैं। कलियुग के लोग तो अपनी शारीरिक शक्ति ही पर फूले नहीं समाते, योग सिद्धि मिल जाय तो फिर इनके अभिमान और अत्याचार का क्या ठिकाना ?"

विशु०। "यदि संन्यासी वा विरक्त पुरुष योगशास्त्र का भी विचार न करे तो क्या करे ?"

गोवि०। "एक मात्र ब्रह्मविद्या का विचार। ब्रह्मविद्या वा वेदान्त के विचार को छोड़ और सब शास्त्र भी संन्यासी के लिये बन्धन के हेतु हैं।"

विशु। "तब तो संन्यास आश्रम बड़ा कठिन है ?"

गोवि०। "कठिन क्या ? महा कठिन है। यह बड़ा टेढ़ा मार्ग है किन्तु यदि इस पर चलने वाला कोई ठेठ तक पहुँच जाय तो सदैव के लिये अभय और अमर भी हो जाय। जन्म मरण के चक्र से निकल मोक्ष को प्राप्त हो।"

योगशास्त्र से स्वामी विशुद्धानंन्द ने चित्त को हटा वेदान्त की ओर मन लगाया। स्वामी गोविन्दाश्रम जी ने कई दिन उपदेश देकर यह निश्चय करा दियां था कि ब्रह्मविद्या हीं सची योग विद्या है इसके सामने सब शास्त्र अकिञ्चित्कर हैं। इस कारण ये एक वेदान्त के विद्वान् की खोज करने लगे। विरक्त गोविन्दाश्रम कहीं गंगोत्तरी की ओर चले गये और अन्य परमहंसों की पढ़ने पढ़ाने में अरुचि देखी। हरिद्वार और कनखल में कई गृहस्थ पण्डितों का अनुसन्धान किया पर उनसे मिलने पर चित्त को सन्तोष नहीं हुआ।

एक दिन विल्वकेश्वर का पूजन करने गये थे, वहाँ विल्व के वृक्ष बहुत हैं। जिस समय आप विल्वपत्र और पहाड़ी पुष्पों का पूजन के लिये संग्रह करने लगे तब एक ऐसा शब्द हुआ कि जिससे इनके मुखारविन्द का रंग बदल गया। रोमाञ्च हो गया और नेत्र डबडबा आये।

जिस पवित्र शब्द ने एक दिन कल्याणी में इनके संतप्त हृदय को सुशीतल किया था और जिससे एक दिन नासिक क्षेत्र में इनका

चिन्तित मन प्रसन्न हुआ था, वही—प्यारा शब्द है! वही "हरहर महादेव" का मधुर शब्द फिर उसी प्रकार हो रहा है। मानो इनके मनोरथ सिद्ध करने को आशुतोष महादेव अभयवाणी सुना रहे हैं।

आश्चर्य से देखा कि एक पहाड़ी टीले पर विल्व वृक्षों की कुञ्ज में वही परमहंस महात्मा जिसके दर्शन सब से पहिले कल्याणी में महादेव बावड़ी पर हुए थे एवं जिसने हरिद्वार में मिलने को कहा था, आनन्द से बैठे हुए एक दूसरे अपरिचित संन्यासी से बातें कर रहे हैं और बीच बीच में 'हरहर महादेव का शब्द करते जाते हैं।

इन दोनों में कितनी देर से क्या बातें हो रही हैं यह कुछ नहीं कहा जा सकता पर इसमें सन्देह नहीं कि इनकी बातों से स्वामी विशुद्धानन्द की गति रुक गई। दो पुरुषों के वार्तालाप में तीसरे का उपस्थित होना अनुचित समझ पास ही खड़े हो गये और अवसर को प्रतीक्षा करने लगे।

अपरिचित अवधूत संन्यासी ने जिनकी आकृति परिचित संन्यासी से मिलती हुई थी, दुःखव्यञ्जक स्वर से कहा—

"यदि महाराज की यही इच्छा है कि इस समय भी मैं आप की कृपा से वञ्चित रहूँ तो जाने दीजिये। वह बात न बताइये। किन्तु यह तो कहिये कि यहाँ आपका अब कब तक निवास होगा?"

परिचित ने उत्तर दिया कि—

"अधिक दिन नहीं, बस आज ही।"

अप०। "हैं बस आज ही!—फिर कहाँ जाइयेगा? कुछ दिन तो ठहरिये। आप के दुर्लभ दर्शन और उपदेश से तो भला कृतार्थ होएँ।"

परि०। "बस कृष्णानन्द! अब यहाँ हमारा अधिक ठहरना नहीं हो सकता। आज का दर्शन और उपदेश अन्तिम है! कहाँ जावेंगे।"

अपरिचित संन्यासी जिसका नाम कृष्णानन्द था इन पिछले

शब्दों से चौंक पड़ा कि 'आज का दर्शन और उपदेश अन्तिम है! इस लिये व्यग्रता से कहा कि—

"क्यों? इतनी शीघ्रता का क्या कारण है? इस अधीन से ऐसा कोई अपराध तो नहीं हुआ?"

प०। "नहीं कृष्णानन्द! इसमें तुम्हारा अपराध कुछ भी नहीं है विधिका विधान ही ऐसा है। आज ही जावेंगे। कहाँ जावेंगे? इसका उत्तर यही है कि—"यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमंमम।"

कृ४। "महाराज! तात्पर्य्य समझ में नहीं आया। अच्छी तरह समझाइये।"

परि०। "आज कृष्णानन्द! सावधान होकर सुनो। आज तुम्हारी इच्छा पूरी करते हैं। सोचा था कि इस जीवन में कभी अपने जटिल जीवन की व्याख्या न करेंगे। परन्तु तुम्हारे अनुरोध से आज उस बात को प्रकाश करते हैं, जिसको तुम बहुत दिनों से सुनना चाहते हो।"

"कोकण" के विख्यात ब्राह्मण नरेश आनन्दराव जब म्लेच्छ "हैदर" के प्रचण्ड आक्रमण से अपनी मातृभूमि की रक्षा करने में वीरगति को प्राप्त हुए तब उनकी रानी अपने दो बालक पुत्रों को लेकर भाग गई। निराश्रय विधवा को इतने बड़े दक्षिण में कहीं भी आश्रय नहीं मिला। अतः वह भी थोड़े दिनों में पति लोक में जा निश्चिन्त हुई। उनके दोनों अनाथ पुत्रों के साथ एक उनका भृत्य प्राण बचाने को सन्यासी हो गया। कई वर्ष से अब वह भी स्वर्गवासी हो चुका है। और दोनों अनाथ राज कुमार हम तुम यहाँ बैठे हुए हैं। तुमको काशी के एक मठ में छोड़ हम विचरने लगे और वहाँ तुमने संस्कृत अध्ययन करने में जी लगाया। बहुत दिन तक हम योहीं विचरते रहे। फिर एक भगवद्भक्त महात्मा से योगाभ्यास किया। उनकी कृपा से अज्ञान नष्ट हुआ जो हमारे अन्तः करण को दुःखित कर रहा था। हमने दण्ड परित्याग किया। निज सम्प्रदाय का आग्रह छोड़ सब को अपना समझा। उसीका यह फल है कि हमारा दुःखमय जीवन सुख-

मय हो गया। अब हम भूत भविष्य की आवश्यक बातें योग विद्या से जान लेते हैं। आज हमारे इस नश्वर शरीर के छोड़ने का दिन है। इसी से हमने कहा कि "हमारा दर्शन और उपदेश अन्तिम है"।

तुम विद्वान् और बुद्धिमान् हो, आत्म अनात्म का भेद जानते हो। संसार की अनित्यता को तुम भली भाँति देख चुके हो। मोह ममता बन्धन का हेतु है। अतएव विशेष कहने की आवश्यकता नहीं। जाओ, तुम्हारे शिव पूजन का समय हो रहा है। पहिले उसे कर आओ फिर हमारी कथा शेष होगी।

कृष्णानन्द यदि गृहस्थ वा अल्पज्ञ पुरुष होते, तो इस समय अकचका जाते और उनके चित्त पर इन बातों का बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता। उन्होंने अपने को इसी में कृतार्थ माना कि अपने कुल, गोत्र, और परमहंस जी के साथ अपने सम्बन्ध का ज्ञान हो गया। यद्यपि शरीर छोड़ने की बात असह्य थी, तथापि शास्त्र पढ़ने का इस समय यह फल हुआ कि बिना वाक्य व्यय के पूजन करने को खड़े हो गये।

स्वामी विशुद्धानन्द जी ने प्रणाम करने का यही अवसर अच्छा समझा। सहसा परमहंस जी के चरणों में जाकर गिर पड़े और कहा कि आज बड़े भाग्य से आप का दर्शन हुआ है।

परमहंस जी को बड़ी प्रसन्नता हुई। बोले कि 'अच्छे समय आये। अच्छा, कृष्णानन्द ! इन्हें भो अपने साथ पूजन में ले जाओ।

दोनों शिव पूजा करने बिल्वकेश्वर के मंदिर में आये। पूजा की सामग्री में तीन चार ही वस्तु थी—गङ्गाजल, बिल्वपत्र, पुष्प और वैदिक मन्त्र। इस प्रकार की पूजा वे प्रायः प्रतिदिन करते थे, पर आज की पूजा में परमहंस जी की आज्ञा की विशेषता थी। अतः भक्तिभाव की भी विशेषता हुई।

इनके पूजन कर आने पर "हर हर महादेव" कह कर परमहंस वहां से खड़े हुए और दोनों को अपने साथ ले ब्रह्मकुण्ड पर आये। हर की पैड़ियों से स्नान कर दक्षिण की ओर एक वृक्ष के नीचे आन बैठे और इनको अनेक प्रकार के उपदेश देने लगे। स्वामी कृष्णानन्द

जी ने जो वास्तव में परमहंस जी के अनुज थे कई प्रकार के प्रश्न किये जिनका उन्होंने बहुत अच्छा समाधान किया।

स्वामी विशुद्धानन्द जी से जब पूछा गया कि कुछ तुम्हें पूछना हो तो तुम भी पूछो। तब आपने बड़े विनय से प्रार्थना की, कि—

'महाराज को स्मरण होगा कि कल्याणी में कई वर्ष हुए आप के दर्शन हुए थे?'

पर०। "हां, स्मरण है।"

विशु०। "संन्यास की इच्छा करने पर आपने आज्ञा दी थी कि पहिले वेदाध्ययन करो। पीछे संन्यास लेना। अब कहिये क्या किया जाय?

पर०। "बस वही—अध्ययन। स्मरण रक्खो कि अध्ययन और अध्यापन से बड़ी और कोई बात नहीं है। वेद पढ़ा पर अभी अङ्ग और शास्त्र तो शेष हैं।"

विशु०। "अभी संन्यास ग्रहण किया जाय कि नहीं?"

पर०। "संन्यास में ग्रहण करने को कुछ नहीं है। संन्यास नाम त्याग का है। त्यागशील सर्वदा संन्यासी है।"

विशु०। "सत्य है। संन्यास नाम त्याग का है और सर्वत्यागी सर्वदा संन्यास ही है। पर हम लिङ्ग संन्याय लेवें कि नहीं?"

पर०। भाई! संन्यास मार्ग बड़ा कठिन है। "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति" किन्तु जब तुम उसे कई वर्षों से चाह रहे हो, तो अब काशी में जाकर ग्रहण करो। संन्यास स्थान काशी के समान दूसरा नहीं है।

संन्यास में भी तुम्हारा भोग प्रबल है और कर्म प्रधान है। वह अबाध्य है, अपना काम करेगा परन्तु उसका लोक हित में सद्व्यय करना और हमारे इस श्लोक को स्मरण रखना जिसे हम योग्य समझ कर सुना रहे हैं—

"अकृत्वा परसन्तापमगत्वाखल मन्दिरम्।
अनुत्सृज्य सतां वर्त्म यत्स्वल्पमपि तद्बहु:।"

अर्थात् बिना किसी को कष्ट पहुंचाये, बिना दुष्टों के घर गये और बिना सन्मार्ग का त्याग किये जो स्वल्प भी मिले तो बहुत है।"

उपदेश के अन्त में परमहंस जी ने कहा कि बस अब हमारी तय्यारी है। हमारे लिये यह आनन्द का अवसर है। पति और पत्नी का मिलाप, पिता और पुत्र का मिलाप कैसा आनन्दजनक होता है? अतएव हमारे लिये शोक न करना मङ्गल करना। कहे हुए उपदेश पर चलना और थोड़ी देर में इस शरीर को गङ्गा में प्रवाहित कर देना बस यही हमारा आदेश है।" यह कह कर उत्तराभिमुख पद्मासन हो सदैव की समाधि लगा ली और उनके कहे के अनुसार दोनों ने उस पवित्र शरीर को गङ्गा में बहा दिया।

स्वामी कृष्णानन्द हरिद्वार से दक्षिण में चले गये और स्वामी विशुद्धानन्द ने जगत्पूजित विद्यापीठ काशीपुरी का मार्ग लिया।

तृयोदश परिच्छेद।

[सन् १८५० ई०—सिक्खों का अधःपतन—वाजिदअली शाह—काशी का महत्व—दशाश्वमेध पर निवास—गौड़ स्वामी जी का परिचय—भगवान्-दत्त जी—विवाह—शिक्षा—सर्दारों से मिलाप—निर्वेद—स्वदेश त्याग—संन्यास ग्रहण—'पण्डित स्वामी'—गौड़ और दाक्षिणात्यों का असद्भाव—काशी में आना—'गौड़ स्वामी' के नाम प्रसिद्धि पाना—महात्मा विश्वरूप जी]

स्वामी विशुद्धानन्द कल्याणी से जिस दिन चले थे, उसको अब दस वर्ष हो गये। दश वर्ष में वे नासिक, बिठूर और हरिद्वार आदि में घूमते हुए काशी पहुंचे तब १८३९ ई० था और अब सन् १८५० ई० बीत रहा है। दश ही वर्ष में भारतवर्ष की काया पलट हो गई।

तब दक्षिण में उत्तर देश के बल वीर्य्य की धूम मच रही थी। प्रतापी महाराज रणजीतसिंह की कीर्ति का कीर्तन हो रहा था। प्रचण्ड वीर सिक्खों को मित्र बनाये रखने की अङ्गरेज चेष्टा करते

थे और समय समय पर उनसे मित्रोचित सहायता भी पाते थे। पर अब उत्तर देश भी वीर विहीन हो चुका था। पञ्जाबकेशरी रणजीतसिंह स्वर्ग को सिधार गये थे और मदान्ध सिक्ख परस्पर की फूट में स्वाधीन साम्राज्य को खो बैठे थे।

गुजराज के रणक्षेत्र में सिक्खों के सेनापति बीरबर शेरसिंह और सर्दार चतरसिंह का पराभव हो गया था और सिक्ख सरदार अंग्रेज सेनापति को अपनी तलवार देकर यह अन्तिम वीर वाणी सुना चुके थे कि—'अंगरेज़ों के अत्याचार से व्यथित होने के कारण हम लोग युद्ध में प्रवृत्त हुए थे और अपने देश की रक्षा के लिये यथासाध्य युद्ध किया भी। हमने कभी वीर धर्म्म का अपमान वा तिरस्कार नहीं किया पर अब हमारी सेना मर कट गई और शस्त्र बेकाम हो गये हैं इससे नाना अभाववश हम अधीनता स्वीकार करते हैं। हमने जो कुछ किया है उसके निमित्त लज्जित नहीं हैं वरंच सामर्थ्य रहने पर भी वैसाही करेंगे।" पञ्जाबकेशरी का कोहनूर महाराणी की शोभा बढ़ाने को विलायत भेजा जा चुका था और उनका उत्तराधिकारी पुत्र दलीपसिंह राजपाट से हाथ धो फ़तहगढ़ (फ़र्रुखाबाद) में नजरबंद हो रहा था।

इधर लखनऊ के वाजिदअलीशाह नृत्य गीत में मग्न थे और दिनरात सारङ्गी तबला बज रहा था। मानो उनको संसार की कुछ भी खबर नहीं है कि अब क्या से क्या हो रहा है। छोटे अपने पुरुषार्थ से बड़े बन रहे हैं और बड़े अपने शुष्क अभिमान में दग्ध हो रहे हैं। अवध की प्रजा अत्याचार से प्रपीड़ित है और न्यायालय के स्वामी गवैये बजवैये हैं। तिस पर लार्ड डलहौसी पंजाब का ग्रास कर अवध की ओर सतृष्ण देख रहे हैं। खेद है कि विषयान्ध वाजिदअली को इन बातों का ज्ञान न था और न वे यह जानते थे कि अवध के अंत्येष्टि यज्ञ का धूमधाम से समारम्भ हो रहा है।

अस्तु। ऐसे समय में स्वामी विशुद्धानन्द ने लोकविश्रुत काशीपुरी के दर्शन किये। उत्तरवाहिनी भागीरथी का प्रवाह, घाटों की सुंदर

शोभा और मंदिरों की चमकती हुई सुनहरी कलशियां, देखकर आनंद से अधीर हो गये। सौभाग्य से आज वह पवित्रपुरी देखी जिसने विद्या की रक्षा कर जगत् में उच्चासन लाभ किया है। जगत् के इतिहास में ऐसे नगर बहुत ही थोड़े मिलते हैं जो आरम्भ से अन्त तक अपनी टेक निभाते चले जायँ। यदि इतिहास पर दृष्टि करके पूछा जाय कि पृथिवी तल पर किस नगरी ने सैकड़ों वर्ष तक अत्याचार और अविचार सहते रहने पर भी अपनी विद्या को अक्षत और जातीय गौरव को अचल रक्खा है तो निस्संदेह यही उत्तर मिलेगा कि वह भारतवर्ष की काशीपुरी है।

भिन्नधर्म्मा विदेशीय लोगों के आक्रमण से असंख्य नगरों का रूपान्तर हो गया, पर काशी आज भी वैसी बनी हुई है। वही 'हरहर महादेव' का शब्द, वही वेद की ध्वनि, वही संस्कृत विद्या की चर्चा घर घर में हो रही है। काशीवासी अपनी सम्पत्ति को अनेक बार गँवा बैठे, पर अपने पवित्र सनातन धर्म्म तथा आचार विचार से विच्युत नहीं हुए। यहां वालों के कई बार मस्तक छिन्न किये गये, दुराचारियों के रक्त भरे हाथों से अनेक वंश अनन्त काल सागर में निमज्जित हो गये पर उन्होंने कभी अपने धर्म्म को जलाञ्जलि न दी। इस पवित्र पुरी ने बहुत दिनों तक बड़े बड़े दुःख सहे हैं तथापि बचाव के लिये आत्मसन्मान नष्ट नहीं किया। ये जो दूर से पथिकजनों के दृष्टिगोचर हो रहे हैं, अत्याचारी औरङ्गजेब की मसजिद के दो ऊँचे मीनार नहीं हैं, भगवती वाराणसी की दो भुजा हैं जिनको उठा कर यह भगवान् विश्वनाथ से न्याय की प्रार्थना कर रही है।

अस्तु। काशी में आन कर विशुद्धानन्द जी दशाश्वमेध घाट पर ठहरे। जिस स्थान में आप आन कर रहे थे, वह दशाश्वमेधेश्वर महादेव के पास एक देवालय की छोटी सी कोठड़ी है। यहां ठहरने का मुख्य कारण यह था कि प्रसिद्ध गौड़स्वामी जी महाराज, जिनकी विद्या और संन्यास की प्रशंसा सुन कर आप यहाँ तक आये थे, वे

पास ही अहल्याबाई की धर्म्मशाला में रहते थे और विद्यार्थियों को पढ़ाते थे।

ये गौड़स्वामी जी वेही हैं जिनका नासिक क्षेत्र के वर्णन में पहिले (सप्तम परिच्छेद में) प्रसङ्ग आ चुका है। नासिक में ये 'पण्डितस्वामी' के नाम से प्रसिद्ध थे और यहाँ 'गौड़स्वामी' के नाम से। एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जाने पर नाम बदल सकता है और कभी कभी किसी विशेष बात के कारण कोई नया नाम भी प्रसिद्ध हो जाता है। यद्यपि इनके भिन्न भिन्न नाम होने के कारण पहिले कुछ वर्णन कर चुके हैं तथापि जब तक आनुपूर्व्वी से समस्त घटनाओं का निरूपण नहीं किया जाता, तब तक सन्देह का निराकरण होना कठिन है। हम समझते हैं कि हमारे पाठकजनों को इस बात के जानने की उत्कण्ठा होगी कि क्यों इनके भिन्न भिन्न नाम हुए और किस प्रकार इन्होंने विद्या और संन्यास ग्रहण किया, इसलिए यहाँ इनका परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है।

पञ्जाब में पटियाला राजधानी के पास 'शनोवर' नाम का एक गाँव है। वहीं पर पुण्यात्मा गौड़स्वामी जी का गौड़ ब्राह्मणों के कुल में जन्म हुआ था। इनके पिता श्रीमान् पण्डित जयगोपाल मिश्र ने अपने इस होनहार पुत्र का नाम 'भगवान्दत्त' रक्खा। बाल्यावस्था ही में भगवान्दत्त को पढ़ने की लगन लग गई थी पर इनके पिता को घर गृहस्थी के काम काज से अवकाश कम मिलता था और न कुछ इस बात की परवाह थी कि बालक की शिक्षा का उचित प्रबन्ध भी होना चाहिये। इस कारण वहाँ की 'चटसाल ही' में कुछ थोड़ा सा लिखा पढ़ा, परन्तु अधिक शिक्षा मिलने का सुभीता नहीं हुआ।

पंजाब में माँ बाप का विशेष लक्ष्य पुत्र के विवाह करने की ओर रहता है, शिक्षा की ओर नहीं। वे एक इसी बात को मुख्य कर्तव्य समझते हैं कि उनका बालक पुत्र बाल बधू के साथ किसी प्रकार गृह की शोभा बढ़ा दे। चाहे इसका परिणाम अच्छा हो या बुरा, वह सब विधाता के हाथ है। सो भगवान्दत्त भी माँ बाप के लाड़ चाव से

बाल्यकाल ही में विवाहे गये। १२ वर्ष की अवस्था से प्रथम ही गृहस्थ बना दिये गये।

विवाह के पश्चात् एक दिन चुपचाप आप घर से चल दिए। माता पिता बहुत घबराये। कुछ दिन पीछे खोज करने पर पिता को ज्ञात हुआ कि उनकी आँखों की पुतली, बुढ़ापे का सहारा, प्यारा पुत्र 'मदूदों' में विद्याध्ययन कर रहा है। होशियारपुर के जिले में एक गढ़ शङ्कर नाम की तहसील है। इस में 'मदूद' एक छोटा सा गाँव है वहाँ उस समय में पण्डित केशवराम जी सारस्वत ब्राह्मण एक अच्छे विद्वान् रहते थे। उन्होंने काशी के सुप्रसिद्ध महावैयाकरण भैरव मिश्र से विद्याध्ययन किया था। वैष्णव सम्प्रदाय में इनकी राम भक्ति की प्रशंसा होती थी और विद्वत्समाज में व्युत्पत्ति की। ये यशस्वी ऐसे थे कि इनके पास जो एक बार आया तो फिर पण्डित बन कर ही गया! इनके शिष्य बड़े बड़े प्रसिद्ध धुरन्धर पण्डित हुए हैं। "वृत्ति प्रभाकर" 'विचार सागर' प्रभृति ग्रन्थों के प्रणेता विख्यात साधु निश्चलदास जी, सुप्रसिद्ध पण्डित हरियशराय जी चमारू वाले आदि अनेक विद्वानों ने आरम्भ में इन्हीं से पढ़ा है। कहते हैं कि दूर दूर के विद्यार्थी इनके पास आन कर इसलिये ग्रन्थारम्भ करते थे कि उनकी विद्या निष्फल न जाय। बड़े पण्डित होने पर भी तात्कालिक देश प्रथा के अनुसार व्याकरण में सारस्वत चन्द्रिका और पुराणों में श्रीमद्भागवत, प्रधानतः इन्हीं ग्रन्थों के अध्यापन में अपने समय को लगाते थे। तीन चार वर्ष में इन ग्रन्थों को क्रम पूर्व्वक पढ़ कर भगवान्दत्त जी ने व्युत्पत्ति लाभ की। जिससे काव्य कोश और पुराणादि के पठन पाठन में इनकी असाधारण प्रतिभा का विकास होने लगा।

जब तक किसी रस का आनन्द अनुभव न किया हो तब तक रसाभिलाषी पुरुष को उससे निवृत करं सकते हैं, किन्तु जैसे जैसे उसका उस विषय में अनुभव बढ़ता जाता है, वैसे ही वह प्रवृत्ति निवृत्ति में स्वतन्त्र होने लगता है। वह अपने अनुभव के अनुसार कार्य्य करता है। भगवान्दत्त की बाल्यकाल ही में पठन पाठन की रुचि थी

परन्तु तब तक इस विषय का इन्हें ज्ञान नहीं हुआ था कि उसमें क्या आनन्द है ? अब उस अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव होने से उनकी लालसा बढ़ गई थी और ये घर वालों की अनिच्छा रहने पर भी काशीपुरी चले आये।

यहाँ आन कर पण्डितवर काकाराम शास्त्री, विद्वद्वर पंडित सखाराम भट्टजी, वङ्गीय पण्डित चन्द्रनारायण भट्टाचार्य आदि सुप्रसिद्ध काशीस्थ विद्वानों से व्याकरण, वेदान्त एवं न्याय शास्त्र प्रभृति का अध्ययन किया। बीस वर्ष की अवस्था से प्रथम ही आप ज्योतिः शास्त्र को छोड़ कर प्रायः सब शास्त्रों में असाधारण विद्वान् हो गये थे। इनका अभिनव पाण्डित्य पंडित मण्डली का उस समय मण्डन हो रहा था।

काशी से जो पण्डित राजधानी पटियाले में आया करते, उनके पिता पंडित जयदेव मिश्र अपने विद्वान् पुत्र का वृत्तान्त पूछते। और जब उत्तर में उनसे निज पुत्र के विद्या वैभव की बड़ाई सुनते, तो कृतकृत्य होकर अपने भाग्य की सराहना और उस शुभ मुहूर्त की प्रतीक्षा करते, जिसमें प्राणप्रिय भगवान्दत्त माँ बाप से आन कर मिले।

भगवान् की दया से माता पिता की इच्छा पूरी हुई और इच्छा पूरी हुई उस बेचारी पतिव्रता बालबधू की जिसको इनके बिना अन्धकार हो रहा था। आज आठ दस वर्ष के पश्चात् विद्वान् पुत्र को पाकर मां बाप को जैसा आनन्द हुआ, उससे न्यून इनकी पतिव्रता को प्राणपति के दर्शन से हुआ हो, यह कह नहीं सकते। भगवान्दत्त जी के शुभागमन से शनोवर के सब लोग प्रसन्न हुए और कई दिन तक लोग मिलने को बराबर आते रहे।

भगवान्दत्त जी जब काशी में पढ़ते थे, तब इनके पिता पटियाले के महाराज और बड़े बड़े सर्दारों से कहा करते "हमारा पुत्र बड़ा विद्वान् हो गया है, सब शास्त्र पढ़ चुका है"। ये भी उनको भरोसा दिया करते कि "अवश्य उसकी राज में बड़ी प्रतिष्ठा होगी"। पुत्र का प्रताप देखने के लिये और पटियाले राज्य में अपनी प्रतिपत्ति

बढ़ाने के लिये इसी प्रकार पं० जयगोपाल मिश्र अनेक मनोरथ किया करते। एकदिन अपने मनोरथ को सफल करने के हेतु पुत्र से कहा कि 'बेटा ! चलो, सर्दार साहिब से मिलें। जिससे तुम्हारी भाग्योन्नति हो और विद्या का कुछ फल देखने में आवे"।

तेजस्वी भगवान्दत्तजी ने किसी सर्दार के पास जाकर मिलना उचित न समझा इसलिए विनीत भाव से इस विषय में अपनी अनिच्छा प्रकाश की और बड़े विनीत भाव से कहा कि "पिता जी भाग्योन्नति विधाता के हाथ है। अदृष्ट में जो लिखा है वही होकर रहेगा। विद्या पढ़ना हमारा धर्म्म था और तज्जनित आनन्द उसका मधुर फल है। इसके सिवाय फलान्तर की हमें इच्छा नहीं है। हमारी भाग्योन्नति इसी में है कि हम विद्या का प्रचार करें और आपकी सेवा में तत्पर रहें।" फिर हमें क्या आवश्यकता है कि हम राज दर्बार में जाकर अपनी विद्या का आप अपमान करें !"

पिता पुत्र में इसी बात पर कई दिन तक विचार हुआ। पिता जाने में अनेक प्रकार के लाभ दिखलाते थे और निर्लोभ पुत्र अपनी शास्त्रीय युक्तियों से उन्हें अकिञ्चित्कर ठहराते थे। पिता के मन में पटियाले के महाराज से सन्मानित होना ही उन्नति की पराकाष्ठा थी और पुत्र, यथा लाभ में सन्तोष करना ही उन्नति की सबसे ऊंची सीढ़ी समझता था। अन्त को जब धर्म्मात्मा पुत्र ने यह देखा कि पिता अपनी बात का हठ करते हैं और उनके साथ न चलने से उन्हें कष्ट होता है, तो एक दिन पिता के साथ हो लिए और कहा "जहां इच्छा हो ले चलिए"।

पिता ने प्रसन्न मन हो पुत्र को साथ लिया और साथ लिए आशीर्व्वाद देने को कई श्रीफल। सब से पहिले एक सरदार के पास गये, जो महाराज का बड़ा प्रेमपात्र था। इसको वेदान्त जानने का बड़ा घमण्ड था। यह एक कौंच पर बैठा हुआ पानी के कुल्ले कर रहा था। पिता पुत्र दोनों को साथ देख कर वह मुसकुराया और पासही दरी पर बैठने को कहा। कुछ देर पीछे वह अपना

आवश्यक काम करने को चला गया और इनसे कहला भेजा कि "अब हमें मिलने की फुरसत नहीं फिर आना"।

कहते हैं कि इसी प्रकार एक और दूसरे सरदार के पास पहुँचे। उसने दूर ही से दुत्कार दिया। मन्त्री और महाराज भी किसी अत्यावश्यक कार्य्य में लग रहे थे। अतः घण्टों तक राज-द्वार पर दर्शन की इच्छा से बैठे रहे, पर वहाँ तक पहुँचने न पाए। द्वारपालों ने मना कर दिया। अगत्या, निराश हो पिता पुत्र दोनों घर को लौट आये। 'श्री फल' का ले जाना निष्फल हुआ।

कभी कभी ऐसा देखने में आता है कि जो बात सुख के लिए की जाती है, उसीसे दुःख अनिवार्य्य हो जाता है। सुफल की आशा से जिस कोमल लता का रोपण किया है उसीसे कुफल उत्पन्न होता है। श्रीमान् पण्डित जयगोपाल मिश्र, यदि अपने पुत्र को राजदरबार में न ले जाते तो बोध होता है कि वे उनकी विद्वत्ता से बड़े लाभवान् होते और पुत्रसुख से इतने शीघ्र वञ्चित हो गार्हस्थ्य सुख को जलाञ्जलि न देते। पर विधाता की लीला बड़ी विचित्र है। वह बने बनाए कार्य्य को क्षण मात्र में नष्ट कर देता है!

महानुभाव भगवान्दत्त, चुपचाप पिता के साथ चले आये और अपने को मन ही मन धिक्कार देने लगे "किस लिए विद्या पढ़ी थी? क्या विद्या का यही फल है कि उदरपूर्ति के लिए श्वान के समान प्रत्येक द्वार पर भटकता फिरे? भला, कहाँ ब्रह्मबल, विद्या-बल और कहाँ तुच्छ जगत् का अति तुच्छ लोभ? जब तक गृहस्थी में रहेंगे तब तक इसी प्रकार भटकना होगा। इसलिए इस गृहस्थी ही को जो लोभ मोह का मूल है छोड़ना चाहिये।" इस प्रकार की चिन्ता कर वे अपनी स्त्री के पास गए।

स्त्री इनको बड़ी प्यारी थी। माता पिता में जैसा इनका भक्ति भाव था वैसा ही स्त्री में स्नेह था। क्योंकि, यह छल कपट से रहित, सरलता और शील स्वभाव की मूर्ति थी। इस गुणवती के रूप लावण्य पर भगवान्दत्त जी मोहित न थे। मोहित थे, इसके चाल

F. 14

चलन पर। अतएव अपनी अभिलाषा इन पर सहसा प्रकट भी न कर सके और उससे गुप्त भी न रख सके। कई प्रकार से समझा बुझा कर कहा कि "हम एक अत्यावश्यक कार्य्य के लिए कहीं जायेंगे, किसी प्रकार की चिन्ता न करना, जब तक हम न आवें, हमारे मां बाप की सेवा में तत्पर रहना। यदि माता पिता को हमारे विचार की खबर मिल जायगी तो फिर वे हमें वहां जाने से रोकेंगे और हमारी यात्रा में विघ्न करेंगे। बिना कहीं आए जाए हमसे रहा नहीं जाता। इसलिए जो कुछ तुमसे कहा है उसे किसी से कहना मत।" सरला पतिव्रता ने बिना कुछ कहे इस कथन को स्वीकार कर लिया।

इस दिन भगवान्दत्तजी ने माँ बाप की ख़ूब पदसेवा की। पिता बड़े प्रसन्न हुए, कहने लगे कि "बेटा आज बिना मुहूर्त राज-दरबार में गए थे इसलिए उनसे मुलाकात नहीं हुई। अब के शुभ लग्न देख कर चलेंगे। सब कार्य्य ठीक होगा।"

रात को जब सब लोग सो गए, तब अपनी स्त्री के पास से तीन पुस्तकें जो उनको सब से अधिक प्रिय थीं, ग्रहण की, जिनके नाम अद्वैतसिद्धि, गौड़ब्रह्मानन्दी और शास्त्रदीपिका थे। पुस्तकों को उठा चुपचाप दक्षिण की ओर चल दिए। सरला बाला टकटकी लगाए देखती ही रह गई!

जब पिता को सब वृत्तान्त ज्ञात हुआ तब इधर उधर आदमी दौड़ाये और स्वयं काशी तक चक्कर लगा आए। वर्षों तक छान बीन की किन्तु कहीं भी पता न चला।

संन्यास-ग्रहण करने की इच्छा से विरक्त भगवान्दत्त घर से निकले। सोचा कि 'कहाँ चलें? काशी। चले तो चलें, पर काशी में तो कोई दक्षिणी, गौड़ ब्राह्मण को संन्यास न देगा। उन अभि-मानियों के समीप तो गौड़ ब्राह्मण, ब्राह्मण ही नहीं हैं, तुच्छादपि तुच्छतर तुच्छतम हैं। फिर वहाँ जाना वृथा है। दक्षिण देश में चल वहीं किसी महात्मा से संन्यास ग्रहण करेंगे।"

इस विचार से भगवान्दत्त जी नासिक क्षेत्र में चले आये और

विद्यार्थियों को सानन्द पढ़ाने लगे। थोड़े ही दिनों में वहाँ के एक प्रसिद्ध पण्डित हो गये। उधर इनके अध्यापन की प्रशंसा बढ़ने लगी, इधर संन्यास ग्रहण की इच्छा। सौभाग्य से एक बार नासिक में कई एक वीतराग संन्यासियों का समागम हुआ। वेदान्त शास्त्र की आलोचना के लिए उनमें से एक दो अध्यापक भगवान्दत्त जी के पास आया करते। इन्होंने अपने गुरु से महाभाग भगवान्दत्त जी के वैराग्य आदि संन्यासोचित गुणों की प्रशंसा की और साथ ही निवेदन किया कि वे आपसे संन्यास लेने की इच्छा करते हैं। पर यह सुन कर वे चुप हो गये।

पण्डितवर भगवान्दत्त जी भी उक्त महात्मा के पास आने जाने लगे। जब उनको यह पूर्ण निश्चय हो गया कि यह शान्त विद्वान् संन्यास का अवश्य अधिकारी है तब इनको सहर्ष संन्यास दे दिया। यद्यपि भगवानदत्त जी का तब से "तारक ब्रह्मानन्द सरस्वती" नाम हो गया; तथापि नासिक के लोग इन्हें उस समय का अद्वितीय पण्डित समझ "पण्डित स्वामी" के नाम से पुकारने लगे। प्रायः बीस वर्ष तक नासिक में निवास कर शास्त्रचर्चा में समय बिताया। अनेक पुरुषों को विद्वान् बनाया और उपदेश दे कृतार्थ किया। जब देखा कि अब परिचित मण्डली में जाने से हमारे संन्यास को कुछ भय नहीं है, तब अपने पुरातन पुनीत स्थान काशीधाम में आये।

काशी के पण्डितों ने पहिले ही से पण्डित स्वामी जी का नाम सुन रक्खा था पर उनको यह ज्ञान न था कि वे हमारे पूर्व परिचित मित्र गौड़ पण्डित भगवान्दत्त जी ही हैं। अब अपने सुयोग्य मित्र को जगत्पूज्य संन्यासी के रूप में देख कर सब ने सहर्ष स्वागत और अभिवादन किया एवं उनके काशी में पधारने पर अति हर्ष प्रकाशित कर अपनी आन्तरिक सहानुभूति दिखलाई।

गौड़ ब्राह्मणों के लिये अब तक संन्यास का मार्ग दाक्षिणात्य लोगों की हठ रूपी अर्गला से अवरुद्ध था, अब उसे उन्मुक्त हुआ देख

कर गौड़ कुल के इन सब से पहिले संन्यासी को सब काशीवासी "गौड़ स्वामी" कहने लगे।

महाराष्ट्रों के राज्य समय में कितने ही अहंकारोन्मत्त दक्षिणी पण्डित गौड़ ब्राह्मणों को घृणा से "रांघड़ा" अर्थात् व्रात्य वा नीच के नाम से पुकारा करते और अपने को आदर्श स्वरूप चरित्रवान् ब्राह्मण समझते। उनके इस अनुचित नामकरण का प्रतिवाद करने की सामर्थ्य उस समय गौड़ जाति में विद्यमान न थी। क्योंकि, ज्यों ज्यों गोत्रघाती ममत्व शून्य मरहठों का अत्याचार राजपूताने की वीरभूमि पर बढ़ने लगा, त्यों त्यों दक्षिणी लोग दून की हाँकने लगे। कितने ही दक्षिणी पण्डित अग्रवाल वैश्यों के वैश्यत्व की यह कह कर इति श्री करने लगे कि वे लोग त्यक्तधर्म्मा क्षत्रियापसद हैं और कितनों ही ने "कलावाद्यन्तयोः स्थितिः" के सहारे यही सिद्ध करना चाहा कि कलियुग में ब्राह्मण और शूद्र दो ही वर्ण हैं, क्षत्रिय और वैश्य हैं ही नहीं। गौड़ ब्राह्मणों को वेद पढ़ाना छोड़ दिया और अग्रवाल वैश्यों को वेद सुनाना छोड़ दिया। सुतरां, गौड़ ब्राह्मणों के विरुद्ध जो संस्कार पहिले पहिल केवल अदूरदर्शी, अहङ्कारी पुरुषों के हृदय में उत्पन्न हुआ था शेष में उसने दाक्षिणात्यमात्र के हृदय पर अपना अधिकार कर लिया। उसी कुसंस्कार का यह फल हुआ कि गौड़ ब्राह्मण जाति ही संन्यास के अयोग्य समझी गयी।

किसी दक्षिणी पण्डित ने यह नहीं सोचा कि जिस जाति में सुप्रसिद्ध स्वामी शङ्कराचार्य्य के परम गुरु, परमहंस परिव्राजकाचार्य्य महात्मा "गौड़ पादाचार्य्य" का जन्म हुआ है, वह जाति संन्यास के अयोग्य किस प्रकार हो सकती है? इस बात को सब लोग जानते हैं कि शङ्कराचार्य्य दक्षिणी (द्राविड़) थे और गौड़ पादाचार्य्य गौड़ थे। यदि इस सम्बन्ध पर दक्षिणी लोग ध्यान करते तो कदापि गौड़ जाति को इतनी कठोर दक्षिणा न देते।

अस्तु, इस कथन से हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि किसी अनधिकारी को अधिकार प्रदान किया जाय। नहीं, हमारे कथन का

तात्पर्य इतना ही है कि थोड़े बहुत पुरुषों के संस्कृत वा असंस्कृत होने से किसी जाति मात्र को भली बुरी नहीं ठहरा सकते। हमने माना कि दिल्ली के "शाही तख्त" से दूर रहने के कारण दक्षिणियों को शास्त्रोक्त आचार व्यवहार के पालन में सुभीता रहा और दिल्ली के समीपवर्ती गौड़ों को उसका अभाव था। परन्तु केवल इसी बात पर दक्षिणी मात्र को पूत पवित्र शुद्धात्मा और गौड़मात्र को भ्रष्टसंस्कार, अपवित्र और हेय समझ लेना, भूल की बात है। क्योंकि अच्छे बुरे सब जातियां में मिलते हैं।

आदर्श संन्यासी गौड़ स्वामी जी ने अपने सच्चे संन्यास और वैराग्य से यह सिद्ध कर दिया कि गौड़ जाति को संन्यास के अयोग्य ठहराना ठीक नहीं था। दक्षिण के कई नरेशों ने गौड़ स्वामी जी को अपनी राजधानी में ले जाना और बहुत सा द्रव्य देना चाहा पर उस महानुभाव ने स्वीकार नहीं किया। काशी में उनके आने का समाचार सुन ग्वालियर और इन्दौर के राजपुरुषों ने उनके लिए मठ बनवाने और सदैव के लिए उसमें सदाव्रत का प्रबन्ध करने की इच्छा प्रकाश की, किन्तु स्वामी जी किसी प्रकार सहमत नहीं हुए और अहिल्याबाई की धर्म्मशाला में आन कर ठहर गए।

यह धर्म्मशाला "दशाश्वमेध घाट" के पास गङ्गा किनारे यद्यपि एक अच्छी जगह पर है तथापि यहाँ के संन्यासियों के मठ और गङ्गा तट के अन्यान्य स्थानों के सामने यह कुछ भी वस्तु नहीं है। यदि यहाँ महात्मा गौड़ स्वामी जी जैसे महापुरुषों का निवास न होता तो कदापि सम्भावना न थी कि काशीपुरी में इस स्थान को कोई पुरुष देखने आता और इसकी इतनी प्रसिद्धि होती।

इस धर्मशाला की पहिली मंजिल में देश देशान्तर से आये हुए विद्यार्थी, न्याय व्याकरणादि शास्त्रों का अध्ययन करते थे और दूसरी में शान्तशील दण्डी संन्यासियों का निवास था। पहिली कक्षा में पहुँचने पर ब्रह्मचर्य का दृश्य दृष्टिगोचर होता था और दूसरी में संन्यास का। मानों यह स्थान इस विषय का निदर्शन हो गया था

कि ब्रह्मचर्य के बिना कोई पुरुष संन्यास मार्ग का अधिकारी नहीं हो सकता।

अध्यापकप्रवर, महाभाग गौड़ स्वामी जी, दक्षिण से अकेले नहीं आए, उनके साथ अनेक गुरुभक्त शिष्य भी थे। जिनमें—धारा के गणेश शास्त्री, इन्दौर के गणुशास्त्री और अच्युतानन्द, सच्चिदानन्द एवं नृसिंहस्वामी प्रभृति मुख्य थे। यहाँ आने पर उन्हें एक और शिष्य मिला जो विद्वान् होने पर भी निरभिमान था। पण्डित होने पर भी जिसके हृदय में पढ़ने की इच्छा बनी हुई थी। जिसके दर्शन मात्र से मन की शान्ति होती थी, चित्त में वैराग्य उपजता था, हृदय भक्ति भाव से पूर्ण होता था और अन्तःकरण की दुर्वासना दूर होती थी। पूज्यपाद गौड़ स्वामी जी के इस दयासागर शान्तमूर्त्ति शिष्य का नाम स्वामी "विश्वरूपानन्द" था।

महात्मा विश्वरूपानन्द जी ने गौड़ स्वामी जी से संन्यास ग्रहण किया। गौड़ स्वामी जी जैसे महापुरुष को गुरु बनाने से शिष्य का मन जैसा सन्तुष्ट हुआ वैसा ही गौड़ स्वामी जी की आत्मा उपयुक्त शिष्य को पा कर प्रसन्न हुई। पण्डित मण्डली को सम्बोधन कर एक दिन सत्यवादी गौड़ स्वामी जी ने कहा था कि "संन्यासी के लिए 'पुत्रेषणा' सर्वथा परित्याज्य है, पर बोध होता है, जो विश्वरूप हमारा शिष्य न होता तो हमारी पुत्रेषणा का निर्मूल होना एक अति कठिन कार्य था"।

पाठकवृन्द! महात्मा गौड़ स्वामी का अमित प्रभाव सुन कर आज दूर देश वासी "विशुद्धानन्द जी" भी अहिल्याबाई की धर्म्मशाला में पधारे हैं।



चतुर्दश परिच्छेद

[गौड़ स्वामी जी की पाठशाला—प्रश्नोत्तर—उस समय की शास्त्रचर्चा—चिदस्थिमाला और चित्कला—स्वामी जी की व्याकुलता—काष्ठजिव्ह स्वामी—परीक्षा—अनुष्ठान—संन्यास-ग्रहण]

अहिल्या बाई की धर्म्मशाला में पहुँच कर विशुद्धानन्द जी ने देखा कि अनेक ब्राह्मण कुमार उच्च स्वर से वेदपाठ कर रहे हैं और बहुत से छात्र भिन्न भिन्न शास्त्रों के विचार में मग्न हैं। कोई प्रश्न कर रहा है और कोई उत्तर देने में तत्पर है। कोई कोई छात्र नेत्र बंद किये अष्टाध्यायी घोष रहा है और कोई विवेचना की अवच्छेदकता का कौशल दिखा रहा है। एक प्राचीन काल की अध्यापन प्रणाली की भूयसी प्रशंसा कर रहा है और दूसरा नवीन शैली पर मस्त हो उसीका गुण बखानता है। इन विद्यार्थियों के शब्द से धर्म्मशाला की पहली मंज़िल गूंज रही है।

दूसरी मंज़िल पर दण्डी सन्यासियों की मण्डली विराजमान है और वे प्रशान्त भाव से वेदान्त शास्त्र की आलोचना कर रहे हैं। सब के बीच में महात्मा गौड़ स्वामी जी सुशोभित हैं और उनके चारों ओर अनेक साधु संन्यासी बैठे हुए हैं।

गौड़ स्वामी जी वृद्ध थे, पर उनके हृष्ट पुष्ट और मांसल शरीर को देख कर यही जान पड़ता था कि इनकी वय तीस चालीस वर्ष से अधिक न होगी। उनकी उज्जल दृष्टि, उन्नत मस्तक, विशाल वक्षस्थल, प्रलम्ब भुजाएँ और गम्भीर वाणी उनके पूर्वाचरित ब्रह्मचर्य्य की ज्ञापक थी। उनके दोनों कान श्वेत रोमावली से आच्छादित थे जिनके देखने से यही बोध होता था कि मानों जरादेवी बलीयान् तपस्वी शिष्यों के भय से अब इन्हें अन्तिम गुप्त संवाद सुना रही है। गौड़ स्वामी जी की प्रशान्त गम्भीर आकृति मात्र के देखने से यही जान पड़ता था कि ये शान्ति के आधार, क्षमा और सन्तोष

के आगार, धर्म्म के प्रवर्तक, सत्पथ के दर्शक और सत्स्वभाव के आश्रय हैं।

आज स्वामी विशुद्धानन्द को अपार आनन्द हो रहा है। जिस प्रकार एक दिन कौरव कुमार, महावीर तपस्वी द्रोणाचार्य को देख कर प्रसन्न हुए थे, जिस प्रकार एक दिन महाराष्ट्र केसरी वीरवर शिवाजी ने, स्वामी रामदास जी के दर्शन मात्र से प्रफुल्लित हो कर अपने चिरकाल के मनोरथों को सिद्धप्राय समझा था, जिस प्रकार वैदिक धुरन्धर, कुमारिल भट्ट को पा कर एक दिन मण्डन मिश्र का मन प्रमुदित हुआ था, जिस प्रकार तत्वदर्शी भगवान् गोविन्दपाद के दर्शन से एक दिन स्वामी शङ्कराचार्य को आनन्द हुआ था, आज उसी प्रकार विशुद्धानन्द के सुख की सीमा नहीं है। जिनके विषय में मन ही मन अनेक प्रकार की बातें सोचते और कल्पना किया करते थे, आज उनकी मधुर मूर्ति का दर्शन कर वे कृतार्थ हो गए और साष्टाङ्ग प्रणाम कर विनीत भाव से एक ओर बैठ गए।

इस समय ब्रह्मसूत्र के शारीरिक भाष्य का पाठ हो रहा था। गौड़स्वामी जी पढ़ाते थे और सब लोग पढ़ रहे थे। इसलिये इनको प्रलम्ब प्रणाम का उत्तर संक्षेप ही से मिला। सो भी मुँह से नहीं हाथ से। किन्तु उनके हाथ हिलाने से जो इनके चित्त को परितोष हुआ सो औरों के बड़े लंबे चौड़े आशीर्वाद से होना कठिन है।

पाठ समाप्त होने पर गौड़स्वामी जी ने अपनी प्रशान्त दृष्टि से इनकी ओर देखा और आदर तथा प्रेम के साथ पूछा कि—

"महात्मन्! कहाँ से आगमन हुआ?"

विनयनम्र विशुद्धानन्द ने उत्तर दिया—

"हरिद्वार से"।

गो०। यहाँ किस वास्ते आए हो?

वि०। आपके दर्शन करने को।

गो०। हमारे दर्शन करने को!—शिव! शिव!! ऐसा कभी

कहना न चाहिये। हमारे दर्शन से क्या होता है ? दर्शन तो भगवान् विश्वनाथ के करने चाहिये जिसमें कल्याण हो।

वि०। भगवन् !—मेरे विश्वनाथ !—मेरे कल्याणकर्ता !—केवल आप ही हैं। आप ही के निमित्त तो मैं इतनी दूर से चल कर आया हूँ।

गो०। (दयापूर्वक) क्यों भाई ! हमारे पास आने का क्या प्रयोजन है ? कहो, यदि हमसे साध्य हुआ तो अवश्य पूरा होगा।

वि०। मेरे विचार में ऐसी कोई बात नहीं जो आपसे न हो सके।

गो०। तो स्पष्ट कहिये—वह क्या बात है ?

वि०। दयासिन्धो ! मेरी एक मात्र इच्छा यही है कि आप इस अधीन को अपने शरण में लेकर संन्यास की दीक्षा दे कृतार्थ करें।

गो०। संन्यास !—ओः ! संन्यास बड़ा कठिन है। कलिकाल में संन्यासाश्रम के नियमों का पालन करना बहुत दुर्घट व्यापार है।

वि०। यथार्थ है। यह समय संन्यास के योग्य नहीं, किन्तु—

गो०। कहो, कहते कहते चुपके क्यों हो गए ? किन्तु क्या—

वि०। विशेष कुछ नहीं, केवल इतना ही कि जब आप कहते हैं तो ठीक ही है, कलिकाल संन्यास के अयोग्य ही होगा किन्तु स्वामी श्रीशङ्कराचार्य प्रभृति महानुभावों ने फिर इस काल में संन्यास क्यों लिया ?

गो०। भला कहाँ भगवान् भाष्यकार और कहाँ हम ? कहाँ भगवान् विश्वनाथ की अपूर्व विभूति और कहाँ जगत के जीवों की तुच्छतर क्षमता ! कहाँ सर्व-कर्म्म-फल-त्यागी संन्यासी शङ्कराचार्य का संन्यास और कहाँ उदरभरणपरायण हम लोगों की भिक्षु लीला। फिर भला, उनके साथ आज कल के लोगों की तुलना ही क्या हो सकती है ! यह भी जान लेना चाहिये कि—केवल काल ही का दोष नहीं है, संन्यास के यथार्थपात्र भी पृथिवी पर बहुत कम मिलते हैं ?

वि०। पात्र और कुपात्र का ज्ञान कैसे हो ?

गो०। परीक्षा से।

वि०। यह परीक्षा कब और कहाँ होती है ?

गौ०। सर्वदा और सर्वत्र।

वि०। कैसे ?

गौ०। यह ज़रा सोचने समझने की बात है। यदि विचार कर देखा जाय तो मनुष्य की बात बात में ठौर ठौर पर परीक्षा हो सकती है। चाहे इसका साधारण लोगों को ज्ञान न हो परन्तु अन्तर्यामी परमात्मा और योगिजन सब रहस्य जानते हैं। भाषा, भाषण, लेख और आकृति इत्यादि से यद्यपि लोग एक प्रकार का निश्चय कर लेते हैं; किन्तु जब तक एक स्थान में कुछ दिनों सहवास न हो, तब तक किसी के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता कि वह कैसा है ? पात्र है कि कुपात्र ? क्योंकि जिनके मधुर भाषण और सुन्दर आकृति मात्र को देख यह निश्चय कर लिया जाता है कि ये बहुत अच्छे हैं, कार्यकाल में वे उसके विपरीत पाए गए। इसलिए जब तक हम एकत्र रह कर अच्छी तरह किसी की छान बीन न करलें तब तक किसी को संन्यासी नहीं कर सकते। तिस पर तुम्हारा यह नवीन वय और सुन्दर शरीर !

वि०। तब क्या भगवान् को वासी भोजन समर्पण करना चाहिये। बुढ़ापे में भगवान् का भजन व परमार्थ का चिन्तन करना ऐसा ही है जैसा अपने स्वामी के समक्ष पर्युषित पदार्थ का निवेदन करना। जिनसे युवावस्था में प्रभु का स्मरण नहीं हुआ, उनसे बुढ़ापे में क्या होना है ?

गौ०। सच है। भगवान् का भजन युवावस्था ही में नहीं, वरञ्च बाल्यावस्था में भी करना चाहिए। कल की कौन जानता है कि क्या होगा ? भगवान् का स्मरण करने के समय मनुष्य अपने को ऐसा समझे मानो मृत्यु ने उसका कण्ठ पकड़ रक्खा है। और कहा भी है—

"गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्म्ममाचरेत्।"

वि०। जब ऐसा ही है तो आप दीक्षा देने में विलम्ब क्यों करते हैं ?

गौ०। हरि स्मरण में सब को स्वतन्त्रता है। उसको सब कोई सब अवस्था में कर सकता है। पर आश्रमधर्म्म कुछ और वस्तु है। इसमें देशकालादि का अवश्य विचार करना पड़ता है।

वि०। सो कीजिए किन्तु मुझे निराश न कीजिए।

गौ०। नहीं, ऐसा कभी न होगा कि कोई अधिकारी पुरुष यहाँ से निराश चला जाय। तुम यहाँ नित्य आ कर पाठ सुना करो और विद्यार्थियों से शास्त्र का चिन्तन किया करो, जिससे तुम्हारा काल व्यर्थ नष्ट न हो। यदि तुम संन्यास के अधिकारी समझे गए तो यथासमय वह मनोरथ भी पूर्ण होगा।

स्वामी जी के शास्त्रानुकूल और मधुर वाक्यों से विशुद्धानन्द जी के हृदयक्षेत्र में आशालता का अङ्कुर जम गया और प्रति दिन के बढ़ते हुए आन्तरिक स्नेह ने उसे सींच कर पल्लवित कर दिया। सहपाठियों की कपट रहित सरलतापूर्ण सहानुभूति सूचक बातों और आश्रमस्थ संन्यासियों के कृपायुक्त, उदार उपदेश से उनका चिन्तित मन, प्रसन्न और प्रफुल्लित हो गया एवं थोड़े ही दिनों में वे अपनी विद्या और तेजस्विता से एक विशेष व्यक्ति कहलाने में समर्थ हो गए।

उस समय काशी जी में व्याकरण शास्त्र की विशेष चर्चा हो रही थी। मीमांसा और वेदान्त के पठन पाठन को ब्राह्मण लोग गौण समझ कर व्याकरण की फक्किकाओं को मुख्य मानने लगे थे। नागेश भट्ट के परिभाषेन्दु शेखर और शब्देन्दुशेखर की नई नई टीका टिप्पणियों को लोग चाव से देखते थे जिससे सिद्ध होता था कि कुछ दिन पश्चात् यहाँ केवल व्याकरण शास्त्र का साम्राज्य हो जायगा। यद्यपि अभी तक पूर्व मीमांसा के अध्ययन अध्यापन का अस्त नहीं हुआ था और यद्यपि अभी तक वेद वेदान्त सांख्य योग की कथा वार्ता भी होती थी, तथापि सब का झुकाव व्याकरण की ओर हो रहा था। व्याकरण में जो नवीन कल्पना करता वही कल्पक और प्रतिभा सम्पन्न समझा जाता और व्याकरण में जिसकी कुछ सूझ बूझ न होती वह बड़ा पण्डित होने पर भी उतना आदृत नहीं होता। एक दूसरे

की देखादेखी प्राय: सब पण्डित लोग व्याकरण के पीछे हो लिए थे पर यह किसी ने सोचा कि इसका अन्त में परिणाम क्या निकलेगा ?

गौड़ स्वामी जी छात्रों के बड़े प्यारे थे और छात्र भी इन्हें प्राणाधिक लगते थे। इनके विद्यार्थियों में एक यह गुण अधिक था कि वे प्राय: किसी दूसरे अध्यापक के पास अध्ययन करने नहीं जाते न्याय, व्याकरण सांख्ययोगादि सब शास्त्र इन्हींके पास पढ़ लिया करते थे। और उनको इस बात का बड़ा घमंड था कि परमात्मा की कृपा से वे एक ऐसे अध्यापक के शिष्य हैं जो अकेला ही सब के समान हैं। विद्यार्थियों के इस घमंड को वे लोग कदापि अनुचित नहीं समझेंगे जो गौड़ स्वामी के असाधारण पाण्डित्य से कुछ भी परिचय रखते होंगे। जो हो, इस समय 'शेखर' के पठन पाठन की बड़ी धूम थी। जो विद्यार्थी, टीका टिप्पणी को नवीन बातों का अभिज्ञान नहीं रखते थे, उनको दूसरी शाला के वे विद्यार्थी जो नई शिक्षा से सुशिक्षित थे, शास्त्रार्थ में परास्त कर देते थे। एक बेर गौड़ स्वामी जी के दो एक विद्यार्थी भी व्याकरण के शास्त्रार्थ में दब गए और इस कारण वे अपने गुरु जी के पास आकर उदास हो कहने लगे कि आप को भी "शेखर" पर कोई टीका बनानी चाहिये जिससे हम तिरस्कृत और पराजित न हों। शिष्यों की प्रार्थना से कृपालु और विद्वान गौड़ स्वामी जी ने दो ग्रन्थ बनाए जिनको देख कर न केवल उनके शिष्य ही प्रसन्न हुए वरञ्च और पण्डित लोग भी धन्य धन्य कहने लगे। परिभाषेन्दु शेखर पर 'चिदस्थिमाला' शब्देन्दुशेखर पर 'चित्कला' नाम की इनकी दोनों टीकाएं बहुत ही अच्छी बनीं। उस समय तक प्रेस का प्रचार भारतवर्ष में इतना अधिक नहीं था, जितना आज कल है। यदि होता तो इस समय तक उन पुस्तकों के कई संस्करण हो गए होते, पर तो भी विद्यार्थी लोग लिख लिख कर उनका आदर से प्रचार करते थे और गौड़ स्वामी की पाठशाला में भी उनके पठन पाठन की बहुत चर्चा थी। वर्तमान समय में परिस्कारबहुल शेखर की कई एक टीकाएं मिलती

हैं पर उस समय में पण्डितवर राघवेन्द्राचार्य्य की त्रिपथगा ही सर्वोत्तम टीका समझी जाती थी, दूसरा स्थान मिला तो इनकी टीका ही को मिला। स्वामी विशुद्धानन्द जी इससे पहिले व्याकरण की शिक्षा प्राप्त कर चुके थे, पर उसके मनन और विचार का अवसर नहीं मिला था। इसलिए इस लाभ को उन्होंने परमलाभ समझा और प्रतिदिन पाठशाला में स्वयं उपस्थित होकर गौड़ स्वामी जी से भाष्य-विवरणादि ग्रन्थ पढ़ने लगे और विद्यार्थियों को पढ़ाने और विचराने लगे।

काशी में आए छः मास हो गए। इतने दिनों में स्वामी विशुद्धानन्द जी की बहुत से लोगों से जान पहिचान हो गई। उनकी उत्साह युक्त चेष्टा और प्रशंसित मेधा देख कर विद्यार्थी और पण्डित जन उनका सन्मान करने लगे और यश के साथ साथ उनको शास्त्रविषयक जिज्ञासा एवं अनुसन्धित्सा अधिकाधिक बढ़ने लगी। यह सब तो हुआ किन्तु एक बात के बिना इन सब बातों का होना न होना बराबर था। जिनके शिष्य होने के लिए ये इतनी दूर से आए थे, उन महात्मा गौड़ स्वामी जी ने अभी तक अपना अभिमत प्रकाश नहीं किया। संन्यास की चर्चा चलने पर वे यह कह कर टाल देते कि 'अभी क्या जल्दी है ?' इस उत्तर से विशुद्धनन्द जी को सन्तोष नहीं होता। ज्यों ज्यों वे बहाना करने लगे त्यों त्यों इनकी उत्कण्ठा बढ़ती जाती थी।

यद्यपि दिन में परिश्रमपूर्वक पढ़ते हैं, श्रद्धापूर्वक गुरुसेवा करते हैं और प्रेमपूर्वक विद्यार्थियों को पढ़ाते हैं; तथापि रात्रि के समय वे पाठशाला में रहने नहीं पाते ! पाठशाला में विद्यार्थी हैं, संन्यासी बसते हैं और भी आए गए भलेमानुस ठहर जाते हैं परन्तु वहाँ विशुद्धानन्द जी के लिए दो तीन हाथ की जगह नहीं मिलती, यह देख कर सहपाठी विस्मित और दुःखित होते, पर स्वामी जी कुछ न बोलते।

एक दिन एक दाक्षिणात्य पण्डित ने आन कर कहा कि "आप अपने हाथ क्यों अपना तिरस्कार करा रहे हैं ? क्यों नहीं किसी दूसरे संन्यासी के शिष्य हो जाते ? आप जैसे विद्वान् को अच्छे

अच्छे मठधारी परमहंस अपनी गद्दी पर बैठा सकते हैं। शिष्य होना है तो उन्हींका होना चाहिये" यह सुन कर स्वामी जी ने पण्डित जी को ऐसी झाड़ बताई कि फिर किसी का यह हौसला नहीं हुआ कि इनके विचार के प्रतिकूल आन कर कोई कुछ कहता।

जब इस प्रकार आशामुग्ध विशुद्धानन्द जी को बहुत दिन हो गए तो वे अपने सहपाठियों से कहने लगे कि यदि हमें उदर निमित्त संन्यास ग्रहण करना होता, तब तो संन्यासियों का अभाव न था। मठ और गद्दी पाने का भी हमें लोभ नहीं है। मकानों का लोभ लालच होता तो हम अपना ही घर छोड़ कर क्यों आते? हमारे यहाँ कौन बात की कमी थी? पर नहीं, हमारा उद्देश्य ही कुछ दूसरा है। हम भली भाति जानते हैं कि हमारे गुरु महाराज ब्रह्म स्वरूप हैं। इनके यहाँ की विभूति के सामने जगत् भर की विभूति तुच्छ है। इनसे तिरस्कृत होना भी हम अन्य पुरुषों के सत्कार की अपेक्षा अपने लिए अच्छा समझते हैं। गुरु वही यथार्थ है जो शिष्य को प्यार करने की अपेक्षा शुभ कृत्य में लगावे तथा कर्तव्यकर्म्म सिखावे। यह समय परीक्षा का है, तभी तो ऐसे कृपालु गुरु के होते हुए भी हमें पाठशाला में जगह नहीं मिलती और न संन्यास की दीक्षा ही दी जाती है!" ये सब बातें दयालु गौड़ स्वामी जी ने भी किसी प्रकार सुन पाईं और यह जान कर उनके हृदय में किञ्चित् दुःख भी हुआ कि उनके कठोर नियमों के हेतु उनका एक कृपापात्र, योग्य छात्र दुःखित हो रहा है तथापि उन्होंने इस विषय में तब तक अपनी सम्मति प्रकाश करनी उचित न समझी जब तक उनके कुल गोत्र का किसी प्रामाणिक पुरुष से परिचय प्राप्त न हो।

उस समय काशी जी की अहिल्याबाई की धर्म्मशाला में नीचे वाली तिदरी में काष्ठजिह्व नामक एक बड़े भारी महात्मा स्वामी रहते थे। कहते हैं कि शास्त्रार्थ के समय उनसे किसी पण्डित का अपमान हो गया था। अपमानित व्यक्ति एक प्रतिष्ठित पुरुष था, उसकी न तो इतनी शक्ति थी कि वह शास्त्रार्थ में उनको पराजित कर अपने

अपमान का बदला लेता और न इतना धैर्य्य था कि उस बात को निज चित्त से हटा देता। अन्त को यहाँ तक चिन्ताग्रस्त हुआ कि इस घोर कष्ट के कारण थोड़े ही दिनों में उसकी मृत्यु हो गई। जब यह वृत्तान्त काष्ठजिह्व जी को मालूम हुआ तो उनको अपने कृत्य से बड़ी ग्लानि हुई और अनेक प्रकार के शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त कर अन्त में संन्यासी हो गए थे और उसी दिन से इस बात का प्रण कर लिया था कि कभी किसी के साथ वाद वितण्डा न करेंगे और न किसी को ऐसी बात कहेंगे जिससे उसका चित्त दुःखित हो। उसी दिन से आप दिन रात भगवान् का स्मरण करते थे, सब को अपना प्रणम्य और पूज्य समझते थे। जिस समय उठते, यदि चाण्डाल भी सामने होता तो झुक कर प्रणाम करते और काम पड़ने पर कुछ कहते तो यही कहते कि "सर्व्वभूतमयो हरिः" अथवा "वासुदेवः सर्व्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।" हरिकीर्तन के समय को छोड़ अन्य समय में अपनी जिह्वा पर एक काठ की टोपी चढ़ाए रखते और साधारण रीति पर बोलते चालते न थे। इसलिए लोग इनको 'काष्ठजिह्व स्वामी' कहा करते थे। अधिकारी पुरुष के प्रश्न का उत्तर लिख कर दिया करते। कभी कभी किसी विशेष पुरुष से बोलते भी थे, पर बहुत ही कम। संस्कृत और हिन्दी भाषा की कविता भी अच्छी करते थे। कविता में अपना नाम देव वा देवस्वामी रखते थे। काशिराज के गुरु और काशी वासी सभी लोगों के भक्ति भाजन थे। स्वामी विशुद्धानन्द जी का जब मन नहीं लगता तो काष्ठजिह्व जी के पास बैठते और ये भी इन्हें हितोपदेश से चरितार्थ और उपकृत करते थे।

इधर जब गौड़स्वामी जी को इस विषय के पुष्ट प्रमाण मिल गये कि बंशीधर ब्रह्मचारी (विशुद्धानन्द) एक अच्छे कुल का ब्राह्मण और संन्यास का पात्र है, तब इनको अपने पास बुला कर कहा कि कुछ दिन एकान्त में जाकर रुद्राभिषेक और पञ्चाक्षर का जप करो जिससे तुम्हारा मनोरथ सिद्ध हो। इस आज्ञा के सुनते ही विशुद्धानन्द को बड़ा हर्ष हुआ क्योंकि उन्होंने समझ लिया कि अभिलाषा

पूर्ण होने का समय अब बहुत दूर नहीं है और वे तुरन्त ही मार्कण्डेय जी में जाकर शिवाराधन में तत्पर हुए। अनुष्ठान के समय बीच बीच में कृपालु गौड़स्वामी जी कभी कभी स्वयं और कभी अपने शिष्यों द्वारा इनकी खबर लेते रहते थे।

अनुष्ठान निर्विघ्न पूरा हुआ। साथ ही मनोकामना पूर्ण होने का अवसर समीप आया। प्रसन्न हो कर गौड़स्वामी जी ने उनको संन्यास का उपयुक्त पात्र समझा और संन्यास विधि को सम्पादन करने के लिये शुभ दिन और शुभ लग्न निर्द्धारित किया गया।

काशी के अनेक प्रसिद्ध प्रसिद्ध पण्डित और संन्यासी निमन्त्रित हुए। बहुत से कौतुकप्रिय विद्यार्थी भी आन कर जमा हो गये। सब के सामने आज स्वर्गीय सङ्गमलाल और यमुना के आनन्दवर्द्धन प्रिय पुत्र और आशान्वित सबसुखराम जी के भागिनेय बंशीधर जी ने, पुत्रेषणा वित्तेषणा और लोकेषणा तथा शिखा सूत्र के साथ निज नाम को भी प्रसन्नतापूर्वक परित्याग कर दिया। प्रेषमन्त्रोच्चारण करने के अनन्तर जीवन का कायापलट हो गया। अब तक जो बंशीधर के नाम से लोक में पुकारे जाते थे गुरुकृपा से आज उनका "विशुद्धानन्द सरस्वती" नाम हो गया।

भगवति ! यमुने ! इस समय तुम कहाँ हो ? देवि ! एक बेर संन्यासि पुत्र की शोभा देखने के लिये भूमण्डल पर आओ। देखो वह शिर जिस पर तुम वैवाहिक मुकुट (सेहरा) का भार देखना चाहती थीं, आज शिखाशून्य हो रहा है। जिस हाथ में तुम माङ्गलिक खड्ग दिया चाहती थीं आज उसमें वैणवदण्ड शोभित हो रहा है, सुनहरी जामे की जगह भगवा वस्त्र और रोली के स्थान में भस्म है। तुमने पति के अनुरोध से चिता रोहण नहीं किया था इसलिये पतिवियोग की भयानक अग्नि में अपने को जीते जी जलाया, पर तुमसे कम तुम्हारा पुत्र भी नहीं है। आज वह परमार्थ के निमित्त संन्यास की प्रचण्ड अग्नि में अपने सर्वस्व को भस्म कर चुका। ऐसे उदार और धन्य पुत्र को उत्पन्न करने वाली जननी तुम धन्य हो।

पञ्चदश परिच्छेद

[सङ्ग दोष—एकान्त वास—पठन पाठन—उस समय की पाठ्य पुस्तकें—गृहस्थ और संन्यासियों में विद्या का प्रेम—स्वामी विश्वरूपजी का अनादर—सन् १८५७ के राजद्रोह का पूर्व रूप—स्वामी और रामाधीन की परस्पर बातें।

संन्यासाश्रम में प्रविष्ट हो, स्वामी विशुद्धानन्द गुरु के पास एक ही स्थान में रहने लगे। किन्तु अधिक दिनों तक वहाँ इनका निबाह न हो सका। नारायणाश्रम स्वामी जी गौड़ स्वामी जी के पुराने कृपापात्र और विश्वासी थे, उनको यह सह्य न हुआ कि एक नवीन संन्यासी अपने उत्तम गुणों के हेतु उनसे अधिक प्रतिष्ठित समझा जाय। इसलिए ऐसा यत्न किया जाने लगा जिससे गुरुदेव का सरल-चित्त इनकी ओर से बिल्कुल फिर जाय। निदान ऐसा ही हुआ। गौड़ स्वामी जी ने कलह बढ़ता देख सब को आश्रम से बाहर कर दिया।

संन्यास धर्म्म में यति को आज्ञा है कि वह सदा अकेला रहे और कभी अपने आपको सङ्ग के जाल में न फँसावे। कारण कि जितना अधिक सङ्ग होगा उतना ही उसमें दुःख और कष्ट निकलेगा। महात्मा दत्तात्रेय जी एक दिन विचरते विचरते एक गृहस्थ के यहाँ पहुँचे, देखा कि पाहुने के लिये धान कूटती हुई उसकी लड़की अपनी चूड़ियों के शब्द से लजाती है और इसलिये कि चूड़ियों का शब्द पाहुने न सुनें—हाथ से अपनी चूड़ियां ठहर ठहर कर निकाल रही है। जब तक हाथ में दो चूड़ियाँ रहीं। इस घटना से दत्तात्रेय जी ने यह उपदेश लिया कि जब तक दो पुरुष भी एक जगह मिल कर रहेंगे तब तक किसी न किसी प्रकार की उनमें खटपट होना असम्भव नहीं है, इसलिये "एक एव चरेद्धीमान् कुमार्य्या इव कङ्कणः।" अर्थात् बुद्धिमान् को चाहिये कि वह कुमारी के कङ्कण की तरह अकेला ही बिचरे। जहाँ अधिक मनुष्यों का सहवास होगा वहाँ

परस्पर वैमनस्य वा कलह होना स्वाभाविक है। उक्त घटना से सिद्ध हो गया कि संसारत्यागी संन्यासियों को भी आत्मरक्षा के लिये एकान्त की बड़ी आवश्यकता है।

स्वामी विशुद्धानन्द ने दशाश्वमेध घाट ही पर एक छत्री में जो दशाश्वमेधेश्वर के पास थी, निवास जा किया और स्वामी विश्वरूपानन्द जी एक दूसरे स्थान में रहने लगे। नारायण स्वामी 'चौसट्टी घाट' पर और स्वामी विश्वेश्वरानन्दाश्रम, त्रिपुराभैरवी के निकट जा बिराजे। इस प्रकार सब अलग अलग रहे सही, पर प्रतिदिन मिलने से न रहे। गौड़ स्वामी जी के पास दर्शन करने और पढ़ने सब उसी प्रकार आया करते।

स्वामी विश्वरूप जी और विशुद्धानन्द जी, यद्यपि गुरु के अन्तकाल तक उनसे पढ़ते रहे, तथापि इस समय वे एक अच्छे अध्यापक समझे जाते थे। अध्यापक की अवस्था में अध्ययन करना चाहे और देश वा नगरों की रीति के प्रतिकूल हो, किन्तु विद्यापीठ काशी की सर्वमान्यप्रचलित प्रथा के प्रतिकूल नहीं है। यद्यपि आजकल के कई 'महामहोपाध्याय' अब अध्ययन करने में तो लज्जित होते हैं; किन्तु अनधीत ग्रन्थों के अर्थ का अनर्थ करने में सङ्कोच नहीं करते और न उस पाप से डरते हैं जो इस प्रकार के आचरण से होता है। तथापि, अभी तक काशी के वृद्ध और श्रेष्ठ अध्यापक, एक दूसरे के पास अज्ञात विषय की मीमांसा और अध्ययन के लिये जाया करते हैं। सुतराँ काशी की अनुकरणीय रीति के अनुसार स्वामी विशुद्धानन्द में 'अध्येतृत्व' और अध्यापकत्व दोनों गुण विद्यमान थे।

इस समय अद्भुत प्रतिभासम्पन्न स्वामी जी गुरुमुख से न्याय शास्त्र के प्राचीन ग्रन्थ—सूत्र, भाष्य, वार्तिक और नवीन, 'चिन्तामणि,' 'अनुमित्वालोक,' 'शब्दलोक,' 'तात्पर्य्यशुद्धि,' 'किरणावली,' 'कुसुमाञ्जली,' तथा 'चिन्तामणि' विद्वत्प्रसिद्ध 'गदाधरी,' 'जागदीशी' प्रभृति टीकाएं और सांख्य योग के प्रसिद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' दुर्लभ ग्रन्थ अध्ययन कर मीमांसा में परिश्रम कर रहे थे।

आजकल काशी जी में जिस प्रकार सब शास्त्रों का नव्य व्याकरण 'सम्राट' और नव्यन्याय 'मन्त्री' हो रहा है, इसी प्रकार उस समय ये दोनों गौरवशाली पद मीमांसा के पास थे। यद्यपि व्याकरण के परिष्कार का समय सन्निकट था तथापि वह अभी तक अजातपक्ष था। उस उत्तम समय में उत्तर मीमांसा अर्थात् वेदान्त शास्त्र ही सब शास्त्रों का उत्तम राजा था और पूर्वमीमांसा शास्त्र मन्त्री। इन दोनों के राज्य में आर्य्यशास्त्र की परमनिधि वेदाध्ययन की रक्षा हो रही थी, कारण कि दोनों शास्त्रों की विचार-शैली स्वतन्त्रता से नहीं, वेदानुकूल है। प्रत्येक बात में जैसा इन दो में श्रुति प्रमाण का गौरव है, वैसा औरों की भांति शुष्क तर्क का नहीं। इसलिये उस काल में जिन पुस्तकों का पढ़ना पढ़ाना था प्रायः इस काल के बहुत से पण्डित उनका नाम तक भूल गये! अब तो पूर्वमीमांसा 'लोगाक्षि' वा 'आपोदेवी' पर और 'उत्तर मीमांसा' 'वेदान्तपरिभाषा' वा 'पञ्चदशी' पर पूरी हो जाती है। जब परिभाषेन्दु और शब्देन्दु शेखर के विस्तृत जटिल जाल से कोई बच ही न सके, तब बेचारी मीमांसा पूरी न हो तो क्या हो?

उस समय मीमांसा के निम्न लिखित ग्रन्थ पढ़े पढ़ाये जाते थे और पूर्व मीमांसा में—

'जैमिनीयसूत्र,' 'शावरभाष्य,' कुमारिलकृत, 'तन्त्रवार्तिक,' 'रत्नाकर,' और 'न्यायसुधा' उसकी टीका, 'तन्त्ररत्न,' 'शास्त्रदीपिका' और उसकी टीका 'सोमनाथिया' तथा 'वैद्यनाथी,' सटीक 'भट्टदीपिका,' 'विधिरसायन,' 'विधिनिर्णय,' 'भट्टरहस्य,' 'मीमांसाकुतूहल,' 'न्यायरत्नमाला,' 'अधिकरणमाला,' और ब्राह्मणादि ॥

उत्तर मीमांसा में—

'सशाङ्कर भाष्य,' 'दशोपनिषद्,' 'वेदान्तसूत्र,' 'शाङ्करभाष्य,' तथा विवरण,' 'तत्वविवेक,' 'तत्वकौमुदी,' 'भामति,' 'परिमल,' 'कल्पतरु,' 'मकरन्द' और 'आनन्दज्ञान कृत' आदि उसकी टीकाएं, 'वृहद्वार्तिक,' 'तैत्तिरीय वार्तिक,' 'इष्टसिद्धि,' 'ब्रह्मसिद्धि,' 'नैष्कर्म्यसिद्धि'

'अद्वैतसिद्धि,' 'स्वराज्यसिद्धि' तथा 'अद्वैतसिद्धि' की 'गौड़ब्रह्मानन्दी' आदि टीकाएं, 'अद्वैतदीपिका,' 'भेदधिक्कार,' 'चित्सुखी' और 'खण्डनखाद्य' आदि ग्रन्थ।

पढ़ने पढ़ाने में ऐसा समय का कारण नहीं है जैसा अध्यापक और पढ़ने वालों की तद्विषयक रुचि कारण है। वर्तमान समय में व्याकरण के खर्रे घोखने वालों को कौन से गाँव मिलते हैं जो हम व्याकरण के परिष्कार बाहुल्य अध्ययन में समय को कारण माने और मीमांसा के पढ़ने वालों पर कौनसे "टैक्स" लगते हैं जो उसकी अवनति का भार समय पर रक्खा जाय? समय को यदि आप कारण कहें तो अंग्रेज़ी की उन्नति का कहिये, न कि हमारे व्याकरण की उन्नति का। व्याकरण की इस अल्पावश्यक उन्नति के कारण केवल काशी के कतिपय अविमृश्यकारी, आवृत्तचक्षु, तुन्दिल पण्डित ही, जो देशकाल का विचार न कर बैठे बिठाए मानसीसृष्टि रचना में निपुण हैं, कहे जा सकते हैं।

जिस समय जैसे पण्डित होते हैं वैसी ही विद्या का प्रचार होने लगता है। उस समय एक तो अच्छे अच्छे विद्वान् मुमुक्षु संन्यासियों के हेतु और दूसरे वयोवृद्ध, यथालाभ सन्तुष्ट जिज्ञासु पण्डितों के होने से मीमांसा का आदर था। चन्द्रनारायण भट्टाचार्य्य, भाऊ शेष, दामोदर शास्त्री, काकाराम शास्त्री, सखाराम भट्ट, काशीनाथ शास्त्री, राजाराम शास्त्री आदि अनेक गृहस्थ विद्वान् उपस्थित थे और जिन अद्वितीय धार्मिक विद्वानों से इन्होंने शिक्षा पाई थी उनके स्वर्गवास को भी अभी बहुत काल नहीं हुआ था। पण्डित लोग तब धन की इच्छा ब्राह्मणी को आभूषण और आवास स्थान बनाने के लिये नहीं, यज्ञ करने के लिये ही करते थे। सब से बड़ा संन्यास गृहस्थ ब्राह्मण के लिये यही था कि वह याज्ञिक कहा जाय, इसलिये उस समय मीमांसा शास्त्र पढ़ने का स्वामी जी को अनायास सुयोग मिल गया।

गृहस्थ पण्डितों के समान दण्डी, परमहंस वा गुसाइयों आदि

संन्यासियों में भी शास्त्र के पठन पाठन का चाव था। गायघाट वाले रामनिरञ्जन स्वामी भी जो काशिराज के दीक्षागुरु थे, तत्काल अच्छे पण्डित समझे जाते थे और उनके मठ में भी निरन्तर शास्त्र का चिन्तन रहता था। परमहंसों में भी कई योग्य विद्वान् थे। इधर गौड़ी स्वामी जी का मठ तो एक महाविद्यालय बन रहा था। प्रसिद्ध पण्डित श्री ६ श्रीधरजी डासनिए, हरियशराय जी भट्टानिए, विभवराम जी (सारस्वत), गणू शास्त्री, गौरीशङ्कर प्रभृति गृहस्थ और अच्युतानन्द, सच्चिदानन्द, नृसिंह स्वामी आदि संन्यासी उस समय के छात्रों की शोभा बढ़ा रहे थे, इन सब में परस्पर शास्त्रार्थ सदैव होता था।

छात्रमण्डली में यद्यपि स्वामी विशुद्धानन्द बुद्धिमत्ता, विद्वत्ता आदि के कारण सन्मान के पात्र हुए तथापि स्वामी विश्वरूप जी के समान शान्त, प्रियभाषी और सर्वप्रिय न हो सके। अपनी स्वाभाविक प्रखरता को दबाने में वे अभी तक असमर्थ रहे। पर इसमें सन्देह नहीं कि इनका क्रोध बुद्बुदोपम क्षणस्थायी था, बहुत शीघ्र प्रकृतिस्थ हो जाते। एक बार शास्त्रार्थ के समय किसी बात पर महात्मा विश्वरूप जी को फटकार दिया। महात्मा विश्वरूप जी सचमुच विश्वरूप थे। उनको मानापमान का ध्यान न था। जो अपने तिरस्कार का विचार करते वा किसी से कुछ कहते। किन्तु गौड़ स्वामी जी को उनका यह आचरण बहुत बुरा लगा, स्वामी विशुद्धानन्द को पास बुलाया और पूछा कि क्या बात है? अपराध स्वीकार करने पर कहा कि "इसी कारण हम तुमको संन्यास देने में सङ्कोच करते थे। संन्यास से पहिले वानप्रस्थ आश्रम इसीलिये आवश्यक था कि उसमें रह कर मुमुक्षु पुरुष निवृत्ति मार्ग का अभ्यास करले किन्तु अब उसका अभाव होने से संन्यास की ऐसी ही विडम्बना होती है। देखो हम तुम्हारे भविष्य प्रताप की सामग्री अभी से देख रहे हैं, तुम सब तरह योग्य होगे, पर तपस्वी विश्वरूप को हमारा स्वरूप समझो, वह तुमसे किसी प्रकार कनिष्ट नहीं है।" स्वामी जी

आपही पश्चात्ताप करते थे अब गुरू के मर्मस्पर्शी वाक्य से और भी लज्जित हुए। जब तक स्वामी विश्वरूप जी जीए उनका आदर करते रहे।

इस घटना के पश्चात् स्वामी विश्वरूप जी को तो गौड़स्वामी जी ने अपने पास अहिल्याबाई की धर्म्मशाला में बुला लिया और इनको बाहर ही रहने दिया। ये उसी स्थान में रहते और मधुकरी वृत्ति से शरीर का निर्वाह करने लगे।

षोड़श परिच्छेद।

[सम्वत् १९१६ गौड़स्वामी जी की बीमारी—उनका उपदेश और शिष्यों की उदासी—स्वामी विशुद्धानन्द का शोच—अन्त दशा—विश्वरूप से बात चीत—पौष सुदी द्वितीया—परमपद प्राप्ति—मणिकर्णिका—महा-समाधि—शोक-स्वामी विशुद्धानन्द जी का गौड़गद्दी वा आसन पर बिराजना—गौड़स्वामी जी का निर्मल चरित्र]

कार्तिक मास में गौड़स्वामी जी को ज्वर आने लगा और साथ ही खांसी भी प्रगट हुई। थोड़े ही दिनों पीछे रोग तो दब गया पर शरीर अशक्त हो गया, यहाँ तक कि वे प्रति सोमवार बैजनाथ जी के दर्शनार्थ जाया करते पर अब विश्वनाथ जी तक जाना कठिन होगया। लक्षणों से जान गये कि अब मृत्युकाल दूर नहीं है! इसलिये सब शिष्यों को अपने पास बुला लिया और पढ़ाना छोड़ उपदेश देने में प्रवृत्त हुए।

स्वामी विश्वरूप और स्वामो विशुद्धानन्द जी के सिवाय गौड़-स्वामी जी के दो आर भी शिष्य थे, एक विश्वेश्वरानन्द और दूसरे शङ्करानन्द जी।

स्वामी विश्वेश्वरानन्द का नाम पूर्व आश्रम में कन्हैयालाल प्रसिद्ध था जो कि जाति के सारस्वत और गयावाल ब्राह्मण थे। दौलतराय सेंधिया के यहाँ इनका दैनिक बन्धान बँध रहा था। जिसे ये योग्य

विद्यार्थी और विद्वानों की सेवा में खर्च कर डालते थे, यह सब होने पर भी रसायन बनाने की चिन्ता ने इन्हें घेर रक्खा था। नाना प्रकार की जंगल से जड़ी बूटियां ला कर रांगा, तांबा इस आशा से फूंकते कि जो कहीं रसायन सिद्ध हो जाय तो फिर ब्राह्मण विद्यार्थियों के भरण पोषण की कुछ चिन्ता न रहे। किन्तु इनका यह विचार गौड़ स्वामी जी को नहीं रुचता था। उनके विचार में यह भी एक प्रकार की वित्तेषणा है जिसके चिन्तन से संन्यासी वा ब्रह्मचारी का अधः पतन हो सकता है। जिस समय गौड़स्वामी जी के पास अन्य ब्रह्मचारियों के साथ उपनिषद् पढ़ने आते तो अनेक दृष्टान्तों से इस प्रकार के विचारों को हेय सिद्ध करते थे।

कन्हैयालाल (विश्वेश्वरानन्द) इस समय ब्रह्मचर्याश्रम में थे। स्वभाव के कोमल, वेदान्त में व्युत्पन्न और परोपकारी पुरुष थे। कभी कभी अपने व्यसन के कारण लजाते भी थे किन्तु स्वामी जी से यह कह कर चुप रह जाते कि जिस दिन रसायन सिद्ध हो जायगी उसी दिन इन सब बखेड़ों को छोड़ संन्यास ले लूँगा। "कार्यं वा साधयामि शरीरं वा पातयामि"—यही मेरी प्रतिज्ञा है।

कहते हैं कि एक दिन वेदव्यास जी के दर्शन करने को गौड़स्वामी जी अपने शिष्यों सहित "रामनगर" गये थे। कन्हैयालाल जी भी साथ थे, मार्ग में इनसे एक बूटी की ओर इङ्गित कर स्वामी जी ने कहा कि इसे उखाड़ कर अपने साथ काशी ले चलो। आज्ञा पाते ही यह उसे अपने साथ ले आए और यहाँ आन कर पूछा कि इसका क्या किया जाय? स्वामी जी बोले—"यह तुम्हारे रोग की औषधि है, रसायन देखने की लालसा जो बहुत दिनों से लग रही है, उसे अब मिटा लीजिये।" कन्हैयालाल जी ने रांगे और तांबे को ता कर उसे इसमें डाल कर देखा तो अपने सामने असल चांदी और सुवर्ण को पाया।

इस समय प्रसन्नता के साथ ही उनके चित्त में यह विचार उत्पन्न हुआ कि जिसके लिये तुम मारे मारे फिरते थे और अनेक प्रकार

का कष्ट और अर्थव्यय सह कर भी जिसे न पा सके, वह गौड़स्वामी जी के निकट कुछ भी वस्तु नहीं है ! उसी समय संसार से विराग और परमात्मा में अनुराग हुआ और पास जो द्रव्यादिक था सब ब्राह्मणों को दे संन्यासी हो गये। यह बात कहाँ तक यथार्थ है कह नहीं सकते, जैसा सुना वैसा लिख दिया, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि गौड़ स्वामी जी इस प्रकार की सिद्धियों को अति तुच्छ समझते थे। जो हो, चाहे जिस कारण से हो पर इनके प्रभाव को देख, कन्हैयालाल विरक्त हुए और सञ्चितद्रव्य से विद्यार्थियों के वास्ते एक मठ जो इस समय 'गौड़स्वामी का मठ' कहलाता है और जिसमें रह कर गौड़ ब्राह्मण जाति के विद्यार्थी विद्योपार्जन करते हैं, मोल लेकर धर्म्मार्थ छोड़ दिया।

दूसरे स्वामी शङ्करानन्द जी थे जो मुजफ्फरनगर के निकट "मीरना" गाँव के रहने वाले एक धनाढ्य गौड़ ब्राह्मण के पुत्र और अच्छे पढ़े लिखे थे, सब प्रकार की लौकिक अनुकूलता के रहते विरक्ति के कारण संन्यासी हुए।

अस्तु गौड़स्वामी जी की बीमारी के समय ये सब शिष्य पास थे और गुरु जी की सेवा विद्यार्थियों से न करा, अपने आप करते थे। मार्गशीर्ष के अन्त में जब फिर ज्वर आने लगा तो एक दिन सब को अपने पास बैठा कर "सारभूत" उपदेश दिया। इसके सम्बन्ध में स्वामी श्री विशुद्धानन्द जी ने स्वयं कहा था कि "दिन के दो बजे मैं नीचे पाठशाला में विद्यार्थियों को पढ़ा रहा था। स्वामी अच्युतानन्द ने ऊपर से आकर कहा कि 'आपको स्वामी जी स्मरण करते हैं' उनके कथन के साथ ही मेरे हृदय में मर्मभेदी चोट लगी, मैं सन्न हो गया ! क्योंकि आज तक स्मरण नहीं कि स्वामीजी ने मुझे अपने पास बुलाया हो। उन्हें जब किसी बात की आवश्यकता होती तो वे स्वामी विश्वरूप ही का स्मरण किया करते, आज इस नई बात ने मेरे उस हृदय पर जो अनेक प्रकार की दुःख सन्तापमयी घटनाओं

से पक्क कर झामे के समान दृढ़ हो रहा था, अयोधन का सा असर किया।

मैंने पूछा "महाराज तो प्रसन्न हैं न ?" कहा कि "हाँ प्रसन्न हैं, नई कोई बात नहीं है।" मैं ऊपर गया, जाकर देखा कि स्वामी जी महाराज, विश्वरूप स्वामी के सहारे लेटे हुए हैं और स्वामी शङ्करानन्द जी आदि उनके पैरों की ओर बैठे हैं, मेरे पहुँचने के साथ ही स्वामी जी महाराज बोले कि "आज हम तुमसे कुछ कहना चाहते हैं इसीलिये यहाँ बुलाया है" मैं बोला ही चाहता था कि उन्होंने रोककर कहा—"सुनो, अब यह शरीर अधिक दिन नहीं रहेगा, इसलिये जो किसी विषय की तुम्हें जिज्ञासा हो तो पूछ लेना। एक घर को छोड़ कर हमने यहाँ दूसरा घर बसा लिया, पुत्रों से अधिक तुम लोगों में स्नेह हो गया! पर यह संन्यासी के योग्य नहीं है। काष्ठ "दण्ड धारण मात्र" से कोई संन्यासी नहीं हो सकता, संन्यास के लिये तितिक्षा, ज्ञान, वैराग्य, शमादि, शुभ गुणों की जैसी आवश्यकता है, वैसी विषयवासना त्याग भी है। श्रुति स्वयं कहती है कि,—

सर्वान्कामान्परित्यज्य अद्वैते परमेस्थितिः।
ज्ञान दण्डो धृतोयेन एक दण्डी स उच्यते ॥
काष्ठ दण्डो धृतोयेन सर्वाशीर्ज्ञान वर्जितः।
तितिक्षा ज्ञान वैराग्य शमादि गुण वर्जितः ॥
भिक्षा मात्रेण योजीवेत्स पापी यति वृत्तिहा।
स याति नरकान्घोरान्महा रौरव संक्षिकान् ॥

अर्थात् जब कामनाओं को त्याग जिसने ज्ञान दण्ड रूप धारण कर अद्वैत परब्रह्म में निष्ठा की वही "दण्डी" कहा जाता है और जो केवल काष्ठ दण्ड धारण कर भक्ष्याभक्ष्य के विचार को छोड़ ज्ञान और तितिक्षादि गुणों से हीन भिक्षामात्र से जीता है वह पापी यतियों की वृत्ति को नष्ट करने वाला महा रौरव नामक घोर नरक में जाता है"।

तुम सब लोग शास्त्र के जानकार हो तथापि कहना पड़ता है कि संन्यास आश्रम बड़ा ही कठिन आश्रम है। जहाँ तक बने विषयों को अपने पास फटकने ही न देना चाहिये। इस भरोसे न रहे जो खायगा सो मरैगा 'विकार हेतौ सति विक्रियन्ते एषां न चेतांसि त एव धीराः।' अर्थात् विकार के हेतु पास रहने पर भी जिनके चित्त न बिगड़ें वेही धीर हैं। बात सत्य है, किन्तु है महा कठिन। पुराणों में सुनते हैं कि महा योगेश्वर भगवान् विश्वनाथ जी भी अपनी मनोमोहिनी माया पर मोहित हो गये थे। भगवान ने गीता में यथार्थ कहा है—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥

हे कुन्तिनन्दन! विद्वान् पुरुष के यत्न करने पर भी बिगड़ेल इन्द्रियाँ मन को बलात्कार से बिगाड़ देती हैं। एक तो मन चञ्चल और दूसरे लुब्ध इन्द्रियाँ। मोक्ष मार्ग विषम है और इन्द्रियरूप घोड़े बहुत दिनों से बिगड़े हुए हैं, मन की बागडोर बोदी वा ढीली पड़ी है। देखना सावधान हो कर चलना।

कर्म यदि अपने आप छुट जाँय तो कुछ चिन्ता नहीं, किन्तु जान बूझ कर नैष्कर्म्य सिद्धि के लोभ से शुभ कर्म्म का त्याग करना मानों निरालम्ब आकाश में लटकना है। भगवान् की भक्ति विना नैष्कर्म्य के फल को कोई नहीं पा सकता, ब्रह्मज्ञान भगवान् की कृपा का फल है।

मैं तुमसे फिर कहता हूँ कि कर्म्मत्याग का नाम संन्यास नहीं है, फलत्याग का नाम संन्यास है। यदि किसी से फलवासना न छूटे और कर्म्म छूट जाय तो और भी दुःख की बात है। भगवान् ने गीता में स्पष्ट और बहुत अनुभूत कहा है, कि—

नहिदेहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्य शेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥

जिससे कि देहधारियों से सब कर्म्मों का बिल्कुल त्याग नहीं

हो सका इसलिये कर्म्मफल त्यागी है। पर निष्काम कर्म्म का अनुष्ठान करना भी सहज नहीं है, मुँह से चाहे जितना कहो मैं कामना रहित कर्म्म कर रहा हूँ, परन्तु विचार से विदित होगा कि कामना का सिंहासन अटल है। यदिच, यह असम्भव नहीं है पर बड़ा कठिन है।

धर्म्म और मर्य्यादा की रक्षा के निमित्त भगवान् भाष्यकार ने अनेक प्रकार के कार्य्य किए, वैसे कार्य्य निन्द्य नहीं। पर वह हर किसी से साध्य भी नहीं है। क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये और कौन कर्म्म किससे अनुष्ठित, किस तरह पर किस समय में श्रेयष्कर होता है और कौन अश्रेयष्कर होता है, यह कर्म्म मीमांसा बड़ी गहन है।

मैंने इस जीवन में जो तुम्हारे कल्याण का कारण समझा है वह शास्त्रसिद्ध और मेरा अनुभूत है। दोही श्लोकों में सकल शास्त्रों, का सार है, सुनो वह यह है—

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्य सचेत् त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम्॥
कामः सर्वात्मना हेयो हातुश्चेच्छक्यते न सः।
मुमुक्षां प्रति तत् कार्य्यं सैव तस्यापि भेषजम्॥

सङ्ग बिल्कुल त्याज्य है यदि वह त्याग न किया जाय तो सज्जनों का साथ करना चाहिये, क्योंकि सत्पुरुषों का सङ्ग औषध रूप है।

कामना का बिल्कुल त्याग कर देना चाहिये यदि यह न हो सके तो मुक्ति की कामना करनी योग्य है। वह भी उसकी औषध है। सुतरां सङ्ग करना तो सज्जनों का करना, कामना करनी तो मुक्ति की करनी और यदि अब भी कुछ उपदेश लेने की आवश्यकता हो तो भगवान् भाष्यकार की पुस्तकों से लेना। सुनो यह हमारा अन्तिम उपदेश है, अब तुम्हें कोई उपदेष्टा न मिलेगा।

विशुद्धानन्द! तुम थोड़े ही दिनों में सब शास्त्र और विद्या पढ़

चुके हो, भूमण्डल पर जन्म ले जो कुछ जानना चाहिये सो सब जान चुके हो। तुम्हारे निकट अज्ञान और उपदेष्टव्य कुछ भी नहीं है। तथापि स्नेह कहलाए बिना नहीं रहता। तुम जिस प्रकार थोड़े ही दिनों में विद्या के अधिकारी हो गये और उसी प्रकार सत्वर ही प्रभुत्व और विभूति के अधिकारी भी बनोगे। तुम विभूति को छोड़ बैठे पर विभूति तुम्हें न छोड़ेगी। देखना प्रभुता और वैभव अनर्थ का मूल है। अहङ्कार इनका अनुगामी है। अहङ्कारी पुरुष मनुष्य को मनुष्य ही नहीं समझता, उसका स्वभाव ऐसा उद्धत होता है कि अपने मत के विपरीत बात सुनते ही लाल हो जाय। चाहे सो कर बैठे। ऐश्वर्य्य-शाली को उपदेश देनेवाला कोई बिरला होता है, नहीं तो जिस प्रकार गुफा के पास शब्द करने से प्रतिध्वनि होती है, उसी प्रकार पास बैठने वाले उसकी हाँ में हाँ मिलाते हैं, आशा है तुम इन सब बातों पर ध्यान रख कर्तव्य का पालन करोगे विश्वरूप आदि जितने तुम्हारे सतीर्थ्य हैं उनको आत्मवत् देखोगे।

यदि तुम्हारे चित्त में परोपकार की वासना हो तो मीमांसादि शास्त्रों का प्रचार करना। क्योंकि शास्त्रों का प्रचार ही ब्राह्मणों का बल है और ब्रह्मबल ही पर चातुर्वर्ण्य की स्थिति है। यद्यपि संन्यासी के लिये अध्ययनाध्यापन भी निषिद्ध है। किन्तु कलिकाल में दुष्कर्मों से बचने का इससे अच्छा अन्य कोई उपाय भी नहीं है। मैंने स्वयं इस कार्य्य को प्रसन्नता से किया है और तुमको करने की सम्मति देता हूँ। अन्त समय में सब अपने उत्तराधिकारियों को कुछ गुप्त निधि दिया करते हैं। किन्तु मेरे पास जो गुप्त निधि थी उसे मैं पहिले ही दे चुका हूँ। जिस गुप्त निधि की आचार्य्य-परम्परा से आज तक रक्षा होती आई, उसी संस्कृत विद्या की रक्षा करना। मेरा निश्चय है कि श्रीधर पण्डित आदि मेरे अन्य शिष्य और तुम इस विषय में यथासाध्य चेष्टा करोगे। जब तक विद्या बची रहेगी तब तक सब कुछ बचा रहेगा। इसकी रक्षा के लिये दुःख भी सहना पड़े तो भी उसे सुख ही समझना।

मैं कह चुका हूँ कि यह मेरा अन्तिम उपदेश है। क्षणविध्वंसी शरीर की जो चिन्ता करे, चिन्ता उसकी करनी चाहिये। अब जितने दिन का यह शेष समागम है इसमें केवल परमार्थ विषय का चिन्तन होना योग्य है। किसी प्रकार की कायरता वा प्राकृत पुरुषों के समान हमारा शोक करना हमारी आत्मा को कष्ट देना है। तुम धीर हो किन्तु विश्वरूप से हमारा यह कहना है कि वह संन्यासी के समान धीरता दिखाए"।

यद्यपि मैं बड़ा वज्रहृदय था मेरी धीरता का स्वयं हमारे महाराज भी वर्णन कर चुके पर तो भी मेरा हृदय इस समय भर आया था किन्तु मैं स्वामी जी के सामने बैठा था इस विचार से कि मेरी कायरता से कहीं उनको क्लेश न पहुँचे, किसी प्रकार अपने आपको सम्हाले रहा, परन्तु स्वामी विश्वरूप उनके सिर्हाने की ओर बैठे थे। उनका मुँह महाराज को दीखता नहीं था। वह पहिले ही मुँह छिपा कर रोने लगे थे। अन्त के शब्दों पर तो चीख मार कर रो उठे औरों से भी न रहा गया। स्वामी जी महाराज ने सब को धमकाया और वहाँ से उठा दिया। मुझसे कहा कि विश्वरूप को अपने साथ ले जाकर धैर्य दो। मैंने उनको तो किसी तरह शान्त कर दिया; किन्तु आज मेरा हृदय मुझसे न डटा। दशाश्वमेधेश्वर के शिवालय में जाकर जार जार रोने लगा। जानें क्यों आज भूले हुए माता, पिता, मामा मामी, सब याद आये।

क्षण क्षण दशा बदलने लगी। जब आहार कम हो गया, जब उठने बैठने की शक्ति न रही, जब स्वरभङ्ग होने का उपक्रम हुआ, तब लोग गौड़स्वामी के जीवन से निराश हो गये। कहा जाचुका है कि औषध पर उनकी रुचि न थी, पहिले रुग्न होने पर कभी की भी न थी, तथापि इस बार शिष्यों के अनुरोध से दो एक वैद्यों की औषध भी ली; किन्तु किसी से कुछ फल प्राप्ति न हुई। इधर आशामुग्ध शिष्य अनुष्ठान में तत्पर थे। स्वामी विश्वरूप और पंडित विभवराम प्रभृति उनकी आरोग्यता के लिये स्तोत्र पाठ करते थे। वैद्यनाथ जी के मन्दिर

में रुद्राभिषेक होता था। विश्वनाथ जी के उत्तीर्ण विल्वपत्रों की कई विद्यार्थी इस आशा से कि उनके पवित्र स्पर्श से कुछ ज्वर में शान्ति होगी उन पर चढ़ाते थे किन्तु देव ने किसी का मनोरथ सफल न होने दिया।

स्वामी विश्वरूप आदि बार बार प्रार्थना करते थे कि जब कोई विद्यार्थी बीमार हो जाता तो आप अपनी अव्यर्थ प्रार्थना से उसे आरोग्य कर देते इस बार भी तो आप एक बार भगवान विश्वनाथ से निवेदन करें। जब तक आप स्वयं आरोग्य न होंगे तव तक अन्य कोई व्याधि का निवारण नहीं कर सकेगा। परन्तु इन बातों को वे हँसी में उड़ा देते। कहते कि शरीर विनाशी और मल मूत्रादि का भाण्डार है, इसके लिये भगवान से प्रार्थना करें? शिव! शिव! हमारा बोदा शरीर किस काम का है?

एक दिन स्वामी विश्वरूप काढ़ा पिलाने लगे तो पीना न चाहा कहा बहुत पी चुके अब बस करो। और इनको सजल नेत्र देख कहा—विश्व! इस विनाशी शरीर में इतना ममत्व क्यों है?"

विश्व०। मैं नहीं जानता कि क्यों है?

स्वामी०। "केवल भ्रान्ति और अज्ञान के कारण।" थोड़ी देर ठहर कर बोले कि "तुमको हमारे दर्शन से आनन्द होता है कि दुःख?

विश्व०। परमानन्द होता है।

स्वामी०। और हमारे "आनन्द लाभ" से।

विश्व०। अत्यन्त आनन्द।

स्वामी०। बस अब हमारे और तुम्हारे आनन्द का समय निकट है। हम परमगुरु के दर्शन करेंगे और इससे तुमको अत्यन्त आनन्द होगा।

स्वामी जी के इतना कहने पर निविष्ठचित्त विश्वरूप जी के हाथ से औषध पात्र गिर पड़ा और इस अपशकुन को देख ये घबरा गये और मुँह नीचा कर आँसू गिराने लगे, तब उन्होंने डाट कर कहा "इतनी ही देर में सब भूल गये? भला रोने क्यों लगे?"

विश्व० । कहाँ ? यह तो मैं नहीं रोता, नेत्र रोते हैं, मैं बहुत चाहता हूँ कि आपकी आज्ञा पालन हो। मुसकिरा कर बोले—

विश्व० ! किसकी चिन्ता करते हो ? नित्य आत्मा की चिन्ता क्या ? और अनित्यशरीर की चिन्ता क्या ? चाहे कोई जितनी चिन्ता करे शरीर का अवश्य नाश होगा किन्तु आत्मा सदा अमर है। वत्स ! इसको तुम विनाशी न समझो—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयंपुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
(काठ० १ । २)

ब्रह्मनिष्ठ !—विश्व !—तू क्या वस्तुतः विश्वरूप है ?

विश्व० । ना—"तत्त्वमसि" ।

इस उपदेश के पश्चात् स्वामी विश्वरूप जी ने उनके सामने कभी शोक प्रकाश न किया, शान्त और धीर भाव से सेवा करते रहे और अन्त में 'औषधं जान्हवीतोयं वैद्यो नारायणो हरिः'—इस वाक्य पर विश्वास कर लिया।

पौष सुदी प्रतिपदा की रात को अधिक व्याधि बढ़ी, रात भर सब लोग जागते रहे और उपनिषद् पाठ सुनाते रहे। अन्त समय के लक्षण देख स्वामी विशुद्धानन्द जी ने पूछा "महाराज ! शरीर में कुछ पीड़ा है" हँस कर बोले मैं बहुत प्रसन्न हूँ। फिर पूछा "आप कुछ आज्ञा करें—कर्तव्य बतावें, हम पालन करेंगे। किसी बात की अभिलाषा हो तो कहिए इसी समय पूरी की जायगी" कहा "जो कहना था कह चुका, मैं पूर्णकाम हूँ मुझे किसी बात की इच्छा नहीं—"ॐ तत्सत्" यही पिछले शब्द थे। इसके पश्चात् 'ॐकार के अतिरिक्त और किसी शब्द का उच्चारण नहीं किया।

पौष सुदी द्वितीया के दिन कानोंकान घर घर यह दुस्समाचार पहुँच गया कि आज दिनदहाड़े काशी की सम्पत्ति लुट गई, शान्ति का सागर शुष्क हो गया, सद्गुणों के मार्ग भग्न हो गए, विद्यार्थियों का कल्पतरु छिन्न हो गया, परित्याग की कथा पूरी हुई, संन्यास

की शोभा दूर गई, ब्रह्मविद्या लुप्त हुई, मीमांसा गुप्त हुई, हा! गौड़स्वामी के परम पद से अब शील सन्तोष की कथा अशेष रह गई।

वज्राघात के समान इस हृत्कम्पकारक संवाद को जिसने सुना उसीके मुँह से 'हा' निकली। सब यही कहने लगे कि हा! अब शान्ति को शरण कौन देगा? विद्यार्थियों की खबर कौन लेगा? सरस्वती किसका आश्रय लेगी? विद्या किसको हार्द देगी? ऋषियों का निदर्शन कहाँ मिलेगा? नृपतियों की उपेक्षा कौन करेगा? साधुओं का समाधान कहाँ होगा? हा! अनाथबन्धु दयासिन्धु गौड़स्वामी के बिना गौड़ वंश अब बिना स्वामी का रह गया!

स्वामी जी के परमपद का संवाद पा, लोग दौड़ कर आने लगे। देखते ही देखते काशी के बड़े बड़े संन्यासी, पंडित, विद्यार्थी, अहिल्या-बाई के घाट पर आ पहुँचे, कुलीन स्त्रियाँ भी परदा परित्याग कर आज महापुरुष गौड़ स्वामी के दर्शनार्थ राजपथ में चली आईं।

सब शिष्यों ने मिलकर धीरता के साथ वैदिक मन्त्रों से गुरुदेव के शरीर को स्नान कराया। सुन्दर काषायाम्बर परिधान करा पुष्प माला से उनका कण्ठ, विभूति से मस्तक और चन्दनादि से अङ्ग मण्डित किया। यदिच, स्वामी जी का शरीर कुछ दिनों से कृश और शिथिल हो गया था, तथापि इस समय उनका मुखारबिन्द म्लान न होकर एक प्रकार की अपूर्व श्री को धारण कर रहा था। इस समय तक सब लोग धैर्य्यपूर्वक कार्य्य करते थे, किसी शिष्य के नेत्र में जल दृष्टिगोचर न होता था, मानों उनके गुरु सदा के लिये वियुक्त नहीं होते, कहीं यात्रा करने जाते हैं, जिसकी तय्यारी में सब लोग लग रहे हैं, किन्तु अकस्मात् अवस्था का परिवर्तन हुआ, धीर किन्तु वाष्पावरुद्धकण्ठ स्वामी विशुद्धानन्द जी के यह कहने पर कि "लो अब विलम्ब मत करो, शेष पुष्पाञ्जलि समर्पण कर महाराज को 'मणिकर्णिका' पर ले चलो" सब का गला भर आया। गुरुचरणार-विन्द पर शेष पुष्पाञ्जलि समर्पण करने के समय ऐसा कोई बिरला ही होगा, जिसके पुष्पों के साथ आँखों का जल न चढ़ गया हो!

जब स्वामी विशुद्धानन्द जी की धीरता भी पानी हो रही थी तब तो औरों का तो कहना ही क्या? सच है,—"प्रियबन्धुवियोगोत्थशोकाग्निः कं न तापयेत्"।

स्वामी जी का विमान भक्तों ने उठाया। हरिनामकीर्तन और स्तोत्रपाठ के साथ हाहाकार होने लगा, मृदङ्गादिवाद्य की ध्वनि नगर-निवासियों के हृदय पर आघात करने लगी। विमान के साथ साथ काशी के दण्डी, परमहंस और उदासीन आदि विरक्तजन और अच्छे अच्छे सुप्रतिष्ठित विद्वान् तथा अन्यान्य सद्गृहस्थ लोग और पाठशालाओं के विद्यार्थी चले। मार्ग में स्त्री पुरुष सब झुक झुककर प्रणाम करते और पुष्प फेंकते थे। जब विमान मणिकर्णिका घाट पर पहुँचा तब बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गई।

काशीक्षेत्र सम्पूर्ण ही मुक्तिप्रद है। यद्यपि दशाश्वमेध घाट की (जहाँ कि स्वामी जी रहते थे) काशीखण्ड आदि पौराणिक ग्रन्थों में कुछ और क्षेत्रों से कम प्रशंसा नहीं लिखी है, तथापि यहाँ की रीति ऐसी है कि चाहे किसी का शरीर कहीं पूरा हो, किन्तु उसका संस्कार मणिकर्णिका ही पर होगा। गृहस्थों का अग्निसंस्कार होता हैं, किन्तु संन्यासियों को या तो पृथ्वी में समाधिस्थ किया जाता है या जल में बहाया जाता है, इसलिये गृहस्थों के समान इनको मणिकर्णिका के श्मशान तक लाने की विशेष आवश्यकता तो नहीं है तो भी इसके अधिक महात्म्य श्रवण से संन्यासियों का भी जल-प्रवाह यहीं पर करते हैं। 'अधिकस्याधिकंफलम्'।

पुराणों में लिखा है कि किसी समय भगवान् विष्णुदेव ने अपने चक्र से एक पुष्करिणी (तलाई) खोद कर उसके तीर पर पाँच सहस्र वर्ष तक शिव की आराधना की थी। उनकी कठिन तपश्चर्या से देवादिदेव शङ्कर का विभूति भूषित मस्तक कम्पित हो गया और उनके कर्ण (कान) से मणि निकल पड़ी। जहाँ यह मणि गिरी वह पुष्करिणी प्रथम 'चक्र पुष्करिणी' के नाम से प्रसिद्ध थी, किन्तु

F. 18

भगवान् की मणिकर्णिका उसमें गिरने के हेतु उसी दिन से वह "मणिकर्णिका" नाम से प्रसिद्ध हो गई।

लिखा है, कि जब पार्वतीपति विष्णुदेव की तपस्या से प्रसन्न हो उन्हें वरदान देने लगे तब लक्ष्मीकान्त ने कहा कि "हमें यह वरदान दो कि जिस मनुष्य का यहाँ प्राण वियोग हो, उसे उसी समय हमारे वैकुण्ठ में स्थान मिले।" इसके पीछे भगवती भागीरथी ने मृत्यलोक में अवतरण कर मणिकर्णिका से सङ्गम किया इत्यादि अनेक कारणों से मणिकर्णिका यहाँ का सर्वप्रधान तीर्थ है। सब सम्प्रदाय के हिन्दू यहाँ स्नान दान करते हैं।

पत्थर के सन्दूक (टांके) में स्वामी जी को बैठा कर भागीरथी के अतल स्पर्श जल में छोड़ दिया। सब के देखते देखते अकेले स्वामी भीष्म के समान जननी गङ्गा की गोद में जा बिराजे। हृतसर्वस्व शिष्य कुछ देर निर्निमेष लोचन से देखते रहे, शेष में स्नान कर म्लान मुख अपने अपने ठिकाने चले गये।

पाठक ! आज पाठशाला में सन्नाटा छा गया। जहाँ शास्त्रपाठी विद्यार्थियों के कलरव से अहिल्याबाई का घाट गूंजता था, आज वहाँ सुनसान हो गया ! जहाँ कैसा ही शोकग्रसित और दुःखित पुरुष आता था वह भी अपने कष्ट को भूल वहीं रहने की इच्छा करता, आज वहाँ किसी का जी नहीं लगता है। स्थान खाली नहीं, पर मन सब के खाली हो गए। सब विगतप्राण, ठगे से एक ठौर चुपचाप बैठ गये। नायक बिना सेना की, नृपति बिना राज्य की, गृहपति बिना घर की और आचार्य बिना यज्ञ की जैसी करुणोत्पादक दशा होती है, वैसी ही दशा आज इस शिष्यमण्डली की हो गई।

नगरनिवासी आकर, कैलासवासी स्वामी जी के गुणानुवाद कर स्वामी विश्वरूप जी को समझाने की चेष्टा करते थे, पर इनका अश्रुप्रवाह बंद होने के बदले प्रसङ्ग छिड़ने पर बेलाहीन समुद्र की तरह और भी बढ़ने लगता। शेष शिष्य भी इसी प्रकार सम्मोहित और शोकमग्न हो रहे थे। शिष्यों का यह शोक प्राकृत शोक न था यह

विशुद्ध गुरुभक्ति का उद्गार था। यह वैसा ही पवित्र शोक था जैसा भगवान् की बिरह दशा में भक्तों को हुआ करता है। ऐसे महापुरुषों में किसी की भक्ति हुई हो, तो वही इस शोक की महिमा जान सकता है।

जो हो। शोक के दिन भी पहाड़ हो जाते हैं, किन्तु भगवान की विश्वमोहिनी माया ऐसी विचित्र है कि इसके प्रताप से अच्छा बुरा सब समय कट जाता है। इसीके कौशल से कृष्ण-वियोग होने पर श्रीकृष्णसर्वस्व ब्रजाङ्गना और नन्द यशोदा आदि के प्राण निकलने न पाये। इस चतुरा के बिना श्रीकृष्णसखा अर्जुन महापथ में न जाकर सूनी द्वारिका ही में तत्क्षण प्राण दे देते। पर यह इसकी चतुराई है कि सब को प्रेमी दशरथ और मनस्वी लक्ष्मण के तुल्य वियोग में मरने नहीं देती। सुतरां एक एक करके दिन बीत गये और शोक घट गया। अनेक गृहस्थ शिष्यों के उद्योग से स्वामी जी का भण्डारा भी जिसमें सब श्रेणी के संन्यासियों ने आन कर भोजन किया, उत्तमता से हो गया।

गौड़ स्वामी जी एक सच्चे संन्यासी थे, वह महन्थों की तरह गद्दी वद्दी का बखेड़ा नहीं रखते थे। इसलिये गद्दी की उन्हें चिन्ता भी न थी। यदि कुछ होता तो आप ही स्पष्ट कह जाते किन्तु मठ और सम्प्रदाय की रक्षा के निमित्त बहुत से शिष्यों में एक को प्रधान ठहराना आवश्यक समझा जाता है। अतएव काशी के संन्यासियों और पण्डितों में इस बात की चर्चा चली कि गौड़स्वामी जी का आसन स्वामी विशुद्धानन्द और विश्वरूप जी दोनों में से किसको दिया जाय? स्वामी विशुद्धानन्द जी ने कहा कि यह प्रश्न ही क्यों उठता है? मेरे सर्वप्रकार से पूज्य और ज्येष्ठ स्वामी विश्वरूपानन्द ही अब द्वितीय गौड़ स्वामी हैं और उन्होंने कहा कि नहीं स्वामी विशुद्धानन्द ही योग्य हैं। मैं आयु में बड़ा हूँ और स्वामी जी का प्रथम शिष्य भी हूँ, किन्तु विद्या और गुण में ये ही मुझसे बड़े हैं। मैं इनकी पाठशाला के विद्यार्थी पढ़ाया करूँगा और आज्ञापालन करूँगा। इनके इस

उदार और संन्यासोचित वाक्य की सब ने प्रशंसा की और सर्व सम्मति से स्वामी विशुद्धानन्द जी को ही आसन देना निश्चय हुआ किन्तु उन्होंने यह प्रस्ताव अस्वीकार किया और कहा कि "प्रथम तो स्वामी विश्वरूप जी सब प्रकार से आसन के अधिकारी हैं और दूसरे हमारे महाराज कह गये हैं कि, मेरे बाद इनको मेरा ही स्वरूप समझना। इसलिये उनकी आज्ञा से मैं कार्य करूँगा। ज्येष्ठ पूजा का व्यतिक्रम जब भरतादि रघुवंशियों ने नहीं किया तो हम क्यों करें? महात्मा विश्वरूप जी बोले "यदि आप अपने विश्वास और महाराज की आज्ञा से मुझे ही अपना प्रवर्तक समझते हैं, तो मेरा यही आदेश है कि आसन पर आप ही बैठें। मैं वस्तुतः उन बातों में अनभिज्ञ हूँ जो सम्प्रदाय वा मठ की रक्षा में अपेक्षित हैं। आसन पर बैठना वा किसी आने जाने वाले से बातें करना मुझे भार है। अतएव मेरी प्रसन्नता के लिये आप इस प्रस्ताव को स्वीकार करें। महाराज ने यह नहीं कहा है कि आसन पर तुम न बैठना विश्वरूप को बैठाना इसलिये भरत की बात का यहाँ कुछ मेल नहीं है। यहाँ आसन पर बैठने से तो अग्रज पूजा का व्यतिक्रम न होगा पर यदि आपने मेरे इस कहने का अनादर किया तो अग्रज पूजा का प्रत्यक्ष व्यतिक्रम है।" इस प्रकार इनके बहुत कहने पर स्वामी विशुद्धानन्द जी अपने गुरु के आसन पर विराजे। किन्तु महात्मा विश्वरूप जी की आज्ञा भी उसी प्रकार पालन करने लगे जैसी इसके पूर्व बड़े स्वामी जी की करते थे।

आगे की बात कहने के पूर्व एक बार यहाँ गौड़स्वामी जी के चरित्र पर दृष्टि देनी चाहिये। क्योंकि गौड़स्वामी जी का जीवन वृत्तान्त एक प्रकार यहाँ पूरा हो गया। ऊपर संक्षेप से उनके चरित्र का कुछ आभास दिया गया है। उनके एक दिन का वृत्तान्त भी अच्छी तरह लिखा जाय तो एक पूरा ग्रन्थ हो सकता है, जीवन भर के चरित्र का तो क्या ठिकाना? हमने उनकी प्रसङ्गोपात्त दो चार बातों का उल्लेख किया है, किन्तु इसीसे पाठक जान गए होंगे कि वे एक असाधारण संन्यासी थे।

कलिकाल में संन्यास आश्रम का यथावत् पालन करना खाँड़े की धार पर चलना है, वस्तुतः जीते जी अपने को मार लेना है। जो जीते जी अपने को मार नहीं सकता, वह संन्यासी ब्रह्मज्ञान को भी नहीं पा सकता। उसका संन्यास ग्रहण करना वृथा है। संन्यासी को किस प्रकार त्यागशील, दयालु और परार्थपर होना चाहिये, वह गौड़स्वामी के उपदेश और चरित्र से अच्छी तरह शिक्षा मिलती है।

ब्राह्मण का धन, नहीं नहीं मनुष्य मात्र का धन विद्या है और उसकी प्राप्ति भी बाल्य काल ही में यथार्थ रूप से हो सकती है। विद्या से चाहे मनुष्य धन लाभ कर सके, किन्तु उसके असली फल से कभी वञ्चित नहीं हो सकता। गौड़स्वामी जी लड़कपन ही से विद्या के प्रेमी थे। विद्या के लिये वे माँ बाप को छोड़कर चले गए, रूपवती पत्नी की भी उपेक्षा की, किन्तु विद्योपार्जन किया। उसके द्वारा यदि वह चाहते बहुत कुछ प्राप्ति कर सकते थे, शास्त्रार्थ में वादियों को जीत दूर दूर तक नाम पा सकते थे, किसी पाठशाला वा राजधानी में वैतनिक पण्डित बनकर बड़े धनी हो सकते थे किन्तु उनकी इधर प्रवृत्ति ही नहीं हुई। एक दिन की सामान्य घटना से उनके विचार बदल गए। आशायुक्त कुटुम्ब को छोड़ विरक्त हो गए किन्तु बाल्य काल की पढ़ी हुई विद्या व्यर्थ नहीं गई। विद्या से ही शान्ति प्राप्त हुई और विद्यादान ही से अन्त तक ब्राह्मणों का उपकार करते रहे। ये विद्योपार्जन न करते तो विश्वरूप, विशुद्धानन्द, श्रीधर, हरजसराय, विभवराम और रामलाल आदि विद्वानों के दर्शन होते कि नहीं, इसमें भी सन्देह है। एक विद्वान् से कितने विद्वान् हो सकते हैं, यह इनके चरित्र पर ध्यान देने ही से विदित हो सकता है।

वृद्ध माता पिता और निःसन्तान युवती स्त्री को त्याग कर इस प्रकार युवावस्था में संन्यासी होना कदाचित् पाठकों को उचित प्रतीत न हुआ होगा और वे सोचते होंगे कि यदि कुछ दिन माता पिता

की सेवा से और पत्नी को पुत्रलाभ वा प्यार से सन्तुष्ट कर संन्यासी होते तो इनको अधिक धर्म्म लाभ होता और इन्हें सन्तोष मिलता। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसा होता तो कुछ अच्छा ही था किन्तु गृहस्थी में फँसने पर निकलना सहज नहीं है। समुद्र की तरङ्ग से कोई वस्तु बाहर तट पर आ गिरे तो आ गिरे किन्तु उसके बीच से निकलना बड़ा दुःसाध्य है! अतएव श्रुति ने कहा है कि—"यदहरेव विरजेत यदहरेव प्रव्रजेत।" अर्थात् जिस दिन वैराग्य हो उसी दिन संन्यासी हो जाय। तात्पर्य यह है कि कौन जाने फिर क्या विघ्न हो जाय? विषयों के पास रहने से जितना वे आकर्षण करते हैं, उतना दूर से नहीं। इसलिये निर्वेददशा में गृह परित्याग कर देना ही उत्तम है। अब रही माता पिता और पत्नी के सन्तोष की बात, कि जब तक इनका सन्तोष न हो तब तक संन्यासी होना उचित नहीं। इस पर विचार करने से सिद्ध होता है कि माता पिता के निकट पुत्र सदा बालक है और पत्नी के निकट पति सदा युवा है। चाहे वह कितना ही वृद्ध हो गया हो, किन्तु उसके माँ बाप और स्त्री कदापि उसका वियुक्त होना स्वीकार न करेंगे। आज तक जितने संन्यासी हुए हैं उनमें से प्रायः ऐसा ही है जिन्होंने कुटुम्ब को इसी प्रकार रोता छोड़ा।

धर्म्म दो प्रकार का है—प्रवृत्तिलक्षण और निवृत्तिलक्षण। पहिला गौण है और दूसरा मुख्य है। प्रवृत्ति लक्षण धर्म्म में पुत्रोत्पादन द्वारा पितृऋण की निवृत्ति करना इष्ट है, किन्तु निवृत्ति लक्षण में नहीं। सिद्धान्त यह है कि पुत्रोत्पादन मोक्ष का कुछ असाधारण कारण नहीं है, ऐसा होता तो सनत्कुमार, नारद, याज्ञवल्क्य, भीष्म और शङ्कराचार्य आदि कोई भी मोक्ष का अधिकारी न होता, यह केवल प्रवृत्ति लक्षण रूप धर्म होने से अन्तःकरण शुद्धि द्वारा मोक्ष का साधन है। ईर्ष्या द्वेष वा आलस्यादि में कोई कुटुम्बत्याग करे वह प्रत्यवायी होता है न कि ऐसा पुरुष जो परमात्मा का दर्शन वा ब्रह्मज्ञान के लिये उसका परित्याग करे। जगत्पूज्यस्वामी शङ्कराचार्य

यदि रोती हुई निज जननी को न छोड़ते तो यह सम्भव न था कि भगवती भारतभूमि के आँसू पोंछे जाते और महात्मा गौड़ स्वामी जी भी अपने कुटुम्ब को निराधार न छोड़ते तो यह कब सम्भव था कि गौड़ जाति में कुटुम्ब-पालन-सुदक्ष इतने पण्डित उत्पन्न हो जाते ? महापुरुषों के पास स्वार्थ नहीं होता, परमार्थ ही उनका स्वार्थ है ।

नासिक और काशी जी में जब तक रहे तब तक निरन्तर विद्यार्थियों को पढ़ाते रहे । इतने विद्यार्थियों को पढ़ाया कि कई गृहस्थ पण्डित मिल कर पढ़ाएं तोभी न पढ़ा सकें । विद्या पढ़ाना संन्यासी का धर्म न होने पर भी परोपकार-वासना से पढ़ाते थे और इसको संसार के झगड़ों से अलग रहने का प्रकृष्ट उपाय समझते थे । सुतराँ, ऐसी दशा में उनका विद्यादान करना भी परम धर्म था ।

गौड़ और दाक्षिणात्य, दण्डी तथा परमहंस (गुसाईं) सब जाति और सम्प्रदाय के पुरुष उनमें श्रद्धा रखते थे । कारण कि इनकी समानभाव से सब पर कृपा दृष्टि थी । कटुवाक्य कहना वा किसी का तिरस्कार करना तो यह जानते ही न थे । परमहंस लोग कुम्भ के महापर्व के समय डंके और निशान के साथ अपने से पूर्व आचार्य की भाँति इनको स्नान कराते थे । क्योंकि विख्यात और विद्वान् परमहंस कूटस्थस्वामी और आदित्यगिरि आदि मण्डलेश्वरों की इनमें पूर्ण श्रद्धा थी । अध्ययनार्थी दादुपन्थी साधु निश्चलदास जी को यद्यपि ब्रह्मविद्या पढ़ाई नहीं, तथापि कभी शूद्र समझ कर तिरस्कार नहीं किया । आने पर कुशल क्षेम पूछते और प्रीति से बात करते थे । दयालु ऐसे थे कि रोगी विद्यार्थियों को माता पिता के बिना परदेश में कुछ कष्ट नहीं भोगना पड़ता, उनकी औषधादि और परिचर्या औरों से कह कर कराते और जब कोई न होता तो स्वयं करते । यह दयालुता केवल विद्यार्थियों ही पर न थी, वरञ्च अन्य लोग भी उनके ऐसे ही कृपापात्र थे । एक दिन शीत काल में एक "रात्रौ चिबुक समर्पितजानु" दीनजन को शीत से जकड़ता देख चुपके से अपनी 'लोई' उतार कर उढ़ा दी और आप उसी

तरह से सो रहे। दिन में जब विद्यार्थियों द्वारा लोई पहचानी गई और वह बेचारा पकड़ा गया तब सब भेद खुला। इसी प्रकार की और अनेक घटनाएं हुई हैं, जिनमें स्वामी जी ने अपना वस्त्र और भोजन दे औरों की व्यथा दूर की।

संन्यासी होने के पश्चात् इनको कभी अपने कुटुम्ब का ध्यान तक भी न हुआ पर अध्ययनार्थी एक दो सम्बन्धियों को उस कृपा से वञ्चित भी न किया जिसका प्रत्येक छात्र अधिकारी था। संन्यासी होने का संवाद पाकर वह पतिव्रता जिसने एक दिन इन्हें अग्नि की साक्षी में अपने सर्वस्व का स्वामी बनाया था और जिसको ये एक दिन मझधार में छोड़ चले आए थे, काशी में आई और प्राणनाथ का एक दिन शेष दर्शन कर नैराश्य के परमसुख की अधिकारिणी हुई। एक ही दिन यह पतिव्रता साध्वी स्वामी जी के दर्शन करने आई और चुपके चुपके उसी तरह चली गई! फिर कभी यह सोच कर कि उसका जाना कहीं संन्यासी पति के खेद का कारण न हो, न आई। कभी आते जाते अलक्षित भाव से मार्ग में दर्शन कर लेती। कुछ दिन पीछे उस व्रतपरायणा सती का काशीवास हो गया। सुतराँ, निष्परिग्रह, शान्त गौड़ स्वामी जी का जीवन नितान्त निर्दोष था। इनकी त्यागशीलता विद्वत्ता की बात तो पहिले ही कही जा चुकी है।

महात्मा तैलिंग स्वामी

भारतवर्ष की धर्म्म भूमि में कितने भगवत्परायण पुरुष संसार की ममता परित्याग कर धर्म्मपथ के पथिक हुए हैं इसका लेखा लगाना सहज नहीं है; परन्तु जगत् भर के सत्पुरुष इस बात में सहमत हैं कि जितने भगवद्भक्त, योगी, यती, ब्रह्मज्ञानी, इस देश में हुए हैं उतने किसी भी देश में नहीं हुए। किन्तु दुःख की बात है कि उनका जीवन वृत्तान्त लिपिबद्ध न होने के कारण यह जानना कठिन ही नहीं वरञ्च एक प्रकार असम्भव हो जाता है कि वे अपने जन्म से किस देश की भूमि, किस माता पिता की गोद और किस महात्मा के आश्रम की शोभा बढ़ा कर निज जीवन-नाट्य का दृश्य संसार को दिखा गये हैं।

यह बात केवल उन्हीं महापुरुषों के विषय में नहीं है, जिन्होंने भगवद् जन और तत्वविचार के सिवाय ग्रन्थादि का निर्माण करना उचित ही नहीं समझा; वरञ्च जिन्होंने ग्रन्थ बनाने पर भी अपने विषय में श्वेत कृष्ण कुछ भी नहीं लिखा और न तदानीन्तन शिष्यों से लिखवाया, उनके विषय में भी यही बात है। पीछे से जिन चरित लेखकों ने अपनी कपोलकल्पना की उसका परिणाम यही हुआ कि एक दूसरे का विरोध देख कर लोगों को निश्चय होगया कि चरित ठीक समय पर नहीं लिखा गया, इस दशा में पश्चात्ताप के सिवाय और हो ही क्या सकता है ?

यह बात किसी से छिपी नहीं है कि, उक्त कारण से शङ्कर, कुमारिल, प्रभाकर, उदयन और कालिदास आदि के यथार्थ चरित का कुछ भी पता नहीं लगता। यदि कुछ पता भी चलता है तो उसका उस

F. 19

विडम्बना से बचना कठिन हो जाता है जो आजकल के उन लेखकों से हो रही है, जिनकी स्थिति हेतुशून्य अनुमान पर निर्भर है।

चरित लेखन के समय यदि चरितनायक भी उपस्थित हो तो चरित लिखना उतना कठिन नहीं है जितना उसके अनुपस्थित होने पर। उसके स्वर्गवास के पीछे वही बातें दुर्लभ एवं अप्राप्य हो जाती हैं, जिन्हें लेखक पहली दशा में सुलभ समझता था। फिर उसे साधारण से साधारण बातें बहुमूल्य दिखाई देती हैं।

आज हम काशी के जिस महात्मा का चरित लिख रहे हैं, उनको हमने देखा नहीं है, किन्तु अभी तक उनके देखने वाले ही नहीं, उनकी प्रति दिन सेवा करने वाले काशी में सहस्रों पुरुष जीवित हैं। यदि उनके सामने उनकी जीवनी लिखी जाती तो वह सर्व्वाङ्ग सुन्दर हो सकती थी, पर उस समय किसी की प्रवृत्ति ही नहीं हुई। कारण यह कि विधाता की सृष्टि का यह एक विचित्र नियम है, जिस चीज़ को हम नित्य देख सकते हैं चाहे वह कैसी ही अलौकिक और आश्चर्य्य-युक्त क्यों न हो, उसमें हमें कुछ भी आश्चर्य्य न होगा! परन्तु अकस्मात् एक वस्तु दिखाई दे कर अन्तर्हित हो उससे अधिक विस्मय होगा। विश्वनियन्ता के अपूर्व्व कौशल से निर्मित सूर्य्य चन्द्रमा आदि विलक्षण वस्तुओं का हम नित्य दर्शन करते हैं, इसीसे हमें कुछ विस्मय नहीं होता, पर अचानक आकाश में एक 'दुमदार' तारे को देख कर हम चकित हो जाते हैं।

भ्रान्तजीवी! जिन वस्तुओं का तुम नित्य दर्शन कर रहे हो वे साधारण नहीं हैं। परमात्मा की चतुराई का अद्भुत नमूना है। संसार भर के समस्त शिल्पी यदि एकत्र हो कर ईश्वरनिर्मित एक मच्छर जैसा मच्छर बनाया चाहें तो नहीं बन सकता और पदार्थों की तो बात ही क्या है? हतभाग्य मनुष्यो! एक बार उन महापुरुषों के चरित की आलोचना करो जिनका नित्य दर्शन किया और कुछ न जाना। अथवा जाना भी तो इतना ही कि वे एक प्रकार के पागल हैं! अहो! अपनी भ्रान्ति को तुम दूसरों के गले लगा रहे हो।

देखना, जिसे तुम साधारण समझ रहे हो वह असाधारण पुरुष है। जिसको लौकिक जान रहे हो वह सर्व्वथा अलौकिक विग्रह है।

जैसे चिरकाल से काशीपुरी संस्कृत के पण्डितों के कारण प्रसिद्ध है, वैसे ही संन्यासी महात्माओं के कारण आदरणीय है। पण्डित और संन्यासी चाहे काशी में जन्म न लें परन्तु, उनका पाण्डित्य और संन्यास काशी ही में शोभा पाता है। जिस प्रकार चुम्बक लोहे को अपने पास खींच लेता है उसी प्रकार काशी की पवित्र भूमि में भी अभी तक पण्डित और संन्यासियों के आकर्षण की सामर्थ्य विद्यमान है। इन गिरे दिनों में भी जैसे पण्डित और संन्यासी काशी में पाये जाते हैं वैसे अन्यत्र कहाँ हैं?

बारह तेरह वर्ष हुए कि काशी में प्रसिद्ध महात्मा तैलिङ्ग स्वामी विराजमान थे। काशी के यात्री जिस प्रकार विश्वनाथ और अन्नपूर्णा के दर्शन बिना अपनी यात्रा निष्फल समझते हैं; उसी प्रकार उनके दर्शन बिना भी सफल नहीं समझते थे। अभी तक बहुत से यात्री पञ्चगङ्गा घाट पर उनके चित्र का दर्शन करते हैं। आज हम उन्हीं महात्मा की चरितचर्चा कर पाठकों को प्रसन्न किया चाहते हैं।

तैलिङ्ग स्वामी जी की आयु

महात्मा तैलिङ्ग स्वामी किस सन् सम्बत् में उत्पन्न हुए थे, इस बात का कुछ पता नहीं चलता। काशी के वृद्ध पुरुष उनके सम्बन्ध में भिन्न भिन्न प्रकार की बातें कह रहे हैं। कोई उनकी आयु सौ वर्ष की और कोई दो सौ, ढाई सौ के ऊपर बता रहा है, तथा कुछ ऐसे भी लोग हैं, जो उन्हें योगीश्वर कह कर मरने पर भी अमर मानते हैं और प्रसिद्ध महात्मा गोरक्षनाथ जी का शिष्य कह कर अपने सरल विश्वास को सीमा तक पहुँचा रहे हैं। देखने वाले कहते हैं कि, जिस समय उनका कैलासवास हुआ उनकी आयु नव्वे वर्ष से अधिक नहीं जान पड़ती थी। सन् १८०९ के शकाब्द में पौष सुदी एकादशी के दिन उनका कैलासवास हुआ था, जिसको अब बारह

वर्ष होगये। जो हो, जो कुछ हमको उनका चरित मिला है उसीको नीचे प्रकाशित करते हैं:—

जन्म

प्रसिद्ध विद्वान् और संन्यासियों की जन्मभूमि दक्षिण देश के विजना प्रान्त के हुलिया नगर में एक भारद्वाजगोत्री नृसिंहधर नामक ब्राह्मण रहता था, जो न बहुत बड़ा पण्डित था और न बड़ा भारी धनवान्। न वह मूर्ख था और न दरिद्र। तात्पर्य्य यह कि वह एक मध्यमश्रेणी का पुरुष था। कुछ न्याय व्याकरण पठित भी था और अन्न वस्त्र का भी अभाव नहीं था। उसके दो विवाह हुए थे। पहली स्त्री के गर्भ से त्रैलिङ्गधर और दूसरी स्त्री से श्रीधर नामक पुत्र का जन्म हुआ। उस समय कौन जानता था कि, एक दिन नृसिंहधर के यही ज्येष्ठ पुत्र त्रैलिङ्गधर ही महात्मा तैलिङ्ग स्वामी के नाम से विख्यात होंगे।

शिक्षा

बचपन ही से त्रैलिङ्गधर पिता से शिक्षा पाने लगे थे। मातृभाषा द्रावड़ी और संस्कृत की कई पुस्तकों के पढ़ने से इनका शास्त्र में अधिकार हो गया था। अभी त्रैलिङ्गधर युवा और पूर्ण विद्वान् भी न होने पाये थे कि, इसी अवस्था में पितृवियोग का दारुण दुःख इन्हें झेलना पड़ा। इनकी माता विद्यावती विलक्षण बुद्धिमती थीं। पिता की मृत्यु के अनन्तर ये माता के पास विद्या पढ़ने लगे। कहते हैं कि इनकी माता बड़ी पण्डिता थीं और योगक्रिया में भी निपुण थीं। अपने होनहार पुत्र को उसने और और शास्त्रों के साथ साथ कुछ कुछ योगशास्त्र की भी शिक्षा दी थी। माता ने जो इस समय इनके हृदय-क्षेत्र में योग का वीज रोपण कर दिया था, पीछे वही सींचा जाने पर प्रकाण्ड वृक्ष के आकार में परिणत हो गया था।

वैराग्य

माता की इच्छा प्रायः यही हुआ करती है कि, लड़का किसी तरह बड़ा हो, विवाह हो और पुत्रवधू का मुखचन्द्र देखने का सौभाग्य

प्राप्त हो। कभी कभी ऐसा भी देखने में आता है कि पुत्र के अभी दूध के दाँत भी नहीं गिरने पाये हैं कि माता के आग्रह से चट् घर में बहू रानी आ बिराजी हैं। परन्तु इसके विरुद्ध पुराणों में एक मदालसा ही ऐसी ब्रह्मवादिनी विदुषी माता मिली है कि, जिसने पुत्रों को जगजंजाल में न फँसा कर लड़कपन ही में ब्रह्मविद्या का उपदेश कर आश्चर्यान्वित कर दिया था। लोग कहते हैं कि महाराज गोपीचन्द की माता मयनावती ने भी निज पुत्र को योग की शिक्षा दे संन्यास मार्ग में प्रवृत्त कर दिया था। तैलिङ्ग स्वामी की माता से उन्हें संन्यासी होने का उपदेश मिला था कि नहीं, यह नहीं जाना गया; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इनकी इच्छा भी यह न थी कि उसका प्रिय पुत्र संसार की दलदल में पाँव फँसा ले। क्योंकि इनके पिता ने कई बार बन्धुओं के अनुरोध से विवाह का प्रस्ताव किया था, पर माता आज कल करके टालती गई। तैलिङ्ग स्वामी का माता में बड़ा स्नेह था। जब इनकी माता का स्वर्गवास हुआ, तब इन्हें चारों ओर अन्धकार दिखाई देने लगा। प्रेम की जगह घृणा होगई। माता की मृत्यु के अनन्तर त्रैलिङ्गधर गृह में नहीं गये। जिस खेत में माता का अन्तिम संस्कार किया था, वहीं झोंपड़ी बना कर रहने लगे। इनके छोटे भाई श्रीधर सकुटुम्ब आकर जब इनको घर में न ले जा सके तब अगत्या इन्हींकी हाँ में हाँ मिलानी पड़ी। अनुरोध उपरोध सब निष्फल हुआ। श्रीधर वहीं भोजन पहुँचाने लगे। जब देखा कि, श्रीधर का अनुराग ज्यों का त्यों बना हुआ है, तब कहा कि 'भाई! मुझे क्षमा करो, पिता की समस्त सम्पत्ति का तुम्हें अधिकार है उसमें से मुझे कपर्दिका भी नहीं चाहिए। जो कुछ योगधन माता दे गई है हम उसीमें सन्तुष्ट हैं। देखो उस धन का अपहरण न करना, मुझे संसार में न खैंचना'। माता की मृत्यु से बारह बरस तक आप वहीं योगसाधन करते रहे।

गुरू

इसी समय पंजाब देश को पटियाला राजधानी के वासग्राम

में एक भागीरथी स्वामी नाम के प्रसिद्ध योगी रहते थे। दैवेच्छा से भागीरथ स्वामी उस समय दक्षिण में गये थे और उक्त दशा में त्रैलिङ्ग धर के साथ उनका साक्षात्कार हुआ। कुछ दिनों तक उसी स्थान में दोनों महापुरुष बास करते रहे। जब दोनों का परस्पर अनुराग हो गया; तब भागीरथ स्वामी इनको अपने साथ पुष्कर तीर्थ में ले आये। वहाँ ये भागीरथ स्वामी के शिष्य हुए और उनसे योग की कई प्रकार की क्रियाएँ भी सीखीं। मन्त्रदीक्षा देकर गुरू ने इनका नाम 'गणपति स्वामी' रक्खा था; किन्तु जब देशदेशान्तर में भ्रमण कर आप काशी में पहुँचे, तब लोग इन्हें 'त्रिलिङ्ग, वा 'तैलिङ्ग' स्वामी के नाम से पुकारने लग गये थे।

परिभ्रमण

कुछ दिनों के बाद इनके गुरू भागीरथ स्वामी का पुष्करतीर्थ में स्वर्गवास होगया। गुरू की मृत्यु के पश्चात् ये तीर्थयात्रा के लिये पर्य्यटन करने लगे। जहाँ तहाँ फिरते ये सेतुबन्ध रामेश्वर पहुँचे। वहाँ एक महाराष्ट्र ब्राह्मण अन्धराव नाम को शिष्य बनाया। कार्तिक सुदी पञ्चमी को सेतुबन्धरामेश्वर में बड़े समारोह से एक पूजा होती है, जिसके लिये यात्रियों का एक मेला भी लगता है। इस मेले में तैलिङ्ग स्वामी के ग्राम और कुटुम्ब के लोग भी आये थे। उन्होंने जब तैलिङ्ग स्वामी को पुनः पुनः घर चलने के लिये कहा, तब ये वहाँ से विरक्त हो दक्षिण की सुदामापुरी में पहुँचे और एक निःसन्तान और निर्धन ब्राह्मण के अतिथि हुए, ब्राह्मण ने बड़े भक्तिभाव से इनकी सेवा की और थोड़े ही दिनों में उसके दोनों दुःख दूर हुए देख कर लोग इन्हें सिद्धपुरुष समझ कर घेरने लगे। एकान्तप्रिय स्वामी जी का वहाँ रहना कठिन होगया। कुछ दिनों पीछे ये नैपाल और तिब्बत के पहाड़ों में आनन्द से योगाभ्यास करते रहे। इसी यात्रा में आप मानसरोवर भी देख आये थे। तदनन्तर नर्मदा नदी के तटपर मार्कण्डेय मुनि के आश्रम में जा रहे। वहाँ अनेक साधु महात्मा रहते थे, जिनमें एक 'खाखी बाबा' बड़ा सिद्धपुरुष था। एक दिन

अर्ध रात्रि में ये नदी के तट पर गये। खाखी जी प्रथम ही से विद्यमान थे। एक ने दूसरे का महत्व जाना। इनकी योगशक्ति को देख कर जब खाखी बाबा सब में प्रकाश करने लगे, तब ये प्रयागराज चले आये और कुछ दिन वहाँ निवास कर अन्त में काशी जी में आ पहुँचे। अस्सी घाट पर महात्मा तुलसीदास जी के बाग़ में गुप्त रीति से रहने लगे।

काशीवास

सर्वप्रथम काशी जी में तुलसीदास के बाग़ में वास किया। बीच बीच में 'लोलार्क' कुण्ड में भी रहा करते। इसी समय से इनकी योगशक्ति वा करामात की धूम मचने लगी। कहते हैं कि अजमेर निवासी ब्रह्मदत्त नामक एक जन्म का बहरा और कुष्ठी इसी कुण्ड पर आकर सो गया था। दैवगति से त्रैलिङ्ग स्वामी के चरणस्पर्श से उनकी नींद टूटी और इन्हें देख कर प्रार्थना करने लगा। दयालु स्वामी जी ने एक विल्वपत्र दे कर इशारे से कहा कि कुण्ड में स्नान कर, बिल्वपत्र को धारण कर, सब रोग दूर होगा। रोगी ने वैसा ही किया और रोग दूर हुआ। बस फिर क्या था रोगी, दोषी स्वामी जी के पीछे पीछे फिरने लगे और बहुत से आरोग्य भी होने लगे। जब लोग इन्हें सताने लगे तब वेदव्यास जी के आश्रम में गङ्गा पार जा रहे। फिर हनुमान् घाट में आरहे थे। तदनन्तर तुलसी घाट, दशाश्वमेध आदि घाटों पर आज यहाँ, कल वहाँ यों बास करते रहे। अन्त में पञ्चगङ्गा घाट पर रहने लगे और वहीं शरीर पूरा हुआ।

आचरण

स्वामी जी का आचरण बिल्कुल निराला था। कभी वे समाधिनिष्ठयोगी दिखाई देते। कभी साम्ब शिव हरहर की ध्वनि सुन कर लोग उन्हें शैव समझते। कभी "गोविन्दनारायण माधवेति" इत्यादि विष्णुगान सुन उन्हें वैष्णव निश्चय करते। तात्पर्य्य यह कि कभी कुछ कभी कुछ; आज यदि नीतिगर्भित उपदेश सुन उन्हें राजनैतिक संन्यासी निश्चय किया है, तो कल ब्रह्मविद्या का उपदेश सुन घोर अद्वैतवादी

मानना पड़ा है। कभी वर्णाश्रम धर्म्म का पक्षपाती और कभी ठीक उसके विपरीत देखा गया है। कभी उन्हें श्मशान में हँसते हुए देखा और कभी दीनदुखिया भिक्षुकों के साथ रोते हुए पाया।

उनके शरीर पर वस्त्र कभी भी नहीं देखा गया। कौपीन तक भी पास न थी, सर्व्वदा दिगम्बर रहते थे। कई बार उन्हें नंगा फिरते देख पुलिस वालों ने पकड़ा और मारा पर इसका उनके शरीर पर घाव होने पर भी चित्त पर असर नहीं हुआ।

कभी वे माघ पौष के दुःसह शीत के समय भागीरथी में दिन भर पड़े रहते, कभी ज्येष्ठ के दिनों में प्रचण्ड उत्ताप के समय गङ्गा जी की रेती में आनन्द से शयन करते! भोजन की खोज वे कहीं कभी भी न करते थे। जो कोई अपनी इच्छा से भोजन उनके मुँह के समीप कर देता उसीको खा लिया करते। उसमें वे जाति, वर्ण, पात्रापात्र और खाद्याखाद्य का किञ्चित् भी विचार न करते। भोजन करने में भी कुछ परिमाण न था, चाहे दिन भर खिलाते रहो और चाहे दिन भर एक ग्रास भी न दो। अपने हाथ से कई लोगों ने इन्हें मन भर तक भोजन कराया है। परीक्षा के लिये कई दुर्जनों ने सेरों गोमय खिला दिया है और पानी में चूना मिला नक़ली दूध बना सेरों पिला दिया है, पर उन्होंने ज़रा भी नाक नहीं चढ़ाई! प्रथम वे सब के साथ वार्तालाप करते पर पञ्चगङ्गा घाट पर आने के पीछे प्रायः किसी के साथ भी नहीं बोलते थे। हाँ, किसी किसी समय एक आध बात कह दिया करते।

शास्त्र विषय की कठिन से कठिन मीमांसा वह सब को समझा दिया करते। वादी प्रतिवादी के शास्त्रार्थ के जटिल प्रश्न को सहज में सुलझा कर दोनों को प्रसन्न रखते। कभी कभी धनवान पुरुष बहुमूल्य वस्त्र आभूषण से सुशोभित करते और उचक्के आकर उन्हें आप ले भागते। आप न पहलों से प्रसन्न होते और न दूसरों से नाराज़। समदर्शी महात्मा सर्वदा प्रसन्न और ब्रह्मानन्दमग्न रहते।

करामात

स्वामी जी वचनसिद्ध महापुरुष थे, लोगों का यह दृढ़ विश्वास है। उनकी करामात की बातें इतनी प्रसिद्ध हैं कि, आज कल के अविश्वासी पुरुषों का उन पर विश्वास होना ही बड़ा कठिन है। यदि करामात की बातें नितान्त ही मिथ्या एवं कल्पनाप्रसूत हों तो इसमें सन्देह नहीं कि, वे सर्वसाधारण के भक्तिभाजन अवश्य थे; जिनकी इस प्रकार प्रशंसा हो रही है। कोई कोई कहते हैं कि वे किसी अद्भुत औषधि को जानते थे जिसके बल से वे रोगियों को अच्छा करते थे। कदाचित् यही हो। परन्तु उनके प्रभाव के वर्णन करने वाले कहते हैं कि, वे जल पर चलते थे, आकाश में उड़ते थे और सहसा शून्य में लीन हो जाते थे! क्या ये सब बातें भी औषध ही के प्रभाव से थीं?

स्वामी जी का आश्रम

आपका आश्रम प्रथम तो कोई नियत ही न था परन्तु, मृत्यु से कई वर्ष प्रथम पञ्चगङ्गा घाट पर रहने लग गये थे। वहाँ तैलिङ्गेश्वर नाम से एक शिवलिङ्ग का आपने स्थापन किया था। उक्त आश्रम में स्वामी जी की एक प्रतिमूर्ति विद्यमान है। काशीवासी और यात्री अब उसीसे हृदय शीतल कर रहे हैं।

उपदेश

स्वामी जी ने अपने धर्म्मोपदेश से अनेक दुराचारी पुरुषों को सदाचार में प्रवृत किया। उनका अव्यर्थ उपदेश जिसने एक बार सुना, उसीका कल्याण हुआ। आपने महावाक्य 'रत्नावली' नामक एक उपदेशपूर्ण संस्कृत-ग्रन्थ बनाया है, जिसमें आपका अपरिमेय शास्त्रज्ञान और भगवद्भक्ति स्थान स्थान पर प्रतिविम्बित हो रही है। उसके विषय ये हैं,—

"बन्धन-मोक्ष वाक्य, विद्वनिन्दा वाक्य, उपदेश वाक्य, जीव ब्रह्मैक्य वाक्य, मनन वाक्य, जीवन्मुक्त वाक्य, स्वानभूति वाक्य,

समाधि वाक्य, अष्टस्वरूप वाक्य, पुलिङ्गस्वरूप वाक्य, स्त्रीलिङ्गस्वरूप वाक्य, नपुंसकलिङ्गस्वरूप वाक्य, आत्मस्वरूप वाक्य, ब्रह्मस्वरूप वाक्य, अवशिष्ट वाक्य, फल वाक्य और विदेह वाक्य।

मृत्यु

मृत्यु से १५ दिन प्रथम आपने सेवकों को उसकी सूचना कर दी थी और जिस स्थान में आप रहते थे उसके सब द्वार बन्द कर पन्द्रह दिन प्रथम समाधिस्थ होकर बैठ गये थे। मृत्यु के दिन काल पूरा होने पर सायङ्काल के समय सब द्वार उद्घाटन करा आप बाहर आये। गङ्गातीर पर पद्मासन बैठ और ध्यानावस्थित हो और शरीर त्याग कर, वे ब्रह्मपद में लीन होगये। उस दिन १८०९ शकाब्द और १९४४ विक्रमाब्द के पौष मास की एकादशी तिथि थी।



श्रीरंगाचार्य जी का जीवनचरित

जो लोग अपनी विलक्षण विद्या बुद्धि के कारण देश देशान्तर में बहुत प्रसिद्ध हुए हैं, जो अपने धर्म्म और न्यायमार्ग पर दृढ़ रहे हैं, जिन्होंने परोपकार के लिये स्वार्थ परित्याग किया है और जिनको सहस्रों मनुष्य सिर झुकाने में अपना कल्याण समझते हैं, उनके जीवन-चरित पढ़ने या सुनने की किसको इच्छा न होगी। इस हेतु आज हम यहाँ पर श्रीवृन्दावन के सुप्रसिद्ध विद्वान् "श्रीस्वामी रङ्गाचार्य्यजी" का जीवनचरित संक्षेप से लिखते हैं।

जन्मभूमि

वह देश धन्य है जहाँ हृदय का रक्त सींच कर जन्मभूमि की पूजा करने वाले महावीर उत्पन्न हुए। वह देश प्रशंसनीय है, जहाँ दीनों के दुःख से दुःखित होने वाले दाता उत्पन्न हुए और उस देश की मट्टी मस्तक पर चढ़ानी चाहिये, जहाँ विद्वान् पण्डितों ने जन्म ले देश की अविद्या को दूर किया है। आज हम क्यों न दक्षिण देश के गुण गावें जिसने शङ्कर, रामानुज, वल्लभ आदि आचार्य्यों को उत्पन्न किया? क्यों न हम उस देश के कृतज्ञ होवें, जहाँ के पाण्डित्य से भारतवर्ष पण्डित हुआ?

यदि राजपूताने की वीरभूमि को वीर-प्रसविनी होने का अभिमान है, तो दक्षिण की पुण्यभूमि भी विद्वज्जननी कहलाने का अधिकार रखती है। यदि राजपूताने में ऐसे प्रतापी वीर पुत्र उत्पन्न हुए हैं कि जिनके कृपाण से हिन्दू-धर्म्म-विरोधियों के छक्के छूट गये, तो दक्षिण में भी ऐसे प्रभावशाली सत्पुत्रों ने जन्म लिया कि जिनके शान्त उपदेश से वेद-विरोधी पुरुष आप से आप हिन्दू धर्म्म के शरणागत

हो गए। यह सम्भव है कि किसी शताब्दी में राजपूताने में कोई वीर प्रगट न हो, किन्तु यह असम्भव है कि दक्षिण में कोई शताब्दी पण्डितों से ख़ाली चली जाय। जो हो।

दक्षिण के द्रविड़ प्रदेश में पूर्वकर्णाटक के तुण्डीर मण्डल में शास्त्र प्रसिद्ध परमपुनीत सत्यव्रत क्षेत्र है; जिसकी सप्तपुरियों में प्रसिद्ध काञ्चीपुरी शोभा बढ़ा रही है। उससे पाँच कोस पूर्व दिशा में 'अहरम' ग्राम है, जहाँ स्वामी रङ्गाचार्य्यजी के पिता द्राविड़ ब्राह्मण श्रीनिवासाचार्य जी का निवास था। इनका वाधूल गोत्र, यजुर्वेद आपस्तम्भ सूत्र और श्रीरामानुजीय वैष्णव मत था।

श्रीनिवासाचारी जी के तीन पुत्र हुए। प्रथम वेंकटाचार्य जी, द्वितीय वरदाचार्य जी और तृतीय श्रीस्वामी रङ्गाचार्य्य जी।

इनका जन्म संवत् १८६४ की कार्तिक कृष्णा नवमी को पुनर्वसु नक्षत्र में 'त्रिवरंडा' गाँव में मातामह के घर हुआ। त्रिवरंडा ग्राम इसी कर्णाटक देश में काञ्चीपुरी से कुछ दूर है।

विद्याध्ययन

कुछ दिनों पीछे स्वामी जी के माता पिता इन्हें इनके मातामह के घर से अपने निज स्थान 'अहरम ग्राम' में ले गये। वहीं इनका लालन पालन हुआ। पाँचवें वर्ष में अक्षराभ्यास कर सातवें वर्ष तक इन्होंने पूर्वाचार्य्यों के स्तोत्र और अमरकोश आदि उपयोगी एवं अभ्य ग्रन्थों को कण्ठ कर लिया। अष्टम वर्ष में इनका उपनयन संस्कार हुआ। तब से ये निज शास्त्र का अध्ययन करने लगे। सोलहवें वर्ष तक इन्होंने यजुर्वेद संहिता को समाप्त कर व्याकरण और काव्य में मन दिया। व्याकरण के सिद्धान्तकौमुदी आदि और काव्य के रघुवंश, किरातार्जुनीय एवं कादम्बरी आदि ग्रन्थों में ऐसा अच्छा अभ्यास किया कि जिससे इनकी शाणित प्रतिभा लोगों को चकित करने लगी।

'होनहार विरवान के होत चीकने पात', इस कहावत के अनुसार इनकी बुद्धि का चमत्कार देख कर वहाँ के विचारशील अध्यापक

पण्डित 'ऐयास्वामी ऐयंगार' को निश्चय हो गया था कि किसी समय ये बड़ी प्रतिष्ठा लाभ करेंगे। कहते हैं कि एक दिन जब ये ऐयंगार स्वामी से दिनकरी न्याय पढ़ रहे थे, तब इन्होंने 'एकत्व'※ का ऐसा अच्छा अनुगम किया कि उसको सुन अध्यापक ऐयंगार ने आश्चर्य्य और आनन्द में मग्न होकर कहा कि 'बस' अब हम तुम्हें न्याय नहीं पढ़ा सकते! जिस बात को हम अभी समझे नहीं हैं, उसे तुम दूसरों को समझा सकते हो।

संवत् १८८५ में जब इनकी तृप्ति वहाँ के अध्ययन से नहीं हुई तब ये दक्षिण से विद्यापीठ काशी में पढ़ने चले आये और यहाँ इन्होंने प्रसिद्ध नैयायिक पण्डित अभयाचरण भट्टाचार्य्य जी से न्याय शास्त्र का अध्ययन किया। काशी जी में ये एक साधारण विद्यार्थी की तरह अपना निर्बाह करते थे। चातुर्मास्य में प्रतिवत्सर 'मांडा' राजधानी में वार्षिक लेने जाया करते और वहाँ आगन्तुक विद्यार्थी एवं पण्डितों से शास्त्रार्थ कर बड़ाई पाते थे। गादाधरी और जागदीशी पर इनकी अद्भुत विवेचना सुन कर पण्डित मण्डली इन्हें साधुवाद दिया करती।

यद्यपि इस समय ये छात्र समाज में पूजित और पण्डित मण्डली में प्रशंसित थे, तथापि जिस ढंग से और जिस दशा में रह कर स्वामी रङ्गाचार्य्य जी अपने भोजन आच्छादान का प्रबन्ध किया करते थे वह एक राजगुरु के योग्य न था, पर इसमें सन्देह नहीं कि इनका भावी प्रताप भी उसीका फल था। कोई यह न समझे कि स्वामी रङ्गाचार्य्य इसलिये भारतप्रसिद्ध विद्वान् हुए कि उनके अनेक धनी पुरुष शिष्य थे, जिनके द्रव्य की सहायता से उन्होंने विद्या का सञ्चय किया होगा। नहीं, यह बात नहीं है। काशी जी में उस समय न कोई उनका धनी शिष्य था और न तब तक मथुरा के जगत्प्रसिद्ध सेठ

※ वृन्दावन के प्रसिद्ध पण्डित श्रीसुदर्शन शास्त्री जी ने यह अनुगम हमें बतलाया भी था, परन्तु यह न्याय शास्त्र का एक सूक्ष्म विचार है। दुर्बोध होने से यहाँ पर उसका लेख नहीं किया।

घराने से उनका कुछ सम्बन्ध ही हुआ था। उनके पास धन था तो यह था कि सब ग्रन्थ 'नुमायशी' न थे उपस्थित थे। वैभव यह था, कि इन पर गुरु की पूर्ण कृपा थी। यह सच है कि इनको अपने अन्न वस्त्र के लिये कभी विशेष चिन्ता न करनी पड़ी, किन्तु इसका कारण यह नहीं है कि इनके पास कुछ पार्थिव धन वा द्रव्य था, वरञ्च इन्हें विद्योपार्ज्जन के विचार से इस प्रकार की अलीक चिन्ता का अवसर ही बहुत कम मिलता था। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि एक दिन जिनकी सेवा में बड़े बड़े राजा महाराज तत्पर हुए, वे कभी अपने निर्वाह के लिये माँड़ा जैसी राजधानियों में जाते थे। जिनकी आज्ञा मात्र से एक दिन लाखों के मन्दिर बन गये, वे कभी एक साधारण से स्थान में कालयापन करते थे और उस समय कौन कह सकता था कि वही विद्यार्थी रङ्गाचार्य्य एक दिन अपनी इसी ब्राह्मी सम्पत्ति के प्रभाव से श्री वृन्दावन धाम का—नहीं नहीं, भारतवर्ष का स्वनामधन्य स्वामी रङ्गाचार्य होगा ?

स्वप्न

एक दिन रङ्गाचार्य जी ने स्वप्न में देखा कि वे वरणा नदी पर सन्ध्योपासन कर रहे हैं। उसी समय एक भयङ्कर भैंस इन पर प्रचण्ड बेग से आक्रमण करने आई। ये भयभीत हो रक्षा के लिये आश्रय खोजने लगे—पर वह नहीं मिला। जब पूर्व की ओर जाने लगे, तब भैंस ने मार्ग रोक लिया। दक्षिण को चले, तो वहाँ भी भैंस आगे पहुँची ! अगत्या, ये उत्तर की ओर बढ़े, पर हाय ! उधर भी भैंस ने इन्हें जाने नहीं दिया ! अन्त को अनन्य गति हो इन्होंने पश्चिम में पलायन किया और तब देखा कि भैंस इनका पीछा छोड़ कर चली गई।

नेत्र खुलने पर इन्होंने देखा कि इनका हृदय काँप रहा है। भैंस नहीं पर भैंस का भय वर्तमान है। एक झूठे स्वप्न का प्रभाव अपने पवित्र शरीर पर देख कर इनके चित्त में चिन्ता उत्पन्न हुई कि इसका कारण क्या है ? प्रातः समय सर्व्वसन्देहहर्ता, श्रद्धाभाजन, वृद्धगुरु

श्रीअभयाचरण भट्टाचार्य जी के पास जा इसका तत्व पूछा। उन्होंने विचार कर कहा कि 'वत्स! यह स्वप्न सच्चा है। अब तुम काशी परित्याग करो और स्मरण रक्खो कि दक्षिण, पूर्व और उत्तर दिशा से तुम्हें कुछ लाभ नहीं है। तुम्हारा भाग्योदय—तुम्हारी सद्विद्या का प्रकाश पश्चिम दिशा में होगा। अब तुम शीघ्र ही यहाँ से प्रस्थान करो। यद्यपि तुम्हारे जैसे गुरुभक्त विद्यार्थी संसार में दुर्लभ हैं, तथापि भगवान् की यही इच्छा है।'

अपने विद्यागुरु आप्तपुरुष महात्मा भट्टाचार्य के वाक्य पर इनका वेदवाक्यवत् विश्वास था। ये उनकी आज्ञा को ईश्वर की आज्ञा समझते थे। न इनको विद्या के प्रकाश की लालसा थी और न भाग्योदय की परवाह। इनका सिद्धान्त यही था कि, विद्योपार्जन ही ब्राह्मण का परम तप और वही इसका परम धन है। विद्याध्ययन जैसा काशी में सुलभ है वैसा अन्यत्र कहाँ? इसलिये काशी जी का परित्याग करना इनके लिये कुछ सहज न था, तथापि इन्होंने उसी समय विद्यापीठ काशी को छोड़ दिया, परन्तु विद्यागुरु की आज्ञा को न छोड़ा!

गोवर्द्धन की गद्दी

व्रजमण्डल में गिरिराज गोवर्द्धन एक प्रसिद्ध स्थान है। यहाँ मानसी गङ्गा पर सदा से अनेक भगवद्भक्त विरक्त वैष्णव रहते आये थे। एक छोटे से मन्दिर के स्वामी, श्रीनिवासाचार्य जी का भी वहीं निवास था। संवत् १८९० में काशी से स्वामी रङ्गाचार्य जी वहीं आकर टिके, स्वामी श्रीनिवासाचार्य इनके गुणों से मोहित हो गये। वे जिस गद्दी के मालिक थे वह गोवर्द्धन गद्दी के नाम से विख्यात थी और यह नियम था कि गद्दी का स्वामी किसी वाधूलगोत्री, द्राविड श्रीवैष्णव को उत्तराधिकारी बनाता। इनमें ये सब बातें विद्यमान थीं। अतएव वे गोवर्द्धन की गद्दी इन्हींको दे गये, जो इनके कारण भारतवर्ष के श्रीवैष्णवों में अति प्रसिद्ध और पूज्य हो गई।

मथुरा के सेठ

मथुरा के सेठ राधाकृष्ण जी जैनी वैश्य थे। इनके बड़े भाई प्रसिद्ध सेठ लक्ष्मीचन्द जी और कनिष्ट सेठ गोविन्ददास जी थे। सेठ राधाकृष्ण जी ने इसी समय में स्वामी रङ्गाचार्य जी की बहुत प्रशंसा सुनी। दर्शन करने पर उन्हें और भी बढ़ कर पाया। इन दिनों कभी स्वामी जी वृन्दावन रहा करते और कभी गोवर्द्धन। सेठ जी भी उनका भक्तिमय उपदेश सुनने दोनों स्थानों में पहुँचा करते। श्रीवैष्णव धर्म्म की उत्तमता देख वे सं० १८९२ में स्वामीजी के शरणागत हुए। शरणागत हुए सही, पर बड़े भाई सेठ लक्ष्मीचन्द जी के भय से गुप्त-रीति पर हुए। परन्तु सेठ राधाकृष्ण की गुरुभक्ति और अनन्य वैष्णवता कब तक गुप्त रह सकती थी? वह संसार में प्रसिद्ध हुई और ऐसी हुई कि आज कल के संसार में जिसका जोड़ा मिलना कठिन है।

श्रीरङ्ग जी का मन्दिर

सेठ राधाकृष्ण जी ने स्वामीजी की आज्ञा से श्री रङ्गजी का एक मन्दिर गोवर्द्धन में बनवाया और एक श्रीवृन्दावन में। ये पहिले मन्दिरों से बड़े और सुन्दर होने पर भ। व्रजमण्डल में उल्लेख योग्य न थे। इनसे स्वामी रङ्गाचार्य जो का परितोष न देख, सेठ राधाकृष्ण जी ने रङ्ग जी का वह प्रसिद्ध मन्दिर बनवाया, जो व्रजमण्डल ही में नहीं, भारतवर्ष भर में दर्शनीय और गणना योग्य है। तन, मन, धन, का अर्पण करने कराने वाले अनेक शिष्य गुरू सुने हैं, किन्तु सेठ राधाकृष्ण के समान सर्वस्व अर्पण करने वाला शिष्य और उसको शुभ कार्य में लगाने वाला स्वामी रङ्गाचार्य जैसा गुरू मिलना कठिन है।

हम कह चुके हैं कि सेठ राधाकृष्ण जी अपने जैन धर्म्मावलम्बी ज्येष्ठ सहोदर लक्ष्मीचन्द जी के भय, लज्जा वा स्नेह से गुप्त रूप से श्रीवैष्णव हुए थे। इसलिये वे अपने नाम से मन्दिर बनवाने में असमर्थ थे। अगत्या, हैदराबाद के मारवाड़ी श्रीवैष्णव सेठ पूर्णमल्ल जी के नाम

से मन्दिर बनवाना आरम्भ किया। अपने पास का बीस पचीस लाख खर्च कर दिया पर मन्दिर छत तक भी न पहुँचा। जब सेठ लक्ष्मीचन्द जी को रहस्य ज्ञात हुआ कि यह अधूरा मन्दिर उन्हींके बन्धु प्रिय सहोदर का है, तब उन्होंने साम्प्रदायिक सङ्कीर्णता का परित्याग कर अपने आप शेष मन्दिर को पूरा किया। मन्दिर की तय्यारी में अनुमान ४५ लाख रुपये और भगवान् के भोगराग के निमित्त एक करोड़ से अधिक व्यय हुआ।

यद्यपि सेठ लक्ष्मीचन्द जी और उनके पुत्र सेठ रघुनाथदास जी समाश्रय नहीं हुए तथापि उनकी श्रीवैष्णव धर्म्म में श्रद्धा थी; उनकी स्वामी रङ्गाचार्य जी में भक्ति थी और इनका उपदेश भी वे प्यार से सुना करते थे एवं श्रीवैष्णवसेवा से भी वे पराङ्मुख न हुए। परन्तु सेठ रघुनाथदास जी प्रकाश्य रीति पर श्रीवैष्णव हुए और सेठ राधाकृष्ण के समान सब तरह श्रीवैष्णव धर्म्म का पालन किया। यह सब स्वामी रङ्गाचार्य की अघटन-घटना-पटीयसी सद्विद्या और भगवद्भक्ति का प्रताप था, जिसने व्रजमण्डल में युगान्तर कर दिखाया। हमारे विचार में यदि स्वामी जी और कुछ भी धर्म्म का कार्य न किये होते, तो एक यही कार्य, अर्थात् सेठों को शिष्य कर वैदिक बनाना ही ऐसा कार्य है, जिसका ऋण भारतवर्ष के हिन्दू शीघ्र नहीं चुका सकते।

विद्या में प्रेम

गोवर्द्धन की गद्दी पाने के पीछे बड़े आदमियों के निकृष्ट गुरुओं की तरह न तो उनको निश्चिन्त हो 'तबले सारंगी' से मिलने का अवसर मिला और न अध्ययनाध्यापन ही को छोड़ा। प्रत्युत, नदिया के महाविद्वान् गोलोकवासी न्यायरत्न भट्टाचार्य के शिष्य सुविख्यात पण्डित पार्वतीचरण भट्टाचार्य जी से न्यायशास्त्र की विवेचना पढ़ी और टोंक के शास्त्रार्थविजयी पण्डित श्रीकृष्ण शास्त्री जी से निरन्तर विद्याभ्यास करते रहे।

जब से सेठ जी इनके शिष्य हुए, तब से ये बराबर काशी

जाया करते। सभा में शास्त्रार्थ सुना करते और कभी कभी आप भी खूब शास्त्रार्थ कर उनसे साधुवाद पाते। इनके यहाँ पण्डितों का सत्कार राजदरबारों के समान होता। पण्डित लोग इस विद्याविद्य दाता के दर्शन के लिये उत्सुक रहते और आप भी उनमें स्नेह रखते थे। काशी के प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित काशीनाथ शास्त्री को इनके साथ शास्त्रार्थ कर कई बार चकित होना पड़ा था। स्वामी रङ्गाचार्य जी कितने बड़े अध्यापक और शिष्यों के प्राणप्रिय थे, इस बात का पता उनको अब भी लग सकता है, जिन्हें कभी वृन्दावन के विद्वद्वर श्री पं० सुदर्शन शास्त्री आदि उनके अनेक विद्वान् शिष्यों से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

शास्त्रार्थ

स्वामी रङ्गाचार्य जी ने कई जगह बड़ी धूमधाम से शास्त्रार्थ किये। बूंदी के परम प्रतापी, पण्डितप्रिय, विद्वान् महाराज स्वर्गवासी रामसिंह जी के निमन्त्रित करने पर वहाँ पधारे थे। उस समय वहाँ श्रीवैष्णव धर्म्म के खण्डन मण्डन विषय में बड़ा शास्त्रार्थ हुआ था। स्वामी जी का असाधारण पाण्डित्य देख कर महाराज रामसिंह जी इनके समाश्रय (श्रीवैष्णव धर्म्म के शरणागत) हुए और इनका बड़ा सत्कार किया था। स्वामी जी के साथ उस समय चार सौ श्रीवैष्णवों की भीड़ थी।

जयपुर-नरेश से विवाद

संवत् १९२१ में जयपुर के महाराज रामसिंह जी ने श्रीवैष्णवों से सम्प्रदाय विषयक आठ प्रश्न किये थे। जिनका श्रीसम्प्रदाय, अर्थात् श्रीमद् रामानुजीय श्रीवैष्णवों की ओर से स्वामी रङ्गाचार्य जी ने "दुर्जनकरिपञ्चानन" के द्वारा सुतीव्र उत्तर दिया था। इसके पीछे जयपुर-नरेश की ओर से उत्तर में "सज्जनमनोऽनुरञ्जन" का प्रकाशन हुआ। इधर से संवत् १९२६ में इसका प्रत्युत्तर 'व्यामोहविद्रावण' नामक ग्रन्थ से मिला। यद्यपि 'सज्जनमनोनुरञ्जन' की अपेक्षा 'दुर्जनकरिपञ्चानन आदि स्वामी जी की पुस्तकों की, उनके नाम के

समान लेखप्रणाली भी कुछ कठोर है और यह भी सच है कि स्वामी रङ्गाचार्य जी ने श्लिष्ट पदों में जयपुर नरेश और स्वामी लक्ष्मणगिरि जी को गालियां दी हैं, इनका यह कार्य सर्वमान्य सर्वप्रिय शान्त श्रीवैष्णव धर्म के कहाँ तक अनुकूल था यद्यपि इस विषय में सन्देह हो सकता है और विवाद उठ सकता है; तथापि जिस समय जयपुर-नरेश के दौर्दण्ड से भीत श्रीवैष्णव मण्डली में 'त्राहिमाम्' की पुकार पड़ रही थी, जिस समय महाराज रामसिंह जी की कोपाग्नि में जयपुर राज्य के श्रीवैष्णवों की पैतृक सम्पत्ति स्वाहा हो रही थी, जिस समय पूर्वजों के दान और भयङ्कर ब्रह्मस्व से जयपुर-नरेश राज्यकोश की वृद्धि कर रहे थे और इस 'रुद्रयाग' के अद्वैतवादी, संन्यासी स्वामी लक्ष्मणगिरि आचार्य और गौड़कुलसम्भूत पण्डित हरिश्चन्द्र आदि ऋत्विक आदि का कार्य कर रहे थे, उस समय पर दुःखकातर ब्राह्मण रङ्गाचार्य्य जी ने एक महाराज के सामने लेख में प्रचण्डता दिखलाई तो क्या अनर्थ किया ?

हमारे कहने का यह तात्पर्य्य कदापि नहीं हैं, कि किसी को गाली देना अच्छा है वा श्रीवैष्णवों को कोई बुरा कहे तो वे भी उसे वैसा ही कहा करें, नहीं, सहनशीलता और क्षमा श्रीवैष्णवों का परम धर्म है। किसी के अत्याचार को सहन करना जैसा उनका भूषण है, वैसा ही अत्याचारी होना उनका दूषण है। केवल स्वामी रङ्गाचार्य जी को यदि कोई दुःख पहुँचाता तो उसे वे अवश्य सहन कर लेते। पर भला यह कैसे हो सकता था कि श्रीवैष्णवों के आर्तनाद से दिग्दिगन्त व्याप्त हो और दयालु रङ्गाचार्य वाक्यव्यय भी न करें ? अधिक रगड़ने से चन्दन में भी अग्नि उत्पन्न हो जाती है।

यह हो सकता है कि जयपुर में कुछ दुराचारी श्रीवैष्णवों के व्यवहार से महाराज को दुःख पहुँचा हो और उसीका उन्होंने प्रतिकार किया हो, परन्तु दो चार के लिये समस्त सम्प्रदाय के श्रीवैष्णवों को दुःख पहुँचाना न्यायसङ्गत न था। यदि आज हमारे अंग्रेज महाराज भी अपने ईसाई मत का दबाव डालने लगें, तो फिर

श्रीवैष्णवों और शैवों की क्या दशा हो और जयपुर, जोधपुर उनके आगे किस योग्य हैं, इसका विचारशील पुरुष ही विचार कर सकते हैं।

खेद है कि, हमारे पास सुदर्शन में इतना स्थान नहीं है कि जयपुर-नरेश के प्रश्न और स्वामी जी के उत्तरों की समालोचना की जाय, यहाँ पर केवल 'दुर्जनकरिपञ्चानन' और 'व्यामोहविद्रावण' से आरम्भ के कुछ श्लोक उद्धृत कर नमूने के लिये दिखलाते हैं, जिससे हमारे संस्कृत-कविता-रसिक पाठकों को उनकी पद्यरचना का कुछ ज्ञान होय।

'दुर्ज्जनकरिपञ्चानन' का प्रारम्भ यों है—

जीयाच्छ्रीनृहरिः साक्षात् भुक्ति-मुक्ति-फल-प्रदः।
समस्त हेय विद्वेषी कल्याणगुण सागरः ॥१॥

भेदाऽभेदादिनानाविधकुमतिमतैः कण्टकैर्गत्यनर्हम्
पन्थानंप्राक्तनंयोऽकृतसुगमतरंयुक्तिझञ्झामरुद्भिः।
श्रीमान् रामानुजार्यः सहिजयति तरां दर्शयन्वर्त्म
मुक्तेर्यन्नामश्रावमात्रात्कुदृशउरुभिया क्वापिलीना भवन्ति ॥२॥

चक्रं शंखश्च विष्णोर्दितिसुतदलने जाग्रती विश्रुते ये,
तच्चिन्हैर्भासुरांगा नवनिदिविषदः श्रौत धर्म्मैक निष्ठान्।
दुस्तर्काऽक्षोभ्यपक्षान् बहु कुमतिमतध्वान्त विध्वंसनार्कान्
दृष्ट्वा धावन्ति दूरे हरिमिव दितिजा वैष्णवान् विद्विषन्तः ॥३॥

जयपत्तन भूदारः सवायूरामृगाधिपः।
सर्वं वैष्णवसिद्धान्त सागरक्षोभ-तत्परः ॥४॥
आश्रित्य कृतकृत्योभूल्लक्ष्मणाख्य शिलोच्चयम्।
पापण्डिकुलमातङ्गम् सदास्वापत्त जीवनम् ॥५॥
वैदेशिकश्च तन्त्राणां सर्वेषां लक्ष्मणे गिरिः।
प्रश्नानसङ्गतानष्ट कथञ्चिद्दे व भाषया ॥६॥
कृत्वा श्रीवैष्णवमत सम्प्रदायार्थगोचरान्।
श्रीवैष्णवानां निकटं प्रेपयामास सर्वतः ॥७॥

इत्यादि।

'व्यामोहविद्रावण' का आरम्भ इस प्रकार है,—

"अवतु पुरुषसिंहः श्रीनिवासो दयालु-
र्निखिल-विनत-रक्षा-दीक्षितो वेदवेद्यः ।
नख-विदलित-दैत्य-क्रोड-पृथ्वीधरोद्यद्-
विसृत-रुधिर-धारा-रञ्जिताशेष-काष्ठः ॥१॥
जयपुरनिकेतनःकोऽपि सज्जनमनोनुरञ्जनं नाम्ना ।
कृत्वाद्दुर्जनकरिपञ्चानन-खण्डनमकुरुतवाङ्मात्रैः२
तद्दृष्ट्वा केषाञ्चिन्मा भूद्व्यामोह इत्ययं यत्नः ।
सज्जनकृपयासुधियोरङ्गाचार्यस्यसफलतांयायात् ॥३॥
दुर्जनकरिपञ्चानन भावं ज्ञात्वा स खण्डनं कुर्यात् ।
सन्तोषःसुधियांस्यात्नोचेत्पीडाहिमहतीस्यात् ॥४॥
ये मात्सर्यं लवानभिज्ञमनसो निष्पक्षपाताःस्वके
पुत्रे शत्रुजनेऽपि नित्यविगतासूया गुणग्राहिणः ।
ते कृत्वा करुणामकाण्डरुचिरां नित्यंविनीते मयि ।
स्वीकुर्वन्तुमदीयवाक्यरचनां मेतांविचार्य्यंस्वयम् ॥५॥
मया कृत दुर्जनं-हस्ति-पञ्चाननं विवृण्वन् बहुशो प्रसक्तान ।
वैजात्य मात्रेण परोक्त दोषान् निराकरोम्यद्यतु हेलयैव" ॥६॥

ग्रन्थ विचार

'दुर्जनकरिपञ्चानन' और 'व्यामोहविद्रावण' के अतिरिक्त और भी 'दुर्जनमुखभङ्गचपेटिका' आदि खण्डनमण्डन विषयक ग्रन्थों की रचना की थी। पूर्वाचार्यों की सहस्रगीति जो द्रविड़ देश की भाषा में है, उसका संस्कृत में सुन्दर अनुवाद और उस पर एक बड़ा भाष्य बनाया जिसमें श्रीसम्प्रदाय का तत्व भर दिया है। न्याय शास्त्र में सामान्य निरुक्ति, सत्प्रतिपक्ष, सव्यभिचार और साधारण की विवेचना बनाई जिनमें पहिला ग्रन्थ इनके सत्शिष्य वृन्दावनस्थ श्री पं० सुदर्शन शास्त्री जी द्वारा बंबई में छप चुका है। इसके देखने से भ्रम हो जाता है कि, यह गोलोक सदृश पाण्डित्य यहाँ किस प्रकार आया ? विवेचना के प्रत्येक पत्र में इनकी विद्याबुद्धि प्रतिबिम्बित हो रही है।

स्वार्थत्याग

मथुरा के सेठ जी ४५ लाख का मन्दिर और उसकी करोड़ों की विभूति सब स्वामी जी के अर्पण कर चुके थे। उन्होंने उसमें अपना किसी प्रकार का स्वत्व नहीं रक्खा था। परन्तु बुद्धिमान रङ्गाचार्य को मृत्यु से प्रथम इस बात की चिन्ता हुई कि यह वैभव सब हमारा नहीं भगवान् का है। कहीं ऐसा न हो, हमारे पीछे कोई हमारे कुल में उत्पन्न होने वाला इसे कुमार्ग में नष्ट कर दे! अन्त को उनका यह विचार सिद्धान्त में परिणत हो गया और वे मन्दिर की रक्षा का भार एक श्रीवैष्णव कमेटी को दे गये और अपने को और अपनी होनहार सन्तान को श्रीवैष्णवों के भरोसे छोड़ दिया। इनके उस वसीयत नामे से जिसके द्वारा मन्दिर पर कमेटी का अधिकार हुआ है उनके भगवत्प्रेम, असाधारण त्याग और महत्व का खूब परिचय मिलता है। उनको सन्तान प्यारी न थी भगवान् प्यारे थे, यह उससे भली भाँति सिद्ध होता है। यद्यपि अभी तक इनके कुल में कोई कदाचारी उत्पन्न नहीं हुआ, तथापि आगे की कौन कह सकता है कि क्या होगा? हमारी सम्मति में महात्मा रङ्गाचार्य का यह स्वार्थ-त्याग निष्फल नहीं है। क्योंकि,—

"सतांहि सन्देह पदेषु वस्तुषु प्रमाण मन्तःकरणप्रवृत्तयः"।

उदारता

बहुधा देखा गया है कि पञ्चद्राविड़ पञ्चगौड़ों को हेय और तुच्छ दृष्टि से देखते हैं। दाक्षिणात्यों का यह कुसंस्कार यहाँ तक प्रश्रय पा गया है कि, दक्षिण के श्रीवैष्णव धर्म्मावलम्बी भी इस नीचजनोचित कुसंस्कार के फेर में पड़ गये हैं। जो श्रीवैष्णवधर्म्म मनुष्यों को सङ्कीर्ण मार्गों से निकाल, किसी वर्ण आश्रम तक का विशेष विचार न कर अपने प्रशस्त और सुविस्तृत प्राङ्गण में निरपेक्ष भाव से स्थान देता था, अब वह इन सङ्कीर्णमना श्रीवैष्णवों की करतूत से स्वयं सङ्कीर्ण हो रहा है।

कितने दुःख और क्षोभ का विषय है कि जिस धर्म में एक दिन हरिभक्त श्वपच भी पूज्य समझा जाता था, जिसमें 'यत्किञ्चभूतं प्रणमेदनन्यः' का उद्घोष होता था और जिस धर्म में हरिभक्तों का दासानुदास होना ही कर्तव्य कर्म था, अब उसी आदरणीय श्रीवैष्णव-धर्म में जात्याभिमान और आत्मगरिमा के कारण उत्तराधिये श्रीवैष्णवों का खुला तिरस्कार हो रहा है! दक्षिणी श्रीवैष्णव उत्तर के श्रीवैष्णव के हाथ का महाप्रसाद तक नहीं लेते हैं, न उनको आसन देते और न प्रणत ही होते हैं। दक्षिणी में चाहे विद्या न हो, भगवद्-भक्ति का लेश तक न हो, तथापि वह इसलिये बड़ा है कि उसका जन्म दक्षिण में हुआ है। यह पतितपावन श्रीवैष्णवधर्म अब पवित्रों को पतित करने का साधक है कि बाधक, यह कुछ बुद्धिमानों से छिपा हुआ नहीं है। अस्तु।

स्वामी रङ्गाचार्य जी इस सङ्कीर्णता और अहङ्कार से कोसों दूर थे। उनके समीप दक्षिणी और उत्तराधिये सब तुल्य थे। इसके अतिरिक्त वे यह भी जानते थे कि, यदि दक्षिण उत्तर की उत्तमता पर विचार किया जायगा तो उत्तर ही उत्तम ठहरेगा। दक्षिणायन से उत्तरायण काल उत्तम है और दक्षिण मार्ग (पितृयान) से उत्तर मार्ग, (देवयान)। दक्षिण में कृष्णा कावेरी और उत्तर में गङ्गा यमुना। वहाँ काँची है तो यहाँ अयोध्या, मथुरा हैं। वहाँ सब आल्वार हुए तो यहाँ सब अवतार प्रगटे। कहिये, फिर दक्षिण से किस बात में उत्तर कम समझा जाय? अब रह गई आचार विचार की बात। यदि कोई बात इस देश में जघन्य है तो कोई कोई उस देश में भी ऐसी है कि जो इधर अत्यन्त ही बुरी समझी जाती है।

श्री वृन्दावन में एक गौड़वंशसम्भूत शठकोप स्वामी रहते थे। वे परम भागवत, परम शान्त और परम निस्पृह थे। स्वामी रङ्गाचार्य जी इन्हें गुरुवत् मानते थे और वे भी इन्हें प्राणप्रिय जानते थे। शठकोप स्वामी की ये अपने हाथ से सेवा करते और वे इसीसे अपने को कृतकृत्य समझते थे। उनके बिना न इन्हें आनन्द मिलता

और न इनके बिना उन्हें कल थी। संवत १९२७ में शठकोप स्वामी जी का वैकुण्ठवास हुआ तब स्वामी रङ्गाचार्य जी ने अपने हाथ से उनका और्द्धदेहिक कृत्य कर उदारता की पराकाष्ठा दिखला दी। और लोगों की समझ में चाहे यह छोटी सी बात समझी जाय, पर हम इसे बहुत बड़ी समझते हैं। कहाँ राजमान्य रङ्गाचार्य और कहाँ भिक्षुक शठकोप स्वामी जी? अब वे न रहे पर उनकी बात रह गई!

मृत्यु

जिस दिन से शठकोप स्वामी जी का शरीर पूरा हुआ, उसी दिन से स्वामी रङ्गाचार्य जी ने अन्न भोजन करना छोड़ दिया, कन्द मूल फल से निर्व्वाह करते रहे। एकान्त उनको प्यारा हो गया और जनसमाज उदासीन! अन्त को सं० १९३० की चैत्र सुदी दशमी गुरुवार के दिन वह सूर्य जो दक्षिणी एवं गौड़ पर समान भाव से अपनी किरण पहुँचाता था अस्त हो गया। वह श्रीवैष्णवसिंह, जिसकी धाक से धर्मविरोधी काँप रहे थे, इस धरा से चल बसा! स्वामी रङ्गाचार्य की मृत्यु से जो श्रीवैष्णव समाज की हानि हुई, उसकी पूर्ति होना इस समय बड़ा ही कठिन है।

स्वभाव

स्वामी रङ्गाचार्य जी के एकमात्र पुत्र श्री निवासाचार्य थे; जो इनकी गद्दी के अन्त में अधिकारी हुए। स्वामी रङ्गाचार्य जी में बहुत गुण थे। वे दयालु, अनन्य श्रीवैष्णव और धर्म्म के दृढ़ विश्वासी थे। न्याय और वेदान्त के बड़े विद्वान् थे पर कविता भी उनकी चमत्कार-शून्य नहीं थी। पद्य की रचना की अपेक्षा वे गद्यरचना में सिद्धहस्त थे। स्वभाव में कुछ उग्रता अवश्य थी, पर वह तेजस्विता से रिक्त न थी। उनके गुणसमुद्र की थाह कौन लगा सकता है। उनकी बहुत सी ऐसी बातें हैं, जो पाठकों के लिये अनूठी और भक्तों के लिये अमूल्य रत्न हैं। अवसर मिलने पर उनके विस्तृत जीवन चरित के साथ उन्हें प्रकाश करने की इच्छा है।

दरभंगे के महाराज

हर्ष की बात है कि जब प्रायः हिन्दू नरेश दुर्व्यसनासक्त हो निज नाम को बिगाड़ रहे हैं, उस समय हमारे दर्भङ्गाधिपति उत्तरोत्तर अपनी उज्वल कीर्ति का विस्तार करने में लगे हैं। भारतवर्ष की प्रमुख राजमण्डली में कोई प्रबुद्ध एवं जागृत हुआ है, तो वह दर्भङ्गे ही के महाराज हैं जो अंग्रेजी राज्य के सुख शान्तिमय समय में विद्या और धर्म्म के प्रचार में दत्तचित होने लगे हैं। इन्हें अपने दुर्दशाग्रस्त और दुर्दैवदलित हिन्दू समाज के केवल अभावों ही का परिज्ञान नहीं है, वरञ्च सुनते हैं कि उसके प्रतिकार की चेष्टा भी कर रहे हैं। चाहे, ये पूर्णतया राज्याधिकार प्राप्त महाराज नहीं हैं, किन्तु एतादृश सौभाग्यशाली और विलक्षण हैं कि भारतवर्ष की समस्त हिन्दू जाति के हृदय को अधिकृत कर रहे हैं, जिसका सीमा पर पहुँ-चाना इनकी सामर्थ्यशालिनी प्रतिभा और अटल उद्योग के समक्ष कुछ कठिन नहीं है। इसलिये हम सानन्द, ससम्भ्रम और सगौरव इस बात को खुले शब्दों में प्रकाश करते हैं, कि महाराज दर्भङ्गा, दर्भङ्गे के महाराज ही नहीं हैं, वरञ्च भारत के समस्त हिन्दू समाज और सनातन-धर्म्म-साम्राज्य के सम्राट् भी हैं।

दर्भङ्गानरेश हमारे श्रद्धाभाजन इसलिये नहीं हैं, कि वे विस्तृत भूसम्पत्ति और प्रभूत आय अपने पास रखते हैं, हम केवल उनके आर्य्यवंशोचित गुणों पर मोहित हो चले हैं। जिस प्रकार इनका श्रोत्रियवंश पूजित है, इसी प्रकार इनके पूर्वजनों का निर्म्मल चरित्र भी श्रद्धेय है। हमें यह देख कर परम प्रसन्नता है कि, मिथिला के जिस वेदविदित और वन्दनीय सिंहासन की प्रतिष्ठा चिरस्मरणीय, विदेहराजकुल के हेतु महर्षि-मण्डल में हुई थी, उसका इस कलिकाल

F. 22

में भी उसी प्रकार इस श्रोत्रियराजवंश से ब्राह्मण जाति में समादर हो रहा है। इस बात को हम स्वीकार करते हैं कि जिस प्रकार 'सुलतान रूम' निज जातीय महत्व और धर्म्मराज्य के संरक्षक माने जा रहे हैं, उस प्रकार हम हिन्दुओं के जातीय एवं धर्म्मभाव का कोई नियत अभिभावक नहीं है, किन्तु यदि न्याय, नीति और दूरदर्शिता से विचार कर देखा जाय तो दर्भङ्गे के महाराज हिन्दुओं के 'सुलतान' कहे जा सकते हैं। इस विचारणीय विषय पर आज हम विशेष विचार इसलिये नहीं कर सकते कि विषयबाहुल्य से स्थानाभाव है।

दर्भङ्गा राज्य का गौरव शान्तिप्रिय ब्राह्मण जाति में इस कारण से भी है कि, उसका आरम्भ ही शान्त कार्य से हुआ है। दर्भङ्गाधिराज के धर्म्मात्मा पूर्वजों ने राजर्षि जनक के इस प्रणम्य विद्यापीठ पर लोमहर्षण पशुबल से अधिकार नहीं किया है, प्रत्युत, सर्वप्रिय ब्रह्मबल वा विद्याबल ही से इसको प्राप्त किया है। न तो इसे उभयलोक निन्दित नरहत्या के महापाप से प्राप्त किया और न किसी प्रकार के घृण्य छल कपट ही से। महाराज के प्रशंसनीय पूर्वज महामहोपाध्याय पण्डितवर महेशठक्कुर ने 'शहनशाह अकबर' की सभा में किसी यवनाचार्य को अपने विद्याबल से परास्त कर इस राज्य को उनसे पाया था और अनन्तर अंग्रेजों के सुशासन में विद्याबल ही से इसकी श्रीवृद्धि हुई, जो न केवल श्रोत्रियवंश के लिये गौरव का कारण है, वरञ्च समस्त ब्राह्मणकुल के लिये। अधिक आनन्द इस बात का है कि, महाभाग महेशठक्कुर के वंशधर अपनी इस गौरवकथा को अद्यापि साभिमान स्मरण करते हैं! दर्भङ्गे के स्वधर्म्मप्रिय महाराज श्रीमान् रमेश्वरसिंह देव बहादुर ही से अब यह श्रोत्रियवंश सनाथ हो रहा है। उनका संक्षिप्त जीवनचरित और चित्र हम यहाँ पर सादर प्रकाशित करते हैं, आशा है कि हमारे धार्मिक पाठकों को इसमें बहुत कुछ सन्तोष और आनन्द लाभ होगा।

जन्म

दर्भङ्गे के वृद्ध महाराज महेश्वरसिंह बहादुर के राम लक्ष्मण के समान दो विख्यात पुत्र उत्पन्न हुए, जिनमें प्रथम महाराज लक्ष्मीश्वर-सिंह और द्वितीय महाराज रमेश्वरसिंह जी। सन् १८५६ ई० की २५वीं मई को महाराज लक्ष्मीश्वरसिंह बहादुर का जन्म हुआ था और सन् १८६१ ई० की १६वीं जनवरी को महाराज रमेश्वरसिंह बहादुर का। अभी महाराज रमेश्वरसिंह पूरे एक वर्ष के भी न होने पाये थे, कि सन् १८६२ के अगस्त मास में पुत्रसुख से वञ्चित हो अपनी पितृ सन्तान को भाग्याधीन छोड़ गये। संसार के इतिहास देखने से हमें विदित हुआ है कि, प्रतापी पुत्रों के मुखदर्शन की उतनी न्यूनता नहीं है, जितनी उनके सुख दर्शन को न्यूनता है। इतिहास में ऐसे बहुत कम महाभाग मिलते हैं जिन्होंने निज नेत्रों से प्रतापी पुत्रों का प्रताप देखा हो। जो हो, इस समय राजकुमार रमेश्वरसिंह के ज्येष्ठ सहोदर राजकुमार लक्ष्मीश्वरसिंह ही जिनकी अवस्था चार पाँच वर्ष को थी, दर्भङ्गे के महाराज-पद के अधिकारी हुए।

शिक्षा

महाराज के स्वर्गवास और राजकुमारों की नाबालग़ी के कारण गवर्नमेंट की प्रबल इच्छा से 'कोर्ट आफ़ वार्ड्स' का दर्भङ्गा राज्य में अधिकार हुआ और इसके मनेजर हुए, इनकम टेक्स के गतपूर्व मनेजर फरलङ्ग साहेब। यों तो राजकुमारों की शिक्षा का आरम्भ देशी अध्यापक प्रथम ही से करा चुके थे, परन्तु गवर्नमेंट की ओर से एक 'मकनाटन' नाम का अंग्रेज राजकुमारों का विशेष और प्रधान अध्यापक बन कर आया और उसकी समझ में यही आया कि राजपरिवार के समीप रहने से राजकुमारों की शिक्षा में बहुत बाधा होती है, सो वह युगल कुमारों को मुजफ्फ़रपुर ले गया, साथ ही संस्कृत और फारसी पढ़ाने के लिये पण्डित और मौलवी भी सहचर हुए। कुछ दिनों में मेकनाटन साहेब को मुजफ़्फ़रपुर की 'आबोहवा'

भी अच्छी न लगी और वे राजकुमारों को काशी जी ले गये। यद्यपि राजमाता ने बहुत कुछ अनुरोध उपरोध किया था कि 'कुटुम्ब से इतनी दूर प्राण स्वरूप राजकुमारों को ले जाना न चाहिये' पर उसका वही फल हुआ था जो वैसे शिक्षाकेन्द्र के समय अन्यान्य राज्यों में हुआ करता है। यूरोपियन शिक्षकों का प्रायः यह आग्रह रहता है कि राजकुटुम्ब में राजकुमार बिगड़ते हैं, पर हमारी सम्मति में यह व्यवस्था केवल भ्रमजन्य और विपरीत फल दिखा रही है। सौभाग्य से राजकुमारों के ज्येष्ठ चचा सुयोग्य बाबू गुणेश्वरसिंह जी उनके रक्षक हो कर काशी साथ गये थे और यही कारण था कि दोनों राजकुमार अंग्रेजी शिक्षा का केवल गुण ग्रहण करने पाये, दोष नहीं।

काशी जी में इन्होंने 'क्वीन्सकालिज' में तृतीय श्रेणी तक अंग्रेजी शिक्षा पाई और साथ ही संस्कृत भी पढ़ते रहे। इनके अध्ययन की प्रशंसा इसीसे समझ लीजिये कि इनकी योग्यता को परीक्षा कर प्रिंसपल ने कहा था कि ये प्रवेशिका परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकते हैं, परन्तु अभी इनकी आयु १३ तेरह वर्ष ही की है। १६ वर्ष से प्रथम इस परीक्षा में कोई प्रविष्ट नहीं हो सकता, अनन्तर दर्भङ्गे ही में इनके लिखने पढ़ने की व्यवस्था हुई। सन् १८७४ ई० में मेकनाटन बिदा हुए और उनके स्थान में एक नये साहेब अलेकजेंडर नामा अवतीर्ण हुए। आप पुस्तक पढ़ाने के साथ साथ क्रिकेट आदि के यूरोपियन खेल भी महाराज को सिखलाते थे। कुछ दिनों पीछे देश-भ्रमण की व्यवस्था हुई और इस बीच में महाराज ने अनेक उत्तमोत्तम स्थानों का दर्शन किया। अलेकजेंडर के पीछे कर्नल मनी भी महाराज के शिक्षक (वा मनेजर) नियत हुए थे। यद्यपि सन् १८७७ ई० में दोनों राजकुमारों को जमींदारी का कार्य सिखाया जाने लगा, तथापि महाराज रमेश्वरसिंह का अनुराग संस्कृत ही में अधिक रहा। संस्कृत साहित्य और दर्शन का आप बराबर अनुशीलन करते रहे। इसी समय आपका शुभ विवाह और राजधानी में निवास नियत हुआ। सन् १८७९ ई० में बड़े भाई लक्ष्मीश्वरसिंह दर्भङ्गे के महाराज हुए।

वैमनस्य

जिस दुर्दैव ने दयासिन्धु भगवान् रामचन्द्र जी से पतिप्राणा जनकनन्दिनी का परित्याग करा दिया था और जिस समय के फेर ने सौभ्रात्र की एक मात्र मूर्ति, अभिन्नहृदय राम लक्ष्मण जैसों को वियुक्त कर दिया था, वह किसी दूसरे परिवार में दुर्घटना कराने से कब चूकता है ? जिन लक्ष्मीश्वरसिंह और रामेश्वरसिंह की भिन्नाकृति होने पर भी वस्तुतः नाम (नामार्थ) भी भिन्न भिन्न न थे, जो दोनों सहोदर पितृवियोग के दिन से एकत्र शिक्षा, दीक्षा पाते थे, एकत्र पान भोजन, एकत्र शयन, एकत्र अध्ययन करते हुए राम लक्ष्मण के समान परस्पर में परम प्रेमी हो गये थे, कालचक्र की कुटिल गति से उनमें भी वैमनस्य हो गया ! परम प्रतापी ज्येष्ठ सहोदर महाराज लक्ष्मीश्वरसिंह के राज्याधिकार के समय, कनिष्ट सहोदर महाराज रमेश्वरसिंह जी को अपनी पैतृक सम्पत्ति छोड़ कर छपरा, भागलपुर आदि नगरों में 'ज्वाइएट मजिस्ट्रेट' होकर जीवन निर्वाह करना पड़ा !! इस समय महाराज रमेश्वरसिंह ने अपनी धीरता, नीतिनिपुणता और न्यायनिष्ठा का न्यायालय में राजवंशोचित परिचय दिया था।

मेलमिलाप

बङ्गदेश के उस समय के सुयोग्य लेफ्टिनेंट गवर्नर सर अशली इडन को भाई भाई का वैमनस्य अच्छा नहीं लगा, इसलिये उन्होंने परस्पर में दोनों भाइयों का मेल करा दिया और सन् १८८१ ई० में वछौर परगना राज्य से महाराज रमेश्वरसिंह जी को दिलवाया। तब से दोनों सहोदरों में प्रीति दिन दिन बढ़ती गई।

श्रीवृद्धि

वछौर की उस समय आमदनी ३ लाख २५ हज़ार थी। वछौर की आपने राजधानी 'राजनगर' में स्थापित की। सन् १८८५ ई० के जून में जंटमाजिस्ट्रेटी का 'इस्तिफा' देकर आप अपनी नवीन राजधानी में निवास और जमींदारी की देखभाल करने लगे। कुछ काल

पीछे अर्थात् सन् १८८६ ई० में गवर्नमेंट ने प्रसन्न होकर इन्हें 'राजा बहादुर' की उपाधि से सम्मानित किया और तदनन्तर सन् १८८७ ई० के सितंबर में इन्हें न्यायालय में उपस्थित होने के झंझट से छुटकारा मिला। सन् १८८८ ई० में यह बङ्गाल की व्यवस्थापक सभा के सदस्य बनाये गये, जिसमें आपकी उत्तम प्रतिभा और योग्यता का स्वदेश-वासियों ने आदर किया था। इस प्रकार सौभाग्यशाली रमेश्वरसिंह जी ने उत्तरोत्तर अपनी श्रीवृद्धि की और गवर्नमेण्ट के कृपापात्र बने। इस समय इस राज्य की आय अनुमानतः पाँच लाख है।

तीर्थयात्रा

ऐसे राजा और राजकुमार भारतवर्ष में बहुत हैं, जो यूरोप के दर्शनीय स्थानों के दर्शन करने पर मरे जाते हैं, किन्तु अपने भारतवर्ष के प्राचीन दर्शनीय तीर्थस्थानों के दर्शन का भी जिन्हें कुछ विचार हो, ऐसे राजा अत्यल्प हैं। हर्ष की बात है कि, महाराज रमेश्वरसिंह जी को स्वदेशभ्रमण और तीर्थयात्रा का बड़ा चाव है। ये अपने योग्यकर्म्मचारियों को साथ ले कई बार अनेक तीर्थों की यात्रा कर आये हैं। सन् १८८८ ई० में दक्षिण के रामेश्वर, द्वारिका आदि तीर्थों में पधारे और मन्द्राज प्रान्त के दर्शनीय स्थानों का अवलोकन किया। सन् १८९० ई० में प्रयाग, जालन्धर, ज्वालामुखी, कोटकाँगड़ा आदि उत्तर के तीर्थों का पर्य्यटन किया। १८९६ ई० तक प्रायः आप तीर्थों ही में विचरते रहे। क्योंकि, मस्त्रशक्ति और देश, काल, पात्र का महत्व आप भली भाँति समझते हैं। बदरिकाश्रम, गंगोद्भव और यमुनोद्भव कई बार हो आये। इधर कामाख्या, जगदीशपुरी और गङ्गासागर आदि भी अनेक बार देख चुके हैं। इनकी तीर्थयात्रा का प्रधान उद्देश्य मनोविनोद नहीं होता है, वरञ्च व्रत, जप, तप आदि धर्म्मानुष्ठान की उसमें प्रधानता है।

सत्कार्य्य

महाराज रमेश्वरसिंह जी ने सत्कार्य भी किये हैं, जिनका जानना और प्रकाश करना कठिन है, तथापि निदर्शन के किये हम इतना ही बहुत समझते हैं कि सन् १८९७ ई० में 'कामाख्या' में एक पक्का घाट निर्माण करवाया जो अब 'राजघाट' के नाम से विख्यात है। महामाया भुवनेश्वरी का प्राचीन मन्दिर भूमिकम्प से गिर गया था, जिसका जीर्णोद्धार भी आप ही ने करवाया। अपनी राजधानी 'राजनगर' को इस ढंग से सजाया है कि उसके सौन्दर्य से नाम की पूरी सार्थकता हो रही है। राजनगर की राज्यश्री को देखकर कौन कह सकता है कि यह हाल ही का बसा हुआ है। जिधर दृष्टि जाती है उधर ही मनोहर दृश्य दृष्टिगोचर होता है। राजमहल की सुन्दर सजावट और बागों की अपूर्व शोभा देखनेवालों के चित्त को चुराती हैं। शारदीयनवरात्र में प्रतिवर्ष जगज्जननी श्रीदुर्गादेवी का महोत्सव यहाँ बड़ी धूमधाम से होता है। इस अवसर पर दूर दूर के पण्डित, कवि और अन्यान्य विषय के गुणिजन उपस्थित होते हैं। कुमारीपूजन और ब्राह्मणभोजन विशेषता से होता है। दुकानदार और कौतुकप्रदर्शक लोगों की भी भरमार रहती है। बड़ा भारी मेला लगता है।

भ्रातृवियोग

कहते हैं कि जब से भाई भाई का मनोमालिन्य दूर हो पूर्ववत् प्रेम हुआ अन्त तक चिरस्थायी रहा! कभी कभी कारणवश महापुरुषों के मन को भी सङ्कीर्णता दबा लेती है, किन्तु वह विजयिनी नहीं हो सकती। उदारमना लक्ष्मीश्वरसिंह और मनस्वी रमेश्वरसिंह को जब कभी इस बात का ध्यान होता था कि, अमुक कारण से परस्पर में मन चञ्चल हुआ था तो चित्त को बड़ा ही कष्ट होता था और इस पश्चात्ताप का फल यह था कि फिर कभी सौभ्रात्र का विच्छेद नहीं हुआ। महाराज लक्ष्मीश्वरसिंह जी के एक पुत्र भी हुआ था, किन्तु बाल्यकाल्य ही में उसे काल ने कंवलित कर लिया

था। तब से दूरदर्शी महाराज ने पुत्र की आशा त्याग कर महाराज रमेश्वरसिंह ही पर अपना पूरा भरोसा कर लिया था। अपने शरीर की शिथिलता और प्रति दिन की बीमारी को देख कर उन्होंने समझ लिया कि अब कैलाशयात्रा दूर नहीं है। इसलिये वे एक प्रकार से राजकाज का समस्त भेद दर्भङ्गे के भावी महाराज रमेश्वरसिंह जी को समझा कर निश्चिन्त हो लिये थे। रोग के कुछ शान्त हो जाने पर भाई से बिदा हो रमेश्वरसिंह जी इधर 'राजनगर' आये और उधर ४१ वर्ष की अवस्था में (ताः १७ दिसंबर सन् १८९८ ई०) स्वजनों एवं मित्रों को रुला तथा हिन्दूमात्र के हृदय को दारुण दुःख देकर और भारतभूमि को मृतप्राय कर, महाराज लक्ष्मीश्वरसिंह कैलाश-धाम पहुँचे! इस दुस्संवाद को जब अश्वारोही ने राजनगर में महाराज रमेश्वरसिंह के पास पहुँचाया, तब ये 'हा! हतोस्मि' कह कर मूर्च्छित हो गिर पड़े!

महाराज का शोक

जिस महाराज लक्ष्मीश्वरसिंह जी को भारतवासी धर्म्मात्मा, दृढ़प्रतिज्ञ, दानशौण्ड, भक्तिपरायण और समविषयवितृष्ण समझते थे, उनके असह्य वियोग का दुःख साधारणजनों को भी व्यथित कर रहा था, तब उनके चिरसहचर, अप्रतिमसहोदर परम प्रीतिभाजन महाराज रमेश्वरसिंह को कहाँ तक असह्य हुआ होगा यह अनुमान करना कठिन है तथापि राज्याभिषेक के समय उनकी डबडबाई हुई आँखें, धीरनरेश के भ्रातृप्रेम की साक्षी दे रही थीं। जब ये दर्भङ्गे पहुँचे, तब वहाँ के कलक्टर ने इन्हें उसी समय कुरसी पर बैठाना चाहा था, परन्तु स्वधर्म्मप्रिय महाराज ने कहा कि "नहीं साहेब! अभी हमें शौचान्त तक उच्चासन पर बैठना मना है!"

श्राद्ध

स्वर्गवासी महाराज का अन्त्येष्ठि संस्कार महाराज रमेश्वरसिंह ने अपने हाथ से बड़ी श्रद्धा के साथ किया था। श्राद्ध भी वैसा ही

किया था जैसा होना चाहिये। अधिक बात यह थी कि ७५ हजार का दान भारत के भिन्न भिन्न प्रान्तों के राजपुरुषों द्वारा किया गया था। महाराज के सार्वजनिक शोक का हाहाकार जैसा हुआ था, वैसा ही सार्वजनिक दान से जयजयकार हुआ!

राजतिलक

सन् १८९८ ई० की ३०वीं दिसंबर को महाराज रमेश्वरसिंह का दर्भङ्गे के राज्यसिंहासन पर राजतिलक हुआ। कर्तव्यपरायण भाई धैर्य धारण कर राज्यपथ में अग्रसर हुआ और स्वर्गीय महाराज की विधवा महारानी ने अपने पतिदेव की बहुमूल्य अँगूठी चन्दन में डुबोकर नवीन महाराज को राजतिलक दे निज कर्तव्य पालन किया। जैसे ही राजसभा में राजसिंहासन पर आप विराजमान हुए, वैसे ही पटने के कमिश्नर ने तार द्वारा सूचना दी कि महाराणी भारतेश्वरी ने आपको दर्भङ्गा राज्य का उत्तराधिकारी जान 'महाराज बहादुर' की पदवी प्रदान की है। अनन्तर नजर गुजारी गई और नृत्यगीत आमोद प्रमोद से राजदरबार पूरित हुआ। इस दिन जो महाराज ने वक्तृता दी थी उसने निश्चय करा दिया कि दर्भङ्गे के राज्यसिंहासन पर एक सुयोग्य पुरुष का अधिकार हुआ है। इसी सन् में थोड़े दिनों पीछे महाराज बड़े लाट की व्यवस्थापक सभा के मेंम्बर बनाये गये, जिसमें आप निर्भीक चित्त हो देश की सेवा करने में न चूके और सिद्ध कर दिया कि जो लोग तादृश पुरुषों को केवल साक्षीगोपाल समझते हैं, यह उनका भ्रम है।



F. 23

व्यास जी का वैकुण्ठवास

दैवे पराग्वदन शालिनि हन्त जाते याते च सम्प्रति दिवं प्रति बन्धुरत्ने ।
कस्मै मनः कथयितासि निजामवस्थां कः शीतलैः शमयिता वचनैस्तवाधिम् ॥

अदृष्ट !

आज तूने वह दिन भी दिखाया है कि हम अपने प्रिय-बन्धु, प्रेमसिन्धु, परमसहायक, सुखदायक एवं उन्नायक के वैकुण्ठवास का वृत्तान्त प्रकाश कर रहे हैं ! इस बात को सुनकर किस धर्मात्मा हिन्दू का हृदय शतधा विदीर्ण न होगा कि हम लोगों के प्रेमास्पद, सनातन धर्म के प्रचारक और नागरी के सञ्चारक, काशी के सुकवि, सुवक्ता, सुपण्डित, साहित्याचार्य पं० अम्बिकादत्त व्यास जी का * गत मार्गशीर्ष कृष्णा १३ सोमवार को रात के तीन बजे काशीपुरी में वैकुण्ठवास हो गया । उनकी इस अकाल मृत्यु से जो असीम दुःख हुआ है, उसे हम किसी प्रकार प्रगट नहीं कर सकते । क्योंकि यह वह दुःख नहीं है, जिसे हम किसी तरह रो धो कर भूल जायँ । यह किसी से छिपा नहीं है कि, मृतप्राय सनातन हिन्दूधर्म्म और हिन्दीभाषा को जीवदान देकर इन्होंने खड़ा किया है ।

यहाँ इस बात के कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि, हिन्दी-हितैषियों में 'साहित्याचार्य' का नाम जिस प्रकार विख्यात था, उसी प्रकार धर्म्मप्रचारकों में व्यास जी का सिंहासन सब से ऊँचा था । अहो ! उनकी अवस्था अभी केवल ४१ ही वर्ष की थी । इसीमें उन्होंने देशोन्नति की मूल स्वरूपा हिन्दी भाषा का इतना प्रचार किया कि

* नवंबर सन् १९०० ई० में ।

छोटे बड़े ७८ ग्रन्थ लिख डाले। भारतेन्दु के अधूरे कार्य यदि किसी से पूरे हुए हैं, तो इसी 'भारतभास्कार' से। भारतेन्दु जी ने हिन्दी भाषा की मनोमोहनी मूर्ति बनाई, मिश्र जी ने उसकी प्रतिष्ठा की और व्यास जी ने पूजा। ऐसे स्वदेशहितैषी चमत्कार प्रतिभा सम्पन्न पण्डित अम्बिकादत्त व्यास की इस अकाल मृत्यु से हिन्दुओं की कितनी हानि हुई है, यह कह के शेष करना सहज कार्य नहीं है। किन्तु किया क्या जाय? इस काल के कराल गाल से किसी का छुटकारा नहीं है।

स्वामी विशुद्धानन्द उठ गये, हम लोग रो धोकर चुप रह गये। स्वामी भास्करानन्द चल बसे, हमने भी किसी तरह मन को समझा लिया। भारतमार्तण्ड का अस्त हुआ, उस समय भी किसी प्रकार सन्तोष कर लिया। पर अब धैर्य नहीं होता। अरे! हम तो हम, पर आयुष्मान् बालक राधाकुमार और उस अनाथ कुटुम्ब की क्या दशा होगी, जिसका 'अजातपक्षा इव मातरंखगा;' एक यही आधार था! अभी सेठ जी की चिता बुझने भी न पाई थी कि, महामण्डल के हृदय पर और यह दूसरी अग्नि दहक उठी! यत्न तो किया जाता है भारत के भाग्योदय का, किन्तु इस हतभाग्य के भाग्य की कुछ चिकित्सा ही नहीं, 'छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति'। अनेक महापुरुषों के वियोग से क्षत विक्षत भारतवासियों के हृदय पर व्यासजी भी आज 'क्षते क्षारावसेचनम्' कर गये।

जिस प्राणाधिक विहारी-विहार-कर्ता के साथ हम सदा विहार करते थे, आज उस प्रियदर्शन के लिये हम लोग तरस रहे हैं। जिस धर्म्मवीर के भरोसे सब सनातन धर्म्म सभाएं निःशङ्क और निश्चिन्त हो रही थीं, वही आज सब को शङ्कित और चिन्तित कर गया! जिसके जन्म से गौड़वंश, जिसके अध्ययन से अध्यापक, जिसके प्रियालाप से मित्रमण्डली, जिसके अध्यापन से अनेक छात्र, जिसकी प्रतिभा से विद्वज्जन, जिसकी वक्तृता से सनातन धर्म्म, जिसकी

लेखनी से देववाणी और जिसकी कविता से हिन्दी भाषा कृतार्थ हुई थी, आज वह 'भारतरत्न' नहीं है।

हमारे एक विज्ञ मित्र ने कहा है कि, हिन्दी भाषा के यदि बाबू हरिश्चन्द्र जी कालिदास हैं, यदि पण्डित प्रतापनारायण मिश्र भारवि हैं, यदि पण्डित श्रीधर पाठक जी दण्डी हैं और यदि पं० बद्रीनारायण चौधरी माघ तथा पं० राधाचरण जी बाण हैं; तो पण्डित अम्बिकादत्त व्यास जी को व्यास कहना अनुचित नहीं है। अहो! वह हिन्दी का व्यास अब कहाँ है?

व्यास जी की अब कोरी कथा ही शेष रह गई! उनकी मनोहर मूर्ति अब तस्वीरों ही में रह गई! कल जो हम पर दया करते थे, आज उनकी सन्तान दयापात्र होगई! उस दिन जो शिवा जी का चरित लिखकर स्वयं रो रहा था, आज उसके चरित को लिखते हुए और रो रहे हैं।

प्यारे! व्यास जी! तुम तो बड़े कोमल स्वभाव के थे, हमारे मुख पर कभी उदासी तक नहीं देख सकते थे, पर अब वह दया, ममता, स्नेह, अनुराग कहाँ गया, जो एक बार भी आश्वासन नहीं देते! तुम तो कहा करते थे कि मुझे भारतवर्ष के सामने स्वर्ग भी प्यारा नहीं है, कहो अब वह प्रतिज्ञा कहाँ गई? यह देखो, तुम्हारे लिये देववाणी उदास हो रही है। हिन्दीभाषा रो रो कर प्राण दे रही है। उस दिन तुमने अपनी मृत्यु का अलीक संवाद सुन कर वङ्गवासी को लिखा था कि इस झूठे संवाद से मुझे यह जानकर अति आनन्द हुआ कि मेरे देशी भाई मेरे जीवन के साथ सहानुभूति रखते हैं? ये देखो समाचारपत्र हाहाकार मचाकर व्याकुल हो रहे हैं। भारतरत्न! कहो इतनी शीघ्रता क्यों की? अभी तो 'शिवराज विजय' छप कर भी तैयार नहीं हुआ था। जिस 'सुकवि-सरोज-विकाश' का आप हमसे परिशिष्ट लिखा रहे थे, अभी उसने मुद्रणयंत्र का मुँह भी तो नहीं देखा! दिल्ली के भारतधर्म्म महामण्डल ने क्या किया सो तो कुछ सुन जाते। 'भारतभास्कर' का तमग़ा एकबार

तो पहिन लेते। कोविदवर! क्या कुछ स्वामी विशुद्धानन्द जी को बुलाने गये हो? अथवा महाराज लक्ष्मीश्वरसिंह के बुलाने पर? क्या अब भारत के कर्तव्यहीन कदर्य लोगों को अपनी वक्तृता का पात्र न जान कर वैकुण्ठ में सहामण्डल करने गये हो? जो हो। दुःख यह है कि, अब हिन्दी का यह कलङ्क कौन दूर करेगा कि "संस्कृत के पण्डित उससे उदासीन हैं;" हिन्दी के भण्डार की पूर्ति किससे होगी? भक्तिभाव में मग्न हो कौन संगीत करैगा? सरस रचना से कौन 'पीयूषप्रवाह' को प्रवाहित कर सकेगा? विधर्मियों का दर्पदलन करने में कौन अग्रसर होगा? अब ऐसा कौन पण्डित है, जो 'शिवराज विजय' ऐसा गद्यकाव्य लिखकर विस्मृतप्राय देववाणी का और सहृदयों का हृदय आकर्षण कर सके? कौन ऐसा सुकवि है, जो 'बिहारी-बिहार' ऐसी अभिनव रचना रच सके? कौन ऐसा सुवक्ता है, जिसके 'मूर्तिपूजा' आदि व्याख्यान सुनकर लोग स्वयं उपदेशक हो सकें? कौन ऐसा सौभाग्यशाली है, जिसको देशी भाइयों से इतने खिताब मिले हों? निःसन्देह व्यास जी बड़े ही भाग्यवान् थे। जितना यश उन्होंने अल्पकाल में सञ्चय किया है, दूसरों को वह कई जन्म में भी नहीं प्राप्त हो सकता। आज वे नहीं हैं, पर उनकी अक्षय्य कीर्ति संसार में विद्यमान है और तब तक उसे कोई मिटा नहीं सकता, जब तक हिन्दी भाषा, हिन्दू धर्म्म और हिन्दूओं का नाम बना रहेगा। सच है, "कीर्तिर्यस्य स जीवति।"

व्यास जी का विस्तृत जीवन वृत्तान्त हम 'सुदर्शन' में प्रकाश करेंगे और दिखलावेंगे कि व्यास जी ने संस्कृत और हिन्दी भाषा का कितना उपकार किया है। अन्य धर्म्मप्रचारकों के साथ उनके धर्म्मप्रचार का, अन्य कवियों के साथ उनकी कविता का, अन्य लेखकों के साथ उनकी लेखप्रणाली का और अन्य पण्डितों के साथ उनके पाण्डित्य का मिलान कर, निरपेक्ष भाव से हम उनके चरित की समालोचना करेंगे। आज उनके शोकभार को कुछ हलका करने के लिये हम उनकी "संक्षिप्त जीवनी" प्रकाश करते

हैं। आशा है कि हमारे पाठकजनों का उस पुण्यश्लोक के चरित से चित्त सन्तुष्ट होगा। क्योंकि,—

"कउत्तम श्लोक गुणानुवादात्पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्।"

जन्म

हमारे भारतरत्न, भारतभास्कर, सुकवि, साहित्याचार्य पं० अम्बिका-दत्त व्यास जी ने सं० १९१५ चैत्र शुक्ल ८मी को राजपूताने के प्रसिद्ध जयपुर नगर में जन्म ग्रहण किया था। इनके पिता विद्वद्वर पण्डित दुर्गादत्त जी जयपुर प्रान्त के गौड़ ब्राह्मण थे। इनका पाराशर गोत्र यजुर्वेद, तीन प्रवर और भीड़ा कुल था।

सं० १९१६ में पं० दुर्गादत्त जी जयपुर से सकुटम्ब काशी में आन कर बस गये। वहीं बालक व्यास जी की

शिक्षा

होने लगी। पण्डित दुर्गादत्त जी संस्कृत के एक अच्छे विद्वान् और हिन्दी भाषा के नामी कवि थे। इसलिये व्यास जी को प्राथमिक शिक्षा के लिये इधर उधर कहीं भटकना नहीं पड़ा, घर ही में पिता के पास पढ़ते रहे। बाल्यावस्था ही में इनकी बुद्धि का चमत्कार प्रगट होने लगा। पिता जैसे पढ़ाने में कुशल थे वैसे ही ये पढ़ने में। खेलकूद के व्याज से भी इनको विद्या ही सिखाई जाती थी। काशी के प्रसिद्ध गौड़ विद्वान् पण्डित घनश्याम जी ने इनका उपनयन कराया। १० वर्ष की अवस्था ही में ये भाषा की कविता करने लगे थे। कविता इतनी अच्छी होती थी कि लोगों को यह विश्वास नहीं होता था कि यह कविता इनकी स्वोपार्जित सम्पत्ति है, समझते कि इनके पिता की बनाई हुई है। सं० १९२६ में जोधपुर के राजगुरु ओझा तुलसीदत्त जी काशी में आये थे। उन्होंने एक दिन सभा में इनसे तत्काल समस्यापूर्ति करा अपने सन्देह की निवृत्ति की। उसी समय से शशिकला के समान इनकी विद्या और कीर्ति बढ़ने लगी। कथा बाँचने में भी कुशल हो गये। उसी समय ये अपने पिता के साथ

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के दर्बार में जाने लगे। गुणज्ञ बाबू साहेब ने इस विलक्षण बालक कवि की विलक्षण बुद्धि देख 'कविवचन-सुधा' में प्रशंसा की। उस दिन बाबू साहेब ने जिसे बालक कहा था देखते ही देखते वह मित्र पद तक पहुँचा और अन्त में उसने वामन के समान अपना व्यास स्वरूप दिखला दिया।

स्वामी विशुद्धानन्द जी के प्रसिद्ध शिष्य और काशिराज के सभा-पण्डित ताराचरण भट्टाचार्य तर्करत्न से साहित्यदर्पण और सिद्धान्त लक्षण न्याय पढ़ा। वृद्ध काशिराज से परिचय हुआ, उसी समय जब इनकी बारह वर्ष की अवस्था थी, एक वृद्ध तैलङ्ग अष्टावधान काशी में आये। व्यास जी ने बुद्धि का चमत्कार दिखा उनसे 'सुकवि' पद प्राप्त किया। इधर गाना बजाना सीखने लगे और उधर सांख्य-योग। सं० १९३२ में क्वीन्स कालिज में नाम लिखवाया और महा-महोपाध्याय श्री पं० रामसिश्र शास्त्री आदि विद्वानों से दर्शन और साहित्य अध्ययन करने लगे। साथ ही अंग्रेजी का अभ्यास किया। काशी के प्रसिद्ध वैद्य विश्वनाथ कविराज विद्याकल्पद्रुम और अपने बहनोई पण्डित वासुदेव जी से वैद्यक का तत्व पाया। इधर बङ्गभाषा पढ़ी और उधर काशी के 'आर्यमित्र' में हिन्दी के लेख लिखने का लग्गा लगाया। सं० १९३४ में ऐंग्लो की उत्तम वर्ग तक की पढ़ाई इन्होंने समाप्त की, ऐंग्लो विभाग के उठ जाने पीछे घर ही में अंग्रेजी का अभ्यास होता रहा। इसी वर्ष काश्मीराधीश की जम्बू पाठशाला में नाम लिखवाया। वहाँ परीक्षा दी। पाठशाला के प्रधान अध्यक्ष पूज्यपाद स्वामी विशुद्धानन्द जी ने इनको 'व्यास' का पद दिया। सं० १९३७ में संस्कृत कालिज बनारस की आचार्य परीक्षा में उत्तीर्ण हुए और गवर्नमेंट से इन्हें साहित्याचार्य पद मिला। कुछ दिनों बाद दर्शनशास्त्र में कलकत्ते की उपाधि परीक्षा देने का भी यत्न किया था परन्तु ज्वर के कारण सफलमनोरथ नहीं हुए। बस इसी समय इनके अध्ययन की समाप्ति हुई समझिये और यों तो वे अन्त तक कुछ न कुछ सीखते सिखाते ही रहे।

व्यास जी को स्वजनवियोग और परस्पर की अनबन के कारण गार्हस्थ जीवन में—

दुःख

भी कुछ कम न भोगना पड़ा। सं० १९३१ में इनकी माता का स्वर्गवास हुआ और सं० १९३७ में इनके पिता जी का काशीवास होगया। शोक पर शोक और कष्ट पर कष्ट यह हुआ, एक तो गृहस्थाश्रम का सिर पर पूरा भार आन पड़ा दूसरे बड़े भाई गणेशदत्त जी के साथ मनोमालिन्य हो गया। परसुखकातर दुष्ट पुरुषों ने झगड़ा बढ़ाया, जिससे इनको गृहविवाद में बहुत दिनों तक कई प्रकार का क्लेश भोगना पड़ा। ऐसे समय में ऋण का बढ़ जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है और उसके दूर करने में गृहस्थों को कितना कष्ट उठाना पड़ता है इसको भुक्तभोगी के सिवाय और नहीं जान सकता। यह व्यास जी के विद्याप्रेम का असाधारण निदर्शन है कि ऐसी दशा में भी उन्होंने पढ़ना पढ़ाना न छोड़ा और अति कष्ट-साध्य काशी की साहित्याचार्य परीक्षा पास कर ली। सं० १९४० में ये प्रथम ही प्रथम दर्भङ्गे जिले में मधुबनी के संस्कृत स्कूल के अध्यक्ष हुए थे और फिर भागलपुर, छपरा, बांकीपुर आदि बिहार के नगरों में सरकारी अध्यापक बने रहे। अब दो वर्ष से पटना कालिज की प्रोफेसरी करते थे। जिस समय ये मधुबनी में अध्यापकता कर रहे थे, उस समय एक तो इनके घर में अग्नि लगी, जिससे हस्तलिखित कई ग्रन्थ भस्म हो गये और दूसरे इनके सहोदर और विवाहित छोटे भाई का जवानी में परलोकवास हुआ, जिसको ये अति स्नेह से संस्कृत पढ़ा रहे थे। इसी समय संस्कृत का 'दुःखद्रुमकुठार' ग्रन्थ बनाया।

व्यास जी की विद्या का चाहे देशवासियों ने वैसा सत्कार नहीं किया, जैसी इनकी योग्यता थी, तथापि इनको इतने—

ख़िताब

मिल गये थे, जो इस निर्धन देश में सब किसी को सुलभ नहीं

हैं। साहित्याचार्य, सुकवि, और व्यास का पद तो इन्हें पठद्दशा ही में मिल गया था और "घटिकाशतक" का पद सं० १९३८ में काशी की ब्रह्मामृतवर्षिणी सभा ने प्रदान किया। पहिले 'भारतधर्म महामण्डल' से ये 'विहारभूषण' हुए और पिछले वर्ष मथुरा के अधिवेशन में 'भारतभास्कर' के पद तक पहुँचे। काशी की महासभा में गोस्वामी श्रीबालकृष्णलाल जी ने सं० १९५१ में "भारतरत्न" और बंबई की महासभा में गोस्वामी श्रीघनश्यामलाल जी ने 'भारतभूषण' का पद दिया और इधर अयोध्यानरेश ने भी इन्हें "शतावधान" का पद दे, अपने गुणग्राही स्वभाव को प्रगट किया। हमारे एक मित्र ने सच कहा है कि और लोग खिताबों के लिये ललचाते हैं और खिताब व्यास जी के लिये। कितने ही पुरुष अपना इसीमें सौभाग्य समझते थे कि व्यास जी उनके दिये हुए सन्मान को किसी प्रकार ग्रहण कर लें।

व्यास जी को यद्यपि किसी राजा महाराज ने ऐसा पुरस्कार नहीं दिया जिससे ये निश्चिन्त हो विद्याप्रचार में मन लगाते और इनका सुयश विस्तीर्ण होता, तो भी इनका अनेक—

राजा महाराजाओं से परिचय

था। डुमराँव के महाराज ने इनसे भागवत की कथा सुनी थी और हथुआ के महाराज ने व्याख्यान। स्वर्गवासी दर्भङ्गाधिप ने इनसे संस्कृत का 'सामवत' नाटक बनवाया था और वर्तमान महाराज रमेश्वरसिंह जी इनके 'शिवराजविजय' को छपवा रहे हैं। अयोध्यानरेश के यहाँ इनका बड़ा आदर था। पोरबंदर के गोस्वामी जीवनलाल जी महाराज तो इनसे पढ़े ही थे और अन्यान्य वल्लभकुल के महाराज भी इनसे प्रेम रखते थे। वल्लभकुल में इन्हें सर्वत्र आसन और पान की बीड़ी मिलती थी। श्रीनगर (पुर्णियाँ) के अधीश श्रीमान् कुमार कमलानन्द जी ने इनसे 'सुकवि सरोज विकाश' नामक नायकाभेद का ग्रन्थ बनवाया और पुरस्कार में एक हाथी, वस्त्र, शस्त्र तथा सहस्र

रुपये प्रदान किये। व्यास जी को इनका जैसा बड़ा भरोसा था वैसी ही इनकी उनमें बड़ी श्रद्धा थी।

व्यास जी ने सनातन हिन्दूधर्म के—

प्रचार

में भी ख़ूब नाम पैदा किया था। आर्यसमाज के संस्थापक प्रसिद्ध स्वामी दयानन्द सरस्वती जी को एक बार काशी में शास्त्रार्थ के समय चुप कर दिया था और 'अबोधनिवारण' के द्वारा उनके बोध का स्वरूप सब को दिखा दिया था। बङ्गाल बिहार पश्चिमोत्तर और पंजाब आदि भारतवर्ष के समस्त देशों में घूम घूम कर व्याख्यान दिये थे और जगह जगह सनातन धर्म सभा स्थापन की थीं। कई वार आर्यसमाजियों के साथ शास्त्रार्थ कर विजयी हुए थे। यदि हम इस बात का अनुसन्धान करने बैठते हैं कि, वह कौन पुरुष है जो सब से प्रथम आर्यसमाज की प्रतिद्वंद्विता में लेखनी और पुस्तक के शस्त्र लेकर खड़ा हुआ था, तो इसका उत्तर हमें यही मिलता है कि "अम्बिकादत्त"। यदि हमें अपने धर्मप्रचार का कोई स्थायी कार्य अपने पास दिखलाई देता है तो यही कि कुछ व्यास जी की पुस्तक हमारे पास हैं जो यथेष्ट न होने पर भी धर्म की वर्तमान दशा दिखलाने को बहुत कुछ हैं, धर्मप्रचार के कार्य में व्यास जी की—

स्पष्टवादिता और तेजस्विता

भी असाधारण थी। जिस समय हरिद्वार में भारतधर्म महामण्डल की पहिली बैठक हुई थी, उस समय कर्नल आलकाट साहेब के साथ सब के 'हाँ में हाँ' मिलाने पर भी अकेले व्यास जी ने तेजस्विता के साथ उनकी बात का प्रतिवाद किया था। उस समय जिनको वह स्पष्टभाषण अप्रीतिकर हुआ था अब वे थियासोफिकल सुसाइटी के स्वरूप को देख अवश्य ही उस हितवादी का कथन स्मरण करते होंगे। एक बार प्रसिद्ध कुमार कृष्णप्रसन्न सेन ने संन्यासी नाम की पुस्तक में, चारों वर्णों के लिये संन्यास का विधान बतलाया था

पर व्यास जी ने इस शास्त्रविरोधी मत का तत्काल ही खण्डन कर दिखाया और इस बात की रत्ती भर भी परवाह न की कि वे इनके परम मित्र हैं। काशी के प्रसिद्ध विद्वान् और व्यास जी के अध्यापक पं० श्रीरामसिश्र शास्त्री जी ने 'उद्वाहसमयमीमांसा' लिख कर सम्भोग सम्मति के समय अपनी उद्दण्डता और नीतिकुशलता का परिचय दिया था। इसका व्यास जी ने "दोषावाच्याः गुरोरपि" के नाम से जो प्रतिवाद किया था, वह भी इनकी तेजस्विता और स्पष्टवादिता का स्मरणीय निदर्शन है।

व्यास जी जैसे तेजस्वी और स्पष्टवादी थे वैसे ही सहनशील और विचारवान भी थे। वे तब तक उत्तर देते रहते, जब तक उन्हें स्पष्टतया यह प्रतीत न हो लेता कि, वह पुरुष जान बूझकर उन्हें अपदस्थ करने की चेष्टा नहीं करता है। विभक्ति के बखेड़े और बिहारी-बिहार की समालोचना के समय के हिन्दी बङ्गबासी के लेख देखने ही से इनकी—

सहनशीलता

का परिचय मिलता है। यों तो कहने के लिये सभी अपने को निज दोष सुनने के लिये उत्कर्ण कहते हैं, पर वास्तव में इस विषय में प्रायः लोग वधिर पाये गये हैं। ख़ुशामद कराने के लिये सब 'धर्म-मूर्ति, धर्मावतार' तैय्यार हैं, पर सच्ची बात सुनने को कोई नहीं। अभी थोड़े दिन की बात है कि व्यास जी ने अपनी गद्य काव्य मीमांसा के विषय में हमारा मत पूछा। अवश्य ही हमने कई एक अंश में उनकी मीमांसा को अच्छा नहीं समझा। उदारहृदय व्यास जी ने लिखा कि धन्यवाद पूर्वक आपका मत शिवराजविजय की भूमिका और मीमांसा के द्वितीय संस्करण में ग्राह्य होगा। कहिये कितने पुरुष हैं, जो इस प्रकार निज विचार शक्ति का परीक्षा के समय परिचय दे सकें?

व्यास जी को केवल हिन्दी ही के सुलेखक और सुकवि न समझना

चाहिए। ये संस्कृत के भी बड़े विद्वान् और अच्छे कवि थे। हमारी समझ में भाषा की अपेक्षा इनका संस्कृत में अधिक अधिकार था। इनका—

संस्कृत पाण्डित्य

भी उन्नीसवीं शताब्दी में एक स्मरण योग्य कार्य है। यों तो इनके बनाये सभी संस्कृत ग्रन्थ इनके दुर्लभ पाण्डित्य के नमूने हैं, पर शिवराजविजय का सरल लेख बहुत ही चमत्कृत और हृदयग्राही हुआ है। ग्रन्थकार की स्वदेशभक्ति, धर्मानुरक्ति, और असाधारण लेखनशक्ति का इस ग्रन्थ को परिपूर्ण भण्डार समझना चाहिये। 'बिहार संस्कृत सञ्जीवन' को स्थापन कर, इन्होंने बिहार की मृतप्राय अध्यापन-प्रणाली में जो जीवनी शक्ति भरी थी, वह भी इनके संस्कृत पाण्डित्य ही का प्रताप था।

यों तो व्यास जी के सभी मित्र थे क्योंकि, उस अजातशत्रु का यह सिद्धान्त था कि 'सख्यं हि तत्साप्तपदीनमाहुः' तथापि उल्लेख योग्य इनके—

मित्र

भी हिन्दी के साहित्य संसार में सुपरिचित हैं। "भारतजीवन" के विज्ञतम सम्पादक बाबू रामकृष्ण वर्मा, हिन्दी के प्रसिद्ध सुलेखक सत्स्वभाव बाबू कार्तिकप्रसाद जी, हरिप्रकाश यन्त्रालय के स्वामी सुविज्ञ बाबू अमीरसिंह जी और हिन्दी के सर्वप्रधान उपन्यासलेखक बाबू देवकीनन्दन जी आदि इनके बालसंघाती हैं। व्यास जी का यह प्रधान गुण था कि, जिसको एक बार अपना लिया फिर उसे परित्याग न किया। व्यास जी ने—

हिन्दी ग्रन्थ

इतने लिखे हैं कि बाबू हरिश्चन्द्र जी के पीछे ऐसा कार्य इन्हींसे हुआ। इनका सब से पहिला लेख "ललिता नाटिका" और अन्तिम ईश्वरेच्छा से "ईश्वरेच्छा" था। "वैष्णवपत्रिका" और "पीयूषप्रवाह"

दो मासिकपत्र भी इन्होंने प्रकाश किये थे, जो आकार में बड़े न होने पर भी रस विषय में छोटे न थे। इन सब विषयों की आलोचना करने का आज स्थान नहीं है। हम केवल हिन्दीहितैषी और भारतधर्म महामण्डल के सजीव अधिकारियों को इस अवसर पर इनकी

सन्तान

की सुध दिलाना चाहते हैं। व्यास जी की एक कन्या है, जो विवाह गई है और एक बारह वर्ष का पुत्र आयुष्मान् राधाकुमार है। सहयोगी 'श्रीवेङ्कटेश्वरसमाचार' के धर्मज्ञ सम्पादक महोदय ने अभी एक—

उचित प्रस्ताव

किया है; जिसका तात्पर्य यह है कि हम लोगों को इस समय व्यास जी के एकमात्र चिरञ्जीव की शिक्षा का उचित प्रबन्ध कर अपनी सजीवता का परिचय देना चाहिये। अवश्य ही हम इस प्रस्ताव का सानन्द अनुमोदन करते हैं और इस बात का भरोसा दिलाते हैं कि इस विषय में हमारे वृद्ध सहयोगी को, 'सुदर्शन' को अपना अनुचर समझ, अग्रसर होना चाहिये।



राजा सेठ लक्ष्मणदास जी

सी० आई० ई०

सेठ लक्ष्मणदास जी का जन्म विक्रमीय संवत् १९९० में आश्विन कृष्णा ८मी के दिन श्रीमथुरा पुरी में हुआ था और *गत मार्गशीर्ष कृष्णा ९मी के दिन इनकी मृत्यु हुई। केवल ४७ वर्ष और दो मास की अल्पायु ही में आप अपनी विधवा वृद्धा जननी और कुटुम्ब को शोकसागर में निमग्न कर चले गये।

बङ्गाल में जिस प्रकार जगत्प्रसिद्ध 'जगत्सेठ' का घराना अपने ढंग का एक ही हो चुका, उसी प्रकार †पश्चिमोत्तर प्रदेश में 'सेठ जी का घर' भी अद्वितीय समझा गया है। जगत्सेठ का घराना अपनी प्रभुता एवं अतुल सम्पत्ति के साथ राजनीतिक कुचक्र के कारण अधिक प्रसिद्ध हुआ है और यह सेठ जी का घराना अपने धर्म्मभाव और दानशक्ति के हेतु सम्मानित बना है। उसने अपने राजा (नव्वाब सिराजुद्दौला) के विपत्काल में उसका सर्वनाश कर 'राजद्रोह' और 'विश्वासघात' का कलङ्क मस्तक पर लगाया और इसने अपनी सर्कार की सन् ५७ की घोर विपद् में सहायता कर धर्म्मार्थ का सञ्चय किया। सुतरां, जगत्सेठ के घराने से चाहे यह घराना ऐश्वर्य में बड़ा न हो, किन्तु धर्म्मभाव और राजभक्ति में बहुत बड़ा है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

मथुरा के इस—

सेठ घराने का इतिहास

यों है, कि राधामोहन नामक एक गुजराती वैश्य, ग्वालियर की विख्यात वीरनारी बैजाबाई के पास रहते थे। इनका काम रत्नों

* दिसंबर सन् १९०० । † वर्तमान समय में "संयुक्तप्रान्त" ।

की परीक्षा करना था। इसलिए सब लोग इन्हें 'पारिखजी' कहा करते थे। ये बड़े धार्मिक, दयालु और वल्लभ सम्प्रदाय के वैष्णव थे। इस कारण परम धार्मिका बैजाबाई की इन पर बड़ी श्रद्धा और कृपा थी।

सेन्धिया की फौज, जब उज्जयिनी की लूट का माल ग्वालियर में ले आई, तब बुद्धिमती बैजाबाई ने उसे राजभण्डार में नहीं रखने दिया। कहा, "इस लूट के माल में जाने किस किस दीन दुखिया का धन मिला हुआ है। ब्राह्मणों का द्रव्य जो संहर्ता के संहार वा सर्वनाश के लिए शास्त्र में उल्वणविष के समान कहा है, वह भी इसमें मिला होगा? फिर यह माल हमारे किस काम का है। पारिखजी इसे अपने साथ व्रज में ले जावें और इसे देव-मन्दिरादि के निर्माण में पुण्यार्थ लगादें।"

सब माल पारिखजी को मिल गया और वे करोड़ों की सम्पत्ति लेकर मथुरा जी में चले आए। ग्वालियर से मणिराम नाम के एक बड़भागी खण्डेलवाल वैश्य भी इनके साथ आए थे, जो धर्म्म के दिगम्बरी जैन थे।

हम ऊपर कह आए हैं कि पारिखजो वल्लभ सम्प्रदाक के वैष्णव थे इस कारण मथुरा में आन कर इन्होंने श्रीद्वारिकाधीश जी का सुप्रसिद्ध मन्दिर बनवाया और अनेक प्रकार के दान धर्म्म किए।

पारिखजी, निःसन्तान थे और उनके कृपापात्र, मित्र भावापन्न, मणिराम जी के तीन सुन्दर सुकुमार पुत्र थे। बड़े लक्ष्मीचन्द जी, मझले राधाकृष्णदास जी और छोटे गोविन्ददास जी। यदि पारिखजी और मणिराम जी की एक ही जाति तथा धर्मसम्प्रदाय होती, तो वे शास्त्र और लोकाचार की विधि से दत्तक भी ग्रहण कर सकते थे, परन्तु अब उसका उपाय न था और पारिखजी को मणिराम के समान और कोई प्यारा तथा शुभचिन्तक दृष्टिगोचर नहीं होता था। ये इनके लड़कों को अपना ही समझते थे। अन्त को प्रेम विजयी

हुआ और कुल तथा धर्म्म धरा ही रह गया। पारिखजी ने अपनी समस्त सम्पत्ति का उत्तराधिकारी मनीराम के ज्येष्ठ पुत्र लक्ष्मीचन्द जी को बना लिया अथवा यों कहिए कि मणिराम जी को सब का मालिक कर दिया। मणिराम जिस दिन अपनी जन्मभूमि जयपुर से चले थे, उस दिन उनके पास मार्गव्यय भी न था, लोटा, थाली गिरवी रखकर आए थे। आज यहाँ भगवान की दया से वे अतुल सम्पत्ति के स्वामी हो गए। भाग्य की लीला बड़ी विचित्र है।

मथुरा के सेठ घराने की—

सेठ लक्ष्मीचन्द जी

ने नीव दी। इनका नाम भारत में बड़ा प्रसिद्ध हो चुका है। जैसा इनका बड़ा नाम था, गुण भी इनमें वैसे ही थे! उदारता, मिलनसारी, जैसी इनकी प्रसिद्ध हुई वैसे ही इनके शारीरक बल की भी लोग कहानी कहते हैं। आप पारिखजी के उत्तराधिकारी होने पर भी जैन ही रहे और मथुरा में एक जैनमन्दिर भी बनवाया, पर वैष्णव समाज से द्वेष न कर एक प्रकार का अनुराग ही रखते थे। आपके एक पुत्र रघुनाथदास जी हुए, जो पीछे निःसन्तान मरे और शेष में सेठ राधाकृष्णदास का वंश शेष रह गया। क्योंकि सेठ गोविन्ददास जी के भी कोई पुत्र न था।

सेठ राधाकृष्णदास जी

अपने बड़े भाई सेठ लक्ष्मीचन्द जी के बड़े प्यारे थे। वह पुत्र से भी अधिक इन्हें अपना प्रियतम समझते थे। इस विषय का एक यही उदाहरण यथेष्ट है कि सेठ राधाकृष्णदास जी, वृन्दावन के स्वामी श्रीरङ्गाचार्य्य जी के शिष्य होगए थे। जैनधर्म्म को त्यागकर श्रीवैष्णव धर्म्म की शरण में जा पहुँचे थे और अपने बड़े भाई को न कह कर गुरु की आज्ञा से श्रीरङ्ग जी का प्रसिद्ध मन्दिर बनवाना आरम्भ कर दिया था। आरम्भ ही क्यों—कुछ बन भी गया था पर उतने ही में इनके निज का कई लाख रुपया लग चुका था और मन्दिर

की छत भी न पटी थी। तब अगत्या छोटे भाई ने अपने दयालु बड़े भाई से जैनधर्म्म के त्यागने और श्रीवैष्णव धर्म्म के स्वीकार करने की बात कही तथा यह भी निवेदन किया कि 'यह मन्दिर सर्कार ही का है।'

बात बड़ी कठिन थी। बिना पूछें बिना कहे, जिस भाई ने अपने बाप दादों के धर्म्म को छोड़ दिया हो और कई लाख रुपये एक ब्राह्मण के कहने से इमारत में खर्च कर दिए हों, ऐसे भाई को सेठ लक्ष्मीचन्द जी के अतिरिक्त और कौन क्षमा कर सकता है? सेठ लक्ष्मीचन्द जी ने केवल यह अपराध ही क्षमा नहीं किया, वरञ्च मन्दिर को पूरा कर उसके भोगराग का भी वैसा ही प्रबन्ध कर दिया जैसा इस प्रकार के बड़े मन्दिर का होना चहिए था। यह मन्दिर संवत् १९०५ में बन चुका था।

सेठ राधाकृष्णदास जी गुरुभक्त बड़े थे। एक दिन वर्षा के कारण श्रीवृन्दावन में ख़ूब कीचकाँदा हो रहा था। एक ओर से स्वामी रङ्गाचार्य्य जी आ रहे थे और एक ओर से सेठ जी। दोनों के साथ अनेक पुरुष थे। सेठ जी ने बहुत क़ीमती वस्त्र पहिन रक्खे थे; किन्तु जिस समय स्वामी जी इनके सामने आए उसी समय इन्होंने श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के नियमानुसार लंबे पड़ कर साष्टाङ्ग प्रणाम किया, जिससे उनका समस्त शरीर कीच से भर गया। गुरु रङ्गाचार्य्य के आनन्दाश्रु निकलने लगे औ उन्होंने उन्हें छाती से लगा लिया। देखने वाले धन्य धन्य कहने लगे।

इसी भगवद्भक्त अनन्य श्रीवैष्णव सेठ राधाकृष्णदास जी के पुत्र इस चरित के नायक—

सेठ लक्ष्मणदास जी

हुए। जब आप पाँच छः वर्ष के थे, तभी सेठ राधाकृष्णदास जी का वैकुण्ठवास हो गया था। आपके चाचा सेठ गोविन्ददास जी और चचेरे भाई (सेठ लक्ष्मीचन्द जी के पुत्र) सेठ रघुनाथदास जी

के लाड़चाव से आपको पिता के मरने का कुछ भी दुःख न हुआ। सेठ रघुनाथदास जी तो अपने पिता के समान जैन ही रहे; किन्तु आपके चचा सेठ गोविन्ददास जी ने अपने श्रीवैष्णव भ्राता का पूरा अनुकरण कर श्रीरामानुजीय मत अङ्गीकार कर लिया था। इस कारण बाल्यकाल ही से आपको लौकिक शिक्षा के साथ श्रीवैष्णव धर्म्म की शिक्षा भी मिलती रही।

सेठ गोविन्ददास जी सी० एस० आई० के० स्वर्गवासी होने पर सेठ लक्ष्मणदास जी अपने सेठघराने के स्वामी हुए। इस समय इनके पुराने मुनीम सेठ मंगीलाल जी और उनके ज्येष्ठ पुत्र लाला नारायणदास जी का दौर दौरा था। सेठ जी आनन्द करते थे और वे इस घराने का कार्यसम्पादन करते थे। किसी किसी का यह भी मत है कि, नारायणदास जी की बढ़ी हुई क्षमता ने उस समय सेठ जी के मन में खटका पैदा कर दिया था। जो हो, चाहे आपसे हो चाहे और किसी कारण से हो, सेठ जी अपने कर्म्मचारियों ही पर निर्भर रहते थे। रियासतों में जिस प्रकार के अभिनय हुआ करते हैं, वैसे इस घराने में भी हुए हैं और कौन जाने कब तक होते रहेंगे। आज न सेठ जी रहे हैं, न नारायणदास हैं और न मंगीलाल जी ही, पर इनके किए हुए कार्य अब भी अपनी तासीर कर रहे हैं।

इस सेठघराने के सभी लोग राजभक्त हुए हैं और उनकी समय समय पर गवर्नमेंट ने भी पदवी प्रदान कर प्रतिष्ठा बढ़ाई थी; परन्तु जैसा गवर्नमेंट से सेठ लक्ष्मणदास जी ने आदर पाया वैसा इस घराने में दूसरे ने नहीं। सन् १८८६ ई० में ये सी० आई० ई० और १८९३ ई० में "राजा" बनाये गए और न्यायालय में उपस्थित होने से छुट्टी भी मिली। इस "राजा" की पदवी के लिए सेठ लक्ष्मीचन्द जी ने सर्कार से प्रार्थना भी की थी और मथुरा के कलक्टर थार्नहिल साहब ने इसका अनुमोदन भी किया था; किन्तु गवर्नमेंट को यह स्वीकृत न हुआ था। सौभाग्य से सेठ लक्ष्मणदास जी इस घराने के पहिले राजा हुए।

अपने पूर्वजों की भाँति राजा लक्ष्मणदास जी भी—

दान

करने में मुक्तहस्त थे। गवर्नमेंट की ओर से जितने दातव्य-कोश (फण्ड) होते थे, उनमें तो इनका सब से ऊँचा हाथ रहता ही था, पर जितने स्वदेशीय भाइयों की ओर से धर्म्मकार्य होते थे उनमें भी आप कुछ न कुछ बिना दिये नहीं रहते थे। डेढ़ हज़ार रुपये मासिक व्यय कर सन् १८९६ के दुर्भिक्ष में कितने ही दीन लोगों के प्राण बचाए थे जिसके लिये आपकी, पश्चिमोत्तर के सर्कारी गज़ट में लेफ्टीनेंट गवर्नर को भी बहुत प्रशंसा करनी पड़ी थी।

अभी थोड़े दिन की बात है कि एक धर्म्मोपदेशक ब्राह्मण ने सजल नेत्र हो अपनी दींनता प्रगट कर सेठ जी से कहा था कि "लड़की का विवाह करना है, इज्ज़त बड़ी और सिर पर कर्ज़ है, घोर कष्ट में पड़ा हूँ, आप उद्धार करें तो बच सकता हूँ नहीं तो बस—" उदार हृदय सेठ जी बोले "आप तो बहुत बड़ी बड़ी बातें किया करते हैं, राजा महाराजाओं को अपना मित्र बतलाते हैं, बड़े आदमियों को कर्ज़ा दिलाते हैं, तिस पर यह हालत! अच्छा इस समय मेरे पास नग़द रुपया नहीं है यह हज़ार का नोट और हज़ार की मुक्तामाला चुपके से लेजाइये और अपना काम कीजिये।"

सेठ जी के इस गुप्त दान की हम इस कलिकाल में कर्ण के दान से तुलना करते हैं। क्योंकि, इस समय सेठ जी के ये दो सहस्र रुपये दो लाख से कम न थे।

सेठ जी के दान की महिमा जिस प्रकार प्रशंसनीय थी, उसी प्रकार इनका—

धर्मानुराग

भी अनुकरण के योग्य था। धर्म के नाम ही से ये प्रसन्न हो जाते थे। धर्म के नाम से लोग क्या क्या विचित्र लीला कर रहे हैं, इस पर सरल हृदय सेठ जी कुछ भी ध्यान न देते थे! वे यही कहते कि यदि

मेरे प्रेसीडेंट बनाने में किसी को हर्ष हो वा किसी का उपकार हो तो अच्छा ही है। इसलिये वे प्रत्येक सम्प्रदाय की सभा में संयुक्त होते थे। वल्लभकुल के आचार्यों की सभा के रत्न थे, श्रीवैष्णव मण्डली के भूषण और जैनसमाज के सिरमौर थे। हिन्दुओं की प्रत्येक सभा में आप सहर्ष उपस्थित होते एवं भारतधर्म महामण्डल की शोभा बढ़ाते थे। मथुरा के मण्डल में आपकी सरलता, रसिकता और अपूर्वता के हमने अनेक उदाहरण अपनी आँखों से देखे थे।

भगवान् की भक्ति

जैसी आपके अन्तःकरण में थी, उसका बड़े आदमियों में नमूना मिलना ही दुर्लभ है। श्रीरङ्ग जी के प्रत्येक उत्सव में आप साधारण पुरुषों के समान नियम से उपस्थित हुआ करते। गोपाल जी का पूजन नित्य अपने हाथ से भक्ति-भाव-पूर्वक करते। पूजा पाठ कई घंटे तक धूमधाम से होता था। अहा! जिस समय सेठ जी गायन मण्डली के साथ भगवान् के पद गाने लगते, उस समय एक अपूर्व ही आनन्द होता था।

सेठ जी की गिरिराज जी पर बड़ी भक्ति थी। उनकी परिक्रमा करने साल में कई बार जाया करते। स्त्री, पुत्र, मित्र और भृत्य सब साथ होते थे। यात्रा बड़े आनन्द की होती। एक बार श्रावण मास में आप गिरिराज की परिक्रमा कर रहे थे। उद्धवकुण्ड पर जब आपका पड़ाव था, तब हम आपसे मिलने गए। जाकर देखा कि सेठ जी का केम्प, दूर तक पड़ा हुआ है, सरोवर निर्मल जल से भरा है, ऊपर कदम्ब के वृक्ष झुक रहे हैं और शीतल, मन्द सुगन्ध पवन चल रही है। एक कदम्ब की डाल में झूला है। सेठ जी अपने गोपाल जी को झुला रहे हैं, और प्रेम से गा रहे हैं,—

"हमारी नाव परी मझधार, करुनानिधि केशव, विन तुम्हरे केहि विध उतरे पार"।

पद में सेठ जी की वर्तमान दशा का चित्र था। उस समय कोठी के काम में हलचल मच रही थी। उसीको लक्ष्य कर सेठ जी गा

रहे थे और अविरल अश्रुधारा उनके तथा दर्शकों के नेत्रों से चल रही थी। देख सुन कर हम तो स्तम्भित हो गए। नहीं कह सकते भगवान् की पाषाणमयी प्रतिमा पर इसका कुछ असर होता था कि नहीं।

पूछने पर मालूम हुआ कि यह सेठ जी का निजनिर्मित पद था। पद में वे अपना उपनाम 'व्रजवासी' रखते थे। हमें यह जान कर बड़ी प्रसन्नता हुई कि उनकी रचना सरस और भावमयी है। अब से पहिले हम यह नहीं जानते थे कि सेठ जी ऐसे अच्छे गायक और कवितारसिक हैं। जिस पुरुष ने एक बार भी वह दृश्य देखा है, वही कह सकता है कि कैसा सुहावना और हृदयग्राही दृश्य था।

तीन वर्ष की बात है कि कलकत्ते के कर्मचारियों की करतूत से वहाँ की कोठी का काम ढीला पढ़ गया था। उनकी अविमृश्यकारिता का फल यह हुआ कि सेठ जी की 'हुंडी पत्री' सब बंद हो गई। भारतवर्ष भर में इनके बिगड़ने की धूम मच गई। सेठ जी के घर में कुछ कमी नहीं थी। केवल प्रबन्धकर्ता का अभाव था। तथापि सेठ जी ने प्रजाप्रिय सर एन्टोनी म्येकडानेल महोदय की सहायता से सब का ऋण चुका दिया। इसकी कार्रवाई से मध्यवित्त के धनियों का बड़ा उपकार हुआ, नहीं तो गेहूँ के घुन की तरह साथ ही वे बिचारे भी पिस जाते।

इस घटना से ये मर्म्माहत होगये! चिन्ता से आपका चिर प्रफुल्लित मुख मुरझाने लगा। बहुत चाहा कि किसी प्रकार अपने वृहत् कार्य का उपयुक्त प्रबन्ध कर संन्यासियों के समान एकान्त में जीवन व्यतीत करें, पर 'मरज़ बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की' और—

रोग

ने यह शुभ मनोरथ सिद्ध होने नहीं दिया, स्वास्थ्य बिगड़ गया। ज्वर, खांसी की बीमारी रहने लगी। चिकित्सा निष्फल हुई। मन के रोग ने शरीर का ग्रास कर लिया। दिल्ली के महामण्डल में उनका अन्तिम दर्शन एक विषादमय दर्शन था। अस्तोन्मुखचन्द्र के समान उनकी कान्ति मलिन हो गई थी। गत मार्गशीर्ष में उनकी—

मृत्यु

से मथुरा में हाहाकार मच गया! सब संवादपत्रों ने शोक प्रकाशित किया। उनकी मृत्यु से सभी को दुःख हुआ। अब सेठ जी के—

पुत्र

कुमार लाला द्वारिकादास जी और लाला दामोदरदास जी ही अपने पिता के उत्तराधिकारी हैं। लाला दामोदरदास अभी सात वर्ष के बालक हैं और कुमार द्वारिकादास जी उन्नीस बीस वर्ष के युवा-पुरुष हैं। इसलिए अब इस घराने के वे ही "सेठ" हैं। सिंह का बच्चा सिंह ही होता है। उपयुक्त पिता की सन्तान भी उपयुक्त होती है। सो सेठ द्वारिकादास जी भी अपने पूर्वजों के उत्तम गुणों का अनुकरण करेंगे, इसमें सन्देह ही क्या है?

इस अवसर पर हम एक बात की—

सर्कार से अपील

बिना किये इस लेख को पूरा नहीं कर सकते। वह यह है कि यह सेठों का घराना सदैव से सर्कार का राजभक्त है और आपत्काल का मित्र है। जिस ग़दर के भयङ्कर समय में एक मामूली सिपाही भी अंग्रेज़ों के बहुमूल्य प्राण को गाजर मूली के समान तुच्छ समझता था और अंग्रेज़ों के सहायकों के लिये प्राणदण्ड की व्यवस्था हो रही थी, उस कठिन समय में इस राजभक्त वंश के साहसी पुरुषों ने अपने प्राणों की उपेक्षा कर गवर्नमेंट की सब तरह से सहायता की थी।

मिस्टर थार्नहिल साहब, जो उस दुःसमय में इस ज़िले के एक सुदक्ष कर्मचारी (कलक्टर) थे, उनकी चिट्ठियों में सेठों की कार्य-तत्परता की बड़ी प्रशंसा की गई है। जिनका सारांश यह है कि "इन्होंने बलवाइयों के गुप्त समाचार अफ़सरों तक पहुँचाए। गृहागत अंग्रेज़ों की रक्षा की, भागनेवालों को सहायता दी, ख़जाने को लुटने से बचाया, डाक विभाग का प्रबन्ध किया और यूरोपियन अफ़सरों को यथेच्छ द्रव्य दिया"। मिस्टर थार्नहिल ने इस बात के स्वीकार

करने में सङ्कोच नहीं किया है कि, यदि सेठों की सहायता न होती, तो आगरे और मथुरा में बहुत से अंग्रेज़ों के प्राण नष्ट हो जाते।

यद्यपि इस सेवा के लिये सर्कार से इस घराने को कई गांवों की जमीदारी और पदवियाँ मिली हैं; तथापि यह पुरस्कार कुछ इतना बड़ा नहीं है कि, उस दुःस्समय की सेवा का यही सर्वोत्तम फल समझा जाय। सच तो यह है—आपत्काल का बदला आपत्काल ही में दिया जा सकता है। आज वह समय उपस्थित है। पश्चिमोत्तर के दयालु छोटे लाट के निकट यह कोई बड़ी बात नहीं है। कुमार द्वारिकादास जी को सच्चा राजा बना कर इस घराने की बात पहिले जैसी बना दें। हमारी समझ में तो प्रत्युपकार का यही उपयुक्त अवसर है।

भगवान् द्वारिकाधीश जी से हमारी यही प्रार्थना है कि सेठ द्वारिकादास जी की श्रीवैष्णव धर्म में श्रद्धा बढ़े और यश कीर्ति का विस्तार हो।



राजराजेश्वरी
का
परलोक-गमन

हा ! हन्त !! हन्त !!! जगदीश ! कृतं किमेतत् ?

तारीख २२ जनवरी मङ्गलवार को जब लंडन से यहाँ यह दुःसंवाद पहुँचा कि "आज हमारी दयामयी 'राजराजेश्वरी विक्टोरिया' इस लोक को त्याग कर गईं" तब हिमालय से कुमारिका तक और सिन्धुतट से ब्रह्मदेश पर्यन्त समग्र भारतवर्ष में जो शोक का प्रवाह बह गया, उसे वाक्य से प्रगट करना किसी प्रकार सम्भव नहीं है। जिसके राज्य में वास कर हम लोग निर्भय हो जीवन के दिन पूरे कर रहे थे, जिसके शासन गुण पर हम भारतवासी मुग्ध हो रहे थे, जिसके स्नेह भरे घोषणापत्र से हमारे हृदय में राजभक्ति का अपूर्व सञ्चार हो प्रति दिन परिपुष्ट हो रहा था, अत्याचार और अभाव के समय में जिसका नाम लेकर हम प्रतिकार की आशा करते थे, हा वह 'राजराजेश्वरी विक्टोरिया' इस जगत् को परित्याग कर गयी, इस बात को सुन किस राजभक्त प्रजा के हृदय में शोक का सञ्चार न होगा !

विक्टोरिया के राज्य में सूर्यदेव का अस्त नहीं होता है, अंग्रेजों की इस कहावत को सभी लोग जानते हैं। सुतराँ, सब लोगों की आँखों में आज मानों प्रभाकर का अस्त हो गया। चारों ओर घोर अन्धकार छा गया। केवल भारत ही में नहीं, समस्त बृटिश राज्य ही में विषाद की कालिमा फैल गयी। शोक दुःख से आपामर सब लोग अधीर हो गए। चारो ओर से "हा ! हन्त, हा ! हतास्म" की ध्वनि आने लगी। भारतवर्ष में ऐसा सर्वव्यापी शोक पहले कहीं देखने में नहीं आया। आता कहाँ से ? महारानी के समान कोई

इस समय हुआ होता तब न ? क्या साँसारिक कार्य में और क्या शासनकार्य में सर्वत्र ही महारानी की महिमा प्रकाशित हुई। रमणी-जन-सुलभ उदारता, स्नेह और कोमलता के साथ बुद्धिमत्ता का ऐसा अपूर्व मिलन, हम लोगों की राजराजेश्वरी के बिना और किसी के जीवन में आज तक नहीं देखा गया। सुतराँ आज उनके गुणों का स्मरण कर जो देश विदेश के सब लोग मोहित हो हाहाकार कर रहे हैं, इसमें विचित्रता कुछ नहीं है। यह सब उनके उत्तम गुणों का प्रसाद है। वह जिस प्रकार निज गुण से योरोप के प्रत्येक राज्य में सम्मानित और पूजनीय हुई थीं, उसी प्रकार भारतीय जनों के हृदयमन्दिर में जगदम्बा देवी के समान प्रतिष्ठित थीं। विधाता ने आज उस अप्रतिम प्रतिमा को इस लोक से अन्तर्हित कर दिया।

स्वर्गता राजराजेश्वरी विक्टोरिया के जीवनवृत्तान्त को थोड़ा बहुत सभी लोग जानते हैं, तिस पर अनेक लोग अनेक प्रकार से लिख भी चुके हैं। हमारे पास स्थान सङ्कीर्ण, शक्ति सामान्य और फिर संग्रह में निपुणता नहीं। हमारी दशा ठीक वैसी ही है जैसी—

"मति अति ऊँच नीच गति आछी। चहिए अमी जग जुरत न छाछी॥"

तथापि इस अवसर पर समुद्र की इच्छा गोष्पद में पूरी करना चाहते हैं। इस जगत में जिसका जीवनप्रदीप सदैव के लिये बुझ चुका है, उसकी सद्‌गुणराशि की आलोचना यथासाध्य हम भी क्यों न करें ? जिसके समान दयावती, सौभाग्यशालिनी रमणी अब इस जगत् के इतिवृत्त ही में कोई बिरली ही होगी, उसकी पुण्यकथा सदा ही नयी है, कभी भी पुरानी नहीं हो सकती।

माता पिता

सन्तान के गुणागुण के एक मुख्य कारण माता पिता भी हैं। यह सत्य है, कि शिक्षा और संग से स्त्री पुरुषों के चरित में अनेक प्रकार के दोषगुणों का सञ्चार हो सकता है, किन्तु माता पिता से स्वभावतः सन्तान की प्रकृति और प्रवृत्ति की उत्पत्ति होती है।

इसलिए भारतेश्वरी के असाधारण गुण उसकी माता एवं पिता के ऊपर कहाँ तक निर्भर हैं, इस विषय की प्रथम आलोचना करनी उचित है। ध्यान धर कर देखने पर विदित होता है कि 'विक्टोरिया' का चरित्रबल, सहिष्णुता, मितव्ययिता, वदान्यता, पर-दुःख-कातरता—इन सब गुणों के मूलीभूत कारण उसके माता पिता ही थे। उन्हींसे महारानी ने इन दुर्लभ गुणों को सहज में पा लिया था। उत्तम शिक्षा और ससतङ्ग से इस चरित्रबल का विकास और परिपुष्टि हुई थी सही, किन्तु इसका मूल इसके माता पिता के जीवन ही पर निर्भर था, इस विषय में अनेक प्रमाण मिलते हैं। विक्टोरिया के पिता—

एडवर्ड ड्यूक आफ केंट

इंगलेंड के महाराज तीसरे जार्ज के चौथे पुत्र ड्यूक, लंबे, बलिष्ठ और सुदन्र पुरुष थे। ५१ वर्ष की अवस्था तक उन्होंने विवाह नहीं किया था, ब्रंसिक वंश के राजकुमार प्रायः विलास-प्रिय और अमिताचारी हुआ करते हैं; किन्तु एडवर्ड इस प्रकार के न थे। इन्होंने केनेडा, जिब्राल्टर प्रभृति कई स्थलों पर सैनिक विभाग में कार्य किया था। अफ़्रिका के ग़ुलामों को स्वतन्त्र करने के विषय में, मादकता निवारण के विषय में और ऐसे ही कई प्रकार के दीनजनोपकारक कार्यों में साथ देने के कारण, एडवर्ड, प्रजा के प्यारे होने पर भी, उच्चपदस्थ एवं राज-परिवार-भुक्त अनेक लोगों के अप्रिय हो गए थे। अपने जीवन का अधिक भाग इस प्रकार बिता कर ये इधर उधर की सैर करने निकले और जर्मनी की राजकुमारी 'लुइसा' का पाणिग्रहण किया। लुइसा बेल्जियम के अधीश्वर सुप्रसिद्ध प्रिंस लियोपोल्ड की विधवा भगिनी थी। एक पुत्र एक कन्या को ले कर विधवा हुई थी। दूसरी बार यह एडवर्ड पत्नी हुई। कहते हैं, कि इस राजकुमारी—

मेरी लुइसा

में बहुत से गुण थे। यह 'डचेज़ आफ़ केंट' होकर, कूबर्ग से जब इंगलेंड में आई, तब देखा कि इसकी आर्थिक दशा अच्छी नहीं

है। पदोचित सामग्री दोनों पति पत्नी के पास कुछ नहीं है। ड्यूक की सामान्य वृत्ति और उसकी अपनी सामान्य आय से मान मर्यादा की रक्षा करना बड़ा कठिन कार्य है। यह विचार कर बुद्धिमती डचेज़ अपने नवीन स्वामी के साथ एक छोटे से गाँव में रहने लगी। वहाँ अल्प व्यय से इस प्रकार सुख से निवास किया कि राजनगरी में वैसे बहुत व्यय करने पर भी होना कठिन था। सन् १८१९ ई० में डचेज़ गर्भवती हो वहाँ से स्वामी को साथ ले इंगलेंड के केसिंगटन राजभवन में आकर रहने लगीं। इसी साल में यहाँ हमारी राजराजेश्वरी का जन्म हुआ। तारीख २४वीं मई महारानी का जन्मदिन है, यह बात तो सभी लोग जानते हैं।

बालकपन

में महारानी के पिता की मृत्यु हुई। तब तक ये पूरी एक वर्ष की भी न हुई थीं! केंसिंगटन राजभवन में लुइसा पति की उसी सामान्य वृत्ति से सन्तान का लालन पालन करती रही। एक तो विदेश, तिस पर पतिवियोग और फिर द्रव्य का अभाव—ऐसी अवस्था में इंगलेंड जैसे स्थान में रह कर मान सम्भ्रम की रक्षा करना विधवा लुइसा के लिये असम्भव हो जाता, यदि इसका सहोदर भ्राता प्रिंस लियोपोल्ड नियमित रूप से दुर्दशाग्रस्त भगिनी की सहायता न करता। इस प्रकार मित-व्यय-परायणा लुइसा, इंगलेंड की भविष्य अधीश्वरी को उपयुक्त रूप से लालन पालन करने में समर्थ हुई थी।

उस समय

इंगलेंड में भोग विलास का स्रोत बड़े वेग से चल रहा था। बड़े घरों की बहू बेटियाँ, निज सन्तान को अपने हाथ से नहलाना धुलाना तो दूर रहा, अपने स्तनों का दूध पिलाने में भी कुण्ठित होती थीं। दास दासी सन्तान का भार ग्रहण करतीं। दाई के दूध से सन्तान पुष्ट होती। बस इस प्रकार प्रसव के पश्चात् एक बार ही इंगलेंड की कुलवधू अपने कर्तव्य से बेलाग हो जाती थीं। बच्चा जना और

जननी का सब काम पूरा हुआ ! लुइसा इस प्रकार की जननी न थी। वह अपने हाथ से कन्या को नहलाती और अपने हाथ ही से कन्या को वस्त्रादि पहिनाती थी और इसी तरह दूध पिला कर उसकी सब प्रकार की आवश्यकता पूरी करती थी। सौभाग्य से राजराजेश्वरी की जननी अपने बड़े कर्तव्य को समझती थी। इसलिए वह आहार-विहार आदि प्रत्येक कार्य का तत्त्वावधान स्वयं करती थी। अतएव भोग विलास के स्रोत और उसके घृणित कर्दम से "विक्टोरिया" की प्रकृति बिगड़ने न पाई। तब तक इस बात को कोई नहीं जानता था, कि यह कन्या एक दिन ब्रिटेन की रानी भी हो सकती है।

विक्टोरिया ने जब—

छठे वर्ष में

पदार्पण किया; तब इंगलेंड के लोग समझने लगे कि कदाचित् यह कन्या ही इंगलेंड की महाराणी हो।

एडवर्ड की मृत्यु के ६ दिन पीछे तीसरे जार्ज की मृत्यु हुई और उसका ज्येष्ठ पुत्र चौथे जार्ज का नाम धारण कर इंगलेंड का राजा हुआ। इसके कुछ दिनों पश्चात् तीसरे जार्ज के दूसरे बेटे ड्यूक आफ़ यार्क की पत्नी का निःसन्तान अवस्था में परलोकवास हो गया। चौथे जार्ज की एकमात्र कन्या, विक्टोरिया के जन्म से पहिले ही इस लोक को त्याग चुकी थी, उसके अब और सन्तान होने की सम्भावना न थी। तीसरे जार्ज के तीसरे पुत्र, जो 'चतुर्थ विलियम' के नाम से इंगलेंड के राजा बन गये थे, उनके भी दो कन्या होकर नष्ट हो गई थीं। सुतरां सब समझने लगे, यदि उसके और सन्तान न हो तो विक्टोरिया ही एक समय इंगलेंड की महाराणी होगी। इस समय से राजमन्त्रियों ने लुइसा और विक्टोरिया के खर्च के लिये ६० हजार रुपये वार्षिक वृत्ति निर्द्धारण की, जिससे अर्थक्लेश तो इसी समय से दूर होगया।

लड़कपन की शिक्षा

डचेस कन्या का जिस प्रकार यत्न से पालन करती थी और जिस प्रकार अति यत्न के साथ पुत्री को शिक्षा देती थी, उससे विक्टोरिया के स्वभावसिद्ध गुणों की उन्नति के अतिरिक्त अवनति नहीं हुई। 'एक समय यही लड़की इंगलैंड की महारानी बनेगी,' इस भाव या आनन्द से माता का हृदय अधीर नहीं हुआ, वरञ्च धीरता के साथ इसी बात की अधिकतर चिन्ता और यत्न करने लगी कि यदि विक्टोरिया रानी हो तो उसमें क्या क्या गुण होने चाहिए और उस प्रकार के गुणों का विकास किस प्रकार हो सकता है।

राजकुमारी विक्टोरिया

बा, लेजेन नाम की एक पढ़ाने वाली स्त्री और डेविस नामक एक पादरी, शिक्षक की भाँति तत्वावधान किया करते। इनकी सुशिक्षा और उत्तम उपदेश के हेतु विक्टोरिया का चरित्र उत्तरोत्तर उत्कृष्ट होता गया। इस विषय के उदाहरण दिखाने का यहाँ प्रयोजन नहीं। महारानी के सुदीर्घ और चिरसमुज्वल जीवन में ऐसे प्रत्यक्ष प्रमाणों की कमी नहीं है।

सिंहासन-प्राप्ति

सन् १८३७ ई० की २०वीं जून को चतुर्थ विलियम की मृत्यु होने पर केंटरबरी के आर्कबिशप और लार्ड चेम्बरलेन, लार्ड केनिंहाम आदि प्रधान राजपुरुषों ने केसिंगटन राजभवन में जाकर विक्टोरिया को यह सुसंवाद दिया था कि "आज से वह ब्रिटेन की महाराणी हो गई।" जिस दिन से महाराणी इंगलेंड के सिंहासन पर बैठीं, उस दिन से मृत्यु तक बराबर अपने पदोचित गौरव की रक्षा करती रहीं। विक्टोरिया का उच्चारण और स्वर जैसे सब के निकट सुमिष्ट था, वैसी ही आकृति भी सब के नजदीक चित्तापहारिणी थी। इससे राजसभा के सब लोग मोहित हो गए। सिंहासन-प्राप्ति के एक वर्ष पश्चात् सन् १८३८ ई० की २९वीं जून को महाराणी का राज्याभिषेक बड़े समारोह से हुआ था।

बेरन स्टकमर

नामक एक सत्पुरुष राजपरिवार के एक निःस्वार्थ और हितैषी मित्र थे। ये महाराणी के अभिभावक को भाँति उनके मातुल के भेजे हुए इंगलेंड में आये थे और १७ वर्ष से अधिक काल तक विक्टोरिया के अवैतनिक परामर्शदाता बनकर रहे थे। इनके समान विज्ञ, प्रवीण, निःस्वार्थ और बहुदर्शी परामर्श-दाता को पाकर राज-परिवार निज मङ्गलसाधन में सफल हुआ था।

नई महाराणी

के साथ इनके ममेरे भाई प्रिंस अलबर्ट का लड़कपन ही से मेलजोल हो गया था। दोनों को एक साथ खेलने और विनोद करने का अभिभावकों ने अवसर दिया था। महारानी की जननी, मामा और बैरन स्टकमर आदि हितैषियों की यह प्यारी अभिलाषा थी कि किसी प्रकार विक्टोरिया और प्रिंस अलबर्ट परस्पर प्रणयसूत्र में बँध जायँ। अवश्य ही इनकी आशा निष्फल नहीं हुई। गुप्त रूप से दोनों के हृदय में पूर्वराग का सञ्चार हो गया था। किन्तु जब विक्टोरिया राजसिंहासन पर बैठ गईं तब कई राजा और राजकुमार इनके पाणिग्रहण करने के अभिलाषी हुए थे। यद्यपि उनका ऐश्वर्य प्रिंस अलबर्ट की अपेक्षा बहुत अधिक था, तथापि विक्टोरिया का मन विचलित नहीं हुआ। वह यौवन, ऐश्वर्य, प्रभुत्व इन तीनों के मोह में पड़कर भी बाल्यानुराग विस्मृत न कर सकीं। उन्होंने अपने बालसखा 'प्रिंस अलबर्ट' ही को अपना हृदय समर्पण किया।

इस विवाह में

नई महाराणी ने निज चित्त की दृढ़ता का जैसा परिचय दिया था, उसीसे उनके चरित्रबल का यथेष्ट परिचय मिलता है। इस नव दम्पति के पूर्व्वराग विषयक हमने अनेक उपाख्यान सुने हैं। उन सब की आवृत्ति करना इस समय बड़ा कठिन है। किन्तु इस विवाह में जो हमें शिक्षा मिलो है, वह सदा स्मरण रखने योग्य

है। विक्टोरिया प्रणयपात्र को वरने से प्रथम जननी और अभिभावकों के विचार पर निर्भर थी, अपनी बुद्धि के ऊपर घमंड कर निश्चिन्त न थी। हृदय समर्पण से पहिले, मनोनीत पात्र योग्य हैं कि नहीं, इस विषय में अपने हितैषियों का मत ग्रहण किया था, वह ऐश्वर्य के मोह से विचलित नहीं हुई। जिसको अपने परम प्रेम का अधिकारी समझा, जो उसको यथार्थ में प्यार करेगा, जिसके समागम और सहवास से परस्पर सुख होगा, उसको प्राण समर्पण करने में किञ्चिन्मात्र भी द्विधा वा सङ्कोच विक्टोरिया के हृदय में नहीं हुआ। सामान्य ऐश्वर्य से कितने ही लोगों का माथा घूमने लगता है, कितने ही लोग दीर्घकाल की मित्रता को भूल जाते हैं, किन्तु राज्येश्वरी होकर भी विक्टोरिया का मन अटल अचल बना रहा।

जीवन में दुर्घटना

राजराजेश्वरी विक्टोरिया के भी अनेक हुई हैं। कई बार वह मरती मरती बच गई हैं। भगवान् जिसके रक्षक हों, उसे कौन मार सकता है? जब ये छः मास की थीं तब एक लड़के ने पक्षी मारने के लिये गोली छोड़ी थी। एक गोली विक्टोरिया के माथे के पास से सन् से निकल गई, जरा ही से फर्क से उस दिन जीवन रक्षा हुई, नहीं तो मस्तक में गोली लगने में कुछ सन्देह नहीं रहा था। विक्टोरिया जब तीन वर्ष की थीं, तब वे अचानक एक गाड़ी के पहिये के सामने आ पड़ीं! उस समय एक सैनिक पुरुष ने उनको उठा कर बचा लिया, नहीं तो मृत्यु में सन्देह न था। सन् १८४० ई० में एक एडवर्ड आक्सफोर्ड नामक पागल ने महाराणी को मारने के लिए दो गोली छोड़ी थीं। सौभाग्य से उनके शरीर में एक भी न लगी। दो वर्ष पीछे फ्राँसिस् नाम के एक और आदमी ने महाराणी पर गोली चलाई थी, इस बार भी भगवान् की दया से वार खाली गया। विचारालय से फ्राँसिस् को प्राणदण्ड मिला था, किन्तु दयामयी विक्टोरिया ने क्षमा कर उसे देशान्तर कर दिया। वीन नामक कुब्ज, हैमिल्टन नामक एक राज-मजदूर और बेक्रिन, मेकलीन आदि और

कई पुरुषों ने महाराणी का जीवन नष्ट करने की चेष्टा की थी, किन्तु कोई भी इनका कुछ अनिष्ट न कर सका। महाराणी विक्टोरिया के कोमल हृदय में कठोर प्राणदण्ड की अनुमति सह्य नहीं होती थी। इनके—

हृदय की कोमलता

इतनी अधिक थी कि फाँसी देने के नाम से काँप उठती थीं। पहिले यह नियम था कि इंगलेंड में जब प्राणदण्ड दिया जाता, तब उस आज्ञापत्र पर राजा के हस्ताक्षर होते। राजा के हस्ताक्षर न होने तक वह आज्ञा अपूर्ण समझी जाती थी। दयामूर्ति विक्टोरिया प्रत्येक अपराधी को जब क्षमा करने लगीं, तब से गवर्नमेंट ने यह नियम कर दिया कि अब पीछे प्राणदण्ड के अनुमतिपत्र पर राजा के स्वाक्षरों का कुछ प्रयोजन नहीं।

महाराणी की सन्तान का

'भाग्य' भी जैसा होना चाहिये था वैसा ही हुआ। इनकी प्रथम सन्तान श्रीमती विक्टोरिया एड्ले मेरी लुइसा का जन्म सन् १८४० ई० के २१ नवंबर को हुआ था। यही वर्तमान जर्म्मन सम्राट् की जननी हैं। दूसरी सन्तान ज्येष्ठपुत्र श्रीमान् अलबर्ट प्रिंस आव वेल्स का जन्मदिन है सन् १८४१ ई० की नवीं नंवबर। इनका विवाह सन् १८६३ ई० की १०वीं मार्च को डेनमार्क की राजकुमारी अलेकजेंडरा से हुआ। यही अब सप्तम एडवर्ड के नाम से इंगलेंड के महाराज और भारतवर्ष के सम्राट् हुए हैं। महारानी की तीसरी सन्तान राजकुमारी ओलिस माड मेरी थी। जन्म हुआ था सन् १८४३ ई० की १५ अप्रेल को। ड्रामस एडप्रिंस के लुई से इनका विवाह हुआ और सन् १८७८ में पतिगृह में इसका परलोकवास हो गया। महारानी की चतुर्थ सन्तान ड्यूक आफ एडिनबरा थे। ये एक बार भारत में भी आये थे, बोध होता है यह बहुतों को स्मरण होगा। इनका जन्म हुआ था सन् १८४४ ई० में और मृत्यु हुई गत वर्ष सन् १९०० ई०। १८४६

ई० को २५वीं मई को महारानी की पञ्चम सन्तान राजकुमारी हेलेना का जन्म हुआ था और वे प्रिंस क्रिस्तान के साथ ब्याही गईं। सन् १८४८ ई० में राजकुमारी लुइसा एलबर्टा ने जन्म ग्रहण किया। इन्होंने किसी राजा वा राजपुत्र के साथ विवाह नहीं किया, मार्किस आफ लोरन ही को अपना पति बनाया। सन् १८५० ई० में महारानी की सप्तम सन्तान ड्यूक आफ कनाट का जन्म हुआ और इसके पश्चात् सन् १८५३ ई० में राजकुमार लियोपोल्ड जार्ज अलबर्ट ने जन्म ग्रहण किया। सन् १८६४ ई० में इस राजकुमार की मृत्यु हो गई। सन् १८५७ ई० में महारानी की नवम और अन्तिम सन्तान राजकुमारी वियाम्रिका का जन्म हुआ। वेटनबर्ग के राजकुमार हैनरी के साथ इनका विवाह हुआ था। अब यह विधवा हो गई हैं। महारानी की नौ निज सन्तान हैं और पौत्र, दौहित्रादि से इनका वंश और भी विस्तृत है। तात्पर्य यह कि सौभाग्यवती विक्टोरिया को धन सन्तान की कुछ कमी न थी। इनको सब तरह से लक्ष्मी लाभ हुआ था।

मृत्यु का दुःख

प्रबल और दुर्बल, धनवान् और दरिद्र, राजा और प्रजा सभी के भाग्य में है। भाग्यवती विक्टोरिया को सन् १८६१ ई० के मार्च मास में मातृवियोग का दुःख झेल कर एक वर्ष के भीतर ही पतिवियोग के दारुण दुःख से मर्म्माहत होना पड़ा था। पुत्रवियोग, कन्यावियोग, जामातृवियोग पौत्र-दौहित्रादि-वियोग-जनित सब कष्ट ही महारानी को निज दीर्घ जीवन में भोगने पड़े थे। दीर्घजीवन एक ओर जिस प्रकार सुखदायक दिखाई देता है, दूसरी ओर उसी प्रकार स्वजनादि के अनिवार्य वियोग से दुःख का कारण भी है। महारानी की सहिष्णुता अपार थी, उन्होंने शोक से विव्हल हो कर्तव्यनिष्ठा में अवहेला नहीं की। विधवा होकर महारानी ने जो भारतेश्वरी के योग्य कार्य किया वह यह कि जिस दिन से विधवा हुईं, किसी नाचकूद और

आमोद प्रमोद की सभा में नहीं गईं। कृस्तान कुल में जन्म लेकर भी हमारी महारानी ने हिन्दू-नारी के समान जीवन को व्यतीत किया। अवश्य ही यह आनन्द की बात है। इनके राज्यकाल के पचास वर्ष पूर्ण होने पर प्रथम "सुवर्ण जुबली" और साठ वर्ष पूर्ण होने पर दूसरी 'हीरा जुबली' नामक उत्सव भी बड़ी धूमधाम के हुए थे।

घोषणापत्र

सन् १८५७ ई० के विख्यात और भयङ्कर गदर के पश्चात् ईस्ट-इंडिया कंपनी के हाथ से महरानी ने जब इस देश का राज्यभार अपने हाथ में ग्रहण किया, तब से भारत के साथ इनका अधिक सम्पर्क हो गया था। राज्यशासन का भारग्रहण करने के दिन से भारतेश्वरी ने भारतवासियों को अभयदान दिया। इनके स्नेहपूरित घोषणापत्र के कारण सब प्रजा के लिए समान भाव से निरपेक्ष व्यवहार की प्रशंसनीय नीति का इस देश में सर्वत्र प्रचार हुआ। तब भारतवासियों ने भी समझा कि वे लोग इतने दिनों में दायित्वहीन व्यवसाइयों के शासन-जाल से मुक्त हो, ब्रिटनेश्वरी की ख़ास प्रजा हुए हैं।

दिल्ली दरबार

भारत के इतिहास में दिल्ली नगरी का नाम अद्वितीय है। कुरु पाण्डवों के समय से मुग़लों के समय तक भारत की राजधानी होने के कारण दिल्ली की ख्याति जगद्विख्यात है। दिल्लीश्वर एक दिन जगदीश्वर के साथ उपमित हुए थे। सन् १८७८ ई० की १ली जनवरी को दिल्ली में एक सुप्रसिद्ध दरबार हुआ था। उस दरबार में विक्टोरिया ने भारत की 'राजराजेश्वरी' की उपाधि ग्रहण की थी। तब से भारत के साथ इंगलैंड का सम्बन्ध क्रम क्रम से बढ़ता गया। भारतेश्वरी भारत के लोगों के लिए अधिक चिन्ता करती थीं। उनके अनेक कार्य्यों से इसका परिचय मिल चुका है। केवल इतना ही नहीं, भारत की भाषा सीखने में भी उनका अनुराग था। भारतीय सैनिकों की वीरता पर वे आनन्द प्रकाश करती थीं। भारतवासियों के लिए यह सामान्य गौरव की बात नहीं है।

राजभक्ति

भारतवासियों की राजभक्ति भी जगत् में अद्वितीय है। राजा को ईश्वर समझना यह इसी देश की पवित्र धर्म्मशिक्षा का फल है। भारत में अनेक ऐसे लोग हैं, जो महारानी की प्रस्तरमयी और मृण्मयी मूर्त्ति को देवता के समान पूजते हैं। राजा के लिए इस प्रकार की राजभक्ति सर्वत्र सुलभ नहीं है। किसी विरले के भाग्य में ऐसा होता है। जब ड्यूक आफ एडिनबरा, प्रिंस आफ वेल्स, ड्यूक आफ कनाट, भारतेश्वरी के ये तीनों पुत्र भारत में आए थे, तब वे यहाँ वालों का भक्तिभाव देख कर समझ गये थे कि करोड़ों भारतवासियों में प्रत्येक पुरुष उनकी माता की निज माता के समान भक्ति करता है। विगत दुर्भिक्ष के समय में महारानी ने भारत की दरिद्र प्रजा का कष्ट दूर करने के लिये जिस प्रकार उद्वेग प्रकाश किया था, वह भूलने योग्य नहीं है। उससे यह राजभक्ति अधिकतर वर्धित हुई, इसमें सन्देह नहीं। इसीलिए महारानी के अमङ्गल संवाद से प्रत्येक घर में शोक का सञ्चार हुआ। इस देश में चारों ओर हाहाकार मच गया! महारानी ने कुछ कम आयु न पाई थी। उनकी आयु ८२ वर्ष की हो गई थी। इसलिए इस मृत्यु को अकाल मृत्यु नहीं कहा जा सकता। तथापि इनकी मृत्यु अकाल मृत्यु के तुल्य सब के निकट तीव्र शोक का कारण हुई है! जिस प्रकार सत्यसिन्धु, वृद्ध, महात्मा, भीष्मपितामह की मृत्यु का दुःखसमुद्र उनकी वृद्धावस्था के समाधान से नहीं रुक सका था और एक बार समस्त देश भर को प्लावित कर दिया था, उसी प्रकार महारानी के शोक से भी सब दुःख में डूब गये हैं। गाना बजाना, उत्सव जलसे और रसरङ्ग की सब बातें बंद हो गईं। दो फरवरी को महारानी की समाधिक्रिया ओंसवर्न राजभवन में होगी। हम लोग महारानी की सद्गति के लिए जगदीश्वर से बारंबार प्रार्थना करते हैं और आशा करते हैं कि हमारे नवीन सम्राट् जननी के समान प्रजा का दयापूर्वक लालन पालन करेंगे।

स्वर्गीय

पण्डित बख्शी नन्दकिशोर जी

हाथरस (मथुरा *)

उन्नीसवीं शताब्दी में मनुष्य जाति की शोभा बढ़ाने वाले जितने नररत्न हो गए हैं उनमें सनाढ्य-कुल-भूषण हाथरस के पं० बख्शी नन्दकिशोर जी भी एक हैं। व्रजमण्डल में इनके सत्यप्रियता, निष्पक्षपातिता, दीनों पर दया, भगवान् की भक्ति और कार्य में पटुता इत्यादि, गुण हाकिमों से लेकर दीन प्रजा तक पर विदित हैं। ऐसे महानुभाव के विमल चरित से सुदर्शन के गुणग्राही पाठक अनेक प्रकार की शिक्षा लाभ कर सकते हैं, इसमें किञ्चिन्मात्र सन्देह नहीं। सुतरां आज उनके दर्शनीय चित्र के साथ उनका वन्दनीय चरित भी यहाँ संक्षेप से प्रकाश करते हैं। निश्चय है कि 'सुदर्शन' के पाठकों को इससे परितोष होगा।

पण्डितवर बख्शी नन्दकिशोर जी ने (सन् १८१२ ई०) संवत् १८६९ में जगत्प्रसिद्ध मथुरापुरी के पास हाथरस के बख्शी पण्डित गोपालसिंह जी के घर जन्म लिया था। इनका सनाढ्य (ब्राह्मण) कुल घृतकौशिक गोत्र, यजुर्वेद, माध्यनिन्दनी शाखा और श्रीवैष्णव सम्प्रदाय था।

उन दिनों हाथरस में न अब जैसे मकानात थे, न बाज़ार थे और न बाग़ बगीचों की बनावटी शोभा ही देखने में आती थी। उस समय हाथरस एक छोटी सी बस्ती थी और उसका स्वाधीन जाट राजा ठाकुर भूरिसिंह जी स्वतन्त्रता से शासन करते थे। भारत का यह समय युद्ध विग्रह में लग रहा था। प्राण बचाने के लिए सब ने

* हाथरस अलीगढ़ ज़िले में है।

शस्त्र उठा रक्खे थे। राजकुमार से लेकर कहारों तक को शस्त्र चलाने का अभ्यास करना पड़ता था। जो इस फ़न में पूरा होता था उसकी प्रतिष्ठा भी पूरी होती थी। इसलिए गोपालसिंह जी की तीरंदाज़ी से प्रसन्न होकर ठाकुर भूरिसिंह जी ने इनको अपने पास रख लिया। इस प्रकार जब हाथरस में आजीवन का सम्बन्ध हो गया तब गोपालसिंह जी ने अपने कुटुम्ब को भी जन्मभूमि कुमरपुरा से बुलवा लिया और वहीं रहने लगे।

ठाकुर भूरिसिंह जी के स्वर्गवास के पश्चात् जब उनके पुत्र ठाकुर दयारामसिंह जी का वैभव बढ़ा, तब इनको फ़ौज के "बख़्शी" का पद मिला। (इस सम्मानसूचक पद को पूर्वपुरुषों के कार्य का स्मारक समझ कर इस वंश के लोग अद्यापि निज नाम के साथ लगाते हैं)।

सन् १८१७ (सं० १८७४) में ठाकुर दयारामसिंह की अंग्रेज़ों से अनबन हुई और उनका हाथरस पर धावा हुआ। दुःख की बात है, कि इस अवसर पर बख़्शी जी किसी आवश्यक कार्य के लिये कहीं गये हुए थे, इसलिए उनको अपनी वीरता दिखाने का अवसर नहीं मिला। इधर अंग्रेज़ों के प्रचण्ड आक्रमण से लड़ाई में ठाकुर साहेब के पैर नहीं जम सके, हाथरस से भाग निकले और अन्त में सर्कार की शरण हो, दो सहस्र की पेंशन पर ज़िले अलीगढ़ में, अपने नाम से छावनी डाल कर, स्वतन्त्रता खो सुख से रहने लगे।

गोपालसिंह जी के तीन सन्तान हुईं, दो पुत्र और एक कन्या। बड़े पुत्र बख़्शी लक्ष्मीनारायण जी और छोटे (इस चरित के नायक) बख़्शी नन्दकिशोर जी थे।

अपने बड़े पुत्र को बारह और कनिष्ठ को आठ वर्ष का छोड़ कर बख़्शी गोपालसिंह जी जगत्पिता परमेश्वर की सेवा के लिये परलोकवासी हुए और उन दोनों बालकों को उसी दीनबन्धु के भरोसे पर छोड़ गये।

निःसहाय का सहायक ईश्वर है। वही बिगड़ी को बनाता है और डूबते हुए को बचाता है। जब उसकी दृष्टि बदलती है तब समस्त

ब्रह्माण्ड ही बदलने लगता है और जब किसी पर कृपाकटाक्ष होता है तब उस निराश्रय को अनेक आश्रयदाता पुरुष भी आपसे आप आ मिलते हैं। जब इनके आश्रयदाता ठाकुर वंश के लोग स्वयं निराश्रय हो उदरपूर्ति की चिन्ता में व्यग्र हुए और पिता जी का स्वर्गवास होगया, तब इस पितृहीन ब्राह्मणकुमार का भी कोई रक्षक न था! केवल एकमात्र जगदीश्वर की कृपा ही इनके धैर्य का कारण थी। जगत् में दीन दरिद्र पुरुषों के बालकों को अपने निर्वाह में उतनी कठिनता उपस्थित नहीं होती, जितना धनभ्रष्ट कुलीन पुरुष के बालक को अपना निर्वाह करने में दुविधा और कष्ट हुआ करता है। दुःसमय में उसके पूर्वजों का प्रताप और उच्चकुलाभिमान आन कर उपस्थित होता है और उसे दास्यकर्म एवं भिक्षावृत्ति करने से मना करता है। सुतरां, ऐसी दशा में सत्कुलीन एवं मानी पुरुष के लिए प्राण देने की अपेक्षा प्राण रखना एक प्रकार का भार हो जाता है। कविवर श्रीहर्ष ने बहुत ही ठीक कहा है, कि—

"त्यजन्त्यसून् शर्म्म च मानिनो वरं, त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम्।"

जो हो, हाथरस की लूट में अंग्रेजी फौज के सवार जब से इनकी सम्पत्ति लूट ले गए थे, तब से उसके पुनः प्राप्त करने का गोपालसिंह जी निरन्तर उद्योग करते रहे; किन्तु अविमृश्यकारी मृत्यु ने उस साहसी पुरुष को कृतकार्य नहीं होने दिया और उन्हें अगत्या, अपनी बालक सन्तान की आशा रूपी नौका को मजधार में छोड़ कर जाना पड़ा!

इनके बड़े भाई लक्ष्मीनारायण जी अपने छोटे भाई को बड़े यत्नपूर्वक रखते थे। इनके आदर, स्नेह और ममत्व से नन्दकिशोर जी को कभी किसी प्रकार का कष्ट अनुभव नहीं हुआ। जब कोई इनसे आकर कहता कि "तुम्हारे पिता मर गए?" तो ये उत्तर देते कि "नहीं, मुझे मालूम नहीं कि मेरे पिता मर गए! यह सब हमारे भाई को मालूम होगा।" सचमुच नन्दकिशोर जी को कुछ मालूम न था, वे पिता के समान अपने अग्रज को रक्षक और पूज्य समझते थे। इस समय जो इनके कोमल हृदय पर सौभ्रात्र का अङ्कुर उत्पन्न हो

गया था वह वयोवृद्धि के साथ एक महा वृक्ष के आकार में परिणत होता गया, जिसकी सुशीतल छाया और सुमिष्ट फल ने अन्त में यह बात सिद्ध कर दी कि बालकपन में जो शुभ संस्कार दृढ़ हो जाते हैं वे ही अन्त तक रहते हैं। किसी के मिटाने से नहीं मिट सकते और उनका फल भी अत्यन्त मधुर होता है। पिता के मरने का दुःख चाहे नन्दकिशोर जी को कुछ प्रतीत न हुआ हो, परन्तु इनके ज्येष्ठ सहोदर लक्ष्मीनारायण जी के दुःख की सीमा न थी। जिस प्रकार वे हाथरस के लोगों में अपनी भीतरी दशा का प्रकाश करना अनुचित समझते थे, उसी प्रकार इस बात का भी विचार रखते थे कि कहीं घर की तंगी का हाल छोटे भाई पर विदित न हो जाय। तिस पर एक बड़े कुटुम्ब का बोझ और फिर लिखने पढ़ने का समय—करें तो क्या करें? जब इस तरह ये चिन्ता से चिन्तित हो रहे थे, तब ठाकुर दयारामसिंह के बड़े पुत्र, कुमार नारायणसिंह की विधवा रानी को इनकी दशा का समाचार मिला। उसने अपने उदार स्वभाव के अनुसार कुटुम्ब पोषण के निमित्त बहुत कुछ सहायता दी और नन्दकिशोर जी को अपने साथ श्रीवृन्दावन जहाँ वह तीर्थसेवन के लिए बास करती थी, ले गई। इधर लक्ष्मीनारायण जी को अपनी दशा सुधारने का अवसर मिला।

वृन्दावन में नन्दकिशोर जी ने बड़े परिश्रम से सारस्वत चन्द्रिका आदि व्याकरण के कई ग्रन्थ पढ़े और काव्य, कोश तथा पुराणादि ग्रन्थों में भी अच्छी व्युत्पत्ति लाभ की। श्रीमद्भागवत को केवल इन्होंने पढ़ा ही नहीं, उसका अनेक वैष्णव विद्वानों से रहस्य जान कर इष्ट भी सम्पादन किया था। इसी समय से आपने प्रतिदिन भागवत्पाठ करने का नियम लिया था, जिसका मरण पर्य्यन्त निबाह किया।

धर्म्मज्ञान के साथ ही हिन्दुओं की प्राचीन गम्भीर नीति का तत्व भी इनको इसी समय हस्तामलकवत् हो गया था। इनके निर्मल अन्तःकरण में जैसे पारलौकिक विषय का दिव्य चित्र चित्रित था, वैसे

ही लौकिक विषय का तत्व भी इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा में अर्चित हो रहा था।

हाथरसवालों की जमींदारी कोर्ट में चले जाने पर स्वामिभक्त बुद्धिमान् पण्डित नन्दकिशोर ही उसके प्रबन्धकर्ता (मुन्तजिम) बनाए गये, जिससे इनकी यथेष्ट प्रशंसा हुई और एक बार ही भविष्य उन्नति का द्वार उन्मुक्त हुआ।

बेसवाँ के ठाकुर जैकिशोरसिंह जी के स्वर्गवास होने पर, उनकी निःसहाया विधवा रानी को, जो निज अधिकार से वञ्चित की गयी थी, आगरे की सदरनिजामत से अधिकार दिला कर, आपने और आपके बड़े भाई पण्डित लक्ष्मीनारायण जी ने केवल अपनी ही श्रीवृद्धि न की; वरञ्च एक दुर्दैवग्रस्त प्रतिष्ठित वंश की असहाया रमणी की सहायता कर, उसकी मानमर्यादा को भी बनाये रक्खा, इसको सभी सज्जन जानते हैं। बेसवाँ की बुद्धिमती रानी ने अधिकार प्राप्ति के साथ ही इन्हें अपना 'दीवान' बना कर कृतज्ञता प्रकाश की।

सवंत् १९१४ में अर्थात् सन् ५७ के गदर में हाथरस वाले ठाकुर गोविन्दसिंह जी, जो पीछे से 'राजा बहादुर' बनाए गए थे, अपने पूर्वजों की राजधानी में चले आए और पण्डित नन्दकिशोर जी के "बख्शी" पद के साथ ही (उनके पिता के) अधिकार पर नियुक्त किया। यदि इस समय शान्त स्वभाव, दूरदर्शी बख्शी नन्दकिशोर जो ठाकुर साहिब के मन्त्रदाता न होते, तो कौन जाने वे किधर ढल बैठते और उस अपरिणामदर्शिता का कैसा विषमय फल होता? उस भयङ्कर समय में ठाकुर साहिब को सत्परामर्श देकर बख्शी जी ने बहुत से अंग्रेजों को सहायता दी और उनके प्राण बचाए तथा अपना और अपने ठाकुर का प्रताप बढ़ाया। सर्कार की इस सहायता का यह फल हुआ कि गोबिन्दसिंह जी "ठाकुर" से "राजा" बनाए गए और साथ ही इनाम में बीस गाँव भी उनको मिले और बख्शी जी को प्रशंसापत्र के सहित तीन गाँव की जमींदारी मिली। इसी

समय से नन्दकिशोर जी राजपुरुषों और बन्धु बान्धवों में "बख्शी जी" के नाम से परिचित होने लगे।

सन् १८५८ ई० में सर्कार ने इन्हें अलीगढ़ का कोतवाल बनाया और पीछे तीन साल तक वहाँ तथा दो वर्ष तक बैमचकाथर (बुलन्दशहर) में आप सजावल रहे। अपने पद पर आरूढ़ हो गवर्नमेंट के आदेशानुसार, जैसी योग्यता और शुद्ध चित्त से सावधान होकर इन्होंने काम किया, वह हिन्दू समाज में अविदित नहीं है।

इनके परमप्रिय अग्रज पण्डित लक्ष्मीनारायण जी का विक्रम के संवत् १९२३ की श्रावण सुदी ४ को वैकुण्ठवास हुआ। तब से ये संसार से विरक्त हो केवल भगवान् के आराधन में समय को लगाते थे। भगवान् का पूजन, भागवत् का पाठ और भागवतों की सेवा, यही इनका आन्हिक कार्य था। इनके बड़े भाई के दो विवाह हुए थे, किन्तु दुःख की बात है कि कोई सन्तान नहीं हुई! वे बख्शी नन्दकिशोर जी के पुत्रों ही को अपना समझते रहे। उनकी कनिष्ठा पत्नी अभी तक विद्यमान है, वह भी इस विषय में अपने परलोकगत स्वामी के उत्तम गुणों का अनुकरण करती है।

बख्शी नन्दकिशोर जी अपने छः सुयोग्य पुत्रों को छोड़, सनाढ्य कुल को अनाथ कर, व्रजमण्डल को शून्य कर अपनी ७८ वर्ष की अवस्था में ता० ४ अगस्त सन् १८९० ई० में अर्थात् संवत् १९४७ में अपनी जन्मभूमि हाथरस ही में परलोक को सिधार गये। बख्शी जी की मृत्यु से न केवल सनाढ्य कुल ही की शोभा नष्ट हुई, प्रत्युत सम्पूर्ण ब्राह्मणों का इस लोक से एक सच्चा हितकारी उठ गया! मनुष्यमात्र का शुभचिन्तक चल बसा और हाथरस का कीर्तिस्तम्भ भग्न हो गया। हा! ऐसे पुरुषरत्न फिर भी कभी इस देश में होंगे? विधे! तेरी क्या इच्छा है, तूहीं जाने?

बख्शी जी के छः पुत्र हुए—

१—पं० म० गङ्गाप्रसाद जी हिन्दी और फ़ारसी के बड़े

विद्वान् थे। रियासत बेसवाँ में अपने ताऊ जी की नायबी में कार्य करते थे और उनके विशेष कृपापात्र रहे।

२—पं० कृष्णप्रसाद जी, जो हिन्दी, फ़ारसी आदि भाषाओं के मर्मज्ञ, कर्तव्यकर्म के विशेषज्ञ और वर्तमान सनातन धर्म के प्रचारकों में विशेष परिचित हैं। अपनी उत्तमता और बुद्धिमत्ता के कारण बरेली के सनाढ्य महामण्डल के सभापति तथा भारत-धर्म महामण्डल के मन्त्री बनाए गए थे और इस समय आप श्रीवृन्दावन के प्रसिद्ध श्रीरङ्ग जी के मन्दिर की जो प्रबन्धकारिणी सभा है, उसके सभ्य हैं।

३—पं० गोविन्दप्रसाद जी, जो एक सुशिक्षित, व्यवहार-कुशल और तेजस्वी पुरुष थे। अलीगढ़ की सनाढ्य जातीय महासभा अर्थात् सनाढ्य महामण्डल के ये भी प्रेसीडेंट हुए थे।

४—पं० रघुनाथप्रसाद जी, जो इस समय दक्षिण हैदराबाद के हाईकोर्ट के जज हैं। आप मातृभाषा के प्रेमी और हिन्दी, फ़ारसी के विद्वान् होने के अतिरिक्त अंग्रेजी के पुराने समय के बि० ए० हैं। आपकी न्यायपरता, सुजनता और महानुभावता के अनेक उदाहरण हमने हैदराबाद में अपनी आँखों से देखे हैं। जिसे एक बार भी आपसे मिलने का अवसर मिला होगा, अवश्य उसके मुँह से यह निकलेगा कि निज़ाम गवर्नमेंट ने एक सुयोग्य अधिकारी को अधिकार दान कर न्याय का सम्मान किया है।

५—पं० बलदेवप्रसाद जी, जो गुणों में अपने तीसरे भाई के समान थे।

६—पं० माधवप्रसाद जी, जो हाथरस में अपने पूर्वजों की अद्यापि मानमर्यादा अक्षुण्ण रख रहे हैं।

सुतराँ बख्शी जी के कुटुम्ब के क्या छोटे और क्या बड़े—सभी सज्जन और सुशील पुरुष हैं। प्रेम और सहानुभूति यह तो इनकी रग रग में भरी हुई है। अहङ्कार और अभिमान का दर्शन तक नहीं।

गृहागत पुरुषों का सत्कार करने में आप वैसे ही निपुण हैं, जैसा सच्चे हिन्दुओं को होना चाहिये। इस परिवार से मिलने का जिनको कभी सुअवसर मिला है, वे अच्छी तरह जानते हैं, कि बख्शी जी के स्वर्गवास होने पर भी उनके उत्तम गुण भूतल पर अवशिष्ट रह गए हैं। एक कवि कहता है, कि—

"मधुर मनोहर दरस कहाँ? अतिसय सुखकारी।
सौरभ अजहूँ छाय रही पै कुसुम! तिहारी॥"



श्रीभास्करानन्द सरस्वती जी

परमपद-प्राप्त

"कस्यापि कोऽप्यतिशयोऽस्ति स तेन लोके, ख्यातिं प्रयाति नहि सर्वविदस्तु सर्वे ।
किं केतकी फलति ? किं पनसः सपुष्पः ? किं नागवल्यपि च पुष्प-फलै-रुपेता ?।।"
—विल्हण ।

सब लोग जानते हैं कि प्रथम तो संसार में प्रसिद्ध होना ही सहज नहीं है, फिर सत्कीर्ति के साथ प्रसिद्ध होना तो बहुत ही कठिन बात है। जिनका यह सिद्धान्त है कि—

"येन केनाप्युपायेन प्रसिद्धः पुरुषो भवेत् ।"

अर्थात् चाहे जिस तरह से क्यों न हो पुरष को प्रसिद्ध होना ही चाहिये, प्रसिद्धि के लिए यदि 'रासभारोहण' करना पड़े तो वह भी सही, किन्तु ख्याति का त्याग करना ठीक नहीं। परीक्षा से जाना गया कि ऐसे लोगों पर भी प्रसिद्धि देवी की सहज में कृपा न हुई ! इसमें सन्देह नहीं कि सुप्रसिद्ध होने की लालसा प्रत्येक मनुष्य को है और इसके लिये अनेक प्रकार के उन्हें यत्न भी करने पड़ते हैं, पर सभी लोगों का यत्न सफल होता हो, यह बात नहीं है। इधर इसके विपरीत यह भी देखा गया है कि बहुत से लोगों ने प्रसिद्धि के लिए कुछ विशेष यत्न भी नहीं किया, तथापि उनकी इतनी प्रसिद्धि हुई कि जिसका पहले अनुमान करना भी कठिन था। प्रसिद्धि होना अच्छा है कि बुरा, यहाँ इस बात का विचार नहीं है, केवल यही वक्तव्य है कि प्रसिद्ध होना सौ में निन्नानवे आदमियों को इष्ट है और होता कोई एक बिरला पुरुष है ! ऐसे मनुष्य अनेक मिल सकते हैं कि जिन्होंने वित्तेषणा और पुत्रेषणा का त्याग कर कामिनी काञ्चन से मुँह मोड़ निर्जन वन में वास भी कर लिया, पर महात्मा कहलाने

की दुर्वासना को वे भी नहीं त्याग सके ! अपनी सिद्धि की प्रसिद्धि के लिए उनको भी लालायित और व्यतिव्यस्त पाया। समाचारपत्रों के संवाद-दाताओं की खुशामद करते देखा ! अपने महत्व को छिपाने वाला, महापुरुष और सिद्ध होने पर भी अपने को "तृणादपि सुनीच" समझने वाला और मानाभिलाषियों को मान देकर भी स्वयं मान को न चाहने वाला कहीं देखा, तो कोई एक बिरला ही पुरुष देखा। अस्तु, अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि प्रसिद्धि किस प्रकार होती है ? विद्वत्ता और बुद्धिमत्ता से ?—कदापि नहीं। बड़े बड़े महाविद्वान् और बुद्धिमान् पुरुषों को देखते हैं कि उन्हें कोई जानता तक नहीं और जो उनके सामने निरे घोंघाबसन्त हैं वा उनकी विद्या बुद्धि से जो परिचालित होते हैं, उन्हें सब कोई जानते और मानते हैं। इसका कारण क्या है ? विचारने पर इसका कारण वही प्रतीत होता है, जो इस लेख के शिरोभाग में लिखे हुए श्लोक में कहा है और जिसका तात्पर्य यह है कि "किसी में कोई एक विशेष (अनिर्वचनीय) गुण होता है जिससे वह लोक में प्रसिद्धि पा जाता है, बहुत पढ़ने लिखने वा सर्वज्ञ होने से भी सब कोई प्रसिद्ध नहीं होते। केतकी कभी फलती नहीं, पनस कभी फूलता नहीं और नागवल्लि के भी पुष्प फल नहीं लगते, पर तो भी अन्य फल पुष्प सुशोभित वृक्षों से उनकी इतनी ख्याति हो रही है।" वृक्षों में जो इनकी सुख्याति का हेतु है वही मनुष्य-समाज में व्यक्तिविशेष की विशेष प्रसिद्धि का कारण है।

चाहे जो हो, किन्तु इसमें सदेन्ह नहीं कि, इस समय जैसी "स्वामी भास्करानन्द जी की प्रख्याति हुई वैसी किसी दूसरे संन्यासी वा पण्डित की नहीं। इस देश के राजा महाराज ही नहीं, वरन विलायत के कितने ही अंग्रेज़ भी इनको आश्चर्य और पूज्यबुद्धि से देखने आते थे। योरप के प्रसिद्ध प्रसिद्ध यात्रियों ने जो इस शताब्दी में भारतभ्रमण करने को यहाँ आए थे अपनी अपनी यात्रापुस्तकों में प्रायः सब ही ने स्वामी जी का आश्चर्यजनक और सुन्दर वर्णन किया है।

वर्णन बहुत लोगों की समझ में केवल औपन्यासिक होने पर भी भारतवर्ष के गौरव का हेतु होने के सिवा अगौरवकर नहीं है।

उन्नीसवीं शताब्दी में स्वामी पूर्णाश्रम, महादेवाश्रम, तारक ब्रह्मानन्द सरस्वती, विश्वरूप सरस्वती, विशुद्धानन्द सरस्वती आदि काशी में ऐसे अनेक महात्मा संन्यासी हो गए हैं, जो अपनी विद्या बुद्धि और संन्यासोचित गुणों के कारण केवल विद्वन्मान्य ही नहीं, वरन देशमान्य हो चुके हैं। दूर दूर के साधारण लोग भी उन्हें श्रद्धा भक्ति से मानते थे; किन्तु उन सब में स्वामी भास्करानन्द जी के समान प्रसिद्धि किसी एक ने भी न पाई। न तो उनकी जहाँ तहाँ मूर्तियाँ पूजी गई और न अंग्रेज लोग उन्हें देखने ही आए। उनकी प्रसिद्धि भारतवर्ष के विद्वानों और हरिभक्तों तक ही रह गई और इनकी सात समुन्दर पार पहुँची! इस कहने से हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि, उन महापुरुषों में कुछ न्यूनता थी, हम केवल इतना कहना चाहते हैं कि स्वामी भास्करानन्द जी की जो इतनी सुख्याति हुई, अवश्य यह किसी जन्मान्तर के उत्कट पुण्य का फल था।

जो पुरुष इतने प्रसिद्ध हो गए कि जिनके जीवनचरित लिखने में काशी के सुविख्यात विद्वान् पण्डित श्रीशिवकुमार मिश्र शास्त्री प्रभृति ने अपनी प्रतिष्ठा, विद्या की सफलता तथा कृतकृत्यता समझी है, उनके जीवनचरित लिखने और सुनने की किसे लालसा न होगी? इसलिए आज हम भी उनका संक्षिप्त जीवनचरित प्रकाश कर निज लेखनी की कण्डूति निवारण करते हैं।

कानपुर जिले के शिवराजपुर परगने में शिवली थाने के भीतर एक मैथेलालपुर छोटा सा गाँव है। यह ग्राम छोटा होने पर भी दूर दूर तक इसलिए प्रसिद्ध है कि यहाँ के लोग प्रायः विद्वान्, बुद्धिमान् और कवि होते आए हैं। यहाँ पर पण्डित मिश्रीलाल मिश्र नाम के एक कुलीन कान्यकुब्ज ब्राह्मण हेमकर के मिश्र निवास करते थे, जिनका शाण्डिल्य गोत्र, गोभिलसूत्र, कौथुमी शाखा और सामवेद था। संवत् १८९० वि० में आश्विन सुदी सप्तमी की अर्द्धरात्रि के समय

मिश्रीलाल जी के घर एक बालक उत्पन्न हुआ, जिसका माता पिता ने मतिराम नाम रक्खा और जो पीछे से स्वामी भास्करानन्द सरस्वती के नाम से जगद्विख्यात हुआ।

बालक मतिराम के पिता कुछ साधारण सा ही लिखे पढ़े थे; किन्तु उनके नाना मणिराम चौबे जो उसी ग्राम में रहते थे, न्याय शास्त्र के एक अच्छे पण्डित थे। इसलिए दौहित्र की शिक्षा का भार मणिराम ने अपने ही हाथ में लिया और धर्मशास्त्र की आज्ञा तथा कुल की रीति से आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत करा वेद पढ़ाना आरम्भ किया। कुछ दिन पश्चात् जब देखा कि जन्मभूमि में मतिरात की पढ़ाई उत्तम प्रकार से न हो सकेगी, तव उन्हें काशी में भेज दिया, जहाँ पहुँच कर वे काव्य, कोश और व्याकरण शास्त्र में प्रविष्ट हो गए।

बारहवें वर्ष में मतिराम जी का विवाह हुआ। माता पिता के आनन्द की सीमा न रही। उनके विचार में यही आया कि मतिराम अब सब कुछ पढ़ चुका, अब उसे घर से अन्यत्र कहीं जाना न चाहिये। किन्तु मतिराम जिस व्याकरण शास्त्र का आरम्भ कर चुके थे, वह उन्हें अपनी ओर बलपूर्वक खेंचता था, क्योंकि,

"प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति ।"

इसलिए मा बाप को समझा बुझा काशी में आकर मतिराम जी ने फिर पढ़ने में मन लगाया, वर्ष दिन में आप एक एक बार घर पर आ जाते और कुछ दिन ठहर कर फिर काशी चले जाते। १७वें वर्ष में व्याकरण की यथेष्ट शिक्षा प्राप्त कर घर पर आए। अठारहवें वर्ष में उनके विवाह का फलस्वरूप एक पुत्र उत्पन्न हुआ।

मतिमान् मतिराम ने यह सोच कर कि परमात्मा की दया से माता, पिता, स्त्री, पुत्र, विद्या, धन इत्यादि का लौकिक सुख जिसके लिए राजा से रङ्क तक सब मारे मारे फिरते हैं, इस समय तक तो सब विद्यमान है; परन्तु कल्ह के दिन क्या होना है, इस

बात को कोई नहीं जानता। शरीर और विषय सुख सब क्षण-भङ्गुर हैं—

" अन्त तोहि सब तजि हैं पामर! तूं न तजे अब ही ते।"

इस प्रकार बहुत सा विचार कर १८ वर्ष की अवस्था में घर छोड़ दिया और तीर्थयात्रा के निमित्त चल निकले।

सात वर्ष तक ब्रह्मचर्य पूर्व्वक तीर्थयात्रा की। मथुरा, वृन्दावन, अवन्तिका, द्वारिका और काञ्ची आदि अनेक तीर्थों में पर्य्यटन कर श्रीहरिद्वार में आए और वहाँ पण्डित अनन्तराम जी से वेदान्तशास्त्र का अध्यन भी किया। २४ वर्ष की अवस्था में फिर उज्जैन गए और वहाँ किसी दाक्षिणात्य स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती जी से विधि पूर्वक संन्यास ले "दण्ड" ग्रहण किया, उसी दिन से आपका नाम मतिराम से 'भास्करानन्द सरस्वती जी' हुआ। तदनन्तर कई वर्ष तक गङ्गा के तीर पर आनन्द से विचरते रहे। केवल दो वर्ष तक दण्ड रक्खा अनन्तर कानपुर जिले के असनी गोपालपुर में उसका भी परित्याग कर दिया। कोपीन मात्र पास रक्खी। तब से काशी, प्रयाग, हरिद्वार, ऋषीकेश, बदरिकाश्रम इत्यादि तीर्थों में निरन्तर घूमते रहे।

एक बेर बदरिकाश्रम जाते समय अकस्मात् माता पिता और स्त्री के साथ इनका समागम भी हो गया, वे लोग भी वहीं जाते थे। इतने दिनों से बिछुड़े हुए पुत्र और पति को संन्यासीवेष में पाकर माता पिता और स्त्री की जो दशा उस समय हुई होगी, उसका पाठक स्वयं अनुमान करलें। क्योंकि यह लेखनी की सामर्थ्य से बाहर की बात है। बदरिकाश्रम से लौटते समय मार्ग ही में स्वामी जी की माता का देहान्त हो गया। दैवयोग से अन्त समय में जननी को पुत्रदर्शन का कुछ सुख मिलना था सो मिल गया।

इसके पश्चात् स्वामी जी काशी में आए और दुर्गाकुण्ड पर आनन्द बाग़ में रहने लगे। इस समय से कोपीन का भी परित्याग कर दिया, बिल्कुल दिगम्बर हो गए। जब से ये नग्न हो कर रहने लगे तब से इनकी अधिक ख्याति होने लगी। रुपया पैसा हाथ से

झूले नहीं थे, जमीन पर सोते थे, भिक्षा जो कोई ले जाता था उसकी ग्रहण कर लेते थे। धनी और निर्धन से प्रीतिपूर्वक मिलते थे, बातें बहुत करते थे, स्त्रियों के सामने और मार्ग में कमर के नीचे एक वस्त्र लपेट लेते थे, अंग्रेजों और लेडियों से यूरोपियन प्रथा के अनुसार हाथ मिलाते थे और इनके सद् व्यवहार एवं वार्तालाप से सब अंग्रेज और हिन्दुस्तानी प्रसन्न होते थे।

जो राजे महाराजे काशी जी में आते अवश्य वे स्वामी जी के दर्शन से कृतार्थ होते थे। कितने ही राजे महाराजे शिष्य हुए, जिनमें काशिराज के कुँवर और दर्भङ्गा, नागौद, अयोध्या, अमेठी, इत्यादि के नृपतियों का नाम उल्लेख योग्य है। स्वामी जी की जीविदशा में उनके नाम से अनेक मन्दिर बन गए थे, जिनमें उनकी मूर्तियों का गुरुभक्त लोग षोडशोपचार से पूजन करते थे। बहुत से लोगों का विश्वास था कि उनके पास 'करामात' है, निर्धन को धन और निःसन्तान को सन्तान देने की उनमें शक्ति है और वे भूत भविष्य की सब बातें जानते हैं; किन्तु स्वामी जी इन सब बातों को अस्वीकार करते थे। एक दिन पूछने पर उन्होंने हमसे कहा था कि "यह सब लोगों के विश्वास का फल है। हमने न किसी से करामात का दावा किया और न करने की वासना है एवं कर भी नहीं सकते" तथापि कई एक आश्चर्य घटनाएं हुई हैं कि जिनके देखने वालों के चित्त से यह संस्कार दूर होना कठिन है कि वे करामाती न थे। इस प्रकार की दो एक बातों का उल्लेख उनके चरित्र में सभी चरितलेखकों ने किया है। स्थानाभाव से हम उनको यहाँ प्रकाश करने में असमर्थ हैं, तथापि निदर्शन के लिए एक घटना का यहाँ निरूपण करते हैं।

एक बेर अयोध्यानरेश महाराज श्रीप्रताप नारायण सिंह काशी में आए हुए थे। किसी आवश्यक कार्य के लिये अयोध्या, लौट जाना चाहते थे। गाड़ी पर सब उनका सामान भी पहुँच चुका था, इसी अवसर में वे अपने दीक्षागुरु स्वामी जी से आज्ञा माँगने आए। स्वामी जी ने कहा कि "नहीं, आज तुम किसी प्रकार नहीं जा सकते, आज

F. 29

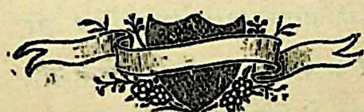
तुम्हें यहीं रहना होगा" महाराज ने बहुत कहा कि "आज के ठहरने से हमारी बड़ी हानि होगी" तथापि स्वामी जी सम्मत न हुए और अगत्या महाराज को वहीं ठहरना पड़ा। उसी रात्रि को सुना कि जिस गाड़ी में महाराज जाना चाहते थे, वह जौनपुर के पास दूसरी गाड़ी से लड़ गई। तब महाराज ने समझा कि क्यों स्वामी जी ने हमें आज रोका था ?

काशी जी में जितने यूरोपियन यात्री आते थे, प्रायः सभी स्वामी जी का दर्शन करते थे। "होटल" वालों के कहने से हो वा प्रसिद्धि के कारण से हो, किंवा देखादेखी ही हो, चाहे जिस हेतु हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि यूरोपियन लोग इनके पास बहुत आते थे। यूरप के कितने ही बड़े बड़े विख्यात राजकुमार, ड्यूक और लार्ड आकर दर्शन कर गये। हमारे भूतपूर्व सेनापति और यहाँ के लेफ्टिनेंट गवर्नर लाटूस महोदय भी एक बार इनका दर्शन करने आये थे। सुना है कि अपने एक विशेष भृत्य के द्वारा जर्मनसम्राट् ने विनय पूर्वक इनका चित्र मँगवाया था और चिकागो की महासभा में वहाँ के माननीय सभ्यों ने इन्हें निमन्त्रित किया था।

वेदान्त के अमूल्य ग्रन्थरत्न 'स्वाराज्यसिद्धि' और उपनिषदों को संस्कृत टीकाएं भी इनके नाम से सुन्दर टाइप और चिकने कागज़ पर प्रकाशित हुईं और धर्मार्थ वितरण को गईं, जिनसे अनेक लोगों का उपकार हुआ। बस विद्या सम्बन्धी कार्यों में एक यही लोकोपकारक बात है कि जिसका हम यहाँ उल्लेख कर सकते हैं। बहुत लोग कहते हैं कि यदि स्वामी जी चाहते तो बहुत कुछ परोपकार का कार्य कर जाते, संस्कृत पाठशाला वा कालिज बनाना उनके लिये कोई बड़ी बात न थी, उनकी आज्ञा होने ही से सब कुछ हो सकता था, पर हमारी समझ में यह निरी भ्रान्ति है। एक दिन स्वामी जी ने स्वयं कहा था कि, "बहुत से लोगों का विचार है कि अपनी प्रतिमा पुंजाने के लिये मैं लोगों को प्रेरणा करता हूँ और विद्या धर्म्म की उन्नति के निमित्त मैं किसी से कुछ कहता ही नहीं हूँ, पर वास्तव में यह बात

नहीं है, लोग मेरा कहा नहीं करते सब मनमानी कर रहे हैं। मैंने कई भलेमानुसों को मना किया कि वे मेरी मूर्ति की प्रतिष्ठा न करें, पाठशाला बनवावें पर मेरे इस निषेध ही को उन्होंने प्रवर्तक और निज वंश का वर्द्धक समझा! पहिले तो मैं लोगों को कहा सुना भी करता था, फिर समय का रंग देख कर उदासीन हो गया"।

संवत् १९५६ वि० में आषाढ़ कृष्णा १३शी बुधवार को स्वामी जी के शरीर में विसूचिका रोग हुआ। संवाद पाते ही दूर दूर से बड़े बड़े गुरुभक्त शिष्य आन कर उपस्थित हो गए। खूब सेवा शुश्रूषा की, किन्तु 'बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा'। तीसरे दिन रविवार की अर्द्ध-रात्रि में स्वामी जी का कैलासवास हो गया और उनकी आज्ञा के अनुसार, जो कि शरीर छोड़ने से पूर्व शिष्यवृन्द को दे गए थे, उनका शव आनन्दबाग की बारहदरी में समाधिस्थ किया गया। इनकी और स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती जी की मृत्यु के पश्चात् काशी वस्तुतः श्रीहीन हो गई। अब ऐसे स्वामी कौन हैं, जिनके दर्शनों के निमित्त दूर दूर से लोग आवें? "रंग राव दरबार के गये बीरबर साथ"।



कैलासवासी दर्भङ्गा-नरेश

मान्यवर

महाराज लक्ष्मीश्वरसिंह देव बहादुर

सी० आई० ई०

"दीनानां कल्पवृक्षः सगुणफलनतः सज्जानानां कुटुम्बी,
आदर्शः शिक्षितानांसुचरितनिकषः शीलवेलासमुद्रः।
सत्कर्ता नावमन्ता पुरुषगुणनिधिर्दक्षिणो दारसत्वो-
ह्येकश्लाघ्यः सजीवत्यधिक गुणतया चोच्छ्वसन्तीवचान्ये

(कस्यचित्)

उन्नीसवीं शतब्दि के विपत्तिसङ्कुल राजकुल में जन्म लेकर अपने तिरस्कृत सनातन धर्म्म और अपमानित हिन्दू जाति के उद्धार उपकार के निमित्त चेष्टा करने वाले, कतिपय नरेश हो गये हैं, जिनमें उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह जी, बूंदी के महाराज रामसिंह जी, काश्मीर के महाराज रणवीरसिंह जी, जयपुर के महाराज रामसिंह जी, ग्वालियर के महाराज जियाजी और इन्दौर के महाराज तुक्को जी आदि नरपति प्रधान हैं। इनमें दर्भङ्गे के कैलासवासी, बहुमान-भाजन महाराज लक्ष्मीश्वरसिंह देव बहादुर का नाम भी उनकी परोपकारवृत्ति के कारण प्रतिष्ठा के साथ लेना चहिये।

मनुष्य मनुष्य का पूज्य किस प्रकार हो सकता है ? इस बात को महाराज लक्ष्मीश्वरसिंह अपने जीवनचरित में दिखा गये हैं।

मनुष्य यदि मनुष्यमात्र का श्रद्धाभाजन होना चाहे तो परोपकार वृत्ति ग्रहण करे। केवल धन, विद्या, बल इत्यादि की अधिकता से कोई किसी का पूज्य वा मानार्ह नहीं हो सकता; वरञ्च इन सब का

प्रयोग परोपकार में किया जाय, तब कोई पूजा का अधिकारी हो सकता है।

चाहे आपके पास कुबेर के समान रत्नपूर्ण अक्षय भण्डार भी हो और वह यदि दीन दुःखित जनों के दुःख दूर करने में काम न आये तो फिर किस काम का ? समुद्र के गर्भ में और पर्वत की खान में अतुल धन भरा हुआ है, सीप के मोती यदि सीप ही में रह जायँ और सुवर्ण रजत आदि खान का धन खान ही में रह जाय, मनुष्य उसको यदि सांसारिक कार्य्य में न ला सके, तो ऐसे धन का होना न होने के बराबर है, सुमेरु सम्पूर्ण सुवर्ण का और कैलास केवल रजत का है, पर यदि उसका उपयोग किसी के उपकार में नहीं हो सकता, तो सब व्यर्थ है, आपका धन यदि परोपकार में व्यय होता है तो फिर उसका कहना ही क्या ? दरिद्रदाता की धनवान कृपण भी सदा से पूजा करते आए हैं।

आप बृहस्पति की अपेक्षा भी अधिक शास्त्रज्ञ हो सकते हैं, पर आपका ज्ञान यदि जगत् के कार्य्य में न आवे, वह यदि संसारचक्र के घुमाव की अनुकूलता न कर सके, तो आपके ज्ञान का क्या फल हुआ ? वन्ध्या स्त्री क्या कभी पुत्रवती पत्नी का स्थान पा सकती है ? पत्नी की तरह गुणयुक्त होने पर भी वह स्त्री बन्ध्या होने से स्वामी के चित्त की चिन्ता दूर नहीं कर सकती। पुत्र के बिना पत्नी, पत्नी तुल्य नहीं समझी जाती। बहुत यत्नपूर्वक लगाए और सींचे हुए वृक्ष में यदि फल उत्पन्न न हो, तो लोग उसे कुल्हाड़ी से काट कर फेंक देते हैं, इसलिए परोपकार वृत्ति ही जगत में एकमात्र पूज्य और आदृत होती है।

आप भीम से भी भयङ्कर बलवान हो सकते हैं, किन्तु आपका बल यदि जगत के उपकार में प्रयुक्त न हो, वरञ्च जगत् के उत्पीडन ही में उसका उपयोग हो, तो आपकी कौन पूजा कर सकता है ? यदि पशुबल ही जगत् में पूजार्ह होता, तो सिंह, व्याघ्र इत्यादि भयानक वनचर ही देवताओं का सिंहासन ग्रहण कर लेते; यहाँ तक

मनुष्यों की गुजर ही नहीं हो सकती। सुतरां परोपकारवृत्ति ही पूज्य होने का अधिकार प्रदान करती है।

यही कारण है कि आज सैकड़ों धनकुबेर नरपतियों के होते हुए सब लोग बंबई के परोपकारी धनी, दानवीर 'टाटा' साहब का गुणानुवाद कर रहे हैं। इसी पूज्य परोपकारबुद्धि के कारण सहस्रों जीवन्मुक्त संन्यासियों को भूल कर भारतवासी भगवान शङ्कराचार्य आदि ज्ञानियों का नाम जप रहे हैं और इसी परार्थपरा-महीयसी वृत्ति के हेतु असंख्य महावीरों को विस्मरण कर देने पर भी आर्य-जाति महाराणा प्रतापसिंह आदि परार्थपर वीरों को नहीं भूल सकी!

जो हो, परोपकारी उदार महाराज लक्ष्मीश्वरसिंह जी का जन्म सन् १८५६ ई० में ता० २५वीं मई को हुआ था। सन् १८६२ ई० के अगस्त में जब ये छठें वर्ष में थे, तब इनके पिता महाराज महेश्वरसिंह देव बहादुर परलोकवासी हो गए। बाल्यकाल ही में, कठोरकर्म्मा विधाता ने पितृसुख हर लिया!

नाबालिग़ महाराज का राज्य कोर्ट आफ वार्ड्स के अधीन हुआ और लंग साहब वहाँ के मैनेजर किए गए और महाराज की अध्यापकता पर मकनाटन साहब नियुक्त हुए। यद्यपि महाराज के अध्यापन कार्य में संस्कृत, फ़ारसी पढ़ाने के लिये देशी लोग भी नियत थे, तथापि प्रधानता इस अङ्गरेज ही के हाथ में थी। महाराज के सहोदर कुमार रामेश्वरसिंह (वर्तमान महाराज) भी सब बातों में उनके अनुगामी हुए। पढ़ना, लिखना, खेलना इत्यादि सब साथ ही साथ होता रहा।

विधवा राजमाता की इच्छा के प्रतिकूल अंग्रेज अध्यापक अपने साथ इन्हें बनारस ले गये और वहाँ पर 'कीन्स कालेज' में ये भर्ती किये गए। मकनाटन के पीछे अलकजेंडर और उसके पश्चात् कर्नल मनी अध्यापक हुए और उन्होंने अपनी जातीय रीति के अनुसार अंग्रेज़ी शिक्षा के साथ साथ क्रिकट आदि के खेल भी सिखाये और फिर वे अपने साथ देशभ्रमण कराने के लिए भी ले

गए। अंग्रेजों का इतना साहचर्य होने पर भी महाराज के धर्म्म-भाव में कुछ भी अन्तर न पड़ा। इसका कारण केवल यही न था कि इनके सुयोग्य पितृव्य धर्म्मिष्ठ बाबू गुणेश्वरसिंह जी साथ रहते थे, प्रत्युत इनकी सदा से वासना भी विजातीय भाव के प्रतिकूल और स्वजातीय के अनुकूल थी।

महाराज का धर्म्मभाव बालकपन ही से प्रगट होने लगा था। वे अपनी माता को दुर्गापूजा करते और माला जपते देखकर स्वयं उसका अनुकरण करते और मिट्टी के खिलौने को देवमूर्ति के तुल्य पूजते थे। कहते हैं कि जब उनकी तीन चार वर्ष की अवस्था थी तब एक दिन पिता को सायं सन्ध्योपासन करते देख लिया और उसी दिन से अनुकरणकर्ता बालक लक्ष्मीश्वरसिंह चुपके चुपके नासिका पकड़ प्राणायाम की नक़ल करने लगे। पुत्र की इस क्रीड़ा से पिता माता को अपार आनन्द होता था। ऐसे धर्म्मानुरागी बालक के हृदय पर विजातीय शिक्षा का क्या प्रभाव हो सकता था?

सन् १८७७ ई० से ज़मींदारी के कामकाज की शिक्षा आरम्भ हुई और थोड़े ही दिनों में इन्होंने अपनी धारणावती बुद्धि से इस विषय में पारदर्शिता लाभ की। सन् १८७९ ई० में गवर्नमेंट के आदेश से ये दर्भङ्गे के राजसिंहासन पर बैठाये गए। राज्यप्राप्ति के थोड़े ही दिनों पश्चात् दोनों भाइयों में दैवदुर्विपाक से खटपट हुई, जिसका परिणाम यह हुआ कि कुमार रमेश्वरसिंह जी को अपनी जन्मभूमि से हाथ धो ज्वाइंट मजिस्ट्रेट बनकर छपरा आदि में कष्ट के साथ निर्वाह करना पड़ा!!

इस खटपट में किसका अपराध था?—इस घरूभेद की आलोचना करना क्षुद्रकाय सुदर्शन की सामर्थ्य से परे है। हम यह कल्पना कैसे करें कि, धर्म्मात्मा और दयालु महाराज लक्ष्मीश्वरसिंह जी, अधिकार पाकर प्राणोपम सहोदर के साथ उचित बर्ताव करने में सङ्कोच करते होंगे, और यह कैसे कहें कि पितृतुल्य ज्येष्ठ सहोदर और महाराज के प्रति कनिष्ठ किन्तु विशेषज्ञ रमेश्वरसिंह जी सन्मान

प्रदर्शन करने में त्रुटि करते होंगे, इसलिए ऐसे स्थल पर यही कहना समुचित है कि— "दैवमेवात्रकारणम्"

परमात्मा की त्रिगुणात्मिका सृष्टि में जहाँ ऐसे स्वार्थकदर्य लोगों की कि जो दो पुरुषों के विद्वेष को निज स्वार्थसिद्धि का सहापर्व समझते हैं, न्यूनता नहीं है, वहाँ ऐसे महापुरुष लोगों का भी अभाव नहीं है, जो दो फटे हुए चित्तों को देख ही नहीं सकते और जिनको भगवान् ने भग्न हृदय की चिकित्सा करने के लिए पीयूषपाणि धन्व-तरी के तुल्य सत्यसङ्कल्प और अमोघ कार्य बनाया है। ऐसे ही सत्पुरुषों में से उस समय बङ्गाल के लेफ्टिनेंट गवर्नर सर एशली ईडन साहब थे, जिन्हें दो भाइयों का वैमनस्य बहुत अनुचित जान पड़ा। इसलिए उन्होंने सन् १८८१ ई० में बीच में पड़कर राज्य से बछोर परगना रमेश्वरसिंह जी को दिला परस्पर मेल करा इस कहा-वत को मिथ्या कर दिखाया कि—"टूटे पीछे फिर जुड़े गाँठ गठीली होय"। कारण कि दोनों भाइयों में फिर पूर्ववत् वैसी ही प्रीति हो गई, मानों इनमें कभी वैमनस्य की गन्ध भी न थी।

भारत गवर्नमेंट से जितना सन्मान महाराज लक्ष्मीश्वरसिंह जी ने पाया उतना इस राज्य के पहिले अधिकारियों को नहीं मिला था। गवर्नर-जनरल की कौंसल के सभ्य होने के अतिरिक्त जी० सी० आई० का सर्वोत्तम पद भी इनको प्राप्त हुआ था। भारतवर्ष के सभी वाइसराय इन्हें अपना सच्चा मित्र और गवर्नमेंट का पक्का शुभचिन्तक समझते थे और आवश्यक समय पर इनकी सम्मति ग्रहण करते थे। समय समय पर इनके दान और उत्तम कार्यों की प्रशंसा गवर्नमेंट गज़ट द्वारा होती रही।

सनातनधर्म्म के आप केवल मौखिक पक्षपाती न थे और न इसके द्वारा अपना यश बढ़ाना ही चाहते थे। दक्षिण, उत्तर, पूर्व, पश्चिम, जहाँ कहीं मार्के की बात होती, वहीं पर धर्म्मात्मा हिन्दुओं को गुप्त दान द्वारा सहायता करते। जब कभी कोई दुर्भाग्यवश निर्दोष ब्राह्मण वा संन्यासी न्यायालय में अभियुक्त हुआ और उसकी निर्दो-

षता का प्रमाण महाराज तक पहुँचाया गया, तो उसकी अच्छी तरह सहायता की गई। क्या महामण्डल और क्या काँग्रेस, ऐसी कोई सभा नहीं, जिसने महाराज से सहायता न पाई हो और उनको अपना प्रेसीडेंट बनाना न चाहा हो। काँग्रेस कमेटी ने उनको प्रेसीडेंट बनाने के लिए कई बार प्रस्ताव किया। किन्तु महाराज ने धन्यवाद पूर्वक लौटा दिया। इसका कारण यह न था कि ऐसा करने में उन्हें राजपुरुषों का डर था, नहीं, कर्तव्यपालन के समय वे किसी से डरने वाले न थे। किन्तु प्रेसीडेंट के द्वारा प्रसिद्धि पाना और यश बढ़ाना उस पुण्यात्मा को इष्ट न था। इसलिए जब महामण्डल के सभ्यों ने उनको सभापति बनाना चाहा तब प्रकारान्तर से इस बात को टाल गए।

पूज्यपाद स्वामी श्रीविशुद्धानन्द सरस्वती जी के आप अनन्य-भक्त थे और लोगों का विश्वास है कि महाराज के ऐसे उत्तम विचार होने का मुख्य हेतु स्वामी जी महाराज का उपदेश था। उन्हींके उपदेश से काशी में दर्भङ्गा-पाठशाला प्रतिष्ठित की और उन्हींके उपदेश से अन्य प्रकारों से भी विद्वानों का सत्कार किया करते। काशी का वेदविद्यालय भी उनके उत्तम ऋण का ऋणी है। महाराज का जब कभी काशी में आगमन होता तब विद्वान और विद्यार्थियों के मुखारविन्द खिल उठते। क्योंकि काशी में केवल वे चिउँटी मारने वा सैर करने के लिये नहीं, वरञ्च दान पुण्य करने के निमित्त आते थे। दर्भङ्गे में दूर दूर के विद्वान् आया करते और वे केवल धन ही से नहीं, इन की शिष्टता और नम्रता से भी सन्तुष्ट होकर लौटते थे। अपने श्रोत्रियकुल के शुभ्र यश पर उन्होंने अर्थपराङ्मुखता का कभी धब्बा नहीं लगने दिया।

इतने बड़े महाराज में यदि कुछ अभिमान था, तो वह ब्राह्मणपन का था। क्योंकि वह भली भाँति जानते थे कि त्रिलोकी की सम्पत्ति ब्राह्मणत्व के समक्ष अति तुच्छ है। एक बार किसी कारण महाराज को गवर्नर जनरल के साथ एक मकान में ठहरना पड़ा। महाराज

के साथ उस दिन कोई ऐसा श्रोत्रिय ब्राह्मण न था जो वह भोजन बना देता। इसलिए अपने हाथ आप ही भोजन बनाने लगे। संयोग से उसी समय गवर्नर-जनरल ने इनको याद किया तो मालूम हुआ कि आप अपने बंद कमरे में रसोई बना रहे हैं। वाइसराय ने जब रसोई बनाने का कारण पूछा तो महाराज ने कहा कि 'राजा हुआ तो क्या, अखिर तो मैं ब्राह्मण हूँ'। कहते हैं कि इस घटना का प्रभाव वाइसराय के चित्त पर बहुत पड़ा था।

हिन्दूधर्म्मद्वेषियों की महाराज कभी परवाह नहीं करते थे, चाहे वे कितने ही बड़े आदमी क्यों न हों और न ऐसे हिन्दुओं ही की जो निरर्थक हिन्दू नाम को बदनाम कर रहे हैं। एक बार बड़े तीव्र शब्दों में अपना ऐसा ही आशय प्रकट किया था। ब्रह्मसमाजियों के दल को दमन करने के लिये कई उपदेशकों को नियुक्त किया था और पण्डित शशधर तर्कचूड़ामणि और स्वामी कृष्णानन्द प्रभृति को सहायता दी थी। महामण्डल के महोपदेशकों को स्वर्णपदक दिये थे और भी बहुत कुछ करना चाहते थे, परन्तु धर्म्मध्वजियों के चरित्र से उन्हें परितोष न हुआ। प्रसिद्ध पण्डिता रमावाई और कृष्णानन्द इत्यादि ने, जिनको महाराज से सहायता मिली थी, अन्त में अपनी और अपने समाज की धूल उड़ाई।

जयपुर के वर्तमान महाराज 'दुर्भिक्षकोष' को स्थापन कर सब से बड़ाई पाचुके हैं, वास्तव में वे हैं भी इसी योग्य, किन्तु स्वर्गीय दर्भङ्गाधिप ने जितना द्रव्य गत कई एक दुर्भिक्षों में व्यय किया है, उतना कदाचित् ही किसी ने किया होगा। उनका दान पुरानी चाल का सात्विक दान था। इस कारण समाचारपत्रों को उसका समाचार बहुत कठिनता से मिलता था। पर तो भी इस दानवीर की महिमा का सर्वत्र उद्घोष होता था।

बहुधा यह देखा गया है कि पक्के सनातन धर्म्मावलम्बी में नई चाल के समाज-सुधारकों की श्रद्धा नहीं होती, किन्तु महाराज में ये लोग भी बड़ी श्रद्धा रखते थे। एक बार लेजिसलेटिव कौंसिल के

सभ्यपद निर्वाचन के समय बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की और इनकी समान ही सम्मति संख्या आई। उस समय देशहितैषी सुरेन्द्रनाथ ने कहा कि 'महाराज का प्रतिद्वन्द्वी कोई देशहितैषी नहीं हो सकता, मैं इस बार सभ्य नहीं होना चाहता' और अन्त में ऐसा ही हुआ।

स्वामी विशुद्धानन्द जी पर महाराज की कहाँ तक श्रद्धा भक्ति थी वह इसीसे समझ लीजिये कि एक समय स्वामी जी ने दर्भङ्गा पाठशाला के एक महाविद्वान् अध्यापक को एक दुर्व्यवस्था देने के हेतु पदच्युत कर दिया। इस पर उसने महाराज के बहुत कुछ कान भरे, पर उन्होंने यही कहा "स्वामी जी के किये के विरुद्ध हम नहीं कर सकते।" जब स्वामी जी बीमार होते तब प्रति दिन तार के द्वारा उनकी ख़बर पूछते। यद्यपि दर्भङ्गा राजकुल की रीति के अनुसार राजमाता ही पुत्र को मन्त्रोपदेश करती है, तथापि दीक्षाविशेष और अलौकिक श्रद्धा के कारण महाराज स्वामी जी को परमगुरु मानते थे और उनकी भी इन पर अति कृपा और ममता थी। जिसने कभी स्वामी जी और महाराज का समागम देखा है वही जान सकता है कि उसमें कैसा अपूर्व आनन्द था। मानों योगिराज याज्ञवल्क्य और तत्त्वदर्शी जनक का समागम होता था। जिस दिन महाराज का परलोकवास हुआ और तड़ित्संवाद इस दुस्संवाद को ले स्वामी जी के पास पहुँचा, उस दिन "सुदर्शन" सम्पादक भी वहाँ थे। स्वामी जी ने उनकी ओर देखकर, एक लंबी साँस ले कहा था कि—

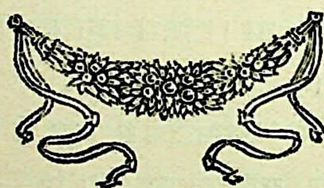
"लक्ष्मीर्यास्यति गोविन्दे वीरश्रीर्वीरमेष्यति।
गते मुञ्जे यशःपुञ्जे निरालम्बा सरस्वती॥"

इस अवसर पर स्वामी जी का 'निरालम्बा सरस्वती' कहना कितना मर्मस्पर्शी था इसको वही कह सकते हैं, जिन्हें यह ज्ञान हो कि काशी की विशुद्ध सरस्वती से महाराज का कितना सम्पर्क था।

जो हो, ता० १७ दिसंबर सन् १८९८ ई० को ४१ वर्ष की अवस्था में दर्भङ्गा के निस्सन्तान महाराज लक्ष्मीश्वरसिंह देव इस लोक में अपनी अक्षयकीर्ति छोड़ भूतभावन कैलासनाथ के समीप

दिव्यधाम में पहुँचे। उनकी मृत्यु पर भारतवासियों ने जो खेद प्रकाश किया वह सब उचित था। ऐसे महापुरुष की मृत्यु का शोक तब तक नहीं मिट सकता, जब तक कोई वैसा ही कल्पवृक्ष, सज्जनों का कुटुम्बी, शिक्षितों का आदर्श, सुचरित की कसौटी, शीलवेला का समुद्र, सत्कर्ता, श्लाघ्य, सजीव पुरुष (जैसा इस निबन्ध के ऊर्द्धभागस्थ श्लोक का आशय है) दिखाई न दे।

दर्भङ्गे के भ्रातृभक्त महाराज से हमारी प्रार्थना है कि वे उक्त महाराज का एक वृहत् जीवनचरित प्रकाश करा दें, तो उनकी और उनके वंश की विशेष सुख्याति हो और प्रजा को उत्तम शिक्षा मिले।



लाला श्रीनिवासदास जी

"ते धन्यास्ते महात्मानो तेषां लोके स्थितं यशः ।
यैर्निबद्धानि काव्यानि ये च काव्येषु कीर्तिताः ॥" (कस्यापि)

"वे धन्य हैं, वे महात्मा हैं! और उन ही का संसार में यश स्थिर रहता है जिन्होंने या तो काव्य निर्माण किये या जो काव्यों में वर्णन किए गए।" किसी कवि का यह उपर्युक्त वाक्य बहुत यथार्थ है। कारण कि लक्ष्मी का कृपापात्र वा धनवान् होना इतना कठिन नहीं है जितना सरस्वती जी का कृपाभाजन वा विद्वान् होना है। अनेक प्रकार के अनर्थों से दूसरे का उपार्जित धन छीन कर लोग धनवान् होना चाहें तो हो सकते हैं, कोठियाँ खोल कर वे उसी प्रकार व्यापार कर सकते हैं जिस प्रकार सतपीढ़िए साहुकार करते हैं; किन्तु कोई कवि बनना चाहे तो वह सहज में नहीं बन सकता। काव्यज्ञ की शिक्षा और अभ्यास आदि के होने पर भी शक्ति के बिना कोई कवि नहीं हो सकता। सुतरां कवि होना यह किसी उत्कट पुण्य का फल है। क्योंकि जिस यश के लिये लोग समराङ्गण में प्राण तक त्याग देते हैं और स्त्रियाँ सर्वस्व छोड़ चिता पर चढ़ जाती हैं, अनेक प्रकार के कष्टों को झेल जो धन प्राप्त किया उसे भी मिट्टी की तरह फेंकने लगते हैं, वह काव्य द्वारा कवियों को अनायास प्राप्त होता है अथवा कविजन जिनका अपने काव्य में वर्णन करें।

भारतवर्ष में सहस्रों ही ऋषि हो गए किन्तु व्यास, वाल्मीकि के सदृश औरों का नाम नहीं हुआ और रघुवंश में सहस्रों नरेशों के होने पर भी उन ही का यश वा नाम, जिनका वर्णन कविकुलगुरु भगवान् वाल्मीकि जी ने अपने "पौलस्त्यवध महाकाव्य" में किया

है, अवशिष्ट है। ऐसे महात्मा लोगों का नाम क्यों न शेष रहे जो अपने बुद्धिबल से दूसरों के नाम और यश की रक्षा करने में जीवन व्यतीत करें। सच है, ऐसे ही परोपकारी महात्मा धन्यवाद के पात्र हैं। प्रायः कवि या काव्यरसिक धनाढ्य नहीं होते—लक्ष्मी और सरस्वती की कृपा एक पुरुष पर होना कठिन है, यह विवाद बहुत काल से है; किन्तु आज हम जिसका चरित्र वर्णन किया चाहते हैं यह वह पुरुष है, जिस पर रत्नाकर-नन्दिनी और हंस-वाहिनी की समानभाव से कृपा हुई थी। यह और कोई नहीं, हिन्दी भाषा के प्रसिद्ध सुलेखक वैकुण्ठवासी लाला श्रीनिवासदास जी हैं।

लाला श्रीनिवासदास जी का जन्म संवत् १९०८ में कार्तिक सुदी १ के दिन माहेश्वरी अजमेरा वैश्य जाति में हुआ। इनके पिता मंगीलाल जी जगत्प्रसिद्ध मथुरावाले सेठ लक्ष्मीचन्द जी के प्रधान मुनोब थे। मंगीलाल जी के तीन पुत्र हुए—१म, लाला नारायणदास जी—२य, लाला श्रीनिवासदास जी और ३य, लाला वद्रीदास जी। लाला श्रीनिवासदास जी के पिता यद्यपि सेठ जी के मुनीब कहलाते थे; तथापि वे कुछ विलक्षण मुनीव थे, उनके अधिकार एक प्रभावशाली कूटनीतिज्ञ अथच स्वामिभक्त मन्त्री के समान थे। सेठ जी की आज्ञा चाहे टल जाय, पर मुनीब जी की बात में कुछ फेरफार नहीं हो सकता था। मुनीब जी की बात तो अलग रही, इनके ज्येष्ठ पुत्र लाला नारायणदास जी का भी थोड़े ही दिनों में ऐसा दवदबा मथुरा में हो गया था कि क्या मजाल कोई इनके विरुद्ध चूं भी करे। सेठ लक्ष्मणदास जी लाला नारायणदास जी के हाथ की कठपुतली थे। राजकर्मचारियों में लाला नारायणदास की पूछ थी और पिता कोठी के मालिक थे। सेठ जी पूजा पाठ करने और गाने बजाने तथा मौज उड़ाने ही में मस्त थे। जो हो, लाला श्रीनिवासदास जी प्रतापी पिता के प्रेम और सुयोग्य सहोदर के स्नेह से परिवर्द्धित हो सुशिक्षित हुए थे। लौकिक उन्नति करने में मनुष्य को जिन बातों की अपेक्षा होती है, सौभाग्य से इन्हें वे स्वतः

प्राप्त थीं; किन्तु उन सब को बनाए रखने की चिन्ता जिस प्रकार इनके पिता और भ्राता को सर्वदा घेरे रहती थी, उसी प्रकार उसने आपके चित्त में भी प्रवेश कर लिया था। दिल्ली की कोठी का आपने उस छोटी अवस्था में, जिसमें इतर युवक आमोद प्रमोद के अतिरिक्त कुछ करते ही नहीं, प्रबन्ध कर दिखाया। जो अन्य किसी से उसके पूर्व हो ही न सका था। पंजाब गवर्नमेंट ने इस बुद्धिमान् वैश्य-कुमार को अपना दरबारी और दिल्ली का म्युनिसिपल कमिश्नर तथा आनरेरी मजिस्ट्रेट बनाया। इस समय दिल्ली में अपनी योग्यता से आप सब के प्रेमपात्र हो गए थे और हिन्दुओं के मुखियाओं में आपका नाम ससम्भ्रम लिया जाता था। इनका अन्य सेठों की अपेक्षा सर्वसाधारण के लाभ की ओर विशेष ध्यान था और इस विषय का उद्योग भी करते थे।

महाजनी कार्य में आप बड़े ही चतुर थे, दिल्लीवालों की कोठी के तो आप प्रधान थे ही परन्तु समय समय पर और कोठियों को भी सम्हाल करने जाया करते थे। स्वभाव के इतने अच्छे और गुणग्राही थे कि एक नामी पण्डित ने आप से मिल कर कहा था कि लाला श्रीनिवासदास जी गुणहीन और धनतृप्त वैश्य लोगों को सचेत करने और उनका कलङ्क धोने के लिये मानों कोई भगवत् पार्षद अवतीर्ण हुए हैं। यद्यपि आप पक्के श्रीवैष्णव थे, भगवान् के ऐकान्तिक और भागवतों के दासानुदास थे, तथापि आजकल के जड़-बुद्धि श्रीवैष्णवों में जो प्रायः साम्प्रदायिक सङ्कीर्णता पाई जाती है, इनमें उसका लेश न था। सच्चे श्रीवैष्णव का क्या कर्तव्य होना चाहिये इसको आप भली भाँति जानते थे। वैकुण्ठवासी पण्डित प्रताप-नारायण मिश्र का यह कहना कि "लाला श्रीनिवासदास महोदय विद्या, बुद्धि, धन, प्रतिष्ठा, सहृदयता, रसज्ञता, व्यवहारकुशलता, देशभक्ति, ईश्वरभक्ति, धर्मदार्ढ्य इत्यादि सद्गुणों में यदि सर्वोपरि नहीं तो एक उत्कृष्ट श्रेणी के पुरुष हैं," कुछ मिथ्या न था। बड़े बड़े कार्यभार होने पर भी देशभाषा की जितनी सेवा इन्होंने की वह

हमारे स्मरण करने और वैश्य वंशोद्भव लोगों के उदाहरण योग्य है। विशेषतः उन लोगों में रहकर जिनमें 'आहार निद्रा भय मैथुनं' की उपासना के सिवाय और बातों की ग्राहकता ही नहीं, ऐसा कर दिखाना भारत की कृती सन्तान का कार्य है।

जब कोई महाप्राण पुरुष किसी गुरुतर कार्य्य को सम्पन्न करने के लिये पृथ्वीतल पर जन्म लेता है, तब उसके साथ ही उसकी विभूति भी उपस्थित होती है। षोड़श-कला-पूर्ण भारतेन्दु का जिस समय मातृभाषा के सन्तप्त हृदय को सुशीतल करने के लिये भारताकाश में उदय हुआ, उस समय उनके साथ भी कुछ पुरुषों की विभूति प्रगट हुई थी। लाला श्रीनिवासदास जी भी उन्हींमें से एक थे। यदि भारतेन्दु जी का अकालग्रास न होता, यदि लाला श्रीनिवासदास जी असमय वैकुण्ठ-वासी न होते, यदि पण्डित सदानन्द मिश्र और पण्डित प्रतातनारायण मिश्र भूलोक परित्याग में सत्वरता न करते और यदि भारतेन्दु की सेना के अवशिष्ट वीर शस्त्र त्याग कर निज जीवन के शेष दिन निर्जीव की नाईं पूरे न करते, तो यह कभी सम्भव न था कि, हिन्दीभाषा की अभी तक ऐसी दशा रहती। यदिच, कुछ दिनों से अब कृतविद्य लोगों का मातृभाषा की ओर ध्यान हुआ है, तथापि यह उस त्रुटि के जो उक्त लेखों के अभाव से हुई, पूर्ण करने में कहाँ तक समर्थ हैं, यह निर्णेय है।

जो हो, लाला श्रीनिवासदास जी एक उत्तम ग्रन्थकार थे, इनके ग्रन्थ जो हमारे देखने में आये वे ये हैं—

१—तप्तासंवरण (नाटक)

२—संयोगता स्वयम्बर (नाटक)

३—रणधीर प्रेममोहनी (नाटक)

४—परीक्षागुरु (उपन्यास)

तप्तासंवरण एक पौराणिक उपाख्यान के आधार पर लिखा गया है, यह श्रृङ्गार रस का एक छोटा रूपक है, इसमें नाटकत्व की रक्षा न होने पर भी यह अपनी ललित भाषा और बोलचाल के कारण प्रशं-

सित है। यह उस समय की रचना है, जिस समय हिन्दी में दो के सिवा तीसरा नाटक ही दिखाई न देता था। लाला श्रीनिवासदास जी ने इसे हरिश्चन्द्र मेगजीन में निकाला था। पीछे से पं० राधाचरण गोस्वामी द्वारा पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। तप्तासंवरण को देख कर कई बुद्धिमानों ने अनुमान कर लिया था कि किसी समय इसके ग्रन्थकार एक अच्छे नाटककार हो सकेंगे।

संयोगता स्वयम्बर में राठौर-नन्दिनी जयचन्द्र दुहिता संयोगता के उस स्वयम्बर का, जिसमें चौहान-कुल-चूड़ामणि महाराज पृथ्वीराज ने अपने बाहुबल से प्रचण्ड प्रतिद्वन्द्वी का दर्पदलन कर उसकी तनया का पाणिग्रहण किया था और जिसके विषम परिणाम का फल आजतक भारतवर्ष को भोगना पड़ता है, दृश्य दिखाया गया है। इसमें शृङ्गार और वीर रस दोनों का एक जगह सन्निवेश है। प्रेम और नीतिपूर्ण वाक्यों से यह नाटक अलङ्कृत है। ग्रन्थकार किस पाये के मनुष्य थे यह इसके विषयनिर्वाचन ही से जान पड़ता है। भारतेन्दु जिस महामन्त्र के उपासक थे, लाला श्रीनिवासदास भी उसमें दीक्षित हो चुके थे। जो हो, इस नाटक में अनेक गुण रहने पर भी कई दोष रह गये हैं, पात्रों की अनेक अस्वाभाविक बातें सहृदयों के चित्त में चुभती हैं, संयोगता और पृथ्वीराज के प्रथम समागम में मद्यपान का समावेश देख, हिन्दी के कई समाचारपत्रों ने पुस्तक की तीव्र समालोचना की थी। रणधीरप्रेममोहनी हिन्दी भाषा में अपने ढंग का एक ही नाटक है। यह न पौराणिक है और न ऐतिहासिक है, केवल नाट्यरचना-कुशल लाला श्रीनिवासदास जी की परिपक्व प्रतिभा का अमृतमय फल है। हिन्दी भाषा में कविकल्पनाप्रसूत सुरुचिसङ्गत यही एक नाटक है। नाटक में जो गुण होने चाहिये प्रायः वे सब ही इसमें हैं। जो यश राजा लक्ष्मणसिंह जी ने शकुन्तला के अनुवाद से प्राप्त किया था, कहते हैं कि, उसके लगभग लाला श्रीनिवासदास को इसकी रचना से मिला। इसकी उत्तमता का एक यह भी प्रमाण है कि यह गुजराती और उर्दू में अनुवादित हो खेला गया था।

परीक्षागुरु एक उपदेशपूर्ण उपन्यास है। भाषा इसकी विशुद्ध, ओजस्विनी, किन्तु पण्डितपाठ्य है। अनेक प्रकार की हिन्दी-बोल-चाल का इसमें नमूना है। यह उपन्यास किसी उच्चकक्षा में पढ़ाए जाने के योग्य है। घटना वैचित्र्य जो उपन्यास का जीवन है, उसकी मात्रा इसमें अति स्वल्प है। इसलिए आजकल के चित्ताकर्षक कौतुहलवर्द्धक उपन्यासों के सामने यह अलङ्कृत पर जीवनहीन उपाख्यान विशेष प्रचार नहीं पा सका। लाला साहब ने जिस प्रकार नाटक निर्माण में निज निपुणता दिखाई थी, उसी प्रकार उपन्यास-रचना में भी वे यशःप्राप्त करना चाहते थे, पर खेद है कि, कृतकार्य्य न हो सके। प्रथम यत्न उनका निष्फल हुआ। यदि कुछ दिनों जीते रहते तो इस विषय में भी सुख्याति प्राप्त कर लेते, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं। परीक्षागुरु के विषय में वैकुण्ठवासी राजा लक्ष्मण दास जी ने पिछले दिनों कहा था कि हमारे घर की दशा प्रायः वैसी ही हुई, जैसी दूरदर्शी श्रीनिवासदास उपन्यास के व्याज से दिखा चुके थे, पर खेद है कि उस पर पहिले हमने ध्यान नहीं दिया!

लाला श्रीनिवासदास जी का कौन ग्रन्थ किस समय बना और उसमें उनकी किस कारण प्रवृत्ति हुई तथा उनके ग्रन्थों से सेठ घराने का कितना सम्पर्क है इत्यादि विषय का विचार करने के लिये एक स्वतन्त्र निबन्ध की आवश्यकता है, आशा है कि हमारी यह चेष्टा उस समय जब उक्त ग्रन्थों की समालोचना का अवसर प्राप्त होगा, पूरी होगी।

खेद है कि जब लाला श्रीनिवासदास पूर्णिमा के कलाधर के समान सर्वकलासम्पन्न हुए, तब कालराहु ने उनका सदा के लिये ग्रास कर लिया। संवत् १९४४ में चैत्र सुदी ४र्थी के दिन इनकी दारुण मृत्यु के दुःसंवाद से मातृभाषा के प्रेमियों में हाहाकार मच गया! जिसने सुना उसीने कहा, हा!! जगदीश्वर यह क्या किया!!



परमहंस श्री रामकृष्णदेव जी

का

जीवन चरित

"पुराणमितिहासश्च तथा ख्यानानि यानि च।
महात्मनां च चरितं श्रोतव्यं नित्यमेव च ॥"

अच्छे लोगों के चरित्र पढ़ने और सुनने से जैसे उन्नति के साधनों का ज्ञान होता है, वैसे ही अधोगति से बचने का अवसर मिलता है। इस लिये महाभारत में लिखा है कि "पुराण, इतिहास, आख्यान और महात्माओं के चरित नित्य सुनने चाहिए।" इस समय हम वङ्ग देश के उस प्रसिद्ध महात्मा का जीवन चरित निज मातृभाषा में संक्षेप से लिखते हैं कि जिसके निर्मल यश से न केवल भारतवासियों ही का चित्त आकृष्ट हुआ है बरन योरोप और अमेरिका के विदेशीय सज्जनों का भी मन मोहित हो रहा है। इस जगद्विख्यात महापुरुष का नाम—परमहंस रामकृष्णदेव है। इनकी —

जन्मभूमि

वङ्गाल प्रान्त के हुगली जिले में कमरपूकर नाम का एक छोटा सा गाँव है। वहीं पर ईसवी सन् १८३३ में ता० २० फेब्रुअरी अर्थात् १७५६ शकाब्द में फाल्गुण सुदी द्वितीया बुधवार को परमहंस जी का ब्रह्मकुल में जन्म हुआ था। इनके—

माता पिता

का शील स्वभाव भी प्रशंसनीय था। पिता का नाम खुदीराम चट्टोपाध्याय था और माता का नाम चन्द्रमणि देवी। चट्टोपाध्याय

महाशय सरल चित्त, धर्म्मनिष्ठ, जपपरायण, भगवद्भक्त पुरुष थे। कमरपूकर में यद्यपि बड़े आदमी वा उच्च जाति के लोग अधिक नहीं थे, तथापि जो थे, वे सब उनको देवता के तुल्य समझते थे। चट्टोपाध्याय महाशय की सुशीला और सद्गुण सम्पन्न स्त्री का ऐसा दयार्द्र स्वभाव था कि, चाहे आप क्षुधित रह जाय, पर वह किसी और को भूखा नहीं देख सकती। क्षुधातुर को देखते ही वह जो घर में पाती उसे तत्क्षण दे डालती। उसके गर्भ से तीन पुत्रों का जन्म हुआ। बड़े रामकुमार, मझले रामेश्वर और छोटे रामकृष्ण थे। इनके—

कुल देवता

भगवान् श्रीरामचन्द्र जी थे। चट्टोपाध्याय जी सर्वदा उन्हींका भजन स्मरण किया करते। एक बार जब वे गया जी गये तब कहते हैं कि वहाँ के अधिष्ठातृ देव भगवान गदाधर जी ने स्वप्न में इनसे कहा कि "तुम्हारे घर में मेरा तेज प्रगट होगा!" गयायात्रा के पश्चात् परमहंस जी का जन्म हुआ। हरिभक्त पिता ने स्वप्न की बात का स्मरण कर पुत्र का नाम गदाधर रक्खा था। पीछे से राकृष्ण नाम पड़ गया।

बाल्य काल

में परमहंस जी कुछ दुबले पतले थे। किन्तु देखने में उज्ज्वल, गौर वर्ण, सर्वप्रिय और बहुत ही मिठबोले थे। खेल कूद में ख़ूब मन लगाते थे। परमहंस जी के खेल में उन कृष्णलीलाओं की बहुधा नक़ल हुआ करती, जिनको वे एक बार कथा में सुन पाते या रासलीला में देख लेते। देवता सम्बन्धी गान वो भजन भी एक बार के सुनने से याद हो जाता और ये सुस्वर से उसे गाने लगते। परमहंस जी का स्वर लड़कपन ही से रसीला था। जैसा इन सब बातों का चाव था, वैसा ही चित्र लिखने और मूर्ति बनाने का भी था। देवी देवताओं की अनेक प्रकार की प्रतिमा लिखा करते और मिट्टी को भी बनाया करते तथा दूसरे प्रेमियों को दिखा कर उनका भाव समझाया करते।

इनके गाँव में "लाहा" नाम के किसी बङ्गाली परिवार की धर्म्म-

शाला थी। उसमें आते जाते बहुत से पथिक उतरा करते। विशेषतः जगन्नाथ जी का मार्ग इसी गाँव में से जाने के कारण, वहाँ साधु सन्तों का बड़ा समागम होता था। कौतुकाकृष्ट बालक रामकृष्ण बहुधा उन्हें देखने जाते और उनकी बातों को ध्यान से सुना करते। एक बार साधुओं की देखादेखी इस अनुकरणप्रिय बालक ने अपने कपड़े फेंक, वैसे ही लङ्गोट लगा लिया और हँसते हँसते अपने बड़े भाई रामकुमार और स्नेहमयी माता से आन कर कहा—"देखो मैं कैसा अच्छा साधु बना हूँ।" बालक का स्वांग देखकर रामकुमार हँसने लगे और माता ने उसका मुख चुम्बन किया! पर यह किसी ने नहीं जाना कि इसका यह स्वांग, स्वांग नहीं है। सच्चा रूप है। यह विरक्तभाव का अङ्कुर एक दिन अपने स्वरूप का इतना विस्तार करेगा कि जिसके आश्रय में सहस्रों सन्तप्त प्राणियों को आश्रय मिल सकेगा।

लिखना पढ़ना

लड़कपन ही से परमहंस जी को नहीं रुचा। बारह वर्ष तो खेल खेलने ही में बिता दिये फिर कहने सुनने से पढ़ने भी लगे, तो सो भी बेमन। बङ्गला भाषा भी अच्छी तरह नहीं सीखी। उनके हाथ की लिखी एक बङ्गला रामायण है, उसीसे जाना जाता है कि वे कुछ पढ़े भी थे। जिस समय इनको पाठशाला में भेजा गया था, उस समय इन्हीं-ने कहा था कि "मैं लिख पढ़ कर क्या करूँगा? इसका फल रुपया पैसा वा दो चार मुट्ठी अन्न के सिवा और क्या है? जिस विद्या का फल कनक कान्ता है उसको मैं नहीं पढ़ूँगा। मुझे ऐसी विद्या चाहिये, जिसका इनसे सम्बन्ध न हो।"

कलकत्ते के झामापूकर नामक स्थान में परमहंस जी के बड़े भाई रामकुमार चट्टोपाध्याय एक पुराने ढंग की संस्कृत पाठशाला स्थापन कर विद्यार्थी पढ़ाया करते। लिखने पढ़ने के नाम से रामकृष्ण भी वहाँ भेजे गये, किन्तु यहाँ आने पर भी इनका मन जैसा चाहिये वैसा

पढ़ने में नहीं लगा। यहाँ पड़ोस की स्त्रियां इनसे विशेष स्नेह करतीं और अनेक प्रकार के उनसे भजन सुनतीं। एक तो ब्राह्मण, तिस पर बालक, देखने में सुन्दर, मिष्टभाषी और मधुर गीत गाने में निपुण, इसलिए मुहल्ले की प्रत्येक हिन्दू स्त्री से वे समाहृत होते।

ईसवी सन् १८५३ में कलकत्ते के जान बाज़ार में रहने वाली, बिख्यात नामा, श्रीमती रासमणि दासी ने कलकत्ते में उत्तर की ओर अनुमान तीन कोस दूर गङ्गा जी के पूर्व तट पर

दक्षिणेश्वर

नामक मनोहर स्थान पर बहुत सा रुपया लगा कर, काली देवी और राधामाधव का अति सुन्दर मन्दिर बनवाया था और शूद्रवंशोद्भवा होने के कारण उसने अपने गुरु के नाम से इनकी प्रतिष्ठा कराई थी। क्योंकि वह जानती थी कि यदि उसके नाम से प्रतिष्ठा होगी तो ब्राह्मणादि उच्च जाति के लोग मन्दिर में नहीं आवेंगे। इसलिए उसने ब्राह्मण द्वारा मूर्तियों को प्रतिष्ठित किया था। इस अवसर पर परमहंस जी के बड़े भ्राता रामकुमार जी को पूजापाठ में सुदक्ष और सुपण्डित समझ कर उसने अपने मन्दिर का पुजारी बना कर दक्षिणेश्वर में भेजा और भाई के साथ परमहंस जी भी वहाँ जा पहुँचे। यही स्थान अन्त में उनकी सिद्धियों का पीठ और उन्नतियों का मूल माना गया।

शास्त्र के वाक्यों का आदर रामकृष्ण के पवित्र हृदय में इसी समय से होने लगा था। उनके बड़े भाई के साथ उनके दूसरे भाई का इस बात पर शास्त्रार्थ होता था कि "शूद्र प्रतिष्ठित मन्दिर का किसी श्रेष्ठ ब्राह्मण को अर्चक होना चाहिये कि नहीं।" छोटा उनकी अर्चकता के विरुद्ध प्रमाण सुनाता था और बड़ा भाई उन वाक्यों की व्यवस्था कर अर्चकता का मण्डन करता था। धर्म्मभीरु रामकृष्ण के चित्त पर शास्त्र के इन वाक्यों का ऐसा प्रभाव पड़ा कि प्रतिष्ठा वाले दिन जब कि दस पन्द्रह सहस्र मनुष्यों का वहाँ धूमधाम से भोजन हुआ था, उन्होंने कुछ न खाया! दिन भर उपवास कर रात को एक

दूकान से एक पैसे का मोल लेकर चबैना किया और फिर इस प्रतिज्ञा पर कि वे अपना भोजन गङ्गा तट पर अलग बना कर खाया करें, भाई के साथ रहने लगे। प्रथम भाई की उपस्थिति में सहचारी अर्चक रहे, अनन्तर राधामाधव की पूजा करने लगे और फिर रामकुमार जी के परलोकवास होने पर काली जी की पूजा में नियुक्त हुए।

पन्द्रह वा सोलह वर्ष की अवस्था में जब रामकृष्ण का उपनयन संस्कार हुआ तभी से उनके अभिभावक, परमहंस जी के—

विवाह

का निर्द्धारण करने लगे ! विवाह की बात सुन कर बालक रामकृष्ण आनन्दित हुए थे। विवाह क्या वस्तु है ! उसका प्रयोजन क्या है, इस बात को वह नहीं जानते थे। पन्द्रह सोलह वर्ष का ईश्वरानुरागी बालक इन सब बातों को क्या जाने !

रामकृष्णदेव की जन्मभूमि के समीप जयरामवाटी नामक गाँव में रामचन्द्र मुखोपाध्याय नाम के ब्राह्मण रहते थे। उनकी आठ वर्ष की लड़की श्रीमती शारदामणि से रामकृष्ण का विवाह हुआ। विवाह के पीछे जब कभी ससुराल की चर्चा चलती तब उनका वहाँ जाने को जी चाहा करता, किन्तु यह चाह भोगलिप्सु व्यक्ति की न थी, एक शुद्ध स्वभाव बालक की थी।

रामकृष्णदेव का स्वभाव पहिले ही से ऐसा था कि लिखने पढ़ने को छोड़ और जिस बात को करते खूब मन लगा कर करते।

कालीदेवी की पूजा

करते करते उनके मन में दृढ़ भावना हो गई कि उनकी और जगत की जननी एक मात्र भगवती कालीदेवी ही हैं। उनके मन में पुनः पुनः यही विचार उठने लगा कि काली जी की मूर्ति सजीव है। वह चलती है, बोलती है और समर्पित वस्तुओं को ग्रहण करती है। वह प्रहर प्रहर तक भक्तिभाव से स्तोत्र पाठ करने और गद्गद् कण्ठ से

"माँ ! माँ !! कह कर पुकारने लगे। इस समय से उनके भाव की तरङ्ग बढ़ने लगी और वह आनन्दसागर में निमग्न होने लगे। उनकी प्रार्थना का तात्पर्य यह था कि "माँ ! मुझ पर दया कर। तुमने अनेक भक्तों पर दया की है, तो क्या मुझ पर दया न करोगी ? दयामयि ! मैं शास्त्र नहीं जानता, मैं पण्डित नहीं हूँ, कुछ नहीं जानता और जानने की इच्छा भी नहीं करता, कहो तुम मुझ पर दया करोगी कि नहीं ? माँ ! मेरे प्राण जाते हैं, मुझे दर्शन दो, मैं अष्टसिद्धि की इच्छा नहीं करता, माँ ! मैं लोगों से मान भी नहीं चाहता, माँ ! मैं केवल तुम्हारा दर्शन चाहता हूँ।" आरती पूरी कर वह अकेले देवी के सन्मुख बैठ कर रोया करते और कभी खिलखिला कर हँसने लगते। जिस अकपट विश्वास और अनुराग से ईश्वर दर्शन हुआ करता है वह इस समय कृष्णदेव में दिखाई दिया। वह रात दिन माता काली के दर्शनों की चिन्ता करने लगे। अन्त को प्राण व्याकुल हो गए। जब प्राण रोने लगे, जब ब्रह्ममयी के दर्शन के लिये प्राण निकलने को तैयार हुए, जब मन जगत् की सब वस्तुओं का विसर्जन कर चुका, तब अन्तर्यामिनी कालीदेवी भी सब वृतान्त जान गई ! एक दिन रामकृष्ण देवी के सन्मुख बैठ कर "माँ ! दर्शन दे" कह कर रो रहे थे, ऐसे समय में वे अचानक—

उन्मत्त की तरह

हो गए। उनके मुख और नेत्रों पर लाली छा गई, दृष्टि वाह्य जगत् से अन्तर्हित हुई, नेत्रों से अश्रुधारा बह चली। दूसरे लोगों ने आन कर उन्हें उठाया। दूसरे दिन भी वेसुध पड़े रहे। मुख में आहार देने से कुछ खा पी लिया। शौच फिरने और लघुशङ्का करने का ध्यान तक न रहा। केवल "माँ ! माँ !!" कह कर रोने लगे। दूध पीने वाला बच्चा जैसे माता के लिये चिल्लाया करता है, वैसे ही यह भी दयामयी जगज्जननी को पुकारने लगे और दर्शन के क्षणिक आनन्द के पश्चात् बिरहावस्था से व्यथित हुए। इस प्रकार उन्मत्तावस्था में वे छः मास

रहे। तदनन्तर क्रम से दशा में कुछ समता आई। तब उनका साधन कार्य आरम्भ हुआ। वह सर्वदा कहा करते कि 'फूल के बिना फल नहीं होता, किन्तु कुम्हड़ा (पेठा) आदि के पहले फल लगता है, पीछे फूल खिलता है।" रामकृष्ण देव को प्रथम ईश्वरदर्शन और पीछे उनका साधन कार्य आरम्भ हुआ।

अभिमान वा अहङ्कार ईश्वर के मार्ग में बड़ा कण्टक है। इसलिये रामकृष्ण ने इसके दूर करने का प्रथम यत्न किया। वह काली जी से कहने लगे कि 'मा ! मेरा अहङ्कार नष्ट कर दो, मैं दीन से दीन, हीन से हीन हूँ, यही मेरी समझ रहे, क्या शूद्र, क्या चाण्डाल, क्या पशुपक्षि, सब मेरी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, यह ज्ञान मुझे सर्वदा रहे।' इस प्रकार अपने अहङ्कार को निवृत्त करने के लिये केवल प्रार्थना ही करके वह नहीं रहते थे, वरन उन बातों को भी करते थे जिनके करने में एक ब्राह्मण को तो क्या, शूद्र को भी सङ्कोच उपस्थित हो। देखनेवाले उनका तिरस्कार करते पर इससे उनके भाव में कुछ अन्तर नहीं होता। कोई कहता यह पागल हो गया, कोई समझता इसमें भूत आगया और कोई कहने लगता कि यह संस्कारभ्रष्ट है। उनके प्रेमप्रवाह के निकट बन्धुओं का उपदेश, शत्रुओं का उपहास, मन्दिर वालों की ताड़ना, टिकने नहीं पाती थी। वह अपने कार्य को जब तक पूरा नहीं कर लेते थे तब तक उसीमें दत्तचित्त रहते।

अनन्तर उन्होंने कामनी काञ्चन के त्याग में मन लगाया। सोचा कि ईश्वर की शक्ति को माया कहते हैं। इस माया ही से जगत् की सृष्टि हुई है। माता महामाया ही का स्वरूप सब स्त्रियाँ हैं। इसलिए जगत की समस्त स्त्रियाँ हमारी माता हैं। उस दिन से स्त्रियों में उनका मातृभाव हो गया। फिर बिचारा कि रुपै पैसे से अहङ्कार बढ़ने के सिवाय और क्या परमार्थ सिद्धि हो सकती है? इन सब की वसुन्धरा पृथ्वी से उत्पत्ति होती है एवं अन्त में उसी-में इनको मिल जाना है और इनका मूल्य स्थिर नहीं है, सब कल्पित है। फिर इनमें और मिट्टी में कितना अन्तर है? कुछ नहीं। द्रव्य

F. 32

सब अनर्थों का मूल है। ऐसा विचार कर उन्होंने अपने रुपये गङ्गा जी में फेंक दिये और फिर कभी उनका स्पर्श भी नहीं किया।

साधारण व्रत नियमादिक कर के परमहंस जी ने योग की ओर मन लगाया। दक्षिणेश्वर में मन्दिर के समीप ही एक बहुत बड़ा वटवृक्ष है। उसके नीचे पुष्पित वृक्ष और लताओं की एक सुन्दर कुञ्ज बनी हुई थी। उसमें गङ्गा जी की रेती बिछा कर रामकृष्ण आराधन और साधन करने लगे। एक 'तोतापुरी' नाम के संन्यासी से

संन्यास ग्रहण

कर योग सीखने में चित्त दिया। तोतापुरी जी हठयोग में तो बहुत निपुण थे, परन्तु जानते राजयोग भी थे। जो विद्या उन्होंने वर्षों में सीखी थी उसको रामकृष्ण ने थोड़े ही दिनों में उनसे सीख लिया। दिन में या रात में जब वे अपने को अकेला देखते तभी उक्त कुञ्ज में आ बैठते और अपने साधन कार्य को पूरा करते। कुछ दिनों में—

योगसिद्धि

के पश्चात् इनका शरीर स्थूल हो गया और लोग इन्हें परमहंस जी कहने लगे। जब से उन्मत्तावस्था हुई थी, तब से पूजा का कार्य करने के लिये परमहंस जी के एक आत्मीय हृदयानन्द मुखोपाध्याय नियुक्त हो गए थे; किन्तु परमहंस जी की जब कभी इच्छा होती, तब शुद्धा-शुद्धि के विचार बिना ही वे भी पूजा करने पाते; किन्तु उनकी पूजा-पद्धति मङ्गल पूजा न थी। कभी वे चँवर करते ही करते भावमग्न हो जाते और कभी घंटों ही पुष्प चढ़ाते रहते। स्तोत्रपाठ करने लगते तो उसकी भी सहज में इतिश्री नहीं होती। कभी नृत्य करते, कभी क्रन्दन करने लगते। कभी कभी उनका भाव अघोरियों जैसा देखने में आता। मल मूत्र का त्याग करने पर भी शरीर की शुद्धि का विचार नहीं होता। इसी समय से इनको भगवती का प्रत्यक्ष दर्शन बार बार होने लगा और ये अपनी शङ्काओं का समाधान स्वयं काली जी से करने लगे। यद्यपि पूर्वापेक्षा इनकी दशा अच्छी थी, तथापि बीच बीच में

भावान्तर हो जाता और ये घंटों बेसुध पड़े रहते। वैद्य वायुरोग समझ कर तन्नाशक औषध के उपयोग की व्यवस्था कराते और कोई कोई इसी रोग की निवृत्ति का उपाय स्त्रीसहावास को समझ उसका ढंग जमाते, किन्तु रामकृष्ण प्रथम ही मान चुके थे कि "स्त्रीयः समस्तास्तव देवि! भेदाः" इसलिये यह स्त्रीसङ्ग को मातृसङ्ग के तुल्य जानते थे। तथापि कई बार लोगों ने परीक्षा कर देखा, पर उनको इस विषय में अच्युत पाया। थोड़े दिनों के पीछे दक्षिणेश्वर में—

एक विदुषी ब्राह्मणी

आई। उसके मस्तक पर खुले हुए केश, शरीर पर भगवा वस्त्र और सुन्दर मुख पर तेज देखने से प्रतीत होता था कि साक्षात् जगदम्बा धराधाम में अवतीर्ण हुई हैं। रामकृष्ण ने उसे देखते ही "दयामयी मा!" कह कर पुकारा और वह भी 'प्रियवत्स' कह कर इनके निकट आई। मातृदर्शन का सुख परमहंस जी को और पुत्रलाभ का सुख ब्राह्मणी को प्राप्त हुआ। कहते हैं कि यह ब्राह्मणी शास्त्रार्थ करने में निपुण थी और तान्त्रिक अनुष्ठान की विधि ख़ूब जानती थी। बहुत दिनों तक यह परमहंस जी के पास रही और कई प्रकार के तान्त्रिक अनुष्ठान इसने उनको सिखाये।

मन्दिर की मालिकन रासमणि के जामाता—

बाबू मथुरानाथ

ही एक प्रकार उनके कार्यों के सम्पादक थे। इसलिए बहुधा मन्दिर का प्रबन्ध वही किया करते। मथुरानाथ को पहिले पहिल उक्त विदुषी ब्राह्मणी ने कहा कि परमहंस जी साधारण पुरुष नहीं हैं पर उनको उस समय विश्वास नहीं हुआ। वह लोगों के कहने के अनुसार उनको रोगी समझ कर कलकत्ते के एक प्रसिद्ध वैद्य के पास चिकित्सा कराने को लेगए। वहाँ पर उन्होंने एक अनुभवी वृद्ध वैद्य से सुना कि "यह रोगी नहीं कोई योगी है"। तब से बाबू साहब की कुछ कुछ इधर भक्ति होने लगी, परन्तु इधर परमहंस जी के कार्यों से मन्दिर

में हलचल मच गई। कारण कि जो पुष्प नैवेद्य आदि काली जी के समर्पण के निमित्त आता उसको प्रतिमा पर न चढ़ा, भावावेश में अपने पर चढ़ा लेते और नैवेद्य को खा लेते। कभी काली जी की पूजन सामग्री से बिलाई को पूजने लगते। इससे मन्दिर के तत्वावधायक ने इनका भीतर जाना बंद कर दिया, पर यह लड़झगड़ कर भीतर गए बिना नहीं रहे। इस खटपट को सुनकर रासमणि और मथुरानाथ ने द्वारपालों को नियुक्त कर दिया जिसमें परमहंस जी पूजा में गड़बड़ करने न पावें पर एक दिन मथुरानाथ ने परमहंस जी का अलौकिक स्वरूप देखकर उनको शङ्कर समझा और उस दिन से वे 'पिता जी' कह कर पुकारने लगे। रासमणि भी इनकी कई अलौकिक बातों को देखकर समझ गई कि यह कोई बड़े महापुरुष हैं और उनमें भक्तिभाव रखने लगीं। उनका मन्दिर में जाना जो बंद कर दिया गया था फिर से जारी हुआ। इधर प्रगाढ़ भक्तिभाव के साथ परमहंस जी की मनोवृत्तियाँ शान्त होने लगीं और समदर्शिता बढ़ने लगी। इस प्रकार क्रम से वह साधन दशा से आरूढ़ दशा में पहुँचे।

ईसवी सन् १८६६ में ब्रह्मसमाज के प्रचारक प्रसिद्ध बाबू केशवचन्द्रसेन जी दक्षिणेश्वर के पास एक बाग़ में आन कर रहे। परमहंस जी की स्तुति सुन कर एक दिन वे इनके पास आए और इनका ईश्वरानुराग, अत्युच्चज्ञान और दृढ़धारणा देख कर चमत्कृत हुए और इनके उपदेश से अपने को धन्य माना। बाबू केशवचन्द्र फिर तो नित्य आने लगे और कभी कभी इनको अपने बंगले पर भी ले जाने लगे। इसका यह फल हुआ कि बाबू केशवचन्द्र का विचार बदल गया और वे निराकार की शुष्क वक्तृता देने के बदले साकार ब्रह्म के अनुरागी हो गए।

सब से प्रथम बाबू केशवचन्द्र सेन ने परमहंस जी की योग्यता की प्रसिद्धि की। उनकी उपदेश-प्रणाली की प्रशंसा और कुछ उपदेशों का निदर्शन उन्होंने संवादपत्रों में प्रकट किया, जिससे कलकत्ते के सहस्रों शिक्षित स्त्री पुरुषों का वहाँ समागम होने लगा। इनके सरल

और प्रभावशाली उपदेश की बङ्ग देश में धूम पड़ गई। कितने ही नास्तिक उपदेश सुन कर आस्तिक होगए, कितने ही कठोर हृदय नम्र होगए। शिक्षित पुरुषों के हृदय में जो ब्राह्मो समाज की शिक्षा ने विष-वृक्ष बोया था वह परमहंस जी के उपदेश से निर्मूल हो गया।

ईसवी सन् १८८५ में उनके गले में

पीड़ा

हुई और होते होते वहाँ घाव पड़ गया। कलकत्ते के प्रसिद्ध डाक्टर महेन्द्रलाल सरकार जैसे वैद्यों की चिकित्सा से भी कुछ उपकार न हुआ। डाक्टर साहब ने कहा कि आप बोलना बंद कर दें तो रोग आराम हो, पर यह परमहंस जी से कब हो सकता था। वह काली जी की स्तुति और भक्तों को उपदेश निरन्तर करते रहे। समाधिस्थ होने के सिवाय वह चुप नहीं होते थे और कहते थे कि इस क्षण-भङ्गुर शरीर से किसी का जितना उपकार हो जाय उतना ही अच्छा है।

ता० १६ अगस्त सन् १८८६ की रात को दस बजे तक वे बोलते थे। अनन्तर उन्होंने ऐसी समाधि लगाई कि भक्तों के वार बार रोने से भी नहीं उतरी! कई घंटों की परीक्षा के पश्चात् शिष्यों ने समझा कि परमहंस देव ब्रह्मपद को प्राप्त हुए!!



पण्डित रामचन्द्र जी वेदान्ती

द्रुमश्छत्रं मित्रं सरलहृदयोऽयं मम मृगः, स्थली लीलाशय्या तनुतरतरुवल्किवसनम्
स्वकोषः सन्तोषः कृपयाकरुणैव प्रियतमा न संसारःकश्चिद्भवतिविभऽस्मिन्परिभवः।
(बुद्धिचरिते चेमेन्द्रः)

काल के प्रभाव से अब ऐसे ब्राह्मणों की कमी नहीं है जो अपनी विद्या बुद्धि का सारा व्यय अन्य लोगों की तरह केवल धन के कमाने, मकानों के बनवाने और स्त्री पुत्रादि के अर्थ आभरणादि करवाने ही में करते हैं। ये लोग इस बात का जरा भी विचार नहीं करते हैं कि जब पामरजनों की भाँति मरणपर्य्यन्त हम भी विषयों में लिप्त रहेंगे तब अन्य वर्णों की अपेक्षा हममें विशेषता किस बात की रहेगी? धर्म्मोपदेश केवल दूसरों को सुनाने ही के लिये नहीं है, उसका स्वयं भी आचरण करना चाहिए, इस बात को मानों वे एकदम भूल गए! छल, कपट, दम्भादि से द्रव्य संग्रह कर रईसी में नाम लिखवाना ही उनकी दृष्टि में मनुष्यजीवन की उन्नति का चरम फल है। भगवान् वेदव्यास जी ने पद्मपुराण में इनके विषय में क्या ही अच्छा कहा है। कि,—

"पुत्रस्योत्पादने दक्षा अदक्षा मुक्ति साधने, पण्डिताश्च कलत्रेण रमन्ते महिषा इवा।"

अर्थात कलियुग के पण्डित पुत्रोत्पन्न करने में तो बड़े कुशल हैं, पर मुक्ति के साधन में नहीं। इसलिए महिष के समान स्त्रियों के साथ रमण करते हैं। परन्तु ऐसे लोगों का इस दुःसमय में बाहुल्य होने पर भी ब्रह्मकुल में सच्चे ब्राह्मणों का अभाव नहीं है। अब भी ऐसे लोग पाए जाते हैं कि जो इस बात को समझते हैं कि—

"ब्राह्मणस्य शरीरोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते। कृच्छ्राय तपसे चैह प्रेत्यानन्त सुखाय च॥"

अर्थात ब्राह्मण का यह शरीर, क्षुद्रकामना के लिए नहीं है, प्रत्युत

इस लोक में कृच्छ्र और तप के लिये और परलोक में अनन्तसुख के अर्थ है।

इसी सिद्धान्त के अनुसार लाहौरनिवासी श्रीयुक्त पण्डित तीर्थराम गोस्वामी एम० ए० (स्वामी राम तीर्थ) समृद्धिसम्पन्न होने पर भी संन्यासी हो गए और इसी सिद्धान्त का अनुसरण कर "भारत-धर्म्ममहामण्डल" के माननीय महोपदेशक दिल्लीनिवासी सुप्रसिद्ध पण्डित रामचन्द्र जी वेदान्ती ने इस समय संन्यास ग्रहण कर निज जीवन का उज्ज्वल दृष्टान्त हमको दिखा दिया।

गत चैत्र मास में हम अपनी जन्म-भूमि भिवानी को जा रहे थे। चैत्र सुदी द्वितीया को दिल्ली पहुँच कर हमने सुना कि "जिसके स्थान पर सर्वदा धर्म्मचर्चा और सत्सङ्ग का ठाठ बना रहता था, जिसके उपदेश को श्रवण कर अनेक जिज्ञासु पुरुष कृतार्थ होते थे, जिसके उद्योग और सुयत्न से कितने ही सनातन धर्म्मावलम्बी विधर्मियों के चंगुल से बचते थे और जिसकी वक्तृता के प्रवाह में कलियुगी पन्थों के बेड़े अपने आरोहियों को निराधार कर जाते थे, आज वह महाभाग ब्राह्मण इस संसार को असार समझ कर संन्यास ग्रहण करने के लिए जन्मभूमि दिल्ली को त्याग हरिद्वार जाते हैं।

यद्यपि शरीर पीड़ित था, भिवानी पहुँचने में शीघ्रता भी अपेक्षित थी; तथापि अपने कृपालु आश्रयदाता के परिव्रजन वृत्तान्त को सुन कर हमसे रहा न गया। हमने वेदान्ती जी के स्थान पर पहुँच कर देखा कि दिल्ली की पण्डितमण्डली हर्ष-दुःख-समाकुल बैठी हुई है। दफ़्तरों के सत्सङ्गी और सुशिक्षित बंगाली तथा देशी बाबू लोग भी उपस्थित हैं और उपस्थित हैं दिल्ली के कई एक धर्म्मात्मा जौहरी लोग। एक कुशासन पर बैठे हुए वेदान्ती जी इस विषय का उपदेश कर रहे हैं कि 'संसार क्या वस्तु है ?' उनके उपदेश हमने अनेक वार पहिले भी सुने थे। वेदान्त के गूढ़ से गूढ़ विषय को सरलता के साथ समझाने और उसकी उपपत्ति करने में वे प्रसिद्ध थे, किन्तु आज जैसा आनन्द पहिले कभी देखने में न आया था। गृहस्थ और संन्यासी

के उपदेश में कितना अन्तर होता है, यह मानों इस विषय का उदाहरण था।

योंतो वे वर्ष दिन से बानप्रस्थ से हो रहे थे, ब्रह्मचिन्तन और तीर्थवास उनका मुख्य कार्य्य था, परन्तु बीच बीच में धर्म्मसभाओं में उपदेश करने चले आया करते, पर इस समय अपनी सब द्रव्य सामग्री और उन दुर्लभ पुस्तकों को, जिनके सञ्चय करने में केवल द्रव्य व्यय ही नहीं, प्रत्युत बहुतसा यत्न भी उन्हें करना पड़ा था, पात्र ब्राह्मणों को दे, भगवा वस्त्र धारण कर, संन्यास के लिए गृहीतदीक्ष हो चुके थे। केवल प्रैषोच्चारण की न्यूनता थी, इसीके लिए उसी दिन, रात की गाड़ी से श्रीहरिद्वार की यात्रा की।

जो जन्मभूमि स्वर्ग से भी बढ़ कर लोक और शास्त्र में कही गई है, जिन बालसंघाती मित्रों की उपमा स्वर्ग के देवताओं के साथ की जाती है, जिन सज्जनों के साथ आयु के तीन भाग आमोद प्रमोद में बिताए थे और जो पोष्य लोग सुख दुःख के साथी हो रहे थे, उन सब के स्नेह को तृणतुल्य परित्याग कर दिया; यह भी न देखा कि कौन रो रहा है और कौन उदास हो रहा है! यात्रा के समय दिल्लीनिवासी सज्जनों की कातरता देख, धीरता से उपदेश देते और सब को समझाते बुझाते चले गए।

हरिद्वार में पहुँच कर कुम्भपर्व के दिन महात्मा स्वामी श्री ६ विमलानन्द तीर्थ जी से संन्यास ग्रहण कर लिया और पैतृक सम्पत्ति के समान पुराने नाम का भी मोह छोड़, गुरुचरणों से "मग्नानन्द तीर्थ" का योगपट ग्रहण कर दण्ड धारण किया।

दिल्ली के दरीबे में उसी प्रकार लेन देन और वाणिज्य व्यापार हो रहा है, किन्तु सनातन धर्म्म की ओर से सन्नाटा हो गया। विद्यार्थियों का पठन पाठन, वेदान्त का श्रवण मनन और धर्म्माधर्म्म का मण्डन खण्डन सब वेदान्ती जी के साथ ही गया! लोग उधर जाते हैं और उस विभूतिहीन स्थान को संतृष्ण दृष्टि से देख कर चले आते हैं। "वही प्रफुल्लित लताकुञ्ज ऋतुराज, वही तट की शोभा। किन्तु

राधिकाकान्त बिना सजनी, चित में खटकी शोभा" अस्तु, पहिले जो महात्मा दिल्ली के दरीबे की शोभा थे, अब उनसे भागीरथी का तट शोभित हो रहा है। सृष्टि का नियम यही है, कभी नगर में कीतन होता है, तो कभी जंगल में मङ्गल होने लगता है। यहाँ पर हम उनकी वर्तमान स्थिति का निरूपण न कर, उनकी शिक्षामयी संक्षिप्त जीवनी प्रकाश करते हैं, जिससे पाठक जन यह जान लें कि, वेदान्ती जी ने अपनी यहाँ तक उन्नति किस प्रकार की।

वेदान्ती जी के पिता

श्रीयुत पण्डित मन्नीराम जी पटियाले के राज्य में कानोड नगर के रहने वाले थे, उनका यजुर्वेद, माध्यान्दिनी शाखा, कात्यायन सूत्र, शाण्डिल्य गोत्र और तिवारी भट्यावाल शासन था। गौड़ ब्राह्मण जाति में यद्यपि कन्यकुब्जों की तरह छुटाई बड़ाई की निर्दिष्ट श्रेणियाँ नहीं होतीं, तथापि गुण और संपत्ति के कारण गौड़ों में भी कुटुम्ब विशेष की प्रतिष्ठा होती है। पण्डित मन्नीराम जी का कुल इसी हेतु प्रतिष्ठित समझा जाता था। संयोग से वे अपनी ननिहाल (झझर जिला बुलन्दशहर) में संस्कृत पढ़ते थे और मुनीमी भी करते थे। आजीवन के निमित्त उन्होंने दिल्ली को अपना निवासस्थान बना लिया था। वहीं पर अपनी वृद्धा माता और धर्म्मपत्नी श्रीमती राधा देवी सहित रहते थे। दम्पति के परस्पर प्रेमानुरक्त रहने पर भी बहुत दिनों तक उनका घर विषादपूर्ण ही रहा। कारण कि गृहस्थ को आनन्दमय करने वाले उनके कई लड़के और लड़कियां हुईं, परन्तु जीवित नहीं रहीं। माता को केवल प्रसवपीड़ा पहुँचा कर, लड़कपन ही में सब गोद खाली कर गईं। कहते हैं कि इसी समय एक महात्मा संन्यासी ने उनसे सन्तान गोपाल का अनुष्ठान करने को कहा था। उसके पूर्ण होने पर उनके यहाँ संवत् १९१४ में पौष शुक्ला एकादशी को पण्डित रामचंद्र वेदान्ती जी का जन्म हुआ।

यद्यपि चार वर्ष की अवस्था हीं में ये मातृहीन हो गए थे, तथापि मातृसुख से लड़कपन में वञ्चित नहीं हुए। कारण कि इनके पिता ने

द्वितीय वार ३० वर्ष के वय में एक ऐसी सत्स्वभाव स्त्री से विवाह किया, जो इनको औरस पुत्र से समान प्यार करती थी। परन्तु जब वेदान्ती जी दस वर्ष के हुए, तब वह भी इनको मातृवियोग का द्वितीय वार दुःख दे गई। अब इनके लाड़ चाव करने के लिये एक दादी रह गई थी।

लड़कपन

में यद्यपि वेदान्ती जी का लड़ना, भिड़ना, कुश्ती करना, दण्ड पेलना, यही प्यारा काम था, तथापि शिवपूजन और तुलसीकृत रामायण के पाठ का भी इन्हें कुछ न्यून प्रेम न था। आँधी मेंह आदि का चाहे जैसा उपद्रव होता, परन्तु "गौरीशङ्कर महादेव, (जो लाल क़िले के पास हैं) का दर्शन और दो चार चौपाइयों की आवृत्ति किए बिना नहीं रहते। नागरी की

शिक्षा

के सिवाय उर्दू फ़ार्सी की शिक्षा मदरसे में पाई और सारस्वत, शीघ्रबोध, अमरकोष आदि की प्राथमिक संस्कृत-शिक्षा इनके पिता ने दी, परन्तु कुछ दिनों पीछे उनका विचार बदल गया। याजनवृत्ति में ब्राह्मणों की दुर्दशा देख कर, पण्डित मन्नीराम जी के मन में यही समाई कि पुत्र रामचंद्र को हिंदी (मुड़िया) पढ़ा कर मुनीम बनाना ठीक है। सो उनके आग्रह से यह यद्यपि हिंदी पढ़ने लगे, तथापि मन इनका संस्कृत ही में लगा रहा। १२ वर्ष के वय में मुर्गीवाली गली में रहने वाले कन्हैयलाल की लड़की से पाणिग्रहण हुआ और १९ वर्ष की अवस्था में आपके

पिता जी का स्वर्गवास

हो गया। बुढ़िया दादी जीती रही और पिता चल बसे। इस विषम समस्या के समय-आजीवन की चिन्ता हुई, पेट बुरी बलाय है, हिंदी के आश्रय से बलदेव सहाय कल्लूमल की कोठी में उदर पूर्ति के लिए अन्त को भृत्यता करने लगे। करने तो लगे, पर चित्त सन्तुष्ट नहीं हुआ

दिल्ली के प्रसिद्ध तुचाराम भक्त इनके पिता के संगी थे। इसलिए उनका इन पर बड़ा प्रेम था। यद्यपि भक्त जी जाट जाति के थे, तथापि परमार्थ विषय की चिन्ता करने वालों में उनका नाम हो रहा था और सर्वदा उनके यहाँ वेदान्त की चर्चा रहा करती थी। वेदान्ती जी भी यहाँ बैठने उठने लगे, जिससे जन्मान्तर का संस्कार प्रगट हो आया और इनका

वेदान्त विद्या

में चित्त जा लगा। महात्मा सन्तदेव नाम के एक विरक्त साधु से गीता और वृत्तिप्रभाकर पढ़ा। पढ़ा सही, परन्तु तृप्ति नहीं हुई। "बालादपि सुभाषितम्" के समान अथवा 'नीचादप्युत्तमां विद्यां' के अनुसार काम पड़ने पर वा विपतकाल में जिस किसी से ब्राह्मण पढ़ तो सकता है, परन्तु उसको यथार्थ सन्तोष तब तक होना कठिन है जब तक ब्राह्मण के द्वारा उसे ब्रह्मविद्या प्राप्त न हो। एक दिन भगवद्गीता में भगवान की यह उक्ति अर्जुन के प्रति देख कर कि "योगक्षेमं वहाम्यहं" ग्लानिवश वैश्यों की नौकरी छोड़ दी और अपने योगक्षेम को उसी विश्वपति के भरोसे छोड़, पढ़ने में निज मन लगा लिया। उस समय दिल्ली में गुन्नौरनिवासी विख्यात प्रज्ञाचक्षु पण्डित परमानन्द जी आए हुए थे। उनसे सारस्वत चन्द्रिका के द्वारा संस्कृत की व्युत्पत्ति लाभ कर पंचदशी आदि वेदान्त के संस्कृत ग्रन्थ अध्ययन करने लगे। थोड़े ही दिनों के परिश्रम से वेदान्त की प्रक्रिया के जानकार हो गए।

इस समय

दिल्ली में इसलाम

के उपदेशक मौलवी लोग भी ईसाइयों की भाँति निज धर्म्मप्रचार की इच्छा से हिंदू धर्म्म पर आक्रमण करने लगे थे। अपनी वक्तृता से भोलेभाले किसी न किसी हिंदू को मुग्ध कर धूमधाम से प्रति मास जमामसजिद में लेजा कर, मुसल्मान बनाने लगे। एक दिन वेदान्ती जी ने देखा कि दरीबे के अन्दर बाजे गाजे के साथ मुसल्मानों की सवारी

निकल रही है और एक बग्घी में मोलवियों के साथ एक वैश्य का लड़का बैठा हुआ है। उसके भोले और विषएण मुख पर उनकी कृपा-दृष्टि उसी प्रकार पड़ी, जिस प्रकार बधिकबध्य गौ के अश्रुपूर्ण मुख पर गोपाल की दयादृष्टि हुआ करती है। वेदान्ती जी को यह देखकर बहुत दुःख हुआ कि इतना बाजा बजने पर भी दिल्ली के हिन्दुओं को कुछ चैतन्य न हुआ कि यह क्या हो रहा है, किसी के जी में भी यह न आई कि इस अभागे हिन्दुकुमार को बचाने के लिए कुछ तो चेष्टा की जाय, वे केवल मन ही मन दुःखित हो कर ही न रहे, जातीयता के प्रेम ने उनको प्रतिकार करने के लिए उत्तेजित भी किया। किन्तु बहुत सा यत्न करने पर भी वे उस लड़के से उस दिन मिलने न पाये। दूसरे दिन किसो प्रकार लड़के का वहाँ से उद्धार किया। उद्धार तो किया, परन्तु उसी दिन से इनका

मुसलमानों के साथ विवाद

आरम्भ हो गया। अब अपने धर्म्म की रक्षा के निमित्त मुंशी इन्द्र-मणि जी के पुस्तकावलोकन के अतिरिक्त मुसलमानों के मजहबी ग्रन्थ भी देखने पड़े। उन ग्रन्थों को देखकर ये इतने प्रसन्न हुए कि सनातन धर्म्म की अद्वितीयता मुसलमानों को समझाने के लिये सन्नद्ध हो गए। इनकी इच्छा थी कि बड़ी बड़ी प्रकाश्य सभा कर हिंदूधर्म्म का महत्व सब पर प्रकट किया जाय, किन्तु दिल्ली के दुर्बलहृदय हिंदू रईस मुस-ल्मानों से भीत हो व्याख्यानों के लिए इस ब्राह्मणवीर को अपना स्थान तक न दे सके, किन्तु उनके स्थान न देने पर भी इनका उत्साह भागीरथी के प्रवाह के समान रुक न सका। जब इतने बड़े नगर में कहीं भी व्याख्यान देने की जगह न मिली तब कंपनीबाग़ के निकट "फव्वारे" पर खड़े होकर उस प्रशस्त मैदान में सहस्रों पुरुषों को अपनी वक्तृता सुनाने लगे। इनके कई एक मित्रों ने कहा कि प्रतिष्ठित पुरुषों का यों खड़े हो कर पादरियों की तरह व्याख्यान देना उचित नहीं; परन्तु इन्होंने यही कहा कि "क्या करें? रहा नहीं

जाता। मुझे प्रतिष्ठा की इच्छा नहीं, अपने धर्म्म की रक्षा करना अभीष्ट है।"

इस समय मौलवी लोग कोतवाली के पास सुनहरी मसजिद में व्याख्यान देते और ये फव्वारे पर उनकी खबर लेते। दोनों ओर से नोटिसबाजी भी खूब होती थी, परन्तु वेदान्ती जी की अकाट्य युक्ति और प्रमाणयुक्त ओजस्विनी वक्तृता के समक्ष उनके पैर कब तक स्थिर रह सकते थे। अन्त में अपने धर्म्म के भीतरी भेद प्रकट होते देख कर पीठ दिखा दी। यह हिन्दू मुसल्मानों का

शास्त्रार्थ

वर्षों तक रहा, परन्तु वेदान्ती जी ने एक दिन भी अपनी वक्तृता में विरोधियों को कटु शब्द न कहा, मधुरता के साथ उनका खण्डन करते रहे। बहुत से मुसल्मान भी इनकी रसीली वक्तृता से मोहित हो जाते थे। इसका फल यह हुआ कि सैकड़ों हिन्दू, मुसल्मान और ईसाइयों के जाल से बचे और विधर्मियों का तब से साहस नष्ट हो गया। यद्यपि इस विषय में वेदान्ती जी को प्राणों तक का सङ्कट पड़ा परन्तु इनका प्रभाव केवल दिल्ली ही में नहीं, दूर तक व्याप्त हो गया।

संवत् १९५१ में जब प्रथम बार दिल्ली में महामण्डल हुआ तब से आप सनातन-धर्म्म-प्रचारकों के अग्रसर हुए। अनेक नगरों में आर्य्यसमाजियों से शास्त्रार्थ कर धर्म्मसभा स्थापन की और जातीय सभाओं में रीतिसंशोधन विषयक सारग्राही व्याख्यान दे कई एक कुरीतियों को निर्मूल किया, मृत और जीवित दर्भङ्गानरेश की ओर से "पदक" मिलना यद्यपि इनके कार्यों के समक्ष कोई बड़ी बात नहीं है; तथापि उनका अनङ्गीकार कर इन्होंने निरादर नहीं किया। शास्त्रार्थ के समय तो दूर दूर की सभाएं इन्हें निमंत्रण दिया ही करतीं, परन्तु वार्षिकोत्सवों पर भी आप आग्रह पूर्वक बुलाये जाते। कई वर्षों से महामण्डल में अन्धाधुन्ध मची देख कर यद्यपि ये उसके कर्मचारियों से साक्षात् सम्बन्ध नहीं रखते थे, तथापि आए हुओं को अपने स्थान

पर टिका कर सब प्रकार से सत्कार करते थे और शास्त्रार्थादि आ पड़ने पर तत्क्षणात् वहाँ पहुँचते थे।

वेदान्ती जी को

विद्या

इतनी प्यारी थी कि, अभी तक उसीके सञ्चय का यत्न करते रहे। दिल्ली में जो विद्वान् संन्यासी वा गृहस्थ आ ठहरा उससे विद्या विषयक कुछ न कुछ वस्तु लिये बिना नहीं रहे और जो विद्यार्थी आया उसको खाली नहीं जाने दिया। सैकड़ों साधु और गृहस्थों ने इनके पास आकर गीता और विचारसागर आदि वेदान्त के ग्रन्थ पढ़े। कितने ही उपनिषद् सीख सीख कर गए हैं और साधारण विद्यार्थी तो सदा ही पढ़ते रहा करते। इनके स्थान पर जो साधु ब्राह्मण आता उसका भोजनादि से भी सत्कार किया जाता। इनके

सन्तान

भी कई हुई। बीस वर्ष की अवस्था में एक लड़की हुई थी, परन्तु थोड़े ही दिनों पीछे वह मर गई। उसके थोड़े ही दिनों बाद उसकी मां भी स्वर्गवासिनी हुई, तब बाईस वर्ष के वय में इनका द्वितीय विवाह नाईवाड़ा के पं० ज्वालानाथ जी की कन्या से हुआ। इनसे दो लड़के और एक लड़की हुई, परन्तु खिलने से प्रथम लड़कपन ही में सब सन्तानें मुरझा गईं। संवत् १९५१ के संवत्सर में इस दूसरी स्त्री का भी परलोक हो गया! बहुत से इष्ट मित्रों ने फिर विवाह करने का अनुरोध किया, परन्तु वेदान्ती जी ने किसी का कहना न माना। धर्मानुचिन्तन और धर्म्मोपदेश में समय बिताना श्रेयष्कर समझा। दिल्ली दरबार के समय महामहोपाध्याय श्री ६ पं० राममिश्र शास्त्री जी आदि भारतवर्ष के बड़े बड़े नामी विद्वान उनके स्थान पर सुशोभित हुए थे। तब कैयों ने उनकी संन्यास ग्रहण करने की इच्छा जान कर यही कहा था कि, अब भी संन्यासी के समान हैं, लोकोपकार में रत हैं, धर्म्मप्रचार में दत्तचित्त हैं, परन्तु वेदान्ती जी ने अनाश्रमी रहना उचित न समझा।

वेदान्ती जी के साथ हमारा पन्द्रह वर्ष से स्नेह था। उनके साथ हमने कई जगहों की यात्रा की है। महीनों साथ रहे हैं। वे आमोद प्रमोद के समय मित्र थे और रक्षा के समय सच्चे अभिभावक का काम करते थे। उनके केवल हम पर ही नहीं, हमारी जाति पर, हमारे देश और धर्म्म पर अनेक प्रकार के उपकार हैं। आज उनके प्रातःस्मरणीय चिर-परिचित नाम से हमारा सम्बन्ध छूटता है, इसका हमें अत्यन्त दुःख है, किन्तु यह दुःख कठोरकर्मा ब्राह्मण के लिये वाञ्छनीय ही नहीं, प्रार्थनीय भी है।



स्वर्गवासी

बाबू मोतीलाल बाघला

गत वैशाख सुदि ४ मङ्गलवार को राजा शिवबक्स बहादुर बाघला के चचा बाबू मोतीलाल जी का परलोकवास हुआ। वे राजा साहब के साथ लड़की का विवाह करने चूरू जाते थे। मार्ग में आगरे की धर्मशाला में उनका शरीर पूरा हो गया! सत्तर वर्ष के वय में दो दिन का भयङ्कर ज्वर ही कालज्वर बन गया। राजा साहब कुटुम्ब सहित साथ ही थे। पीछे से उनके सुयोग्य पुत्र बाबू गणपतराय जी भी वहाँ पहुँच गये थे। उन्होंने जाकर अपने बूढ़े भगवद्भक्त पिता का अन्तिम सत्कार किया। पुत्र की इच्छा थी कि उनके धर्मात्मा पिता का प्राणान्त पुण्यक्षेत्र काशी वा वृन्दावन में हो, परन्तु वे उन्हें वहाँ नहीं ले जा सके। आगरे ही में उनका प्राण पखेरू उड़ गया।

आप न राजा थे, न रायबहादुर थे और न देशहितैषिता का झंडा उड़ानेवाली किसी सभा सोसाइटी के मेम्बर हो थे। किन्तु जिस ढंग के आप थे अब उस ढंग के लोग मारवाड़ियों में बहुत विरले रह गये हैं। पाठक! ज़रा इनकी सुन्दर, शान्त, सरल मूर्त्ति को तो देखिये, दर्शन से कैसे पवित्रभाव का उदय होता है? जिन लोगों के उत्तम चरित्र और पुण्यबल से मारवाड़ी जाति की उन्नति हुई है, वे इसी प्रकार के स्वधर्मनिष्ठ लोग थे। आज कल के लोग भले ही पूजा-पाठ, दानपुण्य आदि सत्कार्यों को व्यर्थ समझें, परन्तु उनसे समाज का बहुत मङ्गल होता है, इसमें सन्देह नहीं। इनके पुण्यमय पूजन के चित्र को देखिये और वर्त्तमान मारवाड़ी समाज के "बगीचे-विहारी", "चुरुट-धूम्रोद्गारी", "कालर-कण्ठ-भूषित", "स-चश्मा",

"स-बूट", होनहार सपूतों को इधर उधर फिरते हुए देखिये, और फिर कहिये इनमें और उनमें आकाश पाताल कासा अन्तर है कि नहीं ? दोनों में स्वर्ग, नरक जितना प्रभेद है कि नहीं ? जान पड़ता है कि, इस बात को सभी बुद्धिमान स्वीकार करेंगे कि एक ही पूर्वज की सन्तान होने पर भी इनमें देवता और दानवों कासा अन्तर है। थैली तथा कंचुकी में हाथ रखनेवाले मारवाड़ी नवयुवक, इन गोमुखी में हाथ रखनेवालों की कदाचित् महिमा न भी समझ सकें, परन्तु उनका अन्धकारमय भविष्य एक दिन जगत् को समझा देगा कि मारवाड़ी जाति की वर्त्तमान उन्नति के कारण ऐसें ही कष्टसहिष्णु और पुण्यात्मा लोग थे।

जब किसी बड़े घर में युवा मारवाड़ी की मृत्यु हो जाती है, तब चारों ओर से शोकपत्र आने लगते हैं और लोग कहते हैं कि, "बड़ा अनर्थ हुआ"। चाहे वह कंस के समान "कुल-डुबोवा" ही क्यों न रहा हो ! और इधर इन बूढ़े लोगों की मृत्यु पर कि, जिनकी जोड़ी के मनुष्य अब कुछ दिनों में मिलने कठिन हो जायेंगे, विरले लोग दुःख प्रकाश करते हैं, यह निस्सन्देह बड़े दुःख की बात है। परन्तु इससे भी बढ़कर दुःख इस बात का है कि हमारे समाज में किसी कुमार्गी, अहङ्कारी, पापात्मा के उठ जाने पर तो उसके स्थान पर बीसियों रक्तवीज खड़े हो जाते हैं और दान-धर्म-परायण, दयाशील, पुण्यात्मा लोगों की जगह खाली रह जाती है। गो-ब्राह्मणों के सच्चे सेवक स्थान ख़ाली कर चले जा रहे हैं और दुर्व्यसनभक्त लोगों की रात दिन आमदनी हो रही है !!

स्वर्गवासी बाबू मोतीलाल बाघला के पिता बिंदल गोती रामजी दास जी बाघला बीकानेर राज्य के चूरू नगर में रहते थे। वहीं पर विक्रमीय संवत् १८९२ में फाल्गुन शुक्ला ९मी बृहस्पतिवार को बाबू मोतीलाल जी का जन्म हुआ था। ये तीन भाई थे। सब से बड़े बाबू रामदयालु जी, जिनके मिर्ज़ामल और राजा शिवबक्स बहादुर दो पुत्र हुए, मध्यम बाबू मोतीलाल जी और सब से छोट बाबू गुलाब-

राय जी, जिनका गत माघ में निस्सन्तान दशा में परलोकवास हो गया। इनके पिता बाबू रामजी दास जी एक साधारण गृहस्थ थे। घर की दशा कुछ अच्छी न थी। इसलिए रोजगार के लिए अपने बड़े भाई के साथ संवत् १९०४ में कलकत्ते आये। कुछ दिन दलाली करने के पीछे जवाहिरात का काम किया, पर भाग्य प्रसन्न न हुआ। अनेक प्रकार के कष्ट झेलने पर भी कार्यसिद्धि न हुई। तीनों भाइयों में परस्पर स्नेह खूब था। इस कारण व्यापार में हानि और कष्ट उठाने पर भी इनका उत्साह भङ्ग न हुआ। और होता भी कैसे?— आप सर्वदा विपदभञ्जन भगवान नर्मदेश्वर और सत्यनारायण जी का पूजन, भजन किया करते; जिससे बुद्धि स्थिर और चित्त शान्त रहता था। आख़िर गुलाबराय जी शिवबक्स के नाम से कलकत्ते में कोठी खोलकर सागवान की लकड़ी का काम शुरू किया। रंगून और मौलमीन से लकड़ी आती और कलकत्ते में बिकती थी। यह सागवन ही अन्त में इनके लिये कल्पवृक्ष हो गयी। उस समय आजकल की तरह इस लकड़ी का व्यापार तेज़ी पर न था। अंग्रेज़ लोग भी इस काम को कम करते थे।

भारतवर्ष में जिस प्रकार नवागत अंग्रेज़ शनैः शनैः अपनी प्रभुता का विस्तार कर रहे थे, उसी प्रकार मारवाड़ी भी कलकत्ते के व्यापार पर अपना प्रभुत्व स्थापन करने के लिये लालायित थे। उनमें राजसन्मान और वाणिज्य व्यापार से प्रसिद्धि पानेवाले इस "बाघले" वंश को सब से पहला और सर्वप्रधान समझना चाहिये। स्वर्गवासी राय बहादुर भगवानदास बाघला भी आरम्भ में बाबू मोतीलाल आदि के साथ ही चावल वगैरह का काम करते थे। संवत् १९२८ में इनसे अलग हो कर वे अपने ऊँचे भाग्य और चातुर्य से प्रचुर सम्पत्ति के अधिकारी हुए। कुछ दिनों पीछे संवत् १९३२ में बाबू मोतीलाल जी को भी, पुरानी कोठी अपने भतीजों के अधीन छोड़, नयी कोठी, मोतीलाल राधाकृष्ण के नाम से खोल, स्वतन्त्र काम करना पड़ा। पर बहुत दिनों तक इसमें उन्नति न होने पर भी, वह विचलित नहीं

हुए। निरन्तर उद्योग करते ही रहे। अन्त को उनके परिश्रम का यह फल हुआ कि लखपतियों में ऊँची दृष्टि से देखे जाने लगे।

इनके सन्तानें ७ हुई थीं, ४ कन्या और ३ पुत्र। दो कन्या और एक लड़का लड़कपन ही में मा बाप को सन्तान वियोग का दुःख दे गये थे। शेष चार सन्तानों में से पुत्री लक्ष्मीबाई और नान्हीबाई तथा पुत्र बाबू गणपतराय और रुक्मानन्द विद्यमान हैं और बड़े पुत्र के राधाकृष्ण नाम का एक पौत्र भी है।

अपने माननीय बाप दादा के परोक्ष में हेरिसन रोड पर युवा राधाकृष्ण ने "कर्ज़न थिएटर" के नाम से एक नाटकालय खड़ाकर दिया और उनके पूछने पर किसी दूसरे ही का उसको बताता रहा। असली बात का भेद खुलने पर उसके धर्मात्मा पिता और पितामह को बड़ा कष्ट हुआ, पर किसी से कुछ कहा नहीं। "कर्ज़न थिएटर" अभी भी उन्हींका है, पर एक दिन भी वे उसका तमाशा देखने नहीं गये। गंदे थिएटर देखना उनके विचार में अच्छा न था। "कर्ज़न थिएटर" से मारवाड़ियों का और हिन्दी साहित्य का बड़ा उपकार हो सकता था, यदि उन्नतिशील सुविज्ञ मारवाड़ियों का इधर ध्यान होता। इससे समाज-संस्कार भी हो सकता है और प्राप्ति भी हो सकती है।

उक्त बाबू जी सत्यनारायण जी के मन्दिर में नित्य जाते और वहीं पर पूजापाठ करते एवं पुण्यकथा सुना करते। अपने दान की बात को वे अखबारों में नहीं छपाते वरञ्च उसको बराबर गुप्त रखते थे। ऐसे वैश्यरत्न के उठ जाने से मारवाड़ी जाति की कितनी हानि हुई है, इसका बुद्धिमान विचार करें।



सेठ गुरुसहायमल जी

"अर्थिनां मित्रवर्गस्य विद्विषां च पराङ्मुखः ।
यो न याति पिता तेन पुत्री माता च वीरसूः ॥"

वंश का परिचय

जिन पुण्यात्मा पुरुषों के नाम से मारवाड़ी वैश्यों की धर्मात्माओं में गणना हुई है, सेठ गुरुसहायमल जी उन सब में अग्रगण्य हैं। उनके स्वर्गवास को यद्यपि तीस वर्ष से अधिक हो गए, तथापि उनकी धर्मनिष्ठा, ईश्वर-परायणता, साधुसेवा और ब्रह्मण्यता आदि का निर्मल चित्र सहस्रों लोगों के चित्त में अद्यापि वैसे का वैसा ही बना हुआ है। शेखावाटी के कितने ही मनुष्य प्रातःकाल उठकर उनका नाम लेते हैं, जिससे कि उनका वह दिन सुख से कट जाय। उक्त सेठ जी का नाम वहीं नहीं, दूर दूर तक हो रहा है। शेखावाटी से सैकड़ों कोस दूर रहनेवाले दिल्ली प्रान्त के लोग भी उन्हें तिमिराच्छन्न वैश्यवंश का दिनमणि समझते हैं। किसी से तकरार होने पर बात बात में वहाँ बूढ़े से बालक तक कह बैठते हैं कि "आये कहीं के गुरुसहायमल!"—"ऐसे क्या तुम रामगढ़ के गुरुसहायमल हो जो तुम्हारी मान ही लें ?" मानों उनकी दृष्टि में आदर और सन्मान के पात्र संसार में केवल सेठ गुरुसहायमल ही हैं। ऐसे प्रसिद्ध, सर्वप्रिय वैश्य का यदि विस्तृत जीवन-चरित छपा होता, तो उससे लोगों का बहुत उपकार हो सकता। उनके चरित से अनेक उपदेशों के साथ यह शिक्षा मिल सकती कि, विद्वानों का आदर और परोपकार करने से मनुष्य बड़ा होता है, ख़ाली रुपये होने से नहीं। परन्तु हमारे वणिक् समाज की अभी इस ओर प्रवृत्ति ही

नहीं हैं, तथापि उनके जीवन-चरित की कुछ बातें यहाँ प्रकाश करते हैं, जिससे वैश्योपकारक के पाठक समझ जायँ कि, वैश्यवंश में भी कैसे कैसे प्रतापी पुरुष हो चुके हैं।

जयपुर राज्य के अधीन एक विस्तृत बालुकामय प्रदेश शेखावाटी के नाम से प्रसिद्ध है, जिसकी वर्त्तमान राजधानी का नाम सीकर है। इसी राज्य में और उसके आसपास रामगढ़, फतहपुर, चूरू, झूँझणू आदि अनेक नगर हैं, जहाँ के वाणिज्य-निपुण वैश्यों ने कलकत्ते मुम्बई आदि नगरों में पहुँच कर, जगह जगह अपनी छावनियाँ डाल कर, मातृभूमि के झोपड़ों को बड़े बड़े सुन्दर महलों से बदल दिया। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में जहाँ दारिद्र्य के साथ कोरा रेत ही रेत था, अब वहाँ लक्ष्मी का निवास हो रहा है, जहाँ तहाँ बाग बगीचे लग रहे हैं और दिन प्रतिदिन धर्मशाला एवं देवमन्दिरों की संख्या बढ़ रही है। विदेश में जाकर यहाँ के वैश्य अपने नगरों के नाम से, कहीं नोहरिये, कहीं रामगढ़िये, कहीं फतहपुरिये और कहीं चूरूवाल कहलाते हैं। कलकत्ते आने पर उन्हें मारवाड़ी पद की चिरस्थायी उपाधि मिली है। वास्तव में वे मारवाड़ियों से कोसों दूर हैं, यह उपाधि उनको दूसरों से मिली है, पर यह भी "बापू" की नई पदवी के समान सब के गले का हार हो गई है! इसकी प्रतिष्ठा में लोग अपनी प्रतिष्ठा समझने लगे हैं और निन्दा में निन्दा! है भी उचित, "अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति"।

शेखावाटी वाले विदेश में चाहे जो कहलावें, चाहे जितने रंग बदलें, पर एक प्रशंसनीय बात का उन पर ऐसा रंग चढ़ा हुआ है जिससे उनके सब काम ठीक होते हैं और वे सदा सुरंगे रहते हैं। उनकी वह बात यह है कि वे अपनी जाति के "सरपञ्च" पूर्वोक्त सेठ गुरुसहायमल जी को "कौमी बादशाह" वा "जातीय सम्राट्" की भाँति स्मरण करते हैं। इस उपमा को अत्युक्तिपूर्ण समझ कर कदाचित् हमारे पाठक चौंकेंगे और कहेंगे कि "जब बड़े बड़े शिक्षित पुरुषों में भी कलह ईर्ष्या के कारण "जातीय सम्राट्" का विचार शेष

नहीं रहा, तब यह कब सम्भव है कि सजातीय द्वेषपूर्ण वैश्य समाज के एक दुर्बल समूह में यह भाव अब भी विद्यमान हो?" परन्तु हमारा उनसे निवेदन है कि जो बात शिक्षित समाज में नहीं है, वह शेखावाटी के अशिक्षित वैश्यों में एक प्रकार से है। शिक्षित जनों में कोई प्रधान नहीं और उनमें है! इस प्रान्त के वैश्यों में परस्पर द्वेष होने पर भी सेठ गुरुसहायमल जी की गद्दी का सन्मान करने में सब एक हैं। जब तक उनमें यह बात बनी रहेगी, तब तक उनकी जाति वा पञ्चायत का गौरव किसी प्रकार न्यून नहीं हो सकेगा।

दिल्ली के गत दरबार में अँग्रेजों की एक बात देख कर लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ था कि सम्राट् के भाई श्रीमान् ड्यूक आफ़ कनाट की उपस्थिति में भी राजसिंहासन राजप्रतिनिधि लार्ड कर्जन ही को मिला, परन्तु हमें इस बात में आश्चर्य नहीं हुआ। कारण, हम जानते हैं कि एक प्रसिद्ध जाति की सजीवता का यह सर्वोत्तम चिन्ह है कि वह अपने प्रधान का सब से अधिक आदर करे और जाति का बड़े से बड़ा नेता उसीके सन्मान में अपना सन्मान समझे। कलकत्ते के मारवाड़ियों में भी अब तक यही बात है। हमने बहुधा पञ्चायतों में देखा है कि राजा शिवबक्स जी, राय हरिराम जी, बाबू शिवप्रसाद जी आदि मारवाड़ी वैश्यों के नेता सेठ गुरुसहायमल जी के मुनोम को ही अपना प्रधान मानकर पञ्चायती कार्य का आरम्भ करते हैं। मुनीम जी अपनी निज की योग्यता से चाहे उन लोगों के समकक्ष भी न हों, परन्तु गद्दी के प्रभाव से वे पञ्चायत में उन सब के सरपञ्च होते हैं, और विलक्षणता यह है कि वे अपने पद-गौरव के अनुसार कार्य भी करते हैं। इस समय धन के हिसाब से मारवाड़ियों में कई उनसे भी बड़े आदमी हो गए हैं, परन्तु पञ्चायत के हिसाब से सेठ गुरुसहायमल जी का घराना ही सर्वप्रधान है। इनकी प्रधान कोठी "ताराचन्द घनश्यामदास" के नाम से प्रसिद्ध है। ताराचन्द जी गुरुसहायमल जी के पिता थे और घनश्यामदास जी पुत्र।

सेठ जी के घराने की अल्ल "पोदार" है। कहते हैं कि फतहपुर

के नव्वाबों के समय में इनके पूर्वज पोतदारी का काम किया करते थे, इसीसे इस घरानेवाले "पोतदार" कहलाते थे। अब चलित भाषा में उसका सीधा "पोदार" नाम पड़ गया। मिस्टर जी० एस० साहिब ने जो "पोदार" शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ "प्याऊवाला" किया है वह इतिहास-विरुद्ध और भ्रान्तिमूलक है। जहाँ तक जाना गया है इनके पूर्वजों में ऐसा दरिद्र कोई नहीं हुआ जो प्याऊ में जल पिला कर "पोदार" कहलाता। हाँ, यदि प्रस्तुत के विरुद्ध उन्हें कल्पना कर अपने शब्दज्ञान की पण्डिताई दिखानी ही थी, तो यही कह देना यथेष्ट होता कि गर्मी के दिनों में इस घराने के लोग उस बालुका-सन्तप्त मरुदेश में दूर दूर तक पो (प्याऊ) लगवाया करते थे, इसलिये आने जाने वाले श्रान्तपथिक उन्हें "पोदार" सेठ कहने लग गये होंगे, पर वास्तव में इस दुरूह कल्पना का कोई प्रयोजन नहीं। "पोदार" शब्द का असली अर्थ वही प्रतीत होता है जो सब से पहिले कहा गया है।

पोदारवंश के मूलपुरुष रायचन्द नामी एक पङ्गु पुरुष थे। न तो उस वृद्ध पुरुष के पास द्रव्य ही था और न कोई बन्धु बान्धव ही ऐसा था जो उस समय उनका बिवाह कर देता। इधर उनके जी में यह समा गई थी कि यदि इनका कोई पाणिग्रहण करवा दे तो पिण्डदान के लिये उनके स्वर्गस्थ पितरों को सदा के लिये निराश होना न पड़े। परन्तु इस प्रकार की आशा पूरी कौन कर सकता है ? एकमात्र पुरोहित। ऐसे अवसर पर यजमान की पुरोहित ही एक मात्र गति है। पुरोहित सब कुछ सहन कर सकता है, परन्तु यजमान के वंशनाश को सहन नहीं कर सकता। कुलपति भगवान वसिष्ठ यदि रघुवंशियों के पुरोहित न होते, तो कभी सम्भव न था कि राजर्षि दलीप के घर में रघु जैसे प्रतापी नरेश का जन्म होता और महाराज दशरथ बुढ़ापे में भगवान रामचन्द्र जी जैसे पुत्रों का मुख देखते। सिसोदिया क्षत्रियों के दबते हुए वंश को पुनः पुनः उभारना पुरोहितों ही का काम था। उदयपुर के वंश को बचाने के लिए एक उनके पुरोहित ने अपने प्राण तक दे दिये थे। यहाँ के इतिहास में

पुरोहितों के ऐसे सहस्रों दृष्टान्त उपस्थित है जिनसे उनकी यजमान कुल पर असीम वत्सलता वा कृपा पाई जाती है। अस्तु, उस वृद्ध वैश्य ने अपनी अभिलाषा गौड़ पुरोहित पर प्रगट की, परन्तु उनके अदूरदर्शी किन्तु धर्मभीरु पुरोहित ने स्वीकार न की।

स्वीकार न करने का कारण कुछ यह नहीं था कि उनका उन पर स्नेह नहीं था वा यजमान के पिण्डलोप की उन्हें चिन्ता न थी। तत्व यह था कि न तो वे भगवान् वसिष्ठ जैसे भविष्यदर्शी थे जो दिव्यदृष्टि से होनहार को जान लेते और न उस समय शेखावाटी में आजकल की तरह वृद्ध विवाह को निदिन्त कुप्रथा का प्रचार ही था उस समय कन्या विक्रय महापाप समझा जाता था। जो हो वृद्ध ने कहा "यदि आप मेरा विवाह नहीं करा सकते तो पुरोहिताई छोड़ दो" पुरोहित ने कहा "बहुत अच्छा! इस पुरोहिताई के लिये तेरे जैसे पङ्गु पुरुष का विवाह कर एक वैश्य की कन्या को मैं धक्का देना नहीं चाहता"।

इसी समय वहाँ एक दूरदर्शी खण्डेलवाल ब्राह्मण रहते थे, कहते हैं कि उनको किसी प्रकार से यह विदित होगया था कि इस अपङ्ग के वंशवृक्ष का विस्तार आवश्यम्भावी है, इसीसे उन्होंने पहिले ही उनसे यह बात ठहरा ली थी कि विवाह करवा देने पर उनके भविष्य वंश का पुरोहित वह होगा। इस प्रकार प्राचीन गौड़ पुरोहित से छुटकारा पा, उन्होंने नवीन पुरोहित, खण्डेलवाल ब्राह्मण का वरण कर विवाह करवाया। वर्तमान पोद्दार वंश उसी प्रतापी पङ्गु पुरुष की सन्तान है। विवाह के समय यजमान और पुरोहित दोनों की निन्दा हुई होगी परन्तु अब दोनों की प्रशंसा करने को जी चाहता है। भगवान् की लीला विचित्र है। यह किसको ज्ञात था कि उस अवज्ञात वृद्ध पुरुष के वंश में बड़े बड़े नामी पुरुषों का जन्म होगा और उनके विवाह की कहानी संसार में कथा की तरह अमिट हो जायगी।

बड़े आदमी सभी घरानों में होते आए परन्तु पोदारों में बहुतायत से हुए हैं, यही इस घराने में औरों से विशेषता है। गुरुसहायमल जी के पीछे, जिस प्रकार से सेठ जयनरायण और सेठ लक्ष्मीनरायण जैसे

उनके यशस्वी पौत्र हुए, वैसे ही उनके पूर्वजों में भी कई पीढ़ियों तक धनी और सत्पुरुष हो चुके थे। कहते हैं कि सब से पहिले लखपति सेठ इस घराने में भगवतीराम जी हुए जिनकी कोठी पञ्जाब के भटिंडा नगर में थी। आजकल जिस प्रकार वाणिज्यप्रधान नगर कलकत्ता बम्बई समझे जाते हैं, उसी प्रकार पञ्जाबकेशरी महाराज रणजीतसिंह जी के स्वाधीन राज्य के समय भटिंडा भी लक्ष्मी जी का क्रीड़ास्थल हो रहा था और वहाँ दूर दूर के वाणिज्यव्यवसायी आया करते। उन दिनों वहाँ पोद्दार घराने के लोग नोहरियों के नाम से विख्यात थे। अब भी सेठ जी के कृतज्ञ कुल में भटिंडे का नाम शुभदायक समझा जाता है।

इस वंश में गुरुसहायमल आदि जितने नामी सेठ हुए हैं, उनका संक्षेप से यथाश्रुत परिचय अगली संख्या में देने की चेष्टा करेंगे।



बाबू गोपालचन्द्र जी

अग्रवाल वैश्यों में काशी के अग्रवाल भी अपने धर्म्मप्रेम और विद्यानुराग के कारण प्रसिद्ध हैं। उनको इस प्रकार की प्रसिद्धि के कारण वे पवित्र वंश हैं, जो पादशाही समय में अग्रवालों की आदिभूमि दिल्ली से आन कर यहाँ बसे थे। यद्यपि इस समय काशी में उनके ऐसे अनेक प्रसिद्ध वंश हैं, जो केवल धन के ही कारण नहीं, विद्या और प्रतिष्ठा के कारण भी मान पाने योग्य हैं, तथापि जिस वंश में हिन्दी के कालिदास और हिन्दुओं के गौरव भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी का जन्म हुआ है, वह सब से अधिक प्रतिष्ठा पाने का अधिकारी है। कारण, उसमें कई पीढ़ियों से उन गुणों की अधिकता पाई गई है, जिनका दूसरे कुलों में मिलना बहुत कठिन है।

बाबू गोपालचन्द्र जी का जन्म, उसी प्रसिद्ध अग्रवाल जाति में मिती पौष कृष्णा १५ सं० १८९० को काशी में हुआ था और वहीं पर मिती वैशाख सुदी ७ सं० १९११ को उनकी मृत्यु हुई थी। उन्होंने इस २६ वर्ष ४ महीने और ७ दिन के वय में ख़ाली अपनी देश-विख्यात लक्ष्मी ही की रक्षा नहीं की, वरञ्च संस्कृत और भाषा के चालीस ग्रन्थ बनाकर विद्यादेवी का भी अपूर्व सन्मान किया था, जिसका वैश्यकुल में होना कुछ कम पुण्य का फल नहीं कहा जा सकता। इनके पिता का नाम बाबू हर्षचन्द्र जी था। वह वल्लभ मत के अनुयायी और काशी के प्रसिद्ध रईस थे। कहते हैं कि उक्त मत के तत्कालीन आचार्य गोस्वामी श्रीगिरिधरलाल की कृपा से बाबू गोपालचन्द्र जी का जन्म हुआ था, इसी कारण ये कविता में अपना नाम गिरिधरदास रखकर कृतज्ञता का परिचय दे गये हैं।

जिस समय बाबू हर्षचन्द जी की मृत्यु हुई, उस समय इनकी

केवल ११ वर्ष की अवस्था थी। तिस पर कटे पर लोन के समान इन्हें अपने पिता के कृतघ्न मुनीम के अधिकार में रहना पड़ा। पिता के वियोग और मुनीम की दुष्टता के हेतु हानि तो बहुत कुछ हुई, परन्तु अपने बुद्धिबल से १२ ही वर्ष की अवस्था में इन्होंने कार्य्य सम्भाल लिया था और इसी समय से कविता भी करने लग गए थे। इनकी पुस्तकों में सब से बड़ा और पहला ग्रन्थ वाल्मीकि रामायण का छन्दोबद्ध भाषा अनुवाद था। कविता इनकी बड़ी परिष्कृत और सरस होती थी। इनके भगवत्प्रेम, निर्म्मल चरित्र और दृढ़ विश्वास के उदाहरण दिखलाने के लिए हमारे पास स्थान नहीं है। केवल इतना कह देना ही यथेष्ट है कि, धनी पिता की सन्तान और फिर स्वयं धनवान होने पर भी ये निरभिमान थे। वल्लभ मत के भक्त होने पर भी पर-मत निन्दक न थे। प्राचीन मत के अनुयायी होने पर भी सुधार के विरोधी न थे। महाकवि होने पर भी अहङ्कारी न थे।

इनके पास अनेक साधु महात्मा, विद्वान और कवियों का समागम रहता था। जिस यौवनकाल में धनी लोगों की सन्तान विलास के अतलस्पर्श सागर में डूब जाया करती है, उस काल में आप सत्सङ्ग की नौका बनाकर भव-बारिधि से दूसरों को पार करते थे। यह बात इनकी भक्तिप्रधान कविता से भली भाँति सिद्ध होती है। सन्तान इनके चार हुईं। दो कन्या और दो पुत्र। पुत्रों में सब से बड़े भारतेन्दु बाबू हरिचन्द्र जी थे और छोटे बाबू गोकुलचन्द्र जी। वाल्मीकि जी ने यद्यपि महाराज दशरथ के प्रताप का बहुत कुछ वर्णन किया है, तथापि सब से अधिक उनका प्रताप यही था कि उनके घर में लोक-विख्यात भगवान् रामचन्द्र जी का जन्म हुआ। पर भारतेन्दु जी के विद्वान् पिता के विषय में हम यह नहीं कह सकते कि उनकी प्रसिद्धि और बड़ाई का कारण ऐसे प्रसिद्ध पुत्र का होना ही था। कारण, कि यह किसी प्रकार भी उनसे गुणों में न्यून न थे, वरञ्च धर्म्मविश्वास में उनसे कहीं हज़ार दर्जे अच्छे थे।

इनके विषय में स्वयं बाबू हरिश्चन्द्र जी ने अपने नाटक नामक

ग्रन्थ में लिखा है कि "विशुद्ध नाटक रीति से पात्र प्रवेशादि नियम-रक्षण द्वारा भाषा का प्रथम नाटक मेरे पिता पूज्यपाद श्रीकविवर गिरिधरदास (वास्तविक नाम बाबू गोपालचन्द्र जी) का है। मेरे पिता ने अंगरेजी शिक्षा पाए बिना इधर क्यों दृष्टि दी, यह बात आश्चर्य की नहीं है। उनके सब विचार परिष्कृत थे। विना अंगरेजी की शिक्षा के भी उनको वर्त्तमान समय का स्वरूप भली भाँति मालूम होगया था। × × × सिद्धान्त यह कि उनकी सब बातें परिष्कृत थीं और उनको स्पष्ट बोध होता था कि आगे काल कैसा चला आता है। × × × केवल २७ वर्ष की अवस्था में मेरे पिता ने देहत्याग किया, किन्तु इसी अवस्था में ४० ग्रन्थ बनाए।"

उनकी कविता का नमूना देखिये—

खड़ी बोली का पद—

जाग गया तब सोना क्या रे। जो नरतन देवन को दुर्लभ सो पाया अब रोना क्या रे॥ ठाकुर से कर नेह आपना इन्द्रिन के सुख होना क्यारे। जब वैराग ज्ञान उर आया तब चांदी औ सोना क्यारे॥ दारा सुपन सदन में पड़के भार सबों का ढोना क्यारे। हीरा हाथ अमोलक पाया कांच भाव में खोना क्यारे॥ दाता जो सुख माँगा देवे तब कौड़ी भर दोना क्यारे। गिरिधरदास उदर पूरे पर मीठा और सलोना क्यारे॥१॥

ब्रज भाषा का पद—

प्रभु तुम सकल गुन के खानि। हौं पतित तुव शरण आयो पतित-पावन जानि॥ कब कृपा करिहौ कृपानिधि पतितता पहचानि। दास गिरिधर करत विनती नाम निश्चय जानि॥१॥

रत्नहानि

"मरणान्तं हि जीवितम् ।"

अग्रवाल वैश्यजाति का एक और रत्न खो गया ! हिन्दी लेखकों का एक और सुहृद् चल बसा ! शिष्टता का एक और नक्षत्र कक्षच्युत हो गया ! हा ! काशी-निवासी बाबू माताप्रसाद एम. ए. अब नहीं रहे ! गत मार्गशिर शुक्ला ८मी गुरुवार* को अपने यौवन काल के मध्याह्न में ही वे अस्त हो गए !! पुत्र-वत्सल बाबू शिव-नन्दन प्रसाद जी के बुढ़ापे की लकड़ी बड़ी बेमोक़े टूटी !

स्वर्गीय माताप्रसाद जी के साथ हमारा बहुत दिनों से परिचय था, स्नेह था । संवादपत्रों ने उनके उत्तम गुणों की जो प्रशंसा की है, वह स्नेह के कारण ही नहीं, सत्य के कारण भी मन्तव्य है । उनकी उपदेश-पूर्ण जीवनी सब के लक्ष्य करने योग्य है, जिसको हम हो सका तो वारान्तर में प्रकाश करने की चेष्टा करेंगे । वे उच्चशिक्षा प्राप्त होने पर भी ब्रह्मण्य थे, युवा होने पर भी शान्त थे । अध्यापक होने पर भी जिज्ञासु थे । कोठीवाल होने पर भी विद्या-प्रिय थे । वे उपाधिधारी तो थे, पर अहङ्कारी न थे । दुकानदार थे, पर मिथ्यावादी न थे । विचारकुशल थे, पर वाचाल न थे । हिन्दू कालिज के प्रेमी थे, पर थियासोफिष्ट न थे । गणितज्ञ थे, पर नीरस न थे । नागरीप्रचारक थे, पर धर्म्मसंहारक न थे । वे काम करते थे, पर नाम के लिये नहीं । उपकार करते थे, पर बदले के लिए नहीं । स्नेह रखते थे, पर प्रयोजन के लिए नहीं । कहाँ तक कहैं, उनके समान शान्त, शिष्ट, गुणवान सन्तान की भारतभूमि को इस समय जितनी आवश्यकता है, उतनी और किसी चीज़ की नहीं है ।

परिश्रमी माताप्रसाद २१ वर्ष की अवस्था में प्रयाग युनिवर्सिटी

---

* संवत् १९६१

की एम. ए. परीक्षा में उत्तीर्ण हो गए थे। ("राघवेन्द्र" से विदित हुआ कि) उस समय सरकार की ओर से विलायत में पढ़ने के लिये स्कालरशिप भी मिला था, पर उस पितृ-भक्त पुत्र ने पिता की आज्ञा के विरुद्ध विलायत जाना उचित नहीं समझा और दो सौ रुपये मासिक पर कुछ दिनों तक बरेली कालिज में बड़ी योग्यता से प्रोफेसरी की। "फिर अधिक उन्नति की इच्छा से व्यापार में मन लगाया और शिवनन्दनप्रसाद माताप्रसाद" के नाम से दुकान खोल कर काम करने लगे। प्रयाग, कानपुर और बनारस में इनकी चेष्टा से दुकान का नाम भी हुआ और द्रव्य भी कमाया। इसके सिवा आप कई विलायती कारख़ानों के एजेंट भी थे। बनारस में सर्वसाधारण के हित के लिए जो काम होते थे, उन सब में आप अग्रसर रहा करते थे और सब जगह आदर की दृष्टि से देखे जाते। कुछ दिनों तक आप बनारस के "हिन्दु-कालिज" के प्रिंसिपल रहे और अब कई मास से उसके आनरेरी प्रोफेसर थे! अपने घर के सब कामों को करते, हिन्दु-कालिज जैसे विद्यालय की उच्चश्रेणी को पढ़ाना और फिर पढ़ाना भी कैसा, जिससे विद्यार्थियों का मन सन्तुष्ट हो जाय, कुछ साधारण बात न थी।

मरने से कुछ दिनों पहले उन्होंने एक पत्र में लिखा था "बहुत दिन से मेरी भी अभिलाषा थी कि मैं अपनी जाति के विषय में एक पुस्तक लिखूं और दिखलाऊं कि खोज करने का मैदान कुछ यूरोपियन और बंगाली लोगों के नाम ही रजिष्टर्ड नहीं हो गया है, हम लोगों का भी उसके प्रवेश में वैसा ही अधिकार है, जैसा औरों का है। परन्तु अवकाश और संस्कृत की योग्यता के अभाव से उसको मैं प्रगट नहीं कर सका। आपका हृदय से धन्यवाद है, जो इस उत्तम कार्य्य में मुझे स्मरण किया। मैं कुछ दिनों से बीमार हूँ, इसीसे पत्र का उत्तर भी समय पर नहीं दे सका। आज भी कष्ट से लिख रहा हूँ, आराम हो जाने पर काशी के सब श्रेणिओं के वैश्यों की बातें लिखूंगा। मेरे विचार में बाबू × × × × जी और बाबू * × × × जिसे भी इस विषय में सहायता मिल

सकती है।" इस पत्र के बाद फिर कोई पत्र नहीं आया! आया,—खाली दारुण संवाद!! "पायोनियर" द्वारा विदित हुआ कि, बाबू माताप्रसाद एम. ए. से अन्तिम साधु-सम्भाषण करने के लिए कृतज्ञ बीबी एनी बेसण्ट महोदया उनके घर सपरिकर गईं थीं! साथ ही पत्र मिला कि सब हो चुका!!

संसार में ऐसे अभागे पुत्रों की कमी नहीं है, जो उद्दण्डता से भक्तिभाजन पिता की आज्ञा पालन करना तो दूर रहे, उनका दर्शन तक नहीं करते, परन्तु मुंशी शिवनन्दनप्रसाद जी ने इस समय पुत्र नाम को सार्थक करने वाला दुष्प्राप्य पुत्र खोया है। उनको सन्तोष होना कठिन है, तथापि उन्हें यह समझ कर कि "मरणान्तं हि जीवितम्" धैर्य्य और भगवान् पर भरोसा रखना चाहिए। उनके दुःख के साथ हमारी पूर्ण सहानुभूति है। स्वर्गवासी के ज्येष्ठपुत्र आयुष्मान् गङ्गाप्रसाद से हम आशा करते हैं कि वे अपने अजातशत्रु पिता के गुणों का अनुकरण कर अपने पूज्य पितामह के उस अभाव को दूर करेंगे, जो इस शोच्य घटना ने उपस्थित कर दिया है। सहयोगी "राघवेन्द्र" ने स्वर्गवासी के विषय में बहुत ठीक कहा है कि, "इनको आदर्श मान कर यदि आज कल के ग्रेजूएट्स चाहें, तो बहुत कुछ अपना तथा अपने देश का भला कर सकते हैं।"



स्वर्गवासी

राय बहादुर सेठ सूर्यमल जी

" स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ।
परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ।" —महाभारते ।

सच है, संसार में जन्म लेना उसीका सफल है जिसके जन्म लेने से वंश की उन्नति हुई हो अन्यथा इस परिवर्तन-शील संसार में मर करके जन्मता कौन नहीं है ? महाभारत के ऊपर लिखे हुए श्लोक का यही तात्पर्य है कि यदि जन्म सार्थक करना है तो ख़ाली अपनी निज की उन्नति में ही कृतार्थ होना ठीक नहीं है, ऐसा यत्न भी करना चाहिए जिससे उस जाति की भी उन्नति हो, जिसमें उसने जन्म ग्रहण किया है। अपने रहने के लिए तो छोटे छोटे पक्षी भी घोंसला बना लेते हैं और अनेक कष्ट उठा कर छोटी सी चोंच से अपना और अपने बालबच्चों का पेट भी भर लेते हैं, पर कमी उनमें यही है कि वे अपने वंश का उपकार नहीं कर सकते हैं। जो पुरुष धनाढ्य होकर बड़े बड़े मकान बनवाने और बाल बच्चों को लेकर ख़ूब मौज उड़ाने में ही अपने को बड़ा आदमी समझता है, उसकी योग्यता पक्षियों के समान है। अथवा उनसे भी खराब है। कारण, उनमें बहुत से ऐसे भी हैं जो अपने सजातीय को पीड़ित या घायल होता देख, कलरव कर सहायता देने लगते हैं और इनसे यह भी नहीं होता ! अस्तु आज हम जिस पुण्यात्मा का चरित्र प्रकाश करते हैं, वे उक्त प्रकार के बड़े आदमी नहीं थे, जो अपनी उन्नति में ही बस कर जाते, वरञ्च वे उन लोगों में से एक थे, जो अपनी उन्नति के साथ औरों की भी उन्नति किया करते हैं और स्वार्थसिद्ध करते भी परमार्थ को नहीं भूलते।

जन्म

सेठ सूर्यमल जी के पूर्वजों की जन्मभूमि जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रान्त में झूंझनू नगर है। इसीलिए वे झूंझनूवाले कहलाते थे। परन्तु उनका निवासस्थान चिड़ावा है, जो जयपुर के खेतड़ी राज्य का एक अंश है। वहीं पर सन् १८४७ ई० की तारीख १४ मार्च को उनका जन्म अग्रवाल वैश्यजाति में हुआ था और उसी बालुकामय प्रदेश में उनका लड़कपन बीता था।

कलकत्ते की यात्रा

सन् ५७ के राजद्रोह के पीछे भारतवर्ष में एक विलक्षण परिवर्तन हुआ। बड़े बड़े राजा महाराजा पथ के भिखारी हो गए और कितने ही भिखारी राजा बन गए। उन्नति-शील पुरुषों का ध्यान उस समय इस पूर्व-दिशा की ओर आकृष्ट हो रहा था।

भारतवर्ष की विजय-प्राप्त राजधानी कलकत्ते के अंग्रेज सौदागरों को उस समय परिश्रमशील हिन्दुस्तानी दलालों की बड़ी आवश्यकता थी, जो विलासी बङ्गाली और खत्रियों के द्वारा पूरी नहीं होती थी। बारह तेरह वर्ष की अवस्था के मारवाड़ी बालकों को ठीक ठीक कपड़े पहनने भी नहीं आते, परन्तु होनहार सूर्यमल ने उसी वय में जननी जन्मभूमि की सुखमय गोद छोड़कर कलकत्ते की पैदल यात्रा की! उस समय रेल के बिना देश से कलकत्ते आना जितना कठिन था उतना आजकल विलायत जाना भी कठिन नहीं है। घर की दशा तब सभी मारवाड़ियों की साधारण थी, इसलिए उसके विशेष परिचय देने की आवश्यकता नहीं। कलकत्ते में कई जगह कार्य करने के बाद परिश्रमी सूर्यमल ग्रेहम-कम्पनी के दलाल हुए। उसीसे उनके भाग्य का तारा चमक उठा। सचाई, नम्रता, सहनशीलता और कार्यतत्परता उनमें लड़कपन ही से थी जो वय के बढ़ने के साथ बराबर अधिक ही होती गई।

विश्वास

लड़कपन से ही उनको यह दृढ़ विश्वास होगया था कि "धर्म्म की जड़ सदा हरी रहती है।" इसीसे उन्होंने अपने मन में एक सङ्केत

कर लिया था कि इतनी आमदनी पीछे धर्मकार्य में इतना खर्च किया करूंगा। यद्यपि इस प्रकार का सङ्केत अब भी बहुत से मारवाड़ियों में रहता है, तथापि अधिक लोग उसे धर्म्मकार्य में नहीं लगाते। यहाँ तक कि दलाल लोगों से जो कटोती धर्म्म के नाम से काटी जाती है, उसको भी अनेक दुकानदार स्वयं गटक जाते हैं। उसी पाप का यह फल होता है कि, अन्त में लेने के देने पड़ जाते हैं। जो हो, सूर्यमल जी ने जो सङ्कल्प किया, उसे पूरा करके ही छोड़ा।

सत्कार्य

इनके सत्कार्यों का सिलसिलेवार वर्णन किया जाय तो एक पुस्तक बन सकती है। संक्षेप से यही कह देना बहुत है कि पुण्य के कामों में उनका पैर सब से आगे उठता था और वे कभी इस बात की परवाह नहीं करते थे कि, कोई उनके पीछे भी आता है कि नहीं। कलकत्ते में सब से पहले धर्म्मशाला और चिकित्सा-शाला उन्होंने बनवाई थीं। हरिद्वार और लुक्सर में उस समय धर्म्मशाला बनवाई जिस समय उनकी वहाँ बहुत ही आवश्यकता थी। लछमन झूले के भयानक झूले को पार करके बदरिकाश्रम की यात्रा करनी पड़ती थी। झूला रस्सों का होता था, जिसमें पड़कर प्रति-वर्ष अनेक यात्री गङ्गा गर्भ में समा जाते थे। बड़े बड़े राजा महाराजा उस पर से पार होगए, पर किसी के जी में यह न आई कि हम लोगों को पार पहुँचाने वाले बहुत लोग हैं, परन्तु दीन दुर्बल बूढ़े साधु ब्राह्मणों को और उन निर्धन विधवा स्त्रियों को जो अकेली तीर्थ के प्रेम से निकल आती हैं, कौन पार करेगा? यह बात दयालु सूर्यमल जी के जी में खटकी और उन्होंने इलाहाबाद गवर्नमेंट की मार्फत एक विशाल पुल बनवा दिया जो उनके यश की ध्वजा की भाँति बदरिकाश्रम के मार्ग में फहरा रहा है। कम्बली वाले साधु विशुद्धानन्द गिरी के उपदेश से ऋषीकेश में एक पंचायती धर्म्म-शाला और सदावर्त है, जिसमें अधिकांश रुपया कलकत्ते के मारवाड़ियों का लगा है और प्रति वर्ष बीस तीस सहस्र अब भी खर्च हो जाता है। सच पूछिए तो कम्बली वाले बाबा की ओट में इस काम की नींव

रखने वाले भी सूर्यमल ही थे। हरिद्वार और ऋषीकेश के मार्ग में ऐसे अनेक स्थान हैं, जिनकी उन्होंने मरम्मत करवाई और अपने जन्म-स्थान चिड़ावे में धर्मशाला और संस्कृत अंग्रेजी की पाठशाला बनवाई। हरिद्वार की महावारुणी के समय सरकारी कर्मचारियों ने मेला तोड़ने में जो अन्धेर किया था, तेजस्वी सूर्यमल से वह देखा नहीं गया! कलकत्ते की वृटिश इंडियन-एसोसिएशन के साथ मिलकर उन्होंने सहस्रों रुपये खर्च कर आन्दोलन करवाया, जिससे गवर्नमेंट को विवश होकर हरिद्वार कमीशन बैठानी पड़ी। यद्यपि इसका फल वैसा ही हुआ, जैसा दुर्बल प्रजा के आन्दोलन का सदा हुआ करता है, तो भी उन्होंने अपने चरित्र से यह सिद्धकर दिया कि, सभी मारवाड़ी रईस डरपोंक नहीं होते। पश्चिमोत्तर की गवर्नमेंट ने इसी विषय को लेकर अपने गज़ट द्वारा इस धर्म्म-प्रेमी दीनबन्धु पुरुष को दो चार कड़ी बातें भी सुनाईं, पर इससे उनकी धारणा में कुछ भी अन्तर नहीं आया! मारवाड़ियों में अब उनके समान कितने रईस हैं, जो गवर्नमेंट के किसी अनुचित कार्य के प्रतिवाद करने का साहस रखते हों?

सुधार की चेष्टा

मारवाड़ियों में समाज संस्कार की चेष्टा भी सब से पहले उन्हीं-ने की थी। कलकत्ते में चर्बी मिले घी का और खानगियों को निकालने का जब मामला हुआ था, तब स्वर्गवासी पं० देवीसहाय जी आदि को इन्होंने पूरी सहायता दी थी। मारवाड़ियों में तब ऐसे बहुत कम लोग थे, जो समाजसुधार को बातों में आगे होते, पर ये अपनी मित्र-मण्डली के साथ बराबर ऐसे ही कार्य करते रहे। बीस वर्ष पहले सेठ ने बंद करवाने में भी यत्न किया था, पर वह पार नहीं पड़ा। तथापि मरण पर्यन्त उस पुण्यात्मा ने इस प्रकार की कुरीतियों का विरोध ही किया।

सन्मान

गवर्नमेंट ने उनको सर्वप्रथम रायबहादुर बनाया था, तब तक मारवाड़ियों में कोई राजा या राय बहादुर नहीं हुआ था। इसके सिवा

सर्वसाधारण लोगों के भी वे इतने प्यारे थे कि, मारवाड़ी एसोसीएशन में सब से पहले उनका चित्र खोला गया और महाराज जयपुर जैसे धर्म्मात्मा नरेश ने भी उनकी प्रशंसा की।

पुत्र

सेठ सूर्यमल जी के दो विवाह हुए थे, जिनके फल स्वरूप दो उत्तराधिकारी हैं। पहली स्त्री से बाबू शिवप्रसाद जी का जन्म हुआ और दूसरी से बाबू (?) का, जिनकी अवस्था अभी १४-१५ वर्ष की है। बाबू शिवप्रसाद जी ने और और बातों में अपने प्रतापी पिता के गुणों का कहाँ तक अनुकरण किया है, यह तो विदित नहीं, परन्तु धर्म्मशाला बनवाने में वे भी पिता के समान ही दिखाई देते हैं। गया जी में उन्होंने दो धर्म्मशालाएँ बनवा कर अपनी उदारता का परिचय दिया है।

मित्र

जैसा अवतार होता है,- विभूति भी उसकी वैसी ही होती है। सेठ सूर्यमल जी के मित्र भी प्रायः उसी विचार के थे, जिसको वे पसन्द करते। बाबू रामचन्द्र जी गोएनका, राजा शिवबक्स जी बाघला, स्वर्गीय बाबू नाहरमल जी लोहिया, बाबू गुलाबराय जी पोद्दार और बाबू जुगलकिशोर जी रुइया आदि अनेक सज्जन उनके पञ्चायती कामों में सहायक होते थे। इसके सिवा पं० देवीसहाय जी जैसे उपदेशक और बाबू रामकिसनदास जी मुनीम भी उनके आदर और स्नेह के पात्र माने गए हैं।

मृत्यु

सन् १८९५ ईसवी की ता० १२ मार्च को कलकत्ते में उनको मृत्यु हुई। बड़े बाजार के मारवाड़ियों को इनके वियोग से वैसा ही दुःख हुआ, जैसा सरदार के उठ जाने से अधीनों को हुआ करता है। इनकी मृत्यु पर यहाँ के प्रायः सभी संवादपत्रों ने खेद प्रकाश किया था। एक कवि ने बहुत ठीक कहा था, कि—

"सूरुजमल सूरज बिना, अब यह बड़ो बजार।
अन्धकारमय हुइ गयो, गयो सत्य व्योपार।"

सेठ रामदयालु जी नेवटिया

वैश्योपकारक की इस संख्या में जिन वृद्ध पुरुष का चित्र है, उनका नाम सेठ रामदयाल जी नेवटिया है। मारवाड़ी वैश्य जाति में धनी हैं, दाता हैं और गो ब्राह्मण के भक्त भी बहुत से पुरुष हैं; परन्तु इन सब गुणों के साथ नेवटिया जी के समान विद्यानुरागी बहुत नहीं हैं। वैश्यजाति की शोभा धनाढ्य पुरुषों के कारण है, इस बात को तो हम भी स्वीकार करते हैं, किन्तु विद्यादि सद्-गुणों के बिना धनी पुरुष भी भारवाही पशु के समान होते हैं। सब तरह के भोग्य पदार्थ उन्हें सुलभ होने पर भी उनका आनन्द वे उस प्रकार नहीं ले सकते; जिस प्रकार एक गुणवान् पुरुष थोड़े ही में ले लेता है। इसलिए धनाढ्य हो कर जो विद्वान हैं, यथार्थ सुख के वे ही लोग अधिकारी हैं। नेवटिया जी, ख़ाली विद्वान् वा विद्याप्रिय ही नहीं हैं, भगवान् के भक्त भी हैं। यह गुण सब गुणों से बढ़ कर है। यह बात हमने उनके स्वदेशियों ही से नहीं सुनी, वरञ्च उनकी बनाई हुई पुस्तकों से भी विदित हुई है, जिनकी बात हम आगे चल कर कहेंगे।

नेवटिया जी सीकर राज्य के फतेपुर नगर के रहने वाले हैं। यह राज्य जयपुरमण्डल के अन्तर्गत है। शेखावाटी में जिस तरह फतेपुर अपने गुणों के कारण प्रसिद्ध है, उसी तरह नेवटिया जी भी अपनी विद्यानुरागिता और सुरसिकता के कारण प्रसिद्ध हैं। उस प्रान्त में जिन विद्वान् पुरुषों का जाना हुआ है, प्रायः सब आपसे मिलकर प्रसन्न हुए हैं। अपने व्यवसाय को करते रहना और साथ ही मनुष्य जन्म के मुख्य लक्ष्य की ओर ध्यान भी रखना यह नेवटिया जी जैसे विरले ही पुरुषों का काम है।

इनका जन्म संवत् १८८२ में कार्तिक सुदी १३शी को हुआ था। इस समय अस्सी वर्ष का वय है। इस वृद्ध पुरुष की सौम्य मूर्त्ति

देखिए और आज कल की सृष्टि का स्वरूप देखिए। कितना आकाश पाताल कैसा अन्तर है। इस सदी के आरम्भ से पहले मारवाड़ी समाज की कीर्ति बढ़ाने वाले पुरुषों का जो एक चिरस्मरणीय पवित्र प्रवाह आया था, नेवटिया महोदय उसीके शेष स्वरूप हैं।

आपकी बनाई हुई तीन पुस्तकें हमारे सामने हैं। एक "प्रेमाङ्कुर" दूसरी "लक्ष्मणामङ्गल" और तीसरी "बलभद्रविजय"। पहली बम्बई के श्रीवेंकटेश्वर प्रेस में छपी हुई है और शेष दोनों वहीं के पं० श्रीधर शिवलाल के "ज्ञानसागर" छापेखाने में।

"प्रेमाङ्कुर" में व्रजभाषा मिश्रित देशी भाषा में नामस्मरण, संकीर्तन, आत्मबोध, स्तुति, प्रार्थना आदि हैं और इसके सिवा वृन्दावन-विहारी व्रजनाथ की सरल लीला के वर्णन के साथ गणेशादि देवों की स्तुति भी भावमय पद्यों में है। दो एक जगह संस्कृत-रचना भी है।

"लक्ष्मणामङ्गल" में भागवत वर्णित श्रीकृष्णचन्द्र की अन्यतम पटरानी के विवाह का वर्णन है और शेष में अनेक प्रकार की स्फुट कविता है।

"बलभद्रविजय" में उस कथा का वर्णन किया है, जिसमें बलदेव जी ने हस्तिनापुर पर चढ़ाई कर के श्रीकृष्णचन्द्र के पुत्र साम्ब को कौरवों से छुड़ाया है। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के पद और राग रागिनियों में कृष्णकेलि और कृष्णरति का वर्णन है।

इन दोनों पुस्तकों में दोहे, चौपाई, कवित, सवैये और छप्पै आदि छन्दों के गाने योग्य अनेक तरह के पद हैं। नेवटिया जी की कविता पुराने ढाँचे की और सदोष होने पर भी, कवि की सरलता, निरभिमानिता और अहैतुकी भक्ति को द्योतन करती है, इसलिए यहाँ दोष भी गुण हो गए हैं। इन पुस्तकों के देखने से विदित होता है कि नेवटिया जी ने श्रीमद्भागवत के सिवा, गुसाँई तुलसीदास जी की कविता का भी खूब अनुशीलन किया है, जिससे जगह जगह उनका प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। यहाँ पर नेवटिया जी की कुछ कविता का नमूना दिखाते हैं। इनका कविता का नाम "कृष्णदास" है।

राग विहाग। माधव निज करतूत सुनाऊं। जानत हो तुम जन के मन की तुमसों कहा दुराऊं। टे०। जन्म पाय सुकृत नहिं कीन्हों फेर कियो नहिं चाऊं। दुस्कृत स्रोत कियो या वपु सों फिर नहिं करत अघाऊं।१। अपने दोष अमित हिय लखि कै मन ही मन पछताऊं। हृषीकेश गुण लेश न मेरे केहि विधि तोय रिझाऊँ।२। शिर झुकाय ज्यूं पड़ूं कूप में किसके पास कढ़ाऊं।३। करतल गरल जानकर पीऊं फिर क्यूं वैद्य बुलाऊं? दुर्गुण कहत पार नहिं आवै, कहँ तक ग्रन्थ बढ़ाऊं।४। जो तुम सहाय करो नहिं मेरी तो करनीफल पाऊं। कृष्णदास लखि छमा करो जब तब सब दुख बिसराऊं।५।

फिर कहते हैं—

माधव तुम विन सब झूठो। रवि शशि अनिल अनल जल थल में तुमरोहि तेज अनूठो।१। नन्दकिशोर और नहिं जाचूँ राजि रहो चाहे रूठो। मैं हूँ अनन्य आपको केशव कृष्णदास पै तूठो।२।"

संस्कृत में जो गंगास्तुति की है, उसका भी कुछ नमूना देखिए क्या अच्छा है?

"नारायणस्य चरणाब्ज विनिःसृतासि श्रीशङ्करेण प्रणयेन शिरो धृतासि।
गङ्गे जनस्य मन बाञ्छित सिद्धिदासि, पाप प्रणाशनि महा यशसा विभासि।"

"यत्रैव ते देवि यशः प्रकाशं तत्रैव गोविन्द मुकुन्द भासम्।
अनेक जन्मार्जित पाप नाशं दीप्ते हुताशे इव तूलराशिम्।"

मालूम होता है, प्रेमाङ्कुर बीस वर्ष पहले की रचना है; कारण, नेवटिया जी भगवान से प्रार्थना करते हुए कहते हैं।

"वरष साठ की वय भई, शिथिल हुइ गई देह।
आसा तृष्णा नित नई, छुट्यो न घर से नेह।"

श्रीमद्भागवत के "जिह्वैकतो" इत्यादि पद्य का देखिए कैसा सुन्दर सार खैंचा है—

"रसना रस द्रग देखबो, परस्यो चाहत चाम।
कर्म शक्ति खैंचत यथा गृही एक बहु बाम।"

और भी सुनिए

"नर तनु नौका कीर गुरु, वायु हरि (?) अनुकूल,
भवनिधि तिरै न आत्महा, चेत चेत मत भूल।"

यद्यपि नेवटिया जी की कविता का लक्ष्य भगवद् भक्ति है, तथापि वे देश की दुर्दशा से बेखबर नहीं है। वह राजा से निराश हो कर कह रहे हैं—

"न्याय जगत से उठ गयो, नृपजन करत अनीत
धन लुटाय घर में धरें, कर अजंट से प्रीत !"

बूढ़े और सीधे सेठ जी का यह वाक्य इस योग्य है कि, अन्यत्र नहीं तो रामगढ़, फतेपुर आदि नगरों के द्वारों पर लिख दिया जाय, जिससे लोगों को कुछ देश का ज्ञान होता रहै।

प्रेमाङ्कुर में एक जगह भगवत् कृपा का वर्णन आप इस प्रकार करते हैं—

सिंधु होय जल बिन्दु इन्दु सम होय दिवाकर
अनल कमल को फूल तूल सम होय धराधर
माहुर मधुर समान भूप भ्राता जिमि जानै।
शत्रु होय निज दास लोक आज्ञा सब मानै।
पाप होय हरि जाप सम, को दुराय नहिं भू परै।
आनन्द कन्द व्रजचन्द्र जब करुणानिधि किरपा करै।

"बलभद्रविजय" में भगवान श्रीकृष्ण से आप कहते हैं कि—
'वेदमार्ग चालबे की सत्यशील पालबे की कामादिक टालबे की कहां से मति ल्याऊं मैं। दान पुण्य करिबे कों शास्त्र अनुसरबे कों भवसागर तरबे कों ज्ञान कहाँ पाऊं मैं। साधनविहीन दीन मति को प्रबीन नाहिं दीनबन्धु जान कृपासिन्धु को रिझाऊं मैं। त्यार या न त्यार निराधार आधार तुँहि नंद के कुमार प्यारे तेरे गुण गाऊँ मैं।"

संस्कृत के अनुकरण पर भाषा में कुछ श्लोक दिए हैं, एक "बसन्त तिलका" का नमूना देखिए।

"गोपाल, गोप, गणनायक, शैलधारी,
श्रीनन्दलाल, जनपालक, कष्टहारी,
भक्तानुकारि भगवन्! प्राणतार्तिहारी,
माता पिता सुहृद् बन्धु सदा मुरारी"

एक जगह भगवान् को उलाहना इस तरह दिया गया है—"हरिचन्द्र सत्त काज राज छाँडि के बिकायो तन, नीच घर बीच जाय कीन्ही सिवकाई है। बलि को सर्वस्व लियो तदपि तिहिं बाँध लियो, भेजो है पताल यह कैसी निठुराई है। नृग समान दानी को कियो कृकलास रूप कूप माँहि डार्‌यो यह रावरी बड़ाई है। पाण्डव बहु सह्यो त्रास भोग्यो वनबास कठिन सुनि के तिहारी बात मन में न भाई है।"

बस इसी प्रकार की कविताओं से पुस्तकें भरी हैं, यदि इस ढंग की कविता कोई अभिमानी कवि या कोई विबुध जन या काशी के आस पास का कोई साधारण मनुष्य प्रकाश करता तो कुछ लिखने योग्य बात न थी। किसी स्वच्छ सरोवर में कमल का पुष्प खिल उठै, तो कुछ आश्चर्य नहीं; पर यदि वह अर्कप्रधान मरुभूमि में खिलता दिखलाई दे तो आश्चर्य्य है। एक समय था, फतेपुर में "सुन्दरदास" और "भीखजन" जैसे भावुक कवि उत्पन्न होते थे, परन्तु अब वह समय नहीं है। मारवाड़ी ब्राह्मणों और वैश्यों के रुचिविकार से वहाँ हृदयबिदारक नए नए सीठनों की सृष्टि हो रही है!! ऐसे घोर समय में वहाँ एक निरभिमान, विद्याप्रिय और भगवत्परायण वैश्य का भी निवास है, यह जानकर किसको आनन्द नहीं होगा। परमात्मा करें कि होनहार मारवाड़ी बालक इस वृद्ध पुरुष के विचारों का अनुकरण करें।



F. 37

लाला नन्दराम जी

अग्रवाल वैश्यों की आदिभूमि हरियाने देश में जितने प्रसिद्ध वैश्यवंश हैं, उनमें लाला नन्दराम जी का कुल भी गौरव और प्रतिष्ठा का पात्र है। हरियाने का प्रसिद्ध नगर भिवानी इस समय भी "नन्दराम की भिवानी" के नाम से विख्यात है। सच पूछिए तो इसमें कुछ बढ़ावा भी नहीं है, भिवानी में श्रीवृद्धि की बुन्याद उन्हीं-के हाथ से पड़ी थी। आज हम अपने वैश्योपकारक के पाठकों को उसी प्राचीन पुरुष का चरित सुनाते हैं।

पिता और आदिभूमि

लाला नन्दराम जी के पिता का नाम रूपराम था। उनका गोयल गोत और "पपरूण" (खेतड़ी) का निकास था। रूपराम जी के पुरुखे अपने निकास स्थान से आकर पहले कलानोर में बसे थे, जो रोहतक की तहसील में एक खासा कसबा है, पीछे भिवानी से दो मील दक्षिण "हलवास" नामक एक क्षुद्र ग्राम में आन कर रहने लगे। विक्रम की १७ वी० शताब्दी में जब भारत के भाग्य की बाज़ी लगा कर बिदे-शियों के साथ दिल्लीश्वर की चौसर बिछ रही थी, तब भिवानी का यह सुन्दर दृश्य होनहार की गोद में था। वह दो चार छप्परों को लेकर "ढाणी" के नाम से पुकारी जाती थी, किन्तु हलवास उस समय भी अपने इसी आकार से भयार्त दुःखित और शरणागतों के लिए शरण्य था। यहाँ के वीर राजपूतों की धाक से रोहतक और "आसी" (हाँसी) के मुसलमान शासनकर्त्ता भी काँपते थे। भाग्य की बात है, आज भिवानी ने एक बड़े भारी नगर का रूप धारण कर लिया, किन्तु हलवास उसी तरह गिनती के घर लिए अपनी ज़िंदगी पूरी कर रहा है। अंग्रेज़ी राज्य से पहले शेखावाटी के जिन छोटे गाँवों में जहाँ एक

भी पक्का मकान न था, वहाँ जन्मभूमि के प्रेमियों ने जंगल में मङ्गल कर दिखाया, किन्तु हलवास के भाग्य की बलिहारी है कि, वह बड़े बड़े प्रसिद्ध सेठों के पितरों की जन्मभूमि होने पर भी अपनी "चौपाड" तक को पक्की नहीं बनवा सका। यद्यपि उसका जीर्ण देव-मन्दिर और खण्डित "सतीभवन" हलवास की दरिद्रता को प्रगट कर रहे हैं, तथापि रोग और दरिद्र पीड़ित इस क्षुद्र गाम को इस बात का अहङ्कार है कि, वह लाला नन्दराम जैसे धनी और ठाकुर चन्द्रभानु जैसे वीरों का जन्मदाता है, जिनका यश दूर दूर तक देशों में फैल रहा है। अस्तु, रूपराम जी हलवास में रहते और आस पास के गाँवों में वाणिज्य करने जाया करते। वह गुड़ शक्कर का व्यापार और ज़मींदारों में लेनदेन रखते। कई कारणों से भिवानी में दुकान खोलने का उन्हें सुभीता हुआ, जिसमें मुख्य हेतु यह था कि वहाँ दो चार दुकानें और वैश्यों ने खोल लीं थीं जिनमें सौदा ख़रीदने को आस पास के लोग आने लगे थे। इसलिए इन्हें भी स्थायी रूप से वहाँ दुकान खोलनी पड़ी और फिर कुछ दिनों में घर के लोगों को भी ये वहीं ले गए। रूपराम जी बिचले बाज़ार में आकर उस स्थान पर रहे, जो अब दरवाज़े के अन्दर "चौहटले" के नाम से प्रसिद्ध है।

भाई और जन्म

रूपराम जी के तीन पुत्र हुए, तीनों ही वंश बढ़ाने वाले और बड़े ही प्रतापी थे। बड़े भीमराज, मझले सेवाराम और छोटे नन्दराम। नन्दराम सब से छोटे होने पर भी गुणों में सब से बढ़ गए थे। बड़े भाई का स्वभाव बहुत ही शान्त था, किन्तु दूसरे का राजसो स्वभाव होने से सेवाराम जी के साथ नन्दराम की सदा खटपट रहा करती। लड़कपन की खटपट का यदि इलाज न किया जाय, तो वह आगे चल कर बहुत बढ़ सकती है, यहाँ तक कि भाई का भाई शत्रु होजाता है। इस विषय में कौरव और पाण्डवों का दृष्टान्त ही यथेष्ट है। जो हो, लाला सेवाराम और नन्दराम जी में लड़कपन ही से विरोध बढ़ने लगा। पहले

पहल ये दोनों अपने अपने मित्रों की टोली अलग रखते थे, बड़े होने पर ठाकुरों की जमायत अलग अलग रखने लगे। दोनों ही शस्त्र बाँधते और हथियार चलाया करते। कहते हैं कि, दोनों भाइयों में उस समय "भेड़" का खेल हुआ करता। खेल क्या इसे एक तरह की लड़ाई कहना चाहिए। दोनों की जमायत अलग अलग स्थानों को अधिकार में कर, पत्थर चलाया करती, जो लोग अपनी जगह से हट जाते, वे उस दिन परास्त समझे जाते। इस खेल में प्रति दिन कइयों के अङ्गभङ्ग हो जाते। आज कल के दुर्बल लोग जो ताश और शतरञ्ज से समय को स्वाहा किया करते हैं, वे इस बात को सुन कर हँसेंगे परन्तु ये उन दिनों की बात है, जिन दिनों प्रत्येक मनुष्य को जीवनरक्षा के लिए इस प्रकार के कार्यों से फौलाद का शरीर बनाना पड़ता था। अस्तु, लाला नन्दराम जी का जन्म विक्रमीय संवत् १७९७ में हुआ था और इसी प्रकार के खेलों में उनका सुखमय लड़कपन बीता था।

शिक्षा और विवाह

किसी ने सच कहा है कि अवतार के साथ विभूति आती है और भाग्यवान् बालक के साथ लक्ष्मी। जिस दिन से नन्दराम जी का जन्म हुआ उसी दिन उनके पिता की श्री बढ़ने लगी। ये जिस काम में हाथ डालते उसीमें लाभ रहता। कहते हैं कि उनको एक वृद्ध ब्राह्मण ने बतलाया था कि, अपनी कमाई का दसवाँ हिस्सा पुण्य में लगाते रहना। उन्होंने वैसा ही किया और यही बात अपने प्रतापी पुत्रों को सिखा दी थी; जिसका फल यह हुआ कि, नन्दराम अपने वंश के यश के झंडे भिवानी में फहराने लगे। उस ससय धर्म्म के नाम की कटौती काट कर, कोई हजम नहीं करते। आज कल के सेठों की तरह न वे बहुत बड़ा रोजगार करते और न उसमें छल कपट से काम लेते, पर तो भी अपनी सचाई और ईमानदारी से थोड़े ही दिनों में वे अच्छे चलतीवाले हो गए। रूपराम जी कुछ पढ़े नहीं थे और न लंबा चौड़ा बही खाता रखते थे, लेन देन हजारों ही का होता था, पर सब स्मरणशक्ति से। उस

समय देने वाले को न "स्टाम्प" खरीदने की ज़रूरत होती न नालिश करने की। देनेवाला ही देने की बात याद रखता और जब तक वह अपना ऋण चुका न देता; तब तक वह अपना और अपने पितरों का नरक में निवास समझता! यह अंग्रेज़ों के कानून की बलिहारी है कि अब तीन वर्ष के बाद लेनदार का कुछ हक़ ही नहीं रहता! अस्तु, लाला सेवाराम जी ने पुत्रों की उन्नति के लिए उन्हें हिंदी में लिखना पढ़ना और हिसाब किताब करना सिखवाया और इसके साथ ही यह भी कि धर्म्म की जड़ सदा हरी रहती है। इस काम के लिए एक ब्राह्मण को उन्होंने भिवानी में बसाया जो चटसाल खोलकर बालकों को मुड़िया सिखाने लगा। लाला नन्दराम के दो विवाह हुए थे, पहली स्त्री के निस्सन्तान मरने पर दूसरा विवाह हरलालभूत की बेटी रत्नकुँवरी के साथ हुआ था, जिसकी कोख से डूँगरमल, मूलचन्द, पतराम और देवकरण जी जैसे चार भाग्यवान और पुण्यशील पुत्रों ने जन्म लिया, जिनके बनवाए हुए तालाब, मन्दिर, धर्म्मशाला और छत्री आदि उत्तम कार्य उनके यश के अबतक नगाड़े बजा रहे हैं।

कामकाज

रूपराम जी संवत् १७८२ में भिवानी आए थे और संवत् १८३३ में उन्होंने एक बड़ा कुआ बनवाया जिसका अब भी हज़ारों आदमी जल पीकर उन्हें स्मरण करते हैं। भिवानी में सब से पहले यही कुआ बना था। रूपराम जी के मरने पीछे नन्दराम जी का काम और भी ज्यादा चमका। भाइयों से अलग वह पिता के साम्हने ही हो गये थे और अब एक पचमंज़ली हवेली भी अपने रहने के लिए बनवाई। इनके बड़े भाई भीमराज ने इनके पास ही एक छोटी हवेली अपनी अलग तैयार करवाई। भिवानी में यही हवेली सब से प्रथम बनी थी। इसलिए उसी दिन से नन्दराम के वंशधरों का नाम "हवेलीवाला" पड़ा और भीमराज के कुल का "छोटी हवेली वाला।"

गयायात्रा

दैवयोग से एक दिन लाला नन्दराम जी के पास बनिहाड़ी

के ब्राह्मण जयकिसनराम जी चले आए, वह कुछ बड़े भारी पण्डित तो न थे, पर पूजापाठ का काम ख़ूब प्रेम से किया करते और क्षमा, शान्ति, पवित्रता, भक्ति और सन्तोष आदि वे सब गुण उनमें थे; जो एक सच्चे ब्राह्मण में होने चाहिए। लाला नन्दराम जी की भक्ति और आग्रह से वे उनके पास रहने और उन्हें समय समय पर उपदेश देने लगे। संवत् १८४२ में वे जयकिसनदास जी को साथ लेकर गयायात्रा के लिए निकले। उस समय खुश्की रास्ते से गयायात्रा करना कुछ ठट्ठा न था। यात्रा करके लौटने पर लोग अपना पुनर्जन्म समझते थे। यह यात्रा उनकी बड़ी धूमधाम से हुई। साथ बीसियों आदमियों का समूह और शाही परवाना था। भिवानी के बूढ़े लोग इस यात्रा की बात कथा की तरह सुनाया करते हैं।

बड़ा मन्दिर

गया से पुजारी जयकिसन जी सीधे चारों धाम करने चले गए और लाला आठ मास में यात्रा कर भिवानी पहुँचे। संवत् १८४६ में जब उनके पुजारी जी चारों धाम करके लौटे और इन्होंने दक्षिण के मन्दिरों की बातें सुनीं तब इन्होंने भी संवत् १८४७ में, रघुनाथ जी का एक मन्दिर बनवाया जो बड़े मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है और जिसमें पूजन का अधिकार पुजारी जयकिसनराम की सन्तान को प्राप्त है।

कटला और उन्नति

संवत् १८४९ में माघ सुदी ५मी के दिन उन्होंने कटले की सुप्रसिद्ध इमारत की नींव दी, जिसके मरदाने भाग की पूर्ति कई साल के बाद उनके पुत्रों के समय में हुई। कटला एक तरह का किला है, जिसको बराबरी का कटड़ा दूसरे नगरों में मिलना कठिन है। कटले के कई हिस्से हैं, लाला नन्दराम जी के साम्हने सिर्फ़ पुराना (जनाना) कटला बना था। इसके बाद उन्होंने इस बात का यत्न किया कि किसी तरह गाम की आबादी बढ़ा कर उसे नगर बनावें।

उन्होंने इधर उधर के वैश्यों को बुलाकर बसाया और उनके लिए रोज़गार का सुभीता किया। भिवानी में नाम मात्र की बादशाही थी, कर्ता हर्ता वहाँ के ठाकुर लोग थे। वे जो चाहते अपनी प्रजा से ले लिया करते। इसी भय से लोग वहाँ बसते न थे। लाला नन्दराम ने प्रत्येक पुरुष पर १) रुपैये साल का कर लगा कर, उनके प्राण और माल की रक्षा का भार ठाकुरों पर रख दिया। यहाँ के जाटू राजपूत अपनी बात के इतने सच्चे थे कि फिर अपनी बात से नहीं हिले और उनको इस बात का खयाल रहा कि भिवानी की जितनी आबादी बढ़ैगी, उतनी ही उनकी आमदनी की उन्नति होगी। इसलिए उन्होंने उस समय पर, जब कि बादशाही नगरों में लूट मच रही थी, भिवानी में अमन बनाए रखा और वह गाम से एक क़सबा हो चला। भिवानी वालों का न्याय उस समय कटले में लाला नन्दराम के साम्हने होने लगा। वह वादी प्रतिवादी के साथ बहुत मीठा बरताव करते और सदा सचाई और ग़रीबों का पक्ष लिया करते। इस तरह धीरे धीरे अपनी बुद्धिमानी के कारण वे वैश्य से भिवानी के राजा बन बैठे। जिस तरह एक बुद्धिमान् राजा अपनी चतुरङ्गिणी सेना के सब अङ्गों की पूर्ति किया करता है, किसी से भी बेख़बर नहीं रहता, उसी तरह लाला नन्दराम भी भिवानी की खाली वाणिज्य व्यापार और राजपूतों की टोलियों ही से सन्तुष्ट न रहे, वरञ्च उन्होंने धर्मरक्षा के लिए अच्छे ब्राह्मणों को भी कई पदों पर नियत किया। किसी को "मिश्र" किसी को "उपाध्याय" और किसी को "गारुड़ी" बनाया और उनके लिये गाम के लोगों पर कर लगा दिया। उस पुण्यात्मा का बाँधा हुआ प्रबन्ध शिथिल होने पर भी अभी तक बना हुआ है, जिससे सैकड़ों ब्राह्मणों की रोज़ी आज भी चल रही है।

पुरुषार्थ और व्यय

कहते हैं कि लाला नन्दराम हविष्यभोजी थे, सब तरह का ठाठ होने पर भी, आप जौ की रोटी खाते और रेजी का मोटा कपड़ा

पहनते। पर तो भी ऐसे पुरुषार्थी थे कि चालीस कोस का सफर करना उनके लिए मामूली बात थं। एक दिन किसी आढ़तिए की खाँड़ की बोरी कटले के मैदान में रखी हुई वर्षा में भींगने लगीं। यह देखकर उन्होंने नौकरों को पुकारा, पर किसी को सुनाई नहीं दिया। लाला ने फौरन खड़े हो चार चार मन की दो बोरियाँ एक एक हाथ से बगल में दबा दबा कर छाया में रखदीं। जब नोकरों ने देखा तब वे बहुत लज्जित हुए। अपने चारों लड़कों का विवाह उन्होंने राजकुमारों की तरह बड़ी धूमधाम से अग्रवालों के प्रसिद्ध पुराने ख़ानदानों में किया, (जिनका वर्णन हम इनके पुत्रों के जीवनचरित में करेंगे) और उनमें रुपैया भी बहुत लगाया। परन्तु अपनी सन्तान को विलासी नहीं होने दिया। वे कहा करते कि "धर्म करने और किसी मौके पर खर्च होने से बनिए का दिवाला नहीं निकलता, दिवाला निकलता है हररोज के खर्च से। रोज़ का ख़र्च राजा के भण्डार को भी खाली करदे। बनिए बेचारे तो चीज़ ही क्या हैं। जहाँ स्त्रियों और लड़कों (युवाओं) में शौकीनी और चटोरेपन की आदत पड़ी कि बंटाढार हुआ। कारण, इस तरह के खर्चों को मौका देने पर फिर वे घटते नहीं बढ़ते ही रहते हैं"। इसके साथ उनका यह भी कहना था कि बहुत लोग समझते हैं धन का फल यही है कि खाने पीने और भोगने में ख़ूब मौज उड़ाई जाय, पर यह असल में भूल है। धन का फल यही होता तो परमात्मा धन के साथ धनियों को भोग शक्ति भी बढ़ा देता। एक एक सेठ हाथी जितना ख़ाने पीने लगता और पशुओं की तरह क्रीड़ा करने लगता। परञ्च देखने में आता है कि द्रव्य होने पर उल्टी भूख कम हो जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि द्रव्य भोग के लिए नहीं आता, परञ्च दीन दुःखित जनों पर दया करने के लिए आता है।"

सच पूछिए तो लाला नन्दराम जी के इस उपदेश पर हमारे इस समय के अग्रवाल धनी, जो स्त्रियों को अप्सरा और लड़कों को लम्पट बनाना ही रईसी की भड़क समझते हैं, ध्यान दें तो बहुत

उपकार हो सकता है। आज कल सब भाई खर्च बढ़ने की शिकायत करते हैं पर वे विचार कर नहीं देखते कि उनके यहाँ किस तरह के खर्च बढ़े हैं। आत्मा को सन्तुष्ट करने वाले या नरक में ले जाने वाले ? वे यदि अपनी शौकीनी के कामों में न्यूनता कर कुछ ग़रीब लोगों की भलाई में खर्चने लगें, तो उन्हें मालूम हो कि विषयानन्द की अपेक्षा पुण्य में कितना अधिक आनन्द है।

प्रभाव और दयालुता

उनके पास पाँसी लड़ाके राजपूत हर वक़्त लड़ने के लिए तैयार रहते और काम पड़ने पर हज़ारों को इकट्ठे कर सकते थे। राजपूतों ने शादी कर देनी छोड़ दी थी और वे मरने मारने के लिए कटिबद्ध थे। उन पर सिवाय लाला नन्दराम के उनके बड़े भाई सेवाराम का भी प्रभाव पड़ता था। पर यहाँ की प्रधानता की डोर इन्हींके हाथ में थी। दोनों भाइयों के विषय में लोग कहते "सींघ का भाई भगेरा, वह कूदे नो, वह कूदे तेरा"। लाला नन्दराम की बात का लोगों को यहाँ तक ध्यान था, कि उन्होंने एक दिन अपनी ससुराल वालों को जबरजंग समझ कर कह दिया कि "आए कहीं के भड़ैंच" बस उसी दिन से उन्हें सब "भड़ैंच" कहने लगे। उनमें दयालुता ऐसी थी कि एक दिन एक वाणिज्य व्यवसायी गुसाँई दस हज़ार के दुशाले लेकर आया। उनके बड़े बेटे ने कहा कि "तुम्हारा सब माल आज बिकवा देंगे पर आढ़त में एक दुशाला लेंगे"। उसने कहा "बहुत अच्छा" माल खलास देने पर उन्होंने एक काला दुशाला जो बहुत बढ़िया था प्रतिज्ञा के अनुसार रख लिया। गुसाँई बेचारा बोला तो कुछ नहीं, पर उसकी आँखों में आँसू भर आए। लाला नन्दराम जी की दृष्टि उधर होते ही उन्होंने दुशाला फौरन दिला दिया और कहा कि "साहूकारों के दरवाज़े पर आँसू पोंछे जाया करते हैं, गिरा नहीं करते। आप जाइए हमने आढ़त भर पाई।"

लड़ाई और मृत्यु

सं० १८६६ के भाद्रपद में कर्नेल वारिन साहिब पुरबियों की पलटन

के साथ भिवानी को शासनाधीन करने आए। उस समय आस पास के सब गामों में भिवानी ही ने प्रधानता लाभ कर ली थी और किसी गाम ने मुकाबला नहीं किया; परन्तु भिवानी के नौजवान लोगों ने बिना लड़ाई के अधीनता स्वीकार करना न चाहा। भिवानी के चारों ओर खाई खोद मिट्टी की दिवार में मोर्चे बनाए गए। तीन दिन तक राजपूतों ने ख़ूब जी खोल कर लड़ाई की, करनेल वारिन साहब मारे गए पर अन्त को राजपूतों की तलवारें तोपों का मुकाबला न कर सकीं। लाला नन्दराम जी के पुत्र भी खाली तखरी उठाने वाले वैश्य ही न थे, समय पड़ने पर शस्त्र धारण कर युद्ध में योग भी देते थे। वे तीन दिन तक बराबर लड़ने वालों को सहायता देते रहे पर जब अच्छे अच्छे वीर मारे गए और भिवानी की रक्षा असम्भव दिखलाई दी तब स्त्रियों को लेकर भाग निकले। सं० १८६६ में भाद्रपद बदी ४ के दिन भिवानी की स्वाधीनता सदा के लिये नष्ट हो गई। पुरबियों की पलटन अन्दर घुस आई और बालक वृद्ध जो सामने आया काटा गया। लाला नन्दराम अभी भागने न पाए थे। एक पुर्विये ने अचानक उन पर आक्रमण कर संगीन से उन्हें धराशायी कर दिया। कटड़ा लूटा गया और तीन चार लाख के माल का थोड़ी ही देर में स्वाहा हो गया। घायल होने पर भी लाला नन्दराम की मृत्यु नहीं हुई, कमान अफसर ने उनके घायल होने की खबर पाकर उन्हें उठा मँगाया और बहुत ख़ातिरदारी से डाक्टरी इलाज करवाया, परन्तु तेरह दिन के बाद अर्थात् भाद्रपद सुदि २या को उनका प्राणपखेरू उड़ गया। विधाता की गति भी विचित्र है। इतने बड़े पुण्यशील और चार पुत्रों के पिता को अंग्रेज़ की छावनी में निस्सहाय की तरह पैर पसारने पड़े। उनके पुत्रों को ख्याल था कि पिता भी कहीं भग गए होंगे, केवल सब से छोटे देवकरण दास मृत्यु की रात को आ पहुँचे थे। उन्होंने उनका अन्त्येष्टि संस्कार किया। अंगरेज़ सेनापति बहुत सहृदय था, उसने अपने पास से दुशाला और संस्कार के लिए उपयुक्त द्रव्य दे धूमधाम से उनका संस्कार करवाया। जहाँ उनका

अन्तिम संस्कार किया गया था; वहाँ अब बहुत सुन्दर छतरी बनी हुई है।

कलङ्क

लाला नन्दराम जी के पवित्र जीवन में एक बात का बड़ा कलङ्क सुना जाता है। उनके बड़े भाई सेवाराम को, जिनके साथ उनकी बहुत खटपट रहा करती, एक रंघड ने छुरे से उस समय मारा था, जिस समय वे अपनी पार्टी के राजपूतों को भोजन करवा रहे थे। कहते हैं कि यह गंदा कार्य नन्दराम के इशारे से हुआ था। यदि यह बात सच हो तो हमें लाचार होकर कहना पड़ता है कि कदाचित् यह उसी पाप का फल था, जो ऐसे धर्मात्मा को यों तड़फ कर प्राण देना पड़ा। परन्तु यह लोगों का ख़्याल है, इसका कोई पक्का प्रमाण नहीं। विशेषतः एक ऐसे पुण्यशील व्यक्ति के लिए, जो किसी की आँखों में आँसू तक देखना नहीं चाहता, यह उसके स्वभाव के नितान्त विरुद्ध है कि वह माँजाए सगे भाई के साथ ऐसा विश्वासघात करे। जो हो, आज लाला नन्दराम नहीं रहे; परन्तु वे जो कार्य कर गए हैं, उनकी सब लोग चर्चा करते हैं।

मंडी

सं० १८७३ से ७९ तक फरोजन साहब ने दादरी की मंडी टूटने पर भिवानी की मंडी लगवाई। इस अंग्रेज़ ने "गंगाणे" गाम की जाटनी, जिसका श्रवण नाम था रख ली थी, जिसके गीत हरियाने में अभी तक गाए जाते हैं। लाला नन्दराम जी के पुत्रों के चरित के साथ हम इस विषय की बातें यथावसर अगली बार कहेंगे।



स्वामी और सम्पादक

जिन यन्त्रालयों और संवादपत्रों-द्वारा मातृ-भाषा हिन्दी की पुस्तकों का प्रचार हुआ और हो रहा है, उनके स्वामी और सम्पादक अवश्य ही धन्यवाद के पात्र हैं। सच पूछिए तो हिन्दी की जो कुछ उन्नति हुई है, उसके मूल उक्त महोदय ही हैं। भारतवर्ष में सहस्रों हिन्दू राजा-महाराजा हैं, धनाढ्य लोगों का भी अभाव नहीं है, किन्तु मातृ-भाषा के लिए किसी ने लाख पचास हज़ार कभी दान किया हो ऐसा सुनने में नहीं आया और न कभी यही सुना कि अमुक उदारचेता नृपति ने हिन्दी के अमुक सुलेखक की विपत्ति दूर कर दी। तथापि ऐसी कठिन दशा में हिन्दी की उन्नति का द्वार उन्मुक्त करनेवाले ये ही उत्साही लोग हैं।

यह सत्य है कि राजपूताने के दो एक महाराजाओं ने हिन्दी-ग्रन्थ-निर्माताओं को लाखों की सम्पत्ति दी और भारतेन्दु जी को दो एक राजाओं ने अन्तिम समय में उनके पास सहायता भी पहुँचाई थी; परन्तु इस दान वा सहायता से मातृभाषा पर उनका प्रेम सूचित नहीं होता। यह केवल अपनी गुणग्राहिता का डंका वजाने का ढङ्ग है, इसमें रहस्य कुछ और ही है। अन्तरङ्ग व्यवहार के लिए कोई किसी को पुरस्कृत करे तो वह स्तुत्य होने पर भी उस सम्मान का पात्र नहीं, जो किसी का मुँह देखे बिना गुणिमात्र को सत्कृत करनेवालों के लिये निर्दिष्ट है। सुतरां, मातृभाषा के सेवकों में या तो कुटुम्ब-पोषण-व्यय अर्थक्लिष्ट सम्पादक महाशय हैं या कई एक मुद्रणयन्त्रालयों के व्यापारकुशल और मातृभाषा के प्रेमी स्वामी (प्रोप्राइटर) महोदय हैं। राजा महाराजाओं की नितान्त ही न्यूनता है।

जो लोग केवल व्यापार चलाने और ऐसी-वैसी पुस्तकों के छापने के निमित्त ही प्रेस खोल बैठे हैं, उनका हम उल्लेख नहीं करते, यहाँ

पर हम उन यशस्वी पुरुषों का नाम लेना चाहते हैं, जो व्यापार-कुशल होने पर भी मातृभाषा की सेवा से पराङ्मुख नहीं हुए। ऐसे सज्जनों में अग्रगण्य लखनऊ के स्वर्गवासी मुंशी नवलकिशोर सी० आई० ई०, खड्गविलास प्रेस बांकीपुर के स्वामी म० कु० श्रीयुक्त बाबू रामदीनसिंह जी और श्रीवेंकटेश्वर यन्त्रालय मुम्बई के अधिपतिं श्रीयुक्त सेठ खेमराज श्रीकृष्णदास जी हैं।

मुंशी नवलकिशोर जी ने यद्यपि अनेक पण्डितों द्वारा अनेक सद्ग्रन्थों का अनुवाद कराया, सहस्रों प्रकार की बहुमूल्य हिन्दी पुस्तकों को छाप कर सुलभ कर दिखाया परन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि प्रेस के द्वारा जैसा धन और प्रतिष्ठा का उन्होंने सञ्चय किया वैसा मातृभाषा का उनसे उपकार नहीं हुआ! 'सुखसागर' नाम की पुस्तक अनेक बार उनके यहाँ मुद्रित हुई। लाखों रुपैये उसके द्वारा मुंशी जी ने कमाये, परन्तु जिस सरल लेखक ने वह ग्रन्थ लिखा था उसको केवल पच्चीस पुस्तकें मिलीं! इसीसे समझा जा सकता है कि मुंशी जी कैसे उदार थे! 'सुखसागर' के ढंग पर श्रीमद्भागवत की कथाओं को मुम्बई के सेठ जी ने भी 'सुखसागर' नाम देकर किसी से लिखा लिया है और उसकी भी बहुत बिक्री हो रही है, परन्तु वह भाषा वह सरलता और वह बिक्री दूसरे की नहीं हुई; तथापि सेठ जी ने नये अनुवादक के साथ वैसा बर्ताव नहीं किया। मुन्शी जी बात के इतने कच्चे थे कि एक लाख रुपैये महामण्डल को देने कर के नट गये। धर्म्म को इतना हलका समझते थे कि श्रीभारतधर्म्म महामण्डल की सभा में प्रस्ताव कर दिया कि महामण्डल के नाम से 'धर्म्म' शब्द निकाल दिया जाय। राजकर्म्मचारियों के यहाँ तक दास थे कि आजमगढ़-बलिया के गोरक्षा सम्बन्धी झगड़ों के समय हमारे एक हिन्दू मित्र से गोरक्षा के विरुद्ध अवध अखबार में लिखने को कह बैठे!! बीस बाईस लाख की सम्पत्ति इस रीति से संग्रह कर एक दत्तक सुत को दे चल बसे। यदि यमराज तक हमारी रसाई होती तो हम बिना दो चार नये ख़िताब पाये दिल्ली दर्बार से पूर्व उन्हें वैवस्वत का दर्बारी न होने

देते। लार्ड कुर्जन लिखित "तवारीख रूसियों" का अनुवाद कर उसके प्रचार करने का फल अवश्य मिलता।

बाबू रामदीनसिंह महोदय को गवर्नमेंट ने अभी तक कोई उपाधि नहीं दी है और न मुन्शी जी के समान उन्होंने यन्त्रालय द्वारा अर्थ सञ्चय ही किया है, किन्तु शिक्षा विभाग की दुर्लभ कृपा उनके लिये सदा सुलभ हो रही है। इसके अतिरिक्त हिन्दी भाषा के सुलेखक और विद्यारसिक लोगों को आकर्षण करने के लिए वे एक दुर्लभ चुम्बक के समान हैं। मगधेश्वर के यहाँ जैसे बहुत से नरनाथ कारारुद्ध रह कर उनके प्रताप का द्योतन करते थे, वैसे ही खड्गविलास प्रेस की अट्टालिका में हमारे भारतेन्दु, व्यास और मिश्र जी आदि सत्कवियों का जीवन सर्वस्व पड़ा हुआ बाबू साहिब के यश को दिगन्तव्यापी कर रहा है। मुन्शी जी हिन्दी भाषा के कवि और स्वधर्म के प्रेमी न थे और बाबू साहिब में उक्त दोनों गुण विद्यमान हैं। इसलिए उनके द्वारा हिन्दी की इतनी उन्नति हुई। बाबू हरिश्चन्द्र और पण्डित प्रतापनारायण मिश्र जी के साथ जैसा उक्त महोदय ने प्रेम निबाहा उसका निरूपण दोनों स्वर्गवासियों के चरित लिखने के समय करणीय है। "शिक्षा" "ब्राह्मण" "विद्याविनोद" और "क्षत्रियपत्रिका" आदि साप्ताहिक और मासिकपत्रों के आप आश्रयस्थल हैं।

सेठ खेमराज जी न तो मुन्शी जी के समान नीति निधान ही हैं और न बाबू रामदीनसिंह जी के तुल्य कवि और गुणवान ही हैं, किन्तु शिष्टता, विद्वत्प्रियता और उदारता में किसी से कम नहीं हैं। सेठ जी को उक्त दोनों महोदयों की भाँति राजकर्म्मचारी और शिक्षा विभाग से सहायता मिलती तो जानें वे क्या कर डालते; परन्तु बिना किसी विशेष प्रकार की सहायता के हिन्दी की सेठ जी द्वारा जैसी सेवा हुई, उसी को देख कर आश्चर्य्य होता है। औरों की अपेक्षा मातृभाषा का प्रेम सेठ जी में कितना अधिक है, यह एक इसी बात से सिद्ध हो सकता है कि मुन्शी जी के समृद्धिशाली प्रेस में 'अवध समाचार' के पैर काँप रहे हैं, खड्गविलास प्रेस के होते हुए 'क्षत्रियपत्रिका' और 'ब्राह्मण'

पत्र का अदर्शन हो रहा है; किन्तु सेठ जी का 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' उत्तरोत्तर उन्नति कर रहा है। वयोवृद्धि के साथ साथ उसकी श्रीवृद्धि और ग्राहकवृद्धि भी हो रही है। हिन्दी भाषा में इसके समान सुन्दर दूसरा पत्र नहीं है, यह कहना बाहुल्यमात्र है।

आज की संख्या में 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' के स्वामी (प्रोप्राइटर) श्रीयुक्त सेठ खेमराज श्रीकृष्णदास जी का और उक्त पत्र के सुयोग्य सम्पादक श्रीयुक्त पण्डित लज्जाराम जी शर्म्मा का चित्र है। यह उस समय लिया गया जब कि गतवर्ष में हम भी बम्बई में उपस्थित थे। जिन लोगों को उक्त महोदयों के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है वे इस चित्र से जान सकते हैं कि अच्छी आकृति भी अच्छे गुणों को प्रकाश किये बिना नहीं रह सकती।

सेठ जी के पिता का नाम श्रीकृष्णदास जी था। मुम्बई में पुत्र के नाम के पीछे पिता का नाम लेने की उलटी चाल है, उसीके अनुसार इनका नाम सेठ खेमराज श्रीकृष्णदास है। सेठ जी अपने पिता के द्वितीय पुत्र हैं। इनके ज्येष्ठ भाई का नाम सेठ गङ्गाविष्णु जी है। पहिले दोनों भाइयों का कारखाना साझे में था, अब कई वर्षों से अलग अलग है। सेठ खेमराज जी अग्रवाल वैश्य और श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के शिष्य हैं। इनके कुल की अल्ल—बजाज है। राजपूताने के शेखावाटी प्रदेश में 'चूरू' नगर इनकी जन्मभूमि है। इनका जन्म संवत् १९१२-१३ का है, इस समय सकुटुम्ब मुम्बई में रहते हैं। इनके कुल की भगवद्भक्ति और आस्तिकता देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी इन्होंने अपने नाम रजिस्टरी करा रक्खी है। सरलता, साधुता आदि कलिदुर्लभ गुणों के मूर्तिमान उदाहरण हैं।

जैसे उक्त पत्र के स्वामी निराले ढंग के हैं, वैसे ही उसके सम्पादक भी अपनी रीति के एक ही हैं। पण्डित लज्जाराम पहिले बूंदी में 'सर्वहित' नामक पाक्षिक पत्र के सम्पादक थे, सेठ जी के बुलाने पर श्रीवेंकटेश्वर समाचार के आरम्भ में सहकारी सम्पादक हुए। सनातन धर्मानुराग, विद्वद्प्रेम और न्यायप्रियता तथा कर्तव्यपालन में निर्भीकता

आदि उत्तम गुणों का सञ्चय ये 'सर्वहित' के सम्पादन काल ही में कर चुके थे। श्रीवेंकटेश्वर में आकर उनका विकासमात्र हुआ है।

पण्डित लज्जाराम जी जाति के नागर ब्राह्मण हैं और उनके कुटुम्ब को मेहता कहते हैं। अंग्रेजी राज्य के आरम्भ काल में एक विप्लव के हेतु जिन बड़े वंशों को सङ्कटापन्न होना पड़ा है, उन्हींमें एक इनका कुल है। कालचक्र के घूमने से मेहता वंश को भी जहाँ तहाँ घूमना पड़ा और अन्त में बूंदी में आश्रय मिला। सं० १९२० में चैत्र कृष्ण द्वितीया के दिन पण्डित रामगोपाल जी मेहता के घर में एक होनहार बालक का जन्म हुआ। उसीका नाम पण्डित लज्जाराम शर्म्मा है।

इनकी हिन्दी शुद्ध, ओजगुणविशिष्ट और मधुर होती है। कभी कभी शुष्कविवाद में प्रवृत्त हो जाते हैं सही, परन्तु अपने प्रतिद्वन्द्वी से अशिष्टता नहीं करते। पञ्च लिख कर किसी को व्यथा पहुँचाना और किसी के परिवार पर आक्रमण करना यह पाप समझते हैं। इसी कारण श्रीवेंकटेश्वर में एक बार से अधिक कभी पञ्च नहीं निकला। हिन्दी के पत्रों में यदि कोई ऐसा पत्र है जिसने अपने विरोधियों के अनुचित दुस्सह आक्रमण को सहन कर उनके प्रति शिष्टता प्रदर्शन की तो वह यही पत्र है और इसका कारण स्वामी और सम्पादक की योग्यता के सिवा अन्य कुछ नहीं है। एक मारवाड़ी वैश्य का पत्र होने पर भी यह डरपोंक नहीं है। युक्तिपुरःसर बड़े बड़े राजकर्मचारियों के अन्याय की धूल उड़ाता है। अवसर पर सच्ची बात कहने में कभी नहीं चूकता। क्यों न हो? स्वामी और सम्पादक के गुण दोष ही की पत्र में अभिव्यक्ति होती है।

बहुधा पत्रों के सर्वनाश का मूल स्वामी और सम्पादक का मतभेद हुआ करता है। दो में से कोई एक जब किसी की कुञ्चितभ्रू से डर कर, वा लोभ लालच में गिर कर अथवा कहने सुनने से दब कर, अपने कर्तव्य को भूलता है, तभी उसके कार्य का बंटाढार हो जाता है। वहीं पर सब कार्य उत्तमता से पूर्ण होता है जहाँ स्वामी सम्पादक के कार्य में हस्तक्षेप न करे और सम्पादक अपने स्वामी के अनुक्त अभि-

प्राय और पदगौरव पर विचार कर लेखनी सञ्चालन करे। हमारे विचार में अब तक जिस प्रकार से पत्र का सम्पादन होता रहा और ईश्वर कृपा से स्वामी और सम्पादक में मतभेद न हुआ, तो यह पत्र अपने दूसरे सहयोगियों को भी अपना अनुगामी कर लेगा।

हमने अपने प्रिय मित्र श्रीवेंकटेश्वर समाचार के सम्पादक पण्डित लज्जाराम जी को उनकी और सेठ जी की जीवनी के लिये लिखा था। उन्होंने अति नम्रता से अपनी जीवनी को लोकोपयोगिनी न बतला कर हमारा मनोरथ पूर्ण नहीं किया। इसलिए हम विशेष न लिख सके। पण्डित लज्जाराम जी ने एक पत्र में लिखा है कि "मेरे जीवन चरित से न तो लोकोपकार ही होगा और न आपके पत्र का गौरव ही बढ़ेगा। ऐसी कोई बड़ी घटना भी नहीं हुई जिससे उसमें चटकीलापन आ जाय। आजकल प्रायः हिन्दुस्तानियों के जीवन में तीन घटनाएँ मुख्य हैं—जन्म, विवाह और मरण। पहिली दो हो चुकीं और अन्तिम शेष है। वास्तव में विचार कर देखा जाय तो वह भी घट चुकी। जिनसे स्वधर्म्म, स्वजाति और स्वदेश की कुछ सेवा नहीं हुई वे भी जीते कहाँ हैं? जीवनमृत लोगों के जीवन से लोकशिक्षा क्या होगी?"

हमारे पाठक विचारें कि ऐसे विचारशील पुरुषों का जीवनचरित राजा महाराजों की अपेक्षा अधिक शिक्षाप्रद है कि नहीं?



प्रभु परलोक

अयि सम्प्रति देहि दर्शनं स्मर पर्य्युत्सुक एष माधवः ।
दयितास्वनवस्थितं नृणां न खलु प्रेम चलं सुहृज्जने ॥

कुमारसम्भव

इस बात को प्रकाश करते हुए हमारा हृदय व्यथित होता है कि गत २२ वीं मार्च को रविवार के दिन तीसरे पहर 'हिन्दी बङ्गवासी' के प्रवीण सम्पादक पण्डित प्रभुदयाल पाण्डे का २८ वर्ष के अपूर्णवय में परलोक वास हो गया । प्रभुदयाल जी सत्तर वर्ष की विधवा वृद्धा जननी, नवपरिणीता पत्नी, विधवा भौजाई और एक दुग्ध-पोष्य बालक को अनाथ अवस्था में केवल भगवान् के भरोसे छोड़ गए! वह धर्म्मप्रचार की शुभ कामना, वह नवीन ग्रन्थ निर्माण की प्रतिज्ञा, वह ब्राह्मण जाति के हित विधान की चेष्टा और वह अतृप्त हृदय की अपूर्ण वासना, सब ज्यों की त्यों रह गई! हा, अभी उस दिन हम स्वयम् प्लेग-पीड़ित दशा में जिस पुरुषपुङ्गव के अनुराग भरे मृतसञ्जीवन पत्र को पढ़ कर निज कष्ट को विस्मरण कर रहे थे, प्लेग पिशाची ने आज उसको भी इस दशा में पहुँचा दिया कि हम अपने स्वर्गवासी व्यासादि स्नेहियों के समान उनकी पश्चिम कथा कह कर हृदय के बोझ को कुछ हलका करने की चेष्ट करते हैं ।

स्वर्गवासी पण्डित प्रभुदयाल जी का घर आगरे के जिले में पिनाहट नामक कसबे में था, यह कसबा चम्बल नदी के तट पर बसता है । पाण्डे जी का जन्म संवत् १९३२ की आसौज सुदी में वहीं पर हुआ था ।

वंश

इनका विशेष प्रतिष्ठित था । चतुर्वेदी ब्राह्मणों में आपका 'पाण्डेय' उपपद था और 'कड़ुवा' आपकी अल्ल थी । पितामह का नाम था पण्डित लालजू । सगे बाबा और पिता पण्डित खेतलदास के नाम से प्रसिद्ध

थे। पण्डित खेतलदास जी के तीन पुत्र हुए थे जिनमें सब से छोटे पण्डित प्रभुदयाल जी थे। इनके दो बड़े भाई तो माता पिता को दुःसह दुःख दे कर पहिले ही स्वर्गवासी हो गए थे। वंश का अवलम्बन केवल इन्हीं पर शेष रहा था, इसलिए पुत्रशोकसन्तप्त जननी और जनक का हृदय इन्हींसे सुशीतल होता था। पांडे जी का बाल्यकाल पिनाहट ही में व्यतीत हुआ। वहीं पर पिता के निकट मुंडी हिन्दी का लिखना पढ़ना सीखा और वहीं पर संस्कृत पढ़ना भी आरम्भ किया। आजीविका के लिए पीछे इनके पिता कानपुर में वास करने लगे और वहीं पर अपने साथ जीवनधन निज पुत्र को भी ले गये। यहाँ पर वे प्रधान रूप से अँग्रेजी पढ़ने लगे और गौण रूप से संस्कृत और उर्दू सीखने लगे। अंग्रेजी के बिना और भाषाओं को अर्थ-करी न समझ कर, पांडे जी के पिता केवल अंग्रेजी ही पढ़ाना चाहते थे; किन्तु यह पुत्र को स्वीकार न था। वह सब को पढ़ना चाहते थे। संयोग से इन्हें गुरु भी वैसे ही रंगीले मिल गये, जैसा इनका गुणग्राही हृदय था। मातृभाषा के गद्यपद्य में निजता के चित्र को अवलोकन करने कराने की जिन्हें शक्ति है, उनके निकट 'ब्राह्मण' पत्र के भक्तिभाजन सम्पादक स्वर्गीय पण्डित प्रतापनारायण मिश्र जी का नाम अति मधुर है। मिश्र जी जैसे आदर्शरूप सत्कवि और प्रणम्य सुलेखक से शिक्षा पाना कम सौभाग्य की बात नहीं है। इन्होंने उनसे केवल शिक्षा ही नहीं पाई, अपने सद्गुणों से पण्डित प्रतापनारायण जी का चित्त भी आकर्षित कर लिया था और उन्हें निश्चय करा दिया था कि उनका अमोघ अध्यापन एक दिन मातृभाषा के लिए सुफल प्रसव करेगा। अभी पाण्डे जी 'इंट्रेन्स' परीक्षा से भी उत्तीर्ण न होने पाये थे कि अचानक—

पितृवियोग

के वज्रपात से सब बेड़ा विचल गया। उन्नति की मुकुलित कलिका एक ही बार मुरझा गई। बड़ा कुटुम्ब, कमाने वाले का अभाव, स्त्रियों का साथ और नवीन वय! चारों ओर से अन्नचिन्ता, वस्त्रचिन्ता और अर्थ-

F. 39

चिन्ता आदि की चिन्ताश्रेणियों ने आ घेरा ! तथापि धीर प्रभु ने किसी तरह 'इट्रेन्स' तक अंग्रेजी पढ़ ही ली। यद्यपि पढने की रुचि पहिले से अधिक प्रबल होगई थी, परन्तु उदरपूर्ति की चिन्ता से मन की तरङ्ग मन ही में लीन हो गई ! जिस देश में संस्कृत के अनाथ विद्यार्थी अन्न के बिना तड़फ तड़फ कर मर जाते हैं, वहाँ पर इस अनाथ ब्राह्मण-कुमार की उच्चशिक्षा का प्रबन्ध कौन करता ? यदि इस देश में होनहार छात्रों की विद्या प्राप्ति के लिये कोई उपाय होता, तो हिन्दी-पत्र-सम्पादकों की मण्डली में अर्द्ध शिक्षित पुरुषों के स्थान पर कई एक उच्चश्रेणी के विद्वान् दृष्टिगोचर होते, परन्तु देश का ऐसा भाग्य कहाँ जो इस अभाव की ओर किसी माई के लाल का ध्यान होता। अस्तु, अन्त को स्वर्गादपि गरीयसी जननी और जन्मभूमि को त्याग कर रोजगार के लिए बालक पाण्डे जी को कलकत्ते तक दौड़ना पड़ा। उन दिनों—

हिन्दी बङ्गबासी में

सम्पादकप्रवर प० अमृतलाल चक्रवर्ती जी का चक्र चल रहा था। जैसे जैसे उत्तम और ओजस्वी लेख उस समय के बङ्गबासी पत्र में निकलते थे, वैसे लेखों का फिर दर्शन नहीं हुआ। पत्र की नई उठान के साथ नया उत्साह अपना प्रभाव प्रगट कर रहा था। पत्र का रूप रङ्ग और सारवान् सन्दर्भ अपने स्वत्वाधिकारी के अयाचित अर्थव्यय और सम्पादक के प्रशंसनीय परिश्रम की सूचना कर रहे थे। अच्छे अच्छे लेखकों की खोज हो रही थी। पं० रुद्रदत्त और पं० भुवनेश्वर मिश्र सहकारिता से पृथक हो चुके थे। सौभाग्य से इसी समय पण्डित अमृतलाल जी को दो उन्नतिशील सहकारी मिले, एक भारतमित्र के वर्तमान सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त और दूसरे पाण्डे प्रभुदयाल जी। हिन्दी बङ्गबासी में आने पर पाण्डे जी की

योग्यता का विस्तार

होने लगा। जिन्होंने पहिले पहिल इस विपत्तिपिष्ट दुःखक्लिष्ट ब्राह्मण-कुमार को भस्माच्छादित अग्नि के समान बिना पहिचाने अवज्ञा पूर्वक उपेक्षा बुद्धि से देखा था; उन्हें शीघ्र ही इनके वर्धनशील गुणों से चमत्कृत

होना पड़ा और अन्त में यहाँ तक उन्नति की कि जिस प्रकाण्ड पत्र को तीन पुरुष चलाते थे उसको वे अकेले ही सम्पादन करने लगे। पाँडेजी की प्रतिभा, स्वधर्म्मानुराग, नीतिज्ञता और काव्यकुशलता आदि को जिसे परीक्षा करनी हो वह उक्त पत्र के गत कई वर्षों को 'फाइल' से जान सकता है।

पुस्तक

लिखने को यदि उन्हें विशेष समय मिलता, तो मातृ भाषा के प्रेमियों के निकट वे अपने बहुत से स्मरणचिन्ह छोड़ जाते; परन्तु इतने बड़े साप्ताहिक पत्र के सम्पादन-काल में पुस्तक-प्रणयन के लिए कितना समय मिल सकता है, उसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं! तथापि उन्होंने कई पुस्तकें लिख डालीं। इनमें—

बिहारी सतसई की टीका

ही सब से उत्तम है। इस टीका में अनेक भूलें होने पर भी वह अपने ढंग की एक ही है। सतसई की व्रजभाषा में अनेक टीकाएं हैं, किन्तु विशुद्ध भाषा में यह पहली है। विहारी के व्यङ्गप्रधान दोहों के अर्थविचार में पाँडे जी चाहे गौरवान्वित न हों, किन्तु सतसई के शब्दविचार में उन्हें हिन्दी के सुलेखक भविष्य में अपना शाब्दिक स्वीकार करेंगे, इसमें सन्देह नहीं। इस पुस्तक के कारण ही हिन्दी वङ्गवासी में साहित्याचार्य के "बिहारी विहार" पर बिकट समालोचना निकली थी और स्वर्गीय पण्डित अम्बिकादत्त व्यास जी के साथ इनका कुछ दिनों के लिये मनोमालिन्य हो गया था। विवाद मिटाने के समय पाण्डे जी ने हमको लिखा था कि "बिहारी बिहार" का समालोचक गुप्त होने पर भी आपसे गुप्त नहीं रह सकेगा, एक दिन प्रगट हो जायगा। व्यास जी मेरे वय में पितृ तुल्य, ज्ञान में गुरुतुल्य और धर्म्म में आचार्य्य तुल्य हैं। उन पर इस वशंम्बद का आक्रमण नहीं हो सकता। शक्ति होती तो दूसरों को भी न करने देता।" उनकी इस नम्रता और शिष्टता के हेतु व्यासजी हिन्दी वङ्गवासी के दुर्व्यवहार को एक दम भूल गए थे। आज कल—

धर्म्माचरण

का नाम जैसे बोलने और लिखने के समय सुलभ हो रहा है, वैसे आचरण के समय नहीं है। सनातनधर्म्म के दिग्गज वक्ता और प्रचण्ड लेखक, जो आज कल अपनी चपल जिह्वा और तीव्र लेखनी से हिन्दू समाज की रक्षा करने की दुहाई मचा रहे हैं, यदि उनका आचरण देखा जाय तो उनमें कोई बिरला ही साई का लाल "यथावाणी तथा पाणी" का उदाहरण मिलेगा; नहीं तो बहुधा ऐसे प्रपञ्ची देखने में आवेंगे, जो कहने के समय कुछ और हैं, करने के समय कुछ और। सनातन धर्म्म के नाम के लिए लोगों से लड़ मरने को तैयार हैं परन्तु, गङ्गास्नान और सन्ध्या तर्पण करने के समय सब इति श्री। कह सकते हैं कि हिन्दू समाज के अधःपतन का यह भी एक मुख्य कारण है, किन्तु पाण्डेजी स्वधर्म्म का पक्ष वचन वा लेख मात्र से नहीं करते थे वरञ्च आचरण के समय भी सोत्साह अग्रसर होते। यद्यपि अध्ययन काल में वे एक बार दयानन्दी दल में मिल गये थे, तथापि जब उस मत की असारता विदित हुई तब फिर उसका नाम न लिया। गङ्गास्नान, सन्ध्या तर्पण और दुर्गापाठ यह उनका आन्हिक कर्म्म था। इसके सिवा वही एकान्त देश में नैमित्तक अनुष्ठान भी किया करते। उनके पत्र धर्म्म भाव और भगवत्प्रेम से खाली नहीं होते थे। पाण्डे जी के आचरण का एक यह भी देदीप्यमान उदाहरण है कि आठ नौ वर्षों तक एकही स्थल में कार्य्य किया और उत्तरोत्तर उन्नति की सोपानश्रेणी पर चढ़ते गए। यदि वे कुछ दिनों और जीने पाते, तो इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी लेखकों में अपने ढंग के एक ही ग्रन्थकार होते। गत वर्ष में भी उनको एक बार बड़ी

"बीमारी"

हुई थी, जीवन की आशा तब बहुत कम थी। किन्तु उस बार भगवान की दया से परित्राण होगया। इस बार अचानक ही प्लेग ने उनको दबा लिया। होली आनन्द से बीत गई थी। उसके बाद जब हम प्लेग से बीमार हुए तब पाण्डेजी ने घबरा कर लिखा था, "आपको प्लेगपीड़ित

सुन के अति कष्ट, अति चिन्ता हो रही है, कृपा कर अति शीघ्र उत्तर दें कि अब क्या दशा है ?" प्रभु की कृपा से दश पन्द्रह दिनों में हम अच्छे हुए, परन्तु साथ ही संवाद पत्रों ने सुनाया कि तुम्हारी चिन्ता करनेवाले पाँडे जी अब नहीं हैं। वे कई दिनों रोगकष्ट भोग कर कैलास यात्रा कर गए। हिन्दी, बङ्गला, अंगरेजी के संवाद पत्रों ने उनके—

मृत्यु सम्वाद

के साथ उनके जीवन पर जो खेद पूर्वक सम्मति प्रकाश की, वह सब किसो को सुलभ नहीं है। पाँडेजी के प्रतिद्वन्द्वी, भारतमित्र के सम्पादक को भी अपने मर्मस्पर्शी लेख में उनका गुणकीर्तन करना पड़ा। प्रयोजनवश कोई विचारशील पुरुष किसी गुणी की प्रतिद्वन्द्विता पर चाहे खड़ा भी हो जाय, परन्तु समय पड़ने पर हृदय की बात छिपी नहीं रह सकती। कुछ दिनों पहले जो उन पर वाक्यबाणों की अनर्गल वृष्टि करते थे; आज वे "मेलमिलाप" और 'अच्छे समय" के चित्र का स्मरण कर, सखेद कह रहे हैं कि प्रभुदयालु की धर्म्मपरायणता अनुकरण के योग्य थी।" महाभारत के समय से इस अभागे देश में एक चाल चल निकली है कि जब तक लोग जीते रहते हैं, तब तक परस्पर शत्रुता करते हैं और मरने पर "हा ! हतोस्म" कह कर प्रेम का उद्गार निकालते हैं। क्या अच्छा होता यदि हिन्दी पत्रसम्पादक भीष्म की मृत्यु के पीछे कर्ण की तरह रोने के बदले यथासमय हटधर्म्मी को छोड़ अपने मित्रों की "धर्म्मपरायणता" का अनुकरण कर 'मेलमिलाप के अच्छे समय" को हाथ से न जाने देते। तथापि ऐसे अवसर पर हम भारतमित्र की उदारता और पाँडेजी की स्वर्गस्थ आत्मा के भाग्य की प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते।

पाण्डे जी के परिवार

की रक्षा का आधार अब भगवान् के सिवाय और कुछ नहीं है। हिन्दी के साहित्यानुरागियों में अभी वैसे महाप्राण पुरुषों का उदय ही नहीं हुआ है, जो ऐसे अवसर पर मातृभाषा के नाते अपनी उदारता को

काम में लावें; तथापि कई एक संवादपत्रों को कुछ आशा हुई है कि जिस पत्र की सेवा में उन्होंने अपना इतना समय योग्यता से व्यतीत किया है और जिसके एकमात्र सत्वाधिकारी जिनकी गुणावली का वर्णन कर रहे हैं, उनकी ओर से कुछ प्रबन्ध होगा। भगवान् करे पाँड़े जी का बालक संसार के दुःखों से किसी प्रकार आत्मरक्षा कर यथासमय मातृभाषा की सेवा कर, अपने स्वर्गवासी पिता के मनोरथों को पूर्ण करे।



द्वितीय खण्ड

पुरातत्व

वेबर का भ्रम

[१]

"बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।"

योरोप के बुद्धिमान् और स्वदेश-वत्सल पण्डितों ने इस समय नष्टप्राय संस्कृत पुस्तकों का उद्धार और लुप्तप्राय हिन्दू शास्त्र का सत्कार तथा आन्दोलन कर जितना हमारा उपकार किया है, उतने के लिये हम उनके चिरकृतज्ञ हैं। यह उन्हींका काम था कि हमारी दुर्लभ पुस्तकों के बड़े बड़े सूचीपत्र प्रकाश किये और उन नगरों तथा राजधानियों का पता लगाया, जिनका आजकल लोग नाम तक भूल चले थे एवं समय के फेर से जो मिट्टी में दबे पड़े थे। यदि इन स्वाधीन, राजजातीय लोगों का इधर उत्साह वा उद्योग नहीं होता, तो पराधीन एवं दीन हिन्दुओं से इस तरह के कार्य सम्पन्न होने बहुत ही कठिन थे। किन्तु इन्होंने इतिहास के व्याज से जो बातें उन्हें सुनाई हैं, उनमें से अधिकांश बातें हिन्दुओं की दृष्टि में केवल अप्रिय ही नहीं, वरञ्च असत्य भी हैं।

प्रोफेसर वेबर साहेब जर्म्मन देश के एक प्रसिद्ध विद्वान् हैं, उन्होंने भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य का इतिहास लिखा है, जो इस समय हमारे सामने रक्खा हुआ है। इसमें उन्होंने वेद, वेदाङ्ग, दर्शन, इतिहास, पुराण और काव्यादि सभी विषयों पर अपनी सुतीव्र लेखनी चलाई है। निज शास्त्रानभिज्ञ हिन्दू इसे अपने शास्त्र का इतिहास समझेंगे, पर हम समझते हैं, इसमें हिन्दुओं के समझने योग्य कुछ भी नहीं है। इसको पढ़कर यही प्रतीत होगा—राम झूठे, लक्ष्मण झूठे और पाँचो पाण्डव भी झूठे हैं। रामायण और महाभारत की कथा सब ब्राह्मणों की कल्पनामात्र हैं। जो बात किसी इतिहास में नहीं, जिसका कोई प्रमाण नहीं, उसको वेबर साहेब अपने बुद्धिबल से सिद्ध

किया चाहते हैं और जिस विषय में अनेक इतिहास साक्षी हैं और असंख्य प्रमाण उपस्थित हैं, उसको बातों में उड़ा रहे हैं। इनके इस इतिहास को देख कर आज हमें महर्षि वेदव्यास का कहना याद आता है कि—

"विभेत्यल्प श्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति"

अर्थात् अल्पज्ञ पुरुष से वेद डरता है कि यह मुझ पर प्रहार करेगा। हम दिखाना चाहते हैं कि, हमारे वेदशास्त्र पर वेबर साहब ने प्रहार किया और विलक्षण किया।

केवल वेबर ही नहीं, हम देखते हैं योरोप और अमेरिका के कुछ और भी विलायती पण्डित हैं, जो अंग्रेजी कोष और व्याकरण का सहारा ले, कुछ संस्कृत भी समझने लगे हैं और प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों से ऐतिहासिक तत्व निकाल रहे हैं; किन्तु उनके लिए यह बात असह्य है कि पराधीन दुर्व्वल हिन्दू जाति किसी समय में सभ्य थी और वह सभ्यता अति प्राचीन थी। अतएव दो चार जनों को छोड़, प्रायः और सब प्राचीन भारतवर्ष के गौरव नष्ट करने में निज बुद्धि व्यय कर रहे हैं। वे लोग यत्नपूर्वक यही प्रमाण किया चाहते हैं कि, भारतवर्ष के सब पुराने ग्रन्थों में जो कुछ है, हिन्दू-धर्म्म-विरोधी बौद्ध ग्रन्थों को छोड़—सभी आधुनिक है और हिन्दुओं के ग्रन्थों में जो है, सो या तो सम्पूर्ण मिथ्या, नहीं तो अन्यदेश से चुराया हुआ!

कोई महात्मा कहता है कि, रामायण होमर के काव्य का अनुकरण है, कोई कहता है कि भगवद्गीता 'बाइबिल' की छायामात्र है। हिन्दुओं को ज्योतिष् चीन, यवन वा कालडीय से प्राप्त हुआ है, हिन्दुओं को गणित भी दूसरों से मिला है, लिखित अक्षर भी किसी सीमीय जातीय से मिले हैं! इन सब बातों को सिद्ध करने के लिये उनकी विचारप्रणाली का सूत्र यह है, कि भारतवर्षीय ग्रन्थों में भारत के पक्ष में जो कुछ पाया जाता है, वह मिथ्या वा प्रक्षिप्त है और जो भारतवर्ष के विपक्ष में मिलता है, वही सत्य है।

पाण्डवों के समान वीरचरित्र भारतवर्षीय पुरुषों की कथा मिथ्या

है, पाण्डव कविकल्पना मात्र हैं! किन्तु पाण्डवपत्नी द्रौपदी के पञ्चपति सत्य हैं, क्योंकि इसके द्वारा सिद्ध होता है कि भारतवर्ष के प्राचीन पुरुष असभ्य जाति के थे। उनमें स्त्रियों का बहुविवाह प्रचलित था। फर्गुसन साहब ने किसी पुराने मन्दिर के भग्नावशेष में कुछ स्त्रियों की नंगी मूर्तियां देख कर, सिद्धान्त किया है कि भारतवर्ष के पुराने समय में स्त्रियां कपड़े नहीं पहिनती थीं, इधर मथुरा प्रभृति स्थानों की अपूर्व कारीगरी देख कर विलायती पण्डितों ने स्थिर किया है कि यह शिल्प ग्रीक के शिल्पियों (मिस्त्रियों) का है, वेबर (Weber) साहब, जब हिन्दुओं के ज्योतिष शास्त्र की प्राचीनता को किसी प्रकार खण्डन नहीं कर सके, तब निश्चय किया कि हिन्दुओं को चान्द्रनक्षत्र मण्डल बाबिलनीय लोगों से मिला है। बाबिलनियों का चान्द्रनक्षत्र मण्डल पहिले कभी भी न था, यह छिपा गये। प्रमाण के बिना ही (Whitney) साहब ने कहा कि, यह हो सकता है, क्योंकि हिन्दुओं का मानसिक स्वभाव ऐसा तेजस्वी नहीं है कि, वे लोग निज बुद्धि से इतना कर लें।

इन सब विलायती महापुरुषों के मत की समालोचना करने का हमें कोई प्रयोजन न था। क्योंकि, हम जो लिखते हैं, स्वदेशीय पाठकों के लिये लिखते हैं, हिन्दूद्वेषियों के लिये नहीं लिखते। परन्तु दुःख की बात यह है कि एतद्देशीय लोगों में भी अनेक पढ़े लिखे पुरुष उनके मत के अनुवर्ती हो रहे हैं। बहुत से लोग बिना विचारे ही, केवल योरोपीय पण्डितों का मत समझ कर उसे वेदवाक्य मान लेते हैं। इन गौराङ्ग गुरुओं के शिष्य, कोई सामान्य कुल के नहीं हैं, प्रत्युत द्विवेदी, त्रिवेदी, चतुर्वेदी और पाठक वंश के पुरुष हैं, जो अपने पथ-प्रदर्शकों को 'आदरणीय श्रद्धा भाजन और संस्कृत का परम विद्वान्' भी मान रहे हैं। हमारी दुराकांक्षा यह है कि, ये लोग हमारे इस निबन्ध को भी ध्यान से पढ़ें, इसीलिए हम योरोपीय मत के प्रतिवाद में प्रवृत्त होते हैं।

सबसे प्रथम हम वेबर साहेब के भ्रान्त मत का निराकरण करना

उचित समझते हैं, क्योंकि जितना हठ और दुराग्रह हम इनके लेख में पाते हैं, उतना दूसरों के लेख में नहीं। 'ओरियंटल कालिज' लाहौर के प्रधानाध्यापक, महामहोपाध्याय, स्वर्गवासी प्रख्यात पण्डित गुरुप्रसाद जी की आशा बिल्कुल निष्फल न हो, यह भी हमारे इस निबन्ध का उद्देश्य है। उक्त महोदय ने वेबर साहब के विषय में जो कहा है, वह यह है—

"जहाँ तक मेरी अल्प बुद्धि पहुँच सकती है, वहाँ तक मुझे यों बूझ पड़ता है, जो इस ग्रन्थ के कर्त्ता महाशय वेबर साहब ने बहुत से जक्कड़ अपने देशीय योरोपियन विद्वानों के अनुरोध से लिख दिया है, 'जैसे महाभारत का वाल्मीकीय रामायण से प्राचीन होना' और बहुत सी बातें विचार दौर्बल्य वा निरङ्कुशता के कारण हमारे शास्त्र रहस्य से विरुद्ध लिख दी हैं 'जैसे सीता को हल से जुती हुई धरती की रेखा और आर्यों की खेती ठहराई है और रामचन्द्र तथा बलराम जी (अर्थात् हलभृत् और सीतापति) को एक ही ठहरा कर यह निगमन निकाला है कि लुटेरुओं से प्रजा की खेती का जो रक्षण बलराम ने किया इसी बात का रूपक बाँध कर रामायण में यों लिखा है कि 'सीता को राक्षस ने हर लिया और पीछे से सीता के पति रामचन्द्र ने ढूँढ कर उन्हें राक्षसों से छुड़ा लिया' इत्यादि बातों का उचितानुचित विवेक भी आप लोगों को भलीभांति निश्चय हो जायगा, तब जहाँ कहीं अपने शास्त्रतत्व के विरुद्ध कोई उक्ति आपकी दृष्टि में पड़े कृपा कर उसे एक पत्र पर अलग सप्रमाण खण्डन करके लिखते जाइये अनन्तर चाहे आप निज नाम से उसे छपवा दें अथवा लाहौर की संस्कृत पाठशाला में मुझे भेज दें तो मैं अपनी और आप लोगों की सम्मति से उपलब्ध सब बातों को छपवा कर इसका परिशोधन करने-हारी एक दूसरी पुस्तक भी प्रकाश करूँगा।"

पण्डित जी चाहते थे कि, वेबर साहब के भ्रम को दूर किया जाय परन्तु उनका यह मनोरथ पूरा नहीं हुआ। काल ने उनके साथ ही इस मनोरथ को भी अपने उदर में रख लिया। हमारा विचार भी पूर्ण

होगा कि नहीं? यह ईश्वर ही जाने, किन्तु यथासाध्य यथामति हम न्याय और सत्य के अनुरोध से इस विषय में यत्न करेंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं।

जिनके नज़दीक विलायती वस्तु सभी अच्छी हैं, जो विलायतियों के पूरे अनुचर और शिष्य हैं और जो देशीय ग्रन्थों का पढ़ना तो दूर रहा, देश के पण्डित और कवियों का निरादर करना निज कर्तव्य समझ बैठे हैं, उनका हम कुछ नहीं कर सकते। जो अपनी प्राचीनता के शत्रु हैं और नवीनता के एकमात्र भक्त हैं, उनके लिये हमारा लिखना न लिखना समान है, किन्तु शिक्षित सम्प्रदाय में जो अनेक सत्यप्रिय और देशवत्सल पुरुष हैं, उनके लिये हमारा यत्न है। अवश्य ही वे लोग श्वेताङ्ग और कृष्णाङ्ग की बात को समान दृष्टि से अवलोकन करेंगे। क्योंकि महाकवि भारवि के इस महाकाव्य पर हमें भी पूर्ण विश्वास है कि—

"ननुवक्तृविशेषनिस्पृहा गुणगृह्यावचने विपश्चितः"।

[२]

"मुख मस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी।"

कहो, चाहे बेठीक ही हो, पर हमारे महाभारतादि इतिहासों की ऐतिहासिकता को स्वीकार करने वाले अनेक महापुरुष हैं। यहाँ इस बात के कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि, ये लोग कौन हैं? क्योंकि यह सब पर विदित है कि, ये योरोपीय पण्डित हैं अथवा उन्हींके कोई चेले चांटी हैं। इनके मत का संक्षेप से उल्लेख किया जाता है।

विलायती विद्या का एक लक्षण यह है कि, वे लोग स्वदेश में जो देखते हैं, समझते हैं विदेश में भो ठोक वैसा ही है। वे लोग Moor भिन्न और किसी जाति को गौर वर्ण नहीं जानते, इसलिए इस देश में आकर हिन्दुओं को "Moor" कहने लगे। उसी प्रकार अपने देश में Epic काव्य भिन्न छन्दोवद्ध वा पद्य में रचित कोई आख्यान ग्रन्थ (इतिहास) देखा नहीं, सुतरां योरोपीय पण्डितों ने महाभारत और रामायण देखते ही दोनों ग्रन्थों को केवल Epic काव्य निश्चय कर

लिया। बस जब काव्य ही ठहरा, तब फिर ऐतिहासिकता का उसमें काम क्या? एक बात में सब नष्ट हो गया, इसी आधार पर कई बुद्धि-सागर "राजतरङ्गिणी" की भी सफ़ाई कर रहे हैं! (१)

योरोपीय पण्डितों का यह विचार अब कुछ कुछ बदल भी चला है, किन्तु उनके देशी शिष्य अभी तक उसी हठ पर अड़े हुए हैं।

विलायती साहेबों ने क्यों महाभारत को काव्य ग्रन्थ कहा है, यह ये लोग अच्छी तरह नहीं जानते और न जानने की चेष्टा ही करते हैं। यदि कहा जाय कि यह पद्यों में रचित है, इसलिए ऐसा कहा गया है, तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि सर्वप्रकार के संस्कृत ग्रन्थ पद्य ही में पाये जाते हैं—विज्ञान, दर्शन, अभिधान, ज्योतिष, चिकित्सा शास्त्र, सभी पद्य में प्रणीत हुए हैं। तब यह हो सकता है कि महा-भारतादि में काव्यांश बड़ा सुन्दर है,—योरोपीय लोग जैसा सौन्दर्य्य Epic काव्य का लक्षण समझते हैं, वैसा सौन्दर्य्य इनमें अधिकता के साथ देख, इनको Epic कहने लगे। किन्तु विचारपूर्वक देखने से इस

---

(१) "राजतरङ्गिणी" की आलोचना वेबर साहब इस प्रकार करते हैं" "इसमें हमें शुष्क और प्रमाणरहित प्रसङ्गों से कुछ अधिक भी देख पड़ता है, परन्तु यह भी याद रखना चाहिये कि, इसका ग्रन्थकर्ता इतना इतिहासवेत्ता ही नहीं था, जितना कि कवि था और उसने अवशिष्ट विषयों में पूर्ववर्ति ग्रन्थकारों की सहायता ली है।

(वेबर)

"राजतरङ्गिणी" इत्यादि ग्रन्थों का प्रसङ्गवशात् कभी कभी कुछ उपयोग होता है, परन्तु "इतिहास" में इसकी गणना भी नहीं हो सकती।"

(नैषधचरितचर्चा)

हमें आश्चर्य्य है तो इतना ही है कि वेबर साहब को तो राजतरङ्गिणी में "शुष्क और प्रमाणरहित प्रसङ्गों से कुछ अधिक भी देख पड़ता है" किन्तु उनके अनुगामी द्विवेदी जी के मत में "उसका कभी कभी कुछ उपयोग" भी होता है। यह क्या सहज बात है? "कर फुलेल को आचमन मीठो कहत सराह" वाह खूब समझे!

(सु० सं०)

प्रकार का सौन्दर्य्य योरोप के अनेक विख्यात इतिहासों में भी पाया जाता है। अंग्रेजों में मेकाले, कार्लाइल और फ्रेद के ग्रन्थों में, फरासिसों में ला-मार्टीन और मिशाला के ग्रन्थों में, ग्रीक लोगों में 'थूकीदिदिस' के ग्रन्थ में, और और भी इतिहास ग्रन्थों में इस प्रकार का सौन्दर्य्य हैं। मानवचरित्र ही काव्य का श्रेष्ठ उपादान है, इतिहासवेत्ता भी मनुष्यचरित्र का वर्णन करते हैं, यदि अच्छी तरह वे अपना कार्य्य पूरा कर सकेंगे, तो अवश्य ही उनके इतिहास में काव्य का सौन्दर्य्य आ जायगा। इस सौन्दर्य्य के कारण ये सब ग्रन्थ अनैतिहासिक समझे जाकर जब परित्यक्त नहीं हुए, तब भला हमारे महाभारतादि किस प्रकार इतिहास श्रेणी से परित्यक्त हो सकते हैं?

वङ्ग देश के प्रतिभाशाली प्रसिद्ध सुलेखक बाबू बङ्किमचन्द्र जी ने बहुत अच्छा कहा है कि, मूर्ख के मत की आलोचना वा आन्दोलन करने का प्रयोजन नहीं। किन्तु यदि पण्डित हो कर कोई मूर्खों जैसी बातें करे, तो कहिये तब क्या किया जाय? विख्यात वेबर साहब पण्डित हैं सही, किन्तु हमारी समझ में उन्होंने जिस क्षण में संस्कृत सीखना आरम्भ किया था, भारतवर्ष के लिए वह शुभकाल नहीं था। भारतवर्ष का प्राचीन गौरव कल की जर्म्मनी के वनवासी, वर्व्वर लोगों की सन्तान के लिये असह्य है। अतएव प्राचीन भारतवर्ष की सभ्यता अति अधुनिक है, यह सिद्ध करने के लिए वे सर्वदा यत्नशील हैं। उनकी विवेचना में "ईसामसीह" के जन्म से पहिले भी महाभारत था, इस पर विचार करने का मुख्य प्रमाण कुछ नहीं है। प्राचीनता की इतनी बात भी स्वीकार करने का एकमात्र कारण यह है कि Chrysostom नामक एक योरोपियन मनुष्य भारतवर्ष में आकर नाव वालों (मल्लाह वा मांझियों) से महाभारत की कथा सुन गया था! पाणिनी के सूत्रों में महाभारत शब्द भी है, युधिष्ठिरादि का नाम भी है; किन्तु इस पर उनका विश्वास नहीं होता, क्योंकि पाणिनी भी उनकी सम्मति में "कल का लड़का है" पर एक योरोपीय आदमी के पवित्र कर्णकुहर में जो किसी झीमर वीमर (नाविक) के वाक्य पड़ गये, उनकी

अवहेला करने में वे सर्वथा असमर्थ हैं। अतएव बड़े कायक्लेश से उन्होंने इतना स्वीकार किया है कि ख्रीष्टीय प्रथम शताब्दी में महाभारत था। किन्तु और एक योरोपीय मनुष्य जिसका नाम Megasthenes है और जो ईसा से पहिले तीसरी वा चौथी शताब्दी में भारतवर्ष में आ चन्द्रगुप्त की राजधानी में रहा था, उसने अपने ग्रन्थ में महाभारत की बात नहीं लिखी। बस वेबर साहब ने कह दिया कि उसके समय में महाभारत नहीं था (१)! इस जगह जान बूझ कर जर्म्मन पण्डित ने बुद्धिपुरस्पर दुराग्रह से सत्य का अपलाप किया है। यह बात कुछ गुप्त नहीं है क्योंकि वे अच्छी तरह इस बात को जानते हैं कि "मेगास्थिनिस्" का भारत विषयक ग्रन्थ अब विद्यमान नहीं है, केवल अन्यान्य ग्रन्थकारों ने उससे जितना अंश अपनी अपनी पुस्तकों में उद्धृत किया था, उसको डाक्टर श्वान्वेक् (Dr. Schwanbeck) नामक एक आधुनिक पण्डित ने सङ्कलन कर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रस्तुत किया, वही इस समय मेगास्थिनिस् कृत भारत वृत्तान्त के नाम से प्रचलित है। उसके ग्रन्थ का अधिक अंश अभी तक विलुप्त है, सुतरां उसने महाभारत की चर्चा अपने ग्रन्थ में की है कि नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। वेबर साहब का चाहे जो अभिप्राय हो, किन्तु घटनाक्रम से हमारा विचार यही है कि, इन बातों को जान बूझ कर केवल भारतवर्ष के प्रति विद्वेष बुद्धिवश वेबर साहब ने इस प्रकार की बातें लिखी हैं। इनके बनाये हुए भारत साहित्य के इतिवृत्त विषयक ग्रन्थ में आदि से अन्त तक भारतवर्ष के गौरव को न्यून करने की चेष्टा भिन्न और

---

(१) Since Magesthenes says nothing of this epic it is not improbable hypothesis that its origin is to be placed in the interval between his time and that of Chrysostam for what ignorant sailors took note of, would hardly have escaped his observation."

'*History of Sanskrit Literature*' *English translation*—*p.* 186. TRUBNER & Co.

1882

कोई उद्देश्य देखा नहीं जाता। इससे अधिक कहना व्यर्थ है, कि "मेगास्थिनिस्" ने महाभारत का नाम नहीं लिया तो इससे यह बात सिद्ध नहीं होती कि उसके समय में महाभारत था ही नहीं। अनेक हिन्दू जर्म्मनी की सैर कर आये हैं और उन्होंने ग्रन्थ लिखे हैं उनके किसी ग्रन्थ में भी हमने वेबर साहब का नाम नहीं देखा, तो क्या यह सिद्धान्त करना चाहिये कि वेबर साहब कभी थे ही नहीं! अन्यान्य योरोपीय विद्वान वेबर साहब की तरह सम्पूर्ण महाभारत की सफाई नहीं करते। उन्होंने जो आपत्ति की हैं, वे दो प्रकार की हैं,—

(१) महाभारत प्राचीन ग्रन्थ है सही, किन्तु ख्रीष्ट से पूर्व चौथी वा पांचवीं शताब्दी में रचा गया है, इससे पहिले ऐसा ग्रन्थ नहीं था।

(२) आदिम वा महाभारत के पहिले आकार में पाण्डवों की कोई कथा न थी। पाण्डव और कृष्ण प्रभृति सब कविकल्पना मात्र हैं! अब विचार कर देखना चाहिये कि, पाण्डवादि कविकल्पना मात्र हैं कि नहीं ?

[३]

जिन योरोपीय पण्डितों की विशाल दृष्टि में सृष्टि रचना का काल ही चार पाँच सहस्र वर्ष से अधिक नहीं है, वे यदि महाभारत के युद्धकाल को ईसा से पूर्व तृतीय या चतुर्थ शताब्दी में ठहरावें तो विचित्रता की क्या बात है ? विचित्रता है तो यह कि, उन्हींके सजातीय उनसे सहमत नहीं हैं और वे इस काल को ईसा से बहुत पुराना मानते हैं।

कोलब्रुक और विलसन साहब ने (निज बुद्धि के अनुसार) हिसाब लगाकर कहा है कि यह युद्ध ईसा से पूर्व चौदहवीं शताब्दी में हुआ था। एलफिनस्टोन साहब ने भी इसी मत को स्वीकार किया है। विलफोर्ड साहब कहते हैं ईसा से १३७० वर्ष पहिले यह युद्ध हुआ था। बुकानेन के मत में तेरहवीं शताब्दी और प्राट् साहब के विचार में बारहवीं शताब्दी इस युद्ध का काल है। यदिच ये महाशय विचारक्षेत्र में तीसरी वा चौथी शताब्दी से बहुत आगे बढ़ गये हैं,

तथापि इनका बढ़ना वैसा ही है जैसा कूपमण्डूक का समुद्र की तुलना करने में। अवश्य ही इस विषय में हम इन पर अधिक पक्षपातिता का दोष आरोपण नहीं करते और न इनके प्रतिवाद ही की विशेष आवश्यकता है। किन्तु जिनके विचार में महाभारत तृतीय वा चतुर्थ शताब्दी का ग्रन्थ है और पाण्डवों की कुछ भी कथा न थी—यह पिछले कवियों की कल्पनामात्र है एवं महाभारत में प्रक्षिप्त है, उनके मत की समीक्षा करना यहाँ अत्यावश्यक समझते हैं।

सब से प्रथम लासन साहब के मत को देखना चाहिए क्योंकि यह महाशय वेबर के भी दादागुरु और जर्मनी के बड़े लब्धप्रतिष्ठ पण्डित हैं। महाभारत चाहे जब बना हो, पर उन्होंने स्वीकार किया है कि इसमें कुछ इतिहास का भी अंश है! किन्तु इन्होंने जितना अंश स्वीकार किया है, वह इतना ही है कि 'महाभारत में जिस युद्ध का वर्णन है, वह कुरुपाञ्चालों का युद्ध है।' पाण्डवों को केवल कवि-कल्पना प्रसूत, अनैतिहासिक कह कर महाभारत से बिल्कुल उड़ा दिया है! वेबर साहब ने भी इसी निकृष्ट मत को ग्रहण किया है। सर-मोनियर विलियम्स, बाबू रमेशचन्द्रदत्त आदि अनेक लोग इसी मत के अनुगामी हैं। इनके मत का तात्पर्य क्या है? सो संक्षेप से दिखाते हैं—

"कुरु नाम का एक राजा था। पुराणेतिहास में सुनते हैं कि तद्वंशीय नृपों को कुरु वा कौरव नाम से पुकारते थे। जिस देश पर कौरवों का अधिकार हो उस देश के निवासियों को भी इस नाम से याद कर सकते हैं। तब तो ऐसी दशा में कुरु शब्द से कौरवाधिकृत देशवासियों को समझना चाहिए। पाञ्चाल लोग दूसरे जनपद (देश) के निवासी थे। इसी अर्थ में पाञ्चाल शब्द का महाभारत में व्यवहार हुआ है। ये दोनों जनपद परस्पर मिले हुए हैं। उत्तर पश्चिम में जितने जनपद थे, महाभारत के युद्ध से पहिले ये दोनों ही देश उन सभों में प्रधान थे। बोध होता है कि, किसी समय में इन दोनों जनपदों में रहने वालों का परस्पर में खूब मेल मिलाप था, क्योंकि 'कुरु पाञ्चाल' पद वैदिक ग्रन्थों में पाया जाता है। इससे सिद्ध होता है कि, पीछे

से इनमें विरोध हुआ था। उसी विरोध का परिणाम महाभारत का युद्ध है उसी युद्ध में पाञ्चाल गण से कुरुगण पराजित और निहत हुए।"

बस विलायती मत का यही सार है। अब देखना चाहिये इसमें कहाँ तक सार निकलता है। पाञ्चालों के साथ कौरवों का विरोध होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि यह युद्ध प्रधानतः कुरुपाण्डवों का युद्ध नहीं था। इसमें सन्देह नहीं कि महाभारत में कौरवों के साथ लड़नेवाली सेना पाञ्चाल वा सृञ्जय गण के नाम से वर्णित हुई है। पाञ्चाल राजपुत्र धृष्टद्युम्न ही उस सेना का सेनापति था। पाञ्चाल राजपुत्र शिखण्डी ही ने कौरवों के प्रधान भीष्म पितामह को युद्ध में गिराया था। पाञ्चाल राजपुत्र धृष्टद्युम्न ही ने कौरवाचार्य्य द्रोण का वध किया था और इसमें भी सन्देह नहीं कि कुरुपाञ्चालों का विरोध पाण्डवों के बाल्यकाल ही से प्रचलित हो गया था। यह सब महाभारत ही में है कि पाण्डव और धार्तराष्ट्र सब मिल कर द्रोणाचार्य्य से सुरक्षित हो पाञ्चाल राज्य पर चढ़ दौड़े थे और उनको पराजित कर अत्यन्त सम्मोहत किया था। पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि महाभारतीय युद्ध कुरुपाण्डवों का युद्ध नहीं था। सब लोग जानते हैं कि अंग्रेज़ों के साथ फ्राँसवालों की पुरानी शत्रुता है और इसी कारण उन्होंने कई प्रकार से वर्तमान बूर युद्ध में सहायता भी दी, तथापि क्या यह फ्राँसिसों और अंग्रेजों का युद्ध कहला सकता है? काबुल की लड़ाई में जनरल वंतूरा के अधीन सिक्ख सेना अंग्रेज़ों की सहायता के लिये गई थी, और उसने अपने पुराने शत्रु अफ़गानों से युद्ध भी किया था, तो भी क्या वह युद्ध प्रधानतः सिक्ख और अफगानों का युद्ध था? कदापि नहीं। तब फिर महाभारतीय युद्ध को कुरुपाण्डवों का युद्ध न कह कर कुरुपाञ्चालों का युद्ध कहना, कहाँ तक सङ्गत है, यह बुद्धिमान स्वयं ही विचार लें।

और जो लोग यह कहते हैं कि "यदि यह युद्ध प्रधानतः धृतराष्ट्र-पुत्र और पाण्डुपुत्रों का युद्ध होता, तब तो इसको कुरुपाण्डवों का युद्ध कभी नहीं। कह सकते क्योंकि पाण्डव भी कुरु थे, इसलिए इसको

धार्तराष्ट्र और पाण्डवों का युद्ध कहना चाहिये। भीष्मपितामह, कौरवाचार्य द्रोण और कृपाचार्य के साथ धृतराष्ट्र के पुत्रों का जो सम्बन्ध था, पाण्डवों का भी उनके साथ वही सम्बन्ध था और स्नेह भी तुल्य ही था। यदि यह युद्ध धार्तराष्ट्र एवं पाण्डवों का युद्ध होता, तो वे लोग कभी भी दुर्योधन का पक्ष अवलम्बन कर पाण्डवों के अनिष्ट साधन में प्रवृत नहीं होते, क्योंकि वे धर्मात्मा और न्याय पर थे।" उनको महाभारत का अनुशीलन करना चाहिये।

यदि यह युद्ध केवल धृतराष्ट्र के पुत्र और पाण्डवों का युद्ध होता, या तो तब इसे धार्तराष्ट्र और पाण्डवों का युद्ध कहा जाता, अथवा कुछ कौरव, पाण्डवों के पक्ष में भी होते, तब ऐसा कहा जा सकता था। किन्तु जब भीष्मादिक कौरव सभी पाण्डवों के विपक्ष में थे, तब इस युद्ध को कुरुपाण्डवों का युद्ध कहना ही अधिक युक्तियुक्त है। भीष्मादिक ने दुर्योधन का पक्ष जिस लिए लिया था उसका कारण महाभारत में उन्होंने आप ही बतलाया है (१)। धर्म्मात्मा, न्यायपर, भीष्मादिक से यह कैसे हो सकता था कि जिसका इतने दिनों तक अन्न खाया था, उसका युद्ध के समय साथ छोड़ बैठते।

यदि किसी प्रकार यह मान भी लिया जाय कि यह युद्ध प्रधानतः कुरु पाञ्चालों का युद्ध था, तब भी तो योरोपीय पण्डित जिस सिद्धान्त पर उपस्थित हुए हैं, हम उसे कदापि ग्रहण नहीं कर सकते। वे कहते हैं कि, युद्ध कुरुपाञ्चालों का था और पाण्डु वा पाण्डव कोई ऐतिहासिक पुरुष ही न थे।

महाभारत को पढ़ कर पाण्डवों को अनैतिहासिक कह देना वैसा ही है, जैसा बूर युद्ध को ऐतिहासिक व्यापार मान कर मूलीभूत क्रूगर को मनः कल्पित समझ बैठना। जो हो। अपने सिद्धान्त की पुष्टि में उन्होंने एक और भी हेतु दिखाया है। वह यह कि—सम-

(१) "अर्थस्य पुरुषो दासः नार्थो दासस्तु कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोस्म्यर्थेन कौरवैः ॥"

सामयिक किसी ग्रन्थ में भी पाण्डव नाम नहीं पाया जाता। उत्तर में हिन्दू कह सकते हैं, कि यह महाभारत ही तो समसामयिक ग्रन्थ है—फिर और क्या चहिए ? उस समय कोई आज कल की तरह संवादपत्र वा इतिहासलेखकों की धूमधाम तो थी ही नहीं, जो एक ही बात का चर्वित चर्वण जहाँ तहाँ मिले और उनका अनेक ग्रन्थों में नाम पाया जाय। जिन पुराने इतिहासों में उनका नाम और वृतान्त मिलता भी है, उन पर श्रद्धा करना तो दूर रहा, उन्हें बातों हीं में उड़ाया जाता है।

योरोपीय पण्डित कहते हैं कि शतपथ ब्राह्मण एक अनल्पपरवर्त्ती ग्रन्थ है। उसमें धृतराष्ट्र, परीक्षित एवं जनमेजय का नाम है, किन्तु पाण्डवों के नाम की गन्ध तक भी नहीं, बस इसलिए पाण्डव भी न थे।

शतपथ यजुर्वेद का ब्राह्मण भाग है। उस आदिम ग्रन्थ को इसलिए अनल्पपरवर्ती ग्रन्थ ठहराना कि उसमें धृतराष्ट्र, परीक्षित आदि तात्कालिक पुरुषों के नाम हैं, बड़ी भारी भूल है। वैदिक ग्रन्थों में जिन पुरुषों के नाम आते हैं वे इतिहास से नहीं लिये गये वरञ्च इतिहास प्रसिद्ध पुरुषों ने उन आदरणीय नामों को ग्रहण किया है। बाबू देवकीनन्दन जी ने प्रसिद्ध "चन्द्रकान्ता" उपन्यास लिखा है। चन्द्रकान्ता में वर्णित व्यक्तियों का नाम यदि अब कोई पुरुष अपने बालबच्चों का भी रख ले (कइयों ने रख भी लिया है) तो क्या यह समझा जायगा कि 'चन्द्रकान्ता' उन पुरुषों से पीछे की रचना है ? कदापि नहीं। क्या एक नाम के अनेक व्यक्ति नहीं होते ? वैदिक पुस्तकों में इन पुरुषों का नाम किस अभिप्राय से आता है, इस बात को सुप्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्ट ने 'मीमांसा तन्त्रवार्तिक' में बहुत अच्छी तरह समझाया है। वहाँ इस विषय को देखना चाहिये।

यूरोपीय पण्डितों की समझ तो देखिये—परीक्षित और जनमेजय को तो ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं और पाण्डव अर्जुन को नहीं ! हम तो समझते हैं 'मूलं नास्ति कुतः शाखा' अर्थात् मूल के बिना शाखा उत्पन्न नहीं होती क्योंकि 'कारणाभावे कार्य्यस्याप्यभावः' अर्थात्

कारण का अभाव होने पर कार्य का भी अभाव होता है। पर बाहरी विलायती बुद्धि! उपहास मात्र ही में इस अचल सिद्धान्त को उड़ा दिया! यह न सोचा कि अर्जुन के बिना परीक्षित और जनमेजय कहाँ से उत्पन्न होंगे।

वेबर साहब ने निश्चय कर लिया कि शतपथ में जो परीक्षित और जनमेजय का नाम आया है, वह महाभारतीय जनमेजय हो का नाम है। क्योंकि उससे यह सिद्ध होता है कि यजुर्वेद वा शतपथ ब्राह्मण महाभारतीय युद्ध से पीछे बना है और शतपथ में जो "अर्ज्जुनो वै इन्द्रो यदस्य गुह्यं नाम" इस श्रुति में अर्ज्जुन का नाम आता है, उससे पाण्डव अर्जुन का कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। क्योंकि इससे यह सिद्ध हो सकता था कि पाण्डव भी ऐतिहासिक पुरुष हैं, कल्पनाप्रसूत नहीं। सुतरां यह इनको इष्ट नहीं।

यदि किसी प्राचीन ग्रन्थ में लोकप्रसिद्ध पुरुष का नाम न पाया जाय, तो क्या यह समझ लेना चाहिये कि वह पुरुष संसार में हुआ ही न था? भारतवर्ष के किसी ग्रन्थ में मकदुनिया के सिकन्दर वा अलेकजेंडर का गन्ध भी नहीं है—और उसने भारतवर्ष में आन कर जो काण्ड उपस्थित किया था वह कुरुक्षेत्र के समान ही गुरुतर व्यापार है। तब क्या यही सिद्धान्त करना होगा कि अलेकजेंडर नाम का कोई व्यक्ति ही न था एवं ग्रीस के इतिहासवेत्ताओं ने जो कुछ उनका वृत्तान्त लिखा है—वह सब कविकल्पना मात्र है? यहाँ के किसी ग्रन्थ में महम्मद गज़नवी के नाम की गन्ध भी नहीं है, तो क्या यही सिद्धान्त किया जायगा कि यह मुसलमान लेखकों का केवल कल्पना-प्रसूत व्यक्ति है? बङ्गला पुस्तक के पुराने साहित्य में बखतियार खिलजी का नाम मात्र भी नहीं है, तो क्या सिद्धान्त करना होगा कि यह मिन्हाजुद्दीन का कल्पना प्रसूत मात्र है? यदि कहो, नहीं—तो हम पूछते हैं कि, एक मिन्हाजुद्दीन का वाक्य विश्वास योग्य किस प्रकार और महाभारत की कथा अविश्वास योग्य कैसे?

वेबर साहब कहते हैं कि "शतपथ ब्राह्मण में अर्जुन शब्द है,

किन्तु वह इन्द्रार्थ में व्यवहृत हुआ है—ऐसे अर्थ में नहीं जिससे किसी पाण्डव का सम्पर्क समझा जाय। इसलिए उन्होंने समझा है कि पाण्डव अर्जुन की मिथ्या कल्पना की गई है, इन्द्र के स्थान पर वह बलात् बैठाया गया है! इस सूक्ष्म बुद्धि के भीतर प्रवेश करने में हम असमर्थ हैं। इन्द्रार्थ में अर्जुन शब्द व्यवहृत हुआ है, इसलिए अर्जुन नामक कोई मनुष्य था ही नहीं इस सिद्धान्त को हम समझ नहीं सकते।

बात हँसी में उड़ा देने योग्य है, किन्तु वेबर साहब एक महा-महोपाध्याय पण्डित हैं, तिस पर वेद छपाया है और हम एक तो हिन्दुस्तानी, फिर ठहरे मूर्ख, हँसी में उन्हें उड़ा देना बड़ी धृष्टता की बात होगी। इसलिए अब एक बात समझाते हैं।

शतपथ ब्राह्मण में अर्जुन नाम भी है और फाल्गुन नाम भी है। जैसे अर्जुन और फाल्गुन इन्द्र और मध्यम पाण्डव दोनों का नाम है फाल्गुन भी उसी प्रकार इन्द्र और मध्यम पाण्डव दोनों का नाम है। अर्जुन का नाम "फाल्गुन" इसलिए है कि उसका जन्म फाल्गुन नक्षत्र में हुआ है, और इन्द्र फाल्गुन के नाम से इसलिए प्रसिद्ध है कि यह फाल्गुन नक्षत्र का अधिष्ठाता देवता है। अर्जुन शब्द का अर्थ शुक्ल, वर्ण नहीं है। दोनों निर्मल कर्मकारी, शुद्ध पवित्र है; इसलिए दोनों ही अर्जुन हैं। इन्द्र का जहाँ अर्जुन नाम है, शतपथ ब्राह्मण की उस श्रुति की यहाँ पुनरावृत्ति करते हैं।

"अर्जुनो वै इन्द्रो यदस्य गुह्यं नाम।"

अर्थात् अर्जुन, इन्द्र, इसके गुह्य नाम हैं। इससे क्या यह नहीं समझा जाता कि अर्जुन नाम का कोई और भी व्यक्ति है, जिसकी महिमा बढ़ाने के अभिप्राय से इन्द्र के साथ उसका वाक्य स्थापन के लिये इन्द्र का अर्जुन नाम "गुप्त" नाम से प्रचारित किया गया है? वेबर साहब "गुह्य" अर्थ से (Mystic) समझ कर, लोगों को कुछ का कुछ समझाते हैं।

एक बात बड़ी मजेदार है। कुरुचि वृक्ष का भी अर्जुन नाम है।

इसका अर्जुन नाम इसलिए कि इसके फूल श्वेत वर्ण युक्त हैं, और फाल्गुन कहलाने का कारण यह है कि यह फाल्गुन में फूलता है। अतः हमारा विनीत निवेदन है कि इन्द्र का अर्जुन और फाल्गुन नाम है इसलिए हमें भी क्या कह देना चाहिये कि कुरुचि कहीं वृक्ष नहीं है और कभी था भी नहीं ? हमारे पाठक अनुमति दान दें, तो हम महा-महोपाध्याय वेबर साहब की जयजयकार करें।

ये सब विलायती पण्डित कहते हैं कि ललित विस्तर में पाण्डवों का नाम पाया तो जाता है कि वे पाण्डव केवल पहाड़ी लुटेरे हैं। हमारी विवेचना में इससे यह सिद्ध नहीं होता, कि पाण्डु पुत्र पाँचों पाण्डव जगत् में कभी वर्तमान ही न थे। संस्कृत और हिन्दी साहित्य में "फिरंगी" शब्द जो दो एक जगह मिलता है, उसका अर्थ रोगी है। जातिवाचक अर्थ में "फिरङ्गी" शब्द कहीं व्यवहृत नहीं हुआ। इससे यदि हम सिद्ध करें कि (frank) जाति कभी थी ही नहीं तो यूरोपीय पण्डित और उनके शिष्य लोग जिस भ्रम में पड़ गये हैं हम भी उसी भ्रम में जा गिरेंगे (१)।

(१) बंगाली बाबू अक्षयकुमार दत्त अंग्रेज़ी विचारों के पक्के पक्षपाती और एक कट्टर ब्राह्म समाजी हो चुके हैं। इनसे पहिले ब्राह्म समाज वेदों को अभ्रान्त मानता था। यह इन्हींके उपदेश का फल हुआ कि ब्राह्म लोगों ने वेद को भी भ्रान्ति पूर्ण ग्रन्थ समझा। बंगला के लेखकों में आप भी प्रधान गिने जाते हैं। अंग्रेज़ी पढ़े हुए लोग अपनी अटकल के भरोसे किस प्रकार की कल्पना किया करते हैं, यह दिखाने को इनके ग्रन्थ से यहाँ कुछ उद्धृत करते हैं—

"बौद्ध ग्रन्थकार, एक पाण्ड्य नाम की पर्व्वतवासी जाति का उल्लेख कर गये हैं, कि वे उज्जैनी और कौशल देशवासियों के शत्रु थे। महाभारत में पाण्डव लोगों को हस्तिनापुरवासी कह कर उनका वर्णन तो किया है, किन्तु इस ग्रन्थ के भी स्थलविशेष में लिखा है कि प्रथम वे हिमालय पर्व्वत ही में निवास कर परि-वर्द्धित हुए थे।

एवं पाण्डोः सुताः पञ्च देवदत्ता महाबलाः।

❀❀ ❀❀ ❀❀

विवर्द्धमानास्ते तत्र पुण्ये हैमवते गिरौ।

आदिपर्व। १२५।२७।

अभी भी लासन साहब के मत की समालोचना शेष है। वे कहते हैं कि कुरु पाञ्चालों का युद्ध ऐतिहासिक व्यापार है; महाभारत में इतनी ऐतिहासिकता है किन्तु वे पाण्डव प्रभृति नायक नायिकाओं पर विश्वास नहीं रखते। वह कहते हैं कि अर्जुनादि सब रूपक मात्र हैं।

प्लिनि और सलिनस नाम के ग्रीक ग्रन्थकारों ने भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर की ओर वाल्हीक देश के उत्तरांश में "सौग्डियना" देश के एक नगर का नाम पाण्ड्य लिखा है एवं सिन्धु नदी के मुखसमीपस्थ एक जाति विशेष को भी "पाण्डव" के नाम से उल्लेख किया है। भूगोलवित् टलेमी साहब, पाण्डव नाम के लोगों को वितस्ता नदी के समीपवर्ती बतलाते हैं। कात्यायन ने एक पाणिनि सूत्र के वार्तिक के पाण्डु से पाण्ड्य शब्द को निष्पन्न किया है *। लक्ष्मीधर अपनी 'षड्भाषा चन्द्रिका' में केकय वाल्हिकादि उत्तर दिशा के जनपदों के साथ पाण्ड्य देश का नामोल्लेख कर गये हैं और उन सब को पिशाच अर्थात् असभ्य देश विशेष कहा है। "पाण्डव केकय वाल्हिक * * एते पैशाच देशाःस्युः।"

हरिवंश में दक्षिण दिशा के चोल केरलादि के साथ पाण्ड्य देश का भी नाम पाया जाता है। (हरिवंश ३२ अ, १२४ श्लो०) इसलिए वह दक्षिण पथ के अन्तर्गत पाण्ड्य देश है। श्रीमान् विलसन साहब की विवेचना में इस जाति के लोग प्रथम 'साग्डियना' देश के अधिवासी थे, वहीं से भारतवर्ष में आन कर रहने लगे और उत्तरोत्तर भिन्न २ स्थानों में फैलते गये, पीछे हस्तिनापुरवासी हुए और अन्त में दक्षिणापथ में जा कर राज्य को संस्थापित किया।

राजतरङ्गिणीकार के मत में काश्मीर राज्य के प्रथम राजा कुरुवंशीय थे। अतएव पाण्डवों का वहाँ से हस्तिनापुर में आन कर डेरा डालना सम्भव है। वे लोग मध्यदेश के वासी थे, फिर किस प्रकार पाण्डव नाम से परिचित हुए—इस समस्या की पूर्ति के लिये ही क्या "पाण्डुपुत्र-पाण्डव" के नाम से क्रमशः एक जनप्रवाद प्रचारित हो गया? इनके जन्मवृत्तान्त में जो बखेड़ा है वह तो प्रसिद्ध ही है। लोगों ने भी उसमें सन्देह किया था इसका भी प्रमाण मिलता है—

यदा चिरमृतः पाण्डुः कथं तस्येति चापरे।

आदिपर्व ।१। ११७।

और और लोग बोले—"बहुत काल हुआ पाण्डु ने प्रान त्याग कर दिया है, अतएव ये लोग किस प्रकार उसके पुत्र हो सकते हैं?"

भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय, द्वि. भा.

* पाण्डोर्ड्यण् वक्तव्यः

पु० ब ३

यथा—अर्जुन शब्द का अर्थ है, 'श्वेत' वर्ण, इसलिए जो आलोकमय है, वही अर्जुन। जो अन्धकार है वह कृष्ण। कृष्णा भी उसी प्रकार समझो। पाण्डवों की अनुपस्थिति में जिसने राज्य धारण किया था, उसे धृतराष्ट्र समझिये। पञ्च पाण्डव, पाञ्चाल देश की पांच जातियों का नाम है। पाञ्चालों के साथ उनका विवाह, इन पांच जातियों के एकीकरण का सूचक मात्र है। जो भद्र अर्थात् मङ्गल आनयन करे, वही सुभद्रा है। अर्जुन के साथ यादवों का सौहार्द ही यह सुभद्रा है इत्यादि।

हम स्वीकार करते हैं कि हिन्दुओं के सब शास्त्रों में रूपक की प्रबलता है-वेद में, इतिहास में, पुराण में और काव्य में, अनेक प्रकार के रूपक हैं। किन्तु इससे हम यह स्वीकार नहीं कर सकते कि हिन्दुओं के शास्त्र में जो कुछ है, सब रूपक ही रूपक हैं, रूपक को छोड़ सब शास्त्रों में और कुछ है ही नहीं।

हम यह भी जानते हैं, कि संस्कृत साहित्य में या शास्त्र में, जो कुछ है वह रूपक हो या न हो, किन्तु उसे रूपक कह कर उड़ा देना अनेक लोगों को अच्छा लगता है। राम के नाम के भीतर 'रम' धातु पाया जाता है और सीता के नाम के भीतर 'सि' धातु है, इसलिए वेबर साहब की कृपा से रामायण कृषि कार्य्य के रूपक में परिणत हो गई। जर्मन के पण्डित ने इसी प्रकार दो चार धातुओं के सहारे ऋग्वेद के सब सूक्तों को सूर्य्य और मेघ मण्डल के रूपक में बांध कर अर्थ का अनर्थ कर डाला है।

चेष्टा की जाय तो हमारी समझ में पृथिवी पर जो कुछ है, वह इसी प्रकार रूपक में उड़ाया जा सकता है। एक बार दिल्लगी में नवद्वीप के सुप्रसिद्ध महाराज कृष्णचन्द्र को इसी तरह रूपक में उड़ा दिया था। आप कहेंगे कि यह कैसे हो सकता है—वे उस दिन तक तो थे ही—उनकी राजधानी राजपुरी, राजवंश, अभी तक विद्यमान हैं, वे भी इतिहास में कीर्तित हुए हैं। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि कि कृष्ण अर्थ से अन्धकार, तमो रूपी। कृष्ण नगर अर्थात् अन्ध-

कार पूर्णस्थान में उसकी राजधानी। उसके छः पुत्र अर्थात् तमोगुण से छः रिपुओं की उत्पत्ति!

एक बालक ने पलासी के युद्ध विषय में इस प्रकार रूपक बांधा था, कि पल मात्र उद्भासित जो असि, वह क्लीब गुणयुक्त क्लैव (Clive) से प्रयुक्त हुई और उसने सुराजा अर्थात् जो उत्तमराजा था, उसको पराभूत किया था। अतएव रूपकों का अभाव नहीं है और इस बालक रचित रूपक के साथ वेबर वा लासन् के रूपक का कुछ विशेष प्रभेद भी दिखाई नहीं देता। हम इच्छा करें तो 'वृ' धातु से वेबर और "लस" धातु से खुद लामन साह के नाम की व्युत्पत्ति कर उनको इस ऐतिहासिक गवेषणा को क्रीड़ा कौतुक की तरह उड़ा सकते हैं।

भारतवर्ष के इतिहासलेखक (Talboys Wheeler) साहब का भी एक मत है। जब हाथी गोते खा रहा है, तब बेचारी भेड़ जल की क्या थाह लगा सकती है। उन्होंने कहा है,—हाँ इसका कुछ ऐतिहासिक मूल है तो सही, पर वह अति सामान्य है—

"The adventures of the Pandavas in the jungle, and their encounters with Asuras and Râkshasas are all palpable fictions, stil they are valuable traces which have been left in the minds of the people of the primitive age of the Aryans against the Aborigines.

टलबायज ह्वीलर साहब संस्कृत नहीं जानते थे। महाभारत कभी देखा भी न था। उनकी पण्डिताई का सहारा केवल बाबू अविनाशचन्द्र घोष एक बङ्गाली पुरुष था। उन्होंने अविनाशचन्द्र बाबू से महाभारत के मूल ग्रन्थ का अनुवाद करने को कहा। अविनाश बाबू भी जङ्गी आदमी थे, इसमें सन्देह नहीं। काशीदास के महाभारत का जो बंगला में महाभारतीय घटना का एक संग्रह ग्रन्थ है, अनुवाद कर साहिब को दे दिया। ह्वीलर साहिब ने बिना जाँच पड़ताल किए ही चन्द्रहास और विषया के उपाख्यानादि को मूल महाभारत का अंश कह कर विख्यात किया। जो बुढ़िया गूँगापीर के गीत सुन कर रामायण के भ्रम से प्रेमाश्रु छोड़ रही थी, हमारी समझ में वह भी इस

पण्डितवर की अपेक्षा उपहास्यास्पद नहीं है। ऐसे लेखकों के मत का प्रतिवाद कर हम अपने पाठकों के समय को वृथा नष्ट करना उचित नहीं समझते हैं।

तात्पर्य यह कि महाभारत के पाण्डवादि सब नायक कल्पना-प्रसूत हैं, इस प्रकार के विचार करने का कोई उपयुक्त कारण अब तक किसी ने नहीं दिखाया है। जो कुछ निर्दिष्ट हुआ है, वह सब ऐसा ही अकिञ्चित्कर है। सब हेत्वाभासों के प्रतिवाद करने का न यहाँ स्थान है और न आवश्यकता। पाण्डवों की ऐतिहासिकता में जो कहा गया है, वह यदि यथेष्ट नहीं है तो फिर भी हम कुछ कहने की इच्छा करते हैं।

[४]

पाणिनि जी का सूत्र है—

महान् व्रीह्यपराह्णगृष्टी ष्वास जाबाल भार भारत हैलिहिल रौरव प्रवृद्धेषु।६।२।३८।

अर्थात् व्रीहि इत्यादि शब्दों के पहिले महत् शब्द का प्रयोग होता है। इन शब्दों में एक शब्द "महाभारत" भी है। सुप्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ के बिना 'महाभारत' नाम कभी किसी और वस्तु का भी हुआ हो, ऐसा कोई प्रमाण ही नहीं। तथापि वेबर साहेब फरमाते हैं कि यहाँ महाभारत शब्द का अर्थ भरतवंश है! किन्तु यह केवल साहेब बहादुर की बहादुरी है। क्योंकि ऐसा प्रयोग कहीं भी नहीं मिलता।

फिर देखिये पाणिनि सूत्र है—

गवि युधिभ्यां स्थिरः ८।३।९५।

गवि और युधि शब्द के परे स्थिर शब्द के स के स्थान में ष होये। यथा, "गविष्ठिरः, युधिष्ठिरः।"

और देखिये—

"बहवृच इभः प्राच्य भरतेषु" ।२।४।६६।

भरत गोत्र का उदाहरण है—"युद्धिष्ठिराः।" (१)

फिर लीजिये—

"स्त्रियामवन्ति कुन्ति कुरुभ्यश्चः।४।१।१७।६०।

इसमें कुन्ती शब्द भी पाया गया।

और लीजिये—

"वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन् ।" ४ । ४ । ९८ ।

अर्थात् वासुदेव और अर्जुन शब्द के परे षष्ठार्थ में वुन हो।

"नभ्राण्नपान्नवेदानासत्यानमुचिनकुल नख नपुंसक नक्षत्र नक्र नाकेषु ।" ६।३ ७५।

इस सूत्र में नकुल पाया गया।

द्रोण पर्व्वत जीवन्तादन्यतरस्याम् । ४।१।१०३

द्रोणायण शब्द भी मिल गया। इससे अश्वत्थामा के अतिरिक्त और किसका बोध हो सकता है? इस प्रकार पाँचो पाण्डवों का एवं कुन्ती, द्रोण अश्वत्थामा आदि का नाम पाणिनी जी के सूत्रों में पाया जाता है।

जब कि महाभारत ग्रन्थ का नाम और उस ग्रन्थ के नायक लोगों का नाम पाणिनि के सूत्रों में पाया गया, तब यही सिद्ध हुआ कि पाणिनि से प्रथम वा पाणिनि के समय में भी महाभारत पांडवों का इतिहास था। अब यह विचार करना चाहिये कि पाणिनि जी का कौन सा समय है।

भारतद्वेषो वेबर साहब ने उनको भी आधुनिक सिद्ध करने की चेष्टा की है, किन्तु यहाँ उनका मत नहीं चल सकता। क्योंकि गोल्ड-ष्टुकर साहब ने पाणिनि के अभ्युदय काल का निर्णय कर दिया है। इस विषय में उन्होंने जो विस्तृत वर्णन किया है, स्थानाभाव से उसे हम यहाँ प्रकाश नहीं कर सकते। किन्तु बाबू रजनीकान्त गुप्त ने उस ग्रन्थ का सारांश बङ्गला में प्रकाश किया है और वृन्दावन के प्रसिद्ध गोस्वामी पण्डित श्रीराधाचरण जी ने उसे हिन्दी भाषा में लिखा है, इसलिए यहाँ उसके प्रकाश की ऐसी आवश्यकता नहीं। जो लोग इस विषय को मातृभाषा में देखना अपमानजनक समझें, वे गोल्ड-ष्टकर महाशय के अंग्रेज़ी ग्रन्थ से निज भ्रम दूर कर सकते हैं। वेबर साहब इसलिए अत्यन्त दुःखित है कि इनको विवेचना में पाणिनि जी अति प्राचीन पुरुष सिद्ध हुए हैं। वेबर साहब ने गोल्डष्टकर का प्रतिवाद भी किया है और लज्जा परित्याग कर यह भी कहा है कि जयपताका

हमारे ही हाथ रही किन्तु और किसी ने यह बात स्वीकार नहीं की।

गोल्डष्टुकर ने सिद्ध किया है कि पाणिनि के सूत्र जब प्रणीत हुए तब बुद्धदेव का आविर्भाव नहीं हुआ था। इसलिए न्यून से न्यून पाणिनि जी का समय ईसा से प्रथम छठी शताब्दी में कहा जा सकता है। किन्तु इनके विचार में पाणिनि सूत्र आश्वलायन, सांख्यायन प्रभृति सूत्रों से भी अधिक प्राचीन हैं। इसलिए पाणिनि का समय ईसा से प्रथम दशम वा एकादश शताब्दी में ठहराना कोई अनुचित नहीं है।

अनेक यूरोपीय पण्डित इस विचार में प्रवृत्त हुए, किन्तु प्रोफेसर गोल्डष्टुकर की बातें किसी से भी खण्डित न हो सकीं। अतएव उक्त प्रोफेसर साहब का यह मत ग्रहण किया जा सकता है। हिन्दुओं की दृष्टि में चाहे गोल्डष्टुकर महाशय की कुछ बातें अग्राह्य वा आपत्ति करने योग्य हों, किन्तु बाबू साहबों के प्रतिवाद योग्य हम यहाँ कोई बात नहीं पाते।

पक्षपातरहित योरोपियन पण्डितों के विचार से स्थिर हो चुका है कि ईसा से सहस्रों वर्ष प्रथम युधिष्ठरादि के वृत्तान्तयुक्त महाभारत प्रचलित था। इतना प्रचलित कि पाणिनि को महाभारत और युधिष्ठिरादि की व्युत्पत्ति लिखनी पड़ी! और यह भी सम्भव है कि इससे बहुत पहिले महाभारत का प्रचार हो चुका था। क्योंकि, "वासुदेवार्ज्जुनाभ्यां वुन" इस सूत्र में "वासुदेवक" और "अर्ज्जुनक" शब्द इस अर्थ में पाये जाते हैं कि, वासुदेव का उपासक और अर्ज्जुन का उपासक। अतएव पाणिनि के सूत्र प्रणयन-काल से प्रथम कृष्णार्ज्जुन देवता के समान उपास्य समझे जाने लगे थे। इसलिए महाभारत के युद्ध से कुछ ही दिन पीछे महाभारत बन चुका था यह जो प्रसिद्ध है इसके खण्डन करने का कोई कारण नहीं दीख पड़ता।

यहाँ यह भी वक्तव्य है कि केवल पाणिनि सूत्रों ही में नहीं, आश्वलायन और सांख्यायन गृह्यसूत्र में भी महाभारत का प्रसङ्ग है। अतएव महाभारत की प्राचीनता के विरुद्ध रोला करने का किसी को अधिकार नहीं है।

[५]

इस बात को प्रत्येक बुद्धिमान् स्वीकार करेगा, कि एक शब्द का एक ही अर्थ नहीं होता, वरञ्च प्रवृत्ति निमित्त से अनेक अर्थ होते हैं, जिनका निर्णय पूर्वापर के प्रसङ्ग से बुद्धिमान् जन सदा करते आये हैं किन्तु शब्दप्रयोग का तात्पर्य न समझ कर एक ही अर्थ को इधर से उधर खैंचना व्यर्थ ही नहीं, वरञ्च अनर्थोत्पादक भी है। हम स्वीकार कर चुके हैं कि, वेद में ऐतिहासिक पुरुषों के नाम की भाँति अनेक शब्द आते हैं, किन्तु उनको ऐतिहासिक व्यक्ति ठहराना किम्वा उनके साथ लौकिकता का सम्बन्ध कल्पना करना आपात रमणीय व्यापार है। कारण कि "यत्परः शब्दः सः शब्दार्थः" यह मीमांसकों का अकाट्य सिद्धान्त है, अर्थात् जिस अर्थ में शब्द प्रयुक्त हुआ हो, वही उस शब्द का अर्थ है। सूत्र, ब्राह्मण और वैदिकपद्धति यही वेदार्थ ज्ञान के मुख्यसाधन हैं, परन्तु खेद की बात है कि, इतिहासलोलुप योरोपीय पण्डित बहुधा उक्त बात का विशेष विचार न कर, निज कल्पना विजृम्भित विचारों का आग्रह करने लगते हैं। इस विषय में वेबर साहब के विचारों की कुछ बानगी दिखाई जा चुकी है, आज और उनके पाण्डित्य का नमूना लीजिए।

शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिनीय शाखा में अश्वमेधयज्ञ का प्रकरण विस्तार से है। मंत्रार्थ की पद्धति में किस प्रकार उपयोग होता है, इस बात का निर्णय अन्यान्य शाखाओं की नाईं यहाँ भी श्रौतसूत्रों के अधीन है और इसमें सन्देह नहीं कि, वे अपने कार्य्य को निर्दोष और निराकांक्ष रीति से पूरा करते हैं। अपौरुषेय वेद के उत्पत्तिकाल की टटोल करते हुए वेबर साहब को जब अपने विचार दौड़ाने का यजुर्वेद में कहीं ठिकाना न मिला तब साहसिकता से उन्होंने अभिषेक और अश्वमेध प्रकरण को पकड़ लिया।

अभिषेक प्रकरण (९ अ०४०,१० अ०१८) में जहाँ इस शाखा के अनुसार ऋत्विग् राजा को लक्ष्य कर कहता है कि "यह तुम्हारा राजा है। ऐ अमुक व्यक्तियों" वहाँ काण्व शाखा (११अ०३,३,६,३) में

यह है कि "यह तुम्हारा राजा है, हे कुरु! हे पाञ्चाल!" बस, फिर क्या था? वेबर साहब ने सत्वर निश्चय कर लिया कि यह कुरु पाञ्चाल शब्द कौरव पाण्डवों के अर्थ को द्योतन करता है! वस्तुतः यहाँ कुरु पाञ्चाल शब्द न तो किसी व्यक्ति विशेष के वाचक हैं और न किसी देश विशेष ही के बोधक हैं। ये केवल उस देश के उपलक्षण हैं जिसके राजा का अभिषेक किया जाय कारण कि आपस्तम्भ निज सूत्रों में आज्ञा देते हैं कि जिस देश का जो राजा हो उसके मनुष्यों के सम्बोधन के अनुसार "भरताः, कुरवः, पाञ्चालाः, कुरुपाञ्चालाः अथवा जनाः" इनमें से यथेष्ठ कोई एक लेना चाहिए। अश्वमेध प्रकरण में एक मंत्र है कि—

"प्राणाय स्वाहा, पानाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा। अम्बेऽम्बिकेऽम्बालिके नमा नयति कश्चन। ससस्त्यश्वकः सुभद्रिकां कांपील वासिनीम्॥" यजु० (१८,अ०२३)

कात्यायन श्रौतसूत्र (परिपशव्ये हुत्वा प्राणाय स्वेति तिस्रोपराः) से विदित होता है "परिपशव्ये स्वाहा, देवेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा" और प्राणाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा" इन पांच आहुतियों में से एक अश्व संज्ञपन के पूर्व और चार अन्त में दी जायं। इन आहुतियों से अश्व प्राणवान् होता है क्योंकि श्रुति ऐसा ही कहती है कि (प्राणानेवास्मिन्न तद्धाति तथो हास्यै तेन जीवतैव पशुनेष्टं भवतीति) इसके अनन्तर कात्यायन कहते हैं कि (वाचयति पत्नीनयन्नमस्तेऽम्ब इति) पशुशोधन के लिये "पान्नेजनी हस्ता" महिषी सब सहेलियां समेत जाती हुई 'नमस्ते आताना' इस प्राकृत और "अम्बे" इस (उद्धोक्त) आश्वमेधिक मन्त्र का उच्चारण करें।

उक्त मन्त्र का अर्थ जो महीधर कृत टीकानुसार वेबर साहब ने स्वीकार किया है, वह यह है—

"हे अम्बे, हे अम्बिके, हे अम्बालिके!, मुझे (बलात्कार से घोड़े के पास) कोई नहीं ले जाता है, (परन्तु यदि मैं स्वयम् न जाऊं तो)

वह (ईर्षालु) घोड़ा दूसरी (अर्थात् दुष्टा सुभद्रा) के साथ जो 'काम्पिल' नगर की रहनेवाली है, सोवेगा"।

सायण आदि के भाष्यानुसार मंत्र का तात्पर्य यह है कि—

हे अम्बे ! हे अम्बिके ! हे अम्बालिके ! देख, यह अश्व सदा के लिये सो गया है, मैं काम्पिल वासिनी सुभद्रा हो कर भी स्वयं इसके समीप (पतित्व कामना से) आई हूँ, इस विषय में मुझको किसी ने आदेश नहीं किया।

इससे वेबर साहब सिद्धान्त करते हैं कि—

Campila is a town in the country of the Panchala Subhadra, therefore would seem to be the wife of the King of the district, etc.

अर्थात् यह काम्पिल पाचालों की एक नगरी है। इसलिए जान पड़ता है कि सुभद्रा उस देश के राजा की स्त्री होगी ! इत्यादि।

मन्त्रगत 'काम्पिल वासिनी' शब्द का सायणाचार्य्य ने इस प्रकार अर्थ किया है कि "काम्पिल शब्देन श्लाघ्योवस्त्र विशेष उच्यते।" किन्तु वेबर साहब का विश्वास है कि वे चतुर्वेद भाष्यकर्ता सायणाचार्य्य की अपेक्षा संस्कृत अच्छी जानते हैं, अतएव उन्होंने इस अर्थ को ग्रहण नहीं किया। न करें, किन्तु काम्पिल वासनी किसी स्त्री का नाम सुभद्रा था, इसलिए कृष्णभगिनी का नाम सुभद्रा क्यों नहीं हो सकता ? इस युक्ति का मर्म्म हमारी समझ में नहीं आया। जो राजा अश्वमेध यज्ञ करेगा उसीकी महिषी को इस मन्त्र का पाठ करना होगा, उसीको कहना होगा कि "मैं काम्पिल वासिनी सुभद्रा।" सुभद्रा शब्द का अर्थ एक टीकाकार करते हैं कि—कल्याणी अर्थात् सौभाग्यवती। महीधर कहते हैं कि—"कम्पीले नगरे वसतीति काम्पील वासिनी ताम्, तत्रहि विदग्धाः सुरूपाः कामिन्यो भवन्ति।"

काम्पील नगरी की स्त्रियां अतिशय रूपलावण्य वाली होती हैं इसलिए इस मन्त्र का यह अर्थ है कि "मैं सौभाग्यवती और रूपलावण्य युक्त होकर भी, इस अश्व के निकट आई हूँ !" इसलिए नहीं

समझ सकते कि इस मन्त्र के बल से कृष्णभगिनी अर्जुनपत्नी सुभद्रा के बदले एक नई पाञ्चाली सुभद्रा की क्यों कल्पना की जाती है ? युधिष्ठिर ने अश्वमेध यज्ञ किया था और उनसे बहुत पहिले होने वाले मान्धाता, हरिश्चन्द्र आदि नरेशों ने भी अश्वमेध यज्ञ किया था, यही महाभारत में और अन्यान्य प्राचीन ग्रन्थों में पाया जाता है। इसलिए यही सम्भव है कि अश्वमेध यज्ञ का यह यजुर्मन्त्र कृष्ण पाण्डवों की अपेक्षा प्राचीन है।

हम प्रथम भी लिख चुके और अब फिर लिखते हैं कि जिस प्रकार आज कल के लेखक लोगों के काव्य ग्रन्थों से पुत्र कन्या का नामकरण करते है (जैसे चन्द्रकान्ता, स्वर्णलता इत्यादि) वैसे उस समय में भी वेद से लोगों के पुत्र कन्याओं का नामकरण होना सर्वथा सम्भव है। इसी मन्त्र से काशिराज ने अपनी तीन लड़कियों का नाम अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका, रक्खा होगा, और इसी प्रकार इसी मन्त्र से कृष्णभगिनी का भी नाम सुभद्रा रख लिया गया होगा। इस मन्त्र में ऐसी कोई बात नहीं है, जिससे कृष्णभगिनी सुभद्रा कोई थी ही नहीं, ऐसा अनुमान कर लिया जाय, किन्तु अवैदिक और पाण्डवद्रोही, ऐतिहासिक विधि सृष्टि की अवहेला कर, नवीन सृष्टि की कल्पना कर रहे हैं। वेबर साहब के पथप्रदर्शक लासन् साहब ने और भी कौतुक किया है। वे कहते हैं कि—"यादव सम्प्रीतिरूप जो मङ्गल, उसीका नाम सुभद्रा है !!! जब सुभद्रा ही कल्पित है, तब परीक्षित जनमेजय सर्व मिथ्या ठहरे, 'मूलं नास्ति कुतः शाखा।' चलो एक ही बात में महाभारत की सफाई हुई !! पर वेबर साहब को केवल महाभारत की सफाई से सन्तोष नहीं होता। वह इस मन्त्र की व्याख्या में भगवान् वेद पर भी हाथ डालते हैं। कहते हैं कि—"सुभद्रा के विषय में चाहे जो हो, परन्तु काम्पिल की सूचना से यह अनुमान होता है कि यह ऋचा अथवा समग्र अध्याय (तथा तैत्तीरीय ब्राह्मण के तत् तुल्य वाक्य भी) पाञ्चालों के राज्य में ही प्रादुर्भूत हुए और यह निगम काण्व सम्प्रदाय के ११वें अध्याय में भी भली भाँति प्रयुक्त हो सकता

है।" अब यहाँ हमारे पाठक समझ गए होंगे वेबर साहब "काम्पील" शब्द से सायणाचार्य्य के मतानुसार "श्लाघ्य वस्त्र विशेष" का अर्थ क्यों ग्रहण करते हैं। यदि मन्त्रार्थ से पाञ्चालों का ग्रहण न किया जाय, तो फिर इन मन्त्रों का पाञ्चालों के समय में बनना किस प्रकार कहा जाय। वेबर साहब चाहे जो कहें, पर हमारे सुविज्ञ पाठक समझ गये होंगे कि मन्त्रोक्त अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका, सुभद्रिका और काम्पील शब्दों से महाभारतोक्त व्यक्तियों का ग्रहण नहीं है। महाभारतीय व्यक्तियों से बहुत काल पहिले अश्वमेध यज्ञ होता था और बिना इन मन्त्रों के अश्वमेध यज्ञ किसी प्रकार हो ही नहीं सकता है। सुतरां वेबर साहब की कल्पना प्रकरणविरुद्ध, अयुक्त और निःसार है।



श्रीवैष्णव सम्प्रदाय

काल के स्वभाव से ज्यों ज्यों मनुष्यों की रुचि का सङ्कोच, विकाश वा उसमें परिवर्तन होता है त्यों त्यों उनके धर्म्म, विश्वास मत, वा उपासना में भी तदनुकूल परिवर्तन हुआ करता है। एक समय था यहाँ वैदिक याग यज्ञ की धूम और इन्द्र, वरुण, वायु आदि की विशेष रूप से उपासना हो रही थी, परन्तु अब प्राचीन रुचि के साथ पुराने पूजा प्रकार ने भी नवीन रूप धारण कर लिया। अब उपनिषदों में कही हुई उपासना के भेद और प्रक्रिया बताने वाले आचार्य भी तिरोहित हो रहे हैं। विचार था कि मैं निरुक्त, ब्राह्मण और श्रौत-सूत्रों के अनुसार पुराकाल की उपासना प्रणाली के सङ्कोच विकाश की आलोचना कर, फिर 'वैष्णव सम्प्रदाय' के विषय में कुछ लिखूँ, किन्तु यह सोच कर कि उस प्रकार के अनुसन्धानपूर्ण क्लिष्ट लेख से प्रसन्न होनेवाले हिन्दी में पाठक स्वल्प हैं और उस प्रकार की बातें वर्तमान सम्प्रदायों से अति दूर की हैं, अतः वह विषय मैंने भी नहीं उठाया।

श्रौती (वैदिकी) उपासना के अतिरिक्त स्मार्तधर्म्म वा उपासना उल्लेख योग्य है। वह मुख्यता से गृह्यसूत्रों के अधीन है। स्मार्तधर्म्म कर्म्मप्रधान होने पर भी वह उपासना से खाली नहीं है, परन्तु गृह्यसूत्रोक्त उपासना का सम्बन्ध जनसमाज से स्वल्प रहने पर भी अभी तक तिरोहित नहीं हुआ। पुराणों के चित्ताकर्षक आधिपत्य से स्मार्त लोगों में वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य और सौर के नाम से पाँच* प्रकार के उपासक लोग हो गए हैं, वरञ्च इस समय स्मार्त वही समझा जाता है, जो किसी देवविशेष की निन्दा न कर सब को एक रूप समझ पञ्चायतनी पूजा करे। इस पूजापद्धति में परस्पर भेद इतना ही होता है

---

* शैवानि गाणपत्यानि शाक्तानि वैष्णवानि च।
साधनानि च सौराणि चान्यानि यानि कानि च॥
(तन्त्रसार तृ० प्र०)

कि वैष्णव विष्णु को, शैव शिव को, शाक्त शक्ति* को, गाणपत्य गणपति को और सौर सूर्य को मध्य में निज रूच्यनुसार स्थापन कर शेष चारों को चारों कोनों में प्रतिष्ठित कर पूजनपरायण होवे।

इस स्मार्तपूजा ने पुराणों और तन्त्रों से विशेष सहायता पाई वरञ्च सच पूछिये तो यों है कि श्रुतियों का बोया बीज स्मृतियों ने सींचा और पुराण तन्त्रों ने उसे अङ्कुरित और परिवर्द्धित किया। यह पूजा देव-द्वेष-रहित होने के हेतु केवल परलोक साधन ही में अद्वितीया रही हो इतना ही नहीं, प्रत्युत इसने इस लोक में भी अति उपकार किया। समाजरक्षा, जो कि धर्म्म का एक मुख्य अंग है, वह इस स्मार्त सम्प्रदाय से सुरक्षित रहा। हमारे विचार में हिन्दुओं की पञ्चायती† प्रथा और "सरपञ्च" निर्वाचन प्रणाली का, इसी पञ्चायतन पूजा से प्रादुर्भाव हुआ है। यह बात कल्पनाप्रसूत होने पर भी अनुमानासिद्ध नहीं है।

स्मार्तपूजा, जिस प्रकार देव विशेष पर निर्भर नहीं है, उसी प्रकार शास्त्र विशेष से भी वह सम्बन्ध नहीं रखती। उसमें वेद, स्मृति, पुराण और तन्त्र सब ग्राह्य हैं। चारों ही प्रकार के मन्त्र यहाँ पूजा स्तुति में व्यवहृत होते हैं। ब्राह्मणों का आधिपत्य भी इसमें वैसा ही है, जैसा वैदिक याग यज्ञ में। भेद केवल इतना ही है कि वहाँ यजमान ऋत्विग् के बिना कुछ भी नहीं कर सकता और यहाँ उसको स्वतन्त्रता भी है। किन्तु स्मार्तधर्म्म के पश्चात् जो सम्प्रदाय वा मत उत्पन्न हुए उनमें वेद और ब्राह्मणों के आधिपत्य की आवश्यकता न समझी गई यही नहीं,

---

* भवानीं तु यदा मध्ये ऐशान्यामच्युतं यजेत्। आग्नेय्यां पार्वतीनाथं नैऋत्यां गणनायकम्। वायव्यां तपनञ्चैव पूजाक्रम उदाहृतः॥

(यामले पञ्चायतनी दीक्षा)

† यद्यपि स्मृतियों में जो "परिषद्" गठन की प्रक्रिया कही गई है, वह न्याय सभाओं की रचना का स्पष्ट एवं दृढ़ मूल है और पञ्चायत को परिषद् वा सभा कहा जा सकता है, पर, "पाँच पञ्च मिल कीजै काज, हारे जीते आवे न लाज" की लोकोक्ति पञ्चायतन पूजा से ही समुद्भूत हुई है। "पांचपञ्च" "पञ्चायतन" और उनमें एक "शिरःपञ्च" वा प्रधान आदि पर दृष्टि देने से यह बात भली भांति प्रतिपन्न होती है।

प्रयुत, उसके दूर करने के लिए उनमें से बहुत की सृष्टि भी हुई। इस प्रकार की सब सम्प्रदायों का वर्णन यथासमय आगे किया जायगा। आज मुझे श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के विषय में कुछ लिखना है। हमने जो कुछ यहाँ तक लिखा है, उसका प्रस्तुत विषय से विशेष सम्बन्ध न होने पर भी, यह निरुपयोगी न होगा।

'वैष्णव सम्प्रदाय' में दो शब्द हैं एक वैष्णव और दूसरा सम्प्रदाय। इस समय चाहे वैष्णव शब्द का यह सङ्कुचित अर्थ किया जाय कि जिसने वैष्णव शास्त्रोक्त दीक्षा ग्रहण की हो, वह वैष्णव है* किन्तु एक समय था कि इस उदार भूमि में भगवान् विष्णुदेव की भाँति वैष्णव शब्द का अर्थ भी विश्व भर में व्याप्त था† । जब कि वैष्णव सिद्धान्त के अनुसार यह समस्त ब्रह्माण्ड भगवान् विष्णुदेव की रचना‡ है, तब समूह विशेष को वैष्णव और समूह विशेष को अवैष्णव समझना सङ्गत नहीं है, सङ्कीर्णमना वैष्णवों के नवीन ग्रन्थों पर ध्यान न दिया जाय तो वेद, भागवत, गीता आदि प्राचीन शास्त्रों से तो यही सिद्ध होता है कि विष्णु के जन का नाम वैष्णव है।

इस समय वैष्णव कई प्रकार के कहलाते हैं, परन्तु हम उन्हें तीन भागों में बाँटते हैं—

(१) वे वैष्णव जो उक्त प्रकार से वैष्णवी दीक्षा ग्रहण कर श्री रामानुज आदि आचार्यों के अनुचर हो रहे हैं। यही वैष्णव हमारी आलोचना के मुख्य लक्ष्य हैं।

(२) ये, वे लोग हैं जो यथार्थ में पाँचों देवताओं की पूजा करने के हेतु, हैं तो स्मार्त, किन्तु जैन लोगों के प्रतिकूल अपने को वैष्णव मानते और लिखते लिखाते हैं। युक्त प्रदेशादि में जब किसी पञ्चदेवोपासक वैश्य से प्रश्न किया जाय कि आप जैन हैं कि वैष्णव? तो वह शीघ्र

---

* "वैखानस पंचरात्रादि वैष्णवागमोक्त दीक्षां प्राप्तो वैष्णवः।"
(सत्सिद्धान्तमार्तण्डे)

† विष्णोरयं वैष्णवः।

‡ इयं वै वैष्णवी प्रजा—(शतपथ) सर्वं विष्णुमयं जगत्॥ (भागवते)

उत्तर देगा कि "वैष्णव"। इस बार जो जनसंख्या में वैष्णवों की संख्या बढ़ी है, उसके कारण ऐसे ही वैष्णव लोग हैं, सम्प्रदायस्थ नहीं।

(३) या, वैष्णव वे हैं, जो ज़िले हिसार के सिरसा प्रान्त में फैले हुए हैं। ये "बिस्नोई" कहलाते हैं और अपनी ही जाति में विवाह सम्बन्ध करते हैं। मूर्तिपूजन और वेदादि शास्त्रों को नहीं मानते। सामाजिक रीतियाँ भी इनमें भिन्न प्रकार की हैं। मेरे विचार में तो इनके हिन्दुत्व ही में सन्देह है, इनका वैष्णव कहलाना तो केवल अन्धेर है। परन्तु जब और लोग इन्हें बिस्नोई वा वैस्नव कहते हैं तब मैंने भी इतना लिख दिया है।

आरम्भ में वैष्णव शब्द किसी सम्प्रदाय वा समूह विशेष के लोगों का वाचक नहीं था, वह सामान्य रूप से जगत् भर का वाचक होने पर भी निज स्वार्थ के हेतु भगवद्भक्त का पर्य्याय हो गया था। वह भगवद्भक्ति नये साँचे के वैष्णवों से ढली हुई नहीं थी, प्रत्युत उदार भाव पूर्ण वैष्णव धर्म्म का महत्व प्रकाश करने वाली थी* उस भक्ति के अनुयायियों में वैसे ही आचरण वाले वैष्णव उत्तम समझे जाते थे, जैसे वेदान्तियों में ज्ञानी †। आज कल की भाँति निज सम्प्रदाय मात्र के अन्तःसार शून्य सिद्धान्तों के दुराग्रही, तिलक मात्र के पक्षपाती, शिवद्वेषी और सत्कर्म विमुख लोगों का उस समय की वैष्णव मण्डली में समावेश नहीं था। वहाँ उनकी गणना थी जो अपने ऊँचे विचार‡

---

* अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सम्प्रसीदति। (भा० प्र०)

† यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ (यजुर्वेद संहिता ४० अ०)

अर्थ—जो सब भूतों को आत्मा में देखता है और आत्मा को सब भूतों में देखता है, वह किसी की निन्दा नहीं करता।

सर्वभूतेषु यः पश्येत् भगवद्भावमात्मनः। भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

अर्थ—जो सब भूतों में आत्मा के भगवद्भाव को देखता है और भगवदात्मा में सब भूतों को; वह वैष्णवों में श्रेष्ठ है।

‡ यस्मान्नो द्विजते लोको लोकान्नो द्विजते च यः। हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ (इत्यादि भगवद्गीता अ० १२)

और पवित्र आचरण के हेतु जगद्वन्द्य समझे जाते थे। जिनकी मनोवृत्ति क्षण मात्र के लिए भी भगवान् के चरणारविन्द से नहीं हटती थी।❀ परन्तु स्कन्दपुराण के इन वचनों के—

"परमापदमापन्नो हर्षे वा समुपस्थिते।
नैकादशीं त्यजेद्यस्तु यस्य दीक्षास्तिवैष्णवी॥
समात्मा सर्वजीवेषु निजाचाराद् विच्युतः।
विष्णवर्पिताखिलाचारः स हि वैष्णव उच्यते॥"

अवलोकन से प्रतीत होता है कि पीछे काल पाकर वैष्णव का एक निर्दिष्ट लक्षण हो गया, "बड़े भारी हर्ष और दुःख के समय भी जो एकादशी के व्रत का परित्याग न करे, जिसने वैष्णवी दीक्षा ग्रहण की हो, जो सब जीवों को निजात्मा के समान देखने वाला हो, अपने आचार पर स्थित हो और भगवान् विष्णुदेव में सत्कर्मों का समर्पण करता हो, वह वैष्णव है"। यह वैष्णव सामान्य का लक्षण सब सम्प्रदाय के वैष्णवों को मान्य होने पर भी अब आचार विचार के समय बहुत कम लोग उक्त वाक्य पर ध्यान देते हैं। इस समय के वैष्णव चाहे एकादशी व्रत न करें, अपने आचार से चाहे कोसों दूर चले गए हों, भगवान् को कुछ समर्पण करना तो अलग, चाहे भगवान् का कोई नाम भी न लेते हों, पर वे सम्प्रदाय विशेष का मन्त्र लेने ही से वैष्णव कहलाते हैं! इसलिए समयानुसार आजकल के वैष्णवों के लिए यही गारुड वाक्य ठीक है कि—

'वैखानसाद्यागमोक्तदीक्षां प्राप्तोहि वैष्णवः'

जिससे कोई जीव त्रास नहीं पावे और जो किसी से भी दुःखित न हो और जो हर्ष, ईर्षा, भय और उद्वेगादि से रहित हो वह मेरा प्यारा है। अर्थात् वैष्णव है।

न काम कर्म वीजानां यस्य चेतसि सम्भवः। वासुदेवैकनिलयः सवै भागवतोत्तमः॥
(भा० ए० अ० २)

❀ त्रिभुवन विभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृति रजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्। न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥ (भा० ए० अ० २)

जिसने वैखानस, नारद पञ्चरात्र आदि वैष्णव तन्त्रोक्त दीक्षा ग्रहण की हो, वह "वैष्णव" है।

अब रहा सम्प्रदाय शब्द का अर्थ, उसका वैष्णवों में अधिकता से व्यवहार होते देखकर कुछ लोगों ने इसे वैष्णवों के घर का शब्द समझ लिया! यहाँ तक कि जयपुर के स्वर्गवासी महाराज रामसिंह जी की ओर से वैष्णवों के प्रति जो चौंसठ प्रश्न हुए थे, उनमें भी सम्प्रदाय शब्द का अर्थ पूछा गया !! * सम्प्रदाय शब्द वैदिक न होने पर भी इतना प्राचीन है कि वैष्णवों की चारों सम्प्रदायों के आचार्यों से बहुत वर्षों पहिले उदयनाचार्य† श्री स्वामी शङ्कराचार्य‡ आदि ने इसका कुसुमाञ्जलि, ब्रहदारण्यकोपनिषद के और मुण्डकोपनिषद् के भाष्य में व्यवहार किया है और सुरेश्वराचार्य जैसे नामी विद्वानों की उस पर व्याख्या हुई है। अमरकोश २ के कां० ३ ब० २ श्लो० ७ में लिखा है कि—

"अथाम्नायः सम्प्रदायः"—

---

* भवत्सम्प्रदायः तत्र सम्प्रदाय शब्दस्य कोऽर्थः इत्यादि।

† निर्माणकाय मधिष्ठाय सर्वसम्प्रदाय प्रद्योतक इति पातञ्जलाः।

(कुसुमाञ्जलि)

‡ विद्या सम्प्रदाय कर्तृत्व पारम्पर्य लक्षण सम्बन्ध मादावेवाह।

(मुण्डक भाष्य)

"ॐ नमों ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्या सम्प्रदाय कर्तृभ्य इत्यादि।

(वृ० भा०)

अमरकोष के टीकाकार पण्डित राममिश्र ने इसकी टीका करते हुए कहा है कि "द्वेपरम्परागतगुरु सदुपदेशस्य"। इससे सिद्ध होता है कि टीकाकार के समय अर्थ पलटा खा गया था।

पण्डित गट्टूलालजी इसके व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को निज पाण्डित्य प्रदर्शन पूर्वक यों प्रकाश करते हैं—

"सम्प्रपूर्वाद्दातेर्घत्रि आतोयुक्चिण्कृतोरिति युक्ति निष्पन्नः सम्प्रदाय शब्दः। तत्राऽस्य मन्त्रादिकर्मकदानस्य सम्पुपसर्गोक्तंसम्यक्त्वं नाम भगवदाज्ञया तद्भक्तै-र्जीवेषु पूर्णं करुणार्णवान्तःकरणै र्ब्रह्मरुद्रादिभिरनादिसिद्धवेदादुद्धृत्य प्रवर्तितत्वेन तच्छिष्य परम्परा प्राप्तत्वं॥"

(सत्सिद्धान्तमार्तण्ड)

जिससे सिद्ध होता है कि सम्प्रदाय आम्नाय शब्द का पर्याय था और व्याकरण भाष्य और नागेश भट्ट के "शब्देन्दुशेषर" आदि से यह स्पष्ट है कि आम्नाय समाम्नाय शब्द केवल वेद ही में व्यवहृत होते थे; परन्तु पीछे यह "परम्परागत-गुरु-सदुपदेश" का वाचक हो गया और अब तो इसका यहाँ तक प्रसार हुआ है कि सम्प्रदाय, मत का नामान्तर समझा जाने लगा और हिन्दुओं ही के लिए नहीं औरों के लिए भी व्यवहार की वस्तु हो गया ! जैन सम्प्रदाय, बौद्ध सम्प्रदाय, ईसाई सम्प्रदाय इत्यादि रूप से सब लोग लिखने लिखाने लगे। शब्दार्थ का सङ्कोच विकाश सब काल के अधीन है, मनुष्यों के नहीं। मनुष्य कोष, व्याकरण के नियमों में उन्हें बाँधना चाहते हैं, पर काल सदा उनके बन्धन तोड़ने में तत्पर रहता है।

हम कह चुके हैं कि लोगों की रुचि के अनुसार उपासना मत व सम्प्रदाय में सदा परिवर्तन हुआ करता है, वैदिक और स्मार्तधर्म्म की बातें दूर रहीं, स्वामी शङ्कराचार्य के समय में जिन सम्प्रदायों का जोर था, उनमें से बहुत का अब कोई नाम भी नहीं जानता और इस समय जैसे विचित्र मतों की सृष्टि हुई है पहिले वैसे विचारों का लेश भी न था। इस समय वैष्णवों के अनेक सम्प्रदाय हैं, पर उनमें चार सम्प्रदाय मुख्य हैं, रामानुज, विष्णुस्वामी, मध्व और निम्बादित्य। इनके सिवाय और जितने सम्प्रदाय हैं, प्रायः उनका इन चारों ही में अन्तर्भाव हो जाता है।

इन सम्प्रदायों के विषय में शास्त्रोक्त प्रमाण देने के समय वैष्णव लोग 'पद्मपुराण' के नाम से निम्न लिखित श्लोकों को कहा करते हैं—

'सम्प्रदायविहीनाये मन्त्रास्ते निष्फलामताः ।
अतः कलौभविष्यन्तिचत्वारः सम्प्रदायिनः ॥
श्रीमाध्वरुद्रसनका वैष्णवा क्षितिपावनाः ।
चत्वारस्ते कलौ देवि सम्प्रदाय-प्रवर्तकाः ॥'

अर्थ—जो सम्प्रदाय रहित हैं उनके मन्त्र निष्फल माने गए हैं इसलिए कलियुग में चार (जन) सम्प्रदाय प्रवर्तक होंगे; श्री (लक्ष्मी)

मध्व, रुद्र और सनकादि वैष्णव होकर पृथिवी को पवित्र करेंगे। हे देवि! ये चारों कलियुग में सम्प्रदाय चलावेंगे।"

कृष्णदास ने भक्तमाल की टीका में उक्त वचनों का कुछ अंश तो पद्मपुराण का और कुछ अंश गौतमी तन्त्र का कह कर उद्धृत किया है और "प्रमाण प्रमेयरत्नावली" नामक ग्रन्थ के नाम से नीचे लिखा हुआ श्लोक और लिखा है, जिसमें सम्प्रदाय-प्रवर्तकों के नाम भी मिलते हैं, यथा—

रामानुजं श्री स्वीचक्रे मध्वाचार्य्यञ्चतुर्मुखः।
श्रीविष्णु स्वामिनंरुद्रो निम्बादित्यं चतुःसनः॥

अर्थात् लक्ष्मीजी ने रामानुज को, ब्रह्माजी ने मध्वाचार्य को, रुद्रजी ने विष्णुस्वामी को और सनकादि ने निम्बादित्य को स्वीकार किया।

गोलोकवासी मुंबई निवासी प्रसिद्ध पण्डित गट्टूलालजी ने अपने 'सत्सिद्धान्तमार्तण्ड' में ऊपर लिखे हुए दोनों श्लोकों के पश्चात् पद्मपुराण के नाम से एक और ही पद्य प्रकाश किया है। यथा—

रामानुजानां सरणी रमातो गौरीपतेर्विष्णु मतानुगानां।
निम्बार्कगानां सनकादितश्च माध्वानुगानां परमेष्ठितः सा॥

इसका तात्पर्य ऊपर लिखे हुए श्लोकों के समान ही है। इसके अतिरिक्त सुचतुर पण्डित गट्टूलाल जी ने श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में कलियुग और दक्षिण देश की प्रशंसा में कहे हुए करभाजन मुनि के—

कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः।
क्वचिक्वचिन्महाराज द्रविडेषु च भूरिशः॥
ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी।
कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी॥
ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर।
प्रायोभक्ता भविष्यन्ति वासुदेवेऽमलाशयाः॥

इन वाक्यों का प्रमाण दिया है। उनका अनुमान है कि आचार्य-

चतुष्टय को लक्ष्य करके ही भविष्यवेत्ता मुनि ने यह कहा था कि "सतयुग की प्रजा यह समझ कर कि कलियुग में नारायणपरायण नर उत्पन्न होंगे, उसमें जन्म लेना चाहती है। हे महाराज ! अन्यत्र कहीं कहीं और द्रविड देश में वाहुल्य से भक्त होंगे। जहाँ ताम्रपर्णी आदि पवित्र नदियाँ हैं वहीं उनका जलपान करनेवाले निर्मल अन्तःकरण के भगवद्भक्त होंगे।" इन श्लोकों का लक्ष्य रामानुजादि आचार्य्य हों या न हों, पर इसमें सन्देह नहीं कि इन आचार्यों का जन्मस्थान वहीं भागवतोक्त होने से प्रज्ञाचक्षु पण्डितजी की अटकल रसप्रद है।

पण्डित तारानाथ तर्कवाचस्पतिजी ने अपने "वाचस्पत्याभिधान" में (पद्म पु०) के नाम से सम्प्रदाय प्रवर्तकों के विषय में निम्न लिखित श्लोक और लिखे हैं—

'श्रीमन्नारायणो ब्रह्मा नारदो व्यास एव च।
श्रीलमध्वः पद्मनाभो नृहरिर्माधवस्तथा ॥
अक्षोभ्यो जयतीर्थश्च ज्ञानसिन्धुर्महानिधिः।
विद्यानिधिश्च राजेन्द्रो जयधर्ममुनिस्तथा ॥
पुरुषोत्तमो ब्रह्मण्यो व्यासतीर्थं मुनिस्तथा।
श्रीमल्लक्ष्मीपतिः श्रीमान् माधवेन्द्रपुरी तथा ॥

तन्त्रोक्त वैष्णव सम्प्रदाय दश प्रकार के हैं, यथा—श्रीशिव उवाच।

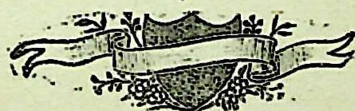
"वैखानसः सामवेदी श्रीराधावल्लभी तथा।
गोकुलेशो महेशानि ! तथा वृन्दावनी भवेत् ॥
पञ्चरात्रः पञ्चमः स्यात् षष्टः श्रीवीरवैष्णवः।
रामानन्दी हविष्याशी निम्बार्कश्च महेश्वरि !
ततो भायगतो देवि ! दश भेदा प्रकीर्तिताः ॥'

इसके आगे तन्त्र में इन वैष्णवों के अलग अलग लक्षण लिखे हैं, तत्व क्या है, भगवान जाने, पर मुझको तो तन्त्रोक्त लक्षण कुछ अच्छे नहीं लगते; तथापि अपने 'वृन्दावनी' वैष्णव भाइयों के अवलो-

कनार्थ उनका लक्षण यहाँ प्रकाश करता हूँ। 'स्थालीपुलाक' न्याय से शेष गोकुलस्थादि वैष्णवों के लक्षणों का भी अनुमान होजायगा।

'वृन्दावनाख्यं देवेशि ! शृणु यत्न नसाम्प्रतम् ।
विगताशः प्रसन्नात्मा विष्णुभक्तिपरायणः ॥
कामिनी सङ्गचपलो वनक्रीडाविनोदधृक् ।
सौगन्धभूषिततनुः स्त्रीध्यानैकपरायणः ॥
विष्णुसारूप्यतत्वज्ञः प्रोक्तो वृन्दावनी शिवे ।

'भार्गवोपपुराण' के नाम से जो श्लोक 'निर्माल्य रत्नाकर' में उद्धृत हुए हैं, उनमें रामानुजादि आचार्यों के अतिरिक्त चैतन्य और हितहरिवंशजी का अवतारत्वेन* वर्णन किया है। मैं उक्त महानुभावों के विषय में यथाक्रम अपना अभिप्राय प्रकाश करूँगा, भरोसा है कि 'सुदर्शन' के पाठकों को अरुचिकर न होगा।



---

* तैलिङ्गे वल्लभः कृष्णः गौडे चैतन्य रूपक ।
हितश्चराधिकारूपं व्रजे कृष्णवपुश्चयम् ॥ इत्यादि

तृतीय खण्ड

पर्व या त्योहार

श्रीपञ्चमी

इस बात को तो अनेक जन जानते होंगे कि हिन्दुओं की प्रत्येक बात में धर्म्मभाव प्रतिष्ठित है, यहाँ तक कि उनका आमोद प्रमोद वा हँसी दिल्लगी भी भगवत् सम्बन्ध से, ख़ाली नहीं है। कोई सप्ताह भर में एक बार निराकार की बाहर देख कर अपने सिर से एक बला टाल देता है और कोई दिन भर में पाँच बार के पञ्चाङ्ग पाठ पर अभिमान करने लगता है कि हमारे बराबर उपासक जन एक भी नहीं। किन्तु यदि निरपक्ष भाव से दुराग्रह छोड़ हिन्दुओं के सनातन धर्म्म की आलोचना की जावे तो यह सहज ही में निश्चय हो जायगा कि इस जाति की तुलना दूसरी जाति धर्म्मभाव में नहीं कर सकती। हमारे दूरदर्शी प्राचीन महर्षि हमारे लिये अमृत ही नहीं छोड़ गये वरञ्च विष में भी "अमृत" मिला कर हमें निर्भय कर गये हैं! यह हमारा दुर्भाग्य है कि, हम शास्त्ररहस्य वा धर्म्मतत्व को न जान कर अमृत को भी विष समझ त्याग रहे हैं।

माघसुदी पञ्चमी का नाम 'वसन्तपञ्चमी' है और इसका दूसरा नाम 'श्रीपञ्चमी' भी है। वसन्तपञ्चमी नाम होने का यह कारण है कि इसी दिन से "वसन्तोत्सव" का प्रारम्भ होता है। यों तो वसन्त ऋतु में चैत्र, वैशाख इन दो महीनों की गणना है, किन्तु हमारे यहाँ के सहृदय पुरुष इसी दिन से वसन्त को अलापने लग जाते हैं। इसी दिन से कुछ और ही प्रकार का पवन चलने लगता है, और ही प्रकार के मन हो जाते हैं। इसी दिन भगवान् मुरलीमनोहर पर गुलाल चढ़ा कर पहले पहल वसन्त गाया जाता है। इसी दिन से डफ बजने लगता है। "ऋतुराज" के स्वागत की धूमधाम इसी दिन से आरम्भ होजाती है। यहाँ यह कहना अनावश्यक है कि इस उत्सव में भगवद् भजन ही की प्रधानता है।

दूसरा नाम इसका "श्रीपञ्चमी" है। इस नामकरण का कारण

हमारे शास्त्र में यह※ लिखा है कि इस पवित्र दिन से पञ्चमी का व्रत प्रारम्भ होता है। नारद मुनि को भगवती लक्ष्मी देवी ने उपदेश किया है कि "जो सौभाग्यवती स्त्री इस दिन से व्रत प्रारम्भ कर छः वर्ष तक प्रतिमास पञ्चमी का व्रत करेगी वह मेरे समान सुखी और पति-वल्लभा होगी।"

इस दिन जगदम्बा वीणापाणी सरस्वती जी का "सारस्वतोत्सव" करना लिखा है। दिन के प्रथम भाग अर्थात् पूर्व्वाह्न काल में पुष्पधूपादि से सरस्वती के षोडषोपचार पूजन और 'दवात कलम' के अर्चन का विधान है। यही वह दिन है जिसकी प्रतीक्षा भारत के कवि जन वर्ष दिन से किया करते हैं। इस दिन जिस शिष्य को उपदेश दिया जाता वह कृतार्थ होता। गुरुकृपा से जिसको इस दिन 'सरस्वती कवच' मिल जाता है वह असाधारण बुद्धि सम्पन्न होता। किन्तु अब वह समय नहीं है। भारतवर्ष के मूर्ख प्रायः नास्तिक पुरुष अब इस दिन का महत्व भूलते जाते हैं।

जब कोई विचारवान् पुरुष कुछ काल के पश्चात् अपनी जन्मभूमि को देख कर प्रसन्न होता है और उसके दर्शन मात्र से एक एक करके वे सब बातें उसे स्मरण आने लगती है, जो वहाँ हो चुकी हैं, वह माता पिता की असाधारण कृपा, वह लड़कपन का अमायिक चरित्र, वह समवयस्क मित्रों की सरल और सरस बातें, वह पाठशाला का लिखना

※ "इमां ब्रह्मपुराणोक्तां या करोति च पञ्चमीं।
लक्ष्मीसमा भवेन्नारी इह लोके परत्र च॥
विधानं शृणु धर्म्मज्ञ ! यादृशी पञ्चमी मम।
वर्षाणि षट् प्रकर्तव्या परमप्रीतिमानसा॥
शुद्धकाले तु संप्राप्ते पञ्चमी या शुभा भवेत्।
तस्यामारभ्य कर्त्तव्यं व्रतं पापप्रणाशनम्॥ (ब्रह्मवैवर्तपुराण)
पञ्चम्यां पूजयेल्लक्ष्मीं पुष्पधूपान्नवारिभिः।
मस्याधारं लेखनीञ्च पूजयेन्न लिखेत्ततः॥
माघे मासि सिते पक्षे पञ्चमी या श्रियः प्रिया।
तस्याः पूर्व्वाह्न एवेह कार्य्यः सारस्वतोत्सवः॥ (भविष्योत्तर)

पढ़ना, सहपाठियों से लड़ना झगड़ना और गुरुजनों को प्रेमपरिपूर्ण ताड़ना, जब याद आती हैं, तब हृदय की जैसी दशा होती है, वह हृदय ही जानता है। यदि दुर्भाग्यवश स्नेही मित्र और बन्धुजनों से वियोग होगया हो, तो वह देश वा स्थान और भो काटने लगता है। उस समय सुख होता है कि दुःख यह तो भुक्तभोगी ही जानें, किन्तु इस बात को हम भी कुछ जानते हैं कि केवल दुःख ही दुःख नहीं होता, कुछ सुख भी होता है, क्योंकि देखा गया है कि अपने मृत पुरुषों के श्मशान वा समाधिस्थान के देखने से अश्रुपात होता है, कुछ दुःख भी होता है, किन्तु सुखशान्ति न होती, तो दर्शन की प्रवृत्ति ही क्यों होती ?

जैसे देश वा स्थान का प्रभाव मनुष्य के चित्त पर अच्छा वा बुरा अवश्य होता है, ठीक उसी प्रकार काल का भी प्रभाव मानव मण्डली में व्यर्थ नहीं होता। चाहे काल का महत्व हमें निज बुद्धि दोष के कारण ज्ञात न हो परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि बड़े बड़े तार्किक और दार्शनिक पण्डित इस विषय का मण्डन कर गये हैं कि साधन सामग्री में काल वा समय भी एक मुख्य वस्तु है। चाहे जैसा खेत अच्छा हो, जल का भी अभाव न हो और किसान भी कृषिकार्य में कुशल हो, तथापि बिना मौसम के खेती कदापि न लगेगी। इस कारण कालपुरुष के साथ काल की तुलना शास्त्रकारों ने की है। यहाँ इस विषय का विचार नहीं करना है कि, काल क्या वस्तु है और कार्य मात्र के प्रति उसकी कारणता क्यों स्वीकार की गई है ? यहाँ केवल इतना ही कहना है कि हमारे शास्त्रकारों ने प्रत्येक कार्य का विधान देश, काल और पात्र के अनुसार किया है सो युक्तियुक्त होने से सर्वथा उपादेय है। दिन में क्यों जागना और रात में क्यों सोना इत्यादि प्रश्न उठा स्वभावसिद्ध और समयानुकूल कार्यों में यदि कोई दुराग्रही कुछ हेरफेर करना चाहे तो कर भी सकता है, परन्तु इसमें कष्ट और हानि के अतिरिक्त लाभ की सम्भावना नहीं है। होली, दिवाली आदि वार्षिकोत्सव वा त्योहार पर जो कुछ क्रिया कलाप हमारे यहाँ होता है एवं शास्त्र ने जिसका विधान भी किया है, उसका ठीक वही काल

है, उस का॰॰ म कालोचित कार्य करने पर मनुष्य उतना ही लाभवान् होता है जितना मौसम पर खेती करने वाला किसान।

श्रीपञ्चमी वा वसन्तपञ्चमी यह भी हमारा एक बड़ा त्योहार है, केवल इसी कारण से नहीं कि इस दिन देवमन्दिरों में वसन्त का खूब ठाठ जमता है, प्रत्युत इस लिए यह दिन अधिक माननीय माना गया है कि इस दिन उस महाशक्ति का महोत्सव होता है, जिसके बिना बड़े बड़े सूर सामन्तों की बड़ी भारी सेना बात की बात में एक ही निर्बल पर बुद्धिमान् पुरुष से परास्त होगई। जिसके बिना राजाधिराज भिक्षुक बन गये और तेजस्वी निस्तेज होगये, उसी ब्रह्मस्वरूपा सनातनी शक्ति महामाया सरस्वती देवी के आराधन का यह पवित्र दिन है।

गौतम, कणाद, कपिल और व्यासादि के आनन्द का यही दिन है। कालिदास, भवभूति आदि महाकवियों का यही उपास्य समय है। विक्रम और भोज के समय में इस दिन की धूमधाम का ठिकाना न था। क्योंकि सरस्वती की सुसन्तान का यह महापर्व है। सच्चे सारस्वतों का यह "सारस्वतोत्सव" सर्व्वस्व है। भारत में अब कितने महापुरुष इस दिन की महिमा समझने वाले हैं ? कितने पुरुष हैं जो यह समझते हों कि तेज प्रताप का कारण शुष्क वीरता नहीं है, सरस्वती प्रदत्त बुद्धिमत्ता है। पुराणों में लक्ष्मी का वाहन उल्लूक और सरवस्ती का हंस लिखा है। क्या इससे हमको यह शिक्षा नहीं मिलती कि लक्ष्मी के कृपापात्र प्रायः घोंघावसन्त होते हैं जिनको दिनमणि के प्रकाश में सूझता तक नहीं और सरस्वती के दयापात्र वे महापुरुष हैं जिनमें 'दूध का दूध और पानी का पानी' करने की असाधारण सामर्थ्य विद्यमान है। जिनको भूत भविष्य और वर्तमान के महत्व समझने की महाशक्ति परमात्मा ने दी है और जो सरस्वती की पूर्ण कृपा से महाशक्तिमान् पद के अधिकारी हैं।

सरस्वती की जिन पर कृपा है, वे ही विधाता के स्नेहभाजन होते हैं, महासरस्वती की अपरमूर्ति महालक्ष्मी का उन्हींके यहां आसन जमता है। ज़रा विचार कर तो देखिये, प्रबल पराकान्त महावीर

महाराष्ट्र पानीपत के पिछले युद्ध में नादिरशाह से क्यों परास्त हुए ? पलाशी के प्रसिद्ध युद्ध में सिराजुद्दौला पर जयश्री क्यों अप्रसन्न हुई और मुष्टिमात्र सेना से लार्डक्लाइव ने क्यों विजय पाई ? क्या कभी विचार कर देखा है। देखने पर विदित होगा जो सरस्वती के कृपापात्र थे वे ही यथार्थ में बलवान् और युद्धविजयी हुए।

पाठक ! श्रीपञ्चमी के दिन भगवती वीणापाणी के सामने बैठ कर उन महापुरुषों का एक बार ध्यान करना जिनका पार्थिक शरीर सहस्रों वर्षों से संसार में नहीं, किन्तु उनका यशरूपी दिव्य विग्रह ज्यों का त्यों बना है और बोध होता है 'आचन्द्रार्क दिवाकर' बना रहेगा।

आज दिन लोगों को उन महाप्रतापी महावोर राजाधिराजों का नाम तक याद नहीं रहा, जिनके नाम बड़े बड़े ऊच जयस्तम्भों पर लोहलेखनी से पाषाण में खोदे गये थे। वे ऊंचे ऊंचे स्तूप वा मीनार अपने यश के साथ भूगर्भ में समा गये जो किसी समय सहङ्कार दण्डायमान थे, किन्तु उन सरस्वती के पात्रों का नाम मिटाने वाला कौन है जो औरों का नाम भी अमर कर गये हैं।

वाचकवृन्द ! जिस प्रकार दशहरे का त्योहार शस्त्रपूजन के निमित्त हमारे पूर्वजों ने स्थापन किया है, जिससे कि भारत के वीर पुरुषों के अतीत गौरव तथा युद्धलीला का स्मरण होता है उस प्रकार 'श्रीपञ्चमी' भी पूर्व्व गौरव का स्मारक हैं। भेद इतना ही है कि इस दिन के शस्त्र लेखनी और मसीपात्र हैं, तथा व्यासादि महर्षियों का विद्यावैभव स्मरणीय है। पिछली विद्या से वर्तमान विद्या के मिलान करने का यही दिन है। इसे दवात कलम की जड़पूजा समझ कर परित्याग न करना, यह अलौकिक प्रतिभा की पूजा है जो गुदगुदे जी वाले पर विलक्षण असर करती है।

पाठक ! श्रीपञ्चमी तो आ गई किन्तु इस दिन भारत में माता सरस्वती की पूजा कौन करेगा यही चिन्ता है ? क्या हम लोग इस

योग्य रह गये हैं जो भगवती के सामने इस दिन पवित्र लेखनी का स्पर्श करें ? जो लोग जान बूझकर दुराग्रह और द्वेष के कारण धर्म-प्रचारक साधु सच्चरित्र महानुभावों पर अपशब्दों की वृष्टि कर निज नीच हृदय का उद्गार निकाल वाणी की अप्रतिष्ठा कर रहे हैं, क्या वे लोग इस दिन लेखनी की पूजा कर सकते हैं ? परदारलम्पट को जितेन्द्रिय, धूर्तप्रवञ्चक को संसारत्यागी, निर्लोभ सन्यासी, धर्म और देश के संहारकर्ता उदरसर्वस्व को देशहितैषी धर्मात्मा, और गण्डमूर्ख को सुपण्डित, सुलेखक, सुवक्ता लिखना जिनके बायें हाथ की करतूत है, जो सामान्य लोभ के कारण पेटभरे अपनी आत्मा के विरुद्ध लिखने में नेंक भी सङ्कोच नहीं करते, उन्हें लेखनी वा सरस्वती पूजने का क्या अधिकार है ? जो रुपये लेकर पतित से पतित पुरुष को भी धर्मात्मा और वर्णसङ्कर वा शूद्र को क्षत्रिय बना सकते हैं, धर्मव्यवस्था के नाम से अधर्म और रक्त से भरी व्यवस्था दे सकते हैं और जो एक दरिद्र निसम्बल पर, धर्मात्मा पुरुष के गिड़गिड़ाने और हाहाखाने पर भी बिना टका लिये चार पांच पङ्क्ति लिखना मूर्खता समझते हैं, उन अर्थपिशाच पापियों का इस सारस्वतोत्सव में लेखनी पूजन का क्या अधिकार है ? वे शारदा के कुपुत्र माता सरस्वती के दरबार में किस मुँह से आ सकते हैं ?—यह आप ही सोच लें ?

इसमें सन्देह नहीं यदि हमारे कार्य्यों की छानबीन की जाय, तो हम इस योग्य कदापि नहीं ठहर सकते कि सरस्वती देवी को 'मा' कह कर पुकारें, तथापि 'मा' अन्त को मा ही है। "कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति"। इसलिए आइये पाठक श्रीपञ्चमी के वार्षिकोत्सव में सब पापों की क्षमा माँग कर जगदम्बा से प्रार्थना करें कि—

"वेदाः शास्त्राणि सर्वाणि नृत्यगीतादिकं च यत्।
न विहीनं त्वया देवि ! तथामे सन्तु सिद्धयः॥
लक्ष्मी मेधा धरा पुष्टि गौरी तुष्टिः प्रभा धृतिः।
एताभिः पाहि तनुभिरष्टाभिर्मां सरस्वति !॥



होली का त्योहार

हिन्दुओं के त्योंहारों में होली का त्योहार भी एक व्यापक त्योहार है। भारतवर्ष के प्रायः सभो स्थानों में इसका आदर है। बहुत जगह तो वसन्त पंचमी ही से आरम्भ हो जाता है। उसी दिन से होली गाई जाने लगती है। बंगालियों में अब इसका चिन्ह ख़ाली सरस्वतीपूजा रह गई है पर युक्तप्रदेश, राजपूताना, गुजरात, महाराष्ट्र और पंजाब अदि प्रदेशों में इस की विशेष धूम होती है।

प्रचीन कथा

होली का त्योहार बहुत पुराना है, पुराणों की बातें जाने दीजिए—मीमांसा दर्शन में "होलाधकिरण" इसी पर्व को लेकर चलता है। महर्षि जैमिनो जी ने यद्यपि अपते सूत्रों में साक्षात्‌रूप से होली का नाम नहीं लिया हैं, पर मीमांसा के अति प्राचीन भाष्यकार शबराचार्य्य और माधवाचार्य्य जैसे धुरन्धर विद्वान् अपनी व्याख्या में महर्षि का तात्पर्य वैसा ही प्रकाश करते हैं! जो हो, कट्टर से कट्टर नए बिचार के पुरुषों को भी इतना स्वीकार तो अवश्य करना पड़ेगा कि उक्त आचार्य्यों के समय में होली के त्योहार ने इतनो प्रतिष्ठा पाली थी जिसके लिए मीमांसादर्शन जैसे उच्च श्रेणी के दर्शन में एक अधिकरण बनाना पड़ा! यहाँ यह बात भी स्पष्ट कर लेनी चाहिए कि आर्यजाति के शोचनीय अधःपतन के साथ उनके त्योंहारों में भी वैसा परिवर्तन होगया है जैसा उनकी जगत् विख्यात विद्या और स्वाधीनता में हुआ है। पुराणों के मत के अनुसार यह ' 'ढुण्ढिका" नाम राक्षसी को, जिसने इस देश के बालकों वृद्धों को अपने आतङ्क से भीत कर दिया था प्रसन्न करने का उपाय है। एक यह भी मत है कि, भक्तोत्तम दैत्यनन्दन प्रह्लाद जी की भक्ति का यह उत्सव स्मारक है। यही मत सब से प्यारा

और उपदेशप्रद भी है। इसलिए हिन्दुओं के छोटे छोटे बच्चे भी इस पर्व के कारण इस बात को जानते हैं कि "प्रह्लाद जी, राक्षसों के राजा हरणाकुस (हिरण्यकशिपु) के बेटे थे जो अपने राज्य में किसी को राम जी का नाम तक नहीं लेने देता था। प्रह्लाद ने पिता की आज्ञा नहीं मानी, राम नाम जपने लगा। राजा इससे बड़ा नाराज़ हुआ और अपने बेटे से शत्रुता करने लगा और चाहा कि उसको किसी तरह मरवा डाले, उसकी बहन होली को एक विद्या आती थी। जिसके प्रताप से वह आग में नहीं जल सकती थी। वह अपने भाई की सलाह से बालक भतीजे को जलाने के विचार से उसे गोद में लेकर आग में बैठ गई, परन्तु ईश्वर की कृपा से प्रह्लाद बच गया और होली जल गई।" सार इससे यही निकलता है कि भगवान् भक्तों के रक्षक होते हैं उनका किसी शत्रु से बाल भी बांका नहीं हो सकता।

हमारी होली

होली के इतिहास की अलोचना करने से विदित होता है कि किसी समय इस त्योहार में प्रह्लाद जी के चरित्र का स्मरण करना मुख्य था और आमोद प्रमोद ठठ्ठा मस्करी करना गौण था। कारण, हमारे त्योहार की मूलभित्ति जगदीश्वर की स्मृति और सदाचार पर ही स्थिर है। पर अब समय के प्रताप से गौण कर्म मुख्य हो गया और मुख्य ने गौण रूप धारण कर लिया! प्राण निकल गए और शरीर रह गया। ईश्वर के भजन को भूल गए और खाली गालियां रह गईं! रोटियों को रुचिकर बनाने के लिए नमक रखा गया था, पर अब समय के फेर से उनमें इतनी अदल बदल हुई कि आटे की जगह नमक ने लेली और आटे का निमक हो गया! मिठाई का नाम न रहा सब का नमक बन गया!

होली में आज कल क्या होता है, इसको सब जानते हैं, कहने की आवश्यकता नहीं। पहले, भाई भावज, इष्टमित्र, सगे सम्बन्धी सब के विशुद्ध प्रेम का इस दिन परिचय मिलता था। जिसका किसी कारण आपस में कुछ बिगाड़ भी हो जाता, वे भी इस आनन्द के दिन

परस्पर मिल जाते। वैर विरोध को बिल्कुल भूल जाते। पर अब पुराना विरोध मिटाना तो दूर रहा, उलटा कितनों के साथ झगड़ा और हो जाता है। ऐसा कोई विरला ही वर्ष होता है, जिसमें दो चार मुकदमें होली के कारण न होते होवें। प्लेग ने लोगों को यहाँ तक बरबाद किया है कि अब पौराणिक ढुण्ढिका राक्षसी का स्थान भी चाहता है इसीको दे दिया जाय।

होली की विचत्रता उस समय वर्णनीय थी जब वर्ष में दो चार दिन के लिए यहाँ देखने में आती। कलकत्ते के मारवाड़ियों में वह बारहों महीने देखने में आती है। ऐसा कौनसा दिन है, जिस दिन छोटे से बड़े तक आम सड़कों पर गंदे शब्दों का व्यवहार न करते हों? बूढ़े बूढ़े ख़र्बासों के साम्हने चौरस्ते पर जाती हुई मारवाड़ी स्त्रियों पर किस दिन आक्षेप नहीं होता? म्युनिसीपालिटी की दया से कूड़े करकट का ढेर किस दिन नहीं लगा रहता है? कितने ही मारवाड़ियों को स्त्रियों की तरह माँग संवारे विचित्र वेष धारे चितपुर रोड पर प्रति दिन देखकर होली के स्वांग देखने का अब चाव मिट गया। प्रति सप्ताह बगीचों में क्या नहीं होता जिसकी कसर मिटाने के लिए होली की ओट ली जाय? क्रोध से हम लोगों का चेहरा सुर्ख़ कब नहीं होता जो उसपर गुलाल लगाया जाय? पर इन सब के होते भी, यदि इस त्योहार के नाते भाई से भाई, सजातीय से सजातीय, प्रेमभाव से मिल कर थोड़ी देर के लिए भी प्रह्लाद की तरह लोग ईश्वरपरायण बन जाएं तो निःसन्देह हम इस गिरी दशा में भी अपनी होली को सार्थक और शुभदायक समझें।



रामलीला

आर्य वंश के धर्म कर्म और भक्ति भाव का वह प्रबल प्रवाह, जिसने एक दिन जगत् के बड़े बड़े सन्मार्ग विरोधी भूधरों का दर्पदलन कर उन्हें रज में परिणत कर दिया था और इस परम पवित्र वंश का वह विश्वव्यापक प्रकाश, जिसने एक समय जगत् में अन्धकार का नाम तक न छोड़ा था,—अब कहाँ है ? इस गूढ़ एवं मर्मस्पर्शी प्रश्न का यही उत्तर मिलता है कि, 'वह सब भगवान् महाकाल के महापेट में समा गया'। निस्सन्देह हम भी उक्त प्रश्न का एक यही उत्तर देते हैं कि, 'वह सब भगवान् महाकाल के महापेट में समा गया।'

जो अपनी व्यापकता के कारण प्रसिद्ध था, अब वह प्रवाह वा प्रकाश भारतवर्ष में नहीं है, केवल उसका नाम ही अवशिष्ट रह गया है। कालचक्र से बल, विद्या, तेज, प्रताप आदि सब का चकनाचूर हो जाने पर भी उनका कुछ कुछ चिह्न वा नाम बना हुआ है, यही डूबते हुए भारतवर्ष का सहारा है और यही अन्धे भारत के हाथ की लकड़ी है।

जहाँ महा महा महीधर लुढ़क जाते थे और अगाध अतलस्पर्श जल था, वहाँ अब पत्थरों में दबी हुई एक छोटीसी किन्तु सुशीतल वारिधारा बह रही है ! जिससे भारत के विदग्ध जनों के दग्ध हृदय का यथा कथञ्चित् सन्ताप दूर हो रहा है। जहाँ के महाप्रकाश से दिग्दिगान्त उद्भासित हो रहे थे, वहां अब एक अन्धकार से घिरा हुआ स्नेह-शून्य प्रदीप टिमटिमा रहा है, जिससे कभी कभी भूभाग प्रकाशित हो रहा है ! पाठक ! ज़रा विचार कर देखिये ऐसी अवस्था में वहाँ कब तक शान्ति और प्रकाश की सामग्री स्थिर रहेगी ? यह किससे छिपा हुआ है कि, भारतवर्ष की सुखशान्ति और भारतवर्ष का प्रकाश अब

केवल 'राम नाम' पर अटक रहा है। 'राम नाम' ही अब केवल हमारे सन्तप्त हृदय को शान्तिप्रद है और 'राम नाम' ही हमारे अन्धे घर का दीपक है।

यह सत्य है कि जो प्रवाह यहाँ तक क्षीण हो गया है कि पर्वतों को उथल देने की जगह आप प्रति दिन पाषाणों से दब रहा है और लोग इस बात से भूलते चले जा रहे हैं कि कभी यहाँ भी एक प्रवल-नद प्रवाहित हो रहा था, तो उसको आशा परित्याग कर देना चाहिये। जो प्रदीप स्नेह से परिपूर्ण नहीं है और प्रतिकूल वायु चल रहा है वह कब तक सुरक्षित रहेगा? (परमात्मा न करे) वायु के एक ही झोंके में उसका निर्वाण हो सकता है।

किन्तु हमारा वक्तव्य यह है कि वह प्रवाह भगवती भागीरथी की तरह बढ़ने लगे, तो क्या सामर्थ है कि कोई उसे रोक सके? क्योंकि वह प्रवाह कृत्रिम प्रवाह नहीं है, भगवती वसुन्धरा के हृदय का प्रवाह है। जिसे हम स्वाभाविक प्रवाह भी कह सकते हैं।

जिस दीपक को हम निर्वाणप्राय देखते हैं, निस्सन्देह उसकी शोचनीय दशा है और उससे अन्धकार निवृत्ति की आशा करना दुराशा मात्र है, परन्तु यदि हमारी उसमें ममता हो और वह फिर हमारे स्नेह से भर दिया जाय तो स्मरण रहे कि वह प्रदीप वही प्रदीप है, जो पहिले समय में हमारे स्नेह, ममता और भक्तिभाव का प्रदीप था। उसमें ब्रह्माण्ड को भस्मीभूत कर देने की शक्ति है। वह वही ज्योति है, जिसका प्रकाश सूर्य्य में विद्यमान है एवं जिसका दूसरा नाम अग्नि देव है और उपनिषद् जिसके लिये पुकार रही हैं कि,—

"तस्यभासा सर्वमिदं विभाति।"

वह प्रदीप भगवान् रामचन्द्र के पवित्र नाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यद्यपि राम नाम की क्षुद्र प्रदीप के साथ तुलना करना अनुचित है, तथापि यह नाम का दोष नहीं है, हमारे क्षुद्र भाग्य की क्षुद्रता का दोष है कि, उनका भक्तिभाव अब हममें ऐसा ही रह गया है।

कभी हम लोग भी सुख से दिन बिता रहे थे, कभी हम भी भूमण्डल पर विद्वान् और वीर शब्द से पुकारे जाते थे, कभी हमारी कीर्ति भी दिगदिगान्त व्यापिनी थी, कभी हमारे जयजयकार से भी आकाश गूँजता था और कभी बड़े बड़े सम्राट् हमारे कृपाकटाक्ष की भी प्रत्याशा करते थे—इस बात का स्मरण करना भी अब हमारे लिये अशुभचिन्तक हो रहा है। पर कोई माने या न माने, यहाँ पर खुले शब्दों में यह कहे बिना हमारी आत्मा नहीं मानती कि अवश्य हम एक दिन इस सुख के अधिकारी थे। हम लोगों में भी एक दिन स्वदेश-भक्त उत्पन्न होते थे, हममें सौभ्रात्र और सौहार्द्र का अभाव न था, गुरुभक्ति और पितृभक्ति हमारा नित्य कर्म था, शिष्टपालन और दुष्टदमन ही हमारा कर्त्तव्य था। अधिक क्या कहें,— कभी हम भी ऐसे थे कि जगत् का लोभ हमें अपने कर्तव्य से नहीं हटा सकता था। पर अब वह बात नहीं है और न उसमें कोई प्रमाण ही है!

हमारे दूरदर्शी महर्षि भारत के मन्द भाग्य को पहिले ही अपनी दिव्य दृष्टि से देख चुके थे कि एक दिन ऐसा आवेगा कि न कोई वेद पढ़ेगा न वेदाङ्ग, न कोई इतिहास का अनुसन्धान करेगा और न कोई पुराण ही सुनेगा! सब अपनी क्षमता को भूल जायँगे। देश आत्मज्ञान-शून्य हो जायगा। इसलिए उन्होंने अपने बुद्धिकौशल से हमरे जीवन के साथ 'राम' नाम का दृढ़ सम्बन्ध किया था। यह उन्हीं महर्षियों की कृपा का फल है कि जो देश अपनी शक्ति को, तेज को, बल को, प्रताप को, बुद्धि को और धर्म को अधिक क्या—जो अपने स्वरूप तक को भूल रहा है, वह इस शोचनीय दशा में भी राम नाम को न भूला है! और जब तक 'राम' स्मरण है, तब तक हम भूलने पर भी कुछ भूले नहीं हैं।

महाराज दशरथ का पुत्रस्नेह, श्रीरामचन्द्र जी की पितृभक्ति लक्ष्मण और शत्रुघ्न की भ्रातृभक्ति, भरत जी का स्वार्थत्याग, वसिष्ठ जी का प्रताप, विश्वामित्र का आदर, ऋष्यश्रृङ्ग का तप, जानकी जी का पातिव्रत, हनुमान जी की सेवा, विभीषण की शरणागति और

रघुनाथ जी का कठोर कर्तव्य किसको स्मरण नहीं है ? जो अपने "रामचन्द्र" को जानता है, वह अयोध्या, मिथला को कब भूला हुआ है। राक्षसों के अत्याचार, ऋषियों के तपोबल और क्षत्रियां के धनुर्वाण के फल को अच्छी तरह जानता है। उसको जब राम नाम का स्मरण होता है और 'रामलीला' देखता है, तभी यह ध्यान उसके जी में आता है कि 'रावण आदि की तरह चलना न चाहिये रामादिक के समान प्रवृत्त होना चाहिये'।

बस, इसी शिक्षा को लक्ष्य कर हमारे समाज में 'राम नाम' का आदर बढ़ा। ऐसा पावन और शिक्षाप्रद चरित्र न किसी दूसरे औतार का और न किसी मनुष्य का ही है ! भगवान् रामचन्द्र देव को हम मर्त्यलोग का राजा नहीं समझते, अखिल ब्रह्माण्ड का नायक समझते हैं। यों तो आदरणीय रघुवंश में सभी पुण्यश्लोक महाराज हुए, पर हमारे महाप्रभु 'राम' के समान सर्वत्र रमणशील अन्य कौन हो सकता है ? मनुष्य कैसा ही पुरुषोत्तम क्यों न हो वह अन्त को मनुष्य ही है। इसलिए आर्यवंश में राम ही का जयजयकार हुआ और होता है और जब तक एक भी हिन्दू पृथ्वीतल पर रहेगा, होता रहेगा।

हमारे आलाप में, व्यवहार में, जीवन में, मरण में, सर्वत्र 'राम नाम' का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को दृढ़ रखने के लिये ही प्रति वर्ष रामलीला होती है। मान लीजिये कि वह सभ्यता-भिमानी नवशिक्षितों के नज़दीक खिलवाड़ है, वाहियात और पोपलीला है, पर क्या भावुकजन भी उसे ऐसा ही समझते हैं ? कदापि नहीं। भगवान् की भक्ति न सही—जिसके हृदय में कुछ भी जातीय गौरव होगा, कुछ भी स्वदेश की ममता होगी, वह क्या इस बात को देख कर प्रफुल्लित न होगा कि परपददलित आर्य समाज में इस गिरी हुई दशा के दिनों में भी कौशल्यानन्दन आन्दनवर्द्धन भगवान् रामचन्द्र जी का विजयोत्सव मनाया जा रहा है।

आठ सौ वर्षों तक हिन्दुओं के सिर पर कृपाण चलती रही परन्तु 'रामचन्द्र जी की जय' तब भी बन्द नहीं हुई। सुनते हैं कि औरङ्गजेब

ने असहिष्णुता के कारण एक बार कहा था कि 'हिन्दुओ! अब तुम्हारे राजा रामचन्द्र नहीं हैं, हम हैं। इसलिए रामचन्द्र की जय बोलना राजद्रोह करना है'। औरङ्गजेब का कहना किसी ने न सुना। उसने रामभक्त हिन्दुओं का रक्तपात किया सही पर 'रामचन्द्र जी की जय' को न बन्द कर सका। कहाँ हैं वह अभिमानी लोग? अब रामचन्द्र जी के विश्वब्रह्माण्ड को देखें और उसकी मृण्मय समाधि (कब्र) को देखें और फिर कहें कि राजा कौन है? भला कहाँ राजाधिराज रामचन्द्र और कहाँ एक अहङ्कारी क्षणजन्मा मनुष्य?

एक वे विद्वान् हैं जो राम और रामायण की प्रशंसा करते हैं, रामचरित्र को अनुकरण योग्य समझते हैं एवं रामचन्द्र जी को भुक्ति मुक्ति दाता मान रहे हैं और एक वे लोग हैं जिनकी युक्तियों का बल केवल एक इसी बात में लग रहा है कि "रामायण में जो चरित्र वर्णित हैं वे सचमुच किसी व्यक्ति के नहीं हैं, किन्तु केवल किसी घटना और अवस्था विशेष का रूपक बांध के लिख दिया है।" निरङ्कुशता और धृष्टता आज कल ऐसी बढ़ी है कि निरर्गलता से ऐसी मिथ्या बातों का प्रचार किया जाता है। इस भ्रान्त मत का प्रचार करने वाले यदि (१) वेबर साहेब यहाँ होते तो हम उन्हें दिखाते कि जिसका वे अपनी विषदग्धा लेखनी से जर्मन में वध कर रहे हैं, वह भारतवर्ष में व्यापक और अमर हो रहा है। यहाँ हम अपनी ओर से कुछ न कह कर हिन्दी के प्रातःस्मरणीय सुलेखक पण्डित प्रतापनारायण मिश्र के लेख को उद्धृत करते हैं—

"आहा यह दोनों अक्षर भी हमारे साथ कैसा सार्वभौमिक सम्बन्ध रखते हैं कि जिसका वर्णन करने की सामर्थ्य ही किसी को नहीं है जो रमण करता हो अथवा जिसमें रमण किया जाय उसे राम कहते हैं यह दोनों अर्थ राम नाम में पाये जाते हैं। हमारे भारतवर्ष में सदा

---

(१) देखो, हिन्दुस्तानी शास्त्रों के इतिहास वर्णन के विषय में वेबर साहेब के व्याख्यान। हमारी इच्छा है कि हम 'सुदर्शन' में उनके भ्रान्त मत का यथावसर खण्डन प्रकाश करें।

सर्वदा रामजी रमण करते हैं और भारत राम में रमण करता है। इस बात का प्रमाण कहीं ढूंढ़ने नहीं जाना आकाश में रामधनुष (इन्द्र धनुष) धरती पर रामगढ़ रामपूर रामनगर रामगंज रामरज रामगंगा रामगिरी (दक्षिण में) खाद्य पदार्थों में रामदाना रामकीला (सीताफल) रामतरोई रामचक्के, चिड़ियों में रामपाखी (बंगाली में मुरगी) छोटे जीवों में रामबरी (मेढ़की)। व्यंजनों में रामरंगी (एक प्रकार के मुंगौड़े) तथा जहांगीर ने मदरा का नाम रामरंगी रक्खा था 'कि रामरंगिए मा नश्शाए दिगर दारद' कपड़ों में रामनामी इत्यादि नाम सुन के कौन न मान लेगा कि जल स्थल भूमि आकाश पेड़ पत्ता कपड़ा लत्ता खान पान सब में राम ही रम रहे हैं।

मनुष्यों में रामलाल रामचरण रामदयाल रामदत्त रामसेवक रामनाथ रामनारायन रामदास रामदीन रामप्रसाद रामगुलाम रामबक्श रामनेवाज स्त्रियों में भी रामदेई रामकिशोरी रामपियारी रामकुमारी इत्यादि कहाँ तक कहिए जिधर देखो उधर राम ही राम दिखाई देते हैं जिधर सुनिए राम ही नाम सुन पड़ता है। व्यवहारों में देखिये लड़का पैदा होने पर राम जन्म के गीत, जनेऊ, व्याह, मुंडन, छेदन में राम ही का चरित्र, आपस के शिष्टाचार में 'राम राम' दुःख में 'हाय राम!' आश्चर्य अथवा दया में अरे राम, महा प्रयोजनीय पदार्थों में भी इसी नाम का मेल, लक्ष्मी (रुपैया पैसा) का नाम रमा, स्त्री का विशेषण रामा, (रामयति) मदिरा का नाम रम, (पीते ही नस नस में रम जाने वाली) यही नहीं मरने पर भी 'राम राम सत्य है' उसके पीछे भी गया जो में रामशिला पर श्राद्ध! इस सर्व व्यापकता का क्या करण है? यही कि हमारे अपने देश को ब्रह्ममय समझते थे कोई बात कोई काम ऐसा न करते थे जिसमें सर्वव्यापी सर्वस्थान में रमण करने वाले को भूल जायें। अथच रामभक्त भी इतने थे कि श्रीमान् कौशल्यानन्दवर्द्धन जानकीजीवन, अखिलार्य-नरेन्द्र-निषेवित-पाद-पद्म, महाराजाधिराज मायामानुष भगवान् रामचन्द्र जी को साक्षात् परब्रह्म मानते थे! इस बात का वर्णन तो फिर कभी करेंगे

कि जो हमारे दशरथ राजकुमार को परब्रह्म नहीं मानते वे निश्चय धोखा खाते हैं अवश्य प्रेम राज्य में पैठने लायक नहीं हैं ! पर यहाँ पर इतना कहे बिना हमारी आत्मा नहीं मानती कि हमारे आर्यवंश को राम इतने प्यारे हैं कि, परम प्रेम का आधार राम ही को कह सकते हैं ! यहां तक कि सहृदय समाज को 'रामपादनखज्योत्स्ना परब्रह्मेति गीयते' कहते हुए भी किञ्चित् सङ्कोच नहीं होता ! इसका कारण यही है कि राम के रूप गुण स्वभाव में कोई बात ऐसी नहीं है कि जिसके द्वारा सहृदयों के हृदय में प्रेम भक्ति सहृदयता अनुराग का महासागर न उमड़ उठता हो ! आज हमारे यहाँ की सुख सामग्री सब नष्ट प्राय हो रही है, सहस्रों वर्षों से हम दिन दिन दीन होते चले आते हैं पर तो भी राम से हमारा सम्बन्ध बना है, उनके पूर्व पुरुषों की राजधानी अयोध्या को देख के हमें रोना आता है। जो एक दिन भारत के नगरों का शिरोमणि था, हाय आज वह फैजाबाद के जिले में एक गाँव मात्र रह गया है। जहाँ एक से एक धीर धार्म्मिक महाराज राज्य करते थे, वहाँ आज वैरागी तथा थोड़े से दीन दशा दलित हिन्दू रह गए हैं !

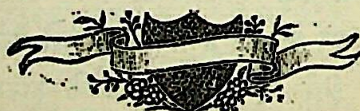
जो लोग प्रतिमापूजन के द्वेषी हैं परमेश्वर न करे यदि कहीं उनकी चले तो फिर अयोध्या में रही क्या जायगा ? थोड़े से मन्दिर ही तो हमारी प्यारी अयोध्या के सूखे हाड़ हैं ! पर हाँ, रामचन्द्र की विश्वव्यापिनी कीर्ति जिस समय हमारे कानों में पड़ती है, उसी समय हमारा मरा हुआ मन जाग उठता है ! हमारे इतिहास को हमारे दुर्दैव ने नाश कर दिया। यदि हम बड़ा भारी परिश्रम करके अपने पूर्वजनों का सुयश एकत्र किया चाहें तो बड़ी मुद्दत में थोड़ी सी कार्यसिद्धि होगी पर भगवान् रामचन्द्र का अविकल चरित्र आज भी हमारे पास है जो औरों के चरित्र (जो बचे बचाए मिलते हैं वा कदाचित् दैवयोग से मिलें) से सर्वोपरिश्रेष्ठ, महारस पूर्ण, परम सुहावन है ! जिसके द्वारा हम जान सकते हैं कि कभी हम भी कुछ थे अथच यदि कुछ हुआ चाहें तो हो सकते हैं ! हममें कुछ भी लक्षण हो तो हमारे राम हमें

अपना लेंगे वानरों तक को तो उन्होंने अपना मित्र बना लिया हम मनुष्यों को क्या भृत्य भी न बनावेंगे ? यदि हम अपने को सुधारा चाहे तो अकेली रामायण से सब प्रकार के सुधार का मार्ग पा सकते हैं (इसका वर्णन फिर कभी) हमारे कविवर वाल्मीकि ने रामचरित्र में कोई उत्तम बात न छोड़ी एवं भाषा भी इतनी सरल रक्खी है कि थोड़ी सी संस्कृत जानने वाले भी समझ सकते हैं, यदि इतना श्रम भी न हो सके तो भगवान् तुलसीदास की मनोहारिनी कविता थोड़ी सी हिन्दी जानने वाले भी समझ सकते हैं, सुधा के समान काव्यानन्द पा सकते हैं और अपना तथा देश का सर्वप्रकार हितसाधन कर सकते हैं। केवल मन लगा के पढ़ना और प्रत्येक चौपाई का आशय समझना तथा उसके अनुकूल चलने का विचार रखना होगा, रामायण में किसी सदुपदेश का अभाव नहीं है। यदि विचारशक्ति से पूछिए कि रामायण की इतनी उत्तमता उपकारकता सरसता का कारण क्या है, तो यही उत्तर पाइएगा कि उसके कवि ही आश्चर्यशक्ति से पूर्ण हैं, फिर उनके काव्य का क्या कहना ? पर यह भी बात अनुभवशाली पुरुषों की बताई हुई है फिर इन सिद्ध एवं विदग्धालाप कवीश्वरों का मन कभी साधारण विषयों पर नहीं दौड़ता। वह संसार भर का चुना हुआ परमोत्तम आशय देखते हैं तभी कविता करने की ओर दत्तचित्त होते हैं। इससे स्वयं सिद्ध है कि रामचरित्र वास्तव में ऐसा ही है कि उस पर बड़े बड़े कवीश्वरों ने श्रद्धा की है ! और अपनी पूरी कविता शक्ति उस पर निछावर करके हमारे लिए ऐसे ऐसे अमूल्य रत्न छोड़ गए हैं कि हम इन गिरे दिनों में भी उनके कारण सच्चा अभिमान कर सकते हैं। इस हीन दशा में भी काव्यानन्द के द्वारा परमानन्द पा सकते हैं ! और यदि चाहें तो संसार परमार्थ दोनों बना सकते हैं ! खेद है यदि हम भारत सन्तान कहा कर इन अपने घर के अमूल्य रत्नों का आदर न करें ! और जिसके द्वारा हमें यह महामणि प्राप्त हुए हैं, उनका उनका उपकार न माने तथा ऐसे राम को जिनके नाम पर हमारे पूर्वजों के प्रेम, प्रतिष्ठा, गौरव एवं मनोविनोद की नीव थी अथच

हमारे लिए गिरी दशा में भो सच्चे अहङ्कार का कारण और आगे के लिए सब प्रकार के सुधार की आशा है, भूल जायँ ! अथवा किसी के बहकाने से राम नाम को प्रतिष्ठा करना छोड़ दें तो कैसो कृतघ्नता, मूर्खता एवं आत्महिंसकता है। पाठक ! यदि सब भाँति की भलाई और बड़ाई चाहो तो सदा सब ठौर सब दशा में राम का ध्यान रक्खो, राम को भजो, राम के चरित्र पढ़ो सुनो, राम की लीला देखो दिखाओ, राम का अनुकरण करो, बस इसीमें तुम्हारे लिए सब कुछ है। इस 'रकार' और 'मकार' का वर्णन तो कोई त्रिकाल में करी नहीं सकता कोटि जन्म गाँवें तो भी पार न पावेंगे—इससे यह अधिक न बढ़ा के फिर कभी इस विषय पर लिखने की प्रतिज्ञा एवं निम्न लिखित आशीर्वाद के साथ लेखनी को थोड़े काल के लिये विश्राम देते हैं, बोलो

'राजा रामचन्द्र जी की जय !'

कल्याणानां निधानं, कलिमलमथनं, पावनं पावनानाम् ।
पाथेयं यन्मुमुक्षोः, सपदि परपदं, प्राप्तये प्रस्थितस्य ।।
विश्रामस्थानमेकं कविवर वचसां, जीवनं सज्जनानां ।
वीजं धर्म्मद्रुमस्य, प्रभवतुभवतां, भूतये राम नाम ।।१।।



व्यास पूर्णिमा

आषाढ़ की पूर्णिमा व्यास पूर्णिमा के नाम से प्रसिद्ध है। यह भी हिन्दुओं के लिए एक विशेष आनन्द का दिन है। इस दिन की महिमा इस दिन के उत्तम कार्यों से प्रकट हो रही है। आषाढ़ की एकादशी के दिन जिस प्रकार भगवान् विष्णुदेव का शयनोत्सव किया जाता है, उसी प्रकार इस पूर्णिमा के दिन देवादिदेव महादेव का शिवशयनोत्सव होता है। (१)

ग्रीष्म की प्रचण्डता वर्षा के शुभागमन से पराभूत हुई। लू चलनी बंद हुई और शीतल समीर के सुखस्पर्श से सन्तप्त शरीर शीतल हुआ। कुछ दिनों पहिले जहाँ उष्णवायु और उष्णदेश के कारण निद्रा का समागम बहुत ही दुर्लभ और कष्टसाध्य था, वहाँ अब बिना किसी लौकिक उपाय के दैव की कृपा से अब आनन्द के साथ सो रहे हैं। जिस राजा को राजमहल में दुग्ध-फेन-निभ कोमल शय्या पर दुर्भिक्ष पीड़ित प्रजा की दुर्दशा के कारण नींद आना कठिन थी, अब वे भी मेघराज की कृपा से सोए हुए हैं। जो दीन प्रजा, राजा के अनेक यत्न करने पर भी क्षुधा तृषा से व्याकुल हो 'त्राहि त्राहि' पुकार रही थी, अब उसका भी रोना बंद हो गया और सब दुःखों को भूलकर निद्रा देवी के अङ्क में आनन्द से सो रही है।

यद्यपि मेघ का गर्जना, बिजली का कड़कना, चातक की पुकार, झिल्ली की झङ्कार और मोर आदि का शब्द आपाततः निद्रा का बाधक प्रतीत होता है, तथापि वास्तव में इन सब का शब्द श्रुतिसुखकर और मनोहर होने से नींद को हटाने वाला नहीं, वरञ्च बढ़ाने वाला है।

---

१ पौर्णमास्यामुमानाथः स्वपते चर्मसंस्तरे।
वैयाघ्रे च जटाभारं समुद्ग्रथ्याहि वर्मणा॥

(वामनपुराण)

सोने के समय जैसे कोई कोई बड़ा आदमी, अपने पास सितार मृदङ्ग आदि के बजाने वालों को बुला मधुर ध्वनि कराया करता है, मानों उसी प्रकार विश्वनियन्ता के शयन का समय जान आपसे आप देवेन्द्र अपनी गन्धर्वमण्डली को मेघमण्डली के रूप में सजा चातुर्मास्य के व्याज से संसार में उपस्थित होता है। ऐसे समय में उपासक शिरोमणि हिन्दुओं का देवशयनोत्सव करना किसी प्रकार भी बुद्धिमत्ता से रहित नहीं है। सर्वथा समयसङ्गत है।

यह बात सब पर प्रकट है कि चौमासे में नदी नालों के बढ़ने से सब स्थान दुर्गम हो जाते हैं, इसलिए इस समय राजा लोग भी पर्यटन को परित्याग कर युद्ध विग्रह की बात मन में रहने पर भी, कार्यतः बिल्कुल भूल जाते हैं। परमहंस परिव्राजक संन्यासी महात्मा भी कहीं आते जाते नहीं, एक ही स्थान में बैठ कर चौमासे को पूरा करते हैं। इन संन्यासी महात्माओं के चौमासे में एक जगह आसन लगाये रखने का कारण यह नहीं है कि ये नदी नालों में डूबने से डरते हों, किम्वा कर्दमसय और जलयुक्त पथ को देख पीछे हटते हों, आज कल के विलासी संन्यासियों को चाहे नश्वर शरीर को ममता है, किन्तु जिनके पवित्र चरित्र और शरीर से संन्यास आश्रम प्रतिष्ठित हुआ और हो रहा है उनका इस अस्थिचर्ममय शरीर में कुछ भी स्नेह नहीं था। उनके चातुर्मास्य व्रत में स्वार्थ का लेश तक न था, बिल्कुल परार्थ वा परमार्थ था।

आज कल के अहङ्कारी वचनसर्वस्व अहंवादियों के समान उनका ब्रह्मज्ञान दिखावे के लिये नहीं था। छोटे छोटे जीव जन्तुओं को 'अणोरणीयान्' का स्वरूप समझ उनकी रक्षा करना आत्मरक्षा समझते थे और इनकी शुश्रूषा को ब्रह्मोपासना मानते थे और इसी विचार से वे चौमासे में एक ही स्थान पर स्थित रहते कि इस समय भ्रमण करने से जीवहिंसा बहुत होगी। उनका चौमासा किसी राजा महाराजा वा श्रीमान् के विषय-दूषित, पापपूरित और कोलाहलपूर्ण प्रासाद (महल) में नहीं होता था, किसी एकान्त तीर्थस्थान में वा

पर्वत की किसी निभृत कन्दरा में, चौमासे के दिनों में वे 'मालपूआ और लड्डू कचौरी नहीं उड़ाते थे, वरञ्च हविष्यान्न को भी चातुर्मास्य व्रत के कारण नित्य की तरह नहीं खाते थे। संयत और जितेन्द्रिय हो कर रहते थे। हाय! आज उन सम्प्रदायप्रवर्तक संन्यासी महत्माओं की आत्मा कहाँ है? वे देखें कि उनके सम्प्रदाय की कैसी शोचनीय दशा हो रही है! वह सम्प्रदाय कब तक प्रतिष्ठित रहेगा जहां "रक्त की पोट विरक्त कहावें।"

चातुर्मास्य व्रत का आरम्भ आषाढ़ सुदि देवशयनी एकादशी से होता है (१)। किसी धर्मशास्त्र के मत से इसी पूर्णिमा से आरम्भ में विकल्पविधि होने पर भी समाप्ति में विकल्प नहीं है। इस व्रत की समाप्ति कार्तिक सुदी द्वादशी ही के दिन होती है (२)। शयनी के शयनोत्सव से इसका आरम्भ और प्रबोधिनी के प्रबोधोत्सब पर इसकी समाप्ति है।

प्रत्येक मनुष्य को उचित है कि, व्रत के आरम्भ में भक्तवत्सल भगवान् का पूजन कर प्रार्थना करे कि 'जगन्नाथ! तुम्हारे सोने पर समस्त संसार सोता है और जागने पर जागता है, हे अच्युत! मुझ पर प्रसन्न हो। आज से जिस व्रत नियम का आरम्भ करता हूँ, देवोत्थापन तक उसे निर्विघ्न पूरा करूँ। आपकी कृपा से यह मनोरथ पूर्ण हो।" (३)। इस व्रत में प्रायः उन वस्तुओं का त्याग करना लिखा है,

१ आषाढ़े तु सिते पक्षे एकादश्यामुपोषितः।
चातुर्मास्यव्रतं कुर्य्यात् यत्किञ्चिन्नियतो नरः॥
(महाभारतं)

२ चतुर्द्धागृह्यवैचीर्णाञ्चातुर्मास्याव्रतन्नरः।
कार्तिके शुक्लपक्षे तु द्वादश्यां तत्समापयेत्॥
(महाभारत)

३ महापूजां ततः कुर्य्यात् देवदेवस्य चक्रिणः।
जातीकुसुममालाभिर्मन्त्रेणानेन पूजयेत्॥
सुप्ते त्वयि जगन्नाथे जगत्सुप्तम्भवेदिदम्।
विबुद्धे च विबुध्येत प्रसन्नो मे भवऽच्युत॥

जो रजोगुण वा तमोगुण को बढ़ाती हैं एवं उनका ग्रहण है, जिनसे सत्वगुण की वृद्धि होती है। अर्थात् धर्मशास्त्र में जो वस्तु ब्रह्मचारी वा यती के लिये मना की गई हैं, वे ही सब चातुर्मास्य व्रत में त्याग देनी चाहिये। चातुर्मास्य के व्रती को एक प्रकार का ब्रह्मचारी ही कहना योग्य है। विशेषता है तो यह कि ब्रह्मचारी उनमें से किसी भी वस्तु का ग्रहण वा त्याग नहीं कर सकता, जिनका उस आश्रम के लिये त्यागने वा ग्रहण करने का विधान है, किन्तु चौमासे के व्रत में यथा साध्य नियम भी हो सकता है। जिन वस्तुओं के त्याग का धर्मशास्त्र में इस अवसर पर विधान है, बुद्धिमान पुरुषों की विवेचना में वे सब वैद्यक शास्त्र द्वारा भी हानिकारक सिद्ध हुई हैं।

इसी पूर्णिमा से "कोकिला व्रत" का भी आरम्भ है। सायङ्काल (१) के समय व्रती सङ्कल्प करे कि 'मैं ब्रह्मचर्य्यपूर्वक एक मास तक श्रावण में एक बार भोजन कर नियम से इस व्रत का पालन और प्राणियों पर दया करूँगी'। 'धर्मसिन्धुकार' के मत में प्रति दिन कोकिल रूपिणी शिवा का पूजन भी व्रती को करना चहिये।

इसी दिन भारतवर्ष के ज्योतिर्विद् सायङ्काल के समय नगर के बाहर जाकर 'पवन परीक्षा' करते हैं कि इस वत्सर में सुभिक्ष होगा कि दुर्भिक्ष ? पवन परीक्षा का देहात में जितना आदर है, उतना नगर में नहीं। गाँव के लोग इसी पर निर्भर रहते हैं।

एवं तां प्रतिमां विष्णोः पूजयित्वा स्वयं नरः।
प्रभापेच्चाग्रतो विष्णोः कृताञ्जलिपुटस्तथा॥
चतुरो वार्षिकान्मासान् देवस्योत्थायनावधि।
इमं करिष्ये नियमं निर्विघ्नं कुरु मेऽच्युत॥
(हेमाद्रि धृतभविष्य)

१ अषाढ़पौर्णमास्यान्तु सन्ध्याकालेह्युपस्थिते
सङ्कल्पयेन्माससमेकं श्रावणे प्रत्यहं ह्यहम्
स्नानं करिष्ये नियता ब्रह्मचर्ये स्थिता सती।
भोक्ष्यामि नक्तं भूशय्यां करिष्ये प्राणिनां दयाम्॥
(भविष्य)

हम पहिले कह चुके हैं कि आषाढ़ की पूर्णिमा का नाम व्यास पूर्णिमा है। भारतवर्ष के प्रत्येक नगर और ग्राम में इसी दिन प्रतिवर्ष व्यासपूजा का महा समारोह होता है। प्रत्येक विद्यार्थी इस दिन अध्यापक के स्थान में जा कर विधिपूर्वक उनका पूजन करता है। विद्यापीठ काशीपुरी में, जितना पूजा का समारोह होता है, उतना अन्यत्र नहीं। इस दिन यहाँ पुष्प इतने मँहगे बिकते हैं कि, जो पुष्पमाला एक पैसे को पहिले सुलभ थी, वह चार पैसों में भी मिलनी दुर्लभ है। इस दिन काशी में जिधर देखिये उधर विद्यार्थी सोपायन गुरुगृह में जाते हुए दिखाई देते हैं और अध्यापक पुष्पमालादि से सुशोभित और चन्दन चर्चिताङ्ग। व्यास पूजा से दस पाँच दिवस प्रथम यदि कोई विद्यार्थी कहीं काशी से अन्यत्र चला जाय तो छात्र समाज में उसकी बहुत ही निन्दा होती है। सच पूछिये तो काशी में इसी दिन यह जाना जाता है कि कौन किसका गुरू है और कौन किसका शिष्य। क्योंकि यहाँ यह देखने में आता है कि जिनके अध्यापकता के कार्य में बाल पक चुके हैं और जो कई शास्त्रों में विशेषज्ञता की पदवी पा चुके हैं, वे वृद्ध पण्डित भी किसी न किसी से प्रतिदिन उस शास्त्र को पढ़ने जाते हैं, जिसको अभी तक वे पूर्णतया अध्ययन नहीं कर चुके हैं और योंही निम्न श्रेणी के विद्यार्थी भी अपेक्षा कृत अल्पज्ञ विद्यार्थियों के गुरू बने हुए हैं। बड़े बड़े पण्डितों के यहाँ विद्यार्थियों की इतनी भीड़ होती है कि, दिन भर मेला लगा रहता है। कैलासवासी पूज्यपाद स्वामी श्री विशुद्धानन्द सरस्वती जी के आश्रम में इस दिन सूर्योदय से अर्द्धरात्रि तक पण्डितों की भीड़भाड़ लगी रहती थी।

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जब इस दिन शिष्य जन गुरुपूजा करते हैं, तब इस पूर्णिमा का नाम व्यासपूर्णिमा क्यों हुआ ? गुरुपूर्णिमा होना चाहिये था। क्योंकि व्यासपूजा के स्थान में गुरुपूजा ही इस दिन हुआ करती है। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि इस दिन सब लोग अपने अपने गुरुओं की पूजा करते हैं, तथापि यह पूजा साधारण गुरुओं की पूजा नहीं है, साक्षात् भगवान् वेदव्यास की पूजा है। इस

दिन अपने गुरु या अध्यापक को अलौकिक गुरु न समझ कर महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास का साक्षात् विग्रह समझना चाहिये। यही समझ कर हमारे पूर्वजों ने इस गुरुपूजा का नाम 'व्यासपूजा' रक्खा है।

यद्यपि हमारे पूर्वजों में ऐसे अनेक महर्षि हुए हैं जिनके अनेक उपकारों का हम पर ऋण है, इस ऋषिऋण को चुकाने के निमित्त शास्त्रों में ब्रह्मचर्यादि उपायों का वर्णन भी हुआ है, तथापि भगवान् वेदव्यास का हम भारतवासियों पर इतना बड़ा ऋण है कि अनन्त जन्म लेकर भी जो उसे चुकाया चाहें, तो नहीं चुका सकते। यह केवल हमारा ही विचार नहीं हैं, समस्त सम्प्रदायों के आचार्य महोदय भगवान् वादरायण के कृतज्ञ हैं और यही कारण है कि हमारे पूर्वजों ने अपने गुरुओं में अन्य किसी महर्षि की भावना न कर केवल पराशरनन्दन भगवान् वेदव्यास की भावना करना उत्तम समझा और यह सद्विचार ही कालक्रम से व्यासपूजा का कारण हुआ।

भारतवर्ष की पुण्यभूमि में मान्धाता, नहुष, ययाति, दलीप, अज, दशरथ प्रभृति असंख्य पुण्यश्लोक राजर्षि हुए एवं कश्यप, अत्रि, भरद्वाज आदि प्रातःस्मरणीय ब्रह्मर्षि भी अनेक ही हुए; किन्तु व्यास जी के समान और किसी ने आदर नहीं पाया। इसका कारण यह है कि इनके सिवाय अन्य कौन है, जिसके सूत्रों को सब मत और सब सम्प्रदायों के आचार्य अपने धर्म्म सम्बन्धी विचारों का एक मात्र आधार समझते हों?

वास्तव में व्यास जी ने जैसा भारतवासियों का अनन्त उपकार किया है, वैसा दूसरे से नहीं बना। व्यास जी न होते तो वेदों का विभाग कर कलियुगी लोगों का कौन उपकार करता? व्यास के बिना ब्रह्मसूत्र संसार में कैसे प्रगट होते और किस प्रकार ब्रह्मविद्या का प्रचार होता? यह व्यास ही का काम था जिन्होंने महाभारत जैसा आश्चर्यजनक ग्रन्थ बना दिखाया, जो समुद्र के समान गम्भीर, अतलस्पर्श और असंख्य रत्नों से भरा हुआ है। यदि भविष्यदर्शी वेदव्यास का

संसार में आविर्भाव न होता तो अष्टादश पुराणों की अद्भुत रचना रचने का किसे सामर्थ्य था ?

विज्ञ पाठक ! जरा आप विचारिये तो सही, यदि वेदव्यास की कृति भारत में प्रगट न होती, तो संस्कृत का साहित्य भाण्डार किस प्रकार परिपूर्ण होता ? वेदव्यास की रचना ही स्कन्ध शाखा स्वरूप से जगत् में विस्तार पा रही है। जिस "भगवद्गीता" के कारण ब्रह्मज्ञान की ब्रह्माण्ड भर में धूम मच रही है, जिसमें व्यास जी की अपूर्व प्रतिभा पद पद में प्रकाश कर रही है, वह महाभारत का एक उज्जल रत्न है। जिस राजर्षि हरिश्चन्द्र के नाटक को देख हम लोग अनेक बार आंसू बहाते हैं, वह मार्कण्डेय पुराण का एक सरस उपाख्यान है। कालिदास के जिस शकुन्तला नाटक को देख यूरोप के विद्वान् मोहित हो रहे हैं, वह महाभारत और पद्मपुराण की कथा से बना है। इस बात को कौन स्वीकार कर सकता है कि रघुवंश, कुमारसम्भव और शिशुपाल-वध आदि महाकाव्यों की रचना वेदव्यास कृत पुराणों के बिना हो सकती थी ? हमारे इस कथन में कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं है कि, जिस प्रकार व्यास जी की रचना पर संस्कृत के साहित्य भण्डार की भित्ति खड़ी है, उसी प्रकार हिन्दुओं के परम पवित्र सनातन धर्म्म की स्थिति भी इनकी रचना पर निर्भर है।

जिन लोगों ने यह सिद्धान्त निकाल लिया है कि, भारतवर्ष में जो दाशरथी भगवान् रामचन्द्र देव की घर घर पूजा हो रही है, उसका कारण महर्षि वाल्मीकि जी की विलक्षण प्रतिभा और अपूर्व कवित्व शक्ति ही है, उनको समझ लेना चाहिये कि भगवान् कृष्णदेव की भक्ति पूजा के कारण उसी प्रकार वेदव्यास जी भी हो सकते हैं। वाल्मीकि जी की कविता मात्र में विचित्रता है, पर यहाँ सभी कुछ विचित्र है। कवि विचित्र, नायक विचित्र, चरित्र विचित्र और वक्ता श्रोता सभी विचित्र हैं। श्रीकृष्ण जैसे विचित्र नायक को लेकर यदि वाल्मीकि वैसी रचना रच सकते, तो निसःन्देह आदिकवि से बढ़ कर व्यास जी समादृत न होते, परन्तु यह व्यास ही का सामर्थ्य है कि, अपने विचित्र

नायक में परस्पर विरुद्ध धर्म्मों का समावेश कर दिखाया एवं वाल्मीकि के धीरोदात्त नायक से बढ़ा दिया और उनको सब तरह निर्दोष रक्खा! "चोरजार शिखामणि:" कह कर "साक्षात् मन्मथ मन्मथ:" योगिराज सिद्ध कर देना उन्हींका कार्य था। आदिकवि ने विशेषत: मानव चरित्र को चित्रित किया, पर व्यास ने दिव्य, अदिव्य, दिव्यादिव्य सब चरित्रों को नि:शेष कर दिखाया। वाल्मीकि केवल कवि हुए परन्तु व्यास जी कवि होने के अतिरिक्त इतिहासलेखक, सूत्रकार, भाष्यकार और स्मृतिकार भी हुए! कहिये इनके समान अन्य कौन हो सकता है और इनके अतिरिक्त अन्य किसके असंख्य उपकारों से हम उपकृत हुए हैं?

दुर्भाग्यवश राजर्षियों के सिंहासन का आज दिन पता नहीं है कि काल के कुचक्र में फँस वे कहाँ चले गये, परन्तु अभी तक व्यास जी की गद्दी भारतवर्ष में लगी हुई है। जिनके रक्षक कृपाणपाणि धनुर्द्धर क्षत्रिय वीर थे, उनका खोज नहीं रहा, परन्तु जिसके रक्षक समित्पाणि विद्याधर ब्राह्मण थे, वह अभी तक बनी हुई है। अभी भी व्यास जी की पूजा घर घर हो रही है। अभी भी व्यास जी के नाते व्यास गद्दी पर बैठे हुए, साधारण कथा वाचने वाले ब्राह्मण को लोग "व्यास जी" कह कर प्रणाम करते हैं। अभी तक प्रत्येक नगर और गाँव में "नमोऽस्तुते व्यास विशाल बुद्धे!" की ध्वनि हो रही है,—इस उन्नीसवीं शताब्दी में यह क्या कम सौभाग्य की बात है?

चाहे जितना कलियुगी जीव व्यास जी की निन्दा करें उनकी रचना पर दोष लगावें और उनके पुराणादि पवित्र ग्रन्थों को भ्रष्ट बतावें, परन्तु जिनको सत् असत् का विवेक है, धर्म्म अधर्म्म का विचार है और जो सनातन धर्म्म में अनुरक्त और पितरों के भक्त हैं, वे लोग जब तक भारत वसुन्धरा में रहेंगे, तब तक व्यासपूजा यहाँ अटल है। जब तक हिन्दू हैं, तब तक व्यास पूजा है। जब व्यासपूजा न रहेगी तब हिन्दू भी रह कर क्या करेंगे? व्यास जी के स्मरण के साथ हिन्दूजीवन का बड़ा मेल है।

सम्प्रदाय के लोग आज व्यासदेव के साथ सम्प्रदायाचार्यों का भी पूजन करते हैं, जिसका प्रकार धर्म्मसिन्धु आदि ग्रन्थों में लिखा हुआ है।

कुछ काल पहले हम काशीवासी भी गुरुपूजन का पुण्य लूटते थे, परन्तु अब यहाँ न जगद्गुरु शङ्कराचार्य रहे न स्वामी विशुद्धानन्द और न स्वामी भास्करानन्द जी, सब का कैलासवास होगया! आज उनके सुनसान आश्रम में वह धूमधाम नहीं है, तथापि व्यासपूजा के उपलक्ष में इन शान्त आश्रमों के दर्शन से भावुक पुरुषों के हृदय पर विलक्षण प्रभाव पड़ता है, भावुकवृन्द! आइये, आज व्यास जी के स्मरण के साथ उन महापुरुषों का भी स्मरण करें, जिनकी विद्या से हम विद्वान् और बुद्धिमान् हुए हैं।



नवीन वर्षोत्सव

साल, सन, वत्सर, संवत् वा संवत्सर, सब वर्ष के नामान्तर हैं—(१) बार्हस्पत्य, (२) नाक्षत्र, (३) चाँद्र (४) सौर और (५) सावन के भेद से वर्ष पांच प्रकार का होता है। बृहस्पति ग्रह जब तक एक राशि में स्थित रहे, उतने समय को बार्हस्पत्य वर्ष कहते है। इस वर्ष का आरम्भ प्रायः माघ मास से होता है और ब्राह्मसिद्धान्त के अनुसार नर्मदा से उत्तर देश में इसका उपयोग कहा गया है। सिंह के बृहस्पति में गोदावरी का कुम्भ और कुम्भ के बृहस्पति में हरिद्वार का कुम्भ पर्व होता है, जिसमें दूर दूर के लाखों यात्री स्नान दान करने तीर्थ पर आया करते है। इस वर्ष में हरिद्वार का कुम्भ है जो बारह वर्ष के पीछे आता है।

सब प्रकार के वर्षों के भेद पर यहाँ विचार कर लेख को बढ़ाना इष्ट नहीं है, केवल प्रस्तुत विषय के उपयोग के लिये इतना ही कहना है कि बारह नाक्षत्र मास का एक नाक्षत्र वर्ष और बारह चान्द्र मास का एक चान्द्र वर्ष होता है। तात्पर्य यह कि उस उस तरह के बारह बारह महीनों का उस उस प्रकार का एक वर्ष समझना चाहिये।

धर्म कर्म और व्रतोत्सवादिक में चान्द्रमास मुख्य है। क्योंकि चान्द्रमास की प्रवृत्ति संवत्सर के आरम्भ ही से कही है। आर्ष्टिषेण आचार्य कहते हैं कि—

स्मरेत्सर्वत्र कर्मादौ चान्द्रं संवत्सरं सदा।
नान्यं यस्माद्वत्सरादौ प्रवृत्तिस्तस्य कीर्तिता ॥

सब देशों में सब समय पर धर्म कर्म करने के समय प्रथम चान्द्र वर्ष का स्मरण करे, अन्य का नहीं। क्योंकि उसकी प्रवृत्ति वर्ष के आरम्भ ही में कही गई है। परन्तु उसमें अमान्त मास मुख्य है और पूर्णिमान्त गौण है। हम लोग पूर्णिमान्त मास को मानते है अर्थात्

हमारा महीना पूर्णिमा को पूरा होता है, अमावस्या को नहीं। तथापि नवीन वर्ष का आरम्भ हम लोगों में भी चैत्र आदि से न होकर, चैत्र सुदि प्रतिपदा ही से होता है।

ब्रह्मपुराण में कहा है, कि—

चैत्रे मासि जगद् ब्रह्मा ससर्ज प्रथमेऽहनि।
शुक्लपक्षे समग्रं तु तदा सूर्योदये सति॥

'चैत्र सुदि के पहिले दिन में सूर्योदय के समय भगवान् ब्रह्मा जी ने समस्त जगत् की रचना की है।' इसलिए उस दिन प्रत्येक घर ध्वजातोरणादिक से अलङ्कृत होना चाहिये, हिन्दू को नवीन वर्षारम्भ के दिन उचित है कि तैलमर्दन[1] और मङ्गलस्नान कर नवीन वस्त्र धारण पूर्वक इष्टदेव का पूजन करे और ब्राह्मण से नवीन वर्ष का फल श्रवण करे।

जिस प्रकार अपने जन्म दिन का उत्सव करना केवल हिन्दुओं ही का नहीं, सभी सभ्य जातियों का नियम है, उसी प्रकार नये वर्ष का उत्सव मनाना भी सब में प्रचलित है, किन्तु खेद की बात है कि प्रतिष्ठित आर्यजाति जगत को सदाचार से शिक्षित बना कर भी अब स्वयं इस विषय में हतोत्साह हो रही है। यद्यपि भगवती जगद्धात्री दुर्गादेवी की वार्षिकीय पूजा इसी दिन से आरम्भ होती है और इस कारण उस दिन हिन्दुओं के घरों में थोड़ा बहुत मङ्गलानुष्ठान भी हो जाता है, पर ऐसे कितने जन हैं जो इस बात को जानते हों कि यह उत्सव ब्रह्माण्ड की रचना का स्मारक है। यह अखिल ब्रह्माण्ड, जिसकी चित्रविचित्र अनूठी रचना द्वारा हमें भगवान् विष्णुदेव के सर्वशक्तिमान् होने तक का परिचय मिलता है, इसी शुभदिन में उत्पन्न हुआ था। प्रजापति की प्रजननशक्ति का अद्भुत प्रभाव इसी दिन संसार में व्याप्त हुआ था। उत्तरकाल में हमारे पूर्वजों ने जिस अत्यु-

(१) वत्सरादौ वसन्तादौ बलिराज्ये तथैव च।
तैलाभ्यङ्गमकुर्वाणो नरकं प्रतिपद्यते॥
(वसिष्ठ)

न्नत दुर्लभ गौरव पद को प्राप्त कर लिया था, उसकी सूचना इसी दिन हो गई थी। वेदविद्या रूपी जिस कल्पलता की कुसुमराशि ने विकसित हो ब्रह्माण्ड को दिगन्तपर्यन्त आमोदित कर दिया, उसके लोकपावन बीज का इसी दिन भारत की पुण्यभूमि में रोपण हो गया था। इस पवित्र दिन में आर्य जाति जितना मङ्गलाचार करे, उतना ही अल्प है इसमें सन्देह नहीं।

नवीन वर्षारम्भ का उत्सव केवल मनोविनोद के लिये नहीं है, इस दिन किसी न किसी पुण्यकर्म के अनुष्ठान का प्रारम्भ करना भी उचित है। हमारे धर्मशास्त्रों में कहा है, कि जलदान के लिये इसी दिन से प्रपा[1] (प्याऊओं) का समारम्भ होना चाहिये। जो लोग प्राणी-मात्र के लिये प्याऊ लगाने में असमर्थ हैं, वे इस दिन से चार मास तक प्रति दिन ब्राह्मण[2] के घर में शीतल जल का घड़ा भर कर पहुँ-चावें उनको भी वैसे ही पुण्य की प्राप्ति लिखी है।

प्याऊ लगाने का यह मन्त्र है, कि—

'प्रपेयं सर्वसामान्या भूतेभ्यः प्रतिपादिता, अस्याः प्रदानात्पितरस्तृप्यन्तुहि पितामहाः.'

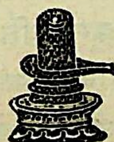
जिसका यह तात्पर्य है कि 'यह प्याऊ मैंने साधारण रीति से सब प्राणियों के लिए लगाई है, इसके दान से हमारे पितर लोग तृप्त होवें।' इस पर विचार करने से यह बात सिद्ध होती है कि हमारे पूर्वजों को सर्वसाधारण जनों की रक्षा का इतना विचार था कि उनके दयार्द्र हृदय में सब के लिए जल तक की चिन्ता उत्पन्न होती थी और वे उस कर्म से पितरों की तृप्ति समझते थे, जिसका अनुष्ठान सब (पबलिक) के लिए उपयोगी होता था और इसके साथ ही यह भी सूचित होता है कि शुभ कर्मों के अनुष्ठान का फल स्वयं ग्रहण करने की अपेक्षा अपने पितरों को देना अच्छा समझते थे।

---

(१) "अतीते फाल्गुने मासि प्राप्ते चैत्रमहोत्सवे।
पुण्येऽह्नि विप्रकथिते प्रपादानं समारभेत् ॥"

(२) "प्रपां दातुमशक्तेन विशेषाद्धर्ममीप्सुना।
ब्राह्मणस्य गृहे देयः शीतामलजलः शुचिः ॥"

प्रिय सनातनधर्मावलम्बिगण ! आओ आज नवीन वर्ष के आरम्भ में नवीन शुभवासना के साथ इस नये वत्सर का उत्सव मनावें। यद्यपि गतवत्सर में सहस्रों रोगाक्रान्त भारतवासी स्वजनों को दुःखसागर में डुबो कर चल दिये, भारत को सहस्रों पुत्रियों के पूजित मस्तक ने सौभाग्य सिन्दूर को दूर कर वैधव्य का धवल वस्त्र सदैव के लिए धारण कर लिया है और पितृ मातृ-हीन सहस्रों अनाथ बालकों के क्रन्दन से भारत भूमि का हृदय विदीर्ण हो रहा है, ऐसे समय में आनन्द की बात निरानन्द को प्रटक करती है तथापि हृदय थाम कर पूर्वजों की आज्ञा के अनुसार भविष्य की शुभ आशा पर आओ नये वर्ष के आगमन की बधाई गावें। सृष्टि के आरम्भ से आर्य जाति के भाग्य ने क्या क्या चक्कर खाए हैं, उन सब का विचार करना भी आज के कर्तव्य में निरूपित है और प्रतापी विक्रमादित्य को अस्त हुए आज १९५९ वर्ष पूरे होते हैं, इसलिए उस समय की दशा से इस समय की दशा का मिलान करना भी समयोचित प्रतीत होता है, किन्तु हमारा दुर्बल हृदय इस कार्य में अग्रसर हो कर लाभवान हो, ऐसी आशा नहीं है। सुतरां, इस कठिन व्यापार से निवृत हो, आओ, इस बात का विचार करें कि इस वर्ष में स्वजाति, स्वदेश और स्वधर्म पर कहाँ तक ग्रहों की प्रसन्नता है। स्मरण रक्खो, ग्रहदेवता केवल तुम्हारे कर्तव्य फल के प्रदाता हैं। इसलिए भविष्य का फल केवल कर्तव्य के अधीन है।



कुम्भ पर्व

हरिद्वार में यों तो अमावास्या संक्रमण आदि की पुण्य तिथियों में स्नानार्थी यात्री आया ही करते हैं, परन्तु प्रतिवर्ष मेष की संक्रान्ति के समय वहाँ बड़ा मेला होता है। उसमें घोड़ों का क्रय विक्रय भी बहुत होता है। लाखों आदमी इकट्ठे होते हैं। गङ्गा सप्तमी के दिन जो भागीरथी की जन्मतिथि है, पंडे लोग खूब धूमधाम करते हैं। वार्षिक पर्वों के अतिरिक्त स्नान करने वालों की महावारुणी आदि पर्वों पर बड़ी भीड़ होती है। एक बार महावारुणी का मेला बलात्पूर्वक उठा देने से लोगों को बहुत कष्ट हुआ था, जिससे देशीय पत्रों ने सरकार की बड़ी निन्दा की थी। उस निन्दा पङ्क के प्रक्षालनार्थ गवर्नमेंट ने पीछे ब्रह्मकुण्ड से कुशावर्त तक पक्का घाट बनाया जिससे तीर्थ की शोभा बढ़ी और यात्रियों का कष्ट निवृत्त हुआ।

हरिद्वार का सब से बड़ा मेला कुम्भ पर्व के समय बारह वर्ष में आता है। यह महोत्सव तब होता है, जब मेष के सूर्य संक्रमण के समय कुम्भ राशिस्थित बृहस्पति का योग हो। इस समय के स्नान, दान, जप आदि का शास्त्र में बहुत फल कहा है। इस अवसर पर हरिद्वार में तीन चार लाख आदमियों से अधिक भीड़ होती है। यह मेला दो महीने पूर्व से होने लगता है और एक महीने तक बहुत अच्छे प्रकार रहता है। इस संवत् के वैशाख मास में भी हरिद्वार का कुम्भ पर्व है। वैशाख कृष्ण द्वितीया से ज्येष्ठ कृष्ण तृतीया तक यह महापर्व रहेगा। यद्यपि बृहस्पति जी कुम्भराशि में ज्येष्ठ सुदी त्रयोदशी तक रहेंगे, पर वहाँ तक मेष के सूर्य का योग न होने से वैशाख मास तक ही यह पर्व रहेगा। क्योंकि दोनों योगों के संयोग ही से यह कुम्भ पर्व होता है।

कुम्भ के समय राजा महाराजा और साधारण गृहस्थ लोगों के

सिवाय नागे संन्यासी, वैष्णव, उदासी, दण्डी, ब्रह्मचारी, परमहंस आदि विरक्त लोग भी बहुत आते हैं, वरन यों कहना चाहिये कि साधु संन्यासियों को तो यह एक प्रकार की प्रदर्शिनी होती है। संन्यासी (गिरि, पुरी आदि) वैरागी और उदासियों के महन्त अपने अपने झंडे और निशानों को ले हाथी, घोड़े एवं पालकियों पर चढ़ बाजे गाजे के साथ स्नान करते हैं। गङ्गा तट पर उनकी फहराती हुई ध्वजाएं बहुत सुन्दर लगती हैं। इनके स्नान के समय पहरे लग जाते हैं, बीच में कोई आने जाने नहीं पाता। दोनों ओर पुलिस का पहरा रहता है।

अँग्रेज़ी राज्य से प्रथम प्रत्येक सम्प्रदाय के साधुओं में प्रथम स्नान करने के लिए परस्पर युद्ध होता था। एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय पर अहङ्कारान्ध होकर आक्रमण करता था। अपने को साधु बताने वाले भागीरथी के पुनीत तट को स्वदेशवासियों के रक्त से कलङ्कित करते थे! महाराज पृथ्वीराज के समय से वैरागी और संन्यासियों में झगड़ा बढ़ा। दोनों ओर के लोग शस्त्र बाँधने लगे। यहाँ तक कि खाखी और नागों की पल्टनें अनङ्गपाल और पृथ्वीराज आदि की लड़ाइयों में सहायता लेने के योग्य समझी गई थीं और इनके युद्ध की प्रशंसा कविवर चन्द की वीरपूजिता लेखनी ने भी लिखी है। परन्तु भारतवर्ष का दुर्भाग्य, ये लोग सर्वस्वापहारी मुसल्मानों से न लड़ कर परस्पर ही लड़ते रहे, नहीं तो वीर संन्यासियों के द्वारा देश सर्वथा सुरक्षित रहता और ये वर्तमान समय में लोगों के चक्षुशूल न होते! जो हो। सन् १७६० ई० में स्नान के पिछले दिन तारीख १० वीं अप्रेल को संन्यासी और बैरागियों में लड़ाई हुई, जिसमें अनुमान १८०० आदमी मारे गए। ईसवी सन् १७९५ में अपनी उन्नति के समय यहाँ सिक्खों ने ५०० संन्यासियों को काट डाला। बादशाह अकबर बड़े प्रतापी और न्यायवान् थे पर कुम्भपर्व के स्नान का ऐसा प्रबन्ध उनसे भी नहीं हुआ! एक बार संन्यासी और बैरागियों में प्रथम स्नान के लिये बिवाद उपस्थित हुआ। बादशाह ने दोनों को बहुत समझाया पर किसी ने अपना आग्रह न छोड़ा। अन्त को दुःखित

हो उन्होंने कहा—अच्छा लड़ो। दोनों दल के कई सहस्र साधु कट मरे। बादशाह पास खड़े देखते रहे! सरकार को धन्यवाद है जो इन युयुत्सुओं के स्नान का ठीक प्रबन्ध कर दिया। अब सब से प्रथम संन्यासी फिर बैरागी और अन्त में उदासी स्नान करते हैं। मन ही मन कोई भले ही कुढ़ता हो, पर प्रकट में किसी तरह का झगड़ा नहीं। यदि हमारी गवर्नमेंट गृहस्थों को अविश्वासपात्र समझ कर वालंटियर नहीं बनाती है तो कुछ खेद, नहीं परन्तु इन विरक्तों पर अविश्वास का कोई कारण नहीं। यदि इनको वालंटियर बनाया जाय तो इनके मन की भी निकल सकती है और ब्रह्मज्ञान की परीक्षा भी हो सकती है। यदि किसी महापुरुष के उद्योग से सब संन्यासी परस्पर प्रेमपरायण हो सकें, तो फिर देश की दुर्दशा न रहे। क्या कोई इस दुःसाध्य कार्य को इस महापर्व पर सिद्ध कर सकता है?



श्रावण के त्योहार

इस बात को कई एक बड़े बड़े अभिमानी विदेशी पण्डितों ने भी स्वीकार कर लिया है कि हिन्दुओं के जातीय उत्सव वा त्योहार खाली हंसी दिल्लगी करने ही के लिये नहीं बनाए गए है वरञ्च उनमें ऐसे नियम भी रखे हैं जिनसे स्वास्थ्य की रक्षा, जातीय भाव की उन्नति और धर्म्म में प्रवृत्ति भी बराबर होती रहे। इसीलिए विदित होता है पहिले त्योहारों की देश काल के अनुकूल ही रचना हुई थी, परन्तु खेद की बात है कि पीछे समय के फेर से वे अपने आपको निर्मल नही रख सके। अविद्या के कारण बहुत से त्योहारों का रूपान्तर हो गया। जो हो, अब भी हम लोगों के ऐसे अनेक जातीय उत्सव हैं, जो इस बात की जगत में साक्षी दे रहें हैं कि उनके प्रवर्तकों के कैसे सुन्दर और पावन विचार थे।

श्रावण का आरम्भ झूलों के उत्सवों को लेकर होता है और उसकी समाप्ति होती है ऋषितर्पणी के साथ। बीच में सब स्त्री पुरुषों के करने योग्य सोमप्रदोष और नागपञ्चमी आदि के व्रत होते हैं। इन सब में जातीय हित और धर्मभाव कितना भरा हुआ है, उसको वही जान सकता है, जिसने कभी इनकी आवश्यकता पर ध्यान दिया हो। वैश्योपकारक में इतना स्थान नहीं है कि हम इस मास के हर एक पर्व आदि की समालोचना कर उसका तत्त्व अपने पाठकों को समझावें, तथापि सावन के झूलों के विषय में दो चार बातें लिखे बिना चित्त भी नहीं मानता।

हम कह चुके हैं कि हमारे त्योहारों में ऐसे नियम रखे गए हैं, जिनसे स्वास्थ्य की रक्षा, जातीय भाव की उन्नति और धर्म में प्रवृति होती है। अब विचारना चाहिए कि सावन के झूलों से स्वास्थ्य रक्षा का क्या सम्बन्ध है? सुश्रुत आदि प्रचीन और भावप्रकाश आदि नवीन वैद्यक के ग्रन्थ देखने से विदित होता है कि—

"ग्रीष्मे सञ्चीयते वायुः प्रावृट्काले प्रकुप्यति ।"

ग्रीष्म ऋतु में वायु का सञ्चय होता है और वर्षा ऋतु में वह प्रकोप करता है। आयुर्वेद का मत है कि वायु के कोप से प्रथम तो अग्निमान्द्य हो जाता है और यदि क्षुधा भी लगी तो भोजन का परिपाक होना कठिन होता है। इसलिए वायु शमन के लिए आयुर्वेद में इस ऋतु में करने योग्य अनेक ऐसे उपाय लिखे हैं, जिनसे मनुष्यों के स्वास्थ्य की कुछ हानि न हो सके। श्रावण में झूला झूलना भी उनमें से एक है।

झूले में झूलना वा झुलाना एक प्रकार का आनन्द-जनक व्यायाम (कसरत) है। इसके करने से वायु बिगड़ने नहीं पाता और भूख लगने लगती है। कारण कि—

"दोषक्षयोऽग्निवृद्धिश्च व्यायामादुपजायते ।"

अर्थात् व्यायाम से वातादि के दोषों का क्षय होता है और अग्नि की वृद्धि होती है। वर्षाकाल में अधिक वा कुढंगे व्यायाम से भी लाभ नहीं होता। बोध होता है इसी दूरदर्शिता से हमारे पूर्वजों ने श्रावण में झूलने की प्रथा प्रचलित की थी।

दूसरी बात जातीय भाव की है! झूला झूलती हुई कुलवधू जब सावन के गीत गाने लगती हैं तब कौन ऐसा पाषाण हृदय है, जिसे अपनी स्नेह पालिता दुहिता का स्मरण न हो? कौन ऐसा भाई है, जिसको इस अवसर पर अपनी बिछड़ी हुई भगिनी की स्मृति न हो? एक ही माता पिता के गर्भ से पुत्र कन्या उत्पन्न होते हैं, एक ही घर में क्रीड़ा करते हैं, एक ही जगह पलते हैं, परन्तु पुत्र सदैव के लिये वहीं रहता है और पुत्री कुछ दिनों के बाद अपने पिता के घर बार से अलग कर दी जाती है! पाठक! कितनी कठिन समस्या है? आप पुरुष हैं, सदा अपने ही कुटुम्ब के साथ अपने घर में रहते हैं, इसलिए ससुराल में जाती हुई बेचारी बालिका के हृदय की पीड़ा का अनुभव नहीं कर सकते और अपने बेटे पोतों की बहुओं की धूमधाम में उन्हें कदाचित् स्मरण भी नहीं कर सकते, परन्तु यह स्मरण रहे, कि लड़की

राजराजेश्वर के घर में जाकर भी दरिद्र पिता की कुटिया को नहीं भूलतीं ! विशेषतः इन पर्वों के अवसर पर वह बड़े चाव से देखती रहती हैं कि माता पिता वा भाई भोजाई उन्हें स्मरण करते हैं कि नहीं ?

इस समय लड़कियों के हृदय में जिस पवित्र भाव का उदय होता है उसका चित्र उनके गीतों में साफ दिखलाई देता है। नीम की निबोली पकती देखकर मारवाड़ियों की लड़कियाँ गाने लगती हैं कि—

"नींबो ! निम्बोली पाकी, सावन कद आवेगो।
आवे, मेरी माको जायो माय मिलावेगो।"

तात्पर्य—यह कि नीम की निबोली सावन में पकती हैं, कहावत है कि "आम नींवू जामण, तीनो पाकें सामण"। निबोली पकी हुई देख कर लड़की प्रसन्न होती है कि अब उसकी "माका जाया" सगा भाई उसे लेने आवेगा और वह स्नेहमयी मा से जाकर मिलेगी ! कैसा सुन्दर भाव है। पाठक ! यदि आपने मारवाड़ियों के गंदे सीठने सुन कर यह निश्चय कर लिया हो कि उनके जातीय सङ्गीत का वही नमूना है, तो बड़ी भारी भूल है। उनके जातीय सङ्गीत का यथार्थ रूप पुराने गीतों में हैं, जिनको स्त्रियां "जकड़ो" कहती हैं, या त्योहारों के गीतों में। आज कल घर घर में श्रावण के गीत गाए जाते हैं, क्या कभी आपने ध्यान से सुना है कि उनमें कैसे कैसे पवित्र भाव हैं ? यदि न सुना हो तो एक बार सुनें और फिर विचार कर देखें, उनमें वे बातें मिलेंगी जिनके सामने बड़े बड़े वक्ताओं की वक्तृता और लेखकों के लेख का रंग फीका पड़ जाय। वियुक्त बहन भाइयों का स्नेह, बूढ़े माता पिता की स्मृति, जीर्ण शीर्ण घर की ममता, पित्रालय का अहङ्कार, जन्मभूमि का प्रेम इत्यादि सब इनके पुराने गीतों में वर्तमान है। जातीय शक्ति (ट्यून) उत्पन्न करने के लिये जो लोग नए "सींग" का बिलायती "पयानों" बजाना चाहते हैं, उन्हें पहले अपने पुरातन वंश की मुरली सुन कर निश्चय कर लेना चाहिए कि स्वर किसका मधुर है। जो हो यदि श्रावण की तीजों और सलूनों का त्योहार

न होता तो बेचारी लड़कियाँ भाइयों को इतनी याद आती कि नहीं इसमें सन्देह ही था।

श्रावण के जितने गीत हैं, सब में बहन भाइयों का असाधारण स्नेह दिखाई देता है। कुछ नमूना यहाँ दिखाया जाता है।—

मोरों को लक्ष्य करके बहनें कहती हैं—

"सावण तो लहरयो भादुवो रे बर्षे चारूं कूंट, म्हारा मुरला सावण लहरयो रे—
सावण बाई चम्पा सासरे सागरमल वीरो लखिहार—म्हारा मुरला"—

"सावण बाई चम्पा सासरे बाई ने लेणने खिनाय, म्हारा मुरला,
सावणियो सुरंग लो रे लाल। जासी जासी बीरो सागरमल पावणो
ल्यासी बाई चम्पाने वैलडली जुपाय, म्हारा मुरला"—

झूलने के समय गाती हैं—

अमले की जग्गा तमलो ऊग्यो सींचू दूध मलाइरे।
सूरजमल वीरे हिंडो घलायो बाई चम्पा झूलण आईरे॥
हलवांमी झोटो देइ मेरा बीर! डरं बिरे की बाइरे।—
बींका हाथ भरा चन वाइरे—बींके चुड़लै की चतराइरे—
बींकी मोत्यां मांग भराइरे—बींके हाथां दूध मलाइरे—

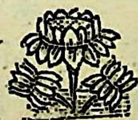
इस समय जिन लड़कियों को अपने बाप के घर आने का अवसर नहीं मिलता वे इस तरह खेद प्रकाश करती हैं—

"आई आई मा! म्हारी सावणियांरी तीज सावण भेजी मन्ने सासरे।
ओर महेली मा खेलबाने ए जाय,—मैंने झोयो ए मा! पीसणो॥"।

खेद है कि स्थान की कमी से हम इन गीतों की आलोचना नहीं कर सकते, विचारशील पाठक इतने ही से भाव को समझ जायंगे। "अनूक्तमप्यूहति पण्डितो जनः"।

हिन्दुओं के उत्सव केवल पार्थिव सुख के लिये ही नहीं है, उन में धर्म्मभाव का भी अटूट सम्बन्ध रखा गया है, यह हमारा तीसरा पक्ष है। इस कारण झूलों का मुख्य लक्ष्य लौकिक नायक नायिका पर नहीं है, भगवती व्रजेश्वरी और भगवान् व्रजनाथ के लीला स्मरण ही पर उसकी स्थिति है। झूलों के उत्सव में यदि हमारी दृष्टि कांच के बड़े बड़े झाड़ों ही में रह गई अथवा दुनियाँ के क्षणभङ्गुर स्त्रीपुरुषों

के रूप ही का पतङ्ग बन गई, तो निश्चय रखिए मनुष्य होकर भी हमने मनुष्यता का काम न किया। कञ्चन के बदले कांच की गठरी बांधली और हार के स्थान में विषधर को ग्रहण कर लिया। जिस पुराण पुरुषोत्तम के पितामह भीष्म जैसे भक्त थे, धर्म्मपुत्र युधिष्ठिर जैसे अनुरागी थे, पण्डिताग्रगण्य उद्धव जैसे सेवक और विदुर जैसे दास थे, उसीकी लीलास्मरण का यह उत्सव है। जिसको अलौकिक सुन्दरता पर मोहित हो, वीतराग भगवान वेदव्यास को भी यह कहना पड़ा था कि "आछिद्य लोकलावण्य-निर्मुक्त्या लोचनं नृणाम्"—उसी को प्रेमप्रतिमा अवलोकन का समय है। आइये पाठक ! आज भूलती हुई प्रकृति पुरुष की उस दिव्य मूर्त्ति का अवलोकन करें। "वैश्योपकारक" के पाठको ! इस क्षणभङ्गुर शरीर के जन्मदाता माता पिता की प्रतिमा देख कर जब आपका मन शान्त होता है, तब क्या जगत् के माता पिता की इस युगल मूर्ति को देखकर शान्त न होगा ? यही वह मूर्ति है, जिसके वर्णन में वेदव्यास जी ने भागवत बना डाली और महात्मा सूरदास जी ने "सूरसागर" रच दिया। मन्दबुद्धियों के लिए यह एक तमाशा है और भगवद्भक्तों के लिये यही जीवन का सर्वस्व है।



विजया दशमी

विजय दशमी वा दशहरे का त्योहार, हिन्दूजाति का सब से प्यारा गौरवमय त्योहार है। इससे धर्मभाव जागृत होता है, सामाजिक बल उन्नति करता है और राजनीति का गूढ़ तत्व सुरक्षित रहता है। यह त्योहार न होता, तो भूले हुए भारतवासियों को राम-राज्य की कौन सुध दिलाता? भारतवर्ष के विलास-वासना-मुग्ध क्षत्रियों की पुरानी कृपाणों का किस प्रकार ज़ंग उतरता? और पराजित सन्तान भगवती अपराजिता का पूजन किस प्रकार कर सकती? यह इसी त्योहार का प्रताप है कि हमारी स्त्रियों को जनकनन्दिनी का ध्यान हो जाता है, छोटे छोटे बालकों के चित्त पर भी रामलीला का चित्र खिंच जाता है और इस दुःख-पूर्ण-देश में भगवान् रामचन्द्र जी का जय जयकार होने लगता है।

इस त्योहार के दिन बहुतसी बातें करने की हैं, उनमें मुख्य ये हैं—१म, अपराजिता का पूजन, २य, शमी (जांटी) का पूजन, ३य, सीमा का उल्लंघन और ४र्थ, खञ्जन (गरुड़) दर्शन ५म, रामलीला का अनुकरण।

अपराजिता के पूजन के विषय में लिखा है कि—

"दशम्यां तु नरः सम्यक् पूजनीया पराजिता

❀ ❀ ❀ ❀

क्षेमार्थं विजयार्थं च पूर्वोक्त-विधिना नरैः।"

दशमी के दिन भगवती अपराजिता देवी का सब लोग कल्याण और विजय के लिए विधिपूर्वक पूजन करें। अपराजिता के पूजन की रीति देश में यह है कि गोमय की दश "थेपड़ी" बनाकर स्त्रियां यवाङ्कुर चढ़ाती हैं और व्यञ्जन भोग लगाती हैं। दश टिकिया दश महाविद्या का रूप हैं, जिनका वर्णन शास्त्रों में विस्तार से वर्णित है। इस

दिन का नाम "दशहरा" भी है जिसका भाव यह हो सकता है कि जिन दश पापों का वर्णन मनु जी ने किया है उनको निवृत्ति इस दिन देवीपूजा के करने से हो जाती है। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि इस दिन लंका पर चढ़ाई करने से दशग्रीव रावण मारा गया था इस लिए यह "दशहरा" अर्थात् रावण के जीवन का हरण करने वाला है। जो हो, दशहरे को "धोक" खाने वा देवी का दर्शन करने के समय नीचे लिखे हुए मन्त्रों का पाठ कर विसर्जन करना उचित है।

"रूपं देहि यशो देहि भगं भगवति देहि मे।
पुत्रान्देहि धनं देहि सर्वकामांश्च देहि मे॥
महिषघ्नि महामाये चामुंडे मुंड-मालिनि।
आयुरारोग्यमैश्वर्यं देहि देवि नमोस्तुते॥"

इस दिन का दूसरा कृत्य है, शमी (जांटी) का पूजन। इसके पूजन के कई कारण हैं। शमी सब यज्ञीयवृक्षों में मुख्य है। यज्ञ ही वैदिक धर्म का सर्वस्व है। अथर्वण वेद के गोपथ ब्राह्मण में इसकी महिमा लिखी है। नीचे लिखे हुए मन्त्र से शमीपूजन करना चाहिए—

अमङ्गलानां शमनीं शमनीं दुष्कृतस्य च।
दुःस्वप्न नाशिनीं धन्यां प्रपद्येऽहं शमीं शुभाम्॥

भविष्य पुराण में निम्न लिखित शमीपूजन के मन्त्र हैं—

शमी शमयते पापं शमी लोहित-कंटका।
धारिण्यर्जुन बाणानां रामस्य प्रियवादिनी।
करिष्य-माण यात्रायां यथा कालं सुखं मया।
तत्र निर्विघ्न कर्तृत्वं भव श्रीराम पूजिते॥

इनका तात्पर्य यह है कि "शमी पापों का शमन करती और लाल कांटे वाली है। अर्जुन के बाणों को धारण करने वाली और रामचन्द्र जी की प्रियवादिनी है। हे रामचन्द्र जी से पूजा कराने वाली! मेरी करिष्यमाण यात्रा में तू विघ्नों का नाश करने वाली हो"

वैष्णवों के ग्रन्थ भार्गवार्चनचन्द्रिका में लिखा है कि पहले शमी के नीचे भगवान् का पूजन करे पीछे शमी पूजन करना चाहिए। यथा

"शमीयुक्तं जगन्नाथं भक्तानामभयङ्करम् ।
अर्चयित्वा शमी वृक्षमर्चयेच्च ततः पुनः ॥"

भविष्य में शमी की जड़ से गीली मिट्टी धूमधाम से घर में लेजानी भी लिखी है। जैसे—

"गृहीत्वा साक्षतामार्द्रां शमी-मूल-गता मृदं ।
गीत-वादित्र-निर्घोषैरानयेत्स्व गृहं प्रति ।"

यह भी लेख मिलता है कि इस दिन रामचन्द्र जी ने हनुमान जी के मुख से यह सुन कर कि "मैंने सीता जी देख लीं" रावण को जीतने के लिए वानरों को साथ लेकर जांटी के नीचे से यात्रा की थी। यथा—

"सीतादृष्टेति हनुमद् वाक्यं श्रुत्वा करोत्प्रभुः ।
विजयं वानरैः सार्द्धं वासरेऽस्मिन् शमीतलात् ॥"

इस दिन रघुनाथ जी ने विजययात्रा की थी, इसलिए अन्य मनुष्य भी उसके स्मरण के लिए अपने नगर वा गाँव की सीमा का उल्लंघन करें। लिखा भी है कि—

"श्रवणर्क्षे तु पूर्णायां काकुत्स्थः प्रस्थितो यतः ।
उल्लङ्घयेयुः सीमानं तद्दिनर्क्षे ततो नराः ॥"

इस दिन रामचरित्र का अनुकरण करना भी एक काम है। कुछ लोगों का विचार है कि रामलीला की प्रथा गुसांई तुलसीदास जी के समय से प्रचलित हुई है, परन्तु यह सब उनकी भूल है। यह उससे बहुत पुरानी प्रथा है। लिखा है कि इस दिन कुछ लोग रीछ बनें, कुछ वानर बनें, और मुंह लाल बनालें। पृथ्वीतल पर रालचन्द्र जी ने दुराचारी वैरी राक्षसों को जीत लिया और रामराज्य हो गया, इस प्रकार सब को कहना चाहिये। यथा—

"कैश्चिदृक्षैस्तत्र भाव्यं कैश्चिद् भाव्यं च वानरैः ।
कैश्चिद् रक्तमुखैर्भाव्यं कौशलेन्द्रस्य तुष्टये ॥
निर्जिता राक्षसा दैत्या वैरिणो जगतीतले ।
रामराज्यं रामराज्यं रामराज्यमिति ब्रुवन् ।"

राजाओं को इसदिन शस्त्रादि का पूजन करना भी लिखा है। यदि हमारे नवीन राजनीतिविशारद पूजन के श्लोकों का तात्पर्य विचार कर देखें तो उन्हें हमारे पूर्वजों की नीतिकुशलता और दूरदर्शिता का परिचय होजाय। लेख के बढ़जाने के भय से हम राजसम्बन्धी कृत्यों का उल्लेख करना नहीं चाहते। अंग्रेजी के पढ़े लिखे नोजवान और उनके शिक्षागुरु यूरोपियन कदाचित् हमारे शमीपूजन को देख कर हँसेंगे कि हम वृक्ष का पूजन करते हैं, परन्तु उन्हें समझना चाहिए इस शमीपूजन के साथ उस ममत्व का पूजन है, जिसका सम्मान करना मनुष्यता की चरम सीमा है। जो कृतज्ञ जाति इतने दिनों के बाद भी इस बात के लिए शमी वृक्ष का पूजन करती है कि उसने वनबासी भगवान् रामचन्द्र जी पर छाया की थी और बिपद्ग्रस्त राजकुमार अर्जुन के शस्त्रों को धारण किया था, उसके साथ यदि कोई मनुष्य भलाई करे तो उसको उससे कितनी भलाई हो सकती है, यह स्वयं सोच ले। इससे बढ़कर हिन्दुजाति की राजभक्ति और स्नेह-परायणता का दूसरा उदाहरण क्या हो सकता है कि वह उपकारी वृक्षों का भी उपकार नहीं भूलती।



खंड ४

साहित्य

हिन्दी भाषा

देव, असुर और आर्य अनार्य शब्दों की जब से संसार में सृष्टि हुई, उसी सृष्टि के आदि काल (वैदिक समय) से दो भाषाएँ चली आई हैं, एक का नाम संस्कृत भाषा और दूसरी का असंस्कृत भाषा। देवकुल से विगड़ कर असुर हुए वा असुरों से सुधर (संस्कृत हो) कर देव हुए। इस प्रश्न की मीमांसा करना जैसे अन्योन्याश्रय दोषग्रस्त और कठिन है, वैसे ही संस्कृत (सुधारी हुई) भाषा प्रथम हुई कि असंस्कृत भाषा—इस प्रश्न का विचार करना भी दुरूह व्यापार है। महर्षि 'यास्क' रचित निरुक्त के भाषाविज्ञान समझने से इस जटिल प्रश्न की मीमांसा एक सुन्दर प्रणाली से हो सकती है, जिसे हम विस्तारपूर्वक आगे चल कर दिखलावेंगे। यहाँ केवल इतना ही निवेदन है कि वैदिक शब्दों को छोड़ कर शास्त्र में 'संस्कृत' शब्द यौगिक था, जिसे कालक्रम से लोगों ने वा समय ने एक भाषा विशेष में 'रूढ़' कर दिया। यदि संस्कृत शब्द देवभाषा में रूढ़ न हुआ होता तो आज हम गंवारी और दिहाती भाषाओं की अपेक्षा 'हरिश्चन्द्री हिन्दी' को संस्कृत के नाम से पुकारते। भारतवर्ष में जब व्यास वाल्मीकि आदि देवमूर्तिवां विराजमान थीं, तब यहाँ की भाषा भी "देववाणी" थी। जब हम हिन्दू हुए तब भाषा ने भी हमारे साथ साथ प्रकृति के नियमानुसार कायापलट कर हिन्दी भाषा नाम धारण किया। सुतरां अब हम हिन्दू हैं और हमारी भाषा हिन्दी भाषा। हिन्दी भाषा क्या है और वह कैसे उत्पन्न हुई, अभी इस विषय पर विचार नहीं उठाते। तर्क के अनुरोध से तब तक समझने के लिए मान लीजिये कि हिन्दी भाषा वही है जिसको पढ़े लिखे लोग हिन्दी के नाम से पुकारते हैं।

बड़े बड़े व्याकरणाचार्य सदैव से इसी बात का प्रयत्न करते आये

कि भाषा का एक ही स्वरूप बना रहे, परन्तु यास्कमुनि कहते हैं कि वे इस विषय में कृतकार्य नहीं हुए। समय समय पर भाषा की नवीनता के साथ व्याकरण भी नये नये बनते गये। समझना चाहिये कि भाषा के कुछ परिमित शब्द वा कोई एक भाषा ही उत्तम नहीं है और यदि कुछ उत्तम भी हो तो उसकी उत्तमता तब तक चिरस्थायिनी नहीं समझी जाती, जब तक उसमें विविध विषय के रसपूर्ण ग्रन्थों की रचना नहीं होती। सब जानते हैं कि व्रजभाषा की मधुरता स्वाभाविक है, परन्तु उसमें 'ताथेई ता' के सिवाय जब कुछ रह ही नहीं गया है तो उसकी मधुरिमा कब तक मनमोहती रहेगी, यह बुद्धिमान विचार कर देखें।

प्राकृतभाषा जिसे हिन्दी की जड़ वा पहला स्वरूप कहना चाहिए, पहले पहल संसार में घृणा की दृष्टि से देखी गई थी। कवियों ने उसे कविता के अयोग्य ठहराया और धुरन्धर पण्डितों ने उसमें ग्रन्थ तक रचना न चाहा था। काल पाकर चाहा भी तो यही कि प्राकृत भाषा को 'नाटक' में नीचपात्रों का अधिकार मिले परन्तु थोड़े ही दिनों बाद उस घृणित भाषा ने, उस नीचपात्रों की भाषा ने अपना वह विराटरूप दिखलाया कि देववाणी संस्कृत भी (जिससे इसका जन्म हुआ था) इसीके पेट में समा गई! यह आश्चर्यजनक घटना तभी हुई जब प्राकृत में नाना प्रकार के ग्रन्थ रचे गये।

विचार कर देखिये तो संसार के नाट्य मन्दिर में इस समय हिन्दू ही नीच पात्र ठहराये गए हैं और प्राकृत के समान हिन्दी ही इनकी नीच भाषा दिखाई देती है। आरम्भ में जो कुछ प्राकृत की दुर्दशा हुई थी वह इस समय हिन्दी की हो रही है। अंग्रेजी के पढ़े लिखे अपनी मातृभाषा हिन्दी को घृणा की दृष्टि से देख रहे हैं। उनके विचार में 'हिन्दी भाषा असम्पूर्ण, दरिद्र और ग्रन्थरचना के अयोग्य है। इसमें मन का सब भाव प्रकाश नहीं कर सकते'। हिन्दी भाषा में वार्तालाप करना ही वे अपमानजनक समझते हैं! अंग्रेजी पढ़ों ही की यह दशा नहीं है, संस्कृत भाषा के विज्ञ पण्डितों की उनसे भी

अधिक हिन्दी भाषा पर घृणा है! अंग्रेज़ी के पढ़े लिखे यदि हिन्दी भाषा पर घृणा करें तो वह दुःखप्रद होने पर भी आश्चर्यजनक नहीं। क्योंकि वे हिन्दी भाषा ही पर नहीं, हिन्दुओं की या स्वदेश की वस्तुमात्र ही पर घृणा करते हैं और विदेश की सभी बातों में अन्ध-भक्ति रखते हैं! आश्चर्य तो यह है कि संस्कृत के विद्वान् पण्डित हिन्दी भाषा पर घृणा प्रकाश कर संस्कृत भाषा को बलहीन कर रहे हैं।

कुछ लोग यद्यपि हिन्दी भाषा के अनुरागी हुए हैं, हिन्दी में अंग्रेज़ी ग्रन्थों की नकल भी करने लगे हैं, उनका उद्देश्य भी अच्छा है, तथापि वे हिन्दी के मूर्ख मित्र हैं। उनसे हिन्दी के उपकार की उतनी सम्भावना नहीं जितनी हिन्दू धर्म वा हिन्दुओं के इतिहास में गड़बड़ करने की। ये जानबूझ कर ऐसा किया चाहते हैं कि अनजाने ? अभी इस विषय के विचार की आवश्यकता नहीं है। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो एकदम हिन्दी भाषा से 'उर्दू' शब्दों को निकाल बाहर फेंकना चाहते हैं। उन बेचारों को यह ज्ञान नहीं है कि उनका यह विचार आशामोदक और असम्भव है। यह आन्दोलन कार्य हिन्दी के वर्तमान क्षीण अङ्ग को क्षीणतर ही नहीं करता है। उर्दू को कालेपानी पहुँचाना हम भी चाहते हैं, पर उनकी तरह उर्दू के शब्दमात्र पर घृणा भी नहीं करते। हमारा और उनका लक्ष्य एक है, पर उद्देश्य भिन्न भिन्न। हमारे विचार में "नागरी" वर्णमाला का विशेषण हो सकता है, भाषा का नहीं। भाषा का 'हिन्दी' विशेषण है और इसे वर्णमाला का भी विशेषण बनायें तो बना सकते हैं। किन्तु हमारे पहली चाल के भाई जो उर्दू को बिल्कुल देश निकाला चाहते हैं वे अज्ञानवश यह नहीं समझते कि "नागरी" नाम भाषा का नहीं है, वर्णमाला मात्र का है यदि उर्दू के शब्द मात्र को बुरा समझते हैं तो 'हिन्दी' का नाम भी बदलना पड़ेगा। जो हो।

मातृभाषा के प्रचार वा जातीय साहित्य के उत्कर्ष और समृद्धि पर धर्म तथा देश की उन्नति निर्भर है। सुतरां, इस समय सब से प्रथम हिन्दी भाषा की उन्नति के लिये चेष्टा और उद्योग करना प्रत्येक देश-

हितैषी और धर्मात्मा पुरुष का कर्तव्य है। भारतधर्म महामण्डल वा "सनातनधर्म सभा" जो इस समय संस्कृत भाषा की उन्नति किया चाहते हैं, उन्हें समझना चाहिए कि "हिन्दी भाषा" की उन्नति के बिना संस्कृत की उन्नति समझना वैसा ही है जैसा कोई तुष (छिलका) रहित तण्डुल (धान) को बोकर उसकी उन्नति चाहे। आजतक जितनी "संस्कृत पाठशालाएँ" बनीं और इनमें जितने छात्र पढ़े, यदि सब को नियमपूर्वक हिन्दी पढ़ाई जाती तो बहुत कुछ उपकार होता और अब उपकार के स्थान में हानि हुई और हो रही है। हिन्दी के बिना पढ़ी पढ़ाई विद्या वैसे ही निष्फल है, जैसे पूर्व मीमाँसा के बिना उत्तर मीमाँसा। विज्ञ पुरुषों को समझना चाहिये कि यदि बादशाही के बाद मुसल्मानी रियासतें वा मुसलमान भाई फारसी अरबी को मुख्य कर, यदि उनकी रक्षा वा उन्नति किया चाहते, तो वह कदापि अपने कार्य में सफल नहीं होते। क्योंकि काल इसके विरुद्ध था। फारसी अरबी के दूरदर्शी प्रेमियों ने ('सर्वनाशेसमुत्पन्ने अर्द्धंत्यजति पण्डितः' के अनुसार) धर्मभाषा अरबी का मोह छोड़ मातृभाषा 'उर्दू' के चरण पकड़े। इस पुण्य के प्रताप से उनकी फारसी अरबी भाषा मरती मरती बच गईं और अब वे उर्दू के कारण चिरकाल के लिए भारतवर्ष के पवित्र वक्षस्थल पर खड़ी हो गईं। हमारे स्वधर्मपरायण सनातन धर्मावलम्बी भी यदि चाहें तो हिन्दी के द्वारा गमनोन्मुखा भगवती देववाणी को भारतवर्ष में रख सकते हैं। पंजाब की जो 'सनातन धर्म सभा' प्रति वर्ष कई सहस्र मुद्रा संस्कृत की उन्नति में खर्च करती है, वह एक वार एक सहस्र मुद्रा ही हिन्दी के प्रचार में ख़र्च कर देखे। इसका फल संस्कृतप्रचार में बहुत ही अशाजनक होगा।

खेद है कि आजकल बहुत से पुरुष हिन्दी भाषा को अधूरी समझ कर उसका अनादर करते हैं! जो लोग ऐसा करते हैं, उन्हें समझना चाहिए कि जिस भाषा में महात्मा सूरदास, तुलसीदास आदि भक्तजनों ने भक्तिभावमय पदों की रचना की है, जिस भाषा में बिहारी लाल, पद्माकर, आनन्दघन प्रभृति कविवृन्द ने सरस प्रसाद गुणवि-

शिष्ट रचना द्वारा मूर्तिमान् शृङ्गार रस को खड़ा कर दिखाया है और जिस भाषा में साधु निश्चलदास ने 'विचारसागर' और 'वृत्तिप्रभाकर' जैसे दार्शनिक विचार से भरे अपूर्व ग्रन्थों को बना कर संस्कृत के विद्याजड़ पण्डितों का शुष्क अभिमान भस्मीभूत कर दिया है, उस भाषा को अधूरी समझ कर यह निश्चय करना कि इसमें अर्थ की व्यञ्जकता, वर्ण की सुन्दरता और विषय की गम्भीरता नहीं है, यह भारी भ्रम है। जिस भाषा में अपने मत के ग्रन्थ रच कर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'आर्य समाज' का झंडा खड़ा कर लिया और जिस भाषा में वक्तृता दे कर पण्डित दीनदयालु शर्मा ने उनके दुर्ग को ध्वंस कर 'सनातनधर्म' का महत्व सब को दिखा दिया, वह भाषा उपेक्षा के योग्य नहीं है। वरन् देश विदेश में सर्वत्र प्रचार करने, विचारने और मान्य करने योग्य है। सुतरां हिन्दी भाषा की अन्यान्य भाषाओं से प्रथम बालकों को शिक्षा देना यह प्रत्येक सम्प्रादय के मनुष्यों का कर्तव्य है।

इसी विषय को फ़ैज़ाबाद के सुयोग्य वकील सुहृद्वर बाबू बलदेव-प्रसाद जी ने अपने एक प्रस्ताव में दिखलाया है, जिसके विषय को समझना हमारे पाठकों को कुछ कम उपकारी न होगा। इसलिए हम उसका निरूपण करते हैं। हिन्दी भाषा की सब से प्रथम अपने बालकों को शिक्षा देना यह केवल हिन्दुओं ही को लाभ पहुँचाने वाली बात नहीं है, जो सच पूछिये तो इससे उन सब जातियों के मनुष्यों का भला है, जो हिन्दुस्तान में निरन्तर रहते हैं, चाहे वे पार्सी हों, चाहे मुसलमान वा ईसाई।

इस देश के बालकों को प्रायः ६ भाषाओं में शिक्षा दी जाती है जो उर्दू, फारसी, अरबी, अंग्रेज़ी, संस्कृत और हिन्दी के नाम से प्रसिद्ध हैं। हिन्दी में, यहाँ बंगला, गुजराती, मरहठी आदि उन सभी भाषाओं की गणना समझना चाहिये, जिनकी लेख परिपाटी में मात्राएँ ग्रहण की गई हैं, अब विचार करना चाहिए कि इन छः भाषाओं में से इस देश के बालकों को सब से पहिले किस भाषा की शिक्षा देना युक्तियुक्त है।

पहिली बात यह है कि बालकों को सब से प्रथम फारसी, अरबी और संस्कृत की शिक्षा देना उचित नहीं। क्योंकि इनमें से एक भी बालकों की मातृ-भाषा नहीं है। उनका बालकों के साथ सम्बन्ध भी कुछ नहीं है। इन भाषाओं में प्रथम प्रथम शिक्षा होने से विघ्न बहुत होते हैं और फल अल्प। जिसका अन्तिम बुरा फल यह होता है कि बालकों का सीधा सादा हृदय व्याकुल हो विद्योपार्जन को भार समझने लगता है, उत्साह भङ्ग हो जाता है। इसका परिणाम भी यह होता है कि या तो वे पढ़ने लिखने से उदासीन हो बिल्कुल मूर्ख रहते हैं और यदि पढ़े भी तो इतना अल्प कि जो न पढ़ने ही के बराबर है।

मनुष्य का स्वभाव ही इस प्रकार का है कि वह पहले पहल सुगम वस्तु को ग्रहण करता है, फिर ज्यों ज्यों उसका अभ्यास बढ़ता जाता है, त्यों त्यों वह कठिन कार्य को भी वैसा ही सुखसाध्य समझने लगता है। यहाँ तक कि अन्त को उस कार्य की सीमा तक पहुँच जाता है। यद्यपि यह विषय स्पष्ट है, इसके सिद्ध करने की विशेष आवश्यकता नहीं, तथापि इस विषय में हम एक दृष्टान्त देते हैं जिससे यह विषय प्रत्येक मनुष्य के हृदय में जँच जाय। देखिये, सब से प्रथम बालक लेटता है, फिर बैठता है, फिर खड़ा होता है, फिर चलने लगता है और अन्त में दौड़ता है। इन सब में लेटने में अल्पश्रम होता है, इसीसे बालक आदि में उसीको ग्रहण करता है। अनन्तर धीरे धीरे क्रम से दौड़ना तक सीख लेता है, जो सब से कठिन और बहुत श्रम-साध्य कार्य है।

यह कुछ मनुष्य मात्र पर निर्भर नहीं है। यदि विचार कर देखा जावे तो क्या पशु, क्या पक्षी और क्या वृक्षादिक सभी जीवमात्र में यही नियम दिखाई देगा। इसलिए विचारशील मनुष्य को सृष्टिक्रम के अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहिए। पहले पहल जो भारी और कठिन कार्य को उठाते हैं, उन लोभी पुरुषों के हाथ पश्चात्ताप के सिवाय और कुछ नहीं लगता। इससे यह सिद्ध हुआ कि बालकों को पहले पहल अरबी आदि कठिन भाषा न पढ़ाई जाय।

शेष रहीं उर्दू, अंग्रेज़ी और हिन्दी। इन तीनों में से भी उसी भाषा की बालकों को प्रथम प्रथम शिक्षा मिलनी चाहिये, जिसकी वर्णमाला के अङ्क पूरे हों और जो सहज में धारण हो सके। आशा है कि हमारे इस विचार से सभी विचारशील सहमत होंगे। अब हम यह परीक्षा करेंगे कि इन तीनों भाषाओं में किसकी वर्णमाला में ये दोनों गुण पाये जाते हैं।

स्मरण रखना चाहिए कि सब भाषाओं में वाक्य होते हैं और एक एक वाक्य कई पदों से मिलकर बनता है और पद अक्षरों से। जैसे 'नल' पद में न और ल यह दो शब्द मिले हैं और इसी प्रकार हर शब्द में ह और र मिले हैं। ऐसे ही विचार करने पर विदित होगा कि प्रत्येक भाषा में कुछ शब्द गिने हुए हैं जो बारबार उलट फेर कर आया करते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक भाषा में शब्दों की संख्या बराबर हो। प्रत्येक भाषा में शब्दों की न्यूनता वा अधिकता हुआ करती है। ये जो नल हर इत्यादि शब्द हैं वह केवल श्रवण से ग्रहण किये जाते हैं, नेत्रों से नहीं। क्योंकि, न इनका कोई रूप है न प्रमाण आदि। अर्थात् न ये श्वेतरङ्ग हैं, न श्याम रङ्ग, न लंबे हैं और न चौड़े। जैसे बुद्धिमान लोगों ने प्रत्येक वस्तु का जो कि प्रत्यक्ष नहीं है, व्यवहार के लिये स्वरूप कल्पित कर लिया है, वैसे ही हर एक चिह्न का नाम अङ्क वा अक्षर शब्द की मूर्ति का नाम है।

इस कथन से यह भी निष्पन्न होता है कि जिस भाषा में जितने ही शब्द होंगे उतने ही अक्षर होने चाहिए और एक एक अक्षर का एक ही शब्द होना चाहिए। जिस भाषा में यह गुण हो उसी भाषा की वर्णमाला पूरी समझना चाहिए, जिसमें यह गुण न हो, वह अधूरी है।

यह गुण पूर्णरूप से हिन्दी भाषा में विद्यमान है। उर्दू में भी कुछ कुछ यह गुण पाया जाता है, परन्तु इस गुण की अंग्रेज़ी में बहुत न्यूनता है। जैसे 'फ' इस शब्द के लिए उचित था कि हिन्दी की तरह उर्दू में भी एक ही अक्षर होता है न कि दो अक्षर 'पे और हे'। इसी

प्रकार ख, घ, छ, इत्यादि को समझ लेना चाहिए। इनको उर्दू में दो प्रकार से पढ़ सकते हैं। जैसे 'फला' इसको फला पेड़ और पहला पेड़ दोनों रीति से पढ़ सकते हैं।

उर्दू में स्वाद, ज्वाद, तो, जो, ऐन, ग़ैन, काफ़ इत्यादि कुछ ऐसे अक्षर हैं कि जिनके यथार्थ उच्चारण की शिक्षा में बालकों को एक कल्प चाहिए और फिर बालकों के अत्यन्त कोमल और उत्तम उत्तम अङ्ग कण्ठ, मूर्द्धा इत्यादि को कैसा कुछ कष्ट होता है, उस वेदना को भुक्त-भोगी ही जान सकता है। इस क्लेश के कारण सुकुमार बालकों के वे अङ्ग निर्बल हो जाते हैं। हिन्दी में इन क्लेशप्रद निकम्मे अक्षरों का त्याग किया है।

अंग्रेजी में C Q X अत्यन्त वृथा हैं। इस हेतु से कि अक्षर C का द्विधा उच्चारण क और स है। इसका काम K और S से निकल सकता है। Q का काम K से और X का काम K, GZ या Z से चल सकता है।

अंग्रेजी में एक एक अक्षर के लिए कई शब्द हैं। जैसे A के कई प्रकार के शब्द हैं, जो नीचे लिखे हुए शब्दों से विदित होगा, fat, fate, far, fall, फ़ैट, फ़ेट, फ़ार, फ़ाल इसी प्रकार और स्वरों की भी ऐसी ही रीति है, यह तो स्वरों की व्यवस्था हुई। अब व्यञ्जन की व्यवस्था देखनी चाहिए—इसमें भी G के दो शब्द ज और ग और S के दो शब्द स और ज होते हैं। थ और द और श और च और फ इत्यादि शब्दों के चिह्न एक एक अक्षर से होना चाहिये था, परन्तु दो दो अक्षर से होते हैं अर्थात् थ और द दोनों के लिए दो अक्षर th और श के लिए sh और च के लिये ch और फ के उच्चारण के लिए F और ph दोनों आते हैं।

अतएव ऊपर लिखे हुए व्याख्यान से अंग्रेजी प्रारम्भ करने वाले विद्यार्थियों को बहुत ही कठिनता पड़ती है। यदि उस विद्यार्थी से कैन can लिखने को कहा जाय तो उसको उस स्थान पर सङ्कोच होगा कि इसको कैसे लिखूँ अर्थात् kan या can या qan।

नागरी में ५२ अक्षर और १२ मात्राएँ हैं। इसलिए ५२ को १२ से

गुणा करने पर ६२४ भिन्न भिन्न शब्दों के चिह्न प्राप्त होते हैं। उर्दू में ३४ अक्षर हैं (इस संख्या में वे भी अक्षर आगये हैं जिनका उच्चारण एकसा प्रतीत होता है जैसे अलिफ, ऐन, और ते, तो इत्यादि) और ३ मात्रा हैं-इस प्रकार ३४ को ३ से गुणा करने पर १०२ शब्दों के भेद होते हैं। अंग्रेजी में केवल २६ अक्षर हैं, मात्रा का काम केवल स्वर ही से लेते हैं और स्वर न्यून और मात्रा अधिक होने से एक एक स्वर से कई कई मात्राओं का काम लिया जाता है। यह भी विचार करना चाहिए कि जो सरलता ६२४ भेदों से हो सकती है, वह १०२ वा २६ भेदों से नहीं हो सकती।

हिन्दी में मात्रा अवश्य बनाई जाती हैं और अंग्रेज़ी में इस बात का निश्चय नहीं होता कि किस पद में किस स्वर से कौन मात्रा ग्रहण की जाती है और उर्दू में तो मात्रा बनाने की चाल ही नहीं है। इसलिए हिन्दी के पढ़ने लिखने में जो सरलता होती है वह उर्दू और अंग्रेज़ी के पढ़ने लिखने में कभी नहीं होती, जैसे उर्दू में ली को तीन प्रकार से पढ़ सकते हैं, अर्थात् ली-ले-लै।

फिर देखिए हर एक शब्द के लिए ऐसे चिह्न होने चाहिये जो एक दूसरे से मिलते न हों। नहीं तो उनके पहिचानने में बालकों को धोखा हो जायगा-हिन्दी में एक एक शब्द के लिए एक एक चिह्न पृथक पृथक नियत हैं, परन्तु भ, म, घ, व, ब अक्षरों के स्वरूप किञ्चित् एक दूसरे से मिलते हैं तथापि परस्पर परीक्षा के लिये स्वरूपों में कुछ कुछ भिन्नता कर दी गई है और ऐसे अक्षर हिन्दी में इतने ही हैं, अधिक नहीं। अंग्रेजी में भी हिन्दी के सदृश ऐसे अक्षर बहुत कम हैं जिनका स्वरूप एक दूसरे से मिलता है, जैसे C,G और b,q इत्यादि—अलबत्ता उर्दू भाषा में एक रूप के अक्षर बहुत हैं। शून्य (नोखता) के हेरफेर से एक अक्षर से दूसरा हो जाता है, जैसे वे, पे, ते, टे, से और जीम, चे, हे, खे इत्यादि। इस पर भी विशेषता यह होती है कि लिखने में शून्यों का विचार ही नहीं होता है। कभी शून्य बनाते हैं कभी नहीं बनाते हैं। इस कारण यदि शून्य और मात्राओं का लिखने में

विचार न किया जाय तो उर्दू में बालकों का ठीक ठीक पढ़ना कठिन होता है, जैसे बस, यह पद जिसमें शून्य और मात्रा न हो तो २१ प्रकार से पढ़ सकते हैं।

ऐसे ही उर्दू में एक बड़ा क्लेश यह भी है कि थोड़े अक्षरों का वास्तविक उच्चारण यद्यपि भिन्न भिन्न है, तथापि उनमें ऐसा सूक्ष्म भेद है और उनका उच्चारण ऐसा कठिन है कि बालकों का तो क्या कथन, अच्छे अच्छे भ्रम में पड़ जाते हैं। जैसे स्वाद, ज़्वाद, ज़े, ज़ाल। यदि किसी ऐसे मनुष्य से कहा जाय जिसका इस भाषा में पूरा अभ्यास न हो कि एक पद ऐसा लिखो जिसमें शब्द ज़ का सुनाई दे उसको अवश्य लिखने से पहिले सङ्कोच होगा कि यहाँ पर ज़ाल, होगा या ज़े, या ज़्वाद, या ज़ो ऐसे ही और भो समझ लीजिये।

एक अक्षर के लिए एक ही स्वरूप होना चाहिये न कि भिन्न भिन्न। हिन्दी और उर्दू में ऐसा ही है, परन्तु अंग्रेजी में छापे के अक्षरों का स्वरूप और होता है तथा लिखने के अक्षरों का स्वरूप और। कैपिटल् (capital) अर्थात् बड़े अक्षर, स्माल (small.) अर्थात् छोटे अक्षर के छापने और लिखने में भिन्न भिन्न स्वरूप होते हैं; जैसे A.a., *A.a*, इत्यादि।

जब यह सिद्ध हो चुका कि अक्षर शब्द ही हैं तो इससे यह भी अवश्य है कि जो शब्द मिल के सुनाई दें वे मिलाकर लिखे भी जायं। यह क्रम हिन्दी भाषा में पाया जाता है, परन्तु उर्दू और अंग्रेज़ी में यह नियम लेश मात्र भी नहीं। उर्दू भाषा में यह क्रम छोड़कर वे ही अक्षर कहीं मिलाकर लिखे जाते हैं, कहीं पृथक पृथक। उस पर भी यह विशेषता देखिये कि जब वे अक्षर मिला कर लिखे जाते हैं, तो उनके स्वरूप भिन्न भिन्न हो जाते हैं। वही अक्षर किसी अक्षर के साथ मिलने से एक स्वरूप और किसी अक्षर के साथ मिलने से दूसरा स्वरूप धारण करता है। जैसे 'बा, बज, बस, बर' इत्यादि में 'बे' के स्वरूप भिन्न भिन्न हैं। बालकों को इसमें बड़ा सङ्कोच होता है कि कौन कौन अक्षर कहाँ कहाँ मिला कर लिखे जाते हैं और कौन कौन स्वरूप धारण करते हैं! अंग्रेज़ी भाषा में सब अक्षर पृथक् पृथक् लिखे

जाते हैं। यद्यपि कोई क्लेश इसमें ऐसा नहीं है, तथापि उक्त नियम से विपरीत हैं अर्थात् जब शब्द मिल कर सुन पड़ते हैं, तब योग्य है कि मिला कर लिखे भी जायँ जैसे प्यास पद में प और य मिल कर सुनाई देते हैं तो हिन्दी में वह अक्षर मिला कर लिखे भी जाते हैं, जैसे (प्यास) परन्तु अंग्रेज़ी में पृथक लिखे जाते हैं, जैसे PYAS.

यह भी अवश्य है कि जितने अक्षर किसी पद में हों, उनके उच्चारण में कोई अक्षर च्युत न हो, किन्तु प्रत्येक अक्षर का उच्चारण हो, यह नियम हिन्दी भाषा में विद्यमान है अर्थात कोई अक्षर किसी पद के उच्चारण में च्युत नहीं होता। यह दोष उर्दू में है पर बहुत ही कम, जैसे "बिलूतहक़ीक़" का 'लाम' (ल) बोला नहीं जाता है। अंग्रेज़ी में यह दोष बहुत है, जैसे—Gnat, Knife, Wrong इत्यादि पदों में अक्षर G, K और W उच्चारणच्युत होजाते हैं।

यदि अक्षरों के नाम वहीं स्थित हों जो उनके शब्द हैं अर्थात् शब्द और अक्षर में एकता हो तो बालकों को लिखने पढ़ने में बहुत सरलता होती है। यदि अक्षर का शब्द और है, नाम और है, तो बालकों को बड़ा सङ्कोच होता है। हिन्दी भाषा में यह गुण सम्पूर्ण भाव से विद्यमान् है। अंग्रेज़ी में कुछ कुछ है, उर्दू में नाम को भी नहीं; जैसे कि यदि नल पद का अक्षर-विवरण करें तो उर्दू में यों कहेंगे 'नून् लाम ज़बर नल' इससे बालकों को यह सङ्कोच होता है कि नून् और लाम् मिल कर 'नल' कैसे हो जाता है, किन्तु हिन्दी में न और ल मिलाने से शीघ्र ही बिना भ्रम नल पद समझ में आजाता है।

बच्चों के मुख से प्रथम प्रथम उन्हीं शब्दों का उच्चारण हो सकता है, जो सहज हैं और वे शब्द केवल वही हैं, जो बिना सहायता किसी अङ्ग के केवल खुले हुए मुख से निकलें, इनका नाम स्वर है, वे अक्षर अ, इ, उ इत्यादि हैं। इन अक्षरों का उच्चारण चाहे जैसा बढ़ावे, परञ्च मुख और शब्द का स्वरूप वही बना रहेगा। जैसा आदि उच्चारण में व्यञ्जनअक्षर स्वरअक्षर से विपरीत हैं और उच्चारण में क्लेश देते हैं, अतएव इसी विचार से यह बात अवश्य है, कि वर्णमाला

में प्रथम स्वर अनन्तर व्यञ्जन यह क्रम किया जाय। हिन्दी में इसी क्रम से वर्णमाला विद्यमान् है, परन्तु उर्दू और अंग्रेजी इन दोनों भाषाओं में यह क्रम नहीं है और फिर हिन्दी में वर्ण प्रायः उच्चारण स्थान की अपेक्षा से वन्धन किये गए हैं अर्थात् जिन अक्षरों का एक ही उच्चारणस्थान है उनको एक ही जगह, एक ही श्रेणी में क्रम से बन्धन किया है। इससे यह सरलता होती है कि बालक को यदि एक अक्षर का स्थान बतला दिया जाय तो वह अवशिष्ट अक्षरों का भी जो एकस्थानी हैं बतला सकता है। इस क्रम का ज्ञान होने से आगे संस्कृत विद्या सीखने में सरलता हो जाती है और सन्धिक्रम इत्यादि शीघ्र जान सकता है। उर्दू और अंग्रेज़ी में वर्णमाला का क्रम ऐसा नहीं है। अब बालकों के मातापिताओं तथा और रक्षकों से मेरी यह प्रार्थना है कि पूर्व्व लिखित हेतुओं से वे लोग अपने बालकों को आदि में हिन्दी ही प्रारम्भ करायें उसके पीछे जो उनकी इच्छा हो वह विद्या पढ़ायें। इसके पढ़ने से उनको सरलता होगी उनका उत्तम समय व्यर्थ नहीं जायगा और विद्या पढ़ने में उनका उत्साह बढ़ेगा और वह स्वयं अन्य विद्या पढ़ने की अभिलाषा करेंगे। विद्या पढ़ने का बड़ा कारण उत्साह है। यदि उनको स्वयं उत्साह होगा, तो ताड़ना और शिक्षा की कुछ आवश्यकता न होगी, जैसे कि अब तक होती है। हिन्दुस्तानी बालकों को हमारी अल्पमति के अनुसार हिन्दी से अन्य भाषा का प्रारम्भ कराना मानों विद्या रूप अमूल्य धन के सञ्चय से निराश करना है। अतएव जब आदि में अन्य भाषा प्रारम्भ कराई गई, तब अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित होंगे, जिनसे उनका उत्साह भ्रष्ट हो जायगा, उनके हृदय में विद्या पढ़ने की अत्यन्त अरुचि हो जायगी। अन्त में वह घबड़ा कर उससे पृथक् हो जायँगे, जिससे उनकी लौकिक और पारलौकिक दोनों गतियों की हानि है।

यहाँ तक जो कुछ हमने लिखा वह सम्पूर्ण एतद्देश निवासियों के प्रति था। अब हम केवल अपनी जातिमात्र वेदशास्त्र आज्ञानुसारियों के प्रति निवेदन करते हैं। उनको तो हमारी यह प्रार्थना अवश्य ही इस

कारण ग्रहण करनी चाहिये कि उनके धर्म्म और नीति की ऐसी बहुत सी पुस्तकें जिनका जानना उनको अवश्य है, वे इसी हिन्दी अक्षरों में हैं।

अन्त में हम अत्यन्त सशोक होकर कहते हैं कि यद्यपि हमारी विद्यामित्र गवर्नमेंट की विद्याप्रचार पर दृष्टि है और सर्कारी पाठशालाओं में शिक्षा के सरल नियम भी हैं, तथापि शिक्षा का आरम्भ वहाँ भी हिन्दी भाषा से आवश्यक नहीं समझा जाता है। इससे बड़ी हानि होती है, अपनी गवर्नमेंट तथा उसके योग्य अधिकारियों, विशेषतः पाठशाला सम्बन्धी अधिकारियों की सेवा में, नम्रतापूर्वक हमारी यह प्रार्थना है कि, वह कृपा करके इस विषय में लोगों की सहायता करें"।



अदालत में नागरी

एक दिन उज्जैन के पास शिप्रा के किनारे एक पालकी चली जा रही थी। उसके सुनहरे और सुहावने साज सामान को देख कर ही साधारण पुरुष भी उसे एक महाराज की शिविका अनुमान कर लेता। तिस पर उसके पीछे चँवर, छत्र आदि वस्तुओं को लिये अनेक राजपुरुष दौड़े जा रहे थे। यदि उन्नीसवीं शताब्दी का कोई हिन्दू उसे देखता तो यही अनुमान करता कि यह कुरुपाण्डवों के समय का एक स्वाँग है, नहीं तो शरीर पर घेरदार जामा, सिर पर रत्नजटित मुकुट और हाथ में धनुर्बाण का काम क्या ? परन्तु सौभाग्य-वश उस समय आजकल का कोई महापुरु.विद्यमान न था।

कहारों के बदन से पसीना जा रहा था, तथापि वे दौड़े चले जा रहे थे। ज्ञात होता था कि इन्हें किसी जगह पहुँचने की शीघ्रता हो रही है। तभी तो बीच बीच में राजपुरुष "सत्वरमपसर" कह कर पालकी ले जाने वालों को प्रेरणा कर रहे थे। चलते चलते अकस्मात् पालकी ठहर गई, कहार कन्धा बदलने लगे। यह देख कर पालकी में बैठे हुए तेजस्वी पुरुष ने, जिसके नेत्र निद्रा से घूम रहे थे, जल्द गम्भीर स्वर से कहा कि,—

"भूरिभारभराक्रान्तः स्कन्धाः किं खलु वाधति।"

अर्थात् बहुत बोझे से दबा हुआ कन्धा, क्या सचमुच तुम्हें दुःख दे रहा है ?

कहार ने मस्तक झुका कर बड़ी नम्रता से उत्तर दिया कि,—

"न तथा वाधते स्कन्धे यथा वाधति वाधते ,"

अर्थात् कन्धा वैसा दुःख नहीं दे रहा है जैसा आपके मुँह से निकला अशुद्ध "वाधति" प्रयोग दुःख दे रहा है। (व्याकरण के नियम से "वाधते" कहना चाहिये था, क्योंकि वाध धातु आत्मनेपदी है, पर उन्होंने उसे परस्मैपदी समझ कर 'वाधित' कहा था।)

कहार की बात सुन महाराज लज्जित हो गये। तन्द्रा के कारण जो संस्कृत प्रयोग की अशुद्धता हो गई थी, उस पर पछताये और कहार को लाखों रुपैयों का पुरस्कार दे, गुणग्राहकता का परिचय दिया।

ऊपर कही हुई बात कोई मन:कल्पित गप्प नहीं है और न उपन्यास ही है। हज़ार वर्ष के आसपास का सच्चा इतिहास है। इस देश में राजा प्रजा सब संस्कृत बोलते थे। लिखापढ़ी सम्पूर्ण संस्कृत में होती थी। कामकाज की सभी प्रयोजनीय बातों में संस्कृत का अवलम्ब था। यद्यपि उस समय शूद्र लोगों में एक प्रकार की दूसरी भाषा भी, जिसका नाम प्राकृत था, उत्पन्न हो गई थी, तथापि उसके नियम और प्रयोग सब संस्कृत जैसे ही थे, अत: उसे भी एक संस्कृत का रूपान्तर कहैं तो कुछ बुराई नहीं और वर्तमान हिन्दी भाषा को उसी रूपान्तर का रूपान्तर कहैं तो भी असङ्गत नहीं है; परन्तु उस समय के शूद्र भी सभ्यसमाज में विशुद्ध वाणी संस्कृत ही का व्यवहार करते थे। हाय! उस समय कौन जानता था कि एक हज़ार वर्ष के पश्चात् ऐसा उलटफेर होगा कि हिन्दुओं के मन्दभाग्य के साथ भारत-वर्ष की प्राचीन भाषा का भी मन्दभाग्य हो जायगा! स्वदेश और स्वजाति से यह निकाली जायगी और जननी संस्कृत की तरह उसकी सन्तान (हिन्दी) भी पैतृक अधिकार से च्युत और अनादृत हो मारी मारी फिरेगी एवं उन्नीसवीं शताब्दी में इनके स्थान में एक ऐसी विदेशी और अन्धकार में ले जाने वाली भ्रष्ट भाषा का प्रवेश हो जायगा, जिसका राजा प्रजा से कुछ भी सम्बन्ध न होगा।

विधाता की लीला बड़ी विचित्र है। जो बात सम्भव थी उसे असम्भव कर दिखाया और असम्भव को सम्भव बना दिया। पलटा खाया तो यहाँ तक कि अब यह भी किसी को निश्चय नहीं होता कि कभी यहाँ की देशभाषा का पद संस्कृत को भी मिला हुआ था। आजकल जिस प्रकार लोग विदेशी भाषा में 'लेक्चर' दे रहे हैं, कभी संस्कृत में भी इसी प्रकार वक्तृता होती थी। टौनहालों की तरह सर-

स्वती और भागीरथी के तीर श्रोताओं से भरे हुए वक्ताओं के व्याख्यान से गूँजते थे। राजसभा पण्डितों की वक्तृता पर मोहित थी! छापा न था, पर उत्साह उद्योग इतना था कि, झटपट ग्रन्थों की रचना होती और लेखकों के वाहुल्य से एक छोर का ग्रन्थ दूसरे छोर में शीघ्र ही प्रचार पाता। जो ग्रन्थ उस समय दिनों में बनें अब उन्हें वर्षों में भी कोई नहीं बना सकता!

तात्पर्य यह कि मुसलमानी राज्य के समय जो यहाँ विदेशी फारसी आदि का राजदर्बार में सर्वत्र प्रचार हुआ, वह सब हमने कुदशा का समय समझ सहन किया। हमारा इधर कुछ विशेष ध्यान भी नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि, उस समय धर्म और जीवन के नष्ट होने का रात दिन डर बना रहता था! इन दो के बच जाने ही में कृतकृत्य हो जाते थे। इसीमें मुसलमानी राज्य की रामराज्य से तुलना करने लगते, शान्त और सुहृत्स्वभाव, हिन्दू इतने ही से यवन-राज को 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरोवा' कह कर आसमान पर चढ़ा देते थे। इस शान्ति पर भी मुसलमानों के समय में हिन्दुओं के साथ जैसा न्याय किया गया है वह सब रक्तमय वृत्तान्त इतिहास में लिखा हुआ है। भला फिर जान बूझ कर ऐसा बुद्धि का शत्रु कौन था जो उस समय देशभाषा के प्रचार का प्रश्न उठा कर अपने को एक बला में डालता और मौलवी मुल्लाओं के 'फतवे' का शिकार होता। निदान उस समय धर्मनिष्ठ ब्राह्मणों ने देशभाषा की रक्षा इसीमें समझी कि वे अपने बालकों को 'श्री गणेशाय नमः' के साथ ही "न पठेत यावनी भाषा" का भी पाठ कण्ठ करा दिया करें।

जब ईश्वर की दया से अँग्रेजी राज्य की छत्रछाया में हम आये तब ऐसी दशा में थे कि, यदि शीघ्र ही यह सहायता न मिलती, तो कदाचित् हिन्दू जाति का संसार में नाम तक न रहता! बिल्कुल निःसार और निर्जीव से हो रहे थे। इतनी मार खा चुके थे कि सम्हलना कठिन था। इसके विपरीत हमारे मुसलमान भाई दिल्ली की बादशाही और लखनऊ आदि की नवाबियों के घमंड से सर्वथा हृष्ट पुष्ट हो

रहे थे ! यही कारण था कि अंग्रेजी राज्य के आरम्भ में जो स्वत्व हमारे थे वे भूल से मुसलमानों को दिए गए। यदि हमारी बुद्धि उस समय ठिकाने होती और हम घबराए हुए न होते तो जो बात अब बड़ी बड़ी चेष्टा और यत्न करने पर भी पूर्णतया नहीं मिलती, उस समय बात की बात में प्रार्थना करने पर मिल सकती थी। परन्तु प्रार्थना करने का साहस किसे होता ? कहावत है कि—दूध का जला छाछ फूँक फूँक कर पीता है।

जिस समय हमें अंग्रेजों की न्यायपरायणता बिदित हुई और निश्चय हुआ कि ये अन्य विदेशियों की तरह धर्म विशेष और जाति विशेष से स्नेह वा घृणा करने वाले नहीं हैं, तब हमारा मुँह भी खुला, जो शताब्दियों से बंद हो रहा था। जब सन् १८३७ ई० के नवंबर मास में उस समय के गवर्नर-जनरल ने एक कानून बना कर बङ्गाल और पश्चिमोत्तर प्रान्त के न्यायालयों में भाषा परिवर्तन की आज्ञा दी और उसके पश्चात् फारसी के स्थान पर अदालत में बी उर्दू महाशया का मसनद लगा, तभी हमने समझा था कि, यह अनधिकार प्रवेश है। वास्तव में यहाँ नागरी का सिंहासन लगना चाहिये था। इसी आशय से सन् १८६८ ई० में न्यायालयों में फारसी अक्षरों के स्थान में नागरी अक्षरों का प्रचार करने के लिए गवर्नमेंट से प्रार्थना की गई और उस समय से आज तक समय समय पर गवर्नमेंट का ध्यान इस विषय की ओर आकर्षित किया गया। बिहार और मध्यप्रदेश के न्यायालयों में फारसी अक्षरों के स्थान में नागरी अक्षरों का प्रचार पूर्ण रूप पर हो गया।

स्वर्गीय बाबू हरिश्चन्द्र के समाधिक्षेत्र वाराणसी धाम में कुछ उत्साही नवयुवकों के उद्योग से काशी नागरी प्रचारणी सभा स्थापित हुई और वह इस बात का आन्दोलन करने लगी कि, पश्चिमोत्तर प्रान्त की अदालतों में नागरी अक्षरों का प्रचार किया जाये। इसी अभिप्राय से सन् १८८९ ई० में पश्चिमोत्तर देश के प्रतिष्ठित हिन्दुओं का एक 'डेपुटेशन' वहाँ के प्रजाप्रिय, न्यायपरायण, लेफ्टिनेंट-गवर्नर

श्रीयुत सर ऐंटनी मेकडानल महोदय की सेवा में उपस्थित हुआ था; जिसके उत्तर में छोटे लाट ने न्यायालयों की कार्रवाइयों में शीघ्र परिवर्तन करने के विचार को उचित नहीं बतलाया था, तथापि उन्होंने इस बात को स्वीकार किया था कि, 'सरकारी लिखापढ़ी के पत्रों में नागरी अक्षरों के प्रचार से कुछ लाभ अवश्य होगा'। इधर छोटे लाट इस विषय पर विचार करने लगे और उधर नागरी के भक्त भी शिथिल-प्रयत्न नहीं हुए।

इसका फल अब इतना ही हुआ कि ता० १८ अप्रेल सन् १९०० ई० को पश्चिमोत्तर गज़ट द्वारा इस देश के लेफ़्टिनेंट-गवर्नर ने निम्न लिखित आज्ञा प्रकाश की, जिससे हमारा बुझा हुआ उत्साह फिर कुछ प्रकाशित हुआ:—

(१) 'सम्पूर्ण मनुष्य प्रार्थनापत्रों और अर्ज़ीदावों' को अपनी अपनी इच्छा के अनुसार नागरी वा फारसी अक्षरों में दे सकते हैं।

(२) 'सम्पूर्ण सम्मन और सूचनापत्र और दूसरे प्रकार के पत्र जो सरकारी न्यायालयों वा प्रधान कर्मचारियों की ओर से देशभाषा में प्रकाशित किये जाते हैं, फारसी और नागरी अक्षरों में जारी होंगे और इन पत्रों के शेष भाग की ख़ानापूरी भी हिन्दी में उतनी ही होगी जितनी फ़ारसी अक्षरों में की जाय।

(३) 'अंग्रेज़ी आफिसों को छोड़ कर आज से किसी न्यायालय में कोई मनुष्य उस समय तक नहीं नियत किया जायगा, जब तक वह नागरी और फारसी के अक्षरों को अच्छी तरह से लिख और पढ़ न सकेगा।'

पाठक! इस आज्ञा का तात्पर्य समझ गये होंगे, इतना ही है कि अब तक पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध के सर्कारी दफ़्तरों में फारसी अक्षर और उर्दू भाषा जारी थी। अब से जो उक्त प्रान्त के दफ़्तरों में नौकरी करना चाहेंगे, उनको फारसी अक्षरों के साथ देवनागरी अक्षर अवश्य सीखने पड़ेंगे। बिना इसके वे नौकरी से वञ्चित रहेंगे! अब से उक्त प्रदेश वाले नागरी अक्षरों में अपनी अर्जियाँ लिख सकेंगे और

अदालत के सम्मन आदि फारसी नागरी दोनों अक्षरों में हुआ करेंगे। लाट साहब को उचित तो यह था कि अदालत से उर्दू को निकाल कर उसके स्थान में पूर्ण रीति से नागरी को प्रतिष्ठित करते। प्रथम तो 'नागरी प्रचारिणी' सभा की प्रार्थना ही इतनी कुछ थी कि, जिसके साथ हमारी पूर्णतया सहानुभूति भी न थी, क्योंकि हम न्यायालयों में अक्षर मात्र का परिवर्तन नहीं चाहते थे, भाषा का बदल जाना भी अत्यावश्यक समझते थे। इसका कारण यह था कि अदालत की उर्दू वह पुरानी उर्दू (हिन्दवी) नहीं है। यह अब फ़ारसी अरबी की भी चाची होगई है, इसके भ्रमोत्पादक अक्षर जैसे घृणित हैं वैसे ही कर्णकटु शब्द भी अश्राव्य हैं, परन्तु बेचारी नागरी प्रचारिणी ने डरते डरते जिस तुच्छतर प्रस्ताव को उठा, छोटे लाट से प्रार्थना की थी वह भी भाग्यदोष से पूरा नहीं हुआ! अदालत में उर्दू का मसनद ज्यों का त्यों लगा रहा, केवल वहाँ तक नागरी का गमन मात्र हुआ!

पश्चिमोत्तर देश के न्यायपरायण छोटे लाट यदि ऐसा बर्ताव हिन्दू जाति से न कर, किसी दूसरी जाति से करते, तो अवश्य वह यह समझती कि हमारे आँसू स्नेह के अञ्चल से नहीं पोंछे गये, पालसी के कम्बल से पोंछे गये हैं, परन्तु हम लोग यद्यपि यह जानते हैं कि, श्रीमान् न्याय करने में कुछ हिचक गये और इसी कारण उर्दू जैसी भ्रष्ट भाषा के साथ देवनागरी को संयुक्त कर, "ऊँट बिलाई" का सा जोड़ा कर दिखाया; तथापि हम लोग श्रीमान् के कृतज्ञ हैं। आपकी दया से नागरी उस स्थान के पास जा खड़ी हुई है, जहाँ सहस्र वर्ष पहिले देववाणी संस्कृत का सिंहासन लगा हुआ था। माता के उस पवित्र सिंहासन पर उर्दू को देख कर और अपने को परिचारिका के वेश में पा कर, चाहे इसके हृदय में व्यथा उत्पन्न होती हो, पर भविष्य की आशा से श्रीमान् की कृपा का यह बहुत धन्यवाद कर रही है कि, जब समय ने यहाँ तक पहुँचाया, तब एक दिन वहाँ तक भी पहुँचा देगा।

खेद है कि, छोटे लाट की इस कृपादृष्टि का हमें उतना आनन्द

नहीं हुआ जितना इस आज्ञाप्रचार के विरोधी मुसल्मानों का विरोध और दुराग्रह देख कर दुःख हुआ है। एक हम लोग हैं, जिनको यथार्थ में कुछ भी लाभ नहीं, पर आश्वासन वाक्य और भविष्य आशा पर फूल रहे हैं और इतने ही पर सर्कार को साधुवाद दे रहे हैं कि, अब से हमें अपना अभिप्राय अपने विशुद्ध अक्षरों में लिखने की स्वतन्त्रता मिल गई ! यद्यपि हम जानते हैं कि, हमारे देश में, हमारी जाति में विदेशी भाषा और विदेशी अक्षरों का क्या काम ? तो भी हम सन्तोष किए धीरता से सर्कार का मुँह देख रहे हैं और काल की प्रतीक्षा कर रहे हैं !

दूसरे वे असहिष्णु और स्वार्थनिरत लोग हैं जो यह जानने पर भी कि अब नादिरशाही के दिन गये और अंग्रेज़ी राज्य की छत्र-छाया में सब का समान हिस्सा है, हमसे खार खाते रहते हैं और यह समझते ही नहीं कि, हम भी मनुष्य हैं तथा उसी जगदीश्वर की सन्तान हैं, जिसकी वे हैं। नव्वाबी चली गई, पर अहङ्कारी मदोन्मत्त मुसल्मानों के मलिन अन्तःकरण से अभी तक नव्वाबी की वदबू नहीं गई ! हम समझते थे कि यदि फ़ारसी अक्षर अदालतों से बिदा होते, तो कदाचित् कुछ मुसल्मान 'हाय ! तोबा' भी मचाते, पर इस आज्ञा का विरोध कौन बुद्धिमान् मुसल्मान करेगा ? किन्तु देखते हैं कि, लखनऊ के बुद्धिशून्य मुसल्मानों की हाय ! हाय ! को सुन, अनेक नगरों के मुसल्मान सभा कर रो रहे हैं और समझते हैं इस आज्ञा से हम पर बड़ा अन्याय हुआ ! वे चाहते थे कि इस आज्ञा को सर्कार लौटा ले !

लखनऊ के मुसल्मानों ने जो इस आज्ञा के विरोध में आवेदन किया है, उसके देखने से विदित होता है कि मुसल्मान इस न्याय से प्राप्त और सामान्य बात को मज़हबी रंग में रंग कर, इसे भी एक राम-लीला और ताज़ियेदारी का सा मामला बना रहे हैं। उनके अख़बार भी इसे हिन्दी उर्दू की लड़ाई कह कर, सुथने से बाहर निकल रहे हैं। इन मूर्खों को यह भी ख़बर नहीं कि, नागरी अक्षर और चीज़ हैं और हिन्दी भाषा और। उसमें लिखा है कि "हम मुसल्मान उर्दू अक्षर और

उर्दू भाषा के सिवाय और किसी भाषा या अक्षरों को नहीं जानते। दूसरे लोग उर्दू लिखना पढ़ना भली भाँति सीख कर नागरी को अपनी धर्मभाषा समझ कर पढ़ते हैं। मुसल्मान लोग नागरी को हिन्दुओं की धर्मभाषा समझ कर नहीं पढ़ते हैं और न पण्डित लोग पवित्र नागरी भाषा को उन्हें सिखाते हैं। सरकारी मदरसों में मुसल्मान कुछ नागरी सीखते हैं, पर ब्राह्मण लोग स्वयं मुसल्मानों को देवनागरी सिखाना पसंद नहीं करते। इसीसे नागरी जानने वाले मुसल्मान कम हैं। यदि मुसल्मानों के दुर्भाग्य से सरकार अपने दफ्तरों को नागरी में कर देगी, तो मुसल्मान एकदम डूब जायँगे।" एवमस्तु॥

सच है स्वार्थ मनुष्य को अन्धा कर देता है। द्वेष से मनुष्य की बुद्धि मारी जाती है। नहीं तो यह कब सम्भव था कि जिस सभा का, अपने को देशहितैषी, निष्पक्ष पुरुष कहने वाला, एक प्रसिद्ध मुसल्मान सभापति हो और उससे ऐसी वाहियात अर्ज़ी लिखी जाय जिसमें वालोचित वार्ता के सिवाय और कुछ भी न हो! यद्यपि हम जानते हैं कि बहुत से मुसलमान उसी प्रकार हिन्दी भाषा वा नागरी अक्षरों को जानते हैं, जिस प्रकार हिन्दू फारसी अक्षरों को। पर यदि मान लिया जाय कि मुसल्मान ठीक कहते हैं, वास्तव में वे नागरी अक्षरों के ज्ञान में, जिसे एक बुद्धिमान् पुरुष पन्द्रह बीस दिन में प्राप्त कर सकता है, शुद्ध लण्ठ हैं, तो यह दोष उनका है, इसको दूर करना प्रत्येक मुसल्मान का काम है।

क्या अच्छा होता यदि मुसल्मानों का यह कहना यथार्थ होता कि हिन्दू नागरी को अपनी धर्मभाषा समझ कर पढ़ते हैं। यदिच यहाँ नागरी को भाषा समझना और अक्षरों के विवाद में भाषा सम्बन्धी प्रश्न को उठाना, उनकी प्रकृत विषय में मूर्खता की सूचना करता है, तो भी हम यह मान कर कि, परमात्मा ने चाहा तो एक दिन भाषा सम्बन्धी प्रश्न खड़ा होगा, यहीं उस विषय की निष्पत्ति कर लेना उचित समझते हैं। हिन्दू, नागरी वा हिन्दी भाषा को अपनी धर्मभाषा नहीं

समझते और इसलिए मुसल्मानों को नागरी सिखाने में किसी ब्राह्मण को क्यों आपत्ति होगी ?

पर सच तो यह है कि यह भी एक मुसल्मानों का ताना है ! यदि हमको अपनी भाषा की ममता होती वा उसे धर्मभाषा समझते तो पंजाब की धर्मसभा और आर्यसमाज के धर्मध्वजी धर्म-प्रचारक फारसी में वैदिक धर्म की डोंग नहीं मारते। सन्ध्या तक की पुस्तक उर्दू में न छपती। समाज और सभाओं के दफ़्तर म्लेछ भाषा में न होते। "सनातन धर्मगज़ट" और "आर्य गज़ट" आदि धर्म के धूम मचाने वाले पत्र अपना रंग ढंग देख कुछ मन में लजाते। सैकड़ों सभा और समाजों के जीते जागते 'ओरिएंटल कालेज' लाहौर की हिन्दी हाई प्रोफिसिएंसी आदि परीक्षाओं का दम न निकलता ! फिर क्यों कहा जाता है कि, हिन्दू निज धर्मभाषा का पक्ष कर रहे हैं ? सच पूछिए तो हिन्दुओं का धर्म से वास्ता ही क्या है ? उसके नाम से पेट पाला जाता है, पर काम से कोसों दूर भागते हैं !

हिन्दू लोग जो नागरी का पक्ष ले रहे हैं, उसे धर्मभाषा समझ कर नहीं, वरञ्च प्रयोजनीय वस्तु समझ कर। हम लोगों ने वर्षों और पीढ़ियों से उर्दू फारसी और हिन्दी भाषा को सीख कर जो अनुभव प्राप्त किया है, उसीका यह फल है। निश्चय कर लिया गया है कि, अदालतों में नागरी के प्रचार से थोड़े से स्वार्थी लाला और मौलवियों को छोड़ कर सब हिन्दू मुसल्मानों की भलाई है। यदि हमारी तरह हिन्दी वा नागरी के स्वरूप से मुसल्मान भी जानकार होते, तो हमें विश्वास है कि वे इस आज्ञा का विरोध न कर, इसका सहर्ष अनुमोदन करते। रत्नहार को सर्प समझ कर, मूर्खों की तरह हाय ! हाय ! कर के न पुकारते।

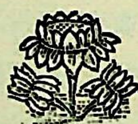
यदि मुसल्मान लोग नागरी को हिन्दुओं की धर्म्मभाषा समझ कर नहीं पढ़ते हैं, तो फिर बेचारे पण्डितों पर न पढ़ाने का दोष क्यों लगाया जाता है ? स्मरण रहे, मदुरा के अकबरअली और हैदराबाद

के सैय्यद्अली ब्राह्मणों ही से पढ़ कर संस्कृत में कुछ लिखने पढ़ने लगे हैं और आप लोगों में उच्चकोटि के विद्वान समझे जाने लगे हैं। मुसल्मानों! आप जिन बातों को कह रहे हो, यदि वे सच्ची होतीं तो निःसन्देह आनन्द की बात थी, पर अब उसका हममें लेश भी नहीं है। आप अपने बराबर हिन्दुओं को समझ रहे हैं। यह नहीं जानते हिन्दूओं में धर्म्मभाव परस्पर की फूट के लिए है, प्रेम और एकता के लिए नहीं। हमारो अहङ्कार और घृणा अपनी जाति वालों के लिए हैं और प्रेम अन्य जातियों के लिए। यही कारण है किं, चाहे इस समय काशी में ऐसे ब्राह्मण मिल जायँ, जो अपनी जाति और शिष्यों को पढ़ाने सुनाने में सङ्कोच करें, पर ऐसे मिलना कठिन है, जो विजातियों से किसी प्रकार की घृणा वा सङ्कोच करें!

नागरी जानने वाले मुसल्मान कम हैं सही, पर इसका कारण यह नहीं है कि, उन्हें पण्डित लिखाते पढ़ाते नहीं। वरञ्च उसका पढ़ना अब तक वे निरा निकम्मा समझते थे। सरकारी मदरसों में मुसल्मानों का नागरी सीखना आप स्वीकार ही करते हैं, अब जब वे देखेंगे कि बिना नागरी के नौकरी न मिलेगी, तो आपसे आप पढ़ेंगे और यदि दुर्भाग्यवश नागरी प्रचार होने ही से मुसल्मान एकदम डूबते हैं, तो उन्हें समझ लेना चाहिये कि अब उनका बचाने वाला कोई नहीं है। जो दूसरे के प्रताप से वृथा कातर होता है, उसके पाप का प्रायश्चित्त यही है कि, उसका हृदय क्रोध की अग्नि से सदा जलता रहे।

अन्त में हम अपने उस कर्मवीर को बधाई देते हैं, जिसके अदम्य उद्योग और उत्साह का यह फल है। हमने विलायत वालों के इतिहास में ऐसे अनेक दृष्टान्त देखे हैं कि, जिस कार्य का एक मनुष्य सूत्रपात कर जाता है, उसीके पीछे सब मर मिटते हैं और अन्त में कोई न कोई माई का लाल उसे पूरा कर छोड़ता है! हिन्दुस्तान को खोज में यूरोप के अनेक मनुष्य और महाजन नष्ट हुए, परन्तु अन्त को 'वास्कोडिगामा' यहाँ आही तो पहुँचा। प्राचीनं भारत का भी एक स्मरणीय इतिहास बहुत दिनों से याद है।

भस्मावशेष महाराज सगर के सत्कार के निमित्त कई पीढ़ियों को खपा कर पुण्यसलिला गङ्गा लाने में महाभाग भगीरथ कृतकार्य हुए थे। परन्तु स्वप्न में भी कभी यह विचार उत्पन्न नहीं हुआ था कि, इस अधःपतित देश में एक और भगीरथ उत्पन्न हो गया है जो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की उस भस्मराशि को, जो भारतवर्ष के महाश्मशान काशी-क्षेत्र में हिन्दी के पवित्र प्रवाह की प्रतीक्षा कर ऊर्द्ध्वश्वास ले रहा है, संस्कृत और कृतकृत्य कर इस आत्मविस्मृत देश को फिर भूली हुई बात याद दिलावेगा। चाहे नागरी प्रचारिणी सभा इस महापुरुष की मूर्ति की प्रतिष्ठा कर कृतज्ञता प्रकाश न करे, परन्तु स्मरण रहे, कि पण्डित मदनमोहन मालवीय की, भगवान् मदनमोहन की तरह, हिन्दुओं के हृदय-मन्दिर में आचन्द्रार्क पूजा होती रहेगी।



काव्यालोचना

"इतर-पाप-फलानि यदृच्छया विलिख वारिजसम्भव ! मस्तके ।
अरसिकेषु कवित्वनिवेदनम् शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख ॥"

संसार में जो कुछ सुन्दर और सर्वोत्कृष्ट, ज्ञात और चिन्तित है, उसकी शिक्षा का सुविस्तार और समृद्धि करना ही समालोचना का तात्पर्य है । किन्तु समालोचना के सर्ववादिसम्मत, सर्वाङ्ग-सुन्दर और सर्वत्रप्रयोज्य, सार्वभौमिक एवं साधारण नियम क्या हैं ? एवं ऐसे नियम बनाए जा सकते हैं कि नहीं ? यह कोई कह सकता है क्या ? इस प्रकार के नियम अब तक स्थिर होगये हों, यह हमें विदित नहीं एवं होने की सम्भावना में भी सन्देह ही है। इस विषय में जब कि हमारे विलायती शिक्षक भी व्यतिव्यस्त, किन्तु कर्तव्यविमूढ़ हैं, तब हम और अधिक क्या कह सकते हैं ? अन्त को इस देश का अलङ्कार शास्त्र ही हमारा, एक मात्र आश्रयस्थल समझना चाहिये, पर सच पूछिए तो वहाँ भी समन्वय होना सहज कार्य नहीं है ।

यह भी स्मरण रखना चाहिये कि समालोचना-शक्ति भी स्वाभाविक है,—उस शक्ति की केवल शिक्षा के द्वारा सृष्टि नहीं की जा सकती। यह भी सत्य है, कि यद्यपि कवि और औपन्यासिकों के समान समालोचक भी माता के गर्भ से उत्पन्न होते हैं, कुछ गढ़े नहीं जाते; तथापि कोई यह न समझे कि जब ऐसा है तब समालोचक को किसी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता नहीं, समालोचक को भी स्वकार्य की शिक्षा प्राप्त करना सर्वथा योग्य है । अलङ्कार और विज्ञान की नियमावली, भाषा और साहित्य का इतिहास, रचनाप्रणाली के विविध रहस्य, इत्यादि में समालोचक को विशेष व्युत्पन्न होना चाहिये। किन्तु दुर्भाग्य-वश प्रथम तो हिन्दी भाषा में समालोचकों ही का अभाव है और जो

हैं, उनमें से अनेक इस प्रकार के लोग हैं जो साहित्य का इतिहास तक नहीं जानते और बातों का जानना तो दूर रहा !

कुछ महात्मा ऐसे भी पाये गए हैं कि, जो राग द्वेष के कारण निज लेखनी को अपवित्र कर सत्य का अपलाप कर रहे हैं। एक अपने मित्र का रूप देख फूल रहा है, दूसरा उसकी मधुर ध्वनि की प्रशंसा करने पर मरता है। कोई किसी को सत्कवि, स्वभावकवि आदि को 'डिग्री' दे रहा है और कोई बदले में कृतज्ञता पूर्वक उसे सत्समालोचक कह रहा है ! वस्तुगत्या परस्पर की सहानुभूति शिष्टता और सद्भाव सर्वथा वाञ्छनीय हैं, किन्तु जिस व्यवहार में सत्य का सन्मान न हो वह सन्मान भी एक प्रकार का अपमान है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुष "अहोरूपमहोध्वनि" के अकाण्ड ताण्डव से पृथक ही रहना अच्छा समझते हैं। जो हो। आज कल के इन समालोचकों के हाथ में किसी कवि के महाकाव्य का पड़ जाना सिवाय उस कवि के दुर्विपाक के और क्या कहा जा सकता है ? इस देश के बाजारू समालोचकों में से अनेक की विद्या बुद्धि को हम अच्छी तरह जान चुके हैं, किन्तु उस विडम्बना के प्रकाश करने का यहाँ अवसर नहीं है।

कुछ लोगों ने जाने क्या समझ कर हमारे पास भी अपनी पुस्तकें भेज दीं ! अवश्य ही हमने किसी के मुँह की ओर दृष्टि न कर उसके लेख ही की ओर दृष्टि रक्खी और जो कुछ हमें अपनी बुद्धि के अनुसार उचित जान पड़ा उसीका अनुमोदन किया, सम्पूर्ण लेख वा कविता को वेदवाक्य न समझा। यथार्थ समालोचक की योग्यता न होने पर भी हमने बुद्धिपुरस्सर यथार्थ समालोचकों का पथ परित्याग नहीं किया। स्थानाभाव के कारण हमें निज मन्तव्य यदिच अल्पाक्षरों में प्रकाश करना पड़ा है, तथापि वह द्वेष की दावाग्नि और खुशामद के जंजाल से एकदम बचा हुआ है। इस बात को हमारे सभी पाठक जानते हैं। तथापि हमारी समालोचना से किसी किसी का मन तुष्ट नहीं हुआ है। यहाँ हमें स्पष्ट कह देना चाहिये कि इस प्रकार के सज्जनों का एक ही जोड़ा हमारे सामने खड़ा हुआ है, जो हिन्दी लेखकों

में अपरिचित नहीं है। यह युगलमूर्ति और किसी की नहीं पण्डित श्रीधरपाठक और पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी जी की है। इन दो के शरीर भिन्न होने पर भी हृदय इतना अभिन्न है कि एक दूसरे को निज नेत्रों से देख भी नहीं सकता। क्योंकि अपना आप किसी को दिखाई नहीं देता। इस अन्योन्याश्रय और अन्योन्यासक्त युगल मूर्ति के 'सुदर्शन' पर अप्रसन्न होने का यह कारण है कि हमने 'गुनवन्त हेमन्त' और 'नैषधचरितचर्चा' की समीचीन समालोचना नहीं की। पण्डित श्रीधरपाठक के मन का उद्गार 'पर्य्यालोचक' के स्वरूप से भारतमित्र और श्रीवेंकटेश्वर समाचार में निकला है और पण्डित महावीरप्रसाद जी की उमङ्ग सरस्वती में निकली है।

गत हेमन्त ऋतु में जब हमारा भारतवर्ष महाश्मशान में परिणत हो रहा था और चारों ओर दुर्भिक्ष के कारण दीनातिदीन, मुखमलीन, भाग्यहीन भारतवासी जल बिन मीन की तरह तड़फ तड़फ कर मर रहे थे, उस समय गुनवन्त पण्डित श्रीधर पाठक जी ने हेमन्त का वर्णन किया था। प्रथम वह भारतमित्र में प्रकाशित हुआ, अनन्तर हमारे पास आया। उसकी समालोचना में जो कुछ हमने लिखा था उसे अक्षरशः नीचे लिखते हैं।

"गुनवन्त हेमन्त! यह भी पाठक जी की एक कविता है, जिसमें हेमन्त ऋतु का वर्णन है। छन्द की विचित्रता और 'मूली मटर मलूक' आदि पदार्थों की शुष्क भरती के अतिरिक्त अन्य गुण हमने कुछ भी नहीं पाया। पाठक जी इसमें अन्तरङ्ग रहस्यमय 'दम्पति प्रनय और सुरतिसुख' तक का वर्णन कर गये हैं, किन्तु सड़कों और बाज़ारों में दुर्भिक्षदलित, वस्त्रहीन, दीन, दुःखितों को बिल्कुल ही भूल गये। 'गुनवन्त हेमन्त' में इन बेचारों की क्या दशा हुई, यह कुछ न जाना! क्या यह पाठक जी जैसे क्षमताशाली मार्मिक कवि के लिए उचित था?"

बस हमारा यही अपराध हुआ कि पाठक जी के 'ऊजड़ ग्राम' की तरह हमने इस गुनवन्त हेमन्त की केवल प्रशंसा ही प्रशंसा न की और दोष है तो यह कि, इस समय काव्य में हमें रसप्रवाह दिख-

लाई न दिया ! इसमें शुष्क भरती के अतिरिक्त हमारे नीरस नेत्र और कुछ न देख सके और दिदृक्षा भी हुई तो दीनातिदीन पुरुषों की !!

यदि हम पण्डित महावीरप्रसाद जी के समान समीचीन समालोचक और कवि हुए होते, तो इस गुनवन्त हेमन्त को देख कर अवश्य ही एक 'श्रीधर सप्तक' वा 'श्रीधराष्टक' स्तोत्र बना डालते। और उसमें वर्णन करते "प्रभो ! कवीन्द्र चूड़ामणे ! आपकी महिमा अपरम्पार है। हेमन्त का वर्णन तो बड़े बड़े कालिदासादि महाकवियों ने भी किया था, पर एक क्षुद्र पद्य में उसका कुछ अल्प ही वर्णन कर उसे 'गुनवन्त' बना देना—यह किसकी सामर्थ्य थी ? दिव्यलोचन प्राचीन अन्धकवि लोग जैसा जिस समय देखते हैं, वैसा ही वर्णन करते हैं, परन्तु धन्य है आपको, जिस समय भारतवर्ष में 'शुष्क' के अतिरिक्त सरस हरित पत्र भी नहीं दिखलाई देता था, आपको उस समय भी दिव्यदृष्टि से सब हरे भरे सरस खेत दिखाई दिये! यहीं तक नहीं, श्रीमान् की दिव्यदृष्टि ने और भी कमाल किया है। सड़कों पर और बाजारों में फिरते हुए दुर्भिक्षदलित पुरुष तो दृष्टिगोचर नहीं हुए पर अन्तरङ्ग रहस्यमय 'सुरतिसुख' को देखने में दुर्बीन को भी मात कर गये ! सुना था कि बड़े आदमियों को साधारण लोग दिखाई नहीं दिया करते, परन्तु आपने उसे प्रत्यक्ष दिखा अपने 'श्रीधर' नाम को सार्थक कर दिया ! धन्य ! विचित्र कवि धन्य !

पर किया क्या जाय ? न हम सरस हृदय और न तादृश कवि, इसलिए श्रीमान् पण्डित श्रीधर जी की अधिक प्रशंसा न कर सके। ऋतुवर्णन में व्यास जी अनेक उपदेश दे गये, तुलसीदास जी भी वर्षावर्णन में भक्तिभाव का परिचय दिखा गये और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र प्रबोधना आदि कविताओं में जाने क्या क्या कह गये हैं और स्वर्गीय पण्डित प्रतापनारायण मिश्र की कविता में तो इस देश की दीन दशा का वह चित्र उतरा है कि जिसे देख कर लोग 'अश अश' करते हैं। परन्तु वे लोग श्रीधर जी के समान श्रीमान् और विद्वान् न थे। इसी कारण प्रकृत वर्णन को छोड़, उन्होंने अप्रकृत वर्णन किया। यह विचित्र

उपदेश हमे सरस कवि पण्डित श्रीधर जी से मिला कि "हेमन्त में अकाल पीड़ित प्रजा का विषय डाल देने से गुण के स्थान में दूषण आ जाता, वर्णन का प्रकृत माधुर्य फीका पड़ जाता, इष्टरस नष्ट हो जाता, सारा पद्य भ्रष्ट हो जाता और सम्भव है कि, सिवाय 'सुदर्शन' जी के किसी को कुछ स्वाद न आता !"

जिस देश में ईदृश स्वभावसम्पन्न कवियों का जन्म हो, क्यों न वह देश संसार में प्रणम्य हो। "देशाय तस्मै नमः।" वस्तुगत्या यह हमारी भूल थी जो हम श्रीधर जी की अलौकिक कविता में इस प्रकार के निकृष्ट लौकिक भाव देखने की आशा करते थे। कहाँ भला, भाग्य-हीन अकालपीड़ित भारतीय प्रजा, और कहाँ सुरतसुखनिरत सौभाग्यशाली श्रीमान् पण्डित श्रीधर जी महाराज। क्षमताशाली पाठक जी ने जो लिखा सो सब समीचीन है, सरस है, और उदार है और हमने जो कहा सब वाहियात, अरण्यरोदन के समान निरा निष्फल है। ऐसे प्रकाण्ड कवियों के साथ कलह वा शास्त्रार्थ करना हमारी क्या, वाचस्पति की भी सामर्थ्य से बाहिर है। क्योंकि, "जागत हूँ सोवत रहे ताको कहा जगाय।" इसलिए इस अप्रीतिकर विषय को अधिक विस्तृत करना नहीं चाहते, केवल यही कहना है कि हमने जो कुछ कहा वह प्रमाणशून्य और अनर्गल है और पं० महावीरप्रसाद जी ने नैषधचरितचर्चा में जो लिखा सो सब युक्तियुक्त और उपादेय है। हम अभी यह दिखलावेंगे कि जिस स्वभाव के पाठक जी कवि हैं उसी स्वाभाव के द्विवेदी जी समालोचक हैं। श्रीहर्ष के महाकाव्य नैषध पर समालोचक जी की कितनी कृपा हुई है, यह सब हम अपने लेख में दिखावेंगे। परन्तु पण्डित श्रीधर पाठक जी के हम बहुत ही कृतज्ञ हैं कि नामकरण प्रणाली में वे निरुक्तकार यास्क और व्याकरणाचार्य पाणिनी को भी मात कर गये। जिस प्रकार आपने हेमन्त को 'गुनवन्त' बनाया उसी प्रकार, सरद समागत स्वागत, कर दिखाया और रहे सहे पाण्डित्य का एकशेष 'सावित्रीस्तम्भ' की व्याख्या में कर दिया। कहिये, यह क्या छोटी बात है ? बिना बड़े असाधारण कवि के और

किसके पास ऐसे सार्थक शब्द मिल सकते हैं ? भारतवर्ष के अन्यान्य कृपण कवि तो लक्षणा व्यञ्जना से उस समय काम लेते थे जब शक्ति वृत्ति से उनका कार्य निकलना दुर्घट होता, परन्तु धन्य उदार कवे ! आपके सदाव्रत में इस प्रकार की सङ्कीर्णता का लेश तक नहीं। क्योंकि आप स्वभावकवि हैं जो मनभाया सो किया। हम अब तक आप को अनुवाद मात्र में सिद्धहस्त समझते थे, यह हमारी भ्रान्ति थी। आप कल्पना में सरस्वती का भी शेष कर सकते हैं। आपके कवित्व और महत्व को विरले ही पुरुष जान सकते हैं।

"जाणनिये तो जाणिगे के जाणे अणजाण।
पाये चाकी बांधि के कूद गये मिरगाण।।"

अब ज़रा पण्डित महावीरप्रसाद जी के लेख को देखिये।

सरस्वती की दशवीं संख्या में 'नैषध चरितचर्चा और सुदर्शन' के नाम से पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने एक प्रलम्ब लेख लिखा है। उनके विचार में यह उस समालोचना का उत्तर है, जो सुदर्शन की छठी संख्या में तदीय पुस्तक की प्रकाशित हो चुकी है। मर्म्मग्राही लेखक ने जिस प्रकार नैषध काव्य का अपनी चर्चा में चर्वण कर निज निपुणता को प्रकट किया था, उसी प्रकार इस लेख में भी सुदर्शन के मर्मग्रहण करने में निज विदग्धता का परिचय दिया है।

बड़ी योग्यता के साथ उन प्रमाणों का संग्रह किया है, जिनसे उनका विलायती मत पुष्ट होता दिखाई दिया है। इनके आपातरमणीय संग्रह में दो ही बातें मुख्य हैं। एक—महाकवि श्रीहर्ष के महाकाव्य नैषध की निन्दा और विलायती पण्डितों की प्रशंसा ! विलायती पण्डितों की अनुचित प्रशंसा हमारे अनभिमत होने पर भी हम उससे दुःखित नहीं हैं, दुःखित हैं इस कारण से कि उसके व्याज से भारतवर्ष के स्वर्गीय तत्वदर्शी कवियों की निष्कारण निन्दा की जा रही है ! हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि, एतद्देशीय वा विदेशीय कवियों के गुणदोष की परीक्षा वा स्तुति निन्दा न की जाय, किन्तु यह निवेदन है कि दुराग्रह से कार्य न लिया जाय। हम यह नहीं कहते कि, प्राचीनों में कोई दोष

ही न था। किन्तु यह कहते हैं कि भाग्यवश लेखक के समान वह हमें दिखलाई नहीं देता।

पराधीन, अति दीन, भारतवर्षीय पण्डितों को निन्दित और स्वाधीन, सङ्गतिसम्पन्न, योरोपीय साहेबों को प्रशंसित ठहराने में हम लेखक के चातुर्य की प्रशंसा कर सकते हैं, किन्तु न्याय की नहीं। कई स्थलों पर बात का बतंगड़ किया गया है और सत्य को छिपाया गया है। यहीं तक बस नहीं हुई है, हमें प्राचीनता का पक्षपाती समझ कर धमकाया भी गया है।

खण्डन मण्डन की परिपाटी निःसन्देह देवासुर संग्राम के समान प्राचीन परिपाटी है। किन्तु किसी पर दोषारोप करना यह शिष्ट सम्प्रदाय में गर्हित कार्य है। प्राचीन पूर्वजों के चरित से यदि कोई सपूत "पर्यालोचक" केवल दोष ही दोष ग्रहण करे, तो कर सकता है परन्तु हम वैसी कल्पना को भी अच्छा नहीं समझते। श्रीहर्ष के दोष निरीक्षण में जो महापुरुष सहस्राक्ष हो रहे हैं, उन्हें विचार कर देखना चाहिये कि वह उनकी विशाल बुद्धि का दोष है कि उस महाकवि का। नैषध चरितचर्चा को देख कर श्रीहर्ष की एक भयानक भूल हमें भी ज्ञात हुई है। वह यह है कि नैषधकार ने कहा है कि—

> "ग्रन्थ ग्रन्थिरिह क्वचित् क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया,
> प्राज्ञंमन्यमना हठेन पठितो मास्मिन् खलः खेलतु।
> श्रद्धाराद्धगुरुश्लथी कृतदृढग्रन्थिथः समासादय,
> त्वेतत्काव्यरसोर्निमज्जन सुख व्यासज्जनं सज्जनः।"

अर्थात् "पण्डित होने का दर्प वहन करने वाले दुःशील मनुष्य, इस काव्य के मर्म को बलात् जानने के लिये चापल्य न कर सकें—इसी लिए मैंने बुद्धि पुरःसर, कहीं कहीं इस ग्रन्थ में ग्रन्थियाँ लगा दी हैं। जो सज्जन, श्रद्धा भक्ति पूर्वक गुरु को प्रसन्न करके तद्द्वारा उन गूढ़ ग्रन्थियों को सुलझा लेंगे, वे ही इस काव्य के रस की लहरों में लहरा सकेंगे।". महाकवि श्रीहर्ष ने 'प्राज्ञंमन्यमना' के लिए जो निज ग्रन्थ में "क्वचित् क्वचित्" ग्रन्थियाँ लगाई हैं, उनमें पण्डितवर महावीर

प्रसाद जी भी उलझ गये, इस बात का हमें भी खेद है। श्रीहर्ष को भविष्य काल की क्या ख़बर थी कि, उन्नीसवीं शताब्दी में एक निरभिमान सुशील, गुरुभक्त, परम पण्डित महावीरप्रसाद जी भी होंगे, जिनको नैषध में "प्रायः सर्वत्र ही गांठें" दिखलाई पड़ेंगी। यदि उन्हें इस बात का कुछ ज्ञान होता तो अवश्य ही वे इसका कुछ प्रबन्ध कर जाते या अपनी ग्रन्थियों को सुलझा जाते अथवा काव्य ही न बनाते! आज उन्हें अपनी इस भूल का यह विषम फल भोगना पड़ा कि उनके काव्य में सर्वत्र गांठें ही गांठें हो गईं और उनका वह निर्मल यश मिट्टी में मिल गया जो—"उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः" इस कथन के द्वारा उद्घोषित हो रहा था।

द्विवेदी जी के आक्षेपों का उत्तर देने से प्रथम हम अपने पाठक जनों को नैषधचरितचर्चा की कुछ बानगी दिखाते हैं, जिससे स्थाली-पुलाक न्याय से उन्हें भी लेखक की समालोचन-परा-बुद्धि का कुछ निदर्शन मिल जाय। राजा नल के प्रताप और यश का वर्णन करने के समय श्रीहर्ष ने अपनी अपूर्व प्रतिभा का चमत्कार दिखाया है। वह कहता है—

"तदोजसस्तद्यशस ! स्थिताविमौ वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा।
तनोति भानोः परिवेष कैतवाद् तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि ॥"
(सर्ग १ पद्य १४)

इसका तात्पर्यार्थ यह है कि "उसके प्रताप और यश के रहते, सूर्य और चन्द्रमा, इन दोनों का होना वृथा है, इस प्रकार जब जब ब्रह्मदेव के चित्त में आता है तब तब वह मण्डल के मिष, सूर्य और चन्द्र दोनों के चारों ओर कुण्डलता (घेरा) खींच देता है। अर्थात् सूर्य और चन्द्रमा का काम तो राजा नल के प्रताप और यश ही से हो सकता है, फिर इनकी आवश्यकता ही क्या है?"

इस पर मर्मज्ञ समालोचक इस प्रकार समालोचना करते हैं—

"पहले पण्डित लोग, जब हाथ से पुस्तकें लिखते थे, तब यदि कोई शब्द अधिक लिख जाता था तो उसके आसमन्ताद्भाग में हरताल से एक घेरा करके उसकी निरर्थकता व्यक्त करते थे। उसीको देख

कर जान पड़ता है कि हर्ष को यह कल्पना सूझी है, परन्तु सूझी बहुत दूर की है। इसीसे इस उक्ति से तादृश आनन्द नहीं आता !"

वाह ! क्या अच्छी समालोचना है ! सहृदय काव्यरसिक पाठक उक्त पद्य को पढ़ें और फिर इस समालोचना को देखें और न्याय करें कि यह समालोचना है कि कोरी पण्डिताई ! इस बात को तो पण्डित से लेकर विद्यार्थी तक सभी जन जानते हैं कि हरताल से अधिक शब्द के चारों ओर घेरा नहीं खींचा जाता है। क्योंकि हरताल उस पर लगाई जाती है और स्याही से घेरा खींचा जाता है। श्रीहर्ष की यह कल्पना यद्यपि भारतवर्ष के प्रत्येक विद्यामन्दिर और हिन्दुओं की कल्पना है तथापि वह इसे अपने दफ़्र से दूर की बात जान कर 'बहुत दूर की सूझ' कह रहे हैं। इसीलिए उनको इस उक्ति से तादृश आनन्द नहीं आता ! तादृश—कीदृश ? यादृश हेमन्त के 'मूली मटर में' आता है ? तादृश आनन्द तो नहीं आता पर कुछ कुछ आता भी है ? 'कर फुलेल को आचमन मीठो कहत सराह'। 'तादृश' शब्द की लक्षणा कहाँ है ? इस बात को तो समालोचक जी जानें, तथापि इतना हम भी कहते हैं कि यह परमोत्तम काव्य है और यादृश इसमें आनन्द आता है, तादृश अन्यत्र नहीं आता। और देखिये—

राजा नल के घोड़ों का वर्णन—

"प्रयातुमस्माकमियं कियत्पदं धरा तदम्भोधिरपि स्थलायताम्।
इतीव वाहैर्निजवेग दर्पितैः पयोधिरोधक्षम मुत्थितंरजः ॥"

भावार्थ—इस पृथ्वी को पार कर जाना तो हमारे लिए कोई बात नहीं है ! यह है कितनी ? इस प्रकार मानों मन में कहते हुए, नल के घोड़ों ने समुद्र पार कर लेने ही के लिए धूल उड़ाना आरम्भ किया। अर्थात् समुद्र भी धरातल हो जावे तो कुछ दूर चलने को तो मिलै।

"देखिए, कैसे चालाक घोड़े थे ! इस अत्युक्ति का कहीं ठिकाना है ! सुनते ही चित्त में यह भाव उदित होता है कि यह सब बनावट है, इसीसे अन्तः करण प्रसन्न नहीं होता"।

कहिये, इस समालोचना की क्या समालोचना की जाय ? पढ़ कर हँसी आती है और एक ग्रामीण की कथा का स्मरण होता है। किसी ने आकर उससे कहा कि तेरी स्त्री का मुख चांद सा है। यह सुन वह रोने लगा कि 'बप्पारे! अब मैं क्या करूँ ? बिना आँख नाक कान की स्त्री को लेकर मैं क्या करूंगा ?' ठीक यही दशा हमारे इन समालोचक महाशय की है। श्रीहर्ष की उत्प्रेक्षा को आप 'अत्युक्ति' समझ रहे हैं और यह नहीं जानते कि जिस 'बनावट' को देख उनका अन्तःकरण प्रसन्न नहीं होता है वही सहृदयों के हृदय का सर्वस्व है। भारत के एक महाकवि ने बहुत अच्छा कहा है कि महाराज विक्रम के मरने पर लोगों को इस बात का खेद है कि, अब कोई दाता न रहा परन्तु हमारी समझ में अब कोई काव्य का समझदार ही न रहा !

आजकल के स्वभाववादी समालोचक अलङ्कार वा बनावट से घृणा कर रहे हैं। "स्वभाव स्वभाव" चिल्ला रहे हैं। दुर्भाग्यवश इनको इतना ज्ञान नहीं है कि, अलङ्कार से स्वभाव की शोभा है और उसे भी एक स्वभाव ही का अङ्ग समझें तो कोई बुराई नहीं है। ये लोग प्रकृति के नग्न शरीर को देखना चाहते हैं और भारत के महाकाव्यों में उसे सुसज्जित पाते हैं। यही यहाँ के कवियों का अपराध है। काव्य वा कवियों की बनावट पर नाक सिकोड़ने से पहिले यह समझ लेना चाहिये कि कविकर्म क्या चीज है ? आनुपूर्वी घटना का वर्णन करना और मक्षिका स्थाने मक्षिका दिखाना—यह इतिहासलेखक का कार्य है। कवि के लिए यह सब आवश्यक नहीं है। चमत्काररहित स्वभाव का वर्णन करना एक प्रकार का दोष है। नैषध-चरित चर्चा के देखने से विदित होता है कि नैषध की चमत्कृति ही लेख की चक्षुशूल हो रही है।

पण्डित महावीरप्रसाद जी ने श्रीहर्ष की जिस स्थल पर जितनी प्रशंसा की है, उसके लिए हम उनके सदा कृतज्ञ रहेंगे। अंग्रेजी पढ़े हुए पुरुष एतद्देशीय काव्यों की जितनी प्रशंसा कर दें उतनी ही सही ! किन्तु यह कहे बिना हमारे चित्त को सन्तोष नहीं होता कि नैषध की

समालोचना उन्होंने कुछ सोच समझ कर नहीं की इस विषय में अधिक प्रमाणों की आवश्यकता नहीं। उक्त दोनों पद्यों की समालोचना ही इस विषय में ज्ञापक है। हमारा यह आग्रह नहीं है कि नैधष काव्य निर्दोष है। किन्तु जो दोष उस पर लगाये गये हैं उनका वह पात्र नहीं है। यह यदि 'तुष्यतुन्याय' से मान भी लिया जाय कि नैषध में 'अतिशयोक्ति' बहुत हैं तो यह श्रीहर्ष का दोष नहीं है। दोष है, साहित्य शास्त्र के उन कर्णधारों का जिन्होंने अतिशयोक्ति की भी अलङ्कारों में गणना स्वीकार की है। कविहृदय से काव्य को समझना चाहिये, नहीं तो काव्य में रक्खा ही क्या है? जिधर देखिए उधर "सर्वं गप्पं वर्तते !" जो हो। अपनी अपनी समझ ही तो है, वे और उनके योरोपियन पण्डित चाहे जैसा समझें, परन्तु भारतवर्ष के पण्डित नैषध को वैसा नहीं समझते, यही मङ्गल है।

सब से पहिले हमें यह देख कर युगपत् आश्चर्य और आनन्द हुआ कि सरस्वती के सभ्यताभिमानी अटकलबाज़ लेखक अपनी अकाट्य अटकल से हमारे वय का भी निर्द्धारण कर रहे हैं। आश्चर्य इस बात का है कि जो पुरुष अपने एक लेख की समालोचना में दूसरे लेख का प्रसङ्ग उठता देख कर यह कह बैठते हैं कि 'उन्होंने किताब की समालोचना करते करते हमारी भी समालोचना कर डाली' वे स्वयं भी कार्यकाल में दूसरों पर अटकल झाड़ जाते हैं और आनन्द का कारण यह है कि जब एक सुयोग्य मित्र (मित्र कहना यदि सामाजिक नियम के विरुद्ध हो तो क्षन्तव्य है) हमारे वय का अनुमान करते हैं तो अवश्य ही वह हमारे लिए मङ्गलजनक है। भवतु। वे चाहे हमें पचीस वर्ष का समझें या पाँच का, परन्तु यह स्मरण रहे कि आदरणीय ब्रह्मकुल में कोरे दाढ़ीदार से विद्वान बालक घृणित नहीं समझा जाता। क्योंकि, माननीय मनु जी का वाक्य है कि—'योऽनुचानः सनो महान्'।

लेख के दूसरे पैरा में लेखक ने इस बात का आभास दिया है कि नैषध चरित चर्चा उन्होंने समालोचनार्थ हमारे पास नहीं भेजी,

समर्पित की थी। सुतरॉं भेंट की हुई वस्तु की तादृश समालोचना करना गर्हित कर्म है। परन्तु हमारी समझ में उस पुस्तक का हमने बहुत आदर किया है। यह आदर चाहे स्वार्थ भरी दृष्टि में कम हो पर न्याय की तराजू में हलका नहीं है। यह बात भी कम कौतुकावह नहीं है कि नैषध चरित्र के समालोचक हमारी समालोचना को रामकहानी कह रहे हैं! यदि हम भी उनकी और उनके श्रीमान् मित्र की 'क्रोड़ पत्री' लेकर इस रामकहानी का भाष्य रचें तो रच सकते हैं परन्तु जिस विषय का प्रस्तुत विषय और साहित्य से सम्पर्क नहीं है उसको बीच में डाल कर समय नष्ट करना "सुदर्शन" को इष्ट नहीं है।

लेख के तृतीय अंश में हमारी समालोचना के इस अंश को वे स्वीकार करते हैं कि अटकल लगाने पर भी परस्पर विरुद्ध मतों की एकवाक्यता करने में समर्थ नहीं हुए, जो उनका प्रधान कर्तव्य था। पर साथ ही वे "अपने प्रधान कर्तव्य" को छोड़, डाक्टर बूलर आदि पाँच छः महावीरों को हमारे सामने खड़ा करते हैं, जिनके बल से हम अनभिज्ञ नहीं हैं। लेखक ने 'नैषधचरितचर्चा लिखी थी उस समय जो मसाला उनके पास प्रस्ततु न था' और जिसे वे आज पाकर प्रसन्न हो रहे हैं उसे हम बहुत पहिले पा चुके हैं। इसीलिए हमने कहा था कि 'इस श्रीहर्ष के स्थिति काल का आज तक किसी ने भी विशेष अनुसन्धान नहीं किया।' हमारे इस "विशेष" शब्द का विशेषता को लेखक अद्यापि नहीं समझे, तथापि हम इतना कह देना आवश्यक समझते हैं कि उनके प्रदर्शित महारथियों में एक भी ऐसा नहीं है जो श्रीहर्ष के स्थितिकाल विषयक एकवाक्यता करने में समर्थ हुआ हो! अथच हमको यह जान कर सन्तोष हुआ कि द्विवेदी महाशय अब अपनी अटकल के षट्राग को दूर कर "इण्डियन एण्टिक्वेरी" को टटोल कर डाक्टर बूलर ही को अपना एकमात्र पथप्रदर्शक समझने लगे हैं। इससे चाहे उन्हें और कुछ लाभ न हो, परन्तु इतना तो अवश्य है कि काशी, काश्मीर, बंगाल और मीरांसराय आदि में "इतोभ्रष्टस्ततोभ्रष्टः" होना न पड़ेगा।

लेख के चतुर्थ अंश में अपने विरुद्ध मतों की एकवाक्यता करने के स्थान में हमारे "अनुमित" और "सम्भवतः" इन दो शब्दों के सहारे हमें भी अटकलबाज़ बनाना चाहा है पर यह नहीं सोचा कि यह हमारा व्यवसाय नहीं है। हमने न तो नैषधचरित की चर्चा करने का बीड़ा उठाया है और न श्रीहर्ष के जीवनवृत्त बटोरने का तथापि उत्तर लिखने से पहिले लेखक हमारे लेख पर विचार करते तो अवश्य ही उसकी उपयोगिता समझने में समर्थ होते। मीमांसक के सामने वादी विकल्प वा शङ्का किया करता है और वह दुराग्रह छोड़ उसकी मीमाँसा में तत्पर रहता है। यदि किसी में एकवाक्यता वा मीमाँसा करने का सामर्थ नहीं है, तो उसे समझ लेना चाहिये कि उसका मीमाँसक वा समालोचक कहलाना भी उपहास्य है। सम्भव है कि हमारा विचार भ्रम से खाली न हो परन्तु जब तक उसका अच्छी तरह निर्णय न हो ले तब तक क्या कहा जा सकता है? श्रीहर्ष दशवीं वा ग्यारहवीं ही शताब्दी में हुए, यह हमारा आग्रह नहीं है, हमने यह दिखलाया है कि उनका बारहवीं शताब्दी के पूर्व होना भी कई कारण से पाया जाता है। मम्मटभट्ट काश्मीरी थे और श्रीहर्ष गौड़ थे और इन दोनों में सम्बन्ध नहीं हो सकता—अभी तक यह बात भी मीमाँस्य है।

लेखक अपने प्रस्ताव के पाँचवें अंश में डाक्टर बूलर के कथन को प्रमाण मान श्रीहर्ष को बारहवीं शताब्दी में ठहराते हैं। अब देखना चाहिये कि डाक्टर बूलर के पास क्या प्रमाण है? एक मात्र प्रबन्ध-कोष। किन्तु तद्विरुद्ध प्रमाणों का बिना समाधान हुए केवल प्रबन्ध-कोष पर कैसे निर्भर रह सकते हैं? वे कहते हैं कि डाक्टर हाल, मिस्टर ग्राउस और काशीनाथ त्र्यम्बक तैलङ्ग ने, इस मत में कुछ आपत्तियाँ उठाई थीं, परन्तु डाक्टर बूलर ने उनका सयुक्तिक खण्डन करके अपना सिद्धान्त स्थिर रक्खा है।" किन्तु जब तक विद्यारण्य के "शङ्कर विजयस्पर" और पृथ्वीराज रायसे की अलीकता आदि विषय निःसन्दिग्ध नहीं होते, तब तक हम उनको प्रमाण कोटि से

वहिष्कृत न करेंगे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इनके द्वारा महाकवि वादीन्द्र श्रीहर्ष का स्थिति-काल बारहीं शताब्दी से बहुत पूर्व पाया जाता है। अब रही प्रबन्धकोष की बात—सो उसके साथ प्रकृत इतिहास का विरोध होने से वह ग्राह्य नहीं हो सकता। जिस प्रकार दानपत्रों के अनुसार प्रबन्धकोष के विरुद्ध एक पीढ़ी बढ़ा ली गई है उसी प्रकार उसकी अन्यान्य बातें भी त्याज्य हो सकती हैं, श्रीहर्ष के विषय में जो कुछ राजशेखर ने लिखा है उसको क्या लेखक अक्षरशः प्रमाण मानते हैं ? यदि मानते हैं, तो "वादीन्द्र और भारतीसिद्ध" की दिव्य भारती को निन्द्य ठहराना अपने पैर पर कुल्हाड़ा मारना एवं अपने आधार को अपने आप नष्ट करना है।

गौराङ्गभक्त पण्डित महावीरप्रसाद के आक्षेप का समाधान करने की अपेक्षा यह उत्तम जान पड़ता है कि हम डाक्टर बूलर आदि योरोपियन पण्डितों की भ्रान्ति दिखाते चले जायँ, जिनके ये नितान्त ही अनुचर हो रहे हैं और जिनका बल ही इनकी महावीरता का मूल है। आप विलायती पण्डितों को "आदरणीय" समझते हैं, 'महा-विद्वान्' मानते हैं, उन्हें धन्यवाद का पात्र ठहराते हैं और उनका बारंबार गुणगान करते हैं, इस वात का हमें खेद नहीं, खेद और आश्चर्य इस वात का है कि आप उनके 'मुक़ाबिले' में अपने भारतीय पण्डितों की निन्दा कर रहे हैं, जो एक ब्राह्मण सन्तान के लिए कथमपि उचित नहीं है।

आप लिखते हैं कि 'इन विलायती पण्डितों ने कुछ लिखा तो सही, हम इनका इसीलिए धन्यवाद देते हैं। हमारे तत्वदर्शी पण्डितों ने तो नैषध भी पढ़ डाला, खण्डनखण्डखाद्य भी देख डाला परन्तु श्रीहर्ष के विषय में एक पंक्ति तक लिखने का उनको अवकाश न मिला।'

भला सोचना चाहिये जिन विलायती पण्डितों का राज्य है, जिन्हें सब प्रकार की सहायता सुलभ है और जिनकी सब पुस्तकालयों में अप्रतिहत गति है, उन्होंने 'कुछ लिखा' तो क्या लिखा ? धन्य

कहना चाहिये हमारे 'तत्वदर्शी' पण्डितों को जो परपददलित अवज्ञात और सब तरह निःसहाय होते भी श्रीहर्ष के सर्वस्व की रक्षा कर रहे हैं। श्रीहर्ष के विषय में एक पंक्ति तक न लिखने का जिन पण्डितों पर आप कलङ्क लगा रहे हैं, यह उन्हीं पण्डितों का काम है जो नैषध की कितनी ही टोका बना डालीं और घर घर में उसका आदर किया। भारतीय पण्डितों को यदि एक पंक्ति तक लिखने का अवसर न मिलता तो आपको प्रबन्धकोष की कथा कहने का अवसर कहाँ से मिलता? खूब स्मरण रक्खें, इनके विना न कुछ डाक्टर बूलर को सूझता और न कुछ आपके पल्ले पड़ता! यदि दुर्भाग्यवश कहीं आपके डाक्टर रोयर और आपकी चर्चा का मत इस देश में ग्राह्य होता तो श्रीहर्ष का महाकाव्य महाकठिन और महा अश्लील समझा जाकर कहाँ पहुँचाया जाता—यह दैव ही जाने? यहाँ हमें स्पष्ट कह देना चाहिये कि श्रीहर्ष के विषय में इस देश के तत्वदर्शी पण्डितों ने तो बहुत कुछ लिखा है परन्तु उनके दुर्भाग्य से अभी तक श्रीमान् को एक पंक्ति तक देखने का अवकाश नहीं मिला। प्रबन्धकोष का आल्हा गाने से पूर्व आपको विचार लेना चाहिये था कि वह डाक्टर बूलर की विलायती सम्पत्ति है कि नहीं?

लेख के पाँचवें और छठवें अंश में प्रबन्धकोष की कहानी कहने के पीछे साँतवें अंश में आप आयुष्मान् राधाकृष्ण मिश्र के 'श्रीहर्ष और रत्नावली' नामक निबन्ध के निरीक्षण में प्रवृत्त हुए हैं। पाठकों को विदित होगा कि मिश्र राधाकृष्ण के मत में—

(१) हर्षवर्द्धन ही ने रत्नावली आदिक नाटक लिखे हैं,

(२) हर्ष ने बौद्ध धर्म नहीं ग्रहण किया,

(३) रत्नावली की भाषा बाण की भाषा से नहीं मिलती,

(४) डाक्टर हाल आदि ने रत्नावली को धावक अथवा बाणकृत मान कर अन्याय किया है, इत्यादि है।

पण्डित महावीरप्रसाद का मत इसके प्रतिकूल है। नम्बर (१) के उत्तर में बाबू रमेशचन्द्र दत्त के कथन से आप अपने मत की पुष्टि

कर रहे हैं। योरोपियन लोगों के अनुगामी दत्त महाशय ने रत्नावली और हर्ष चरित का एक ही कर्ता ठहराया, इसमें आश्चर्य ही क्या है? हम ख़ूब जानते हैं कि इनका मत भारतवर्षीय प्राचीन इतिहास भी उसी विलायती मसाले की पुड़िया है जिसको हम दुराग्रह और भ्रान्ति पूर्ण मान रहे हैं। बाबू रमेशचन्द्र दत्त के मत को हम सादर स्वीकार करते, यदि वह प्रमाणविशिष्ट भी होता। द्विवेदीजी को अधिकार है कि वे एक अंग्रेजी निपुण के प्रमाणशून्य कथन को भी वेदवाक्य समझें, परन्तु हम ऐसा समझने में असमर्थ हैं।

नम्बर (२) के प्रतिकूल श्रीहर्ष को बौद्ध ठहराने में उन्होंने चीनी यात्री हुएनसांग की यात्रापुस्तक का प्रमाण दिया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि 'हर्षबर्द्धन, बौद्धों को दूर दूर से बुला कर प्रति पाँचवें वर्ष भारतधर्म महामण्डल से भी बढ़ कर एक प्रकाण्ड उत्सव करता था। इस उत्सव में 'बुद्ध' की मूर्ति को वह स्वयं अपने कन्धे पर ले चलता था। सो अवलोकितेश्वर नामक बोधिसत्व को प्रत्यक्ष करके उन्हींकी आज्ञा से श्रीहर्ष ने पिता और भ्राता के मरने पर राज्य का भार भी ग्रहण किया था।'

सच है, हुएनसाँग ने कन्नौजराज हर्षवर्द्धन शिलादित्य को अपने प्रवासवृत्त में बौद्ध लिखा है, किन्तु अनेक ताम्रपत्रों से यह विदित होता है कि श्रीहर्ष 'परम माहेश्वर' (शैव) थे। हुएनसाँग ने अपने मत की बड़ाई के लिये उनको उसी प्रकार 'बौद्ध' लिख दिया है जिस प्रकार श्रीमदेकलिङ्गेश्वर के भक्त स्वर्गवासी उदयपुराधीश महाराणा सज्जनसिंह जी को कई आर्य समाजियों ने आर्यसमाजी लिख मारा था। बौद्धमूर्त्ति का सत्कार करने से श्रीहर्ष बौद्ध नहीं हो सकते, सत्कार करना कुछ और बात है और धर्म ग्रहण करना कुछ और। हैदराबाद के निज़ाम ने कई हिन्दू देवमन्दिरों को लाखों की सम्पत्ति समर्पण कर रक्खी है और देवयात्रा के समय कई बार देवमूर्तियों का सत्कार भी किया है, तो इससे वे हिन्दू थोड़े ही कहे जा सकते हैं। महाराज ग्वालियर की 'ताजियादारी' का वर्णन पढ़ कर वा देख कर उनको

स्वधर्मच्युत समझ लेना बड़ी भूल है। प्रजा की प्रसन्नता के लिये सर्वप्रिय राजा का यह मुख्य कर्तव्य है कि वह सब धर्मों का सर्वदा आदर किया करे। सुतराँ, श्रीहर्ष का बुद्धदेव के प्रति सम्मान दिखाना किसी प्रकार अनुचित नहीं है। विशेषतः हिन्दुओं के बुद्ध भगवान् भी एक अवतार हैं। उनकी पूजा अर्चा सर्वथा विधेय है। "बुद्धगया" के अभियोग में भी यही बात सिद्ध हुई है। इस विषय के जिज्ञासु को चिरञ्जीव राधाकृष्ण मिश्र का निबन्ध देखना चाहिए।

नम्बर (३) के विरुद्ध पण्डित महावीरप्रसाद जी ने जो कुछ लिखा है उसमें नवीनता होने पर भी कुछ सार नहीं है। मिश्र राधाकृष्ण का कहना है कि "कवि राजा के नाम से ग्रन्थ बना सकता है सही, पर मूर्ख राजा ग्रन्थ का कवि नहीं बनता। यदि ऐसा होता तो श्रीहर्ष का 'निपुण कवि' के नाम से साभिमान प्रसिद्ध होना लज्जाजनक और मरण से भी बढ़ कर होता।" यहाँ पर द्विवेदी जी को उचित था कि वे 'निपुण' शब्द के स्वारस्य पर ध्यान देते। यदि किसी निरक्षर को 'शास्त्री' कहा जाय और दुराचारी को "भक्तजी" के नाम से पुकारा जाय, तो क्या वह उनकी बड़ाई समझी जायगी? जिस पुरुष ने ग्रन्थरचना तो न की हो और उसे बलात् 'निपुण कवि' बनाया जाय, कहिये विपरीत लक्षणा से उसका क्या अर्थ होगा? क्या बुद्धिमान् के लिए उससे कड़वा और भी कोई शब्द है? विशेषतः श्रीहर्ष जैसे पुण्यश्लोक महाराज के सम्बन्ध में ऐसी कूट कल्पना करना और भी आश्चर्य है!

इससे भी बढ़ कर आश्चर्य यह है कि जिस माल पर श्रीहर्ष की मुहर लग रही है उस पर दूसरे लोग अधिकार कर रहे हैं और नये अधिकार करने वाले से तो कोई यह भी नहीं पूछता कि उसका उस पर स्वत्व क्या है? किन्तु जिसके पास प्रत्यक्ष प्रमाण उपस्थित है उसे अपनी विचित्र कल्पना से कल्पित समझ रहे हैं। इसीको हम दुराग्रह और सत्य का अपलाप करना समझते हैं! और अवश्य यह हमारी समझ में भी अन्याय है। यह सत्य है कि "औरों से ग्रन्थ बनवा कर अपने

नाम से प्रसिद्ध करना राजों के लिए कोई आश्चर्य नहीं। इस प्रकार की घटना सम्भव है परन्तु इतने बड़े संस्कृत साहित्य के इतिहास में इस तरह के कितने प्रमाण मिल सकते हैं ? बहुदर्शी द्विवेदी जी कहते कि 'कोई कोई योरोपियन पुरातत्ववेत्ता' 'सरस्वतीकण्ठाभरण' को भी भोज की सभा के पण्डितों का बनाया हुआ कहते हैं।"पर हम पूछते हैं कि इसमें 'गौराङ्ग उवाच' के सिवा और क्या प्रमाण है ? जो हेतु स्वयं असिद्ध है, उससे साध्य की सिद्धी नहीं होती, तथापि हमारे नवीन तार्किक महोदय सुनी सुनाई सन्दिग्ध बातों से सन्देह निवृत्त करने की चेष्टा करते हैं। हिन्दू नरेश और संस्कृत के इतिहास में जब कुछ हाथ न लगा तब कहते हैं कि 'सतसई की पठान सुलतान वाली टीका चन्द्रकवि ने सुलतान के नाम पर बनाई है।' वाहजी ! प्रामाणिक जी वाह ! "आया अन्त बरात का बाजन लागी बम्ब।"

द्विवेदी जी के मत में 'एक बात' और विचारणीय है। वह यह कि, हर्षचरित में हर्ष का पूरा चरित नहीं है। थोड़ा ही है, वह ग्रन्थ ही अपूर्ण है। इसलिए ग्रन्थ की समाप्ति हुए बिना श्रीहर्ष का बाण को तन्निमित्त धन देना असङ्गत जान पड़ता है। ऐसे ही ऐसे कई कारणों से अनेक विद्वानों ने बाण ही को रत्नावली का कर्ता माना है।" द्विवेदी जी का वह विचार समयोचित है सही, किन्तु जिस देश में एक एक श्लोक के बदले कवियों को लाखों रुपैये मिले हैं, वहाँ ऐसी शङ्का शोभा नहीं देती। उदार पुरुष रचना का एक ही अंश देख कर इतना दे सकता है कि उतना दूसरों से बड़े पुस्तकों के पूर्ण होने पर भी न दिया जाय। पर यह बात आजकल के साहित्य व्यवसायियों की समझ में आना कठिन है, जिनको प्रति फर्मे एक मुद्रा भी हाथ नहीं लगती। और एक बात है। हर्षचरित वस्तुतः अपूर्ण है कि उसका अवशिष्ट अंश अनुपलब्ध है—यह कौन कह सकता है ? हम जहाँ तक सोचते हैं तो यहीं ठीक जान पड़ता है कि हर्षचरित का परिशिष्ट लुप्त हो गया। क्योंकि बाणभट्ट का अन्तिम ग्रन्थ कादम्बरी है, जिसे बाणभट्ट अधूरी छोड़ गया था और जो पीछे 'बाणतनय' द्वारा पूर्णता

को पहुँची। यदि हर्षचरित भी बाणभट्ट द्वारा अपूर्ण रहा होता तो यह कदापि सम्भव न था कि सुयोग्य पितृभक्त पुत्र उसे पूर्ण न करता। सुतराँ 'श्रीहर्ष का बाण को तन्निमित्त धन देना असङ्गत, किस प्रकार हो सकता है? ऐसे ही ऐसे अविचारित रमणीय कारणों से जब बाण ही को रत्नावली का कर्ता माना है, तभी तो मिश्र राधाकृष्ण कहते हैं कि यह अनर्थ है।

अब रही यह बात कि द्विवेदी जी 'पार्वतीपरिणय' नामक नाटक के साथ रत्नावली की 'साम्यता' देखते हैं, पर दुर्भाग्यवश हमें तो वह भी दिखलाई नहीं देती। आ० राधाकृष्ण की वे आप जानें। "एषा परिषत्" की समता कुछ समता नहीं है और भरतवाक्य का साम्य भी उल्लेख योग्य नहीं है। यदि प्रत्येक नाटक के भरतवाक्य को इस प्रकार मिलाया जाय तो सम्भव है कि थोड़ा बहुत परस्पर में सब का साम्य मिलेगा। पण्डित महावीरप्रसाद जी को चाहिये कि अपनी शुष्क कल्पना के आधार पर पार्वतीपरिणय के साथ रत्नावली का ग्रन्थिबन्धन करने से पहिले इस विषय में अपने पूर्वपरिचित बाबू रामदास सेन का भी मत सुन लें। उक्त बाबू साहब 'पार्वतीपरिणय' को प्रसिद्ध कादम्बरीकार बाणभट्ट कृत नहीं मानते।

द्विवेदी जी के विचार में "डाक्टर हाल इत्यादि ने जो कुछ लिखा है, युक्तिपूर्वक लिखा है, और अपने सिद्धान्त के पक्ष में अपनी समझ के अनुसार प्रमाण भी दिए हैं।" ठीक है, ऐसा ही होगा। पर जब तक आप उन प्रमाणों को प्रकाश करके न दिखावेंगे, तब तक हम इसे दुराग्रह ही समझेंगे। पुरातत्व के अनुसन्धान में 'जो सिद्धान्त सुसङ्गत होता है, वह दुराग्रह छोड़ कर स्वीकार कर लिया जाता है' इस बात को आप भी स्वीकार करते हैं और हम भी इससे मुँह नहीं मोड़ते। विलायती साहेबों के किसी किसी अंश में भारतवासी ऋणी हैं सही, पर उस ऋण के कारण उनके भ्रान्त मत को भी स्वीकार किया जाय—यह नहीं हो सकता! वरञ्च जिनका हम पर ऋण है, उनकी भ्रान्ति सब से पहिले दूर करना चाहिये। आप कहते रहें कि 'यह

बूलर और हाल ही की कृपा का फल है, जो धावक के स्थान में बाण का होना प्रमाणित हुआ' पर हम तो यही कहेंगे यह फल फल कहलाने योग्य नहीं है। विलायती पण्डितों की हाँ मे हाँ मिलाने वालों की न्यूनता नहीं है, न्यूनता है उनके परीक्षकों की। बाबू त्रैलोक्यनाथ एम० ए०, बी०एल० ने अपनी बङ्गला पुस्तक में विलायती पण्डितों का गुणगान किया और लाहौर के महामहोपाध्याय पं० शिवदत्तजी ने भी आफ्रेक्ट साहेब के 'वर्णन' करने में केवल महेश्वर ही को समर्थ बतलाया— इसमें आश्चर्य की कौन बात है? आजकल कालिज और दफ़्तरों में बड़े बड़े पण्डित अंग्रेजों के सामने 'देहि पद पल्लवमुदारं' का पाठ कर रहे हैं, फिर पण्डित शिवदत्त जी आदि भी वैसा करने लगें तो आश्चर्य किस बात का? ये लोग अवश्यमेव आपके श्रद्धाभाजन हैं तो इस पुण्य के प्रताप से आप भी एक दिन न एक दिन अवश्यमेव महामहोपाध्याय की पदवी प्राप्त करेंगे।

नंबर (८) और (९) के उत्तर में हमारा यही वक्तव्य है कि "अपनी समझ के अनुसार, प्राचीनों के यथार्थ दोषों की आलोचना करना" पातक नहीं है। पातक है उन पर झूठा दोष आरोप करना और दुराग्रह तथा रागद्वेष से लेखनी सञ्चालन करना। इस बात को हम पहले भी कह चुके और अब फिर कहते हैं कि खण्डन मण्डन का मार्ग सदैव से उन्मुक्त है एवं ऐसे लोगों का भी नितान्त अभाव नहीं है, जिन्होंने प्राचीन पूर्वजों पर वाक्यवाण वर्षण करने ही में अपनी पटुता समझी है। पर उनका वह कृत्य क्या अनुकरण योग्य है? हिन्दुओं के विस्तृत इतिहास में, अनेक राम भी हैं और कंस भी हैं, कंस की संख्या वृद्धि करना जिस प्रकार आपको इष्ट न होगा, उसी प्रकार हमको भी पूर्वजों पर दोषारोप करना इष्ट नहीं है। आप चाहे श्रीहर्ष को लालबुझक्कड़ को मात करने वाला वा डबल लालबुझक्कड़ कह कर भी न पछतायें; किन्तु गद्यकाव्य मीमांसा में विश्वनाथ पर व्यक्तिगत आक्रमण कर पण्डित अम्बिकादत्त जी ने दुःख प्रकाश किया था। और "शिवराजविजय" की भूमिका में उसके संशोधन की भी

प्रतिज्ञा की थी। हमारे दुर्भाग्य से और देश के दुर्भाग्य से वह सत्पुरुष आज हमसे अलग हो गया, यदि कुछ दिन और बने रहते तो आप देखते कि वे हठी नहीं हैं। अब इस विषय में लिखना लिखाना निष्प्रयोजन है। न श्रीहर्ष से आपकी शत्रुता थी और न विश्वनाथ से व्यास जी की, शत्रुता तो हमारी ही सब के साथ है! पण्डित श्रीधर-पाठक के साथ हमारी शत्रुता का प्रमाण भी तो कितना बड़ा मिला है कि पण्डित बाबू श्रीयुत श्रीधरपाठक जी का नाम लिखने में सामाजिक नियम को भङ्ग करके अदरार्थक शब्द का प्रयोग न किया और आपके प्रतिकूल छः छः कालम के लेख लिखे! बलिहारी, इस समझ की!

नंबर (१०) में सरस्वती के गुणग्राही लेखक पण्डित बाबू श्रीमान् महावीरप्रसाद जी ने "सुदर्शन की की हुई समालोचना का सब से अच्छा अंश यह" समझा है—

"प्रोफेसर वेबर जैसे अशास्त्रज्ञ, अहङ्कारी और झूठे लेखक को संस्कृत का परम विद्वान् मानकर उनकी समालोचना को समुचित कहा है! वेबर के बताए हुए दोषों का भण्डार इस महाकाव्य को ठहराया है।' इसका उत्तर आप इस प्रकार लिखते हैं—

"हमने सुना है कि सुदर्शन के सम्पादक अंगरेजी से अनभिज्ञ हैं। यदि यह बात सत्य है तो, हम नहीं जानते, वेबर साहब के अशास्त्रज्ञ, अहङ्कारी और झूठे होने का प्रमाण उनको कैसे मिला! जहाँ तक हम जानते हैं फ्रोफेसर वेबर की पुस्तकों का संस्कृत, हिन्दी, बङ्गला आदि इस देश की भाषाओं में अभी तक अनुवाद नहीं हुआ। फ्रोफेसर साहेब को किताब से नैषधचरितचर्चा में अनुवाद सहित हमने एक अवतरण दिया है, उसीसे सम्पादक जी ने शायद उनके झूठे होने का सिद्धान्त निकाला हो, अथवा उनके ग्रन्थों का मर्म किसी से सुना हो। किसी को झूठा कहना उसका अपमान करना है। हितवादी के सम्पादक बाबू कालीप्रसन्न काव्यविशारद बाबू रासबिहारी को झूठा कहने ही के लिए आजकल मानहानि के अभियोग में फंसे हैं।"

लेखक महाशय ने जो कुछ सुना है और जाना है, वह तो सब ठीक ही होगा, पर हमारा यह निवेदन है कि हम अंग्रेजी के 'पण्डित बाबू' न होने पर भी, प्रस्तुत विषय से अनभिज्ञ नहीं हैं। वेबर साहेब के विषय में जो कुछ हमारी धारणा है, उसके हमारे पास प्रमाण भी प्रस्तुत हैं।

अब रही आपके जानने की बात, सो जहाँ तक आप जानते हैं वहाँ तक तो सब सफाई है! आप जहाँ तक जानते हैं महाकवि श्रीहर्ष के काव्य में 'सर्वत्र गाँठें ही गाँठें हैं' और पण्डित श्रीधर जी की कविता 'सर्वतो भाव से प्रशंसित' है। आप जहाँ तक जानते हैं। आप संस्कृत, हिन्दी, बङ्गला, आदि इस देश की सब भाषा जानते हैं और हम "वेबर साहब" की करतूत से भी अनभिज्ञ हैं। आप जहाँ तक जानते हैं, श्रीहर्ष "लालबुझक्कड़ को भी मात करता है" और वेबर साहब याज्ञ-वल्क्य के समान ठहरता है। आप जहाँ तक जानते हैं, हमारे तत्वदर्शी पण्डितों ने कुछ न लिखा और अंग्रेजों ने इतना लिखा कि भारतवासी उनके ऋणी हैं। आप जहाँ तक जानते हैं, नैषध की प्रशंसा तो सब पक्षपाती पण्डितों ने की है और निन्दा दुराग्रहरहित पुरुषों ने की है। आप जहाँ तक जानते हैं डाक्टर बूलर, हाल आदि साहबों ने जो कुछ लिखा है युक्तिपूर्वक लिखा है और मिश्र राधाकृष्ण ने युक्ति-शून्य! आप जहाँ तक जानते हैं, प्रोफेसर वेबर की पुस्तकों का अभी तक अनुवाद नहीं हुआ और वेबर साहब का ज्ञान हमें नैषधचरित चर्चा से हुआ है। किम्वा किसी से सुना है। कहिये, आपके जानने की कहाँ तक प्रशंसा करें, उसकी महिमा अनन्त है! 'बिरला बूझनहार'।

अजी सुनिये साहब! आपने तो इस देश की सब भाषाओं की पुस्तकें देख डालीं, तथापि वेबर की पुस्तक का अनुवाद आपको नहीं मिला, पर 'हम जहाँ तक जानते हैं' उनकी पुस्तक का हिन्दी में अनुवाद भी प्रकाश हुआ है और मिलता भी है, और इस पर भी निश्चय न हो तो आपके पास भेज दिया जाय! दूसरा शुभ समाचार आपको

यह सुनाते हैं कि बाबू रासबिहारी को झूठा कहने के अपराध में 'हितवार्त्ता' के सम्पादक पर २००) रु० अर्थदण्ड भी हो गया है।। निस्सन्देह 'किसी को झूठा कहना उसका अपमान करना है' और हमने प्रोफेसर वेबर को अशास्त्रज्ञ, अहङ्कारी और झूठा कहा है? इसके लिए वे चाहें तो हमें भी दण्ड दिला सकते हैं।

हमारे जैसे असहाय ब्राह्मण को कुचल देना उनके लिए कोई बड़ी बात नहीं! हम पराधीन, वे स्वाधीन, हम दरिद्र, वे श्रीमान् और हम निःसहाय, वे सहायसम्पन्न हैं! इस विषय में हमारी उनकी क्या बराबरी है? हमारा जन्म पतित भारतवर्ष में हुआ और उनका उन्नत जर्मन देश में! काम पड़ने पर हम ब्राह्मणों की कोई जमानत लेने वाला भी नहीं जुटता और एक योरोपीय गौराङ्ग की प्रसन्नता के लिये अनेक द्विवेदी, त्रिवेदी प्राणविसर्जन कर सकते हैं। इसलिए हम अपने महाकवियों की निन्दा, अपने पूर्वजों की निन्दा और अपने वेद शास्त्र की निन्दा निर्जीव के समान सुन रहे हैं, चूं तक नहीं करते! यद्यपि हम जानते हैं कि—

"न केवलं योमहतोऽपभाषते, शृणोति तस्मादपि यः स पाप भाक्।"

अर्थात् महापुरुष की जो निन्दा करता है वही केवल पाप का भागी नहीं होता, उससे सुनने वाला भी होता है। तो भी हम और हमारे हिन्दू भाई यह जान कर चुप हैं कि, जब तक हम निन्दा सुनते हैं, तभी तक हमारी कुशल है। जरा भी हमने जीभ हलाई कि बाबू साहेबों ने अदालत दिखाई। यही बात है कि हिन्दुओं की निन्दा सुनने की आदत पड़ गई और दूसरों को करने की। देखा देखी कुछ इस देश के सपूत भी पूर्वजों की खबर लेने लगे। ऐसे समय में हमारे मित्र ब्रह्मकुलभूषण पण्डित महावीरप्रसाद जी ने हमको न्यायालय का स्मरण करा दिया, अच्छा ही किया। पर यदि हमारा हिन्दूसमाज आज सजीव और हम ब्राह्मण सनाथ होते, तो आपके 'श्रद्धा भाजन' प्रोफेसर वेबर साहेब को हम न्यायालय का तो नहीं पर धर्म्ममार्ग का

स्मरण कराते और कहते कि 'किसी को झूठा कहना उसका अपमान करना है।'

आप पूछते हैं कि 'वेबर साहब पर झूठ बोलने का आरोप किस प्रकार आ सकता है ?'' इसका सीधा उत्तर यही है कि जिस वेबर ने भारतवर्ष के प्राणस्वरूप राम लक्ष्मण को झूठा, हिन्दुओं के परमाराध्य कृष्ण बलराम को झूठा, महावीर पाँचों पाण्डवों को झूठा कहा है, वह कदापि सच्चा नहीं है। जिस वेबर साहब ने रामायण और महाभारत को बनावटी ठहराया है और रामायण से महाभारत को प्राचीन बतलाया है, वह हम हिन्दुओं की समझ में शास्त्रज्ञ नहीं हो सकता। जो वेबर हिन्दुओं के वेद वेदाङ्गों पर मनघढ़ंत अनेक दोष लगा कर भारतवर्ष के गौरव को धूल में मिलाने की चेष्टा कर रहा है अवश्य वह हमारे नज़दीक अहङ्कारी और दुराग्रही है। पण्डित महावीर प्रसाद की समझ में 'प्रोफेसर वेबर की बातें, चाहे 'प्रशंसा की बात' हो, हमारी दृष्टि में, नहीं नहीं सम्पूर्ण हिन्दू समाज की दृष्टि में तो वे सर्वथा निन्दा की बातें हैं।

द्विवेदी जी की समझ में प्रोफ़ेसर वेबर 'सर्वथा आदरणीय, श्रद्धाभाजन और परम विद्वान् हैं' इसीलिए वे लिखते हैं,—"इन वेबर साहब की भाण्डारकर याज्ञवल्क्य से तुलना करते हैं। स्मरण रहै, इन्हीं प्रोफ़ेसर वेबर को सुदर्शन ने अशास्त्रज्ञ अहङ्कारी और झूठे को उपाधि दी है !"

भाण्डारकर साहेब को, जिनकी कृपा से घर बैठे 'डाक्टर' की उपाधि मिली है उनको यदि 'ऋषि' की पदवी प्रदान करें तो क्या अनुचित है ? परस्पर का सद्व्यवहार है। पर आप उसको प्रमाण कोटि में ले जाकर जो घोर वेबरभक्ति का परिचय दे रहे हैं इसका हमको बड़ा अचरज हो रहा है। आप निष्काम भक्त हैं कि सकाम ? यह आप ही जानें। पर हमारा निवेदन यही है कि वेबर साहब की शुष्क भक्ति दिखलाने की अपेक्षा आपको चाहिये कि 'सुदर्शन' में जो 'वेबर का भ्रम' प्रकाशित हो, उसका समुचित समाधान करें।

नैषधकाव्य को जटिल, नीरस, दुर्बोध और अश्लील ठहराने में पण्डित महावीरप्रसाद जी ने डाक्टर रोयर आदि के जो प्रमाण दिए हैं, उन पर यथासमय विस्तृत रूप से लिखेंगे, तथापि यहाँ इतना निवेदन कर देना आवश्यक है कि प्रत्येक वस्तु का गुणदोष अधिकारी की विद्या बुद्धि पर निर्भर है। जो कुछ उनकी समझ में आया उन्होंने समझा और हमारी समझ में आया हमने कहा। 'सद्हृदय-संवेद' विषय में केवल वादानुवाद से निर्णय होना कठिन है। हमारे पाठकों में जो सहृदय होंगे, वे आप ही प्रकृत विषय की मीमांसा कर लेंगे कि ठीक क्या है।

पण्डित महावीरप्रसाद जी भी दुराग्रह को अच्छा नहीं समझते हैं, यह हम पहिले ही कह चुके हैं। फिर, क्या कारण है कि हमारे और उनके मत में इतना प्रभेद है? यह कि उनके नेत्रों पर 'विलायती चश्मा' चढ़ा हुआ है और दुर्भाग्यवश यहाँ उसका अभाव है! यदि वे इस चश्मे को अलग कर अपने नेत्रों से यहाँ की वस्तुओं को देखते, तो कदापि सम्भव न था कि जिस काव्य को यहाँ वाले उत्तम काव्य समझते हैं, उसमें वे 'सर्वत्र गाँठें ही गाँठें' पाते। जिसमें राजर्षि नल का चरित है वह अश्लील दृष्टिगोचर होता और जो इतना सरल है कि जिसको "पाण्डित्य का घमंड रखने वाले" भी भली भाँति समझ सकते हैं, उसमें इनके हाथ दुर्बोधता लगती। इस चश्मे के प्रभाव से उनकी इतनी दिव्य और पवित्र दृष्टि हो गई है कि रामायण, महाभारत पर पानी फेरने वाला, अपौरुष वेद पर कलङ्क लगाने वाला, सीताराम तक को झूठा कहने वाला, आज 'श्रद्धाभाजन महर्षि याज्ञवल्क्य के समान सर्वथा आदरणीय' दिखलाई देता है और यह कहते तनिक भी लज्जा नहीं आती कि 'स्मरण रहे, इन्हीं प्रोफेसर वेबर को सुदर्शन' ने अशास्त्रज्ञ, अहङ्कारी और झूठे की उपाधि दी है!"

इस पर भी वे "अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकाश कर" सुदर्शन को धन्यवाद दे अपनी योग्यता का पूर्ण परिचय दे रहे हैं, इसके लिए हम उन्हें विपुल धन्यवाद देते हैं। किं बहुना

"उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परा।",

सब मिट्टी हो गया

"चाचा ! चाचा ! सब मिट्टी हो गया ! जो खिलौना आप दिल्ली से लाए थे, उसे श्रीधर ने तोड़ फोड़ कर मिट्टी कर दिया !"

एक दिन मैं अपने घर में अकेला बैठा दिल्ली के भारतधर्म महा-मण्डल का "मन्तव्य"-पत्र पढ़ रहा था। मेरा ध्यान उसमें ऐसा लग रहा था, कि मानों कोई उपासक अपने उपास्य का साक्षात्कार कर रहा है। इसका कारण यह था कि मेरी इस सभा पर बहुत दिनों से विशेष भक्तिभावना हो रही थी। क्योंकि यह महासभा, मारवाड़ी बाबुओं के बगीचे की सभा न थी, जिसमें नाच कूद के शौकीन, लड्डू कचौरी के यार केवल भोजन-भट्ट मित्रों का स्वागत समागम ही बड़ी वस्तु समझी जाती है और न यह, 'थियेटर' के राजा इन्द्र का अखाड़ा था, जिसका उद्देश्य यह होता है, कि थोड़ी देर के लिए नयनाभिराम मनोहर दृश्य दिखा कर अर्थोपार्ज्जन वा कौतुकप्रिय अमीरों को खुश किया जाय !

यह सभा, सनातनधर्म की सभा थी। जननी जन्मभूमि की सुसन्तान की महासभा थी। यह वह सभा थी जिसके अग्रगन्ता एक दिन धन को धर्म पर वार चुके थे। प्रतिष्ठा को कर्तव्य के हाथ बेच चुके थे। इन्द्रियासक्ति को स्वयं ही दवा चुके थे। इनकी शत्रुता मित्रता धर्म पर स्थित थी, व्यवहार पर नहीं। इन्द्रियलोलुप बड़े आदमियों पर इनकी घृणा थी और धर्मात्मा दरिद्र भी इन्हें प्यारे थे।

यह सभा, वही विख्यात सभा थी जो बारह वर्षों से भारतवर्ष में सनातनधर्म और संस्कृत विद्या के प्रचार करने का बीड़ा उठाए फिरती है। इसलिए इस महासभा से पुराने वृद्ध पण्डित और धर्मात्माजन आशा करते थे, कि यह देश के अनाचार दुराचारादि की निवृत्ति करेगी

और सदाचार की प्रवृत्ति। इससे धर्म की जय होगी और साथ ही धर्मप्रतारक लम्पटों को भय होगा। बालक सुशिक्षित बनेंगे और स्त्रियाँ निन्दित न होंगी। मूर्खों की धृष्टता बढ़ने न पावेगी और विद्वानों का तिरस्कार न होगा। पापियों की प्रतिष्ठा न होगी और धार्मिकों का उत्साह बढ़ेगा।

इस महासभा में अब की बार दर्भङ्गा और अयोध्या के महाराज बहादुर का बहुमूल्य और अव्यर्थ शुभागमन सुन कर यह नतीजा मेरे सरल अन्तःकरण ने पहिले ही से निकाल लिया था कि इस बार केवल पुराने प्रस्तावों का पिष्टपेषण वा मन्तव्यपत्र का शुष्क पाठ मात्र ही न होगा, कोई सच्ची उदारता का मूर्तिमान उदाहरण भी दृष्टिगोचर होगा। अतएव मैं मन्तव्यपत्र को पाकर उत्कण्ठित हो, मन्तव्य के मर्म पर ध्यान दे रहा था। अकस्मात् ऊपर लिखे हुए शब्द कान में पहुँचे, जिनसे एक बार ही मेरा ध्यान भङ्ग हो गया।

आँख उठा कर देखा तो सामने छः वर्ष के बालक हरदयाल को पाया। हरदयाल मेरे बड़े भाई का बड़ा लड़का है। इस समय वह अपने छोटे भाई की शिकायत कर रहा है। यह देख कर मुझे बड़ी हँसी आई कि खिलौना फूट गया है, इसलिए बालक हरदयाल ने 'सब मिट्टी हो गया' इत्यादि वाक्यावली से भूमिका बना कर अपने छोटे भाई श्रीधर के नाम अभियोग खड़ा किया है। इस समय हँस कर मैं एक बात भी कहना चाहता था, किन्तु यह सोच कर चुप रह गया, कि ऐसा करने से कहीं बालक की ढीठता को सहारा न मिले और धमकाना इसलिए उचित नहीं समझा कि मनमौजी बालकों के आनन्द में विघ्न करने से क्या मतलब। ख़ैर। दोनों प्रकार की व्यवस्था से मन हटा कर हरदयाल से कहा;— 'श्रीधर बहुत बिगड़ गया है, उसको आज पीछे कोई खिलौना न देंगे।' हरदयाल अपनी इच्छानुकूल उत्तर पाकर बहुत प्रसन्न हुआ और हँसता हुआ श्रीधर को यह संवाद सुनाने दौड़ता गया।

घर फिर निस्तब्ध होगया, किन्तु अन्तःकरण निस्तब्ध नहीं हुआ।

'सब मिट्टी हो गया है', इस बात ने मन में एक दर्द पैदा कर दिया। अच्छा, मैं बालक को हँस कर क्या कहा चाहता था, वह तो सुन लीजिये। कहा चाहता था, 'जब वस्तु मिट्टी की है, तो मिट्टी हुई किस प्रकार ?' जो हो, वह बात तो हो चुकी। अब सोचने लगा, कि जो नष्ट वा निकम्मा हो जाता है, उसीका नाम है मिट्टी होना। क्या आश्चर्य है ! मिट्टी के घर को कोई मिट्टी नहीं कहता, किन्तु घर के गिर जाने पर लोग कहते हैं कि,—'घर मिट्टी हो गया !' हमारा यह मकान, सब मिट्टी का बना हुआ है। दीवारें तो मिट्टी की हैं ही हैं, पर ईंटें भी तो केवल पकी हुई मिट्टी के सिवा और क्या है ? पर अब किसी से पूछिये कोई इसे मिट्टी नहीं कहेगा, गिर जाने पर सब कहेंगे कि 'मकान मिट्टी हो गया।'

लोग केवल घर ही के नष्ट होने पर 'मिट्टी हो गया' नहीं कहते हैं और और जगह भी इसका प्रयोग करते हैं। किसी का बड़ा भारी परिश्रम जब विफल हो जाय, तब कहेंगे कि "सब मिट्टी हो गया"। किसी का धन खोया जाय, मान मर्यादा भङ्ग हो जाय, प्रभुता और क्षमता चली जाय, तो कहेंगे,—"सब मिट्टी हो गया।" इससे जाना गया, कि नष्ट होना ही मिट्टी होना है। किन्तु मिट्टी को इतना बदनाम क्यों किया जाता है ? किसी वस्तु के नष्ट होने पर केवल मिट्टी ही तो नहीं होती। मिट्टी होती है, जल होता है, अग्नि होती है, वायु और आकाश भी होता है। फिर अकेली मिट्टी ही इस दुर्नाम को क्यों धारण करती है ? यदि किसी की जिनिस अच्छे भाव पर बिकती नहीं है, तो कहेंगे 'मिट्टी की दर पर माल जा रहा है।' वह माल चाहे राख के बराबर कितना ही निकम्मा, कितना ही बुरा क्यों न हो; निकृष्ट और अगौरव के स्थल पर तुरन्त उसकी मिट्टी के साथ तुलना होती है ! क्या सचमुच, मिट्टी इतनी ही निकृष्ट है ? और क्या केवल मिट्टी ही निकृष्ट है और हम कुछ निकृष्ट नहीं हैं ? भगवती वसुन्धरे ! तुम्हारा 'सर्वंसहा' नाम यथार्थ है !

अच्छा, मा ! यह तो कहो तुम्हारा नाम 'वसुन्धरा' किसने

रक्खा ? यह नाम तो उस समय का नाम है। मालूम होता है, यह नाम,—व्यास वाल्मीकि, पाणिनी, कात्यायन आदि सुसन्तान का दिया हुआ है ? केवल यही नाम क्यों ?—वसुन्धरा, वसुमती, वसुधा, विश्वम्भरा प्रभृति कितने ही आदर के और भी अनेक नाम हैं ! जाने वे तुम्हारे सुपुत्र कितने आदर से कितनी श्लाघा से और कितनी श्रद्धा से तुम्हें पुकारते थे। क्यों माता ऐसा धन तुम्हारे पास क्या धरा है, जिससे तुम वसुन्धरा, वसुधा के नाम से विख्यात हो ? कहो तो, ऐसा सर्वोत्तम रत्न क्या है, जिससे तुम 'वसुमती' कहला रही हो ? मा ! कुछ तो है, जिससे इस दुर्दिन के घोर अन्धकार में भी तुम्हारे मुख पर उजाला हो रहा है।

जिन सत्पुत्रों ने तुम्हारे ये नाम रक्खे हैं, वे ही तो श्रेष्ठ रत्न हैं। व्यास, वाल्मीकि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, कपिल, कणाद, जैमिनी, गौतम, इनकी अपेक्षा और कौन रत्न हैं ? मा ! भीष्म, द्रोण, बलि, दधीचि, शिवि, हरिश्चन्द्र इनके सदृश रत्न और कहाँ हैं ? अनुसूया, अरुन्धती, सीता, सावित्री, सती, दमयन्ती, इनके तुल्य रत्न और कहाँ मिल सकते हैं ? हम लोग अकृतज्ञ हैं, सब भूल गए। अब हमें उनका स्मरण ही नहीं ! मानों वे एक बार ही लोप हो गए हैं ! यदि कहीं लीन हुए होंगे, तो वे तुम्हारे ही अङ्ग में लीन हुए हैं। जननी ! ज़रा देखें तो सही, तुम्हारे किस अङ्ग में लीन हुए हैं। मा ! वह तेज, वह प्रतिभा, कहाँ समा सकती है ? मा ! आकाश के चन्द्र-सूर्य क्या मिट्टी में सो रहे हैं। मा ! एक बार तो अभागी सन्तान को उनके दर्शन कराओ !

देखें मा ! उस कुरुक्षेत्र में कितनी कठोर मृत्तिका हो गई ! भीष्मदेव का पतनक्षेत्र किन पाषाणों में परिणत हो गया। कपिल, गौतम की शेषशय्या का कितना ऊंचा आकार हो रहा है ! उज्जयनी की विजयिनी भूमि में कैसी मधुमयी धारा चल रही है। अहा ! अहा ! तुम्हारे अङ्ग में किस प्रकार पादस्पर्श करें ? मा ! तुम्हारे प्रत्येक परमाणु में जो रत्न के कण हैं, वे अमूल्य हैं, क्षयरहित हैं और अतुल हैं।

जगदम्बा सती के पादस्पर्श से जो मृत्तिका पवित्र हुई है, पति

निन्दा को सुन कर जहाँ सती का शरीर धरती में मिला है, वे क्षेत्र सभी तो वर्तमान हैं। मा ! फिर पैर कहाँ रक्खा जाय ? वृन्दावन विपिन में अभी भी तो वंशी बज रही है। मा ! किस सहृदय के किस सचेतन के कान में वह बंशी नहीं बजती ? अब तक भी यमुना का कृष्ण जल है, मा ! वियोगिनी व्रजबालाओं की कज्जलाक्त अश्रुधारा का यह माहात्म्य है ! गृहत्यागिनी प्रेमोन्मादिनी राधिका की अनन्त प्रेमधारा ही मानों यमुना के "कल कल" शब्द के व्याज से 'हा ! कृष्ण ! हा कृष्ण !' पुकार कर इस धारा को सजीव कर रही है। अभागिनी जनकतनया की दण्डकारण्य-विदारी हाहाकार-ध्वनि, यह देख, भवभूति के भवनपार्श्व-वाहिनी गोदावरी के गद् गद् नाद् में अच्छी तरह सुन पड़ती है।

और उस अभागिनी तापसकन्या शकुन्तला ने, जो कुछ दिन के लिए राजराणी हुई थी एवं अन्त में उस राजराजेश्वर पति से अपमानित, उपहसित होकर परित्यक्त दशा में पालक पिता के शिष्यों से रूखे और मर्मभेदी शब्दों से धमकाई और त्यागी जाकर, कहीं भी आश्रय न पा, कुररी की तरह विकल कण्ठ से जो तुमसे कहा था,—'भगवति वसुन्धरे ! देहि में अन्तरम्' वह आज भी कानों में गूंज रहा है। मा ! वह शब्द अब भी हृदय को व्यथित कर रहा है।

मा ! तुम्हारे रत्न कहाँ नहीं हैं, किस रेणु में तुम्हारे रत्न नहीं हैं ?

"कोटि कोटि ऋषि पुरुष तन, कोटि कोटि नृपसूर।
कोटि कोटि बुध मधुर कवि, मिले यहाँ की धूर ॥'

इसलिए तुम्हारी समस्त मृत्तिका पवित्र है। रज मस्तक पर चढ़ाने योग्य है। तुम्हारे प्रत्येक रेणु में ज्ञान, बुद्धि, मेधा, ज्योति, कान्ति, शक्ति, स्नेह-भक्ति, प्रेम-प्रीति विराज रही है ! तुम्हारे प्रत्येक रेणु में धैर्य, गाम्भीर्य, महत्व, औदार्य, तितिक्षा, शौर्य देदीप्यमान हो रहा है। तुम्हारी प्रत्येक रज में शान्ति, वैराग्य, विवेक, ब्रह्मचर्य, तपस्या और तीर्थ निवास कर रहे हैं। हम अन्धे हैं, इन सब को देख कर भी नहीं

देख सकते। गुरुदेव ने सुना दिया है, सुन कर भी नहीं सुनते। नित्य कृत्य प्रातः कृत्य स्मरण करके भी स्मरण नहीं करते। हा! मा! तुम्हारी पवित्र मृत्तिका मस्तक पर चढ़ा, एक बार भी तो मुख से नहीं कहते, कि—

'अश्वक्रान्ते रथक्रान्ते विष्णुक्रान्ते वसुन्धरे।
मृत्तिके हर मे पापं यन्मया दुष्कृतं कृतं॥"

प्रभात के समय क्या कह कर तुम्हारा वन्दन करें? शय्या त्याग कर नीचे पैर रखते हुए प्रणाम कर कहना चाहिये,—

"समुद्र मेखले देवि! पर्वतस्तन-मण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे॥"

देवि! इस समय मैं पैर से तुम्हारा अङ्गस्पर्श करूँगा। तुम्हें स्पर्श न करें, ऐसा उपाय ही क्या है? समुद्रान्त जितना विस्तृत स्थान है, सभी तो तुम्हारा अङ्ग है। इस स्थान को छोड़ कर मैं कहाँ जाऊँ? इस समुद्रान्त भूमि पर जितने प्राणी रहते हैं, सब को ही तुम्हारे शरीर पर पैर रखना होगा। सो, मा! तू इस अपराध को क्षमा कर। तुम जननी हो तुम क्षमा न करोगी तो कौन करेगा? यह विशाल पर्वत समूह तुम्हारा स्तनमण्डल है, इस पर्वत समूह से जितनी स्रोतस्विनी नदियां निकल रही हैं, से तुम्हारे ही स्तन की दुग्धधारा हैं। इन्हींसे सब प्राणी प्राणवान हैं। सो जननि! विष्णुपत्नि! सन्तान का यह अपराध क्षमा कर। हम भक्तिप्रवण चित्त से तुम्हें नमस्कार करते हैं।

हाय मा! आज वे सब रत्न जीवित नहीं हैं, इसीसे तो तुम बदनाम हो रही हो। आज तुम्हारी सन्तान मिट्टी हो रही है, इसलिए तुम्हारा भी वह वसुन्धरा नाम विलुप्त प्राय है। देवी! अब के मटियल कवियों को तो यही सूझता है, कि—

समझ के अपने तन को मिट्टी, मिट्टी जो कि रमाता है।
मिट्टी करके अपना सरबस, मिट्टी में मिल जाता है॥

इसी समय हरदयाल फिर आन पहुँचा। कहने लगा,—'चाचा!

खूब हुआ, अब उसे कुछ न मिलेगा—यह सुन कर वह रो रहा है।' मैं बोला "देख हरदयाल! मैं भी तो रो रहा हूँ।" वस्तुतः इस समय मैं भावविह्वल हो रहा था। दोनों नेत्र जल से छल छल कर रहे थे। हरदयाल ने मेरी ओर देख कर कहा "क्यों चाचा! तुम रोते क्यों हो? खिलौना फूट गया है, इसीलिए क्या? खिलौना तो ख़रीदने पर फिर भी मिल सकता है।" मैंने कहा, "हाँ, खिलौना ख़रीदने पर फिर भी मिल जायगा, इसलिए नहीं रोता। जो ख़रीदने पर फिर नहीं मिलता, उसीके लिये रोता हूँ।"

दूसरी ओर से श्रीधर के रोने की आवाज़ आई। बालक को सान्त्वना के निमित्त स्वयं मुझको उठना पड़ा। मैंने विषयान्तर में मन लगाया। इस प्रकार मेरी चिन्ता का स्रोत, अर्द्धपथ ही में आकर रुक रहा। रुक जाय, समझने वाले इसीसे एक प्रकार का सिद्धान्त निकाल सकते हैं। अर्थात् "सब मिट्टी हो गया" इस बात को लोग जिस प्रकार कहते हैं, 'मिट्टी से सब होता है' यह बात भी उसी प्रकार कही जा सकती है। कोई कञ्चन को मिट्टी करता है और कोई मिट्टी का कञ्चन बना डालता है। सब समझ की बलिहारी है! अच्छा, ज़रा बालक को समझा आऊं।



रासौ नहीं 'रासा'

आज कल अनेक महाशयों का यह विचार हो रहा है कि हिन्दी भाषा में एक ही ढंग के शब्दों का प्रयोग हुआ करे। विदेशीय शब्दों का शुद्ध उच्चारण करने के लिए नागरी प्रचारिणी सभा ने कुछ नियम भी गढ़ डाले हैं। किन्तु लिखने के समय उन नियमों का पालन बहुधा उन लोगों से भी नहीं होता जिनकी दिव्य भव्य सम्मति से वे निर्द्धारित हुए थे। एक ही आदमी अंग्रेजी भाषा के एक ही शब्द को अनेक प्रकार से लिखता है। जैसे, यूरप, योरोप और योरप। इसी प्रकार चीनी भाषा के शब्दों की भी यही दुर्दशा है। निःसन्देह यह खेद की बात है, पर यह खेद हिन्दी भाषा के लिए कुछ आवश्यक खेद नहीं है। बड़ा भारी खेद तो इस बात का है कि, अभी तक हिन्दी भाषा में हिन्दी ही के शब्द उन्हीं लोगों से शुद्ध नहीं लिखे जाते! 'पृथ्वीराज रासा' हिन्दी भाषा का आदि और अद्वितीय महाकाव्य है। नागरी प्रचारिणी सभा के उत्साही एवं श्रमशील मन्त्री बाबू श्यामसुन्दर दास प्रभृति अनेक महाशयों के यत्न से इस महाकाव्य की चर्चा का जीर्णोद्धार हो रहा है, किन्तु अभी तक इसके नाम का विचार नहीं किया गया कि यथार्थ में यह शब्द "रासौ" है कि रासा? हमारी सम्मति में यह "रासा" शब्द है, रासौ नहीं। इसका संस्कृत के रहस्य, रास वा रासक आदि शब्दों से कोई सम्पर्क नहीं है। यह हिन्दी का ठेठ शब्द है, जो कि दिल्लीमण्डल और समस्त राजपूताने में बोला जाता है। इसका मुख्य अर्थ है- झगड़ा। राजपूताने में आकारान्त शब्द को प्रायः ओकारान्त बोलते हैं, जैसे गया हुआ भया आदि को गयो, हुयो, भयो, इत्यादि। राजपूताने की चलित भाषा में रासा भी चाहे रासौ बोला जाय, किन्तु इस काव्य का नाम रासा ही लिखना चाहिये। आशा है, हिन्दी के कर्णधार हमारी इस प्रार्थना पर ध्यान देंगे।

चार्वाकदर्शन की भूमिका

छः प्रकार के नास्तिक दर्शनों में यह 'चार्वाकदर्शन' पहिला है। इस मत का प्रवर्तक वा इस दर्शन का कर्ता बृहस्पति के नाम से प्रसिद्ध है और नास्तिकशिरोमणि चार्वाक जिसके नाम से यह दर्शन विख्यात है, इसीका मुख्य शिष्य था। अनायास साध्य होने के कारण लोक में आयत (विस्तीर्ण) होने से इस मत का दूसरा नाम 'लोकायत' पड़ा और इसके मुख्य प्रचारक बृहस्पति हैं, इसलिए 'बार्हस्पत्य' भी कहलाया।

इस मत में चतुर्भूत अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि और वायु के अतिरिक्त जगत् में और कुछ भी नहीं है। ये कहते हैं कि जैसे गुड़ और यव प्रभृति प्रत्येक द्रव्य मादक नहीं है, किन्तु इन सब के मिल कर सड़ने से जो मद्य प्रस्तुत होती है, उसमें जैसे मादकता शक्ति उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही यह देह भी पृथिवी आदि चारों अचेतन पदार्थों के मिलने से उत्पन्न होता है और मादकता के समान उसमें मेधा वा बुद्धि का उद्भाव हो जाता है और पृथिव्यादि चारों पदार्थों के वियुक्त हो जाने से वह स्वयं नष्ट भी हो जाता है। देह के अतिरिक्त आत्मा के अस्तित्व में कुछ प्रमाण नहीं, इसलिए मेध-संश्लिष्ट शरीर ही आत्मा है। इनके मत से प्रत्यक्ष ही ज्ञानप्राप्ति का एक मात्र साधक और सम्भोग ही मनुष्यजीवन का एक मात्र लक्ष्य वा उद्देश्य है। अनुमान और शब्द प्रमाण को ये मानते नहीं हैं। ईश्वर और परलोक का प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध न होने से ये खण्डन करते हैं। इनके विचार में सृष्टि स्वभाव से उत्पन्न हुई है, इसका कोई कर्ता नहीं है। शरीरोच्छेद ही मोक्ष है। वेद के आचार विचार सब धूर्तों के हथकंडे हैं और श्राद्धादि क्रियाकलाप केवल मूर्ख लोगों का निष्फल श्रम है। पारलौकिक सुख की इच्छा से धर्मार्जन के लिये दानादि में व्यर्थ द्रव्य व्यय करना अथवा व्रत और उपवासादि से देह को अत्यन्त क्लेश देना नितान्त ही मूढ़ता है।

चार्वाक सिद्धान्त का संग्राहक ग्रन्थ इस समय कोई प्रसिद्ध नहीं है, जिससे इस मत की पद्धति पर विशेष विचार किया जाय। बोध होता है, संग्रहकर्ता माधवाचार्य के भी सिवाय फुटकल श्लोकों के जो बृहस्पति के नाम से आगे उद्धृत किए हैं और कुछ अधिक प्राप्त नहीं हुआ। यदि इस मत की पुस्तकें उन्हें मिली होतीं तो वे अन्यान्य दर्शनों के समान इस दर्शन में भी उनका नाम लेते। पुस्तक मिले वा न मिले, परन्तु यह असम्भव है कि इतने प्रसिद्ध और पुराने मत की, जिसकी अनेक शास्त्र ग्रन्थों में चर्चा आती है, कोई पुस्तक ही न रही हो। जैसे श्लोक माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह में संग्रह किये हैं, ठीक इसी आशय के वरञ्च इसी पाठ तक के श्लोक पुराणों में भी बिखरे हुए मिलते हैं। कुछ दिन हुए इस मत का "कल्पलता" नामक खण्डित संस्कृत ग्रन्थ हमारे देखने में आया था, जिसका शचीनर नामक कर्ता वार्हस्पत्य (सूत्र) के अनुकूल बारह अंशों में ग्रन्थ लिखने की प्रतिज्ञा करता था। निस्सन्देह, इस मत के मूलसूत्र भी 'वार्हस्पत्य' नामक रहे होंगे, जिनके आधार पर पीछे से अनुष्टुप छन्दों की भिन्न भिन्न प्रकार से रचना हुई। जान पड़ता है, सब धर्म्म और सम्प्रदायों के विरुद्ध होने से दुर्बल विचार के पुरुषों ने इस मत के ग्रन्थ नष्ट कर दिये हैं, जिससे इस लोकायत नामक संक्रामक रोग से लोकमर्यादा नष्ट न हो।

पहिले हमारा विचार था कि इस समय भारतवर्ष में मत के आकार में यह मत न होगा, किन्तु दिल्लीनिवासी श्रीयुत पण्डित रामचन्द्र वेदान्ती जी द्वारा विदित हुआ कि अद्यापि इस मत के साधु चार्वाक मत का प्रचार करने में दत्तचित्त हैं। प्रयागराज की पिछली अर्द्धकुम्भी के विख्यात मेले में गङ्गा पार रम्य और एकान्त स्थल में इन लोंगों की जमात थी। यदि वेदान्ती जी उस दिन हमारे साथ न होते तो हम कदापि नहीं जान सकते थे कि ये चार्वाक संन्यासी हैं, यही समझते कि परहंस हैं। इनमें दो तीन पण्डित भी थे, संस्कृत की सामान्य व्युत्पत्ति के अतिरिक्त इनके पाण्डित्य का आधार प्रसिद्ध साधु निश्चलदास कृत 'विचारसागर' और 'वृत्तिप्रभाकर' ग्रन्थ थे।

थोड़ी देर तक इनके साथ पञ्चमभूत अर्थात् आकाश के अस्तित्व विषय में विचार हुआ, ये लोग विचार में कुशल, स्वभाव में नम्र और वार्तालाप में शिष्ट प्रतीत होते थे। खान पान में किसी प्रकार के विधि-निषेध को नहीं मानते थे, मद्य मांस सब कुछ चढ़ता था। अपने को ये 'आज़ाद' (स्वतन्त्र) कहते थे; चार्वाक के नाम से तो नहीं, किन्तु नास्तिक के नाम से बड़े चिढ़ते थे, कहते थे कि नास्तिक हम हैं कि वे लोग जो ईश्वरादि कल्पित पदार्थों और स्वर्गादि के असम्भव सुख को जिनकी सत्ता का कोई ठिकाना नहीं, मानते हैं और प्रत्यक्ष विषय में "नास्ति" कहते हैं। भगवा वस्त्र रखने और मूंड मुंडवाने का हेतु उन्होंने यह बतलाया कि उससे मूर्ख लोगों को श्रद्धा होती है और हमारी कुछ हानि नहीं। इनका यथेच्छाचार देखने और पूछने पर विदित हुआ कि माधवाचार्य ने जो "मांसानां खादनं तद्वत्" इस श्लोक से इनके मत में मांस खाना निशाचर का कर्म कहा, सो चिन्तनीय है। जान पड़ता है यह वाक्य बौद्ध वा जैन लोगों के आक्षेप से लिया गया है। इसलिए चार्वाक दर्शन पर विलायती पण्डित मोक्षमूलर महाशय का यह कहना भी ध्यान देने योग्य है कि "इन (चार्वाक दर्शनोक्त) सब प्रतिवादों में कुछ आधुनिक हों तो हो सकते हैं, किन्तु इनमें से अधिकांश की रचना बौद्धों के समय में हुई है, सो स्पष्ट जान पड़ता है।" (१)

प्रोफेसर बर्नफ साहब ने दिखाया है कि "यदि देवता के समीप बलिदान करने से उस पशु की आत्मा स्वर्ग में जाती है तो यजमान निज पिता को बलि क्यों नहीं देता (२) बौद्ध तार्किकों ने भी ठीक यही तर्क उठाया है। पर हमारी सम्मति में इस कारण बौद्ध ही को इसका मूल समझ बैठना विवेचकता का कार्य नहीं है। यों तो श्राद्धादि सत्कार्य्य वा प्रेत क्रिया आदि का खण्डन आधुनिक आर्यसमाजियों (३) ने

(१) देखो, मोक्षमूलर साहब का हाबर्ट वक्तृता का बङ्गला अनुवाद पृ० १४।

(२) देखो, बर्नफ कृत बौद्ध धर्म्म के इतिहास की उपक्रमणिका भाग पृ० २०६।

(३) सत्यार्थ प्रकाश।

भी जो अपने आपको वेद मतानुयायी मानते हैं, इन्हीं प्रमाणों और इसी तर्कबल से किया है जिसको प्रोफ़ेसर बर्नफ बौद्ध ग्रन्थों में देख रहे हैं; परन्तु जिस प्रकार स्वामी दयानन्द सरस्वती को इस नास्तिकता का मूल समझना भ्रमपूर्ण है, ठीक उसी प्रकार बौद्धों को भी उसका आदिकारण मानना भी भ्रम से खाली नहीं है। कारण कि यह तर्क तब से चला आता है जब कि शाक्यवंश का भारतवर्ष ने नाम भी न सुना था। (४) यह सदैव की परपाटी है कि आस्तिक नास्तिक सभी लोग खण्डन मण्डन के अवसर पर अपने अपने प्रयोजन की बातें प्राचीनों से लें और विरोधी मत के खण्डन में उसे प्रमाण दें। कहीं तक चले जाइये, खण्डन मण्डन के मूल सूत्र सर्वत्र एक प्रकार ही के मिलेंगे। इसलिए निज प्रयोजन की कतिपय बातें आर्यसमाजियों ने बौद्धों से और बौद्धों ने चार्वाकों से ग्रहण कीं तो कुछ आश्चर्य नहीं है। अस्तु। जैसे, बौद्धादि धर्म्म के अनुयायी किसी न किसी प्रकार की विधि निषेध के पक्षपाती हैं, वैसे चार्वाक नहीं हैं। सुतरां यह कहना कुछ अनुचित न होगा कि चार्वाक मत कोई भावरूपी धर्म्म नहीं है, धर्म्म का अभाव मात्र है।

जो पुरुष यह समझते हैं, कि वैदिक धर्म्म और ब्राह्मणों के विरुद्ध सब से प्रथम बुद्धदेव ही खड़े हुए थे, उनको जान लेना चाहिये कि उनसे पहिले और भी अनेक नास्तिक हो चुके हैं, (५) जिनका वेद और ब्राह्मणों का उपहास वा तिरस्कार करना ही कर्तव्य कर्म्म था। इतिहास के पर्य्यालोचन से ऐसा प्रतीत होता है कि—चार्वाक और बुद्ध यह नाम पहिले पहिल किसी व्यक्ति विशेष में रूढ़ न थे वरञ्च स्वधर्म्मनिष्ठ लोगों की ओर से यह उन लोगों की उपाधि नियत हुई थी

(४) देखो, इस विषय में वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकांड का १०८ वां सर्ग—अष्टका पितृदैवत्यमित्ययं प्रसृतो जनः। अन्नस्योपद्रवं पश्य मृतोहि किमशिष्यति ? यदि भुक्त मिहान्येन देहमन्यस्य गच्छति। दद्यात् प्रवसतां श्राद्धं न तत् पथ्यशनं भवेत्॥ इत्यादि को मिलाओ बृहस्पति के कथन से॥

(५) देखो, आर्यविद्यासुधाकर, पृ० १८१।

जिनकी बातें लोगों का मन लुभानेवालीं थीं और जो संसार को प्रसुप्त एवं अपने हो को बुद्ध (जागा हुआ) वा प्राप्तविद्य समझते थे। धीरे धीरे काल पाकर ये व्यक्ति विशेष के वाचक हो गये। चार्वाक और बुद्ध नाम का एक ही पुरुष मान लेने से इतिहास में जो अन्धाधुन्ध मची है उसका निराकरण करना बहुत ही प्रयोजनीय है। आधुनिक विद्वान इन शब्दों को धर्म्मग्रन्थों में देख कर या तो उसे प्रक्षिप्त अथवा उस ग्रन्थ ही को पीछे से बना मान लेते हैं।

चार्वाक मत कब से चला ? इस बात का ठीक ठीक पता लगाना एक प्रकार असम्भव है, कारण कि प्रथम तो नास्तिक लोगों का इतिहास ही अल्प होता है और जो हो भी, उसका भारतवर्ष जैसे देश में जहाँ प्रत्येक सम्प्रदाय अपनी भलाई और बड़ाई एक इसी बात में समझती रही कि विरोधियों के ग्रन्थादि नष्ट कर उनका नाम और यश मिट्टी में मिलाया जाय, मिलना कितना कठिन है यह बुद्धिमान स्वयं विचार लें। तिस पर भी एक ऐसे मत का वर्णन जो प्रत्येक मत और प्रत्येक सम्प्रदाय का विरोधी और घृणापात्र हो।

बुद्धिमान खृष्टान पण्डित मोक्षमूलर साहब का जो इस विषय में विचार है उसका सारांश यह है कि "ब्राह्मणों का वेद को कविकल्पना प्रसूत न कह कर, अभ्रान्त एवं अपौरुषेय कहना ही नास्तिक सम्प्रदाय के अभ्युत्थान का मूल है।" (६) प्रोफेसर मोक्षमूलर ने निरुक्त (१म, १५) में यह देख कर कि यास्क कौत्स का मत उद्धृत कर कहते हैं कि "वेद के अन्तर्गत सब स्तोत्र निरर्थक हैं" समझ लिया कि सूत्र प्रणयनकाल से वेद का प्रतिवाद होना आरम्भ हुआ। उन्होंने कहा "कौत्स किसी का सही नाम न होकर नाम का अपभ्रंश होने पर भी यह सिद्ध होता है कि पाणिनि के पहिले ही से वेद की मर्यादा का ह्रास होने लगा था!" (७) प्रो० मोक्षमूलर साहब को कौत्स के नाम

(६) हावर्ड वक्तृता पृ० ११।

(७) ४र्थ, ६० सूत्र से जाना जाता है कि पाणिनि अविश्वासी एवं निरीश्वर वादियों को जानते थे। नास्तिकों का एक नाम लोकायत है, इस लोकायत शब्द

में सन्देह है किन्तु कौत्स के वाक्य में नहीं ! क्योंकि, उसके द्वारा प्रतिपन्न होता है कि 'उस समय वेद की मर्यादा नष्ट होने लगी थी।

प्रोफेसर महाशय, आर्यशास्त्र की, आक्षेप और समाधानयुक्त प्रणाली को यदि विशेष रूप से लक्ष्य करते, तो कदापि सम्भव न था कि अपना ऐसा मन्तव्य प्रकाश करते। आर्य ग्रन्थकारों का यह नियम नहीं है कि जब कोई प्रतिवादी साक्षात् उपस्थित हो तभी उसका समाधान किया जाय, नहीं, अपने सिद्धान्त को 'स्थूणा-खनन' न्याय से पुष्ट करने के निमित्त आप ही आक्षेप करते हैं और आप ही समाधान। और कभी कभी दूसरे ब्रह्मर्षियों के नाम से भी पूर्वपक्ष कर समाधान में प्रवृत्त होते हैं। उनका लक्ष्य यह रहता है कि जितने प्रकार के प्रश्न हो सकते हैं उन सब का ग्रन्थ में समाधान हो जाय। इसलिए प्रत्येक दर्शनकार ने इसी शैली से ग्रन्थनिर्म्माण किये हैं। यदि यास्क के उद्धृत वाक्य से कौत्स को वैदिक धर्म्म का विरोधी समझा जायगा तो मीमांसा और न्याय दर्शनादि के कर्ताओं को फिर क्या कहियेगा, जिन्होंने अपने पूर्वपक्ष उठा वेद की परीक्षा करने में कोई कसर न छोड़ी? यदि यह कहा जाय, कि हम इन दर्शनों से प्राचीन निरुक्त ही को मानते हैं और इनमें भी जो पूर्वपक्ष हुए हैं, वे केवल ग्रन्थकर्ता के हृदय से नहीं, प्रत्युत, उस समय की रुचि के अनुसार उठे हैं; तब तो हम यही कहेंगे कि आपको निरुक्त तक आने की कोई आवश्यकता न थी। उचित था कि वेद के उन मन्त्रों को जिनमें निन्दार्थवाद से काम लिया गया है अथवा इस प्रकार के प्रश्न हुए हैं, आप पकड़ बैठते और कहते कि देखिये वेद के आरम्भ ही से वेद की मर्यादा ह्रास होने लगी थी और इस बात की ये मन्त्र भी साक्षी दे रहें हैं कि इनकी रचना का काल वही है जब चार्वाक वा बौद्ध वेद की निन्दा में प्रवृत्त थे। जैसे कि अथर्व्ववेदी मुण्डकोपनिषद के—

से उक्थादिगण में एवं, ४ र्थ, २, ६० सूत्र में लोकायतिक पद सिद्ध होता है। ४म, १, १२१ सूत्र में बार्हस्पत्य का निर्देश है।

"प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढ़ा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥"

(१म, २)

इत्यादि मन्त्र यज्ञकर्म की स्पष्ट निन्दा कर रहे हैं और कृष्णयजुर्वेदीय श्वेताश्वतरोपनिषद् के—

'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।
संयोग एषां नत्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतो ॥"

(१म १)

इस मन्त्र में कालवादी आदि छ सात मतवादियों की ओर से जो पूर्वपक्ष उठाए गये हैं उनमें स्वभाववादी चार्वाक भी एक हैं। अवश्य ही मूल में 'स्वभाव' पद है, चार्वाक वा लोकायतिक का नाम नहीं है, किन्तु नारायण और विज्ञान भगवत्प्रभृति टीकाकारों ने इसका अर्थ चार्वाक ही किया है एवं होना भी यही चाहिए क्योंकि स्वभाववादी के नाम से चार्वाक ही प्रसिद्ध हैं।

कहने को सब कोई सब कुछ कह सकते हैं किन्तु विचारशील पुरुष इस बात पर हठ नहीं करेगा कि कवि और दार्शनिक उतनी ही उत्प्रेक्षा एवं पूर्वपक्षों की कल्पना कर सकते हैं, जितना लोकशिक्षा से उन्हें पूर्व मिल चुका है, अधिक का नहीं। हम तो यही कहेंगे कि वह दार्शनिक ही क्या जिसने वर्तमान के अतिरिक्त भविष्य पर ध्यान नहीं दिया और अपने सिद्धान्त की रक्षा का उपाय पहिले ही से न कर दिया हो। हमारी सम्मति में हमारे दूरदर्शी महर्षियों ने प्रथम ही से वेद की रक्षा के निमित्त स्वतः ही अपनी अपनी पुस्तकों में अनेक प्रकार के प्रश्न उठाए और उनका सुन्दर समाधान किया है। काकतालीय न्याय से अब भी ऐसा हो जाना असम्भव नहीं है कि दो पुरुष एक ही प्रकार की बात को विचारें और एक उसे पूर्वपक्ष में रक्खे और दूसरा उसे सिद्धान्त बनावे। अकस्मात् ऐसा होना सर्वथा सम्भव है कि श्रुति वा सूत्रों में जिन प्रश्नों की कल्पना कर

समाधान किया गया है, वह किसी नये मत का वस्तुतः सिद्धान्त भी निकल जाय और आधुनिक टीकाकार ऐसे अवसर पर जहाँ यह प्रश्नोत्तर संक्षिप्त रूप से हो उसका विस्तार करता हुआ उस नए मत का नाम भी रख दे, जो उसकी उपस्थिति में वर्तमान है। तो क्या इससे यह सिद्ध होगा कि वह मत मत के आकार में मूल के समय में भी था? कदापि नहीं, तिस पर हमारे वेदशास्त्र की तो बात ही भिन्न है, परन्तु अपने उस धर्म्मविश्वास की बात का आग्रह और अधिक विस्तार न कर, यहाँ पर यही कहना इष्ट है कि सूत्रों वा मन्त्रों में जहाँ वेद वा वैदिकधर्म्म की निन्दा प्रतीत होती है, वह वास्तव में निन्दा नहीं है, उसका अन्य तात्पर्य रहता है। सुतरां, जिन आक्षेपों को मोक्षमूलर साहब प्रभृति वेद की अप्रतिष्ठा का कारण और उन्हें नास्तिकों की ओर से समझते हैं, वस्तुतः वैसा नहीं है। वे सब वेद के महत्व और प्रतिष्ठा के प्रमाण हैं। आर्य जाति के सिद्धान्त के अनुसार भविष्य काल के नास्तिकों की रुचि का समाधान अपौरुषेय वेद में प्रथम ही से हो रहा है।

इसमें सन्देह नहीं कि चार्वाक मत अत्यन्त प्राचीन है। पुराणादि में तो इसका प्रसङ्ग है ही, परन्तु पाणिनि सूत्रों से भी इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है। परन्तु अब इस बात का ठीक ठीक पता लगना कि बृहस्पति और चार्वाक ने अमुक संवत्सर वा समय में इस मत का प्रचार किया था, नितान्त असम्भव है।

यहाँ यह भी कह देना चाहिये कि हाथरस के राजा दयारामसिंह जी के आश्रित किसी वख्तावर नाम के मनुष्य ने हिन्दी भाषा में "शून्य सागर" नामक ग्रन्थ बनाया था, जिसका मिस्टर ग्रौस साहब ने 'मथुरा के इतिहास' में. और प्रोफ़ेसर विलसन ने अपने 'हिन्दुओं के धर्म्म' में कुछ अंश प्रकाशित किया है, जिसके देखने से प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार के मत में सब शून्य है। इसकी गणना शून्यवादी बौद्धों में करें तो कर सकते हैं, किन्तु चार्वाकों में नहीं।

प्रथम तो "सर्वदर्शनसंग्रह" का विचार ही बहुत गम्भीर और क्लिष्ट है, तिस पर महाविद्वान् माधवाचार्य की भाषा जिसके दो दो चार चार शब्द विस्तृत अर्थ को समेट 'गागर में सागर' की कहावत को चरितार्थ करते हैं। लेख प्रणाली ऐसी टेढ़ी है कि हिन्दी भाषा में उसका अनुवाद प्रकाश करना साहस का काम है। हमने यथासाध्य मूलग्रन्थ का आशय सरल शब्दों में व्यक्त किया है, तथापि विषय गाम्भीर्य से कठिनता रहना सम्भव है, क्योंकि, यह उपन्यास नहीं, दर्शन है। कठिन शब्दों का कोश अन्त में प्रकाश किया जायगा।



तलबकारोपनिषद्

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳ सस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥

टीका का परिचय

सामवेद की एक सहस्र शाखाओं में नौ अध्याय की एक तलबकार शाखा थी जिसके पहिले आठ अध्यायों में कर्मकाण्ड और तदुपयोगी उपासनाकाण्ड का निरूपण किया है और सब से पिछले नवम अध्याय में ज्ञानकाण्ड का ।

जबतक कर्म और उपासना के अनुष्ठान से अन्तःकरण के दोष दूर न होलें तब तक वह ज्ञानकाण्ड का अधिकारी नहीं होता, यह वेदान्त शास्त्र का सिद्धान्त है। इसलिए "तलबकार शाखा' में प्रथम कर्म और उपासना का आठ अध्यायों में क्रम से निरूपण कर अन्तिम अध्याय में शुद्धान्तःकरण एवं विरक्त पुरुष के प्रति ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया है। उसी तलबकार शाखा के नवम अध्याय का नाम "तलवकारोपनिषद्" है। क्योंकि जो उपनिषद जिस संहिता, ब्राह्मण वा शाखा के अन्तर्गत होती है वह उसीकी कहलाती है। जैसे वाजसनेय संहिता की "वाजसनेयोपनिषद्" शतपथ की "ब्राह्मणोपनिषद्" तैत्तिरीय शाखा की 'तैत्तिरीयोपनिषद्' और तलबकार शाखा की यह। इसका दूसरा नाम 'केनोपनिषद्' भी है, क्योंकि इसके आरम्भ में सब से प्रथम 'केन' शब्द है।

इस 'केनोपनिषद्' पर पूज्यपाद भगवान् भाष्यकार श्री ६ शङ्कराचार्य जी के दो भाष्य हैं, एक पदभाष्य और दूसरा वाक्यभाष्य, पदभाष्य में पदों का अर्थ और कुछ साधारण विचार भी किया है, परन्तु वाक्यभाष्य में पदों का विशेष अर्थ न कर, तर्क से बहुत सुन्दर विचार

किया है जो विद्वानों के लिए विशेष आनन्दजनक है। यह एक इसी उपनिषद् का सौभाग्य है जिसपर भगवान् भाष्यकार की दो बार लेखनी चली। भाष्यकार के अनुगामी शिष्य स्वामी आनन्दज्ञान (गिरि) कृत टीका भी भिन्न भिन्न दो ही हैं, जिनसे उनके अपूर्व पाण्डित्य के साथ उनकी असीम गुरुभक्ति का भी परिचय मिलता है।

तीसरी टीका वेदान्तनिष्णात प्रसिद्ध स्वामी शङ्करानन्द कृत है जो आकार में छोटी होने पर भी 'मूल' का अर्थ करने में किसी से न्यून नहीं है। चौथी टीका नारायण विरचित है जो नारायण नाम के अतिरिक्त अपने में कुछ भी विशेषता नहीं रखती। प्रायः उसमें शङ्करभाष्य का वैसे का वैसा पाठ है।

उक्त चारों टीकाओं का सुन्दर संस्करण पूना की "आनन्दाश्रम-पुस्तक-माला" में हुआ है उसीके सहारे से सब टीकाओं का तात्पर्यार्थ विचार कर हमने यह हिन्दी टीका लिखी है। विशेषतः भगवान् भाष्यकार के चरणारविन्द का सहारा ले यथामति उनके आशय को प्रकाश किया है। यदि हमारे 'सुदर्शन' के पाठकों को यह विषय रुचिकर हुआ और उनकी इच्छा इसके अनुकूल पाई गई तो हम ऐसा यत्न करेंगे कि हिन्दी में सब उपनिषदों की ऐसी ही टीका शीघ्रता से प्रकाशित हो जाय।

भूमिका

पूज्यपाद भगवान् भाष्यकार और स्वामी आनन्दज्ञान जी कहते हैं कि 'केनेषितं' (किससे चाहा हुआ) इत्यादि जो यह 'तलवकार उपनिषद्' है सो परब्रह्मविषया है, यह विचार कर ही इस नवम अध्याय का आरम्भ है।

इससे पूर्व आठ अध्यायों में समस्त नित्य नैमित्तककर्म समाप्त किये हैं एवं सब कर्मों के आश्रय रूप प्राण और कर्माङ्ग साम को विषय करने वाली उपासना कही गई है। इसके अनन्तर प्राण दृष्टि से 'गायत्र' नामक साम की उपासना वंश पर्य्यन्त कही है। यह सब

कर्तव्य है। इस पूर्वोक्तकर्म और उपासना का शास्त्रानुसार विधि पूर्वक अनुष्ठान करने पर निष्काम मुमुक्षु के अन्तःकरण की शुद्धि होती है और ज्ञान (उपासना) रहित सकाम के लिए केवल ये श्रौत स्मार्त कर्म, दक्षिण मार्ग की प्राप्ति और पुनर्जन्म के कारण होते हैं।

इसलिए जो लोग यह शङ्का करते हैं कि पहिले आठ अध्यायों में जिस कर्म और उपसना का कथन किया है उसी एक एक के अनुष्ठान से या एक साथ ही दोनों के (समुच्चय) अनुष्ठान से मुमुक्षु को मोक्ष की प्राप्ति हो जायगी फिर इस नवें अध्यांय (उपनिषद्) का पृथक् प्रतिपादन करना व्यर्थ है, सो ठीक नहीं। क्योंकि उनका विकल्प से अनुष्ठान किया जाय तो चन्द्रलोक की और समुच्चय से किया जाय तो ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। नियत काल तक वहाँ सुख भोग कर फिर इसी जन्म मरण रूप प्रवाह में आना पड़ता है। अतएव वहाँ आवागमन से छुटकारा नहीं होता और जो कहीं कहीं यह देखने में आता है कि ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेने पर फिर आवृत्ति नहीं होती, सो विकल्पानुष्ठान फल की अपेक्षा से है। इसलिए कर्म और उपासना का फल संसार रूप ही है।

जो मनुष्य शास्त्र को न मान कर अपनी स्वाभाविक इच्छा से कुमार्ग में रत होते हैं वे कूकर-शूकरादि से स्थावर पर्य्यन्त अधम-योनियों को प्राप्त होते हैं। इस कारण, जो अज्ञान और कर्मरूप दोनों मार्गों में से किसी एक में भी प्रवृत्त नहीं हैं, वह निन्दित कर्म करने वाले बारंबार जन्म लेकर तुच्छ प्राणी होते हैं। श्रुति कहती है कि 'जायस्वे म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानम्' (फिर फिर जन्मते और मरते हैं, ऐसा यह तीसरा स्थान है) और 'प्रजाह तिस्रो अत्यायमीयुः' (तीन प्रकार की प्रजा परित्याग कर कष्ट पाती है) अर्थात स्वेदज, अण्डज और उद्भिज रूप तीन प्रकार की जो प्रजा है, वह पितृयान और देवयान दोनों मार्गों को छोड़ कर दुःखित हो रही है। इस मन्त्र के कथन से यह सिद्ध हुआ कि, जिन्होंने शास्त्रोक्त दोनों मार्गों का परित्याग कर स्वेच्छा से गमन किया वही स्वेदजादि अधो-

गति को प्राप्त हुए कर्मफल भोग रहे हैं। और अब जो वैसा आचरण करते हैं वे दुराचारी जन भी उसी प्रकार तृतीय स्थान में प्राप्त होंगे।

फलनिरपेक्षज्ञान (उपासना) और कर्म के समुच्चय अनुष्ठान से, जो आत्मज्ञान के प्रतिबन्धक अन्तःकरण के दोष दूर कर चुका है, इस लोक और परलोक के पदार्थों से जो विरक्त हो रहा है, द्वैत विषय में जिसको दोष दिखलाई देते हैं और जो वाह्य पदार्थों की अनित्यता और उनको अनात्म जान कर संसार के बीजरूप अज्ञान का उच्छेद किया चाहता है तथा जिसे प्रत्यगात्मा की जिज्ञासा है, उसको आत्मस्वरूप तत्त्व का उपदेश करने के लिए "केनेषितं" इत्यादि मन्त्रों वाला यह नवम अध्याय आरम्भ किया जाता है।

आत्मस्वरूप ब्रह्मतत्व विज्ञान से मृत्यु के कारण रूप अज्ञान का नाश होगा, अज्ञान के नाश से संसार का नाश होगा, क्योंकि संसार अज्ञान ही से है। यद्यपि 'अहं प्रत्यगोचर' कोई आत्मा है ऐसा सामान्य ज्ञान है भी, तथापि आत्मा के विशेष ज्ञान के लिए तद्विषयक जिज्ञासा उत्पन्न होती है। इसीलिए उपनिषद् का आरम्भ होना भी उचित ही है।



भ्रम किसका है ?

बम्बई के सहयोगी 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' ने एक पुस्तक की प्रशंसा करते हुए 'चन्द्रकान्ता' की बातों को असम्भव बतलाया था, इस पर हमने तत्प्रशंसित पुस्तक का अनौचित्य न दिखा कर वैशाख की सङ्ख्या में युक्तिपुरस्सर उदाहरण देकर यह सिद्ध किया कि चन्द्रकान्ता में असम्भव बातें नहीं हैं और वैसी आश्चर्यमयी घटना उपन्यास में दोषावह होने के बदले गुणावह ही हैं। हम समझते थे कि उत्तर देने के समय सहयोगी अपने मनोनीत 'असम्भव' पदार्थ का लक्षण बतला कर उसका चन्द्रकान्ता में समन्वय करेगा और जिन प्राचीन और अर्वाचीन पुस्तकों के हमने उदाहरण दिये हैं उनमें उस दोष को न आने देगा परन्तु खेद है कि उसने मूल विषय पर ध्यान न देकर पल्लवग्रहण करने ही में अपना पाण्डित्य व्यय कर दिया। सहयोगी ने प्रस्तुत विषय में अपने भ्रम को न जान कर 'सुदर्शन का भ्रम' मानने में जितनी त्वरा की है उससे उस विद्वन्मान्य विचारपद्धति ही का परित्याग नहीं हुआ है, वरञ्च एक अविचारित रम्य विषय का सूत्रपात भी होगया ! जो हो, अपने पूरे दो कालमों में हम पर कलङ्क लगाने के सिवा उत्तररूप से उसने जो कहा है वह इतना ही कि 'जो सम्भव है, वह सम्भव है और जो असम्भव है सो असम्भव है !' उक्त लक्षण करते समय विलक्षण-लक्षणकर्ता सहयोगी ने यह भी कहा है कि 'सहयोगी सुदर्शन कीसी विशाल बुद्धि हममें नहीं है' परन्तु इस कथन से तो सिद्ध होता है कि हमारे समान ही नहीं, तत्वार्थवेत्ता नैयायिक धुरन्धरों की अपेक्षा भी उसकी बुद्धि चमत्कारिणी और विशाल है। उन लोगों ने प्रत्येक पदार्थ का भिन्न भिन्न लक्षण करने में वृथा ही समय नष्ट किया, नहीं तो इस विचारशैली के अनुसार कह देते कि जो पृथवी है सो पृथवी है और जो वायु है सो वायु है। 'उन्हें

चाहिये था कि विचार भुवन पर गन्धवती पृथवी' रूप रहितः स्पर्शवान् वायुः' इत्यादि लक्षणों की सैकड़ों कड़ियां न रखकर बुद्धिनिधान सहयोगी के समान एक ही विलक्षण 'शहतीर' रख देते !

सहयोगी ने असम्भव शब्द का कुछ भी विचार न कर (अथवा उक्त प्रकार का अद्भुत विचार कर) कहा है कि 'सुदर्शन' बाबू साहब (देवकीनन्दन) का पत्र है इस कारण यदि उसने वैशाख की संख्या में असम्भव को सम्भव सिद्ध करने का यत्न किया है तो इसमें उनकी स्वामिभक्ति है परन्तु इस तरह की स्वामिभक्ति करते हुए उसके सम्पादक बहुत भूले हैं।' सहयोगी के इस कहने का यह तात्पर्य है कि हम अगत्या अन्याय का अनुमोदन कर रहे हैं ! परन्तु सहयोगी को इस बात का ज्ञान नहीं है कि वह अपनी भूल से औरों को भूला हुआ समझता है और अपनी दशा का दूसरों की अवस्था में प्रतिविम्ब देख रहा है। जिस सुदर्शन ने 'शत्रोरपि गुणावाच्याः दोषा वाच्या गुरोरपि' इस सिद्धान्त का सदा निर्वाह किया और कर रहा है, और जो सत्य के सन्मान ही के लिए आज एक प्रलम्बकाय साप्ताहिक पत्र के अनुचित कटाक्ष की समीक्षा करने में अग्रसर हुआ है, उस पर स्वामिता का दोष आरोपण करना बुद्धिमत्ता का कार्य्य नहीं है। सुदर्शन 'स्वामिभक्ति' के कारण नहीं भूल रहा है वरञ्च कर्तव्य के लिये एक भूले हुए मित्र की बात का प्रतिवाद कर रहा है। यदि इसीका नाम 'असम्भव को सम्मव सिद्ध करना' है, तो बलिहारी इस विचार की ! 'हता तर्हि मनस्विता !'

हमने 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' पर कोई दोष नहीं लगाया केवल दूसरे लोगों की बात कही थी कि वे सहयोगी की दुरंगी बातों से (जासूस की निन्दा भी करना और साथ ही उसका प्रचार भी करना) यही अनुमान करते हैं कि वह असहिष्णुतावश जासूस आदि की निन्दा करता है, परन्तु सहयोगी इस विषय में बलात्कार से हमें ही वादी मान कर कहता है कि, 'सुदर्शन ने या तो भ्रमवश यह बात गढ़ी है अथवा किसी कमीने आदमी ने उसको बहकाया है'। इसके उत्तर में हमारा निवेदन

है कि न तो हमने भ्रमवश यह बात गढ़ी है और न हमें किसी कमीने आदमी ही ने बहकाया है। लोगों की शङ्का निर्मूल नहीं है, यही बात हमने पहिले कही थी और इसीका आज प्रतिपादन करेंगे। बहकाने वाले मित्रों ही में से कोई हो सकते हैं और जहाँ तक हम जानते हैं हमारे मित्रों में कमीना' कोई नहीं है वरञ्च उनमें सब सहयोगी 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' सम्पादक के समान कुलीन और प्रतिष्ठित पुरुष हैं।

सहयोगी कहता है कि 'वास्तव में हम ऐयारी तिलिस्म और जासूसों की कहानियों को अच्छा नहीं समझते हैं और हमारे ऐसा समझने पर भी भिन्न भिन्न लेखकों की भिन्न भिन्न रुचि से समय समय पर इस पत्र में जासूसी किस्से प्रकाशित हुए हैं और भयानक ख़ून भी उपहार में दिया गया है; परन्तु जिस समय यह कार्य हमारे यहां अधिकारीभेद से हुआ है, हम यदि सहयोगी 'सुदर्शन' बुरा न माने तो बतला सकते हैं कि, उसके एक ही सम्पादक ने एक बार एक साधारण मनुष्य का स्तुतिपाठ करने में उसे महर्षि बना डाला है और दूसरी बार उसीको पहाड़ पर से ढकेल दिया है'। सहयोगी के उक्त कथन में दो अंश हैं, एक में वह अपना कलङ्क धोने की चेष्टा करता है और दूसरे में 'सुदर्शन पर कलङ्कपङ्क फेंकने की बहादुरी दिखा रहा है। अब पाठकों को विचार कर देखना चाहिए कि उसकी यह चेष्टा कहाँ तक फलवती हुई है।

यद्यपि सहयोगी (सहयोगी कहने में अव्याप्ति हो तो लेखक सही) ऐयारी और तिलिस्म को अच्छा नहीं समझता तथापि अपने को निर्दोष और हमें सदोष कहने के लिए हमसे ऐयारी करने में सङ्कोच नहीं करता है, पर वह कदाचित् इस बात को भूल गया है कि जासूसी किस्से' पढ़ने वाले उसके इस भेद को शीघ्र ही ताड़ जायँगे। यदि 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' के वर्तमान सम्पादक महाशय अपने विशेष नाम से निज पत्र के पुराने लेखकों की (सम्पादकों की नहीं !) रुचि की निन्दा करते और कहते कि 'वास्तव में हम ऐयारी तिलिस्म और जासूसों की कहानियों को अच्छा नहीं समझते हैं' तो उचित भी था,'

परन्तु पत्र सम्पादनकाल में अपनी रुचि को निर्मल सिद्ध करने के लिए अपने पालक पोषक पत्र को कलङ्कित करना किसी प्रकार उचित नहीं है। आज वर्तमान सम्पादक जिस प्रकार 'ऐयारी' आदि की निन्दा करता है कल कोई दूसरा आन कर उसकी प्रशंसा करेगा और इसी प्रकार परसों कोई तीसरी बात कहेगा। ऐसी अवस्था में उनके प्रतिष्ठित पत्र का क्या सिद्धान्त समझा जायगा, इस बात का वह स्वयं निश्चय करें। हम जानना चाहते हैं कि इस समय सहयोगी किस के करकमल से सम्पादित होता है ? जिससे सम्पादित होता होगा, उसीके लेख का हम उपस्थित विषय में प्रमाण देंगे। पूर्व प्रकाशित जासूसी किस्से और भयानक ख़ून से सहयोगी अलग होगया, तो कुछ परवाह नहीं, अपने भूतपूर्व सम्पादकों को सम्पादक न कह कर 'लेखक' कहा, यह भी चिन्त्य नहीं, पर वह लज्जित न हो तो एक बार 'महता पं० लज्जाराम जी' अनुवादित 'विचित्र स्त्रीचरित्र' का अवलोकन करे, जिसमें उन्होंने बड़ी शेखी के साथ 'इंगलैंड के पुलिस की सौम्यता' का वर्णन किया है। क्या इस समय के सम्पादक श्रीयुक्त पं० लज्जाराम जी, उन 'महता पं० लज्जाराम जी' से भिन्न हैं ?' कहु रावण ! रावण जग केते ?'

सहयोगी के 'अधिकारी भेद' का तो ऊपर समाधान हो चुका अब रही यह बात कि हमने 'एक बार एक साधारण मनुष्य का स्तुतिपाठ करने में उसे महर्षि बना डाला और दूसरी बार उसीको पहाड़ पर से ढकेल दिय है' सो सत्य नहीं है। न तो हमने किसी को 'महर्षि' बनाया और न किसी को 'पहाड़ पर से ढकेला'। यदि सहयोगी के वाच्यार्थ में 'सत्यता हो तो हमारे पहिले अपराध के सिद्ध होने पर कदाचित् मथुरा के महात्मा लोग और दूसरे भयानक अपराध की सिद्धि के पश्चात् गवर्नमेंट उसे पुरस्कृत कर सकती है। क्या सहयोगी उस साधारण पुरुष का नाम प्रकाश करेगा जिसको हमने महर्षि बना कर पहाड़ पर से ढकेल दिया है ? अवश्य ही पत्रसम्पादकों को कर्त्तव्य के अनुरोध से समय समय पर कार्यानुसार स्तुति निन्दा करनी पड़ती है,

यदि सम्पादकीय धर्म्म के कारण ही 'सुदर्शन' दोषी है, तो बताइये इससे कौनसा संवादपत्र बचा हुआ है ? पण्डिता रमाबाई ने जिस समय प्रथम ही प्रथम अपने संस्कृत भाषण से दर्भङ्गा-नरेश की सभा को चकित किया उस समय सभी देशीय पत्रों ने भविष्य की शुभाशा से उसकी प्रशंसा की थी और जब कलकत्ते में जाकर वह एक कायस्थ की गृहणी हुई तब सब का स्वर बदल गया। पहिले पहल लार्ड कर्जन की मधुमयी वक्तृता सुन कर कौनसा पत्रसम्पादक मोहित नहीं हुआ था ? कौन जानता था कि उनकी आश्वास वाणी केवल श्रवण-सुखद है, कार्य में परिणत न होगी ? और अब ऐसे कितने देशी पत्र हैं जिनके विचार में श्रीमान् के कार्य वैसे ही लोकोपकारक हों जैसा वे इसके पूर्व समझते थे ? दूर न जाइये, दर्भङ्गानरेश और मथुरामण्डल के कार्य ही की ओर देखिए, आरम्भ में कई पत्रों ने उनकी प्रशंसा की थी पर अन्त में उनको निन्दा करनी पड़ी। यों तो आपकी तरह कल हमको दूसरे लोग भी उपालम्भ दे सकते हैं कि जिस पत्रसम्पादक के विषय में आपका यह विचार था कि वे 'प्रतिद्वन्द्वी के प्रति शिष्टता प्रदर्शन' करते हैं, देखिए, वही अब आपको 'किसी कमीने आदमी' का बहकाया समझते हैं। इसका उत्तर हमारे पास इसके सिवाय और कुछ नहीं है कि मनुष्य भूत और वर्तमान कार्यों की आलोचना कर सकता है, भविष्य की नहीं। 'हिन्दी राजतरङ्गिणी' को प्रकाशित करने के समय जिस प्रकार हमारे कलकत्ते के सहयोगी ने एक पण्डित जी को 'महर्षि' बनाया था, उस प्रकार हमने किसी आधुनिक पुरुष को महर्षि नहीं लिखा, क्योंकि हम जानते हैं कि यह समय हमारे महर्षियों के प्रगट होने का नहीं है, आर्यसमाजीय ब्रह्मसमाजीय 'महर्षियों' के उत्पन्न होने का है। सहयोगी न्यायदृष्टि से अवलोकन करेगा तो विदित हो जायगा कि 'किसी कमीने आदमी' के बहकाने से सुदर्शन नहीं बहका है वरञ्च आज प्रतिष्ठित और दयालु पुरुषों के फेर में पड़ कर अपने डीलडौल के अभिमान से 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' ही ने सुदर्शन पर औरों के दोष 'चरितार्थ' करने का दुस्साहस किया है।

हम फिर यहाँ कहते हैं कि हमने सहयोगी को स्वार्थी व पुस्तक बेचने का लोभी नहीं कहा है, केवल लोगों का विचार प्रगट किया है। जब आपका उद्देश्य ही यह है कि 'जिन पुस्तकों को समाज के लिए उपकारक नहीं समझते अथवा जिनसे पाठकों का अपकार होता दिखाई देता है, उनकी कड़ी आलोचना की जाय' तब क्या कारण है कि वैसी ही पुस्तकों का स्वयं प्रचार कर 'ख़ुदरा फ़ज़ीहत दीगराँ रा नसीहत' इस फारसी कहावत को आप चरितार्थ करते हैं ? माना कि इसमें आपका किञ्चित भी स्वार्थ नहीं है, पर इसमें परमार्थ कितनाहै, यह भी तो प्रकट करना चाहिए। यदि सहयोगी अपने जासूसी किस्से और 'विचित्र स्त्री चरित्र' के प्रकाशक और अनुवादक को भी दो चार सुना देता तो लोगों की क्या मजाल थी जो वैसी क्लिष्ट कल्पना करते। सहयोगी 'चित्तौर-चातकी' के लिए हमसे प्रायश्चित्त कराने का साहस पीछे करे, प्रथम 'चिराग तले अँधेरा', देखकर यह विचार ले कि 'महत्-पुरुषों पर झूटा कलङ्क लगाने के पाप में' श्रीवेंकटेश्वर प्रेस को कितना प्रायश्चित्त करना पड़ेगा ?

हमें इस बात का हर्ष है कि असम्भववादी होने पर भी सहयोगी ने स्वीकार किया है कि जिस समय उपन्यासों को कोई छदाम सेर को भी नहीं पूछता था (तब तो जान पड़ता है असंख्य उपन्यास थे) बाबू देवकीनन्दन खत्री ने एक नया ढंग निकाल कर लोगों को उपन्यास पढ़ने में प्रवृत्त किया।' उन्होंने केवल पाठकों की रुचि ही नहीं जीती है बरन नये लेखकों को भी उपन्यास लिखने का उत्साह दिलाया है।' इतना ही नहीं, सहयोगी ने यह भी माना है कि बाबू साहब के उपन्यासों से हिन्दी को जो लाभ पहुँचा है वह कुछ कम नहीं है और इसलिए समस्त हिन्दी रसिकों की ओर से उन्हें धन्यवाद का पात्र ठहराया है। सहयोगी की इस आंशिक न्याय-प्रियता के कारण हम भी उसे धन्यवाद देते हैं।

इस प्रकार प्रशंसा करने के पश्चात् सहयोगी ने कहा है कि उपन्यास लिखने का जो मुख्य उद्देश्य है वह उनसे पूरा नहीं हो सका है। उन-

के उपन्यास जिनमें ऐयारी और तिलस्म की बातें भरी हैं रोचक अवश्य हैं परन्तु न तो उनसे पाठकों को कुछ शिक्षा ही मिल सकती है और न विचारवान् पाठक उनकी घटनाओं को सम्भव समझ सकते हैं।' हम नहीं कह सकते कि सहयोगी की दृष्टि में 'विचारवान पाठक' हम हैं कि नहीं, परन्तु हम उन घटनाओं को विचित्र मानने पर भी असम्भव नहीं मानते। यदि सहयोगी असम्भव का लक्षण कर उसको चन्द्रकान्ता की किसी घटना में घटा देता तो हमें स्वीकार करने में कोई आपत्ति न थी, परन्तु केवल 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' से हम क्या, कोई भी विचारशील उनको असम्भव नहीं कह सकता है। उपन्यास का मुख्य उद्देश्य क्या है और गौण क्या है, इस बात का तो विचार फिर किया जायगा परन्तु बाबू देवकीनन्दन जी का भी यह दावा नहीं है कि उपन्यास लिखने के सभी उद्देश्य 'चन्द्रकान्ता' से पूरे हो गए हैं। हम ऐयारी, तिलिस्म और जासूसी के पक्षपाती भी नहीं हैं किन्तु उनके साथ सहयोगी की तरह हमारा द्वेष नहीं है, कारण कि हम उनको भी साहित्य का एक अङ्ग समझते हैं।

अब रही यह बात कि 'चन्द्रकान्ता' से कुछ शिक्षा मिल सकती है कि नहीं इसका उत्तर देने से प्रथम महता पण्डित लज्जाराम जी लिखित 'विचित्र स्त्री चरित्र' की भूमिका का कुछ अंश यहाँ उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं। वह 'लेडी फ्रांसिस बाउंटी' के जघन्य चरित्र की उपयोगिता दिखाते हुए इस प्रकार लिखते हैं कि—

"कथा, वार्ता, इतिहास और चरित्रों के पठन से मनोरञ्जन होने के सिवाय अनेक प्रकार की शिक्षालाभ होना किसी को अविदित नहीं है। जैसे सदाचारी शूर और परोपकारी मनुष्यों का वर्णन पढ़ने से मनुष्य में सद्गुणों का प्रादुर्भाव होता है उसी तरह दुष्ट, कपटी दुराचारी दुर्व्यसनी आदि लोगों के चरित्र का अवलोकन करने से ऐसे लोगों की चालढाल से अभिज्ञ होकर उनके फंदे में फंसने से बच सकता है। आजकल कराल कलिकाल में विषयलोलुप लोगों के हृदय का बेध करने के लिये दुष्टा स्त्रियों के नयनबाणों की कमी नहीं है। अनेक

प्रकार के घातक शस्त्र एक बार में ही मनुष्य का नाश कर देते हैं परन्तु ये नयनवाण किसका सर्वनाश करके कैसे कैसे अनर्थ कराते हैं इसीका इस पुस्तक में नमूना है। मिस्टर डार्की ने लेडी फ्राँसिस बाउंटी के जाल में फँस कर अपने प्राण की तिलाञ्जलि देने के साथ जो जो दुष्कर्म किये हैं उन्हींका इसमें वर्णन है। इसके सिवाय इंगलेंड की पुलिस की सौम्यता, वहाँ के राजद्रोहियों के अत्याचार और लंडन नगर के वर्णन का दिग्दर्शन भी इसमें किया गया है। आशा है कि इसको ध्यानपूर्वक पढ़ने से दुराचारिणी स्त्रियों के मधुरवाक्यों से मोहित होने वाले मनुष्यों को एक प्रकार की अच्छी शिक्षा मिलेगी। केवल इतना ही नहीं, वरन केवल मनोरञ्जन होने के लिये पढ़नेवालों को भी यह वार्ता कुछ अरोचक न होगी।"

इतना लिखने के पश्चात् 'चन्द्रकान्ता' की बातों को असम्भव बताने वाले 'महता जी' ने इस 'विचित्र स्त्री चरित्र' को कि जिसकी बहुरूप-धारिणी कुलटा नायका एक जासूस का छिन्न मस्तक एक रूपमुग्ध मनुष्य के द्वारा लंडन के प्रधान राजपुरुष के पास पहुँचा कर और अनेक मनुष्यों का रूप धारण कर बृटिश साम्राज्य के प्रधान नेताओं को साधारण जनों के समान प्रकम्पित चकित और भीत कर रूस सम्राट् के पास उन पत्रों को कि जिनको राजनीति विशारद अँग्रेज़ प्राण रहते कभी किसी को दिखा भी नहीं सकते हैं, भेजने का पूरा प्रबन्ध कर लेती है और जिस पुस्तक के ऐतिहासिक कार्य और तहख़ाने के समक्ष 'चन्द्रकान्ता' के कल्पित स्थानादि अहङ्कार नहीं कर सकते, सत्य ठहराने का यत्न किया है और उसके गुजराती लेखक के सिवाय महता जी ने स्वयं भी स्वीकार किया है कि 'यह कोई कल्पित कहानी नहीं है। इस वार्ता के पात्र अब तक वहाँ (विलायत में) विद्यमान हैं।'

ऐसी कहानी सत्य होती है कि पुस्तकप्रचार की कामना से प्रकाशक लोग वृथा ही सत्य का मुकुट पहिरा देते हैं, इस बात का आज विचार नहीं करते पर यहाँ यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि यदि यह कहानी सच्ची है तो 'चन्द्रकान्ता' की कल्पित बातों को

असम्भव कहना विडम्बनापूर्ण है। भला महता जी ! आपकी पुस्तक से तो 'ऐसे लोगों की चालढाल से अभिज्ञ होकर उनके फंदे में फंसने से बच सकता है' और उस निकृष्ट चरित्र को 'ध्यानपूर्वक पढ़ने से' 'मनुष्यों को एक प्रकार की अच्छी शिक्षा मिल सकती है' और 'चन्द्रकान्ता' से कुछ भी शिक्षा नहीं मिल सकती ? विचित्र न्याय है ! 'हिन्दी में शिक्षाप्रद उपन्यास कितने बने हैं' यह कहने के लिये सहयोगी को 'अवकाश नहीं है।'

'हिन्दी में उपन्यास थे वा नहीं' यह "बतलाने" के लिये भी 'अवकाश नहीं है,' और जिन लोगों का मत उसने उद्धृत किया है उसमें 'कहाँ तक सत्यता है' सो वह 'कह नहीं सकता' और असम्भव के विषय में कहा कि 'जो असम्भव है सो असम्भव है' इतने कार्य स्वयम् कर लेने के पश्चात् सहयोगी कहता है कि—'यह लिखना कि ऐयारी और तिलिस्म पुरानी बात है और असम्भव नहीं है, ठीक नहीं हैं। यह बातें पुरानी हैं वा नई सो बतलाने का काम सहयोगी का है !' ठीक है, यह काम तो हमारा है पर श्रीमान् का भी कुछ है ? केवल बात का बतंगड़ करना कि और भी कुछ ? पाठकवृन्द ! हम यदि ऐयारी और तिलिस्म की प्राचीनता में कुछ प्रमाण दें तो उससे सहयोगी को सन्तोष नहीं होगा। क्योंकि वह कहता है कि 'जबतक वह (सुदर्शन) अथवा बाबू देवकीनन्दन जी ऐयारी का बटुआ तैय्यार करके सर्वसाधारण के समक्ष न रख दें केवल हम ही नहीं बरन इन उपन्यासों की प्रशंसा में लोटपोट हो जाने वाले पाठक भी इन्हें मिथ्या समझते हैं'। देखिये किस कँडे का प्रश्न है। और यह भी विचारना है कि सहयोगी की विशालबुद्धि में अभीतक यह अध्यास समाया हुआ है कि जिस प्रकार उसके सम्पादक महाराज अपने 'विचित्र स्त्रीचरित्र' को 'सत्य' मान रहे हैं वैसे ही हम भी मानते हैं ! 'मिथ्या' और 'असम्भव' शब्द के अर्थ में कितना अन्तर है अभी तक सहयोगी के यह समझ ही में नहीं आया। हम सहयोगी को अपना अभिप्राय फिर समझाते हैं कि हम 'चन्द्रकान्ता' की घटनाओं को रामायण, महाभारत

के इतिहास के समान सत्य नहीं मानते, किन्तु सम्भव मानते हैं। इतना ही कहते हैं कि ऐसी विचित्र बातें हो सकती हैं। हमने लिखा था कि 'नटों का नाट्य, चारों (डिटेक्टिवों) का कार्य्य, मन्त्रों की शक्ति, औषधियों का प्रभाव और योग की क्रिया असम्भवसी प्रतीत होती है, पर विचारने पर विदित होगा कि सब सम्भव और सङ्गत हैं' इस पर सहयोगी कहता है कि जब तक हम 'ऐयारी का बटुआ' सब के समक्ष न रखदें, सब मिथ्या है! वह हमारी बात को मिथ्या समझे वा असम्भव समझे इससे विशेष क्षति नहीं पर यदि इसी अद्भुत विचार के अनुसार 'श्रीवेंकटेश्वर यन्त्रालय' में प्रकाशित योग, यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र और वैद्यक आदि पुस्तकों के विषय में भी यह कहना आरम्भ कर दिया जाय कि जबतक उनके कर्ता वा प्रकाशक उनकी बातों को सर्वसाधारण के समक्ष सिद्ध न करदें तबतक सब मिथ्या है तो केवल यन्त्रालय ही की नहीं संस्कृत विद्या की भी सफाई हो जायगी।

'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' यदि पं० लज्जाराम जी को सत्यवादी समझते हैं तो हमें अपने पक्ष की पुष्टि में प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं। क्योंकि उनके 'विचित्र स्त्रीचरित्र' में हमारी सब बातों की सत्यता के प्रमाण हैं। जब एक सहयोगी की सच्ची ऐतिहासिक कहानी में एक पूरे क़द की स्त्री त्रूस वाले लड़के का रूप धारण कर लेती है, नाचने के समय दो स्त्री पुरुष दूसरों कासा स्वरूप बदल लेते हैं, और एक ही 'विचित्रस्त्री' बृटिश जाति के गौरवमय 'डिटेक्टिव डिपार्टमेंट' के प्रयत्न को व्यर्थ कर सब को उल्लू बना देती है, तब चन्द्रकान्ता की बातों को असम्भव कह कर हमसे ऐयारी का बटुआ रख देने को कहना बुद्धिमत्ता है कि साधुता है, इस बात का सहयोगी चित्त में विचार करे। शेक्सपियर की 'जुलियट' का औषध से मृतकल्प होकर कब्र से निकल आना चाहे यथार्थ हो, रैनाल्ड कृत उपन्यासों में मूर्छा और उत्थापन व्यापार चाहे ठीक हो, परन्तु बाबू देवकीनन्दन जी की पुस्तकों की एक भी बात ठीक नहीं! गोरी-चमड़ी-वाले जो लिखें सो सब सम्भव है और बिचारे कृष्णकाय लिखें सो सब

असम्भव ! 'लेडो फ्रांसिस-बाउंटी' एकदम सच्ची और 'चन्द्रकान्ता' बिल्कुल असम्भव !

जिस 'साहस के साथ' सहयोगी हमसे ऐयारी के बटुए के विषय में कहता है, यदि किसी लज्जाहीन पाठक ने उसी साहस से उसीके शब्दों में कह दिया कि 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' सम्पादक ऐसी 'विचित्र-स्त्री' तैयार कर सकें तो कदाचित् गवर्नमेंट उन्हें बहुत कुछ इनाम देगी, क्योंकि उस समय उसे शत्रु का भेद जानने के लिए लाखों रुपया इंटेलीजेंस डिपार्टमेंट में न खर्च करना पड़ेगा। उसकी एक विचित्र स्त्री रूसी जनरलों को झांसे में फँसा कर रूस के किलों से भेद लासकेगी और दो चार मिलकर कदाचित् भारत की सीमा पर से रूसी सेना को भगा सकेंगी' (इत्यादि) तो सहयोगी क्या उत्तर देगा ?

सहयोगी को स्मरण रहे कि उसके 'लोगों का यह कहना कि बाबू साहब जैसे ऐयारी तिलिस्म वाले उपन्यास अच्छे लिख सकते हैं वैसा उनके हाथ से और विषय नहीं निकलता है' ऐसा ही है जैसा कोई उसके सम्पादक महाशय के विषय में कहे कि वह जैसे भिड़ंत और विरोध के अच्छे लेख लिख सकते हैं वैसा उनके हाथ से और विषय नहीं निकलता, सहयोगी के वक्ता लोग यदि सत्यवादी और प्रतिष्ठित मनुष्य हैं (कमीने नहीं) तो जान पड़ता है कि बाबू साहब का 'कटोरा भर खून' नाम का उपन्यास अच्छा है। कदाचित् इसको 'अच्छा' इस लिए कहा है कि यह 'नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित और प्रचारित हुआ था। परन्तु साथ ही सहयोगी दबी जीभ से यह भी कहता है कि 'लोगों के ऐसे कथन में कहाँ तक सत्यता है सो हम कह नहीं सकते ?' क्यों ? क्या इस लिए कि उससे यह सिद्ध हो जायगा कि बाबू साहब ऐयारी और तिलिस्म रहित भी उपन्यास लिख सकते हैं ? अन्त में हम फिर सहयोगी का ध्यान मूल विषय की ओर दिलाया चाहते हैं कि उस पर शास्त्रीय विचार चले इधर उधर की बातों में लोगहँसाई कराना ठीक नहीं और साथ ही यह भी सोचे कि भ्रम किसका है ? हमारा कि उसका ?

धन्यवाद ।

प्रियवाचक वृन्द ! पहिले हम समझते थे कि हिन्दी सहयोगियों के प्रकाण्ड 'नक्कारखाने' में सुदर्शन' का लेख तूती की आवाज़ है, परन्तु इधर यह देखकर कि उसकी ज़रा ज़रा सी बातों पर अनेक सहयोगियों के कालम काले हो रहे हैं तो हमें इस कारण आनन्द होता है कि एक दिन वे इसकी उचित सम्मति पर ध्यान देकर लोकोपकारक कार्य्यों में भी सहायता करेंगे। यद्यपि हम पर मिथ्या आक्षेप होते देख कर हमारे अनेक मित्रों को कष्ट होता होगा, तथापि उनको इस बात से प्रसन्न होना चाहिए कि जिन पत्रों को सुदर्शन के उत्तम विचारों की प्रशंसा में दो शब्द कहने का भी अवसर नहीं मिला आज वे भी अपने जी की उमङ्ग निकाल रहे हैं ! एक बात और भी विलक्षण है कि प्रशंसा के समय हमारे सहयोगी केवल लेखों की प्रशंसा किया करते हैं परन्तु आज कल लेख की समालोचना न कर हमारी निन्दा करते हैं ! कोई कहता है कि हम बनारस के गंदे उपन्यासों के पक्षपाती हो गए, कोई कहता है कि हम मित्रता को निर्वाह करना नहीं जानते, और कोई कहता है कि हम हिन्दुओं को गाली दिला रहे हैं ! हम जिस बात को पूछते हैं, उसका उत्तर नहीं और हम पर प्रश्न इतने किए जाते हैं कि उनके उत्तरों के लिए सुदर्शन में स्थान नहीं, तथापि हम क्रमशः सब सज्जनों को उत्तर देने की चेष्टा करेंगे।

हम न तो काशी के सब उपन्यासों के पक्षपाती हैं और न उनके देखने को हमारे पास समय ही है। और उपन्यासों की बातें तो जाने दीजिए, इस पत्रसम्पादक की चले तो चन्द्रकान्ता के पाठकों को उसके बदले तुलसीकृत रामायण पढ़वावें, परन्तु देश का ऐसा सौभाग्य कहाँ जो इस विषय में हमारी चले ! हम चन्द्रकान्ता के इतने ही पक्षपाती हैं कि उसे सम्भव और लोगों के मनोविनोद का कारण समझते हैं।

प्रवीण सहयोगी 'प्रयाग समाचार' आदि के सम्पादक महाशयों के माननीय मत से हमारा विरोध नहीं है, किन्तु हमारे विचार में धर्म्म वा नीति शास्त्र और वस्तु है और काव्य वा साहित्य अन्य वस्तु है। यद्यपि हम चाहते हैं कि हमारा हिंदी साहित्य धर्म्मशास्त्रानुमोदित हो, हिंदी में कालिदास और दण्डी जैसे महाकवियों का आविर्भाव हो, तथापि दुःख यही है कि वैसा क्षमताशाली होना प्रत्येक के लिए सम्भव नहीं है। हमारे जिन मित्रों ने उपन्यासादि की शैली पर 'परीक्षागुरु' के समान उपदेशपूर्ण आख्यायिका लिखनी आरम्भ की है, उनकी रुचि का हम आदर करते हैं, किन्तु काव्य के विचार से हमें कहना पड़ता है कि निर्जीव शरीर का शृङ्गार हो रहा है। 'गणेशं कुर्वाणो वानरं चकार' की कहावत चरितार्थ हो रही है। यदि उपदेश ही ग्रहण करना कराना है, तो किसी आधुनिक लेखक की निर्जीव आख्यायिका का पाठ करने की जगह रामायण गीता आदि धर्म्मपुस्तकों का ही अवलोकन करना चाहिए। बंबई का सहयोगी कहता है कि चन्द्रकान्ता के पाठ से पाठकों का समय वृथा नष्ट होता है पर हम पूछते हैं कि हमने कब कहा है कि इसमें समय का सद्व्यय होता है। भला, चन्द्रकान्ता से तो कुछ शिक्षा भी निकाली जा सकती है, परन्तु भारतमित्र ने 'चलता-पुर्जा' और श्रीवेंकटेश्वर समाचार ने 'विज्ञान और बाजीगरी' का उपहार दे अपने पाठकों के समय का कहाँ तक सद्व्यय किया है, इस बात का हम पर मिथ्या आक्षेप करने वाले स्वयं विचार करें। जिस देश के सुप्रतिष्ठित पत्र चटकीले नाम की ओट में अपने पाठकों को 'ताश' खेलने की शिक्षा देते हैं, वहाँ समय की सार्थकता किस प्रकार हो सकती है।

सहयोगी श्रीवेंकटेश्वर समाचार ने 'सुदर्शन और हम' इस शीर्षक लेख में हमारे 'प्रथम और दूसरी वार' के कथन में अन्तर दिखला कर अपने 'विचित्र स्त्रीचरित्र' का उल्लेख करते हुए 'अनुवाद' और 'गुजराती भूमिका' की जवनिका के पीछे जो अपने को छिपाने की चेष्टा की है, उसकी हम भी 'प्रथम और दूसरी बार' के सूत्र से

परीक्षा करते कि सहयोगी अपने स्थान से कितना पीछे हट गया है परन्तु उससे यह सुनकर कि अनुवादक महता जी ने अपना पहिला विचार बदल दिया है, हम कुछ विशेष लिखना नहीं चाहते। हमारे ज्येष्ठ सहयोगी ने हमें इस बात का उपालम्भ दिया है कि 'हमने उसकी एक पंक्ति के उत्तर में पाँच सात पृष्ठ और दूसरी बार दो कालम के उत्तर में १६ पृष्ठ खर्च कर दिए!' परन्तु सहयोगी को समझना चाहिए कि प्रश्न और उत्तर के अक्षर समान नहीं होते। सहयोगी हमसे प्रश्न भी करता जाता है और हमारे लिखने की शिकायत भी करता जाता है। तो क्या इसका तात्पर्य यही समझा जाय कि वह स्वयं चुपका न हो कर हमें चुप करना चाहता है? सहयोगी के प्रश्नों का उत्तर जो इसबार भी हम उसी प्रकार देंगे तो फिर उसी उपालम्भ और 'शुष्कविवाद' का सूत्रपात होगा, इसलिए इस विषय में हम स्वयं चुपके होकर सहयोगी को विजय बधाई देते हैं कि 'जितं जितं महाराजेन'।

सहयोगी को विजय बधाई देने पर भी उसकी एक बात की आलोचना किये विना नहीं रह सकते। बाल्यावस्था में एक मसल सुनी थी कि 'लड़े बराबर रोवे बाघ' परन्तु बहुत दिनों के पीछे श्रीवेंकटेश्वर समाचार' ने उसका स्मरण करा दिया। वह 'भारतजीवन' प्रेस की पुस्तकों के विषय में गर्ज रहा है, मथुरा कार्यालय की खबर ले रहा है और साथ ही अपने को उनका मित्र वा हितैषी कह रहा है परन्तु हमारे विषय में यों लिखता है कि—'सुदर्शन के सम्पादक ने श्रीवेंकटेश्वर यन्त्रालय के स्वामी के मित्र बनने पर भी 'चिराग तले अन्धेरा' शीर्षक लेख में कार्यालय को क्षति पहुँचाने के लिए जो कुछ लिख मारा है; उसका हम उत्तर देना नहीं चाहते परन्तु पं० माधवप्रसाद जी मिश्र ही इस बात को सोच लें कि उनसे इस विषय में मित्रता का कहाँ तक निर्वाह हुआ है'। सहयोगी जी! अवश्य सेठ जी हमारे मित्र हैं और वैसे ही आप भी हैं, यदि मित्रों को सचेत करना ही आपकी परिभाषा में मित्रता का निर्वाह न करना है, तब तो हम और

आप सब इस विषय में अभियुक्त हो सकते हैं, नहीं तो हम पर यह कलङ्क लगाना आपकी आदर्श मित्रता का अभूतपूर्व निदर्शन है। बहकाने वाले महात्मा अवश्य ऐसा विचार सेठ जी के और आपके चित्त में उत्पन्न कर सकते हैं पर हमें विश्वास है कि आप और सेठ जी हमारी तरह बहकने वाले नहीं हैं। आप जानते हैं कि, आजकल जो विचार हो रहा है वह सहयोगियों में—मित्रों में है, न कि प्रतियोगी और शत्रुओं में। उचित था कि आप हमारी बात का खण्डन करते, जो हमसे भूल हुई हो उसको दिखाते और निज सौहार्द्र से उसको सुधारते न कि इस प्रकार अमित्रता का डिण्डिमा बजा कर दूसरों को हँसने का अवसर देते। जब आप एक कड़कदार समालोचक हैं तब आपको यह स्वीकार करना पड़ेगा कि "कार्यालय को क्षति पहुँचाने" का कलङ्कपङ्क हम पर लगा, तो आप भी नखशिख पर्यन्त उसमें सन जायँगे, इसमें कुछ सन्देह नहीं। जब आप 'उत्तर देना नहीं चाहते' "बतबढ़ाव" करने से 'उपेक्षा' करते हैं तब हम भी इस पर आज अधिक बल लगाना नहीं चाहते, परन्तु स्मरण रहे 'हितकार्येऽपि यो क्रुद्धेत् तस्य प्रीतिर्हि कीदृशी ?'

सहयोगी भारतमित्र जी ने जो यह लिखा है कि 'सुदर्शन जी महाराज का यह कथन है कि कोई कैसी ही खराब पुस्तक बना कर हिन्दुओं को गाली दे भारतजीवन सम्पादक को जरूर उसीका अनुवाद करालेना चाहिये' इसके विषय में हमारा यही वक्तव्य है कि यह कहना तो अलग रहा, ऐसा सोचना भी हम महापाप समझते हैं। हम न ऐसी कल्पना कर सकते हैं, न कह सकते हैं, इस बात को स्वयं भारतमित्र भी जानता है; तथापि उसने जो न्याय की तुला में हमें मुसल्मानों के साथ तौला है, इसमें समदर्शिता वा अभेदज्ञान का कारण यही कहा जा सकता है कि अब वह पूरा पण्डित हो गया है। 'समः शत्रौ च मित्रे च पण्डिता समदर्शिनः।'

'राजपूत को नेक सलाह' नामक लेख हमारा नहीं, पत्रप्रेरक का है। विज्ञापन और प्रेरितपत्र का उत्तरदाता सम्पादक नहीं होता,

इस बात को सब जानते हैं। स्थानाभाव से हम उसका खण्डन साथ ही साथ नहीं छाप सके तथापि 'चिराग तले अन्धेरा' इस लेख में हमारा मत स्पष्ट है, 'वेंकटेश्वर' आदि पत्रों में हम ऐसे संवाद छपे दिखा सकते हैं जो हिन्दू धर्म्म के विरुद्ध हैं और जिस पर सम्पादक की भी टिप्पणी नहीं है; तथापि हम नहीं कह सकते कि यह सम्पादक का मत है। मौनं सम्मति लक्षणम्' के आधार पर। तथापि हम अपने मित्र भारतमित्र सम्पादक को धन्यवाद देते हैं कि वे चाहे भ्रमवश ही क्यों न हो परन्तु धर्म्म और हिंदुओं की प्रतिष्ठा के विचार से हमें फटकारते हैं। धर्म्म वा कर्तव्य के लिए फटकारने वाले मित्र सुलभता से नहीं मिल सकते।



एक लिपि किस प्रकार होगी ?

भारतवर्ष में अनेक प्रकार की भाषाएँ और अनेक प्रकार के अक्षर हैं, इस बात को सभी लोग जानते हैं और बुद्धिमानों से यह भी कुछ छिपा हुआ नहीं है कि इस प्रकार की अनेकता से देशोन्नति में बहुत ही बाधा होती है। एक प्रान्त का विचार दूसरे प्रान्त पर विदित नहीं होता और एक समूह का भाव दूसरे समूह के लोगों तक नहीं पहुँचता जिसका विदित होना वा पहुँचना इस समय बहुत ही आवश्यक है।

यद्यपि भारतवर्ष की सब भाषाओं में हिन्दी भाषा सर्वोपरि मानी गयी है और अक्षरों में नागरी अक्षर सब से अधिक सुवाच्य और सब से अधिक भ्रान्तिशून्य स्वीकार किए गये हैं तथापि इस देश में जितना अधिक उनका प्रचार होना चाहिए नहीं होता। इसमें हमलोगों की स्वार्थपरता एवं उदासीनता और शिक्षा विभाग की नीति ही मुख्य कारण है। भारतवर्ष में एक भाषा और एक लिपि के होने की कल्पना अत्यन्त कठिन होने पर भी असम्भव नहीं है। इसको हम स्वीकार करते हैं; परन्तु जब हम लोगों की स्वार्थपरता पर ध्यान देते हैं तब यही प्रश्न उठता है कि बिना स्वार्थ त्याग किये एक लिपि किस प्रकार होगी ? हम स्वीकार करते हैं कि देश भर में एक भाषा करने की अपेक्षा पहले एक लिपि करने का विचार प्रशंसनीय और सहज साध्य है; परन्तु जब हम हिन्दुओं की स्वार्थ-परता और उदासीनता पर ध्यान देते हैं तब जी टूटने लगता है।

कलकत्ते के सुयोग्य जस्टिस शारदाचरण मित्र और बंबई के सुविख्यात विद्वान् पण्डित मनसुखराम जी त्रिपाठी अपने अपने प्रान्तों में नागरी के स्वागत की चेष्टा कर रहे हैं, किन्तु एतद्देशीय हिन्दुओं के

अग्रगामी राजा और पण्डित लोगों की इस विषय में क्या चेष्टा हो रही है ? नागरी प्रचारिणी सभा न्यायालयों में नागरी के प्रचार का ढोल बजा कर रह गयी, किन्तु उसके कार्य्यकर्ता अपनी ओर से उस आज्ञा को काम में अबतक भी न ला सके। युक्तप्रान्त में ऐसे बहुत कम स्थान हैं, जहाँ नागरी में उर्दू की तरह सम्मन आदि कागज़ भरे जाते हों। अन्यत्र की बात जाने दीजिए, तीर्थराज प्रयाग ही पर एक दृष्टि डालिए, जो अपनी लोकपावनी त्रिधारा के समान माननीय मालवीय जी की जन्मभूमि होने के कारण भी प्रसिद्ध और प्रणम्य है। वहाँ से नागरी का एक साप्ताहिक पत्र "प्रयाग समाचार" निकलता है और हिन्दी का सुप्रसिद्ध मासिक पत्र "हिन्दी प्रदीप" भी वहाँ से प्रकाशिक होता है। इसके अतिरिक्त देशहितैषी कहलानेवाले कायस्थों की वहाँ छावनी पड़ी है। मिस्टर सच्चिदानन्दसिंह बारिष्टर के उस मासिक पत्र का, जिसके सहारे से कलकत्ते के जस्टिस, नागरी की बात कह रहे हैं, वही लीलाक्षेत्र है, तिस पर वहाँ की कचहरियों में नागरी के लिए क्या हो रहा है ? प्रयाग का कौनसा वकील है जो यह कह दे कि उसके यहाँ नागरी का पूर्णरूप से व्यवहार होता है ? नागरी-प्रचारकों के आचार्य्य माननीय पण्डित मदनमोहन मालवीय जी ने वैदिक धर्म्म के उद्धारकर्ता प्रातःस्मरणीय कुमारिल भट्ट के समाधि-स्थान पर भाग्यवान "म्येकूडानल" के नाम का स्मारक तो खड़ा कर दिया, किन्तु नागरी के लिए वहाँ उन्होंने क्या किया ? हमारे निवेदन का तात्पर्य्य यह है कि लखनऊ के उर्दूप्रेमी मुसलमान बारिस्टरों और प्रयाग के हिन्दी-हितैषी हिन्दू वकीलों की न्यायालय सम्बन्धी कार्य्यवाही में कितना अन्तर है ? प्रयाग में अब भी कोरी उर्दू ही में कार्य्यवाही लिखी जाती है। नागरी का खाना खाली ही रहता है।

जब युक्त प्रदेश की राजधानी तीर्थराज़ की यह दशा है, तब दूसरे नगरों में क्या हो रहा होगा, इसका अनुमान आप स्वयं कर सकते हैं। हमारे कहने का तात्पर्य्य यह नहीं है कि मालवीय जी आदि सज्जनों ने नागरी के लिए कुछ किया ही नहीं। नहीं, नागरी के लिए उन्होंने

और उनके मित्रों ने जो कुछ किया उसके हम कृतज्ञ हैं, किन्तु हमारा प्रयोजन इतना ही है कि, एक उत्तम कार्य्य में सफलता पाकर उससे उदासीन होना वा थोड़े से ही में अपने को कृतकृत्य समझना उन्हें उचित नहीं है। नागरी प्रचारिणी सभा अनेक प्रकार के नये नये कार्य्यों का सूत्रपात कर रही है, पर उस प्रधान कार्य्य से मुँह मोड़ बैठी जिसके कारण उसकी प्रसिद्धि हुई थी ! न इस विषय की खोज की जाती है और न कुछ लिखा-पढ़ी ही होती है।

जयपुर के महाराज और काशीनरेश का धर्मानुराग सब पर विदित है, दोनों ही हिन्दुओं के माननीय और संस्कृत के प्रेमी कहे जाते हैं पर दोनों ही के न्यायालयों में डंके की चोट उर्दू का प्रचार हो रहा है, तिस पर भी उनके पारिषद् और स्तावक उन्हें मातृभाषा का प्रेमी कहते नहीं लजाते ! कलकत्ते का एक पत्र बार बार कहता है कि उसके उस्ताद लोगों से अनुरोध करते हैं कि नागरी में लिखा पढ़ा करो पर वह इस बात का उत्तर नहीं देता। जब सचमुच वे हिन्दी के प्रेमी हैं, तब अपने मासिक पत्र को उर्दू में क्यों निकालते हैं ? जब ऐसे ऐसे प्रसिद्ध ध्वजाधारियों का यह हाल है तब किस प्रकार विश्वास करें कि सहज ही में एक लिपि हो जायगी।

एक बार हमने एक प्रसिद्ध मारवाड़ी सेठ से कहा था कि उनकी ओर से जयपुर के महाराज के पास इस आशय का एक प्रार्थनापत्र जाना चाहिए कि वे अपने राज्य के दफ़तरों में उर्दू की जगह नागरी का प्रचार करदें। इसके जवाब में सेठ जी ने कहा कि यह हम से नहीं हो सकेगा। मैंने पूछा क्यों; बोले यदि महाराज हम लोगों से कह दें कि पहले तुम लोग अपने वही खाते को नागरी में कर डालो, तब हमसे न्यायालयों में नागरी प्रचार की बात कहना, तो फ़िर हम क्या कहें ? मैंने उत्तर दिया कि "तुम भी मुड़िया वा मारवाड़ी अक्षरों के बदले नागरी को व्यवहार में लाओ" इस पर उन्होंने कहा कि "दूसरों को उपदेश देना सहज है, पर स्वयं उसका आचरण करना बड़ा कठिन है। गुसाँई तुलसी-

दास जी ने बहुत ठीक कहा है कि "पर उपदेश कुसल बहुतेरे, जे आचारहिं ते नर न घनेरे"

इस बात को प्रायः देश के सभी सुशिक्षित स्वीकार करते हैं कि वैश्य जाति भारतवर्ष की एक प्रधान जाति है। शास्त्र और शस्त्र से देश की उन्नति करने वाले ब्राह्मण क्षत्रिय जब समय के फेर से स्वतन्त्रता से कुछ विशेष कर नहीं सकते हैं, तब वाणिज्य द्वारा वैश्य बहुत कुछ कर सकते हैं। इस समय वैश्य जाति द्वारा भारतवर्ष के प्राण स्वरूप देशी व्यापार की बहुत कुछ रक्षा हो रही है, परन्तु उनके मुड़िया अक्षरों के वही खाते से नागरी की शिक्षा का द्वार रुक रहा है और देशोन्नति में एक प्रकार की रोक हो रही है, इसे सभी स्वीकार करेंगे।

हम ब्राह्मण के कथनानुसार कहते हैं कि "मुड़िया के अक्षर केवल जानी हुई बातों का इशारा टाँक रखने का सङ्केत मात्र हैं कोई मतलब की बातें लिख के किसी को समझाने व बहुत दिन रख छोड़ने के लिए नहीं है! राजा टोडरमल ने उर्दू से शीघ्र लिखे जाने के विचार से कल्पना कर लिए थे। उनमें कोई दोष निकले तो हिन्दी दूषित नहीं हो सकती। मुड़िया में न कोई ग्रन्थ लिखे जाते हैं न बिना जानी हुई बात लिखी जाती है। इस अल्पाधिकार पर भी केवल मात्रा का भ्रम रहने से मुड़िया उस उर्दू से अच्छी ही है, जिसके पक्षपाती बड़े बड़े मौलवी और मुंशी एवं स्वयं गवर्नमेंट है! जिसमें सैकड़ों ग्रन्थ और अखबार छपा करते हैं! मुड़िया में चना चीनी चूना चैन इत्यादि का भ्रम होगा सही पर लिखने वाला भी अपने व्यवहार सम्बन्धी बातों को जानता है पढ़ने वाला भी जानता है और चकार एवं नकार में ख, ज, ह, व, प, त, स, न, आदि का भ्रम कदापि नहीं पड़ सकता। अतः पढ़ने वाला जहाँ च और न पढ़ लेगा वहीं जान जायगा कि लिखने वाले का प्रयोजन यह है! यह तो उर्दू ही में खूबी है कि केवल नुक़ता न होने मात्र से बड़े बड़े मुंशी न जान सकेंगे कि नरपत सिंह है या परबत संख है। नुक़ता रहने पर भी यह समझना कठिन पड़ेगा कि

(जहान से गये लिखा है कि (फाँसी गये) लिखा है ! मुड़िया के लिए तो केवल हंसोड़ लोगों ने (अजमेर गए) या (आजमर गए) इत्यादि कहावतें गढ़ली हैं ! ऐसा होना कभी सम्भव नहीं है कि एक दूकान से दूसरी दूकान में रोज चिट्ठी आती है। बीमारी का हाल पहली चिट्ठी में है नहीं और कोई अजमेर गए में आज मर गए का धोखा खाजाय। पर इसके विरुद्ध उर्दू की बदौलत (सकते से मरा), और (संखिए से मरा) एवं (छुरी से मारा) और (छड़ी से मारा) इत्यादि पर मुकदमें हो चुके हैं !! फिर कोई मुड़िया को भी उर्दू से कम किस प्रकार कह सकता है ?" पर तो भी यह कथन पक्षपात से खाली नहीं है।

हमने माना कि मुड़िया अक्षर फारसी के अक्षरों के समान भ्रमोत्पादक नहीं है, पर इसमें तो सन्देह नहीं कि नागरी की अपेक्षा तो भ्रमोत्पादक ही हैं। यों तो लोग अटकल से गूंगे और बहरे लोगों से भी काम निकाल लेते हैं, पर असल में तो मुड़िया में "छोरा" "छोरी" सब का एक ही रूप है। बिना मात्रा वा लगमात के यदि भ्रम न हो सकता तो संस्कृत के वे वैयाकरण जिनके विषय में यह कहावत है कि "अर्द्धमात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः" अर्थात् आधी मात्रा की कमी से वे लड़का उत्पन्न होने के समान आनन्द मानते हैं, इतनी मात्राओं की कल्पना क्यों करते ? ठीक है, "न मुड़िया में कोई ग्रन्थ लिखे जाते हैं न बिना जानी हुई कोई बात लिखी जाती है" पर जो कुछ लिखा जाता है उसमें तो नागरी की दाल गलने नहीं पाती ? गुजराती, मोड़ी, कैथी आदि अक्षर मुड़िया की तरह पहले पहल खाली मामूली काम चलाने के लिए बने थे, पर आगे चल कर सब ने अपना स्वतन्त्र अधिकार कर लिया। यदि बही खाता नागरी में हो जाय तो सब वैश्यों को नागरी पढ़नी पड़े और यदि व्यापार के लिए मुड़िया ही बनी रहे तो भले ही अखबारों वाले अपने कागजों को नागरी में छापते रहें पर देश के असली स्वत्व से नागरी वञ्चित ही रहेगी न पुस्तक और अखबार पढ़ने के लिए सब वैश्य नागरी नहीं पढ़ सकते। यह सिद्धान्त की बात है कि, विद्या विद्या

के लिए प्यारी नहीं; वरञ्च इस लिए प्यारी है कि, उससे हमारा स्वार्थ-सिद्ध होता है। जब एक वैश्य जाति के वाणिज्य व्यापार आदि का विशेष सम्बन्ध मुड़िया अक्षरों के साथ रहेगा, तब तक एक विस्तृत और कार्यक्षम जनसमूह से नागरी देवी अलग रहेगी इसमें कुछ सन्देह नहीं। आज यदि सब वाणिज्य व्यवसायी वैश्य नागरी लिखना पढ़ना जानते, तो उनका बहुत कुछ उपकार होता और नरपशु के तुल्य उन्हें अपना जीवन व्यतीत करना नहीं पड़ता।



उपन्यास और समालोचक

हिन्दी के बड़े बड़े संवादपत्रों में आजकल समालोचना खूब धड़ाधड़ हो रही है। छोटे से बड़े तक सब समालोचक हो रहे हैं। किसी ने नायिकाभेद को मिटा देना चाहा है, किसी ने उपन्यासों को उठा देने के लिये कमर कसी है। उनकी समालोचना का मुख्य अभिप्राय क्या है, सो तो वे ही जानें या अन्तर्यामी, परन्तु उनका कहना यह है कि इन सब पुस्तकों से समाज नष्ट भ्रष्ट हो रहा है। उसीकी रक्षा के लिये यह सब परिश्रम है।

कोई कोई कहते हैं कि नहीं साहब! बात कुछ और ही है। इन जादू भरे उपन्यासों की तो रातदिन बिकरी हो रही है और उनकी अच्छी अच्छी पुस्तकें भी लोग नहीं ख़रीदते। इसी कारण वे समालोचना द्वारा अपने जी का उबाल न निकालें तो क्या करें? भला यह कैसे सहन किया जाय कि "पाठक" और "द्विवेदी" जी आदि की पुस्तकों का द्वितीय संस्करण भी न हो, भारतमित्र-सम्पादक के 'हरिदास' को कोई रद्दी के भाव भी न ले, वेंकटेश्वर-समाचार-सम्पादक लिखित पुस्तकों की कोई बात भी न पूछे, और काशीवालों की पुस्तकों पर लोग ऐसे टूटें कि हाथोंहाथ सब प्रतियाँ उठ जाँय!

हमारी समझ में यह बात सर्वाङ्गपूर्ण न होने पर भी निर्मूल नहीं कही जा सकती। क्योंकि लोगों के चित्त में सन्देह होने का कारण न हो ऐसा नहीं है। जबकि वे देखते हैं कि जासूस से अपने कालम के कालम काले करनेवाला श्रीवेंटेश्वर समाचार भी, जिसने कि इस वर्ष भी अपने उपहार में 'भयानक खून', नाम की वैसी ही पुस्तक दी है, जासूस की निन्दा कर रहा है, तो यही समझते हैं कि "अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दाँ प्रकुर्वते।" इसी तरह भारतमित्र के 'गुप्तचर' से भी वे अपनी अटकल लगाते हैं। जो पत्र अपने काम के समय आधुनिक पुरुष को 'महर्षि'

बना डालता है, वह यदि समयान्तर में किसी नये मनुष्य की मुनिता पर विवाद करे तो उसका पाठकों पर भी अच्छा प्रभाव नहीं पड़ सकता। क्योंकि जिसे बुद्धिमान मनुष्य अनुचित समझता है उसे स्वयं स्वीकार नहीं किया करता है। तथापि हम इस बात को स्वीकार नहीं कर सकते कि असहिष्णुतावश ही सब समालोचक उपन्यास लेखकों पर टूट रहे हैं; विशेषतः भारतमित्र और श्रीवेंकटेश्वर समाचार के विषय में हमारा ऐसा विचार नहीं है। उनके सम्पादक महाशय जानते हैं कि आजकल ऐसे ऐसे वक्ता हिन्दूधर्म्म पर व्याख्यान दे रहे हैं कि जो न संस्कृत ही जानते हैं और न धर्म्मशास्त्र ही समझते हैं, तथापि उनके पास सहस्रों आदमियों की भीड़ होती देख कर वे उनकी प्रशंसा ही किया करते हैं। हमारे प्रशंसाशील सहयोगी इस बात पर कभी विचार नहीं करते कि उस धूमधड़क्के का परिणाम क्या है? और वे कैसे धर्म्मप्रचारक हैं? तब कोई कैसे स्वीकार करे कि समाज की मङ्गलकामना के वास्ते ही वे उपन्यासों की निन्दा में प्रवृत्त हो सकते हैं? बात यह है कि जिस प्रकार चतुर से चतुर ग्रन्थकार भूल सकता है, वैसे ही अच्छे से अच्छा समालोचक भी भटक सकता है। हमें भूलनेवालों पर खेद नहीं है, खेद उन पर है, जो जानने पर भी अपना दुराग्रह नहीं छोड़ते।

'सावित्रीस्तम्भ', रासा, शेष, साधारण आदि शब्दों पर हिन्दी के कई नामी लेखकों का अनोखा विचार और मिथ्या बात के पुष्ट करने की बलवत्ती चेष्टा, जिन सज्जनों को स्मरण है, उनको वादानुवाद द्वारा न्यायप्राप्ति की बहुत कम आशा है, तथापि भारतजीवन-सम्पादक श्रीयुक्त बाबू रामकृष्ण वर्म्मा की उदारता देख कर हिन्दी के भाग्यपरिवर्तन के साथ हमें आशा हुई है कि समालोचक महाशय अब 'चिराग़ तले का अँधेरा' दूर करने में भी सङ्कोच न करेंगे।

यह सब कोई जानते हैं कि गुण दोष के सम्यक् विचार का नाम समालोचना है। जो सज्जन सद्विचार पूर्वक समालोचना करते हैं वे रत्नपरीक्षक (जौहरी) के समान केवल अपनी उन्नति के सम्पादक ही नहीं हैं; वरन उस व्यापार के भी उन्नायक और साधक हैं, जिसमें उन

की विवेचना शक्ति का आधिपत्य है। इसी प्रकार जो महाशय रागद्वेष वा हठ अज्ञान के कारण समालोचना के नाम को कलङ्कित करते हैं, वे न केवल अपनी ही हानि करते हैं प्रत्युत उस व्यवसाय को भी, जो उन के मनोविनोद ही का नहीं, आजीवन का भी मूल है।

हिन्दी में प्रथम तो उपन्यास लिखने की प्रथा ही न थी, इधर थोड़े दिनों से गिनती के कई उपन्यास दिखाई देने लगे हैं, तो सम्पादक वा समालोचक महोदय उपन्यासलेखकों का उत्साह बढ़ाने के बदले उनको हतोत्साह करने लगे! यहाँ तक कि समालोचना करते करते अपने घर में उन्होंने कुछ नियम भी गढ़ लिये हैं और बात बात में निज निर्मित नियम और प्रथा की दुहाई देते हैं और साथ ही 'तिलिस्म' और 'ऐयारी" के नाम से उनके बदन में खाज उठने लगती है। उनसे कोई नहीं पूछता कि उपन्यासों के विषय में तुम जानते ही क्या हो? जिस उपन्यास को तुम ऐयारी और तिलिस्म का पचड़ा कहते हो उस उपन्यास के बनने के पहिले तुमने कितने उपन्यास पढ़े हैं? और किस किस उपन्यास से कौन कौन गुण तुमने सीखे हैं और इस विषय में समालोचक बनने की योग्यता कहाँ प्राप्त की है?

दूसरों की देखादेखी सम्भव असम्भव का झगड़ा करने के लिये तैयार होजायँगे, परन्तु इस बात को न देखेंगे कि सम्भव क्या है और असम्भव किसे कहते हैं? जब इनसे कोई प्रश्न करेगा कि इन असम्भव तथा ऐयारी वाले उपन्यासों के पहिले आपके भाण्डार में कौन से उपन्यास थे और आपने क्या क्या पढ़ा है? तब अनुचित ही क्यों न कहा जाय, पर 'कादम्बरी' या संस्कृत से अनुवादित इसी प्रकार की और दो एक पुस्तकों का नाम ले बैठेंगे। यद्यपि सब मानते हैं कि महाकवि बाणभट्ट एक अद्वितीय लेखक थे, तथापि इन 'असम्भव' भाषी समालोचकों से उन्हें भी निस्तार मिलना कठिन है।

और तो और हमारे माननीय प्रिय सहयोगी 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' ने भी एक पुस्तक की प्रशंसा करते हुए लिख दिया है कि "इसमें बाबू देवकीनन्दन खत्री के "चन्द्रकान्ता' की तरह असम्भव बातें नहीं

हैं, किन्तु प्राय: उन्हीं बातों का उल्लेख है जो हो सकती हैं।" सहयोगी के 'प्राय:' शब्द से सिद्ध होता है कि उनके विचार में वह पुस्तक भी असम्भव बातों से खाली नहीं है, किन्तु चन्द्रकान्ता के समान वह असम्भव घटनापूर्ण नहीं है !

किसी अज्ञपुरुष से अविचारित वाक्य निकल जाय तो कुछ खेद नहीं होता किन्तु यदि विचारशील वैसे वाक्य का प्रयोग करे तो खेदोत्पादक होता है ! सहयोगी को उचित तो यही था कि प्रस्तुत की चाहे जितनी प्रशंसा करते, परन्तु अप्रस्तुत की व्यर्थ निन्दा न करते। यदि 'असम्भव' शब्द का यही अर्थ सहयोगी ने समझ लिया है कि जो आश्चर्य्य व्यापार किसी एक की समझ में न आवे वही असम्भव है, तब तो चन्द्रकान्ता की बातें तो दूर रहीं, विद्याविषयक सभी बातें असम्भव हैं। कलानभिज्ञ पुरुष जैसे रेल तार की बातों को असम्भव कह सकता है, वैसे ही योगादि के आश्चर्य्य व्यापार को अज्ञ अस्वीकार कर सकता है; परन्तु उनके ऐसा करने पर भी क्या वे असम्भव हो जायगीं ? और यदि यह कहा जाय कि नहीं असम्भव शब्द का वही अर्थ है जो शास्त्र में प्रसिद्ध है, तो हमारा निवेदन यह है कि फिर आपका कहना उचित नहीं। क्योंकि 'चन्द्रकान्ता' में न तो कहीं वन्ध्या के पुत्र हुआ है और न उस में शशविषाण का वर्णन ही है। कहीं भी कारण के विना कार्य्य की सृष्टि नहीं दिखलाई गई है, फिर उसकी बातों को असम्भव कहना किस प्रकार उचित हो सकता है ?

परमात्मा की सृष्टि में क्या सम्भव है और क्या असम्भव है, यह तो वही जान सकता है कि जिसने प्रकृति पुरुष के यथात्म्य को जान लिया हो। नहीं तो नटों का नाट्य, चरों (डिटेक्टिवों) का कार्य्य, मन्त्रों की शक्ति, औषधियों का प्रभाव और योग की क्रिया असम्भव सी प्रतीत होती हैं, पर विचारने पर विदित होगा कि सब सम्भव और सङ्गत हैं।

बाबू बालमुकुन्द जी ने हरिदास जी के विषय में सप्रमाण लिखा है कि वे महीनों तक ज़मीन में रहे, जल पर चले और भी अनेक ऐसी

ही चमत्कारिणी बातें दिखाईं। इसी प्रकार साधु रामरूप जी भी एक ही काल में दो जगह दिखलाई पड़े थे, कहिये यह सब क्या था ? सम्भव कि असम्भव ? हमने सहस्रों मनुष्यों के समक्ष काशी की जङ्गमबाड़ी और रानी कुर्ग के यहाँ अग्नि में कापालिकों (तथा औरों) को चलते हुए देखा है। जिसने इस क्रिया को देखा वा इसका तत्व समझा है वह इसे विचित्र मानने पर भी अनहोनी वा असम्भव नहीं कह सकता।

यह तो आँखों देखी हुई, अब नाटक और उपन्यासों की बात सुन लीजिये। बाबू देवकीनन्दनजी से भी अधिक आश्चर्यमयी घटना दूसरे कवियों ने लिखी हैं। सब से प्रथम आप 'कादम्बरी' ही को लीजिये। यह वह उपन्यास है जिसकी नायिका युवती की युवती ही बनी रही और नायक के तीन जन्म बीत गए। क्या किसी के पूछने पर आप कह देगें कि यह सम्भव है अथवा यह उपन्यास का गुण है ? उक्त घटना से कादम्बरी को कोई बुद्धिमान बुरा नहीं कह सकता, यदि कहे तो उन्मत्त समझा जाय।

विलायत के सुप्रसिद्ध महाकवि शेक्सपियर ने 'म्येकवेथ' नाटक में जो भूतनियों के आशीर्वाद की घटना लिखी है, उससे उसका सौन्दर्य्य घटा है कि बढ़ा है ? और वह सम्भव है कि असम्भव ? क्या कोई भी काव्यकुशल पुरुष उसे असम्भव कह कर घृणा प्रकाशित कर सकता है ?

क्या कोई कहेगा कि विलायत के 'रिनाल्ड' साहब उपन्यास लिखना नहीं जानते थे। कारण कि उन्होंने 'मेरीप्राइस' में स्वप्नविचार और 'फोस्ट' तथा वेहरउल्फ इत्यादि में भूतव्यापार लिखा है। यहाँ तक कि 'एक आदमी हर महीने की आखिरी तारीख को आदमी का शरीर छोड़ के भेड़िया बन जाता था और दूसरे दिन फिर उसी तरह का मनुष्य बन जाता था' तो क्या इससे उनके सब उपन्यास रद्दी होगए और उनमें उपन्यास के गुण ही नहीं रहे ?

खूब स्मरण रखना चाहिये कि ऐयारी और तिलिस्म पुरानी बात है और असम्भव नहीं है, उपन्यास का मुख्य गुण विचित्र घटना है वह चाहे जिस प्रकार से हो, परन्तु उत्तरोत्तर कौतूहलवर्द्धक और

सङ्गत होनी चाहिये, जिन्होंने 'अन्धेरी' और 'आलोरा' की गुफाएं देख-रक्खी हैं उनकी दृष्टि में चन्द्रकान्ता के तादृश मकान असम्भव नहीं है और जिसको डिटेक्टिव लोगों के रूप और भाषा परिवर्तन का ज्ञान है, वह भेष बदलने की क्रिया को समुचित कहेगा। इसी प्रकार जो योरप के विज्ञान काण्ड पर दृष्टि करेगा वह बगुले और ताले आदि के कार्य्य को कुछ भी अलौकिक न समझेगा। इसी प्रकार और बातों का भी समाधान है।

हमारा यह दावा नहीं है कि 'चन्द्रकान्ता' में कोई दोष ही नहीं है। सम्भव है कि उसमें त्रुटियाँ रह गई हों, किसी का चित्र जैसा चाहिये वैसा अङ्कित नहीं हुआ हो। यह पुस्तक तो ग्रन्थकार के प्रथम परिश्रम का फल है, जो बड़े बड़े धुरन्धर विद्वान् हैं और सैकड़ों पुस्तक बना चुके हैं उनके ग्रन्थ भी निर्दोष नहीं कहे जा सकते। सच तो यह है कि 'दृष्टं किमपि लोकेऽस्मिन्ननिर्दोषं न निर्गुणम्' अर्थात् संसार में न तो कोई ऐसी वस्तु है जो बिल्कुल निर्दोष हो और न कोई ऐसी है कि जो गुणहीन ही हो, इसलिए बुद्धिमान् को केवल दोष ही पर नहीं, गुण पर भी ध्यान देना उचित है।

यदि यहाँ पर हम यह कह दें तो कुछ अनुचित नहीं है कि उपन्यास की समालोचना करने से प्रथम स्वर्गीय पं० अम्बिकादत्त व्यास रचित 'गद्यकाव्यमीमांसा' का अवलोकन कर लेना भी बहुत आवश्यक है। क्योंकि उस ग्रन्थ में जो व्यास जी इस विषय में लिख चुके हैं, न तो आज तक वैसा कोई लिख सका और न कोई उनके मत का खण्डन करने ही में समर्थ हुआ। नवीन समालोचकों को उस पुस्तक का उत्तर देकर इस विषय में अपना नया विचार स्थापन करना उचित है।

सहयोगी 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' यदि चन्द्रकान्ता के गुण दोष का सम्यक निरीक्षण कर अपनी विवेचना प्रकाश करता तो हमें कुछ वक्तव्य न था, परन्तु उसने चन्द्रकान्ता की बातों को असम्भव बतला कर केवल कविकर्म्म ही की निन्दा नहीं की, अपनी सर्वज्ञता भी द्योतन की है! यहाँ पर एक बात स्मरण करने योग्य है। वह यह है कि वार्ति-

ककार ने कुछ शब्दों को अप्रयुक्त बतला कर पूर्वाचार्य्य का अपमान किया था, इस पर भगवान् भाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने 'महान् हि शब्दस्य प्रयोगविषयः'-इत्यादि ग्रन्थ से अपने व्याकरण भाष्य में उनको फटकारते हुए लिखा है कि सप्तद्वीपा पृथिवी और समस्त वेद (विद्या) की बात को बिना जाने आपका यह कहना कि 'इतना ही प्रयोग का विषय है, साहसमात्र है !' उसी प्रकार प्रस्तुत विषय में सहयोगी की उक्ति वार्तिककार के समान ही समझनी चाहिये किम्वा उसके ज्ञान को परमात्मा की सृष्टि में उनसे भी बढ़ कर मानना योग्य है। इस बात का निर्णय तो वह स्वयं करें, परन्तु हमारा तो यही निवेदन है कि परमात्मा की सृष्टि में क्या सम्भव है और क्या असम्भव है, यह जानना ही हम मनुष्यों के लिये असम्भव है। इस विषय का जैसे जैसे लोगों को ज्ञान हुआ है वैसे वैसे हो वह निरभिमान हो भर्तृहरि के समान कहने लगा है कि—

"यदा किञ्चित्ज्ञोहं द्विप इव मदान्धः समभवं,
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किञ्चित् किञ्चित् बुधजनसकाशादवगतं,
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥"

उपन्यास शब्द यद्यपि संस्कृत भाषा का है, तथापि आजकल वह जिस अर्थ में प्रसिद्ध है उसका कहीं ठौर ठिकाना नहीं है। उपन्यास का शब्दार्थ "समीप रखना" है परन्तु अमरकोश के इस वाक्यानुसार कि 'उपन्यासस्तु वाङ्मुखं' इसका अर्थ भूमिका वा प्रस्तावना होता है। यदि इसके शब्दार्थ पर ध्यान देकर पुराने टीकाकारों की तरह हम भी 'समीप रखने' का यह अभिप्राय निकालें कि जिस गद्यकाव्य के पाठ से तद्वर्णित वृत्तान्त समीप रखा हुआ (साम्हने होता हुआ सा) जान पड़े उसका नाम उपन्यास है, तो इसमें सन्देह नहीं कि उक्त व्युत्पत्तिलभ्य शब्दार्थ की प्रचलित उपन्यास शब्द के साथ सुचारुरूप से सङ्गति हो जाय और साथ ही हमारे कुछ अहंमन्य भाइयों को यह कहने का अवसर भी मिल जाय कि हमने यह शब्द बङ्गला के उच्छिष्ट से नहीं,

संस्कृत के विशुद्ध भाण्डार से ग्रहण किया है; परन्तु कठिनता यह है कि संस्कृत में "वासवदत्ता" "कादम्बरी" और "दशकुमार चरित्र" आदि अनेक गद्यकाव्यों के होते हुए भी संस्कृत के किसी कवि ने उनमें उपन्यास शब्द का प्रयोग नहीं किया, इससे सिद्ध होता है कि उनके समय में 'उपन्यास' शब्द का अधिकार गद्य काव्य पर नहीं हुआ था। परिशेष में न्यायानुरोध से यही मानना पड़ता है कि हिन्दी में यह शब्द बङ्गला से आया है और अनुकरणप्रिय रचनाचतुर बङ्गाली ग्रन्थकारों ने आधुनिक लक्षणा से इसे अंग्रेजी के "नौविल" शब्द का पर्य्याय बना लिया है।

साहसी बङ्गालियों को इस प्रकार केवल संस्कृत शब्दों के मनमाने अर्थ कर लेने में ही सन्तोष नहीं हुआ है, वरञ्च प्रयोजनानुसार उन्होंने 'प्रस्तर' 'पारस्य' 'मस्तिष्क' आदि शब्दों की विश्वामित्र जी के समान नयी सृष्टि रचने का साहस भी किया है। इन नयी सृष्टि के शब्दों को संस्कृत शब्द समझ कर, उनकी देखादेखी हिन्दी के आधुनिक लेखक भी लिखने लिखाने लगे! उक्त अवाचकता और इस विचित्र शब्दरचना के कारण बङ्गालियों की निन्दा करने से पूर्व यह भी हमें विचार लेना चाहिए कि जिस उत्कण्ठा और परिश्रम से गिनती के वर्षों में उन्होंने मातृभाषा का भाण्डार भरने में जो इस प्रकार की व्यग्रता प्रयुक्त भूल की है, वह मार्जनीय है कि नहीं? यदि इस प्रकार की त्रुटियों पर आरम्भ ही में विचार किया जाता और ग्रन्थकर्ताओं पर समालोचक लोग टूटने लगते तो कदाचित् कुछ संशोधन हो जाता, परन्तु आज बङ्ग भाषा का यह सौभाग्य न होता कि इस देश के पण्डित कोष के सहारे बिना जिन संस्कृत शब्दों का अर्थ करने में कथञ्चित समर्थ हैं, उन्हें बङ्गाली बालक और स्त्री सहज में समझ लें। बुद्धिमान बङ्गाली जानते थे कि जब वृक्ष बढ़ जाता है, तब उसकी बेडौल डालियाँ काटनी चाहिए, आरम्भ ही में पौधे को नष्ट करना वा तोड़ना ठीक नहीं।

जो हो, रिक्तहस्ता हिन्दी ने बङ्गला के सद्यपूर्ण भण्डार से केवल 'उपन्यास' शब्द ही को ग्रहण नहीं किया है, वरञ्च इसका बहुत सा

उपकरण भी इस लघीयसी को उसी महीयसी से मिला है। हिन्दी के प्राणप्रतिष्ठाता स्वयं भारतेन्दु जी ने बंगला के उपन्यासादि के अनुवाद से हिन्दी के भाण्डार में वृद्धि की और उनके पीछे स्वर्गीय पण्डित प्रतापनारायण मिश्र जी ने भी इसी मार्ग का अनुसरण किया। इसके साथ ही उक्त महानुभावों ने कृतज्ञतावश यह भी स्वीकार किया है कि जब तक हिन्दी भाषा अपनी इस बड़ी बहिन बङ्गला का सहारा न लेगी, तब तक वह उन्नत न होगी। किन्तु दुःख की बात है कि उसी आश्रयदातृ बङ्गभाषा के लेखकों के विषय में कुछ सज्जनों का यह विचार हो रहा है कि उन्होंने जान बूझ कर क्षत्रियों पर कलङ्क लगाने के लिए उपन्यासादि की सृष्टि की है!

उनके इस भ्रम का प्रथम कारण यह है कि उदयपुर के प्रातः स्मरणीय महाराणाओं के उत्कर्ष के लिए बङ्गालियों ने जो कल्पना की है, वह (उनके कथनानुसार) राजस्थान के इतिहास और आधुनिक चालचलन के विरुद्ध है। दूसरा यह है कि उपन्यासादि में जयपुर और जोधपुर के कतिपय नरेशों के विषय में जो लिखा गया, वह ग्लानिकर और वर्तमान क्षत्रियों के लिए असह्य एवं मानहानिकारक है। इस लिए वे राजपूतों को प्रकाश और गुप्तरूपेण उत्तेजित कर इस बात का उद्योग कर रहे हैं, कि जिन लोगों ने बङ्गला से हिन्दी में इस प्रकार के ग्रन्थों का अनुवाद किया है, उनको न्यायालय में घसीट कर दण्ड दिलाया जाय और ऐसे ग्रन्थों की भूल न सुधार कर एकदम उन्हें गङ्गा जी में डुबा दिया जाय!

हम स्वीकार करते हैं दूरस्थ बङ्गाली ग्रन्थकार राजपूताने के क्षत्रिय वीरों का यथार्थ चरित लिखने में कहीं कहीं भूल जाते हैं और यह भी स्वीकार करते हैं कि उन्होंने महाराणाओं के उत्कर्ष के लिए जो कल्पना की है, उसमें कोई कोई बात ऐसी होती है जो राजपूताने के आधुनिक विचार से विपरीत फल को प्रसव कर सकती है, तथापि हम इस बात को स्वीकार नहीं कर सकते कि जान बूझ कर इन त्रुटियों द्वारा बङ्गाली ग्रन्थकार पवित्र क्षत्रिय कुल पर कलङ्कारोपण करना चाहते हैं। जिस

समय हमारे बिकत्थनशील महोदयों का जन्म भी नहीं हुआ था और हिन्दी में उदयपुरादि का जब ठौर ठिकाना भी न था, उस समय बङ्गाली लेखकों ने 'राजस्थान' के अनुवाद और उसके अवलम्बन से असंख्य ग्रन्थों की रचना कर क्षत्रियों की छिपी हुई वीरता का घर घर में प्रकाश कर दिया था। आज उन्हीं क्षत्रियानुरक्त बङ्गाली ग्रन्थकारों को पुस्तक की सामान्य त्रुटि के लिए क्षत्रियविद्वेषी कहना, अकृतज्ञता नहीं वरञ्च कृतघ्नता की पराकाष्टा है। चित्तौड़ के महाराणाओं को बङ्गाली ग्रन्थकार आदर्श क्षत्रिय मानते हैं। इसलिए वे अपनी प्रेमप्रवणरुचि के अनुसार उनके चरित्र को श्रीकृष्ण मूर्ति के समान सजाते हैं। सजाने में जो प्रेमप्रयुक्त भूल भी हो जाय तो क्या प्रेमी विद्वेष्टा समझा जायगा? कदापि नहीं।

भगवान् की मूर्ति को देखिये, मथुरा वृन्दावन में कैसे दर्शन होते हैं? मानों सचमुच व्रजराजकुमार हों। पर जब उन्हींको दक्षिण में देखा जाय, तो ठीक दाक्षिणात्य दिखाई देंगे और बंगाले की मूर्तियों और वेषविन्यास से वे बङ्गाली जान पड़ेंगे और उड़ीसा की तो कुछ पूछिए ही मत। अब यदि कोई अयोध्यावासी वा व्रजबासी इस बात का अभियोग करे कि हमारे रामकृष्णादि को इस प्रकार सज्जित करने से हमारा अपमान होता है, तो लोग क्या कहेंगे? उसका उपहास ही करेंगे। चित्तौड़ वा उदयपुर के महाराणा भारतवर्ष के देवता हैं, उनकी चरित्र-मूर्ति प्रत्येक प्रदेश का हिन्दू कवि अपने सद्भावानुसार बना सकता है। यदि मूर्ति बनाते समय जगन्नाथजी की मूर्ति के समान अङ्गहीन भी हो जाय, तो उससे निर्माता की निपुणता की हानि है, मूर्तिमान् की नहीं। अतएव क्या इस बात की कुकल्पना करना उचित है कि आर्यजाति के कवि वा "लेखक क्षत्रिय जाति और महाराणा वंश की अप्रतिष्ठा के लिए ग्रन्थ लिख गए हैं और अनुवाद भी बुरे अभिप्राय से हो रहा है?

कोई कुछ कहे, परन्तु हम तो इस बात से सहमत नहीं हैं कि उस चित्रकार वा कवि को जिसकी यह उन्नत वा शुभ इच्छा है कि मैं अच्छे से अच्छा चित्र वा चरित लिख कर उपहार का भागी बनूं, उसकी त्रुटि

के लिए उसे घोर दण्ड दिया जाय ! हाँ, उसे उपहार पाने का अधिकारी हम भी नहीं कहते। किसी की निन्दा करना कुछ और वस्तु है और पूर्ण शक्ति के अभाव से उस कार्य में त्रुटि रह जाना और बात है। बङ्ग-भाषा के सुप्रसिद्ध कवि स्वर्गीय माइकेल मधुसूदनदत्त के "मेघनाद बध" महाकाव्य में राम लक्ष्मणादि का चरित रावण मेघनाद को अपेक्षा हीन हो गया और उनके देवचरित में भी त्रुटियाँ रह गईं, पर उनकी इस त्रुटि के कारण कवि रामलक्ष्मणादि का द्वेष्टा नहीं समझा जा सकता। बङ्गदेश के सुविख्यात कवि बाबू नवीनचन्द्र जी ने अपने 'कुरुक्षेत्र' 'रैवतक' और 'प्रभास' आदि काव्यों में हमारे महर्षियों का जो चित्र खैंचा है, वह इतिहासविरुद्ध, रीतिविरुद्ध और हमारे हृदय के भी विरुद्ध है तथापि हम यह नहीं कह सकते कि कवि का अभिप्राय निन्द्य है। क्या हमलोग पारसियों के हरिचन्द नाटक में राजर्षि विश्वामित्रजी की दुर्दशा नहीं देखते हैं ? और क्या हमारे नेत्रों के समक्ष आजकल के रोज़गारी रासधारी भारतवर्ष के सर्वस्व, हमारी आर्यजाति के परमोपास्य भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी का रोमाञ्चकर अभिनय नहीं करते हैं, परन्तु इससे हम उन भूले हुए मित्रों को ब्राह्मण वा कृष्ण द्वेष्टा नहीं समझते। दूर क्यों जायँ, भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी ने "नीलदेवी" नाटक में वीरनारी वीरजननी क्षत्रिया महारानी को वेश्या बना कर जो दृश्य दिखाया है, वह नयनाभिराम नहीं है। उसमें हम उनकी त्रुटि अवश्य मानते हैं, परन्तु इससे उनको क्षत्रिय जाति का दोषी नहीं मानते। यही हमारा अपराध है।

हाँ, यह हम मानते हैं कि बङ्गला के ग्रन्थकारों का यह एक स्वभाव होगया है कि जिस प्रकार वे बात बात में महाराणाओं की प्रशंसा के लिए इतिहास ही से नहीं, अपनी कल्पना से भी काम लेते हैं, वैसे ही जयपुर और जोधपुर के नरेशों की निन्दा करने के समय भी अपनी उसी शैली का पालन करते हैं। अब हमारे राजपूतहितैषी भाई इस चिर-प्रचलित प्रथा को कलङ्कित समझ कर साहित्यक्षेत्र में सब क्षत्रियों को उदयपुर वालों के समान वीर और निष्कलङ्क बनाया चाहते हैं, यह

उनकी बड़ी भारी भूल है। क्योंकि इस स्तुत्यर्थवाद और निन्दार्थवाद ही से क्षत्रियों को तेजस्विता और पवित्रता सुरक्षित है। जब सब क्षत्रियों का वैसा वीर मान्य होना सम्भव नहीं है, तब व्यक्ति विशेष की निन्दा वा वंश विशेष की प्रतिष्ठा द्वारा ही जातीयता के पूर्णाधिकार की रक्षा कर्तव्य है। नहीं तो भला उदयपुर वालों से कवियों को क्या मिला है और जोधपुर जयपुर ने उनका क्या बिगाड़ा है। कवि लोग, क्षत्रियों की निन्दा स्तुति में अपने देश की मङ्गलकामना और उनकी हितैषिता के कारण प्रवृत्त होते हैं और इस प्रवृत्ति के प्रवर्तक बङ्गाली ही नहीं हैं, पहिले लोग भी थे।

इस लायबिल के प्रचण्ड समय में जब कि कायस्थ, कुरमी, कलवार आदि उन द्विजातियों को जो उनकी क्षत्रियता के विरुद्ध शूद्रता का पक्ष समर्थन करते हैं, न्यायालय से दण्ड दिला सकते हैं, तब यदि कन्नौज वा जोधपुर के राठोड़ नन्दन और जयपुर कच्छ-कुल-कलश राजपूत, अपने प्रतापद्वेषी, यवनप्रेमी वंश को उदयपुर वालों के समान निष्कलङ्क और स्वदेशभक्त सिद्ध करने के लिए दो चार ग्रन्थकर्ताओं को दण्ड भी दिला दें तो कुछ आश्चर्य्य नहीं, परन्तु यह बात भारतवर्ष से लोप नहीं हो सकती कि एक वह वंश है जिसने भारतवर्ष की स्वाधीनता के लिए सब कुछ कर दिखाया और एक वह है जिसने इसके विरुद्ध कुछ उठा न रक्खा !

समृद्ध 'जयपुर' का गुणकीर्तन करने वाले महाशय सुनलें कि हम जयपुरी क्षत्रियों के विरोधी नहीं हैं, किन्तु सत्य के सन्मान के लिए हमें यह कहना पड़ता है कि जिन क्षत्रियों ने स्वदेशवत्सल, वीरचूडामणि महाराणा प्रतापसिंह जी के विरुद्ध, गो-ब्राह्मण-हन्ता विधर्मी यवनों का पक्ष ले चित्तौड़ और उदयपुर को महाश्मशान में परिणत कर अपने नगरों को विभूतिसम्पन्न किया था, उनकी कवियों ने जितनी निन्दा की है, उतना ही समाज का उपकार हुआ है। जिन लोगों ने निज कुल की पवित्रता का विचार छोड़ म्लेच्छों के अपवित्र उत्सङ्ग में दुहिता समर्पण की, आर्यकुल के दिव्य दिवाकर पर धूल फेंकने में कुछ कसर न की,

महाराष्ट्र साम्राज्य के विरुद्ध कृपाण ग्रहण कर बार बार दुरात्मा यवनों का पक्ष लिया, उनके विषय में स्वतन्त्रचेता आर्य कवि क्या क्या कल्पना कर सकते हैं, विवेचक महाशय स्वयं विचार कर देखलें।

यदि सिखाये बहकाए हमारे राजपूत भाई न्यायालय द्वारा ही, अपनी प्रतिपत्ति बढ़ाना चाहते हैं, तो वे 'भारतजीवन' सम्पादक बेचारे बाबू रामकृष्ण वर्म्मा के पीछे न पड़ें और न बङ्गालियों से ही कलह करें, क्योंकि उसमें उनकी बहादुरी नहीं है। सब से प्रथम उन अंग्रेजों की पुस्तकों को बन्द कराने में तत्पर हों जो जयपुर जोधपुर ही के विरुद्ध नहीं वरञ्च उदयपुर की कुलपवित्रता के भी विरुद्ध हैं। यदि वे लोग चाहेंगे तो हम ऐसी पुस्तकों को बतादेंगे कि जिनके बन्द होने से केवल राजपूतों ही का नहीं हिन्दू जातिमात्र का उपकार हो सकता है। और इसी अभिप्राय से हमने गत संख्या में वेङ्कटेश्वर के 'सनातन धर्मदीप' का उल्लेख किया था।

इस प्रकार की निकृष्ट पुस्तकों के कुछ उदाहरण "सुदर्शन" की गत संख्या में एक 'साहित्य सेवी' ने भी दिखलाए थे। यद्यपि उनके इस अंश से हम सहमत हैं कि काव्य से प्रथम इतिहास का सुधार किया जाय, क्योंकि काव्य कल्पनामय होता है और इतिहास भूतपूर्व वृत्तान्त का अनुवाद मात्र है और इसके सिवाय वह कल्पना का कारण भी होता है, तथापि उनके लेख में विधर्मियों के इतिहास से हिन्दू जाति की निन्दित बातें ग्रहण करने का जो भाव दिखलाया गया है, वह सर्वथा अनुचित है। हिन्दू लेखक ही जब अपने विरोधियों के अन्याय-सिद्ध पक्ष का समर्थन करेंगे तब उनका लेखक न होना ही अच्छा है। हम उसी निन्दित निन्दा के पक्षपाती हैं जो स्वदेश और स्वजाति के कल्याण के निमित्त की जाए और जिसके साथ ही प्रशंसा का पवित्र दृश्य भी विद्यमान हो। जिस जाति ने एक दिन हम ब्राह्मणों के लिए प्राण देने में सङ्कोच न किया था, जो अपनी रक्षा की अपेक्षा गोब्राह्मण की रक्षा करना मुख्य समझती थी, जिनके स्मरणीय आधिपत्य में दास गुप्त तो क्या कोई सम्राट् भी ब्राह्मणों की निन्दा नहीं कर सकता था,

उस क्षत्रियजाति की निन्दा करना उनकी निन्दा नहीं है, वरञ्च अपने पूर्वजों की निन्दा करना है। योंही निन्दा करना हो तो क्षत्रिय जाति की क्या, इतिहास से प्रत्येक जाति की निन्दा संग्रह की जासकती है। गुप्त क्षत्रिय महाशय की स्वार्थान्धप्रकाशिका' और श्रीवेङ्कटेश्वरजी का 'सनातनधर्म्म दीप' ही इस विषय में उदाहरण हैं। साहित्यसेवी जी ने जो निन्दा संग्रह के साथ ही आँखों पर पट्टी बाँध कर पापभरी अश्लील पुस्तकों के साथ श्रुति, स्मृति, अष्टादश पुराण, उपपुराण, रामायण और महाभारत की पवित्र कथाओं को 'रुचिविरुद्ध' 'जघन्य' और 'अश्राव्य' लिख डाला है, इससे हम असम्मत ही नहीं, बरञ्च दुःखित भी हैं।

साहित्यसेवी महाशय स्वयं एक हिन्दू-कुल-सम्भूत और पौराणिक हैं' जब उनकी यह दशा है कि वह अपने प्रणम्य पुस्तकों को एक क्षुद्र बात के लिये "फूंकदेने" की सम्मति देते हैं, तब हम उन लोगों को क्या कहें, जो अपनी प्रतिपत्ति के लिये ब्राह्मणों को गाली देने और दिलाने के साथ ही हिन्दी के लेखकों को भी न्यायालय की चक्की में पीसना चाहते हैं! हमारी धर्म्मपुस्तकों में कोई जघन्य वा अश्लील पुस्तक नहीं हैं। अश्लील वह बात होती है जो स्त्रीपुरुषों में अयोग्य विकार को उत्पन्न करे, किम्वा जो दुर्वासना से ग्राम्य शब्दों में कही जाय, वैद्यक डाक्टरी, धर्म्मशास्त्र आदि की विद्या सम्बन्धी बातें इसलिए अश्लील नहीं कि उनमें उक्त लक्षण का समन्वय नहीं होसकता। हमारे विचार में राजा शिवप्रसादजी के इतिहास को भी इस विषय में श्रद्धेय समझना ठीक नहीं, विशेषतः हिन्दू धर्म्म और हिन्दू जाति की बहुतसी बातों में उनका मत ग्राह्य नहीं हो सकता। सर्कार के स्वीकार करने पर भी हम अपने धर्म्मविश्वास के विरुद्ध उसकी प्रमाणिकता नहीं मान सकते। 'साहित्यसेवीजी' क्या आप भूलगए कि इस विषय में राजा साहिब और स्वर्गीय बाबू प्रमदादास मित्र महाशय का खूब वाक्‌युद्ध होचुका है? क्या आप इस बात को भी भूलगए कि "इतिहास तिमिरनाशक" के विरुद्ध काशी में हिन्दुओं की महासभा हुई थी। जिसका यह फल हुआ कि इस प्रान्त की पाठशालाओं से वह

निकाला गया और उसके स्थान में हण्टर साहब का इतिहास पढ़ाया जाने लगा। "वीरविनोद" के विषय में जो लिखा गया है, वह भी ठीक नहीं। यह पुस्तक यद्यपि स्वर्गीय महाराणा सज्जनसिंह बहादुर के प्राइवेट सेक्रेटरी म० म० कविराज श्यामलदानजी का लिखा हुआ है, तथापि वे किस ढंग के लोग थे और उस पुस्तक बनाने का क्या उद्देश्य था, यह हम यथावकाश प्रकाश करेंगे। साहित्यसेवी जी को उचित है कि वे हमारी बातों का उत्तर दें जिसे हम 'सुदर्शन' में छापने और उसका पुनः खण्डन करने के लिए तय्यार हैं।

साहित्यसेवी जी जो दूसरी भाषाओं के उदाहरण देते हुए यह कह रहे हैं कि हिन्दी से प्रथम अन्य भाषाओं के ग्रन्थों का सुधार होना चाहिए जिनका कि हिन्दी में लोग अनुवाद कर रहे हैं, ठीक नहीं। क्योंकि सुधार का यही नियम है कि उसका आरम्भ पहले अपने घर से किया जाय। हमने सहयोगी श्रीवेङ्कटेश्वर समाचार को भी इसी विचार से इसी जगन्मान्य नियम के अनुसार सम्मति दी थी। राजपूतों को भी यही सुझाया था कि पहिले वे मारवाड़ी भाषा के ग्रन्थों की ओर ध्यान दें जो क्षत्रियों के राज्य में उनकी हँसी का कारण हो रहे हैं।

हम साहित्य सेवी जी से पूछते हैं कि जो पुस्तक अपनी अयोग्यता के कारण उठ चुकी और डुबो दी गई उनको आप अपने घर में प्रमाण भी मानें तो हम उसका आदर क्यों करने लगे ?

साहित्यसेवी जी की सब बातों को न मानने पर भी हम यह अवश्य कहेंगे कि अंग्रेजों और मुसल्मानों के इतिहास भी इसी विषय में तिरस्करणीय हैं। यदि धन-जन-सम्पन्न राजपूत भी उनको विद्यालयों से उठाने में असमर्थ हैं तो भी हम यह पूछे बिना नहीं रह सकते कि क्या उनकी ओर से उनका खण्डन होना भी उचित नहीं। टाड साहिब के प्रशंसाप्राप्त इतिहास में भी हमारे पूर्वजों की उत्पत्ति और महाराणाओं के पवित्र कुल को निष्कलङ्क नहीं रक्खा है। कई बातें तो ऐसी भद्दी और भ्रमोत्पादक हैं कि उनको देख कर अति दुःख होता है।

नागरीप्रचारिणी सभा इस पुस्तक का और रमेश बाबू के इतिहास का हिन्दी अनुवाद करा चुकी है, हमारा अनुरोध है कि वेद, उत्पत्ति और चित्तौड़ के वीर वंश के विषय में जहाँ जहाँ वे भ्रान्त हुए हैं, वहाँ वहाँ टिप्पणी में उसका खण्डन किया जाय और उसके आदि में जो पौराणिक मत लिखा है उसकी भी टिप्पणी द्वारा मीमांसा हो जाय जिस से 'मूलेकुठाराघात' न हो।

यह बात जोर से कही जा रही है कि अंग्रेजों की पुस्तकें बन्द हों या न हों, उनका खण्डन किया जाय या न किया जाय, उनसे हमें इतना कष्ट नहीं पहुँचता क्योंकि एक तो वे विदेशी हैं और दूसरे भिन्न-धर्म्मा ठहरे और इसके साथ ही प्रबल भी हैं परन्तु हमारे दुर्बल भाई हमारी भाषा में हमारी निन्दा प्रचार करें, यह उचित नहीं; परन्तु इसके लिए परस्पर में लड़ने, हिन्दी पत्रों को औरों की दृष्टि में लड़ाके सिद्ध करने और न्यायालय में वीरता दिखाने की आवश्यकता नहीं है, उभय पक्ष के सभ्यों की सभा द्वारा ऐसी पुस्तकों पर विचार हो जाय और इस कार्य के लिए "नागरीप्रचारिणी सभा" के वार्षिकोत्सव का समय बहुत अच्छा है जिसमें सब इकट्ठे हो सकते हैं। क्योंकि जो बात लेखों द्वारा वर्षों में भी नहीं निपट सकती, उनका मौखिक विचार द्वारा दिनों में विचार हो सकता है। जब लेखक मात्र का मुख्य उद्देश्य लोकोपकार करना है, तब तुच्छ आग्रह से उद्देश्यभ्रष्ट होना उचित नहीं।

हमारा अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि मुद्रित उपन्यास नाटकादि के दोष न सुधारे जायँ, यदि ऐसा होता तो हम बाबू रामकृष्ण वर्मा को पुस्तक प्रवाह के लिए धन्यवाद न देते। जो सुधारने योग्य है वह अवश्य सुधारा जाय, किन्तु ऐसे अवसर पर कविकर्म क्या वस्तु है, और इतिहास क्या वस्तु है इस बात को लक्ष्य कर विचार किया जाय। स्मरण रहे जो लोग न्यायालय में राजपूतों को ले जाकर कलह का सूत्रपात कराया चाहते हैं, वे कदापि उनके या हिन्दी भाषा के हितैषी नहीं हैं। आजकल का ऐसा विचित्र समय है कि जो मुनिवर

वाल्मीकि और वेदव्यास जी अन्तर्हित नहीं हुए होते तो कदाचित् कुछ महात्मा उनपर भी अभियोग चलाने की व्यवस्था कर डालते। हनुमान जी के वंशधरों से कहते कि वाल्मीकि जी ने द्वेषवश आपके पूर्वज को बानर और सपुच्छ लिखा है। यह बात बिल्कुल असम्भव है कि बानर से आप उत्पन्न हों और पुलस्त्य गोत्रोत्पन्न ब्राह्मणों को समझाते कि देखिए, बाल्मीकि ने आपके पूर्वजों को दशसिरा और बीस भुजा वाला राक्षस बतला कर असम्भव कहानी से आपका अपमान किया है। सोमवंशियों को सिखाते कि व्यास जी ने क्षत्रियकुलभूषण योगेश्वर श्रीकृष्ण की रासक्रीडा और सहस्रों स्त्रियों की असम्भव कथा लिख क्षत्रियों पर कलङ्क लगाया है! इस विषय में वे जैनों के इतिहास का प्रमाण देते कि नहीं सो नहीं कह सकते, पर सम्भव है कि आदिकवि और व्यास जी के लिए मानहानि का जाल बिछाया जाता।

हाय! एक वह लोग थे जो अपने लोगों के मुंह की गाली को भी परिहास वा आमोदजनक ही समझते थे और आज वे हैं जो अपने लोगों की भक्ति को भी शत्रुता समझ रहे हैं!

हम तो क्या, कोई भी जाति हितैषी सभ्य पुरुष वीरश्रेष्ठ क्षत्रियों के कलङ्क का पक्षपाती न होगा पर साथ ही हमारा यह भी कहना है कि किसी नृपविशेष की निन्दा से यदि क्षत्रिय जाति की उत्कृष्टता सिद्ध होती हो, तो ऐसी निन्दा त्याज्य नहीं हो सकती। जब नाटक उपन्यासादि में नायक का उदार चरित इसी देश के सिसोदिया वंश का बहुधा ग्रहण किया जाता है तो प्रतिनायक का निकृष्ट चरित भी इसी देश के इतिहासनिन्दित जयपुर जोधपुर के राजकुल से ग्रहण कर उसका दुष्परिणाम दिखा "रामादिवत् प्रवर्तितव्य न रावणादिवत्" इसका उपदेश दिया जाय तो बुराई क्या है?

जयपुरवालों की निन्दा से आर्य कवियों को कुछ प्राप्ति नहीं होती है, सच पूछिये तो उनको एक प्रकार का इसमें दुःख ही होता है कि जिस जगद्वन्द्य रघुवंश के लोकपावन चरित से वसुन्धरा पवित्र हुई थी उसके विपरीत उनको लेखनी ग्रहण करनी पड़ती है, परन्तु केवल

सा० १२ C

उनके उत्कर्ष और संसार को यह दिखलाने के लिए कि भारतवर्षीय कवि किसी महाराज के दास नहीं होते, कर्तव्य के सेवक होते हैं वे वैसा लिखते हैं। उनके द्वारा दो चार महानुभावों का सत्कार्य्य नृपों की कई पीढ़ियों के गौरव का कारण होता है और कतिपय स्वार्थलोलुप, स्वजाति द्रोही पुरुषों के हेतु कई पीढ़ियों को नीचा देखना पड़ता है। यदि "आमेर" वा जयपुर के मानसिंह प्रभृति प्रतापी नरेश अपने समय में निज बीरता को यवनकुल की क्रीतदासी न बनाते तो आज किसी को जयपुर के विरुद्ध दो अक्षर भी कहने का साहस नहीं होता। अब भी कोई उदयपुर के वर्तमान महाराणाजी के चालचलन से अन्य नरपतियों की चाल को मिला कर देखे तो जान सकता है कि महाराणाओं के महिमापूर्ण चरित्र में औरों से क्या विशेषता है। वारान्तर में यदि अवसर मिला तो हम दिल्ली दर्बार की एक घटना का उल्लेख कर यह दिखलावेंगे कि यह भूला हुआ देश सब कुछ भूल जाने पर भी उदयपुर और जयपुर के कार्य्य को अब तक नहीं भूला है। समालोचक महाशयों से भी हमारी प्रार्थना है कि वे उपन्यासों की समालोचना करते समय गर्वोन्नत जयपुर का पक्षपात करने के पूर्व भूतकाल की घटनाओं का भी निरीक्षण करें और हो सके तो जयपुर के ऊंचे और समृद्धिपूर्ण राज भवनों पर खड़े हो कर क्षत्रियरक्तरञ्जित चित्तौड़ और हलदीघाटी के उस शोचनीय समरक्षेत्र की ओर भी निहारें, जिसकी कृपा से जयपुर वालों का सवाया मान मुसल्मानों में हुआ है।



पञ्चम खण्ड

राजनैतिक

राजा की उत्तमता

उस राजा का नाम सार्थक है, जो अपने उत्तम गुणों के कारण जगत् में प्रकाशमान हो और जिसके धर्म्मात्मा और न्यायनिष्ठ होने का प्रजा के चित्त में पूरा भरोसा हो। क्योंकि, वही राजा यथार्थ राजा है। राजवंश में जन्म मात्र लेने से कोई राजा नहीं हो सकता और यदि कहीं दिखलाई भी दे तो बिचार करने पर ज्ञात होगा कि उसका आन्तर जीवन विडम्बना एवं संशय से भरा हुआ है और वह कदापि अपने उच्च पद के आनन्द का अधिकारी नहीं है।

इसलिए हमारा यह कहना कुछ अनुचित न होगा कि राज्य करने के लिए मनुष्य को तेजस्वी, सत्साहससम्पन्न, दूरदर्शी और गुणवान होना चहिये। जो तेजस्वी पुरुष, उक्त उत्तम गुणों से विभूषित है, अवश्य वह राजा कहे जाने के योग्य है। क्योंकि प्रजा वा मनुष्य समाज का शासन करना, जो राजा का प्रधान गुण वा धर्म्म है, वह उसमें विद्यमान है। इसके अतिरिक्त चाहे वह किसी प्रतिवन्धकता के कारण पूरी समृद्धि को प्राप्त न हुआ हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि, उसका जीवन वास्तव में आनन्दमय है और दैव की अनुकूलता होने पर किसी समय वह होनहार राजकुल का बीज रोपण कर जाता है।

उदयपुर, जयपुर, जोधपुर आदि भारतवर्ष की बड़ी बड़ी राजधानियों के संस्थापक और मूलपुरुषों के चरित्र का अनुसन्धान करने पर निश्चय होता है कि वे लोग सूर्य्य और चन्द्रवंश में जन्म लेने पर भी किसी महाराज के पुत्र न थे। अथवा यों कहिये, कि राजपुत्र होने पर भी उस समय उनके पास वैसी समृद्धि न थी, जैसी तादृश पुरुष के पास होनी चाहिये वा जैसी उनके और उनके वंशधरों के पास पीछे से हो गई थी। पर इससे क्या कोई यह कह सकता है कि

उनमें नृपोचित गुणों का अभाव था ? वा वे प्रतिष्ठित राजपद के योग्य न थे ? कदापि नहीं।

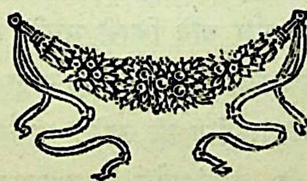
इतिहासरसिक पुरुषों को स्मरण होगा कि पितृ-मातृहीन गुरु और विपन्न बापा के पास दयालु ब्राह्मणों के आशीर्वाद के अतिरिक्त बाल्य काल में और क्या सामग्री थी ? कन्नोज के राजकुमार शिवजी जिस समय मारवाड़ में आये, उस समय उनके समीप कतिपय वीर सहचर और शाणित कृपाण के सिवाय अन्य क्या सम्पत् थी ? और अम्बर-राज के पूर्वज ढोलाराय की विधवा जननी जब निज पुत्र को लिये भटकती फिर रही थी, तब भविष्य राज का साधन क्या अवशिष्ट था ? कुछ नहीं, फिर किस कारण वे बड़े बड़े समृद्ध राजकुलों के संस्थापक हुए ? यही न कि वे साहसी पुरुष तादृशगुण विशिष्ट थे।

इसके साथ ही हमारे सुविज्ञ, चिन्ताशील पाठकों को झालावाड़ के निर्वासित हतभाग्य क्षत्रिय महाराज ज़ालिमसिंह जी की ओर भी देखना चाहिये कि किस कारण वे अपने पैतृक अधिकार से च्युत और जन्मभूमि से वहिष्कृत किये गये ? जिस अधिकार का एक दीनातिदीन पुरुष भी स्वतन्त्रता से अधिकारी है और उस भरतपुर के महाराज, जिसका नाम अद्यापि वीरमण्डली में प्रतिष्ठा के साथ लिया जा रहा है एवं जिसका बलवीर्य्य एक दिन क्षत्रियों के समकक्ष हो असाधारण उन्नति कर गया था, किस कारण पदच्युत हो अपनी राज्यश्री के साथ ही सुखस्वछन्दता का विसर्ज्जन कर बैठे ? यही कि उनमें वे गुण न थे, जो आजकल राजा के लिये अपेक्षित हैं। नहीं तो क्या कभी यह सम्भव था कि हमारी न्यायशीला गवर्नमेंट उनके साथ ऐसा वर्ताव करती ?

यों तो भारतवर्ष में चारों ओर राजा महाराजा नामधारियों के ठट्ठ लग रहे हैं, किन्तु इनमें यथार्थ राजा कितने हैं, यह प्रश्न जटिल होने पर भी विचार के सामने बहुत सरल है। प्रथम तो इस दुःसमय में प्रजाहितैषी विचारशील राजा ही कम हैं और जो हैं भी, तो इतने ही जितने अङ्गुलियों के पोरों पर गिने जा सकें ! तथापि, ऐसा

राजा कहाँ, जिसे प्रजापालन के साथ स्वधर्म्म और जातीय गौरव की रक्षा का विचार हो। कहिये इस समय कितने ऐसे हिन्दू नरेश हैं, जिन्हें सनातन धर्म्म के प्रचार, संस्कृत विद्या के विस्तार और हिन्दू समाज के संस्कार की चिन्ता उत्पन्न हो रही हो?

पुण्यभूमि आर्य्यावर्त में ऐसे मुसल्मान नरेशों (नव्वाबों) की न्यूनता नहीं है, जो अपनी मृतप्राय जाति में नवीन जीवन डाल कर अपने धर्म्म विश्वास और साहित्य को जीवित कर रहे हैं और अपने समानधर्म्मा तथा सजातीय गुणी जनों का समय पर सत्कार करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। पर हा! हम हिन्दुओं के मन्दभाग्य में ऐसा राजा कहाँ?—जो किसी प्रकार हमारे भी आँसू पोंछ दिया करें! जब सुनते हैं यही सुनते हैं कि, हैदराबाद वा रामपुर आदि के नव्वाबों ने दिल्ली के अमुक 'शायर' को मालामाल कर दिया! और दिल्ली की मुसल्मान पाठशाला को उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया तथा अलीगढ़ के अमुक सैय्यद साहेब के नाम को अपनी उदारता से अमर बना दिया और इधर हमारे दुर्दैवग्रस्त हिन्दू नरेशों को विलायत यात्रा, पोलो और घुड़दौड़ आदि के दुर्व्यसन ही से छुटी नहीं मिलती कि वे किसी दूसरे कार्य्य की सम्हाल करें।



बुराई में भलाई

देशीय वस्तुओं का प्रचार

"विपर्ययो वा किन्नस्यात् गतिर्धातुर्दुरत्यथा।"

विधाता की गति बड़ी विचित्र है। कोई नहीं कह सकता कि वह किस घटना से क्या बात पैदा कर सकता है। कभी कभी देखा गया है कि जिस कार्य्य में मनुष्य अपनी भलाई सोचता है उससे बुराई हो जाती है और जिसमें बुराई खयाल करता है उससे उसका मनोरथ ही पूरा हो जाता है। इतिहास में तो इस विषय के दृष्टान्त बहुत हैं, किन्तु वर्त्तमान समय में लार्ड कर्जन का द्विरागमन और बंगाल के टुकड़े करने की व्यवस्था इसके नए उदाहरण हैं। लार्ड कर्जन ने सोचा था कि अपने द्विरागमन से वे अपने प्रताप को दुचन्द करेंगे और बंगालियों ने आशङ्का की थी कि उनके पुनरागमन से बंगाल की भलाई नहीं है, परन्तु फल विपरीत हो रहा है। तेजस्वी कर्जन यहाँ आकर अस्तोन्मुख दिवाकर की तरह निस्तेज हो गए और बंगविच्छेद के कार्य से बंगाली अलग अलग होने के बदले एक होगए!

यदि किसी विशेष दुःख के आ पड़ने पर बिछुड़े हुए सब भाई मिल कर एक हो जाँय और यदि किसी भारी भय से परस्पर का द्वेष भूल कर एक देश और एक जाति के सब मनुष्य प्रेमी बन जाँय तो वैसा दुःख और भय प्रशंसनीय ही नहीं, प्रार्थनीय भी है। इतिहास में यह बात स्पष्ट है कि औरंगज़ेब के अत्याचारों ने उस समय के हिन्दुओं को एक बना डाला था, महाराणा प्रतापसिंह की विपद् को देख उनके सदा के विरोधी भाई सक्तासिंह का कठोर हृदय द्रवीभूत हो गया था और अमेरिका वालों के उत्पीड़न ने आज जापान को

यह सुदिन दिखा दिया कि वह सदा समरविजयी रूस को नीचा दिखा रहा है। इसी तरह लार्ड कर्जन के प्रतिदिन वर्द्धमान कुचक्र ने कलह-परायण बंगालियों को भी एकता करने पर वाध्य कर दिया।

सभा करने और मौखिक उत्साह दिखाने के लिए बंगाली सदा हो से विश्वजयी हैं। सम्भोग सम्पत्ति की आईन बनने के समय भी उन्होंने वर्त्तमान समय की तरह खूब गर्जन तर्जन किया था। उस समय भी विदेशी वस्तु त्याग और स्वदेशी वस्तु प्रचार की धूम मची थी, परन्तु इस बार की तरह उस समय हृदय में आवेग नहीं था। उस समय भी स्वर्गीय सर रमेश आदि ने कौंसिल में करुणोत्पादक वक्तृताएं दी थीं पर वे आनरेबुल भूपेद्रनाथ वसु, जे० चौधरी और यतीन्द्रनाथ की मर्मस्पर्शिनी स्पीचों की तरह उत्तेजक न थीं। अन्य बातों में भी उस बार से इस बार विशेषता है। विशेषतः उस बार का आन्दोलन धर्म्महानि के भय से उत्पन्न हुआ था, इस बार शुद्ध राजनीति-मूलक है।

इस देश में धर्म्म के नाम से चाहे जो हो सकता है किन्तु राज-नीतिगत स्वार्थ को लेकर आन्दोलन और एकता होना एक नई और विलक्षण बात है। जिस दिन लार्ड कर्जन ने विद्यार्थियों को उपदेश देने के मिष एशियानिवासियों को मिथ्यावादी और अनादर्श कहा था, उसी दिन से इस आन्दोलन ने जोर पकड़ा है। बंगालियों की ध्वनि के साथ उसी दिन से सब प्रान्तों में प्रतिध्वनि होने लगी है। देखते हैं, धीरे धीरे आन्दोलन का आकार बढ़ रहा है। कलकत्ते में प्रति दिन इस विषय की सभा होती हैं और दूसरे प्रान्त एवं नगर भी इससे खाली नहीं हैं।

बम्बई के प्रवासी बङ्गालियों ने भी उत्साह के साथ सभा करके प्रतिज्ञा की है कि विदेशी वस्तु ग्रहण नहीं करेंगे। इधर खबर मिली है कि श्रीयुक्त पं० बालगङ्गाधर तिलक के सभापतित्व में पूने के दो हजार महाराष्ट्र बालक भी उसी प्रकार प्रतिज्ञावद्ध हुए हैं। बङ्गालियों के साथ मरहटे पत्र बराबर सहानुभूति प्रगट कर रहे हैं। पूने की सभा में मि० प्राञ्जपे और शिवराम महादेव आदि सज्जनों ने अपने

उत्साहपूर्ण भाषणों में सिद्ध किया है कि विलायती माल व्यवहार में न लाया जाय। इधर ढाके में भी बड़ी भारी सभा होकर इसी तरह की व्यवस्था हो चुकी है।

कलकत्ते के बङ्गाली युवकों में इस तरह के जोश की मात्रा कुछ अधिक दिखाई देती है। विलायती वस्तु खरीदते देख कर एक मित्र दूसरे को मना करता है और न मानने पर उस वस्तु को नष्ट कर देता है। इस प्रकार का दृश्य ट्रामवे में अच्छा दिखाई देता है, जब आफिसों में आने जाने के समय बाबुओं की ठसा ठस रहती है। ऐसा बिरला दिन होता है जब कि विलायती सिगरेट वा चुरट घृणा के साथ फेंके न जाते हों। बङ्गाली थियेटरों के पात्र अभिनय के समय इसी विषय पर दर्शकों का ध्यान खेंचते हैं और कई वङ्गरमणी इस विषय पर ललित कविता प्रकाशित कर पुरुषों के उत्साह को बढ़ा रही हैं। चाहे बंगालियों के कार्य्य में महाराष्ट्रों के समान गम्भीरता और पञ्जाबियों की सी बीरता भले ही न हो, परन्तु इस समय उनमें एक जाति को पुनरुज्जीवन करने के चिह्न दिखाई देते हैं, इसमें सन्देह नहीं।

इसके साथ ही हमें यह भी खेद के साथ कहना पड़ता है कि कुछ ऐसे अभागे भी हैं जो इसी ध्यान में बैठे हैं कि बंगालियों के आन्दोलन में योग न देकर राजभक्ति का मिथ्या बाना ग्रहण करें और देशद्रोहिता के पुरस्कार में बंगालियों की खाली कुर्सी पर बैठ कर, अपनी प्रतिपत्ति बढ़ावें। इस प्रकार के लोगों में कलकत्ते के कुछ मुसल्मान और कुछ दूसरे प्रकार के व्यवसायी हैं जो अपनी मूर्खता और अयोग्यता के कारण बंगालियों की समता नहीं कर सकते।

भरोसा है कि मारवाड़ियों में इस प्रकार के लोगों का अभाव होगा जो ऐसे समय में अनुचित लाभ उठाने की चेष्टा करें। इस प्रकार के आन्दोलन में अग्रणी होने की न उनमें योग्यता है न उसकी आवश्यकता ही है; परन्तु जब तक देशीय वस्तुओं के प्रचार में हमारे मारवाड़ी भाई योग न देंगे, तब तक उनके पूर्ण प्रचार की सम्भावना

नहीं की जा सकती। यद्यपि हम जानते हैं कि एक श्रेणी के जीव ऐसे भी हैं जो इस समय मारवाड़ियों का ध्यान देशीय वस्तुओं की ओर आकर्षित करने के बदले "ठकुर सुहाती" कह कर उन्हें उलटी पट्टी पढ़ा रहे हैं; तथापि यह कुछ आवश्यक नहीं हैं कि ऐसे उदरम्भरियों की बात की परवाह कर कोई सच्ची बात को प्रकाश न करे।

इस आन्दोलन से बंगालियों को यह लाभ तो हो चुका कि जो मध्यवित्त लोग लाचारी से फेशन के शिकार हो रहे थे वे अब चाहे जैसे देशी वस्त्र पहन कर आवें जावें उन्हें कोई रोक नहीं सकता वरञ्च उनका अधिक सम्मान होता है। यदि इस समय मारवाड़ी भी इस बात का प्रचार अपने भाइयों में करें तो विलायती वस्तुओं का प्रवाह जो उनमें प्रबल रूप से चल रहा है, बहुत कुछ रुक जाय। वैश्यों का यह धर्म्म भी है कि, देशजात वस्तुओं की वे भरसक रक्षा करें।



स्वदेशी आन्दोलन

बङ्गाली और मारवाड़ी

भगवान् की महिमा वर्णन करते समय गुसांई तुलसीदास जी ने बहुत ठीक कहा है कि "मूक होहिं वाचाल, पंगु चढ़हिं गिरिवर गहन" अर्थात् उनकी कृपा से गूंगे बोलने लगते हैं और अपङ्ग ऊँचे पर्वत पर चढ़ जाते हैं। माया के फेर में पड़ कर मनुष्य माने चाहे न माने, पर इसमें सन्देह नहीं कि भगवान् की माया अपरम्पार है, इस थोड़े से समय में वङ्गदेश में जो जो उलट फेर होगए हैं, पहले किसी को उसकी सम्भावना भी न थी। यह उसीकी इच्छा है कि वङ्गविच्छेद से दुर्बल बङ्गाल एकबार ही आयर्लेंड का अनुकरण करने लगा। और कौन कह सकता है कि इसका अन्त अन्त को कहाँ जाकर होगा। बङ्गालियों का स्वदेशी आन्दोलन यदि लेगपीड़न के समय होता तो कदाचित् फिर किसी को यह कहने का अवसर न मिलता कि "इस प्रवृत्ति का मूल उनकी स्वार्थपरता है, बङ्गाली जमीदार स्वार्थ हानि की सम्भावना से ही "त्राहि त्राहि" कर रहे हैं, कुछ वङ्गविच्छेद से नहीं, पर इस अवसर पर भी कोई बुद्धिमान् यह नहीं कह सकता है कि इसमें केवल बङ्गालियों ही का स्वार्थ है, अन्य भारतवासियों का नहीं।

बहुत दिनों से हम बङ्गालियों को भीरु, अकर्मण्य और वाक्शूर समझते थे, उन्हें इतना तुच्छ और हीन जानते थे कि "एतद्देश प्रसूत" समझकर भी "हिन्दुस्तानी" कहने में सङ्कोच किया करते। यद्यपि महाकवि जयदेव की "मधुर कोमल कान्त पदावली" का सम्पूर्ण भारतवर्ष ने पाठ किया था और रघुनाथ, गदाधर एवं जगदीश के न्याय के सामने सभी प्रान्तों के पण्डितों ने सिर झुकाया था, तथापि

हमारा कभी बंगालियों में उच्च भाव नहीं हुआ था, उच्च होना तो दूर, महाप्रभु गौराङ्ग देव की मधुर भावमयी गाथा सुनने पर भी कभी बंगालियों को अपने समान आर्य्य नहीं समझा। जब कभी हम किसी की दुर्बलता वा दीनता को देखते तब उसे "भूखा बंगाली" कह कर घृणा प्रकाश करते।

यह संस्कार हमारा आज का नहीं, सौ पचास वर्षों का नहीं, सहस्रों वर्षों का पुराना था। श्रुतिस्मृतियो में वङ्गदेश की निन्दा पढ़ी थी और इतिहासों में उसे तेजोमय वैदिक धर्म्म के शत्रु निरीह बौद्धों का दास समझा था, उसीका यह फल था। हमारा यह भाव तब और भी दृढ़ होगया था, जब हमने देखा कि सब से पहले इसी निर्जीव देश ने भारत की स्वाधीनता विक्रय का सूत्रपात किया था, जिसका विषम फल इस देश के करोड़ों हिन्दू मुसलमान भोग रहे हैं! जब हम अदालतों से लेकर स्टेशनों तक में बंगाली बाबुओं द्वारा पीड़ित होते और सब तरह सताए जाते, तब समझते कि बंगाली मनुष्य नहीं हैं, उनमें सहानुभूति नहीं है, वे ख़ाली अर्थशोषण के यन्त्र विशेष हैं। जब देखा कि बंगाल के दुर्बलचेता डरपोंक राजनीतिज्ञों ने महाराष्ट्र के एक तेजस्वी पत्र सम्पादक का तिरस्कार कर, सौभ्रात्र और स्वदेशिता को जलाञ्जलि दे डाली, तब समझा था कि इन कायरों से दूर रहना ही अच्छा है। ये लोग केवल बातों ही में बहादुर हैं, काम में नहीं। किन्तु हमारे इस चिरसञ्चित संस्कार को बंगालियों के स्वदेशी आन्दोलन ने एकदम दूर कर दिया। सहस्रों वर्षों का अन्धकार स्वदेशी के तेज से क्षणमात्र में मिट गया। बंगालियों को चाहे इस बात का ज्ञान न हो, परन्तु सब हिन्दुस्तानी अब उन्हें अपना आदरणीय भाई समझते हैं, इसमें किसी तरह का सन्देह नहीं। जो बात अनेक दार्शनिक और बुद्धिमान पण्डितों की लम्बी चौड़ी पुस्तकों और व्याख्यानों से नहीं हुई, वह बंगाल के कुछ मनुष्यों के उत्तेजनापूर्ण उत्पीड़न से हो गई! बरीसाल प्रभृति नगरों के अत्याचारों की बात सुन कर ऐसा कौन हिन्दुस्तानी है, जिसका हृदय दुःखित न हुआ हो और

जिसने आँसू न बहाए हों। जिन बंगालियों को इस आन्दोलन के सम्बन्ध से क़ैद हुई है और जिन बालकों के बेत लगे हैं, उनकी बात राजाओं के महलों से लेके दरिद्रों के झोपड़ों तक पहुँची है और श्रोताओं ने उसे सजल नेत्र हो भक्तमाल की कथा की तरह आदर से सुना है। गवर्नमेंट के अदूरदर्शी कर्मचारियों को कदाचित् यह ज्ञान नहीं है कि, बंगाल के टुकड़ों ने भारतवर्ष के विछिन्न अङ्गों को एक कर दिया है।

यह सच है कि बंगालियों के साथ प्रत्यक्ष में हम लोगों का अभी सम्बन्ध दिखलाई नहीं देता, पर भीतर ही भीतर जो प्रेमभाव आप से आप हो रहा है वह निरपेक्ष और अनिवार्य है। चाहे कभी सुरेन्द्रनाथ और बिपिनचन्द्र पाल की अग्निमयी वक्तृताओं का निर्वाण हो जाय और चाहे पत्रिका और हितवादी की सुतीव्र लेखनी कोमलता ग्रहण कर लें, पर यह कभी सम्भव नहीं है कि, उस प्रतिदिन वर्द्धमान भाव की गति कोई रोक सके। जब हम अपने अन्तःकरण से यह प्रश्न करते हैं कि, क्यों अब हम लोगों को बंगाली इतने प्यारे लगने लगे, तो उत्तर यही मिलता है कि उनके स्वदेशप्रेम, स्वार्थत्याग और निडरपन से। बंगाल कौंसल के मेम्बरों ने निडरता के साथ जैसे मर्मस्पर्शी शब्द कहे थे वैसे कोई स्वार्थी पुरुष नहीं कह सकता। अपनी मातृभूमि के शोक में उन्मत्त होकर उन्होंने जो जो अनुष्ठान किए हम लोगों के लिए वे नए होने पर भी प्यारे हैं।

जब हमने देखा कि दुर्बल और दुःखित बंगालियों के आँसू पोंछने के बदले हमारी गवर्नमेंट के कर्मचारी उन्हें दण्ड देने को प्रस्तुत हो रहे हैं, तब हमारा ध्यान, उसी समय उनकी ओर हो गया। जब सुना कि बंगाल के बालक "वन्दे मातरं" उच्चारण करने के अपराध में स्कूलों से निकाले जाते हैं, बेत खाते हैं, पर स्वदेशहित के व्रत से विमुख नहीं होते, तब समझा कि बंगाली कायर नहीं, कायर वे हैं जो उनका साथ नहीं देते। धीरे धीरे यह भाव बढ़ा और यहाँ तक बढ़ा कि बंगाली हमारे हैं और हम बंगालियों के।

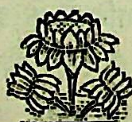
पिछले दिनों किसी कारणवश इस निबन्ध का लेखक उदयपुर गया था। मार्ग में मुझे वीरभूमि चित्तौड़ के दर्शन करने की लालसा हुई। जब मैं वहाँ के भग्नप्राय राजमन्दिरों का अवलोकन करने गया तब प्रसिद्ध राठौड़ बीर जयमल्ल के हृदयभेदी टूटे महल में तीन चार चारण कवियों को बंगालियों की चर्चा करते देखा। उनके हाथ में बम्बई का प्रसिद्ध हिन्दी संवादपत्र "श्रीवेङ्कटेश्वर समाचर" था। उसमें बरीसाल के लोगों के सताए जाने का करुण दृश्य था। उसी पर वे लोग कविता कर रहे थे। एक की कविता का आशय था कि "वङ्ग भूमि! कम्पित मत हो, कलङ्क गया, तेरी सन्तान का इतिवृत्त चित्तौड़ की वीर सन्तति के साथ लिखा जायगा।" दूसरे ने जो रचना की थी उसका आशय था कि "यहाँ की अधिष्ठातृ देवी की भाँति वङ्गदेवी भी कह रही है कि "मैं भूखी हूँ।" उसके लिए वीर और माननीय बालकों का प्रयोजन है, देखना इस बलिदान के समय विचलित न होना।" इसी तरह तीसरे के काव्य का भी आशय विलक्षण था। उसका कहना था कि बरिसाल! तेरे नाम से शत्रुओं को डरना चाहिए न कि दयालु राजा को। तुझसे दुःखित नगर धन्य हैं जो सत्कार्य्य के लिए सताए जायं।"

यद्यपि मैं बंगाली नहीं था, पर तो भी भारतवर्ष की सर्वप्रधान-वीरभूमि में उनकी प्रशंसा सुन कर आनन्दित हुआ। स्वदेशी आन्दोलन की संक्रामक शक्ति ने बंगालियों को कहां तक बढ़ा दिया है, इस बात को प्रत्येक पर्यटक बता सकता है, जिसने अपने नेत्रों से बड़ी बड़ी सभाओं में उनका आदर देखा हो। इस समय सब प्रान्तों के सुलेखक, सुवक्ता और सुकवियों की प्रतिभा का विषय बंगाल हो रहा है, बोध होता है, इस बात को समझाने की आवश्यकता नहीं।

अब यह प्रश्न है कि, बंगालियों के इस कार्य का प्रभाव कलकत्ते के मारवाड़ियों पर क्या हुआ? उत्तर है कि बहुत कुछ। यदि पूछा जाय कि फिर किस लिए वे विलायती कपड़ा मँगाने लगे तो इसका स्पष्ट उत्तर है कि, अपने स्वार्थ के लिए। एकदम से स्वार्थ त्याग करने

वाले लोग अशिक्षित मारवाड़ीयों में तो क्या शिक्षित बंगाली और दक्षिणीयों में भी सब नहीं हैं। बङ्गदेश के धनी जमींदार यदि निडर होकर अपनी निज की कलें और पाठशालाएं बनावें, तो उन्हें कौन रोकता है? जब कांग्रेस जैसी सभा के सभापति सर फिरोजशाह महता जैसे लोग स्वदेशी आन्दोलन से पीछे भागते हैं, तब मारवाड़ियों की त्रुटि गणना के योग्य नहीं है।

कलकत्ते में मारवाड़ी अंग्रेजी व्यापार के द्वारा बढ़े हैं और उनके लिए उसका द्वार खुशामद और परिश्रम से खुला है। वे भली भाँति जानते हैं कि, यदि अंग्रेजों की दल्लाली उन्होंने छोड़ी, तो युक्त प्रदेश के लोग उसे उसी समय ग्रहण कर लेंगे। पिछले दिनों जो मारवाड़ियों ने विलायती माल नहीं मँगवाया था, उसमें उनका निज का स्वार्थ था। उससे बंगाल के आन्दोलन का सम्बन्ध बहुत स्वल्प था। जो मारवाड़ी लोग अपने स्वार्थ के सन्मुख समग्र मारवाड़ी जाति के भी स्वार्थ की परवाह नहीं करते, उन्हें बंगालियों का स्वदेश-व्रत अकर्तव्य से नहीं रोक सकता। पर आनन्द यही है कि, उन्हें भी अब ज्ञान होने लगा कि, स्वार्थ के सिवा एक और भी मनुष्य का कार्य है जिसे बंगाली पूरा कर रहे हैं। स्वदेश-हितैषी बंगालियों का स्वार्थी मारवाड़ी अनुसरण नहीं कर सकें, यह सत्य है। किन्तु बंगालियों के कार्य को वे गौरव की दृष्टि से देखने लगे। उनकी कोठियों पर बंगालियों ही की चर्चा रहती है। मारवाड़ियों का भाव बंगालियों के कार्य से कहाँ तक बदल गया है, इसको अगली वार दिखावेंगे।



विद्यार्थी और राजनीति

"क्या इनको यह विदित नहीं है, जहाँ सदा वे करते वास।"
वहाँ अन्न के बिना नित्य रहता, कितनों के घर उपवास॥
तिस पर रोग टैक्स आदिक का, लोगों को रहता है त्रास।
सींचा जाता निर्दयता से, नमक घाव पर बारह मास॥
किन्तु स्वार्थ वश इन्हें दुःख नहिं, औरों का अनुभव होता।
किसी तरह ये रहैं ख़ुशी, मर जाय देश चाहे रोता॥
दिये कान ईश्वर ने, पर नहिं पीड़ित शब्द सुनायी दे।
आँखें हैं, पर हाय! नहीं कुछ दुःखित दशा दिखायी दे॥"

युवराज का स्वागत, ४३, ४४,

विलायत के कुछ स्वार्थी अँग्रेजों ने इस देश को सदा से अनुदार चित्त और पराधीन बतलाया है और स्वतन्त्रता के नवीन प्रवाह को, जो इस समय स्वदेशी के नाम से चारों ओर फैल रहा है, वर्तमान अङ्गरेज़ी शिक्षा का फल ठहराया है। उनके विचार में भारतवासियों का अँग्रेज़ों के राज्य में जितना सुख मिला है, वही उनके लिये गनीमत है और इसके साथ ही वह अदृष्टपूर्व भी है। कुछ इस देश के लोग भी उनकी हाँ में हाँ मिलाते हैं, और समझते हैं कि स्वतन्त्रता के लिये पहले इस देश में घोर अन्धकार था, और इस देश के लोग स्वाधीनता के सुख को बिलकुल समझते ही न थे। इसी प्रकार के लोगों ने अब यह कहना आरम्भ किया है कि इस देश के विद्यार्थियों को राजनीति के अन्दोलन से अलग रहना चाहिए, और साथ ही उनमें से किसी किसी ने दबी जबान से यह भी स्वीकार किया है कि यदि विपद काल हो तो विद्यार्थियों को भी राजनीति के विचार में योग देकर देश सेवा करनी चाहिए, अन्यथा नहीं। इन्हीं सब बातों का यहाँ हम संक्षेप से विचार करेंगे, कि वे कहाँ तक ठीक हैं।

जो लोग भारतवर्ष की आर्य जाति को पराधीन बतलाते हैं, वे या तो भ्रान्त हैं या किसी कारणवश जान बूझकर झूठ बोल रहे हैं। अन्यथा यह कब सम्भव है कि दर्शन शास्त्र की आदि भूमि होकर भारतवर्ष स्वतन्त्रता के सुख से अपरिचित रहे और उसके प्राप्त करने के लिये कुछ भी यत्न न करे।

इस बात को सब कोई जानते हैं कि स्वतन्त्रता की उत्पत्ति तलवार से नहीं, विचार से होती है और विचार स्वतन्त्रता से ही दर्शन शास्त्र की उत्पत्ति हुई है। भारतवर्ष की प्रतिभाशाली सुसन्तान, महर्षि कपिल, कणाद, गौतम और व्यास आदि के दर्शन शास्त्र भी कुछ ऐसे वैसे साधारण ग्रन्थ नहीं हैं, संसार के दार्शनिक पण्डितों ने उन्हें सर्वोत्तम विचार ग्रन्थ ठहराया है। इसके सिवाय यहाँ की शिक्षा का उपक्रम और उपसंहार स्वतन्त्रता को लेकर ही होता है और जगह जगह शास्त्रों में उसी के प्राप्त करने पर बल लगाया गया है।

यहाँ की शिक्षा का आरम्भ महर्षि मनु के धर्म शास्त्र से होता है। और वेदान्त वा उपनिषदों के अध्ययन पर उसकी समाप्ति हो जाती है। महर्षि मनु ने सुख दुःख की अनेक प्रकार की व्याख्या कर अन्त में सब का निचोड़ यह निकाला है। कि:—

"सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुख दुःखयोः।"

संक्षेप से सुख दुःख का लक्षण यह समझना चाहिए कि जो परवश है वह सब दुःख रूप है और आत्मवश अर्थात् स्वाधीन है वह सब सुख रूप है। आगे चल कर उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि जो बातें परवश हैं उन्हें छोड़ देना चाहिए और जो स्वाधीन हैं उन्हें स्वीकार करना योग्य है। वेदान्त शास्त्र का तो यह जगत्-विदित सिद्धान्त ही है कि जीवात्मा भ्रम से पराधीन हो अपने को दीन समझ रहा है, नहीं तो सब उसका विलास मात्र है। और वह उसी वेदान्त वेद्य सर्व शक्तिमान अजर अमर परमेश्वर का स्वरूप है।

श्रुतियाँ पुकार कर कह रही हैं कि—

"तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः"

अर्थात् परमात्मा के साथ जो अपनी एकता समझता है उसके पास शोक मोह फटकने भी नहीं पाते। वेदान्त शास्त्र को तब तक सन्तोष नहीं होता जब तक वह जिज्ञासु को "तत्त्वमसि" आदि महा वाक्यों से यह निश्चय नहीं करा देता कि वह स्वाधीनता की मूर्त्ति सच्चिदानन्द परमात्मा का रूप है। यह हम स्वीकार करते हैं कि भारतवर्ष में भेदवादी वेदान्तियों का भी एक मत है जो उक्त मत से कुछ विलक्षण है, पर यह अभिमान उनको भी है कि वे दास हैं तो केवल एक उस सर्वशक्तिमान् परमात्मा के जिसका यह ब्रह्मांड रचा हुआ है न कि किसी मनुष्य के। इस देश के लोगों को कोई अपनी विभूति का डर दिखावे भी तो क्या दिखा सकता है, जब विपद् भञ्जन भगवान श्री कृष्ण स्वयं मुख से पुकार रहे हैं कि—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
नचैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

इस आत्मा को न शस्त्र काट सकते हैं, न अग्नि जला सकती है, न जल गीला कर सकता है और न पवन शोषण ही कर सकता है। आर्य जाति की स्वतन्त्रता के प्रचुर प्रमाण जिसे देखने हों, ऋग्वेद में देख सकता है, विस्तार के भय से हम यहाँ उनका उल्लेख करना नहीं चाहते हैं।

पर दुःख की बात यह है कि आर्य जाति की स्वाधीनता का इतिहास लोगों को पढ़ाया नहीं जाता। इससे इस देश के विद्यार्थियों को सहज में यह विदित नहीं होता कि किसी समय वे भी पूर्ण स्वतन्त्रता के अधिकारी थे और अपनी मातृ-भूमि की स्वतन्त्रता के लिए वे लोग उसी तरह मरते थे, जिस तरह आज कल यूरोप के लोग। अस्तु विद्वान् डाक्टर हण्टर साहब को यह बात खेद के साथ स्वीकार करनी पड़ी है कि "भारतवर्ष के विद्यार्थियों के सामने पराधीनता का इतिहास आता है और उनकी सुखमयी स्वतन्त्रता का पुरावृत उनसे दूर रहता है, जिससे उनकी मानसिक स्वाधीनता का विकास नहीं

होता। हमारा विचार है कि स्वतन्त्र ग्रन्थ में अपने "स्वाधीन जीवन" का इतिहास वर्णन कर दिखलावेंगे कि पिछली विपत्तियों ने हमें कहाँ तक नष्ट कर दिया कि अब हमारे समीप उसकी बात एक कहानी की तरह रह गयी।

यह सच है कि यूरोप की उद्दण्ड प्रजा की तरह भारतीय प्रजा ने कभी अराजकता का पक्ष ग्रहण नहीं किया और न कभी यही चाहा कि वह स्वयं शक्तिशालिनी का नाम तक मिटा दे, पर साथ ही इसने क्रूर प्रकृति राजाओं के अत्याचारों को अधिक दिन सहन भी नहीं किया। उत्पथगामी वेन जैसे नृशंस नरेशों को उनके कर्म का फल भी इसने चखा दिया। भारतवर्ष की प्रजाने उन राजाओं को सदा प्यार किया, जिन्होंने प्रकृति-पुञ्ज की भलाई के लिये यत्न किया था। सूर्यवंशी महाराजाओं को उसने अपना देवता केवल इसीलिए नहीं बताया कि वे अलौकिक शक्ति-सम्पन्न महापुरुष थे, वरञ्च इसलिए भी कि उन्होंने प्रजा की भलाई के लिये कोई बात उठा नहीं रखी थी। प्रजा को प्रसन्न करने के लिये महाराज सगर ने अपने कुमार असमञ्जस को देश निकाला दे दिया और भगवान रामचन्द्र जी ने पतिव्रता शिरोमणि जानकी जी को भारतवर्ष के प्राचीन राजाओं ने प्रजामत के समक्ष, न कभी अपनी जाति का पक्ष किया, न कभी वंश का किया और न कभी अपने राज नियम ही को कुछ समझा। उन्होंने महाकवि भवभूति के इस वाक्य के अनुसार कि—सतां केनापि कार्येण लोकस्या-राधन व्रतम्" प्रजारञ्जन ही अपना प्रधान कर्तव्य समझा। उनकी सेना, उनका कोष और उनका बल उनके लिये न था वरञ्च प्रजा के लिये था और यह उसी पुण्य का फल था कि उनके समय में न बहुत युद्ध विग्रह होते थे, न दुर्भिक्ष और महामारी का भय था, और न आज कल की तरह न्यायालयों में अभियोगों की ही भरमार थी। उस समय राजा और प्रजा आनन्द के साथ धर्म्म कार्य और धर्म चर्चा में समय व्यतीत किया करते थे। यद्यपि पिछले समय में बौद्ध धर्म ने आर्य जाति में मतभेद कर उसे दुर्बल बना दिया

था तथापि यह अपनी स्वतन्त्रता के सुख को नहीं भूली। इसने विक्रमादित्य जैसे महाराजा और शङ्कराचार्य्य जैसे महापुरुषों को उत्पन्न किया और स्वाधीनता लाभ करने के लिये पुनः पुनः उद्योग करती रही। बादशाही समय के संकट में यद्यपि इसने बहुत कुछ खोया और अपने को भूल कर अन्धकार में छिपा दिया तथापि चित्तौड़ आदि की स्मशान वन्हि उस अन्धेरे को कुछ दूर करती रही और हमें हमारा स्वरूप सुझाती रही। विपद् काल में सदा से भारतवर्ष को अपने बालकों का सहारा रहा है और यह उनके देश के लिये बड़े गौरव की बात है कि वे अपनी कठिन परीक्षा में सदा से उत्तीर्ण हुए हैं। बलि के प्रताप के समय बटुक वामन ने अपनी नीति से देवजाति का उद्धार किया था और धर्मप्राण प्रह्लाद ने अपने दुष्ट पिता और अन्यायी महाराज की दुर्नीति का विरोध कर अपने असीम साहस का परिचय दिया था। उसने राजकीय पाठशाला के सब विद्यार्थियों के हृदय पर यह अङ्कित कर दिया था कि—

"कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह।
दुर्लभम् मानुषं जन्म तदप्य ध्रुवमर्थदम्"॥

बुद्धिमानों को उचित है कि वह तेजस्विता के कार्य (भगवत-धर्म) युवावस्था में ही कर डाले, कारण कि प्रथम तो मनुष्य शरीर ही दुर्लभ है और उससे भी ऐसा शरीर जिससे प्रयोजन सिद्ध हो अधिक काल नहीं रहता। उस समय का भीषण वर्णन, जो पुराणों में लिखा हुआ है, उससे विदित होता है कि, राजनीति के विरोधी बालक केवल प्रताड़ित ही नहीं होते थे, प्रत्युत अग्नि में जलाये जाते थे, फाँसी पर चढ़ाये जाते थे और पहाड़ पर से गिराये जाते थे। उस कठिन समय में न्याय और सत्य के सम्मुख विद्यार्थियों ने अपने प्राणों को तुच्छ समझा और सत्यद्वेषी, स्वार्थी गुरु पुत्र शण्डामर्क की आज्ञा और उपदेश न मानकर प्रह्लाद को अपना नेता बना अत्याचारों को सहन किया था।

महर्षि विश्वामित्र के यज्ञ में जब विश्वविजयी रावण के कर्म-

चारियों ने राक्षसी राजनीति के अनुसार विघ्न करना आरम्भ किया था तब भी भारतवर्ष के बालकों ही ने उसकी रक्षा की थी। रावण के नाम से वृद्ध महाराज दशरथ काँप उठे थे। किन्तु उनके "ऊनषोड़श वर्ष" कुमार रामचन्द्र और लक्ष्मण निर्भीक चित्त से धनुर्धर हो चुपचाप अकेले महर्षि के साथ भयानक बन में चले आये और उन्होंने स्वदेश हिताय सब कुछ कर डाला।

अत्याचार के कारण भारतवर्ष के बालकों को कंस की भीषण नीति भी सदा याद रहेगी, जिसने कि अनेक प्रकार के छल बल से निरपराध बालकों का संहार करना आरम्भ कर दिया था। उसके अत्याचारों से लोग जन्मभूमि से 'निर्वासित हुए', बिना अपराध अनेक जन कारावरुद्ध हुए और कितने ही अभागे पुत्रहीन भी हो गये थे। तथापि यदुनन्दन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र और बलदेव जी ने धीरता से अपने पौरुष का परिचय दे उनका अन्त कर डाला था।

कुरु पाण्डवों की वीर कथा भी इस देश के बालकों के बल, स्वार्थत्याग और स्वावलम्बन से आरंभ होती है। युवा भीष्म ने स्वदेश और स्वजाति रक्षा के लिए चिर कौमार व्रत ग्रहण कर जैसा स्वार्थ त्याग दिखाया था वैसा कौन दिखा सकता है! दुर्योधनादि के असह्य अत्याचारों ने पाण्डवों को स्वावलम्बन के लिये बाध्य किया था, और वे सहिष्णुता की मर्यादा के पार जाकर प्रतीकार परायण हुए थे। ये दुःख पूर्ण सच है कि कुरुपाण्डवों की वीर लीला किसी विजातीय वा भिन्न धर्मा के विरुद्ध नहीं हुई थी वह स्वजाति हत्या के घोर पातक और आत्मकलह भेद के कलङ्क से कलङ्कित है। तथापि वीर पुत्र अभिमन्यु और बभ्रुवाहन आदि का चरित्र इतना महत्वपूर्ण है कि उससे हमारे विद्यार्थी बहुत कुछ सीख सकते हैं और यह जान सकते हैं कि जो काम बड़े-बड़े वृद्ध लोगों से नहीं हुआ, उसे इस देश के बालक तथा युवकों ने अपने प्राणों की बाजी लगाकर पूरा किया है।

हमारा वैदिक धर्म और हमारी आर्य जाति उस समय भी बालकों ही से उपकृत हुई थी जब बौद्ध धर्म के कलह से इस देश में

विदेशियों का आधिपत्य हो चुका था। तेरह वर्ष के कुमारिल और पाँच वर्ष के शङ्काराचार्य ने जन्मभूमि के लिये सब सुखों को छोड़कर अत्याचारों की प्रज्वलित अग्नि में जीवन की आहुति दी थी। उसी का प्रताप यह है कि वेद की महिमा और पूर्वजों की प्राचीन कीर्ति अब तक इस देश में सुनायी देती है।

मुगल बादशाहों के समय हम यहाँ तक दीन हो गए थे कि विधर्मी और विजातीय लोगों के साथ कुटुम्बिता स्थापन करने में कितने ही नृपति अपना कल्याण समझने लगे थे। तथापि इस देश के बालक उस समय भी विचलित नहीं हुए थे। राजपूताने का गौरवमय दुर्ग चित्तौड़ जिन वीरों के नाम पर अब भी शिर ऊँचा किये हुए है उनमें जीवन समर्पण करने वाले बालक ही प्रधान थे। पंजाब की वीर भूमिने भी पिछले समय के इतिहास में बालकों ही के कारण आदर पाया है। सिक्खों के दशम गुरु महात्मा गोविन्दसिंह जी के दो बालक बादशाह की आज्ञा से जीते हुए दीवार में चुने गए, पर उन्होंने उस समय की दुर्नीति का अनुसरण नहीं किया। 'शाही हुक्म' से वीर बालक हकीकत राय ने अपने टुकड़े टुकड़े करवा डाले, पर राजा को वह बात स्वीकार नहीं की जो सत्य और न्याय के विरुद्ध थी। इन वीर बालकों के स्मारक चिन्ह इस देश में अब तक भी वर्तमान हैं तथापि कुछ महात्मा यह कहने में संकोच नहीं करते कि इस देश के विद्यार्थियों को राजनीति से अलग रहना चाहिए।

कदाचित कोई कह सकता है कि प्रह्लाद आदि धर्मपरायण बालकों का प्रसंग धर्मनीति के उदाहरण में दिया जा सकता है राज-नीति के प्रकरण में नहीं, पर हम कहते हैं कि, जिसके साथ राजा का सम्बन्ध हो वह धर्म नीति भी राजनीति ही है। और साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि जिस कार्य में न्याय और सत्य की रक्षा हो वह चाहे जिस रूप में हो परम से परम धर्म समझना चाहिये। कोई ईश्वर की पूजा वैकुण्ठपति के रूप में करता है और कोई जन्मभूमि के रूप में। भाव में जरा संकोच विकास का भेद है, कर्त्तव्य में नहीं।

क्या यह विपद्काल नहीं है ?

जिन लोगों का यह मत है कि विद्यार्थियों वा युवकों से विपद काल में सहायता लेनी चाहिये अन्यथा नहीं। मालूम होता है वे इतने सुखी हैं कि उन्हें देश की विपद् होने में अब तक सन्देह है। ऐसे ही लोगों को लक्ष्य कर यह कहा गया है 'दिये कान ईश्वर ने औ पर नहिं पीड़ित शब्द सुनाई दे। आँखें हैं पर हाय! नहीं कुछ दुःखित दशा दिखाई दे' जब हिन्दुस्तानियों की यह दशा है, तब अंगरेज़ लोग इस देशको क्यों न सुखी बतलावें! ऐसे लोगों को 'देश की बात पढ़ने से विदित हो जायगा कि इससे बढ़कर और विपद्काल कौन सा होगा!

कई शताब्दियों से यह देश दुर्बल हो रहा है, दुर्बल प्रजा का भरोसा एकमात्र राजा ही होता है, किन्तु इस देश का राजा सात समुन्दर पार रहता है, और यहाँ की प्रजा की पुकार पर बिदेशी गर्वनमेंट और उसके कर्मचारी ध्यान नहीं देते। जिस प्रजा की प्रसन्नता के लिये इस देश के प्राचीन नृपतियों ने अपने पुत्र कलत्र तक को निर्वासित कर दिया था, आज उसी प्रजा के लिये इस देश के कई राजपुरुष अपने सजातियों को दण्ड देने में भी कुण्ठित हैं। निर्धनता का यहाँ तक राज्य है कि लाखों आदमी भर पेट खाने को भी नहीं पाते। चीन जापानादि के भयानक युद्धों में भी उतने मनुष्य हताहत नहीं हुए, जितने यहाँ प्लेग की भेंट हो चुके और होते जा रहे हैं। विद्वान् मर रहे हैं, मूर्ख बढ़ रहे हैं और शिक्षा की जड़ कट रही है, तथापि कहा जाता है कि यह विपद् काल नहीं है। इससे बढ़कर क्या आश्चर्य होगा? अब भी यदि इस देश के बालक विद्यार्थी और युवक गण राजनीति में योग देकर इस देश की सहायता न करें तो कब करेगें? 'शतं जीवेम शरदः' की प्रार्थना भगवान् स्वीकार करते किम्बा हमारे देश के बालक मार्कण्डेय की आयु पाते तो हम भी 'शण्डामर्क' की हाँ में हाँ मिलाकर कहते कि देश सेवा व धर्म सेवा के लिये बहुत काल है। "इस समय तो खाओ पियो मौज़ उड़ाओ, बुढ़ापे में

देखा जायगा"। किन्तु प्लेग आदि रोगों और अनेक प्रकार के उपद्रवों ने यहाँ तक छक्के छुड़ाये हैं कि बुढ़ापे की तो बातें दूर रहीं युवावस्था तक भी बालकों का पहुँचना कठिन हो गया है। इसलिये हमें भी भक्त श्रेष्ठ प्रह्लाद की तरह कहना पड़ता है कि, भाइयो, कल की कौन जानता है कि क्या होगा, जा कुछ करना है, अभी कर डालो।

"दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुव मर्थदम्।"

यह बड़ी लज्जा की बात है कि १४ वर्ष का अकबर हिन्दुस्तान पर चढ़ाई कर दिल्ली की बादशाही करने लगे, बीस वर्ष से कम उम्र के विलायती युवक भारतवर्ष में आकर शासक बन जाँय और यहाँ के सुशिक्षित सुसभ्य युवा, राजनीति की सभाओं में योग देने और आन्दोलन करने के पात्र भी न समझे जाँय। भारतवर्ष को प्राचीन और नव्यनीति के क्षेत्र से अलग रखना, धर्म और न्याय की मर्यादा से बहुत परे है। राजनीति, जब शिक्षा और कर्तव्य का विषय है, तब उससे इस देश के विद्यार्थियों को क्यों वंचित किया जाय? जिस कार्य को एक जराजीर्ण वृद्ध कर सकता है, उसे एक उत्साही नवयुवक करने को उद्यत हो जाय तो, यह उसे अपना सौभाग्य समझना चाहिए।

इस समय भाग्य ने कुछ पलटा खाया है, दल के दल युवक देश सेवा के लिये सन्नद्ध और अकुतोभय हो रहे हैं। ऐसे समय में उन्हें हतोत्साह न कर प्रोत्साहित कर कर्तव्य में नियुक्त करना उचित है। कारण, देश का भविष्य इन्हींकी उन्नति और अवनति पर निर्भर है। हमारे पवित्र लोकों के देवता और पूर्वजों के आत्मा, इनके सौभाग्य शाली मस्तकों पर, आशीर्वाद वर्षण और इनके पवित्र कार्यों को सतृष्ण नेत्रों से निरीक्षण कर रहे हैं। आशा है कि इनके द्वारा इस अधःपतित देश का उद्धार होगा और यह चिर प्रसुप्त एवं आत्म-विस्मृत जाति भी कार्य करने में सक्षम होगी। अन्त में हम "तिलक यात्रा" से निम्न-लिखित कई पंक्तियाँ भी उद्धृत

कर पाठकों को उपहार देकर इस लेख को समाप्त करते हैं और चाहते हैं कि वे इन वचनों पर ध्यान दे अपनी दशा का विचार करें।

चढ़ता है, सो गिरता भी है, पर गिर कर जो उठे नहीं।
उससे बढ़कर शोच्य जगत् में, मिल सकता कब मनुज कहीं॥
साधु-वृत्त कन्दुक सम गिर कर, बेर बेर ऊपर आते।
वृत्त-हीन मृत्पिंड सदृश गिर, तुरत भूमि में मिल जाते॥
उठते हैं वे वीर पुत्र, जिनको पितरों का है अभिमान।
नहीं उठाने से उठते जो जारज, कायर मृतक समान॥
पैरों में गिर ठोकर खाना, यह कब किसको प्यारा था।
उठना और उठाना सबको, यह एक काम हमारा था॥

(तिलक-यात्रा)

श्री पञ्चमी स०
१९६२ कलकत्ता

माधव प्रसाद मिश्र



खुली चिट्ठी

माननीय मालवीयजी के नाम ।

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं बपुश्च ।
अल्पस्य हेतोर्बहुहातुमिच्छन् विचारमूढ़ प्रतिभासि मे त्वम् ॥

कालिदास, रघुवंश ।

श्रीयुक्त माननीय पण्डित मदनमोहन मालवीजी के प्रति,

प्रणाम, आर्य्य !

यद्यपि आप जैसे कृतकर्मा असाधारण पुरुष के प्रति किसी साधारण पुरुष का हितकथन "भवत्यधिक्षेप द्रवानुशासनम्" का स्मरण कराता है और सङ्कोच होता है कि कहीं वक्तृविशेष को देखकर वाक्य का मूल्य निर्धारण करने वाले लोग "बालादपि सुभाषितम्" की नीति के विरुद्ध दण्डायमान न कर दें, तथापि स्नेह कुछ कहलाये बिना नहीं रहता । "त्वद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः ।"

विभूतिसम्पन्न तपस्वी भरद्वाज की तपोभूमि, वैदिकाग्रगण्य महामति कुमारिलभट्ट की मरणभूमि और मनस्वी पण्डित अयोध्यानाथ की जन्मभूमि, उस दिन अत्यन्त हर्षित हुई थी; जिस दिन छात्रदशा में आपने राजनीति के कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होकर युक्तप्रदेश के प्रजापुञ्ज से साधुवाद प्राप्त किया था। उस दिन निर्गुण राजकुल और कौलिक बड़प्पन का शुष्क अलङ्कार रखनेवाले धनाढ्य लोगों का गर्व खर्व हो गया था जब आपने पण्डित अयोध्यानाथजी के साथ युक्तप्रदेश के वर्षकों के महत्व और शोच्य जीवन पर मधुर भाषण करने एवं विद्यार्थियों को उत्तेजना देने के लिए यत्र तत्र परिभ्रमण किया था ।

आपकी मधुरमूर्त्ति, मर्म्मस्पर्शिनी वक्तृता, अहैतुकी भगवद्भक्ति और नीतिनिपुणता की इतनी धूम हुई कि "पलाशी," "कुरुक्षेत्र" और "प्रभास" आदि महाकाव्यों के कर्त्ता बङ्गाल के नामी कवि बाबू नवीनचन्द्रसेन को भी आपके विषय में यह लिखना पड़ा था कि "जिस प्रकार प्राचीन भारत के धर्म्म, नीति, प्रेम का वह मदनमोहन केन्द्र था, उसी प्रकार वर्त्तमान भारत की नीति का यह मदनमोहन केन्द्र है।

उसी चिर-यशस्वी पुरुष के विषय में अब लोगों की कैसी धारणा हो रही है, यह आपको एक बार विचार कर देखना उचित है।

अहा ! पिछले दिनों एक वह भी सुखमय समय था, जब लाट कर्ज़न के कराल शासनकाल में युक्तप्रदेश की राजसभा में आपने अपने देश और पूर्वजों की सत्यनिष्ठा का शाश्वत प्रमाण देकर ब्राह्मणोचित कर्त्तव्य का पालन किया था। उस दिन अवज्ञात ब्रह्मकुल ने समझा था कि महापुरुष कुमारिल के चिताभस्म में अब तक भी स्फुलिङ्ग वर्त्तमान हैं और तपोनिधि महर्षि भरद्वाज के आश्रम का पुण्य अबतक भी निःशेष नहीं हुआ है।

उस अवसर पर अङ्गरेजी संवादपत्रों ने आप पर कटाक्ष किये, स्थानीय मजिस्ट्रेट ने आपका अपमान किया और आपको भी दुःखित होकर म्युनिसिपलिटी को त्याग देना पड़ा; किन्तु उससे आपकी चिर-सञ्चित महिमा का अणुमात्र भी ह्रास नहीं हुआ। वरञ्च इस देश की चिरपीड़ित प्रजा का चित्त और भी आकृष्ट हुआ था। यदि च प्रयाग के बड़े आदमियों ने कमिटी की मेम्बरी से इस्तीफा देकर सभ्यता तथा सहानुभूति का परिचय नहीं दिया था; तथापि प्रयाग के युवकवृन्द ने आपके उस दुस्सह अपमान को युक्तप्रदेश के आराध्य देवता का अपमान समझा था, किन्तु इस समय देखिये वही युवक-गण आपके कार्य्यों से अधीर हो कर, किन किन कार्य्यों का अनुष्ठान कर रहे हैं ?

युक्तप्रदेश की श्रद्धालु प्रजा और विश्वस्त छात्रमण्डली सदैव से आपमें इतनी अनुरक्त रही कि जब पुण्यभूमि प्रयाग के उस निराभरण, कोमल वक्षस्थल पर जो चैत्यहीन कुमारिल की चिता पर चैत्य बनाने और कलशहीन भरद्वाज के भग्न मन्दिर पर कलश चढ़ाने तक का भार वहन नहीं कर, सर्वसाधारण के चन्दे से आपने एक भिन्न-धर्म्मा विदेशी शासक का बहुमूल्य स्मारक खड़ा कर दिया, किसी ने प्रतिवाद तक न किया और उसे आपकी निकृष्ट नीति का नहीं, सहृदयता का निदर्शन समझा।

एक साल पहले जब आप राजनीति के कम्पित और विचलित स्टेज से युक्तप्रदेशीय सनातन धर्म्म के शून्य सिंहासन पर आरूढ़ हो श्री भारत धर्म्म महामण्डल के विरुद्ध महासभा खड़ी करने लगे, तब भी युक्तप्रदेशवालों ने आपसे कुछ नहीं कहा। क्योंकि वे समझते थे कि यह संघर्ष धर्म्मभाव को उद्दीपन करने के लिये किया होगा। बहुत शीघ्र आप वकालत छोड़कर सनातन धर्म्म की सेवा करेंगे और अपने आदर्श कुमारों को अङ्गरेजी न्यायालयों का वकील न बनाकर विश्वविद्यालयीय ब्रह्मचर्य्याश्रम के ब्रह्मचारी बनावेंगे और विद्या के प्रचार से आम्नाय के उस वाक्य का जो 'यत्र गुप्ता सरस्वती' के नाम से प्रसिद्ध है, अर्थान्तर कर दिखावेंगे। यद्यपि एक अजातशत्रु, अद्वैतवादी, सौम्य ब्राह्मण के लिये यह विषय भी चिन्त्य था कि वह "धर्म्मो जयतु नः सदा" के नाम से द्वैध का झंडा खड़ाकर अप्रार्थित संघर्ष को स्थान दे; तथापि सन्तोष की बात यह थी कि प्रयाग के एक ब्राह्मण वीर का यह विद्रोह दीन प्रजा के न्याय के साथ नहीं; धन वैभवशाली सम्राटभक्त महाराज दरभङ्गा के साथ था।

कितने लोगों का विचार है कि "या तो आपको राजनीति के प्रासाद से उतर कर सनातन धर्म्म के दलदल में फँसना ही न था और जब फँस चुके थे तो धीरता और दृढ़ता से उसीका परिष्कार करना था। कलकत्ते जाकर कांग्रेस के चक्र में पड़कर प्रजा से तिरस्कृत होना उचित न था; परन्तु हमारा निवेदन है कि यहीं तक मामला रह जाता,

तब भी कोई विशेष चिन्ता न थी। आप सब सामान्य बखेड़ों को छोड़ कर विश्वविद्यालय के उस बड़े काम को उठाते जिसकी वर्षों से धूम है। ऐसा होने पर लोगों को यह कहने का अवसर न मिलता कि आप "नैकात्मा नैककर्मकृत्" हैं, उनका ध्यान आपके महत्कार्य की ओर हो जाता; एवं कलकत्तेवाली बात की वहीं इति श्री हो जाती। किन्तु दुःख की बात है कि आपसे एक और भूल हुई और वह भूल सामान्य होने पर भी आप जैसे स्वधर्म्म प्रेमी और लोकप्रिय ब्राह्मण एवं सहृदय-मण्डली के लिये सामान्य नहीं है।

आपकी पुनीत स्थिति के कारण ही नहीं; महर्षि भरद्वाज के समय से अतिथिसत्कार के लिये प्रयाग सर्वत्र प्रसिद्ध है। लोग कहते हैं कि वहाँ के घरों की दीवारों पर नहीं वरञ्च प्रयागीय गृहस्थों के हृदय पर यह पवित्र वाक्य लिखा हुआ है कि "तृणानि भूमि रुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता। एतान्यापि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन।" और इसका साक्षी हमारा अन्तःकरण भी है। पिछले दिनों जब प्रजापूज्य, वेदार्थनिष्णात, भारतेन्दु पण्डित बालगङ्गाधर तिलक प्रयाग में अतिथिरूप से पधारे, उनका आतिथ्य करना केवल सभ्यता के विचार से नहीं, उस (अनाथ) धर्म्म के विचार से भी, जिसकी रक्षा करने का भार कुछ दिनों से आपने लिया है, उचित था। किसी किसी का कहना है कि "महा मण्डल और आपकी सभा के अवसर पर तिलक महोदय ने महामण्डल का पक्ष लिया था तो कोई अन्याय नहीं किया था। उनका यह कहना कि हम "कांग्रेस के सिवाय राजनीति की और महामण्डल के सिवाय धर्म्म की नयी सभा बनाकर अपने समाज को फूट से दुर्बल नहीं बनाया चाहते" सर्वथा स्तुत्य था। इसके लिये उन्हें न्यून से न्यून उस प्रतिष्ठा का अधिकारी भी नहीं समझना जिसका कि एक साधारण ब्राह्मण भी हक़दार है और फिर यह कहकर कि "गृहेमेऽनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः।" दोष मार्जन भी न करना एक मेधावी के लिये बेढब भूल है। जिस प्रयाग में एक दिन लाट कालविन की कुटिलता के कारण काँग्रेस के अधिवेशन के लिए पुण्य श्लोक

स्वर्गीय पण्डित अयोध्यानाथ जी अपना स्थान तोड़ने को तैयार हो गये थे उसी पूजित क्षेत्र में आपके प्रताप के मध्याह्न काल के समय जब उस महाराष्ट्र नेता के भाषणस्थान के लिये (जो स्वदेश के लिये "त्यक्तप्राण धनानि च" का प्रत्यक्ष उदाहरण है) लाले पड़ गये, तब युक्तप्रदेश की धीरता कहाँ तक रहती ?

भूल की समाप्ति यहीं हो जाती तब भी कुछ बात न थी; पर वह आगे चलकर भी होती गयी। चिरसुप्त बङ्गाल को सिंहगर्जन से उठाने और "स्वराज्य" प्रतिष्ठा की धूम मचानेवाले बाबू विपिनचन्द्र-पाल कौन हैं, चाहे आप यह न जानते हों; पर यह अवश्य जानते होंगे कि वे उस ब्राह्मण के पक्के अनुयायी हैं जो "न जातु कामान्न भयान्न लोभात्" न्यायमार्ग से परिभ्रष्ट हुआ और जिसकी अकुण्ठित प्रतिभा ने कारागार की कठिनता में भी अपना कठिन कार्य सम्पादन किया था। यदि यह दृढ़प्रतिज्ञ वीर पुरुष न होता तो भीरु बङ्गाल में राजपुरुषों की आँखों में काँटा सा खटकनवाले महाराष्ट्रकेसरी की पूजा इतनी धूमधाम से न होती। और कांग्रेस उस गुप्त कमिटी ही में, जिसका विषय आजतक संवादपत्रों से अलग रखा गया, स्वराज्य तथा वहिष्कार की समाधि हो जाती। चाहे आप पाल महोदय के विषय में कितना ही प्रकाश करवावें कि 'वे बैरीसाल में दीवार फाँदकर चले आये थे' पर स्मरण रखिये कि यह वह पुरुष है जिसकी न्याय-परता, स्पष्टभाषिता, वाग्मिता और लोकप्रियता के सम्मुख कारागार-पूतविग्रह वृद्ध, बाबू सुरेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय की भी किञ्चित् कुनीति-संश्रित श्री फीकी पड़गयी और यह भी आप याद रखिये कि बड़े बड़े अभिमानी वाग्मियों का घमंड तभी तक स्थित है जब तक वे तेज और तथ्यपूर्ण पाल महोदय की मधुर वक्तृता श्रवण नहीं करते। हमने देखा है कि उनकी स्पीच से कितने ही सिद्धान्तियों का मत परिवर्त्तन हो गया है और उन्होंने उसे जादू भरी कहा है। "कितो न गोकुल कुछ वधू काहि केहि सिख दीन्ह। कौने तजी न कुल गली ह्वै मुरली सुरलीन ?" इस स्वदेश-वत्सल पुरुष के साथ भी आपका उचित व्यवहार नहीं हुआ !

तिलक के स्वागत के समय प्रयागक्षेत्र में जो बीज बोया गया था वह पाल के पधारने पर अङ्कुरित हुआ और जब खुल्लमखुल्ला आपने अपने भाषणों और पत्रों के द्वारा यह सिद्ध करना चाहा कि "राजनीति से विद्यार्थियों को अलग रहना चाहिये तब वह वृक्ष के रूप में परिणत हो गया। उसीका ओज यह फल है कि प्रजा की स्नेहमयी प्रेरणा से जो पुरुष प्रतिष्ठा के मैदान में राजा रामपालसिंह महोदय से भी दो हाथ आगे बढ़ गया था वह आज एक लोकप्रिय युवा डाक्टर से पश्चात्पद है।

निसन्देह, यह बहुत अचरज की बात है कि जिन्होंने थोड़े दिनों पहले महामण्डल के अधिवेशन में मिथिलेश्वर को यों प्रबुद्ध किया था कि "सन्तुष्ट दीन प्रजा के साधुवाद से जो सन्तोष अन्तरात्मा को होता है वह सम्राट् के दिये हुए बड़े बड़े पदों, अधिकारों और उपाधियों से नहीं होता" वही पुरुषवर इस समय इस बात को परवाह नहीं करता कि, सर्वसाधारण को अब क्या अभिमत है।

सब से अधिक दुःखप्रद विषय यह है कि आप जैसे सुविद्वान् ब्राह्मण के पत्र में हम इस बात का आग्रह देखते हैं कि विद्यार्थी राजनीति के अन्दोलन में शामिल न हों। वे स्वतन्त्रता से अपना मत सर्वसाधारण में प्रकट न कर सकें और विशेष खेद इस बात का है कि इस अनालोचित रमणीय विषय को युक्ति-युक्त और धर्म्मशास्त्रसम्मत बताया जाता है। मनु भगवान् के इस श्लोक का कि "सर्वान् परित्याजेदर्थात् स्वाध्यायस्य विरोधिनः" यह झूठा अर्थ किया गया कि "विद्यार्थी को चाहिये कि उन सब कामों को छोड़ दे जो उसके स्वाध्याय-विद्याध्ययन में विघ्न डालने वाले हैं"। किन्तु इस श्लोक को प्रकरण विरुद्ध ब्रह्मचारी तथा विद्यार्थी के पक्ष में घसीटना और वैदिक स्वाध्याय शब्द का लिखना पढ़ना करना भूल है कि नहीं; यह बात आप अपने महामहोपाध्यायों से पूछ लें।

ब्रह्मचारी के धर्म्म मनुस्मृति के द्वितीयाध्याय ही में हो चुके हैं

हैं और तृतीय से गृहस्थ धर्म का आरम्भ हुआ है तथा चतुर्थ में उसीकी समाप्ति। यह श्लोक चतुर्थ अध्याय का है और विषय गृहस्थ ब्राह्मण की आजीविका का है। जिसका तात्पर्य यह है कि गृहस्थ ब्राह्मण स्वाध्याय अर्थात् विधिविरोधी सब कार्यों को छोड़ दे। इस पर शङ्का हुई कि फिर घर गृहस्थी का वह कार्य कैसे चलावे? जिसका उत्तर इस श्लोक के उत्तरार्द्ध से यों दिया गया है कि "यथा तथा ध्यापयंस्तु साह्यस्य कृतकृत्यता"। अर्थात् विधि के अविरोध से अध्यापनवृत्ति को करे, तो कोई बुराई नहीं। क्योंकि वेदार्थपरता रहने से ही इसकी कृतार्थता है। हमारे उक्त अर्थ की यथार्थता में कुछ भी सन्देह हो तो आप उस "बड़े योग्य विद्वान" से मन्त्रणा कर सकते हैं जो "देश-हितैषी" का चेहरा लगाकर न्याय और शास्त्र के विरुद्ध अर्थ का अनर्थ कर रहे हैं।

स्वाध्याय शब्द का तात्पर्य सर्वत्र वेद के पढ़ने पढ़ाने से है, जिससे वकालत आदि के वाग्जाल कोसों दूर रहते हैं। और जो स्वाध्याय नाम केवल लौकिक 'लिखने पढ़ने' का हो, तब किस की शक्ति है, जो यह सिद्ध कर दे कि विद्यार्थियों को राजनीतिक आन्दोलन से पृथक् रहना चाहिये। विद्यार्थियों की श्रुत और अधीत अर्थ में तब तक निष्ठा नहीं हो सकती जब तक अपने नेताओं की सभा में योग देकर उसका वे मनन न करलें। यदि छात्र दशा में रामायण, महाभारत के जगद्वन्द्य राजकुमार राजनीतिक बातों में योग न देते तो कभी सम्भव न था कि कार्य काल में वे अपने प्रबल पराक्रान्त विरोधियों का संहार कर सकते।

भारतवर्ष के ब्रह्मचारी, विद्यार्थी तथा युवकगण इसी समय नहीं, पहले भी विपद्काल में इस देश के अवलम्बन रहे हैं। हमारे वामन भगवान् लड़कपन में ही यदि राजनीतिक ब्रह्मचारी न होते तो दैत्यराज बलि के ग्रास से उनकी देवजाति का उस समय उद्धार होना बहुत कठिन था; पर कुशल यही थी कि उस समय की महर्षि मण्डली में कोई उनका उत्साह भङ्ग करने वाला न था। वे उस समय के नेताओं

से प्रोत्साहित और पुरस्कृत हुए, तिरस्कृत नहीं। हम हिन्दुओं के परमोपास्य भगवान् कृष्ण बलदेव ने लड़कपन से ही उन राजनैतिक बातों का अनुष्ठान आरम्भ कर दिया था जिस पर इस देश के अभ्युदय का होना निर्भर था। पूतना का मारना, चाणूर मुष्टिक का पछाड़ना, कंस की छाती पर उनका चढ़ बैठना, हमें किस बात की शिक्षा देता है?

वैदिक ग्रन्थों के अवलोकन से प्रतीत होता है कि राजसूय के अश्व की रक्षा के लिये चार सौ कुमार उसके पीछे पीछे जाया करते थे। हम उन कुमारों के राजनैतिक कार्यों का निरूपण कर पत्र की कलेवर वृद्धि करना नहीं चाहते, इतना ही कह देना बहुत है कि यदि महर्षि वाल्मीकि और भगवान् वेदव्यास का आत्मा भी स्वार्थपरायण राजपुरुषों के इङ्गित से परिचालित होता तो लवकुश और बभ्रुबाहन को वीरकथा भारतवर्ष में सुनाई नहीं देती।

आप जरा सोचिये तो सही, यह विषय आपके सच्चे पक्षपातियों के निकट कितना मर्म्मस्पर्शी है कि "ऊनषोडशवर्ष" के रामचन्द्र जी छोटे भाई लक्ष्मण सहित महर्षि विश्वामित्र की यज्ञरक्षा के लिये एकाकी बन में चले जायँ और "स्वदेशस्य हिताय च" मायाविनी ताड़का का प्राण संहार कर डालें और आप अपने विद्यार्थियों की दुर्नीति को दबाने के लिये काँग्रेस में भी न जाने दें! एकबार विचारिये तो, पूर्वजों की प्रतिष्ठा के लिये कुमार अभिमन्यु और लक्ष्मण चक्रव्यूह में लड़कर प्राण दे दें, भीष्म और परशुराम रक्त की नदियाँ बहादें, रुक्माङ्गद सा नन्हासा बालक हँसता हँसता सिर कटा ले, ऋषिकुमार ऊर्व बड़े बड़े शस्त्रधारियों को परास्त कर दे, बालक राजपूत फत्ता चित्तौड़ के द्वार पर सहर्ष प्राण गँवा दे, राणा लक्ष्मणसिंह अपने ग्यारह कुमारों को भारतद्रोही बादशाही फौज के विरुद्ध लड़कर मरने को भेजदें और आप प्रयाग के हट्टे कट्टे विद्यार्थियों को राजनीति की चर्चा भी न करने दें—यह कहाँ का न्याय है?

यह बात इस अभागे देश के लिये नयी नहीं है कि नेता लोग निज स्वार्थवश अपने विश्वासियों को धोखा दें और रक्षक ही भक्षक

बनकर अपने नाम का गौरव मिटा दें। यद्यपि इस प्रकार के उदाहरण आर्यजाति के इतिहास में बिरले हैं; परन्तु उनका अभाव नहीं है। पुराणों के देखने से पता लगता है कि हिरण्यकश्यपु के समय में एक बार पहले भी अत्याचार से इस देश के बालक उत्तेजित और उत्पीड़ित हुए थे। उस समय निर्दिष्ट लोकपाल अपने अपने अधिकारों से अलग कर दिये गये थे और प्रजा निरन्तर उद्विग्न रहने लगी थी। "बन्दे मातरम्"—की पवित्र ध्वनि के समान विद्यालयों में उस समय भी एक पवित्र ध्वनि होने लगी थी और उसके करने वालों के लिये केवल कारागारवास ही को नहीं, प्राणदण्ड देने की भी आज्ञा निश्चित होचुकी थी। उस समय भी विद्यार्थियों को राजनीति से अलग रखने वाले राजा के खुशामदी शण्डामर्क ने वह ध्वनि रोकनी चाही थी; परन्तु फल विपरीत हुआ था। रुकने के बदले वह बढ़ती ही गयी थी। राजपुत्र प्रह्लाद ने विपिनचन्द्रपाल की तरह बालकों से स्पष्ट कह दिया था कि—"कौमार एवाचरेत्प्राज्ञो धर्म्मान् भागवतानिह। दुर्लभं मानुषं जन्म तत्राप्यध्रुवमर्थदम्।" किन्तु इस निगूढ़ तत्त्व को जानकर भी परम भागवत पिता की सुसन्तान उसके विपक्ष पक्ष को किस तरह ले रही है, यह कौतूहल की बात है।

भगवान् की कृपा से और आप जैसे सत्पुरुषों के यत्न से देश में सुप्रभात हुआ है। अब अपने जागृत तथा जागरणोन्मुख भाइयों को पचास वर्ष आगे के आलोक में न ले जाकर पचास वर्ष पीछे के अन्धकार में पटकना ठीक नहीं है। जो आज लड़के हैं, कुछ वर्षों के पश्चात् युवा और वृद्ध कहलावेंगे और देश-सेवा करके अपनी भावी सन्तान की कृतज्ञता के पात्र होंगे। जो संस्कार उनके हृदय में इस समय दृढ़ हो जायगा, वह फिर किसी के मिटाने से भी न मिटेगा। भारत के प्रसिद्ध राजनीति विशारद चाणक्य ने इसीलिए बालकों की शिक्षा के लिये "पञ्चतन्त्र" बनाया था और उसमें बहुत ठीक कहा था कि "यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्" अर्थात् जो नये घड़े पर संस्कार होजाता है वह फिर नहीं मिटता।

हमारी समझ में अभी तक यह बात नहीं आयी कि आपने श्रीमती एनी विसेंट की तरह विद्यार्थियों को राजनीति से अलग रहने और भिक्षावृत्ति करने का उपदेश क्यों दिया ? कोई कोई कहते हैं कि राजपुरुषों की दुर्लभ कृपा प्राप्तकर लेना ही उसका मूल है और वह 'आनरेबल' पद की चिरस्थायिता ही के लिए नहीं; इसलिए भी, कि सङ्कल्पित विश्वविद्यालय के लिए कोई राजा महाराजा तथा माननीय, उसमें तब तक चंदा नहीं देगा जबतक गवर्नमेंट की उस पर कृपा न होजाय। यदि यही बात हो; तो उस पद का और उस विद्यालय का कितना गौरव हो सकता है, इस बात का अनुमान कर लेना कुछ कठिन नहीं है। एक पवित्र जीवन का बलिदान देने और अभूत परिश्रम करने पर ऐसा विश्वविद्यालय बना भी तो उससे हिन्दु-जाति का कल्याण कितना होसकता है, आप स्वयं सोचलें। ऐसा महत्कार्य होना भी न होने के बराबर है। "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्"। यदि ऐसा ही था तो आपको राजा और प्रजा के बीच में त्रिशङ्कु बनना उचित न था। सर सैयद की तरह पहले से ही राजशक्ति का पक्षपाती रहना था।

आप एनी बिसेंट का अनुकरण न करें। उन्होंने जो कुछ किया वही ग़नीमत है। उससे अधिक उनसे इच्छा रखना बड़ी भूल है। वे उस यूरोप में उत्पन्न हुई हैं जिसमें स्वदेश तथा स्वजातिद्रोही उतने ही विरले हैं जितने कि इस देश में अपनी जाति और अपने देश के सच्चे हितैषी। बिसेंट महाशया हिन्दूधर्म्म का कीर्त्तन करती हैं, हिन्दू जाति के धर्म्म पर वक्तृता देती हैं, तथापि जातीय विश्वविद्यालय स्थापन करने के विचार को सङ्कीर्ण कहती हैं। उनके आचार विचार और कुल गोत्र के परिचय देने की आवश्यकता नहीं है। इस विषय में उनकी सम्मति का मूल्य उससे अधिक नहीं हो सकता जितना सम्भोगसम्मति आईन के समय काँग्रेस के जनरल सेक्रेटरी मि० ह्यूम साहब की सम्मति का हुआ था। आपकी उनके साथ तुलना नहीं है। आप ब्राह्मण हैं, कुलीन हैं, और एक प्रसिद्ध भावुक पुरुष होने के

सिवाय सनातन धर्म्म के आग्रही भी हैं। आप क्या सोच समझ कर यह कह रहे हैं कि विद्यार्थी राजनीति में योग न दें? जिस देश में प्लेग और दुर्भिक्ष आदि के असह्य और अनिवार्य दुःखों से मनुष्यों का बुढ़ापे तक पहुँचना ही कठिन है, जहाँ युवाकाल में ही मनुष्यों के बुढ़ापे की समाप्ति होजाती है, उस देश में विद्यार्थी राजनीति से अलग रहें तो उसके सम्हालने वाले कौन हैं? एक प्रयाग ही को ओर देख लीजिये कि इतने बड़े नगर में कितने वृद्ध पुरुष हैं कि, जिनके भरोसे राजनीति की चर्चा छोड़ दीजाय?

वह समय गया जब लोगों में गवर्नमेंट के खुशामदियों की पूछ होती थी। अब वह समय आगया है कि लोग अपने नेताओं के कार्य को भलीभाँति परताल कर उनके कार्य का पुरस्कार उन्हें दें। युनिवर्सिटी बिल से पहले डाक्टर भण्डारकर का देश में कितना सन्मान था, किन्तु उस पर कच्ची राय देकर वे ऐसे औंधे गिरे कि राजपुरुषों के सम्हालने से भी नहीं सम्हले।

"विद्यार्थियों को राजनीति से अलग रहना चाहिए"—यह कहकर सुरेन्द्र बाबू ने भी अपना गौरव कम कर लिया जो पुराने ४ पण्डितों के मुकुट पहराने पर भी—आज तक पुनः प्राप्त नहीं हो सका। इधर प्रजा की सच्ची सेवा करने के हेतु थोड़े ही दिनों में आनरेबल मिस्टर गोखले का नाम गूंज गया। नहीं तो यह वही महाराष्ट्र युवा था, जिसने पूने के प्लेग के समय जब कि महाराष्ट्र प्रान्त पर विपद के बादल छा रहे थे, अफ़सरों से क्षमा माँगकर किसी प्रकार अपना पिंड छुटाया था। यही बात, नवीन दल के नेता बाबू विपिनचन्द्र-पाल के विषय में भी कही जा सकती है। भारतवर्ष में उनका नाम और यश भी प्रजा की ममता के कारण फैल रहा है।

आप यह कभी विचार न करें कि कोई "आनरेबल" वकील और सुवक्ता होने से ही महिमान्वित हो सकता है। कारण, इस प्रकार के लोग अनेक हैं जिनमें तीनों गुण विद्यमान हैं; पर प्रजा के चित्त में उनके लिये आपसे चौथे हिस्से की भी जगह नहीं है। सच

पूछिये, तो चरित्रबल से ही मनुष्य महान् हो सकता है। इस बात का प्रत्यक्ष उदाहरण ब्रह्मपदर्शन स्वामी रामतीर्थ जी थे। उनमें उक्त तीनों बातों में से एक भी न थी; परन्तु वे अपनी सचाई और पवित्रता के कारण उस पद पर पहुँच गये जिससे बड़ा इस देश में कोई पद ही नहीं है। आपके प्रभुत्व और महत्व का कारण भी प्रजा का विश्वास है जिसे आप बातों में खो रहे हैं और बहुत कुछ खो भी चुके।

जब आप अपने मतस्वातन्त्र्य के इतने पक्षपाती हैं कि उसके आगे देश की अधिक सम्मति की भी परवाह नहीं करते तब युक्त प्रदेश के विद्यार्थी किसी के क्रीतदास नहीं हैं जो अपने न्यायसङ्गत विचार और अधिकार की भी रक्षा न करें। स्वतन्त्रता का विषय इतना पूजित है कि नेपोलियन जैसे सम्राट् के दिये हुए राजमुकुट को उसके प्रजातन्त्र पक्षपाती, उदारचेता भाई ने ग्रहण नहीं किया! यदि आप इन्हीं जीर्णप्राय विचारों पर दृढ़ रहे तो कुछ आश्चर्य नहीं, थोड़े दिनों बाद आप की अन्तिम परीक्षा होने पर न्याय और स्वातन्त्र्य के प्रेमी आपके बहुत से कुटुम्बी और मित्र भी आपसे अलग होकर महाराष्ट्रकेसरी के भगवां झंडे के नीचे खड़े होजायँ।

प्रत्येक बुद्धिमान का कार्य्य है कि वह प्रकृतिपुञ्ज के उस आदरणीय मत की प्रतिद्वन्दिता न करे जो अनेक अत्याचारों के पश्चात न्याय और धर्म्म के सबल विचारों से समुत्थित हुआ हो। इस प्रकार के प्रजामत के विरोध ने उत्पथगामी नृपकुलकलङ्क वेणु जैसे नरेशों को ध्वस्त कर दिया। विप्लवकारी त्रिसदस्यु जैसे नर-पिशाचों को भस्म कर दिया और अहङ्कारी लाट कर्जन जैसे अङ्गरेजों को निस्तेज कर दिया। फिर उन पुरुषों की शोच्य स्थिति का कहना ही क्या है, जो प्रजामत के कल्पवृक्ष पर आरूढ़ होकर स्वयं उसकी जड़ काट रहे हैं। उन लोगों की वक्तृता का मूल्य विश्वासघातक सिन्धुराज शल्य के उस भाषण के समान होसकता है, जिसने महावीर कर्ण के सारथी होने पर भी पाण्डवों की इच्छानुसार उसके बढ़ते हुए रणोत्साह को घटाकर उसे शत्रुओं के सामने पराजित होने योग्य बनाया था।

विद्यार्थियों से सभाओं में कुरसियाँ बिछवायी जावें, चिट्ठियाँ पहुँचायी जावें, झंडियाँ उड़वायी जावें और उन्हें चपरासी बनाकर उनसे कुलियों की तरह काम कराया जावे; अधिक कहाँ तक कहें, क्षणिक ऐन्द्रपदाधिकारी नहुष के समान नीतिविहीन नेता भगवती सरस्वती के शिष्ट सेवकों को वाहन बनाकर उनसे गाड़ी तक खिचवाने में सङ्कोच न करें; पर उनके मतस्वातन्त्र्य के समय स्वार्थी राजपुरुषों की तरह यों कहने लगे कि "इन अर्द्धशिक्षित विद्यार्थियों को मतस्वातन्त्र्य देना और देश की राजनीतिक सभाओं में शरीक करना ही ठीक नहीं !" आप ही सोचिये यह कहाँ का न्याय है और इस दम्भपूर्ण उपदेश में और आफ्रिका निवासी अङ्गरेजों की उस कुटिल नीति में जिसका बर्त्ताव वे भारतप्रवासी पुरुषों के साथ कर रहे हैं, कितना अन्तर है।

विद्यार्थी और सैनिक स्वभाव से निश्चिन्त और सरल होते हैं और उन्हें छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा कार्य करना कठिन नहीं होता। वे मीठी बातों में भुलाये जा सकते हैं; पर चेत होने पर वे अपने समस्त समूह का तो क्या, अपने एक भाई का भी अपमान सहन नहीं कर सकते। इन लोगों में परस्पर पत्रव्यवहार न रहने पर भी नैसर्गिक सहानुभूति रहती है जो एक का दुःख देख तथा सुनकर दूसरे के चित्त में आप से आप उच्छ्वसित होने लगती है। इस विषय में सिपाही-विद्रोह का रक्तमय इतिहास और अलीगढ़ कालेज के विद्यार्थियों की वर्त्तमान शोच्य घटना ही एक खासा उदाहरण है। इन सब बातों को देख सुनकर भी भले ही जीर्ण मत के दुराग्रही अलीगढ़ कालेज के प्रिंसपल और ट्रस्टी महाभारत के दुर्योधन की तरह कहते फिरें कि यह उनकी धीरता की परीक्षा का समय है, उनका मत बदल नहीं सकता। किन्तु उसका दुःखमय परिणाम दुःख के साथ उन्हें स्मरण करना पड़ेगा, यह ध्यान नहीं हुआ। आग्रह न्याय के पालन में होना चाहिये, जैसा कि हरिश्चन्द्र, युधिष्ठिर आदि नृपतिवरों का था। दुर्योधन की तरह "शूच्यग्रं नैव दास्यामि विना

युद्धेन केशव" का हठ पकड़ बैठना सम्भावित और धर्म्मज्ञ पुरुषों का कार्य्य नहीं है।

सब प्रकार की स्वतन्त्रताओं में मतस्वातन्त्र्य ही प्रधान और प्रथम है। उसके लाभ से विश्वस्त, निरन्तर कर्मतत्पर, छात्रवृन्द को वञ्चित रखना न्याय की मर्य्यादा से बहुत परे है; इस बात को स्थिर चित्त हो विचारने पर वह भी स्वीकार कर सकता है जो अपने को जीर्ण पार्टी की नाक समझता हो।

हमारा सप्रणय अनुरोध है कि आप जीर्ण दुर्मत को त्यागकर नवीन दल के नेताओं की दैवी सम्मति का अनुमोदन कर छात्रवृन्द के उत्साह को वर्द्धित करें और लोकपूजित महर्षि मनु के इस महावाक्य को कि "मृतंतु याचितं भैक्ष्यम्" अर्थात् भिक्षा-वृत्ति मरने के समान है। अपना सिद्धान्त वाक्य (मोटो) बनावें और वैदिकतत्त्व समझें कि "कस्य स्विद्धनम् ?" खूब ध्यान राखिये कि भिक्षा माँगनेवाले को कभी "स्वराज्य" नहीं मिल सकता। मिलता, तो कुरु पाण्डवोंके आचार्य्य महात्मा द्रोण को शस्त्र धारण करने न पड़ते। माँगने से तो उन्हें भविष्य दातृत्व पर भाषण करने वाले दाम्भिक महाराज द्रुपद से एक गऊ तक नहीं मिली थी और कर्त्तव्य की महिमा ने पीछे स्वराज्य तक प्राप्त कर दिया।

जिस जाति का दावा यहाँ तक है कि वह "ब्रह्माहमस्मि" का लक्ष्य बन जाय, उसके सम्मानित प्रतिनिधि को यह कहने की आवश्यकता नहीं कि "स्वराज्य" का अधिकार लेना उनके लिये न्याय-सङ्गत कर्म्म वा स्वभावसिद्ध धर्म्म ही है। "प्रतीक" और "अहङ्ग्रह" नाम की द्विविध वैदिक उपासनाओं में से अब पहली का समय बीत गया है। दास्यभाव से 'दासोऽहं' करते कई शताब्दियाँ बीत गयीं। अब 'सोऽहं" की उपासना का समय आ पहुँचा। कार्य्य निस्सन्देह कठिन है और "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया" के समान उसकी सुतीव्र पद्धति है; पर शरीर को नश्वर और आत्मा को अमर समझनेवाले आप जैसे पुरुषों के लिए वह बहुत सहज है। स्वामी आनन्दज्ञान जी ने उपनि-

षट् भाष्य में बहुत ठीक कहा है कि जो पुरुष अपने को स्वभाव से स्वतन्त्र समझ लेता है फिर वह परतन्त्र होकर किसी से प्रार्थना क्यों करने लगा।

लेख यद्यपि आवश्यकता से अधिक बढ़ गया है, तथापि एक बात और कहनी है। हनूमान जी जब लङ्का में जानकी जी को खोजने गये तब लङ्काधिपति रावण की विभूति देखकर चकित हो गये थे और उन्होंने अपने मन में लङ्का को सर्वथा अजेय समझकर यह कहा था कि यदि यहाँ सीता जी का पता भी लग गया तो भी राम लक्ष्मण से क्या होना है, किन्तु जब बुद्धिमान ने अशोक वन में छिन्नवस्त्रा, एक वेणीधरा, पतिव्रता, विदेहराज की पुत्री और राजर्षि दशरथ की तपस्विनी पुत्रवधू को रोते देखा तब निश्चय कर लिया कि रावण चाहे कैसा ही शक्तिशाली हो; पर इसे कोई बचा नहीं सकता। हम भी जब आपके गुणों और प्रताप को देखते हैं, तब सब तरह आपको प्रणम्य, अजेय और अप्रतिम पाते हैं; किन्तु जब यह ध्यान होता है कि आप तपस्वी पण्डित बालगङ्गाधर तिलक की छात्र संरक्षिणी सुनीति के विरोधी हैं, तब पहला भाव स्थिर नहीं रहता। यह विचार केवल हमारा ही नहीं है, आपके जितने पक्षपाती हैं प्रायः उनमें से अधिकांश का ऐसा ही है। जिस दुर्दैव ने धर्म्मपुत्र युधिष्ठिर से मिथ्या-भाषण, राजर्षि ययाति से ब्राह्मण-कन्या का पाणिपीडन, पाञ्चाल राज-पुत्र-धृष्टद्युम्न से गुरुवध, महावीर अश्वत्थामा से बालवध, कुमार लक्ष्मण से कटु-भाषण और भगवान् रामचन्द्र जी से बालिवध करा दिया था उसीके चक्र में पड़कर यदि आप जैसे पुण्यात्मा ने लापरवाही से अपने को गिरा दिया तो युक्तप्रदेश की सहृदय मण्डली के चित्त पर भारी चोट लगेगी। क्या अच्छा हो, यदि आप अब भी अपने लिए न सही देश के लिए ही चेत जाएँ और गिरे हुए युक्तप्रदेश में फूट का प्रचार न होने दें।

आपका अनुग्रहप्रार्थी

माधवप्रसाद मिश्र, भिवानी-पंजाब

षष्ठ खण्ड

स्थान-वर्णन और भ्रमण वृत्तान्त

अयोध्या

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची ह्यवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायकाः॥

अयोध्या, मथुरा, हरिद्वार, काशी, काञ्ची, उज्जैन और द्वारिका ये सप्तपुरी के नाम से प्रसिद्ध हैं और शास्त्रों में मोक्षदायक कही गई है। इनके माहात्म्य और प्रताप के वर्णन से बड़े बड़े ग्रन्थ भरे पड़े हैं। इन्हीं सात पुरियों की विभूति और समृद्धि की बड़ाई सुन कर समय समय पर विदेशियों ने इस देश पर चढ़ाई की थी। इन सातों की रक्षा के निमित्त जैसे जैसे घोर संग्राम हमारे पूर्वज महापुरुषों ने किये हैं वैसे युद्ध उन्होंने अपने धन दुर्ग और नगर पुत्रादि बचाने के लिये भी नहीं किये। जितना रक्तप्रवाह यहाँ एक एक पुरी और देवमूर्ति के पीछे हुआ है, उतना दूसरे देशों में सम्पूर्ण देश भर के लिये भी हुआ कि नहीं, इसमें भी वहुत लोगों को सन्देह है।

ये सप्तपुरीं हमारे धर्म्म एवं धन की रखने वालीं, शक्तिसञ्चारिणी और महा-माया की अपर मूर्तियां हैं। इनकी सुदशा से हमारी दशा सुधरती है और इनकी दुर्दशा से हमारी दशा बिगड़ती है। संसारसागर से पार होने की यही सात नोकाएँ हैं। पापपङ्क में डूबते हुए को येही सात तीर्थ हैं। जिज्ञासु को इन्हींसे ज्ञान मिलता है, भगवान् का भक्त भक्ति पाता है और कर्तव्यपरायण वीर पुरुष भी राजनैतिक उपदेश से यहाँ आन कर खाली नहीं रह सकता। देशकाल का ज्ञान, प्रकृति का सौन्दर्य्य, महापुरुषों का सत्सङ्ग, भगवान् का स्मरण और समान धर्म्म वाले सज्जनों का समागम जैसा इन सातों में सुलभ है, वैसा दूसरी जगह करोड़ों के खर्च से भी नहीं ! क्या यह साधारण उपकार है ?

पृथ्वी के किसी अद्भुत प्रभाव और जल के किसी विचित्र तेज से तथा मुनियों के वासस्थान होने से तीर्थों की पवित्रता नहीं गई है। अतएव इन तीर्थों की पुण्यभूमि कितनी आनन्ददायिनी है, यहाँ सत्वगुण का कितना उद्रेक होता है, यह एक बार इनमें जाकर ही देखना चाहिये। बिना इसके इस अपूर्व रस का यथार्थ ज्ञान होना कठिन है।

इसमें सन्देह नहीं कि आज कल जैसी हमारी हीन और दीन दशा है, उससे कहीं बढ़कर हमारी इन पुरियों की! हमारे दुर्भाग्य, हमारी अयोग्यता और हमारी उपेक्षा से हमारी इन तीर्थ स्वरूप पुरियों का बहुत कुछ सौन्दर्य्य और गौरव नष्ट भ्रष्ट हो गया और प्रति दिन रहा सहा हो रहा है। जिनकी प्रतिष्ठा और श्रीवृद्धि के लिये हमारे पूर्वजों को सिर तक देने में सङ्कोच न था, अब उस पितरों के बचे बचाये सर्व्वस्व धन की हम उपेक्षा कर रहे हैं! इसे मूर्खता कहें कि कृतघ्नता? यह आप ही विचार लें।

भारतवर्ष में इस समय कितने ऐसे धर्म्मप्रचारक वा धर्म्मप्रेमी महापुरुष हैं, जो इस बात का विचार करते हैं कि, जिस काशी जी में बौद्ध चीनयात्री ने सौ फिट ऊँचा सुवर्ण का शिवलिङ्ग देखा था, वह कहाँ गया? उसकी अब क्या दशा है? विद्यापीठ वाराणसी में पुराने शिवलिङ्गों की आज कल कैसी प्रतिष्ठा वा पूजा हो रही है? जिस मथुरा से 'महमूद ग़ज़नवी' ने सोने चांदी की खण्डित मूर्तियों के अनेक ऊँट भरे थे, इस समय वहाँ कितनी सुवर्ण की मूर्तियाँ विद्यमान हैं? अँग्रेज़ों के ज्वलन्त प्रताप में, इस शान्ति के समय में हमने अपनी पुरियों की कितनी श्रीवृद्धि की है? क्या इसका कभी क़िसी धर्म्मसभा ने लेखा लगाया है? हमारी भी विचित्र दशा है! हमें जरमन, फ्राँस की सब बातें याद है, पर यह ज्ञान नहीं कि, अयोध्या, मथुरा आदि पुरियों में क्या है? अँग्रेज़ों की देखा देखी हम "सृष्टि कब हुई" इस प्रश्न की आलोचना करने लग गये, किन्तु यह ख़बर नहीं कि अयोध्यादि पुरियाँ कब और किसने प्रतिष्ठित की थीं? 'शेक्सपी-

अर' और 'गोल्डस्मिथ' के नाटक और काव्य के अनुवाद करने के हम मरते हैं पर यह नहीं जानते कि हमारी संस्कृत भाषा में रामायण रघुवंश आदि अनेक उपादेय सरस काव्य वर्तमान हैं ? इटली के प्रसिद्ध 'पाम्पे' नगर की बरबादी पर हम लेख लिख कर आँसू बहा रहे हैं, परन्तु अपनी पुरानी राजधानी अयोध्या, मथुरा की ओर ताकते भी नहीं कि, वहाँ क्या था और क्या हो गया ?

पुण्यसलिला गङ्गा, यमुना और सरयू के तट पर जहाँ यज्ञों के सहस्रों यूप दूर से दिखलाई पड़ते थे, अहो ! अब उनकी जगह मसजिदों के मीनार दृष्टिगोचर होते हैं ! ये मीनार नहीं हैं, काशी मथुरा आदि देवियों के ऊर्ध्ववाहु हैं जो जगदीश्वर से अत्याचारियों के अत्याचार की फ़र्याद कर चिरकाल से त्राहि त्राहि पुकार रही हैं ! पाठक ! एक बार इन पुरियों को देखिये और अतीत घटना का स्मरण कर काल की कुटिलता का अनुभव कीजिये कि उसने क्या से क्या कर दिखाया ? जहाँ बड़े बड़े दुर्ग और ऊँचे ऊँचे सुन्दर प्रासाद (महल) पुरियों की शोभा बढ़ा रहे थे, वहाँ अब चारों ओर टूटे फूटे खंडहर पड़े हैं और उनमें गीदड़ रो रहे हैं ! काल की कुटिला गति को कोई कार्य्य दुर्घट नहीं। वह सब कर सकती है। जहाँ भगवान् राम कृष्ण आदि का जन्म हुआ था, जहाँ आता हुआ किसी समय देवेन्द्र भी थर्राता था, जहाँ वीणा की आवाज, धनुष की टंकार और वेद की ध्वनि हर तरफ से आती थी; वहाँ अब मसजिद बनी हुई है और "तहँ अब रोवत सिवा चहुँ दिशि लखियत खँडहर"।

लक्ष्मी का घर, रत्नों की खानि और महापुरुषों की जन्मभूमि होकर भी ये सप्तपुरियाँ आज धूल में मिल रही हैं। हमारी ये सातों पुरी किन किन राजाओं बादशाहों के कब कब और किस किस तरह हाथ आईं, किस किस ने कैसा कैसा यहाँ पर ज़ोर ज़ुल्म किया और कौन कौन से समय के फेरफार कब कब इनको झेलने पड़े, जिनसे ये कुछ की कुछ बन गईं, इन सब बातों के जानने की जैसी हमारे इतिहासरसिक पाठकों को जिज्ञासा है, वैसी ही इसके लिखने और

निरूपण करने की हमारी उत्कण्ठा है। इसीलिये आज फिर पुराने इतिहास का चर्बितचर्वण किया चाहते हैं। देखें, यदि पाठकों को कहीं कुछ रस मिले। पर जी के उत्साह निकालने का अब कहीं भी कुछ सामान नहीं है। अर्थात् ऐतिहासिक ग्रन्थ, लेख वा स्थान जैसे चाहिये वैसे विद्यमान नहीं रहे।

आर्य्यवंश वीरता, विद्या, राजश्री और इन पुरियों की प्राचीन सामग्री जिनसे इतिहास का बहुत कुछ पता चल सकता था, सब की सब भारत के अन्तिम हिन्दू सम्राट् महाराज पृथ्वीराज की विशाल देह के साथ ही 'दृषद्वती' (घाघरा) के किनारे बहुत दिन हुए नष्ट हो गई! अब उनका मिलना असम्भव है! मुसलमानों के अत्याचार से कहीं भी कुछ शेष नहीं है, केवल भारत की प्राचीन राजश्री का अश्रुप्रवाह ही कहीं कहीं गंगा, यमुना और सरयू का नाम धारण कर शेष रह गया है, तथापि हम यथासाध्य इन सातों पुरियों की आवश्यक बातों का क्रम से वर्णन करना आरम्भ करते हैं, आशा है कि पाठकों को रुचिकर होगा। जैसे सब सम्प्रदायों के भगवद्भक्त महापुरुषों का चित्रचरित्र प्रकाश करना 'सुदर्शन' का एक उद्देश्य है, वैसे ही भारत के तीर्थों का चित्र चरित्र देना भी यह अपना कर्तव्य समझता है।

चाहे कोई हठी दुराग्रही माने या न माने, पर यह सिद्धान्त की बात है कि, भारतवर्ष में यदि परमधर्म्म मूर्तिपूजन का प्रचार न होता, तो कदाचित् इस काल में अयोध्या आदि पुरियों का इतना पता चलना भी कठिन था कि वे किस जगह पर थीं। यह मूर्तिपूजा ही का प्रभाव है कि, बार बार ध्वंस होने पर भी हिन्दुओं की पुरानी राजधानियों का नाम नहीं मिटा। अयोध्या के दाशरथी, मथुरा के केशवदेव, काशी के विश्वनाथ और उज्जैन के महाकालेश्वर आदि देवमूर्तियों की पूजा ही पुरियों के जीर्णोद्धार और फिर से बसने का कारण हैं।

टूटे फूटे मन्दिर और खण्डित मूर्तियों के ढेर के सिवाय अत्याचारियों के अत्याचार से इन पुरियों में शेष रह ही क्या गया है?

पर यदि सोचें समझें और विचार कर देखें, तो यह क्या कम है ? दृढ़ प्रतिज्ञ धीर पुरुष को पितरों का अस्थिपुञ्ज वा उनके चरण की धूल ही शक्तिसम्पन्न करने को बहुत है और हृदयशून्य अकृतज्ञ पुरुष को कहीं भी कुछ नहीं ।

प्राचीन अयोध्या

सातों पुरियों को गणना में अयोध्या का नाम सब से प्रथम है । क्यों न हो ? जो भारतवर्ष में आदिराज मनु की सब से प्रथम राजधानी बनी, जहाँ वीरता, विद्या और सभ्यता का सब से प्रथम विकास हुआ, जिसमें महात्मा इक्ष्वाकु, मान्धाता, हरिश्चन्द्र, दिलीप, अज, रघु, श्रीरामचन्द्र हुए उस अयोध्या का नाम सब से प्रथम क्यों न हो ? जिसके राजवंश के चरित्र के अतिरिक्त कविकुलचूड़ामणि वाल्मीकि जी को कुछ भी विषय अच्छा नहीं लगा, कालिदास, भवभूति, मुरारी, जगन्नाथ और जयदेव आदि भारत के बड़े बड़े महाकवियों ने जिसका वर्णन कर अपने को धन्य माना और जहाँ के एक रामनाम के प्रवाह ने संसार को पूत और प्लावित कर निष्पाप कर दिया, उस परम पूजनीया अयोध्या का नाम सब से पहले किस प्रकार न हो ? होना ही चाहिये । सुतरां जब सब ने अयोध्या की कीर्ति का कीर्तन सर्वप्रथम किया है, तब हम भी उसी प्राचीन मर्य्यादा का अनुसरण कर, सब से पहले अयोध्या ही का वर्णन करते हैं ।

अयोध्या की आलोचना के तीन दृश्य हैं, एक सब से पुराना जिसको महर्षि वाल्मीकि ने अपनी रामायण में दिखलाया है । दूसरा मुसल्मानी राज्य के आरम्भ समय का, जिसको फ़ारसी की तवारीखों (इतिहास) में उस समय के इतिहासलेखकों ने लिखा है । तीसरा वर्तमान समय का, जो हमारे नेत्रों के सामने विद्यमान है और जो अंग्रेज़ी राज्य की उत्तमता का फल है । अयोध्या का प्राचीन दृश्य इतना मनोहर है कि, उसे हम किसी प्रकार चित्त से हटा नहीं सकते । जो लोग हमारे चित्त से हटाने की चेष्टा करते हैं, उनका श्रम निष्फल

है। उन्हें समझना चाहिये कि हम यदि उनकी माया में फँस कर अयोध्या के उस दृश्य को भूलें भी तो वाल्मीकि और तुलसीदास आदि महापुरुष हमें भूलने नहीं देते।

महर्षि वाल्मीकि जी की रामायण को देखने से यही सिद्ध होता है कि अयोध्या उस समय में मर्त्यलोक की अमरावती थी। अमरावती क्या—यदि अमरावती से बढ़ कर कोई पुरी भूमण्डल पर थी तो अयोध्या थी। जो कुछ यहाँ विभूति वा सुखसामिग्री थी, उसका अनन्य प्रभाव था। जिस दैवी सम्पत्ति के कारण अयोध्या की शास्त्रों में भूयसी प्रशंसा की गई है उसका वर्णन करना हमारे आज के लेख का उद्देश्य नहीं है, केवल अयोध्या की उस मानुषी सम्पत्ति को दिखाना चाहते हैं जिसे लिखे पढ़े लोग नवीन समझे हुए हैं!

यह भूमण्डल की सब से पहली लोकप्रसिद्ध राजधानी स्वयं आदिराज महाराज मनुजी ने बसाई थी। यह दैर्घ्य (लंबाई) में बारह योजन और विस्तार (चौड़ाई) में तीन योजन थी। सुतरां अयोध्या अड़तालीस कोस लंबी और बारह कोस विस्तृत (चौड़ी) थी। जैसा कि महर्षि वाल्मीकि जी ने रामायण के बालकाण्ड में वर्णन किया है—

"अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता।
मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम्॥
आयता दश च द्वे च योजनानि महापुरी।
श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा नानासंस्थानशोभिता॥"

ऊपर जो अयोध्या की लंबाई चौड़ाई का वर्ण है उसमें नगर मात्र को समझना चाहिये, 'राजमहल' वा 'राजदुर्ग' इससे भिन्न था। महर्षि ने दूसरी जगह लिखा है—

"सा योजने च द्वे भूयः सत्यनामा प्रकाशते॥"

अर्थात् द्वादश योजन लंबी और तीन योजन विस्तृत महापुरी में दो योजन अंश परिखादि द्वारा विशेष सुरक्षित हो "अयोध्या"

(जिसे शत्रु जीत न सके) के नाम को अधिक सार्थक करता था। राजधानी अयोध्यापुरी के चारों ओर प्राकार (कोट) था। प्राकार के ऊपर नाना प्रकार के 'शतघ्नी' आदि सैकड़ों यन्त्र (कल) रक्खे हुए थे। इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय में तोप की तरह क़िले को बचाने के लिये कोई यन्त्र विशेष होता था। 'शतघ्नी' को यथार्थ तोप कहने में हमें इसलिए सङ्कोच है कि उससे पत्थर फेंके जाते थे। बारूद से काम कुछ न था। महर्षि वाल्मीकि बारूद का नाम भी नहीं लेते। यद्यपि किसी किसी जगह टीकाकारों ने 'अग्निचूर्ण' वा 'और्व' के नाम से बारूद को मिलाया है, पर उसका हमने प्रकृत में कुछ भी उपयोग नहीं पाया। अस्तु।

कोट के नीचे जल से भरी हुई परिखा (खाई) थी। पुरी के उत्तर भाग में सरयू का प्रवाह था। सुतरां उधर परिखा का कुछ भी प्रयोजन न था। उधर सरयू का प्रबल प्रवाह ही परिखा का काम देता था। किन्तु नदी के तट पर भी सम्भव है कि नगरी का प्राकार हो। नगरी के तीन ओर जो खाई थी अवश्य वह जल से भरी रहती थी, क्योंकि नगरी के वर्णन के समय महर्षि वाल्मीकि ने उसका 'दुर्ग गम्भीर-परिखा' यह विशेषण दिया है। टीकाकार स्वामी रामानुजाचार्य्य ने इसकी व्याख्या में कहा है कि "जलदुर्गेण गम्भीरा अगाधा परीखा यस्याम्"। इससे समझ में आता है कि जलदुर्ग से नगरी की समस्त परिखा अगाध जल से परिपूर्ण रहती थी। सुतरां इन परिखाओं में जल भरने के लिये जलदुर्ग किसी तरह का कौशल था, इस विषय में कुछ सन्देह नहीं।

सम्भव है कि नगरी के चारों ओर चार द्वार थे। सब द्वारों का नाम भी अलग अलग रक्खा गया होगा, किन्तु हमें एक द्वार के सिवाय और किसी द्वार का नाम नहीं मिलता। नगरी के पश्चिम ओर जो द्वार था उसका नाम था "वैजयन्त द्वार"। शत्रुघ्न सहित राजकुमार भरत जब मातुलालय (मामा का घर) गिरिव्रज नगर से अयोध्या में आये, थे तब इसी द्वार से प्रविष्ट हुए थे। यथा—

"द्वारेण वैजयन्तेन प्राविशच्छ्रान्तवाहनः ।"

नगरी से जो पूर्व की ओर द्वार था, उसीसे विश्वामित्र के साथ राम लक्ष्मण सिद्धाश्रम वा मिथिला नगरी में गये थे। किन्तु दक्षिण का द्वार राम लक्ष्मण और सीता की विषादमयी स्मृति के साथ अयोध्यावासियों को चिरकाल तक याद रहा था। क्योंकि इसी द्वार से रोती हुई नगरी को छोड़ कर राम, लक्ष्मण और सीता दण्डक बन में गये थे। और इसी द्वार से रघुनाथ जी की कठोर आज्ञा के कारण जगज्जननी किन्तु मन्दभागनी सीता को लक्ष्मण बन में छोड़ कर आये थे! उत्तर की ओर जो द्वार था उसके द्वारा पुरवासी सरयू तट पर आया जाया करते थे।

इस प्रकार अयोध्या 'कोट खाई' से घिर कर सचमुच 'अयोध्या' हो रही थी। पर हमारी अयोध्या की इन पुरानी बातों को दो चार व्यूहलर और वेबर आदि जो दुराग्रही विलायती पण्डित सहन नहीं करते उनके लिये यह असह्य और अन्याय की बात होरही है कि जिस समय उनके पितर वनचरों के समान गुज़ारा कर रहे थे, उस समय हिन्दुओं के भारतवर्ष में पूर्ण सभ्यता और आनन्द का डंका वज रहा था! लाचार हमारी पुरानी बातों का इन्हें खण्डन करना पड़ता है। "लण्डन" नगर का चाहे जितना विस्तार हो, 'पेरिस' नगरी चाहे जितनी बड़ी हो, यह सब हो सकता है; किन्तु अयोध्या का अड़तालीस कोस में बसना सब झूठ है! इतना ही नहीं, एक साहब ने कहा है कि, अयोध्या के चारों ओर कोट की जगह काठ का बाड़ा बना हुआ था, जैसा अब भी जंगली लोग पशुओं से बचने के लिये जंगल में खड़ा कर लिया करते हैं। इसके सिवाय और सब ब्राह्मणों की कल्पना है"!

वेबर को इस पर भी सन्तोष वा विश्वास नहीं हुआ कि "हिन्दुओं के पूर्वजों के पास एक बाड़ा भी रहा हो" उसने लिखमारा है कि "न अयोध्या हुई और न कोई राम! सब कविकल्पना है"। सीता को हल से जुती हुई धरती की रेखा और आर्य्यों की खेती ठहराई है

और रामचन्द्र तथा बलराम जी (अर्थात् हलभृत्, और सीतापति) को एक ही ठहरा कर यह निगमन निकाला है कि लुटेरों से प्रजा की खेती की जो बलराम जी ने रखवाली की इस बात का रूपक बाँध कर रामायण में यों लिखा है कि सीता को राक्षस ने हर लिया और पीछे से सीता के पति रामचन्द्र ने ढूंढ कर उन्हें राक्षसों से छुड़ा लिया।

वेबर के विचारों की दुर्बलता वा निरङ्कुशता हम अपने दूसरे लेखों में दिखावेंगे; यहाँ केवल उन हिन्दू कुलाङ्गारों से निवेदन है, जो वेबर आदि को पुरातत्ववेत्ता मान कर उनके पीछे पीछे अन्धकार में चले जा रहे हैं। वे एक बार रामायण को देखें और फिर विलायत-वालों की धृष्टता की परीक्षा करें कि वे कितना अर्थ का अनर्थ कर रहे हैं। बाँस लकड़ी आदि का जो अयोध्या का दुर्बल प्राकार बता रहे हैं, वे अयोध्या के सम्बन्ध में प्रयुक्त रामायण में इन विशेषणों की ओर ध्यान दें,—'बहुयन्त्रायुधवती' 'शतघ्नीशतसङ्कुला'।

अयोध्या नगरी की सड़कों और गलियों के सुन्दर और स्पष्ट वर्णन से कौन कह सकता है कि वह किसी बात में कम रही होगी? नगर के चारों ओर सैर करने को सड़क थी जिसका नाम 'महापथ' लिखा है। राजप्रासाद (राजमहल, नगरी के मध्य भाग में किसी जगह था) के चार द्वार थे। इन द्वारों (दरवाजों) से 'सर्व्वपण्य-शोभित मार्ग पुरी में चारों ओर जाते थे, उनका नाम 'राजमार्ग' अर्थात् सरकारी सड़क था। राजमार्ग और गलियों से नगर के मुहल्लों का विभाग हो रहा था। पर सब महापथ और राजमार्ग प्रतिदिन छिड़के जाते थे। खाली जलही से नहीं सुगन्धित पुष्पों की भी मार्ग में वृष्टि होती थी, जिससे पुरी सुवासित रहती थी।

मुक्तपुष्पावकीर्णेन जलसिक्तेन नित्यशः।

नगरी में जब कोई विशेष उत्सव होता तब सर्वत्र चन्दन के जल का छिड़काव होता और कमल तथा उत्पल सब जगह शोभित किये जाते। मार्ग और सड़कों पर रात्रि के समय दीपक वा प्रकाश का कुछ राजकीय प्रबन्ध था कि नहीं, इसका कुछ स्पष्ट वर्णन नहीं

मिलता, किन्तु उत्सव के समय उसकी विशेष व्यवस्था होती थी, इस विषय में स्पष्ट प्रमाण मिलता है। रामराज्याभिषेक की पहली रात्रि को सब मार्गों में दीपकवृक्ष (झाड़) लगाये गये थे और खूब रोशनी की गयी थी। यथा,—

प्रकाशीकरणार्थञ्च निशागमनशङ्कया।
दीपवृक्षांस्तथा चक्रुरनुरथ्यासु सर्व्वश॥

ऐसे उत्सव के समय मार्ग के दोनों ओर पुष्पमाला, ध्वजा और पताका भी लगाई जाती थीं और सम्पूर्ण मार्ग 'धूपगन्धाधि वासित' भी किया जाता था। राजमार्ग (सड़क) के दोनों ओर सुन्दर सजी सजाईं नाना प्रकार की दूकानें शोभायमान थीं। इसके सिवाय कहीं उच्च अट्टालिका, कहीं 'सुसमृद्ध चारुदृश्य मानवालय,' कहीं चैत्य भूमि, कहीं वाणिज्यागार और कहीं 'भूधर शिखर सम देवनिकेतन' पुरी की शोभा बढ़ा रहे थे।

कहीं सूतमागध वास करते, कहीं सर्व्व प्रकार शिल्पनिपुण (कारीगर) दृष्टि गोचर होते और कहीं पुरस्त्रियों की नाट्यशाला सुशोभित थी। कोई कोई स्थान हाथियों, घोड़ों और ऊँटों से भरे थे। किसी स्थान में सामन्त राजगण, कहीं वेदवित ब्राह्मण लोग और कहीं ऋषिमण्डल निवास कर रहे थे। कहीं स्त्रियों का क्रीडागार, कहीं गुप्तगृह और कहीं सप्तभौमिक भवन विद्यमान् था। कहीं विदेशीय वणिक जन् और कहीं वारमुख्या (गणिका) बस रही थीं। कहीं आम्रवन, कहीं पुष्पोद्यान और कहीं गोचारण भूमि दिखाई पड़ती थी। किसी स्थान से निरन्तर मृदङ्ग वीणा आदि की मधुर ध्वनि आती थी, कही सहस्रों नरसिंह सैनिक 'गुफा' की तरह अयोध्या की रक्षा कर रहे थे। महर्षि वाल्मीकि कहते हैं, कि—अयोध्यावासी धर्म्मपरायण, जितेन्द्रिय, साधु और राजभक्त थे, चारों वर्ण के लोग अपने अपने धर्म्म में स्थित थे। सभी लोग हृष्ट, पुष्ट, तुष्ट, अलुब्ध और सत्य-वादी थे। अयोध्या के पुरुष कामी, कदर्य और नृशंस नहीं थे और नारी सब धर्म्मशीला और पतिव्रता थीं। अयोध्या के वीर पुरुष भी

राजा के विश्वासपात्र और सरल थे। काम्बोज, बाल्हीक, सिन्धु और बनायु देश से अयोध्या में अश्व आया करते और विंध्य, हिमालय से महापद्म ऐरावत प्रभृति भद्रमन्द और मृगजातीय नाना प्रकार के हस्ती। हाय! अब इनको सत्यता पर विश्वास भी नहीं रहा। योगीश्वर वाल्मीकि की कविता केवल कल्पना मात्र समझी गई। पाठक! पुरानी अयोध्या का यही चित्र है। अब आगे का चित्र आगे देखिये।

अयोध्या की पिछली दशा ऐसी ख़राब हुई कि उसके पुराने प्रताप में भी लोगों को सन्देह हो गया; किन्तु विचारशील पुरातत्ववेत्ता किसी न किसी प्रकार यह कही बैठते हैं कि, अपने समय में अयोध्या भी एक ही थी। इसकी तुलना योग्य दूसरी नगरी ही नहीं थी। अबुल्फ़ज़ल लिखता है कि "यह शहर अपने ज़माने में १४८ कोस लंबा और ६६ कोस चौड़ा बसता था। विदेशियों के ख़ुशामदी, स्वदेशियों के निन्दक, मृत राजा शिवप्रसाद भी अबुल्फजल के कथन को बढ़ावा मान प्रकारान्तर से उसीका अनुमोदन करते हैं, वह कहते हैं कि "इसमें शक नहीं इमारतों के निशान दूर दूर मिलने से यह बात बख़ूबी साबित है कि वह परले दर्जे का शहर था"। राजा शिवप्रसाद की प्रकृति ही ऐसी थी कि जहाँ देशियों के प्रताप का वर्णन होता, उसे वे बढ़ावा समझते और देशियों की निन्दा को यथार्थ। यही हाल इनके शिक्षागुरू विलायत वालों का है। क्या यह सम्भव नहीं कि समृद्धिशालिनी अयोध्या रघुवंशी वा बौद्ध राजाओं के समय काल पाकर अधिक समृद्ध हो गई हो?

अयोध्या कितनी बार बसी और कितनी बार उजाड़ हुई, इसका हिसाब करना सहज नहीं है। सच पूछिये तो भगवान् श्रीरामचन्द्र की लीला सम्बरण के बाद ही अयोध्या पर विपत्ति आई। कोशल राज्य के दो भाग हुए। श्रीरामचन्द्र के ज्येष्ठ कुमार महाराज कुश ने अपने नाम से नई राजधानी "कुशावती" बनाई और छोटे पुत्र लव ने "शरावती" वा "श्रावस्ती" की शोभा बढ़ाई। राजा के बिना राजधानी कैसी? अयोध्या थोड़े ही दिनों पीछे आपसे आप श्रीहीन हो

गई। अयोध्या की दुर्दशा के समाचार सुन महाराज कुश फिर अयोध्या में आये और कुशावती ब्राह्मणों को दान कर पूर्वजों की प्यारी राजधानी और उनकी जन्मभूमि अयोध्या ही में रहने लगे।

कविकुल कलाधर महाकवि कालिदास ने रघुवंश काव्य के १६ वें सर्ग में कुशपरित्यक्ता अयोध्या का वर्णन अपनी ओजस्विनी अमृतमयी लेखनी से किया है, जिसको पढ़ कर आज दिन भी सरस हृदय रामभक्तों का हृदय द्रवीभूत होता है। यद्यपि महाकवि ने यह उस समय का पुराना चित्र उतारा है, पर हाय हमारे मन्द अदृष्ट से वर्तमान में भी तो वही वर्तमान है। भेद है तो, यही है कि, उस समय भगवती अयोध्या की पुकार सुनने वाला एक सूर्य्यवंशी विद्यमान था, किन्तु अब वह भी नहीं रहा !

जड़जीव कोई सुनै या न सुने; परन्तु अयोध्या की वह हृदयविदारिणी पुकार सरयू के कल कल शब्द के साथ "हा राम ! हा राम !' करती हुई अभी तक आकाश में गूंज रही है। उस प्राचीन दृश्य को विगतजीव हिन्दू समाज भूले तो भूल सकता है, परन्तु अयोध्या की अधिष्टातृदेवी किस प्रकार भूल सकती है ?

महाभारत के महासमर तक अयोध्या बराबर सूर्य्यवंशियों की राजधानी रही। उस युद्ध में कुमार अभिमन्यु के हाथ से अयोध्या का अन्तिम सूर्यवंशी महाराज 'वृहद्बल' मारा गया। इसके बाद इस राज्य पर ऐसी तबाही आई कि, अयोध्या बिलकुल उजड़ गई। सूर्य्यवंश अन्धकार में लीन हो गया। इस वंश के लोग दूसरों के अधीन हुए। प्राणों का मोह बढ़ा और स्वाधीनता नष्ट हुई। उदयपुर के धर्म्मात्मा राणा, जोधपुर के रणबाँकुरे राठोड़ और जयपुर के प्रतापी कछवाहे इसी सूर्य्यवंश रूपी महावृक्ष की बचो बचाई शाखाएँ अवशिष्ट हैं।

महाभारत तक का वृत्तान्त पुराणों में मिलता है और पीछे का कुछ वृत्तान्त जाना नहीं जाता कि, अयोध्या में कब क्या हुआ और किसने क्या किया ? परन्तु शाक्यसिंह बुद्धदेव के जन्म से फिर अयोध्या का पता चलता है और कुछ कुछ वृत्तान्त भी मिलता है। कारण

बुद्धदेव कपिलवस्तु में उत्पन्न हुए, श्रावस्ती में रहे और कुशीनगर वा कुशीनर में निर्वाण को प्राप्त हुए। यह सब स्थान कोशलदेश में विद्यमान थे। बुद्धमत के ग्रन्थों से जाना जाता है कि उन दिनों कोशल वा अवध की राजधानी का राजसिंहासन 'श्रावस्ति' को मिल गया था। यह वही प्रसिद्ध 'श्रावस्ति' है; जिसे श्रीरामचन्द्रदेव के कनिष्ट पुत्र लव ने 'शरावती' के नाम से बसा कर, अपनी राजधानी बनाई थी। इसीका नाम जैनियों के प्राकृति ग्रन्थों में 'सावन्थी' है। अब यह अयोध्या के पास उत्तर दिशा में महाराज बलरामपुर के इलाके, गोंडा के जिले में उजड़ी हुई जल में पड़ी है। वहाँ वाले इसे 'सेहत सेहत' कहते हैं। इसवी की सप्तम शताब्दी में 'ह्वात्साङ्ग' नामक प्रसिद्ध बौद्धयात्री भारतवर्ष में आया था उसने अयोध्या के साथ श्रावस्ति और कपिलवस्तु आदि नगरों का भी अपनी यात्रा पुस्तक में वर्णन किया है। उसीके अनुसार अलेकजेंडर, कनिंगहाम साहब ने "सेहत सेहत" के खंडहर खुदाकर अनेक ऐतिहासिक बातों का पता लगाया जिनका वर्णन हम किसी दूसरे लेख में करेंगे।

बौद्धों के समय यद्यपि अयोध्या अवध की राजधानी न थी तथापि उसकी दशा ऐसी ख़राब न थी, जैसी पीछे मुसलमानों के समय हुई। तब तक पुराने राजमन्दिर और सुन्दर देवस्थान तोड़े नहीं गये थे और न अयोध्यावासी ब्राह्मणों का रक्त बहाया गया था। चीनयात्री के लेख से भी अयोध्या की पिछली दशा सुन्दर ही प्रतीत होती है। सन् ईसवी से ५७ वर्ष पहले श्रावस्ति के बौद्ध राजा को जीत कर उज्जैन के प्रसिद्ध महाराज विक्रमादित्य ने आर्य्यराजधानी अयोध्या का जीर्णोद्धार किया। पुराने मन्दिर देवालय और स्थान सब परिष्कृत किये गये और अनेक नवीन मन्दिर भी बनवाये गये। वह प्रसिद्ध मन्दिर जिसको दुराचारी म्लेच्छ बादशाह बाबर ने सन् १५२६ ई० में तोड़ कर भगवान् रामचन्द्रदेव की जन्म-भूमि पर मसजिद खड़ी की, इन्हीं महाराज विक्रम ने बनवाया था। यदि अब तक वह मन्दिर विद्यमान रहता तो न जाने उससे कैसे कैसे ऐतिहासिक वृत्तान्तों का पता लगता।

श्रावस्ति ने आठ सौ वर्षों तक स्वतन्त्रता का सुख भोगा। अन्त को वह भी जननी अयोध्या के समान पराधीन हो दूसरों का मुँह देखने लगी। कभी पटने के प्रतापशाली राजाओं ने इसे अपनाया और कभी कन्नौज वालों ने निज राजधानी की सेवा में इसे नियुक्त किया! अपने लोग चाहे कितने ही बुरे क्यों न हों, अन्त को अपने अपने ही हैं। अपना यदि मारे भी तौ भी छाया में रखता है। बौद्धों और जैनियों के समय पहले की सी बात न थी तो भी अयोध्या की इस समय दशा मुसलमानों के राज्य से लाख गुनी अच्छी थी। क्योंकि दूसरों की राजधानी होने की अपेक्षा अपनों की दासी होना भी भला था; परन्तु विधाता को इतने पर भी सन्तोष नहीं हुआ इसके लिये और भी भयङ्कर समय उपस्थित कर दिया। प्रथम तो रघुवंशियों के विरह से यह आप ही मर रही थी दूसरे परस्पर की फूट ने इसे और भी हताश कर दिया था। वे घाव अभी तक सूखने भी न पाये थे, जो रामवियोग से इसके अर्चनीय और बन्दनीय शरीर में होने लगे थे कि अकस्मात् महमूद ग़ज़नवी के भांजे सैयद सालार ने इस पर चढ़ाई कर 'जले पर नून' का सा असर किया। इसी सालार ने काशी के वृद्ध महाराज 'बनार' को धोखे से नष्ट कर काशी का स्वाधीन सुख अपहरण किया और इसीने अयोध्या को चौपट किया। कई लड़ाइयों के बाद सन् १०३३ में यह सालार हिन्दुओं के हाथ 'बहरायच' में मारा गया। 'ग़ाज़ीमियाँ' के नाम से आज कल यही 'सालार' मूर्ख और पशुप्राय जीवित हिन्दुओं से पूजा करवा रहा है!

"किमाश्चर्य्यमतः परम्"।

सन् १५२६ ई० में बाबर ने हिन्दुस्तान पर चढ़ाई की और दो वर्ष के पीछे अर्थात् सन् १५२८ में अयोध्या के एकमात्र अवशिष्ट 'रामकूट' मन्दिर को विध्वंस कर रघुवंशियों की जन्मभूमि पर अपने नाम से मसजिद बनवाई, जो सही सलामत आज तक उसी तरह साभिमान खड़ी हुई है। मुसलमान इतिहासलेखकों ने बाबर को शान्त और दयालु बादशाह लिखा है; किन्तु बाबर की बर्बरता और

अन्याय के हमारे पास अनेक प्रमाण हैं, जिनको हम मर कर भी नहीं भूल सकते ! अकबर के समय में धर्म्मप्रिय हिन्दुओं ने 'नागेश्वर नाथ' और चन्द्रहरि आदि देवों के दस पाँच मन्दिर ज्यों त्योंकर फिर वनवा लिये थे, जिनको औरङ्गजेब ने तोड़ उनकी जगह मसजिद खड़ी की। सन् १७३१ ई० में दिल्ली के बादशाह ने अवध के झगड़ालू क्षत्रियों से घबरा कर अवध का 'सूबा' सआदतखां को दिया तब से इधर नवाबी की जड़ जमी।

अवध की नव्वाबी का बीज सआदतखाँ ने बोया था। मंसूर अलीखां और सफदरजंग के समय वह अङ्कुरित और पल्लवित हुआ। नव्वाब शुजाउद्दौला ने उसे परिवर्द्धित कर फल पाया। मनसूर अलीखां के समय से अवध की राजधानी फैजाबाद हुआ। (फैजाबाद वर्तमान अयोध्या से ३ मील पश्चिम ओर है) अयोध्या की 'राजश्री' फैजाबाद के नाम से विख्यात हुई, यहाँ के मुसलमान मुर्दों के लिये अयोध्या 'करबला' हुई। मन्दिरों के स्थान पर मसजिदों और मकबरों का अधिकार हुआ। साधु संन्यासी और पुजारियों की जगह पर मुल्ला मौलवी और काजी जी आरूढ़ हुए। अयोध्या का बिल्कुल स्वरूप ही बदल दिया। ऐसी ऐसी आख्यायिका और मसनवी गढ़ी गईं, जिनसे यह सिद्ध हो कि मुसलमान औलिये फकीरों का यहां 'क़दीमी' अधिकार है। (अब तक भी अयोध्या में 'मणिपर्वत' समय पर की ओर यह नव्वाबी समय का दृश्य दिखलाई देता है) इसी समय नव्वाब सफदरजंग के कृपापात्र सुचतुर दीवान नवलराय ने अयोध्य में 'नागेश्वरनाथ महादेव' का वर्तमान मन्दिर बनवाया।

दिल्ली की बादशाही के कमजोर होने से अवध की नव्वाबी स्वतन्त्र हुई। दक्षिण में मरहठों का जोर बढ़ा। पंजाब में सिक्ख गरजने लगे। सब को अपनी अपनी चिन्ता हुई। प्राणों के लाले पड़ गये। इसी उलट फेर और अंधाधुंध के समय में हिन्दू संन्यासियों ने अयोध्या में डेरा आ डाला। शनैः शनैः सरयू के तट पर साधुओं की झोंपड़ी पड़ने लगीं। शनैः शनैः राम नाम की मृदु मधुर ध्वनि से

अयोध्या की वनस्थली गूंजने लगी। शाही परवानगी से छोटे छोटे मन्दिर बनने लगे। धीरे धीरे गुसाईं और स्वामियों के अनेक अखाड़े आ जमे और जहाँ तहाँ भस्मधारी हृष्ट पुष्ट परमहंस और वैरागी दृष्टिगोचर होने लगे। अपने अपने नेता वा गुरु की अधीनता में अलग अलग 'छावनी' के नाम से इनकी जमात की जमात रहने लगीं। ये लोग आजकल के वैरागियों की तरह वृथा पुष्ट और विषयासक्त न थे। भगवद्भजन के साथ साथ भगवती अयोध्या के उद्धार की भी इन्हें चिन्ता थी। इसलिए कुश्ती करना, हथियार बाँधना और समय पर अपने बचाने को मुसलमानों से लड़ना झगड़ना भी इनका कर्तव्य कार्य्य था।

यदि उस समय गुसांई और वैरागियों में परस्पर ईर्ष्या और कलह की जगह प्रेम और सौहार्द्र होता तो ये लोग अपने किये हुए पुरुषार्थ के फल से वञ्चित न होते। यदि उस समय इन्हें सिक्ख गुरु गोविन्दसिंह जैसा एक महाप्राण दूरदर्शी धर्म्मगुरु मिलता, तो ये लोग भी खाली भिखमंगे न होकर सिक्खों की तरह एक हिन्दू रियासत का कारण होते। पर विधाता को यह स्वीकार न था। इसलिए दरिद्र भारत में इनके द्वारा भिक्षुकों ही की संख्या वृद्धि हुई। नवाब आसिफुद्दौला के दीवान राजा टिकैयतराय ने उस समय इनको बहुत कुछ सहारा दिया था। शाही खर्च से गढ़ीनुमा छोटे छोटे दृढ़तर कई मन्दिर भी बनवा दिये थे। प्रसिद्ध मन्दिर हनुमानगढ़ी भी इसी समय 'गढ़ी' के आकार में हुआ था। नव्वाब वाजिदअली शाह के समय अयोध्या में सब मिलाकर तीस मन्दिर तैयार हो गये और प्रति वर्ष इनकी संख्या बढ़ती ही चली जा रही है। परन्तु अभी तक अयोध्या में गृहस्थों का निवास नहीं हुआ। गृहस्थों बिना पुरी कैसी तथापि दिन दूनी रात चौगुनी अयोध्या की वाह्य शोभा बढ़ रही है, यह क्या कम आनन्द की बात है?

अयोध्या की वर्तमान दशा

वर्तमान समय में अयोध्या नगरी तहसील फैज़ाबाद के अधीन एक

क्षुद्र ग्राम मात्र है। अधीन है सही, किन्तु फैज़ाबाद ऐसे नगर न जाने उसके विस्तीर्ण खंडहरों में कितने दबे पड़े हैं। काशी, मथुरा, आदि तीर्थों में पुराने चिह्नों का जैसे नामावशेष रह गया है, वैसे ही यहाँ भी पुराना नाम मात्र अविशिष्ठ है। भगवान् रामचन्द्र देव के समय की इमारतों का तो कुछ पता ही नहीं, वरञ्च वीर विक्रमादित्य का बनवाया हुआ मन्दिर भी अब नहीं रहा। जिधर देखिये, उधर मसजिद और कब्र दिखलाई दे रही हैं। अब भी यह पुरी कोसों के घेरे में हैं, परन्तु बीच बीच में बड़े बड़े मैदान और खंडहर पड़े है। कहीं तम्माखू के खेत भी बोये जाते हैं। अयोध्या की जनसंख्या और बस्ती प्रति वर्ष अपने आकार को बढ़ा रही है। वाजिदअली शाह के समय में यहां तीस से अधिक मन्दिर न थे, अब हजारों पर संख्या पहुँच गई। नगरी का आकार बढ़ता है, पर प्रतापहीन नितान्त निःसार है।

नगरी की शोभा गृहस्थों से हैं, और गृहस्थ यहाँ बहुत ही अल्प हैं। यहाँ के सन्त महन्त और अधिष्ठाता बन्दर और वैरागियों को छोड़ कर अन्य जन विरले ही हैं। इन दोनों की चारों ओर प्रचण्डता विद्यमान हैं। पूजा पाठ इन्हींका होता है। भक्ति से हो या लोकाचार से इनकी तुष्टि बिना निस्तार नहीं है। बन्दरों के लिये यहाँ ऊँचे ऊँचे इमली के वृत्तों की कमी नहीं और बैरागियों के लिये शून्यप्राय मन्दिरों की बाजार भी यहाँ का प्रति दिन उन्नत हो रहा है। अयोध्या के वर्तमान महाराज श्रीप्रतापनारायणसिंह बहादुर अयोध्या की प्रकृत उन्नति कर रहे हैं। उनके राजभवन को निरीक्षण कर प्रत्येक सचेत का चित्त सन्तुष्ट होता है। अयोध्या के अविद्य और उदरसर्वस्व 'टकाराम' वैरागियों से दुःखित यात्री को राजभवन में आकर आराम मिलता है। महाराज के मन्दिर, उद्यान और पुस्तकालय सब मनोहर हैं, रसिकता से ख़ाली एक भी नहीं है।

अयोध्या में 'सरयू' के अतिरिक्त प्राचीन चिन्ह कुछ भी नहीं हैं और न कोई वैसा आदरणीय और पूजनीय मन्दिर ? देखने वाले यदि

नवीन दृश्य की इच्छा करें, और देवमूर्तियों के दर्शन किया चाहें तो यहाँ उसका भी नितान्त अभाव नहीं है। जन्मभूमि, जन्मस्थान, हनुमानगढ़ी, नागेश्वरनाथ, कनकभवन आदि देवमन्दिर और स्वर्गद्वार एवं गोप्रतार (गुप्तार) घाट प्रभृति स्थान यहाँ देखने योग्य कहे जा सकते हैं।

'जन्मभूमि' रघुवंशियों की जन्मभूमि है। राम लक्ष्मण के खेलने की जगह है, हिन्दुओं के पूजने और लोटने का स्थान है, पर आज कल कलेजा थाम कर रोने की जगह है? ऊँचे ऊँचे खंडहर हैं। इमली के पेड़ हैं, चारो ओर हजारों 'कबर' हैं और बीच में शाह बाबर की बनावई हुई मसजिद खड़ी है। इसीके चौक में एक छोटा सा चबूतरा है, जिस पर एक पर्णकुटीर में भगवान् दाशरथी की मूर्ति विराजमान है। पास एक खाखी बैठा हुआ हिन्दुओं को यह शोचनीय दृश्य दिखा रहा है? बस यही हमारा सर्व्वप्रधान देवमन्दिर है।

महाराज विक्रम ने यहाँ एक अति मनोहर 'रामकूट' प्रासाद बनवाया था; बर्वर बाबर ने 'रामकूट' का ध्वंस कर उसीके मसाले से मसजिद बना डाली। मसजिद का निर्माणकाल एक पत्थर में हिजरी सन् ९२३ खुदा हुआ है। प्राचीन मन्दिर के अति सुन्दर दस खंभे मसजिद में लगे हुए हैं। अनेक देवताओं की सुन्दर प्रतिमाएँ जिनको मुसल्मानों ने विकृत कर रक्खा है पुराने 'रामकूट' मन्दिर की सुन्दरता और म्लेच्छों की नीचता का प्रमाण दे रही हैं?

'जन्मभूमि' के पास ही 'जन्मस्थान है। मन्दिर कलीचूने का बना हुआ साधारण है। यह जन्मभूमि की मूर्ति के लिये नवाबी समय में बना, और पीछे से बढ़वाया गया है। देवमूर्तियां यहाँ की दर्शनीय हैं। और एक दर्शनीय है 'सीता की रसोई'? मन्दिर के नीचे एक तहखाना है, बाहर पैसा देकर आदमी अन्दर जा सकता है। एक बेलन और चकला रक्खा हुआ है। कहा जाता है कि यही 'सीताजी की रसोई' है। स्त्रियाँ इसको बहुत देखती हैं। ऐसा ही यहाँ एक 'कोपभवन' भी हास्य की सामग्री है।

'हनुमानगढ़ी' —सचमुच 'हनुमानगढ़ी' है। एक तो यह 'गढ़ी' के आकार ही से नाम की सार्थकता करती है। दूसरे यहां बन्दर भी इतने हैं कि, उनका यह मन्दिर वास्तव में गढ़ दिखाई देता है। हनुमान गढ़ी एक ऊंचे टीले पर बनी हुई है; अनुमान पचास साठ सीढ़ियां चढ़ने पर हनुमान जी के दर्शन नसीब होते हैं। गढ़ी के मध्य में पत्थर का छोटा सा मन्दिर है उसीमें हनुमानजी विराजते हैं। यह मूर्ति बीरासन से बैठी हुई है। दूसरी छोटी मूर्ति और भी है जो पुरानी कही जाती है और जो पुष्पों में छिपी रहती है। मङ्गलवार के मङ्गलवार यहाँ मेला लगता है। पाठ पूजन करने वाले यहाँ दो चार यात्री भी आया जाया करते हैं। यहाँ के बैरागी बड़े मालदार और जबरदस्त समझे जाते हैं।

कहते हैं कि यह गढ़ी पहले गुसाईं संन्यासियों के अधिकार में थी, बैरागियों ने उन्हें अधिकारच्युत कर दिया। सआदत अलीखाँ के समय 'गढ़ी' की नीव पड़ी थी और वाजिदअली के समय यह दृढ़ बनाई गई और जगह जगह 'मोरचे' तैयार किये गये थे, जो अभी तक वर्तमान हैं। गढ़ी में हज़ारों बैरागी हैं। मकान भी 'गुफा' को तरह नीचे कई बने हुए हैं और जिनका ठीक ठीक भेद गढ़ी के प्रधान बैरागियों के सिवाय अन्य पुरुष नहीं जान सकता।

संवत् १९१२ के आषाढ़ में असहिष्णु मुसल्मानों को यह सह्य नहीं हुआ कि नव्वाबी के समय हिन्दुओं का इतना ऊंचा मन्दिर बने। इसलिये लड़ने का बहाना किया कि गढी के नीचे हमारी मसजिद थी जिसको बैरागियों ने तोड़ दिया है। हम उनके मन्दिर को तोड़ेंगे। मदान्ध मुसल्मानों ने अपने विचार को काम में लाने के लिये 'जिहाद' का झंडा खड़ा कर दिया और 'मार काट' का हल्ला मचा दिया। बैरागियों और यवनों को कई छोटी छोटी लड़ाइयों के बाद "मौलवी अमीर अली" कई हज़ार मुसल्मानों को साथ ले, गढ़ी पर चढ़ दौड़े। बुद्धिमानों के मना करने पर भी न माने। अवध में 'जिहाद' की धूम मच गई। गढ़ी की रक्षा के निमित्त हिन्दू भी सचेष्ट

हुए और इधर उन लोगों ने भी जोर पकड़ा, शाही फरमान को भी न माना। 'सूजागंज' में लड़ाई हुई। कमियार के ठाकुर शेरबहादुर सिंह ने मौलवी को खेत रक्खा और मुसल्मानों को घर लेना कठिन हो गया। तब से 'हनुमानगढ़ी' अयोध्या का प्रधान स्थान हो रहा है।

हनुमानगढ़ी के ठीक सामने स्वर्गीय महाराज मानसिंह की धर्म्म-पत्नी का बनवाया हुआ 'राजद्वार' नाम का मन्दिर है। चमत्कार में चाहे यह गढ़ी के तुल्य न हो पर ऊँचाई और सफ़ाई में न्यून नहीं है। महारानी की विमल कीर्ति का स्मारक है। अयोध्यानरेश नये स्थान बनवाने के साथ साथ यदि पुरानों पर भी कृपा किया करें तो उनका अधिक यश हो। यह मन्दिर और गुप्तार घाट के स्थान महा-राज की उपेक्षा से रोगग्रस्त के समान दण्डायमान हैं। स्वर्गद्वार घाट एक प्रसिद्ध स्थान है। स्नान का बड़ा माहात्म्य है। इसी ओर कुछ बस्ती भी है। इधर से अयोध्या देखने में सुन्दर लगती है, घाट पर की मन्दिरमाला मानो अपने घरू भेद को गुप्त कर रही है और औरंगजेब की मसजिद का 'मीनार' उसे प्रगट करने को मुँह बा रहा है। पास ही "नागेश्वरनाथ" का मन्दिर है। बहुत बड़ा न होने पर भी माहात्म्य में बड़ा है। शिवालय का अर्घा (जलहरी) दर्शनीय है। कहते हैं अति प्राचीन समय की है। "कनकभवन" यहाँ सब में बड़ा और सब से अच्छा मन्दिर है। इसे टीकमगढ़ के महाराज ने हाल ही में बनवाया है। अयोध्या के योग्य यही एक मन्दिर है। मूर्ति भी तदनुरूप और शृङ्गार भी वैसा ही है।

यों तो अयोध्या में मेले कई होते हैं पर सब से बड़ा 'रामनवमी' का है। दूर दूर से प्रति वर्ष लाखों आदमी आते हैं और लाखों ही का व्योपार होता है। देहाती बुरी तरह टूटते हैं, महन्त और दूकान दार खूब लूटते हैं। सप्ताह भर की कमाई वर्ष दिन तक खाते हैं। मेला मैले (ये अन्तःकरण के मैले नहीं—हमसे अच्छे हैं) लोगों का है। किन्तु दर्शनीय है, अवध के ग्राम्य चित्र की प्रदर्शनी है। रामनवमी के दिन जो इस दशा में भी यहाँ आनन्द होता है सो

अन्यत्र कहां ? चारों ओर सीताराम को ध्वनि और सन्त-समागम का अलभ्य लाभ रहता है। भगवान् की पूर्ण कृपा बिना ऐसे अवसर में अयोध्या के दर्शन नहीं हो सकते। वे धन्य हैं जो इस विषय में कृतकार्य्य होते हैं।

अयोध्या के माहात्म्य भी कई हैं। प्रचलित माहात्म्य 'रुद्रयामल' तन्त्रोक्त है, यात्रा के प्रकार भी भिन्न भिन्न हैं। एक दिन में 'अन्तर्गृही' पत्त तथा मास भर में अयोध्या के आस पास के सब तीर्थों की यात्रा हो सकती है। अयोध्या में पाठशाला भी अनेक हैं, सर्वोत्तम चौधरी गुरुचरणलाल जी की है। कहने को अयोध्या में रामआसरे सभी महात्मा हैं; पर थोड़े दिन हुए बाबा माधोदास, बाबा रघुनाथदास और तिवाड़ी जी आदि यहाँ अच्छे अच्छे पुरुषरत्न हो चुके हैं।※



※ जिस समय यह लेख लिखा गया था उस समय से वर्तमान काल की अयोध्या में बड़ा अन्तर पड़ गया है।

सम्पादक

मथुरा

"अत्रासीत्किल नन्दसद्म शकटस्यात्राभवद्भञ्जनं-
बन्धच्छेदकरोऽपि दामभिरभूद् बद्धोऽत्र दामोदरः।
इत्थं माथुरवृद्धवक्त्रविगलत्पीयूषधारां पिबन्नानन्दा-
श्रुधरः कदा मधुपुरीं धन्यश्चरिष्याम्यहम् ॥"

(राजशेखरस्य)

आर्य्य जाति की सप्तपुरियों में मथुरा दूसरी है। अयोध्या के पीछे मथुरा ही का नाम है। पीछे इसलिए, कि यह वहाँ के रघुवंशी नृपतियों द्वारा बसाई गई थी। अयोध्या जिस समय जगद् भर में अद्वितीया महानगरी कही जा चुकी थी, उस समय मथुरा का आरम्भ भी नहीं हुआ था। घोर अरण्य से समस्त व्रजभूमि आच्छादित थी और ब्रह्मद्वेषी नरमांस भोजी राक्षसों का यहाँ निवास था। दाशरथी कुमार शत्रुघ्न ने लवणासुर को मार मधुपुरी वा मथुरा (मधुरा) के नाम से इस पुरी को बसाया।

इतिहास के विचार से मथुरा का नाम अयोध्या के पीछे से होने पर भी, उसके माहात्म्य में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं है। जहाँ एक दिन उस मनोहर मूर्ति का कि, जिसके सामने कन्दर्प का सौन्दर्य्य भी फीका पड़ गया था, आविर्भाव हुआ, उसकी महिमा किस प्रकार न्यून हो सकती है? साक्षात् धर्म्मपुत्र युधिष्ठिर ने जिससे धर्म्म सीखा, अर्जुन ने जिससे ज्ञान प्राप्त किया, नरश्रेष्ठ भीष्मपितामह ने जिसको आराध्य समझा, नारदादि देवर्षियों ने जिसको परमोपास्य माना, जिसके विषय में महर्षि व्यास ने निश्चय किया "कृष्णस्तु भगवान् स्वयं"—शिष्टपालन और दुष्टदमन ही जिसका व्रत था, बलदृप्त और उद्धत होने पर निज वंश को भी जिसने दण्ड दिया, उस पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की जन्मभूमि मथुरा की महिमा जितनी कही जाय

उतनी ही अल्प है। जिस नगरी में 'नित्यंसन्निहितोहरिः' उसकी कीर्ति का कौन बखान कर सकता है ? केवल इतना ही कह सकते हैं कि मथुरा धन्य है और मथुरावासी धन्य हैं ! तथापि निज लेखनी को पवित्र करने के लिए आज हम मथुरा का वर्णन करते हैं।

मथुरा का पुराना इतिहास

मथुरा जी का सब से पुराना इतिहास वाल्मीकीय रामायण* और महर्षि वेदव्यास कृत पुराणों† में मिलता है जिसके देखने से विदित होता है कि पहिले यहाँ सघन बन था जिसको मधुवन के नाम से पुकारते थे। श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराण में लिखा है कि उत्तानपाद राजा के पुत्र ध्रुव जी ने इसी मधुवन में तप किया था। जिस वन में मधुदैत्य रहता था उस बन का नाम मधुवन हुआ। मधु के पुत्र का नाम लवण था जिसको शत्रुघ्न जी ने मार कर उसी वन में मथुरा नाम पुरी बसाई। किन्तु विष्णुपुराण के इस कथन से कि—

"मधुसंज्ञं महापुण्यं जगाम यमुनातटम्।
मुनश्च मधुसंज्ञेनं दैत्येनाधिष्ठितं यतः॥
ततो मधुवनं नाम्ना ख्यातमत्र महीतले।
हत्वा च लवणं रक्षो मधुपुत्रं महाबलम्॥
शत्रुघ्नो मथुरां नाम पुरीं यत्र चकार वै"।

(१ म अँश १२ वां अध्याय, २।३।४)

"वह (ध्रुव) 'मधु' नामक परम पावन यमुना के उस तट पर पहुँचा जो कि मधुसंज्ञक दैत्य के पुनः रहने से इस पृथ्वीतल पर मधुवन के नाम से विख्यात हुआ और जहाँ शत्रुघ्न ने महाबली मधु-पुत्र लवणासुर को मार मथुरा नामक पुरी बसाई।"

* देखो उत्तरकाण्ड, ७३ वें से १२१ वें सर्ग तक।

† वाराह पुराण, १४६ वें से १५१ वें अध्याय तक। पद्मपुराण, पातालखण्ड ६६ वें से ६१ वें अध्याय तक।

यह सिद्ध होता है कि 'मधु' नाम यमुनाजी के तीर का था और उसके समीपवर्ती बन का नाम शक्य सम्बन्ध से मधुवन हो गया। वहाँ मधु का अधिकार होने से वह मधु दैत्य का वन कहालाया।

श्रीधर स्वामी ❀ विष्णुपुराण की टीका में "पुनश्चमधुसंसेन" का यह तात्पर्य्य बताते हैं कि पहिले यहाँ कैटभ के सहचर मधु का निवास था फिर दूसरे मधु का हुआ जिससे इसकी अधिक प्रसिद्धि हुई।

जो हो, इस वन का नाम मधु के नाम से विख्यात हुआ परन्तु सब से पहिले जिसका यहाँ अधिकार हुआ यह मधु कौन सा मधु था इस बात का जानना दुर्घट है। हरिवंश के विष्णुपर्व में लिखा है कि इक्ष्वाकु के वंश में हर्य्यश्व नामक एक राजा था, जिसने मधुवनाधिपति मधु की कन्या मधुमती के साथ विवाह किया! † रामायण में मधु को राक्षस कहने पर भी उसके स्वभाव वा चरित्र की प्रशंसा की है।

वर्तमान मथुरा से दक्षिण दिशा में ४ या ५ मील पर जहाँ महौली ग्राम है उस जगह को लोग 'मधुवन' कहते हैं। "अर्द्धचन्द्र प्रतीकाशा यमुना तीर शोभिता" मथुरा या तो किसी समय में वहाँ तक बसती होगी, अथवा यमुना जी पहिले उधर बहती होंगी, नहीं तो मधुपुरी का और यमुना का इतना अन्तर न होना चाहिये। अस्तु, इस पुरी के आदिस्थान का नाम मधुवन है, यह भली भाँति सिद्ध होता है।

मधुपुरी

मधुपुरी के बसाये जाने का इतिवृत्त रामायण के उत्तरकाण्ड में इस प्रकार है कि—"एक दिन लवणासुर के अत्याचार से पीड़ित यमुनातीरवासी सैकड़ों ऋषि भगवान रामचन्द्र देव की सभा में

❀देखो, प्रथम अंश, १२ वां अध्याय श्लो० ३। पुनश्च मधुसंज्ञेनेति पूर्वं कैटभेन सह मधुनामोत्पन्नः पुनश्च मधुसंज्ञे न ततोन्येनेत्यर्थः।"

† तब क्या इसी कारण रामायण में मधु की प्रशंसा है अथवा यह मधु ही अन्य है?

पहुँचे। इन तपस्वियों ने पवित्र तीर्थोदक से दाशरथी का मार्जन किया और फल मूल का उन्हें उपहार दिया। रामचन्द्र जी ने सब को सत्कार पूर्वक काञ्चन के रुचिर सिंहासनों पर बैठा कर आगमन का कारण पूछा और कहा कि—

"इदं राज्यं च सकलं जीवितञ्च हृदि स्थितम्।
सर्वमेव द्विजार्थं मे सत्यमेतद्ब्रवीमि वः" ॥

"मैं आप से यह सत्य कहता हूँ कि मेरा यह सम्पूर्ण राज्य और जीवन सब ही ब्राह्मणों के लिये हैं"। यह सुन कर ऋषियों ने साधु साधु कहा और वे अति प्रसन्न हुए। (७३ सर्ग) तब भार्गवमुनि बोले कि हे नरेश्वर! सतयुग में पहिले मधु नामक दैत्य बड़ा बलवान और धर्म्मात्मा था। वह बुद्धिमान, ब्रह्मण्य और शरणागतवत्सल था। देवताओं के साथ उसकी प्रीति थी। भगवान रुद्र ने अपने शूल में से एक शूल उत्पन्न किया और उसको देकर कहा कि "जब तक तुम देवों और विप्रों से बैर न करोगे, तब तक यह तुम्हारे पास रहेगा। जो तुमसे युद्ध करना चाहेगा उसको यह भस्म कर फिर तुम्हारे हाथ में चला आवेगा"। मधु ने महादेव जी की बहुत सी स्तुति कर चाहा कि उक्त वरदान उसके वंश के लिए रहे, किन्तु शिव जी ने कहा कि 'यह नहीं हो सकता। हाँ, तुम्हारे वंश में एक तुम्हारे पुत्र के लिये यह शूल रहेगा। जब तक यह उसके हाथ में रहेगा, तब तक वह सब प्राणियों में अवध्य होगा। इस प्रकार मधु ने अद्भुत वर पाकर एक बहुत अच्छा अपना भवन बनाया। उसकी कुम्भीनसी भार्या से लवण हुआ, जो लड़कपन ही से महाबली और दुराचारी था। मधु अपने दुर्विनीत पुत्र को देख शोक को प्राप्त हो उससे कुछ न बोला और इस लोक को छोड़ समुद्र में घुस गया, परन्तु अपने पुत्र को शूल देकर बल का सब वृत्तान्त सुना गया। हे रामचन्द्र! अब लवण अपने दुराचार से तीनों लोकों को, विशेषतः तपस्वियों को सता रहा है,—

"बहवः पार्थिवा राम भयार्तैं ऋषिभिः पुरा।
अभयं याचिता वीर! त्रातारं च न विद्महे॥
ते वयं रावणं श्रुत्वा हतं सबलवाहनम्।
त्रातारं विद्महे तात! नान्यंभुविनराधिपम्"॥

हे राम! भयपीड़ित ऋषियों ने अभय के लिए पहिले बहुत से नरेशों की याचना की पर किसी को रक्षक नहीं पाया। हे तात! हम सकुटुम्ब रावण को मरा सुन (तुम्हारे पास) आए हैं पृथ्वी पर तुम्हारे सिवाय और किसी राजा को रक्षक नहीं पा सकते (७४ वां सर्ग)

यमुनातीरवासी वे सब ऋषि कहने लगे कि—

अहारः सर्वसत्वानि विशेषेण च तापसा।
आचारो रौद्रता नित्यं वासो मधुवने तथा॥

"उसका आहार तो प्राणि मात्र विशेष कर तपस्वि जन हैं, आचार बड़ा भयङ्कर है और नित्य मधुवन में रहता है।

रामचन्द्र जी ने यह वृत्तान्त सुन लवण के मारने की प्रतिज्ञा की और भाइयों से पूछा कि "यह किसका भाग है? इसका मारने वाला कौन है?" भरत जी ने कहा कि "अहमेनं बधिष्यामि ममांशः स विधीयताम्" अर्थात् इसको मैं मारूँगा वह मेरा ही हिस्सा रखिए। किन्तु ज्येष्ठ भ्राता के अनुरक्त, लक्ष्मण के छोटे भाई शत्रुघ्न ने विनय की कि आर्य्य भ्रातृ वियोग में बहुत दुःख उठा चुके हैं इसलिए "प्रेष्ये मयि स्थिते राजन्! न भूयः क्लेश माप्नुयात्" अर्थात् 'इस अधीन के होते फिर आप क्लेश न पाएं।

शत्रुघ्न को युद्धयात्रा में तत्पर देख श्रीरामचन्द्र जी ने कहा कि मैं मधु के नगर का राजा तुमको बनाऊँगा, तुम वहाँ जाकर यमुना के तीर नगर और सुन्दर देशों को बसाओ। (७५ सर्ग) रामचन्द्र जी की आज्ञा से शत्रुघ्न का अभिषेक हुआ और उन्होंने एक दिव्य शर तथा समयोचित उपदेश दिया। (७६ और ७७ सर्ग)

शत्रुघ्न सेना की यात्रा करवा कर एक मास अयोध्या में रहे,

तदनन्तर अकेले चले। उन्होंने दो रात्रि बीच में काट कर तीसरे दिन वाल्मीकि के आश्रम में निवास किया। (७८ सर्ग)

जिस रात शत्रुघ्न पर्णशाला (आश्रम) में पहुँचे उसी रात में सीता जी के दो पुत्र उत्पन्न हुए। प्रातःकाल शत्रुघ्न पश्चिमाभिमुख चल निकले और सप्त रात्रि मार्ग में निवास कर यमुना के तीर पहुँच मुनियों के आश्रम में रहे। (७९ सर्ग)

"ततः प्रभाते विमले तस्मिन् काले स राक्षसः।
निर्गतस्तु पुराद्वीरो भक्ष्याहार प्रचोदितः॥
एतस्मिन्नन्तरे वीर उत्तीर्य्य यमुनां नदीम्।
तीर्त्वा मधुपुरद्वारि धनुष्पाणिरतिष्ठितः॥

'तत्पश्चात् प्रभात के समय वह लवण राक्षस आहार के लिये पुर से बाहर निकला, इतने में शत्रुघ्न यमुना पार हो, हाथ में धनुष ले मधुपुर के फाटक पर जा कर खड़े हो गए। मध्यान्ह काल में वह क्रूरकर्मा राक्षस बहुत से पशुओं को मार सिर पर बोझा रक्खे आपहुँचा और शत्रुघ्न से कहने लगा कि तुम मुहूर्तमात्र ठहरो, मैं अपना शस्त्र लाता हूँ। शत्रुघ्न ने कहा जो शत्रु को अवकाश देते हैं वे मन्दबुद्धि हैं। (८१ सर्ग)

तब लवण क्रोधकर शत्रुघ्न से लड़ने लगा और अन्त में शत्रुघ्न के बाण से मारा गया। उसी क्षण लवण का शूल शिवजी के पास चला गया। (८२ सर्ग)

लवण के मारे जाने पर इन्द्रादिक देवता आए और उन्होंने शत्रुघ्न को आशीर्वाद दिया कि तुम रम्य मधुपुरी के बसाने में सफलकाम होओ। शत्रुघ्न अपनी उस सेना को, जिसे दूर छोड़ आए थे वहाँ ले आये और उन्होंने श्रावण मास* में उस पुरी के बसाने

*निवेशनं च शत्रुघ्नः श्रावणेन समारभत्। सा पुरी दिव्यसङ्काशा वर्षे द्वादशमेशुभे॥
निविष्टः शूरसेनानां विषयश्चाकुतोभयः। क्षेत्राणि शस्ययुक्तानि काले वर्षति वासवः॥
अरोग वीरपुरुषा शत्रुघ्नभुजपालिता। अर्द्धचन्द्रप्रतीकाशा यमुनातीर शोभिता॥
शोभिता गृहमुख्यैश्च चत्वरापणवीथिकैः। चातुर्वर्ण्य समायुक्ता नाना वाणिज्य-शोभिता
यच्च तेन पुरा शुभ्रं लवणेन कृतं महत्। तच्छोभयति शत्रुघ्नो नानावर्णोपशोभिताम्
आरामैश्च विहारैश्च शोभमानं समन्ततः। शोभितां शोभनीयैश्च तथान्यैर्दैवमानुषैः॥

का काम आरम्भ किया। बारहवें वर्ष में अच्छी तरह यमुना के तट पर अर्द्धचन्द्राकार पुरी बस गई। किसी बात का वहाँ किसी को खटका न था। सब खेत शस्य युक्त थे और समय पर इन्द्र वर्षा करता था। शत्रुघ्न की भुजाओं से सुरक्षित इस नगरी में सब निरोग और वीर पुरुष थे। बड़े बड़े भुवन, दुकानें गली और चौकों से नगरी सुशोभित थी। चारो वर्ण रहते थे और अनेक प्रकार का वाणिज्य होता था। जिस भवन को लवण ने श्वेत रङ्ग से रँगा था, उसको शत्रुघ्न ने अनेक रँगों से रँगा दिया। उद्यान, बिहार इत्यादि से शोभित और अनेक देशों के वणिग्जनों से परिशोभित समृद्ध मधुरापुरी को बसाकर शत्रुघ्न जी बहुत प्रसन्न हुए और बारहवें वर्ष में रामचन्द्र जी के दर्शनों का विचार किया। (८३ सर्ग)❀

शत्रुघ्न अयोध्या में गये और सात दिन ठहर कर फिर मथुराजी में चले आए। (८५ सर्ग)

जब रामचन्द्रजी ने वैकुण्ठयात्रा का उद्योग किया तब शत्रुघ्न को साथ ले चलने के लिये दूत द्वारा बुला भेजा। दूत मार्ग में कहीं न ठहर कर तीन अहोरात्र में वहाँ पहुँचा और रामचन्द्रजी का सब सन्देश कह सुनाया। तब—

द्विधा कृत्वा तु तां सेनां माधुरीं पुत्रयोर्द्वयोः।
धनं च युक्तं कृत्वा वै स्थापयामास पार्थिवः॥
सुबाहुं मथुरायाश्च वैदिशे शत्रुघातिनम्।
ययौ स्थाप्य तदायोध्यां रथेनैकेन राघवः॥

(उत्तरकाण्ड १२१ सर्ग)

तां पुरीं दिव्य सङ्काशां नाना पण्योपशोभिताम्।
नानादेशगतैश्चापि वणिग्भिरुपशोभिताम्॥
तां समृद्धां समृद्धार्थः शत्रुघ्नो भरतानुजः। निरीक्ष्य परमप्रीतः परं हर्षमुपागमत्॥
तस्य बुद्धिः समुत्पन्ना निवेश्य मधुरां पुरीम्। रामपादौ निरीक्षेऽहं वर्षे द्वादश आगते
(रामायण उत्तरकाण्ड, ७१ सर्ग)

❀ न मालूम रामायण के किस संस्करण से यह सर्ग संख्याएं दी गयी हैं। वास्तव में ये ठीक नहीं हैं।
सम्पादक

राजा शत्रुघ्न ने वहाँ की सेना और धन के दो भाग कर अपने दोनों पुत्रों में बाँट, सुबाहु को मधुरा में और शत्रुघाति को वैदिश नगर में स्थापित कर आप एक रथ से अयोध्या में जा पहुँचे। इसके पीछे रामचन्द्रजी ने भरत और शत्रुघ्नादि के साथ परमधाम को गमन किया। (१२२ सर्ग)

उक्त प्राचीन इतिहास से सिद्ध होता है कि प्रथम मथुरा के आस पास सर्वत्र वन ही वन था। मधुदैत्य का भवन (जो श्वेत रङ्ग से रङ्गा था) और पुर (जिसके द्वार पर शत्रुघ्न ने लवण को मारा था) यही मधुपुरी की प्राचीन सामग्री है। किन्तु "पुर" शब्द से यहाँ नगर लें कि गढ़ी लें, यह विचारणीय है। रामायण में लवण के अतिरिक्त और किसी दूसरे भृत्य तक को भी हम नहीं देखते, यहाँ तक कि मारा हुआ शिकार भी वह अपने आप उठाता था, इससे प्रतीत होता है कि इस दुष्ट राक्षस के अत्याचार से धर्म्मात्मा मधुदैत्य की बस्ती उजाड़ हो गई थी। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि मधुदैत्य का भवन और राक्षसों के स्थानों की तरह रक्त से नहीं रङ्गा था, उस पर सुफेदी हो रही थी! क्या यह मधुदैत्य की देवताओं के साथ मित्रता होने का फल है?

१२ वर्ष के कठिन परिश्रम से नई नगरी बसा कर महामहिमामय रघुवंश के राजा ने उसका नाम मधुपुरी वा मधुरा ही रहने दिया! अपने नाम की मोहर छाप उस पर न लगाई! प्रतापी रघुकुल की यह महिमा उन यवन वंश के लोगों के चित्त में कि जो आर्य्यजाति की बसी बसाई महानगरियों को नष्ट भ्रष्ट कर 'इसलामाबाद, मुहम्मदाबाद, अकबराबाद, शाहजहाँबाद, इलाहाबाद, इत्यादि नया नाम रखने ही पर मरते थे, क्या समझ में आ सकती है?

यद्यपि शत्रुघ्न को मथुरा बसाने में १२ वर्ष लगे और इतने काल में उन्होंने नाम मात्र की मधुपुरी को सचमुच 'पुरी' कर दिखाई तथापि अयोध्या की सम्पत्ति के समक्ष यह कुछ वस्तु न हुई। इसकी पूरी उन्नति का समय बहुत पीछे जब कि भगवान् कृष्णचन्द्र ने जन्म लिया, आया।

मथुरा का नाम

रामायण और देवी भागवत आदि कई पौराणिक ग्रन्थों में मथुरा के स्थान में "मधुरा" पाठ मिलता है। वाल्मीकि रामायण की तो सभी पुस्तकों में सर्वत्र 'मधुरा' ही है, मथुरा नहीं। तो क्या यह समझें कि लिपि प्रमाद से श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराणादि में "धु" के स्थान में 'थु' हो गया ? 'थु' और 'धु' में परस्पर साम्य होने से तो यही प्रतीत होता है कि दोनों में से कोई एक पाठ लेखदोष से हुआ है। मथुरा का अर्थ भी मधुर है और उसका "मधु" के साथ सम्बन्ध भी हो सकता है पर "मथुरा" में प्रसिद्धि के सिवा क्या स्वारस्य है ?

मथुरा में रघुवंशी

शत्रुघ्न के पश्चात् मथुरा का राजा सुबाहु हुआ और फिर कई पीढ़ियों तक इसी वंश का मथुरा नगरी और शूरसेन देश पर अधिकार रहा। जब सूर्य्यवंश निस्तेज हुआ तो सोमवँशियों का यहाँ पर उदय हुआ। हरिवंश के मत से सूर्य्यवंशी 'हर्य्यश्व' किसी हेतु अयोध्या को छोड़ अपने श्वशुर मधु बनाधिपति के यहाँ रहने लगे थे। उनही का पुत्र यदु हुआ, यदु का पुत्र माधव, माधव का सत्वत और सत्वत का भीम हुआ। रघुवंशियों के बीच में मथुरा त्याग देने पर भीम ने फिर से मथुरा पर अधिकार किया। हरिवंश के मत से यदुवंश सूर्य्यवंशी ठहरता है, किन्तु और पुराणों के मत से यदु चन्द्रवंशी हैं। एक नाम के कई राजा होने ही से यह भ्रम होता है वस्तुतः जिस यदु के वंश में श्रीकृष्ण हुए वह चन्द्रवंशी ही हैं।

यदुवंशी

जिस महा वंश में मधु, सत्वत, वृष्णि, अन्धक, कुकुर और भोज प्रभृति प्रतापशाली नृपति हुए, रघुवंश के पश्चात् उसी यदुवंश से मथुरा के सौभाग्य की वृद्धि हुई। जो मथुरा एक दिन ग्राम्य सुन्दरी के समान अनलङ्कृत और अनावृत्त देह थी वह अब सब नगरियों से

सौन्दर्य में बढ़ चली थी। यदुवंश की वृद्धि के साथ मथुरा की यहाँ तक वृद्धि हुई कि वह जरासन्ध जैसे महाप्रतापी प्रबल पराक्रान्त सम्राट् के कई बार आक्रमण सह गई। भारतवर्ष में इस समय राजगृह, चन्देरी, हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ आदि जितनी प्रसिद्ध नगरियां थीं, मथुरा उनसे किसी अंश मे न्यून न थी। न्यूनता इसमें थी तो यही थी कि वह जरासंध की राजधानी राजगृह के तुल्य पर्वत परिवेष्ठित न थी। अन्त में इस न्यूनता के हेतु जरासन्ध के आक्रमण से दुःखित हो यदुवंश को नई नगरी द्वारिका की शरण लेनी पड़ी।

१२५ वर्ष तक भगवान श्री कृष्ण मानव लीला दिखा कर निज-पद को प्राप्त हुए। और इधर घर की फूट से कुरु-कुल और यदुकुल का कुरुक्षेत्र और प्रभास में सर्वनाश होने पर भारतवर्ष ही का रूपान्तर हो गया। भगवान की लीला विचित्र है। कहाँ तो चारों ओर वीर ही वीर दिखाई देते थे और कहाँ यह समय आया कि रघुवंश की असूर्य्यस्पश्या स्त्रियों की रक्षा करनेवाला भी कोई न मिला? बालू की दीवार की नाईं यहाँ भारतवर्ष का भाग्य भी एक बार ही लोट गया? यदुवंश की शोच्य दुर्घटना के पश्चात् किसी किसी पुराण के मत से पाण्डवों ने ध्वंसावशिष्ट यदुकुमार वज्र को मथुरा के सिंहासन पर बैठाया किन्तु फिर कितनी पीढ़ी तक यह राज्य रहा इसका पत्ता नहीं चलता।

मथुरा में बौद्ध

यदुवंश के पीछे मथुरा में बौद्धों का राज्य हुआ। किन्तु कितने काल पश्चात् और किस तरह यह नगरी वैदिक नरेशों से हस्तच्युत हो बौद्धों के हस्तगत हुई, इसका विशेष विवरण नहीं मिलता। परन्तु पुरातत्व वेत्ताओं के मत से काशी, अयोध्या आदि नगरियों की भाँति यह भी बौद्धों का तीर्थ कहला चुकी है। सन् ४०० ई० में चीन का प्रसिद्ध यात्री फाहियान वहाँ आया था' उसने अपनी यात्रापुस्तक में लिखा है कि मथुरा बौद्धों का प्रधान स्थान है। उससे २५० सौ वर्ष पीछे

ईसा की सातवीं सदी में सुप्रसिद्ध चीन यात्री, हुवेन्त्साङ्ग आया। जिसने मथुरा में २० बौद्ध मठ और ५ देवमन्दिर बतलाए हैं।

वर्त्तमान समय में पुरानी मथुरा के जितने खँडहर और टीले हैं, उनकी परीक्षा से भी यह बात सिद्ध होती है कि किसी समय में वहाँ पर बौद्ध लोगों का बड़ा जोर था। प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता जनरल 'कनिङ्घाम' साहब को कङ्काली टीले से बुद्धदेव की ऐसी कई मूर्तियाँ, जिनका पुरातत्व के अनुसन्धान में बहुत ही उपयोग हुआ, मिली थीं। जयसिंहपुर खेड़े के खुदवाने से भो बौद्धमत की अनेक प्रतिमाएं जो अभी तक चामुण्डा देवी के पास रक्खी हैं, निकलीं। इसी तरह महा-विद्या के पास से भी इसी मत की मूर्तियां खोदने से हाथ आई थीं। इसके अतिरिक्त गोकर्णेश्वर महादेव के मन्दिर में और उसके आस पास बुद्धमत की कितनी ही मूर्तियाँ हिन्दूदेव देवियों का नाम धारण कर अभी तक अपने को पुजा रही हैं। बौद्ध और हिन्दुओं की मूर्तियों के परस्पर मिल जाने का एक यह भी कारण हुआ कि वैदिक धर्म्म के शत्रु बौद्धों ने हिन्दुओं ही के तीर्थ स्थान पर अपने देवमन्दिर प्रायः इस आशा से कि वहाँ पर पहिले अधिकारियों का कुछ भी स्वत्व न रहे, बनाए थे।

इस समय मथुरा में बौद्ध लोगों का कोई मन्दिर अवशिष्ट नहीं है, किन्तु जैन लोगों के कि जो किसी किसी पुरात्वत्ववेत्ता के मत से रूपान्तर प्राप्त बौद्ध धर्म ही के अनुयायी हैं, पिछले समय के कई मन्दिर हैं। इनका एक मन्दिर केसोपुर में जिस को वे लोग, जम्बू स्वामी की तपस्या का स्थान कहते हैं और दो मथुरा के भीतर हैं। पहिला सेठ मनीराम जी का बनवाया हुआ है और उसमें चन्द्र प्रभु और अजितनाथ जी की मूर्ति विराज रही हैं। कार्तिक मास में यहाँ पर श्रावकों का एक मेला भी लगता है, जो पञ्चमी से द्वादशी तक सात दिन रहता है।

मथुरा में श्रीशङ्कराचार्य्य

बौद्धों के पीछे स्वामी श्रीशङ्कराचार्य जी का समय है। आचार्य

ने बौद्ध धर्म उच्छेद कर वैदिक धर्म्म का पुनः प्रचार किया और साथ ही तीर्थस्थानों का उद्धार भी। कहते हैं कि सप्तपुरियों और बदरिकाश्रम प्रभृति अन्य तीर्थस्थानों का आचार्य्य ने फिर से महत्व प्रगट किया था, किन्तु इस विषय का सुश्रृङ्खलाबद्ध इतिहास नहीं मिलता। मिले कहाँ से? मुसल्मान बादशाहों ने पुस्तकें और तदुपयुक्त सब सामग्री नष्ट कर दी!

मथुरा में बादशाही अत्याचार

मुसल्मान बादशाहों का अत्याचार जितना मथुरा में हुआ उतना कदाचित् ही किसी नगरी में हुआ होगा। सब से पहिले यहाँ सन् १०१७ ई० में गज़नी का लुटेरा और दुष्ट बादशाह महमूद आया था। उसने अच्छे अच्छे मन्दिरों को तोड़ कर मिट्टी में मिला दिया और उनका बहुमूल्य असबाब लूट लिया। एक मुसल्मान इतिहास लेखक ने लिखा है कि उसे यहाँ की लूट में 'सौ मूरतें चाँदी की और पाँच मूरतें सोने की' मिलीं थीं। उसने इस नगरी की प्रशंसा में एक पत्र के बीच गजनी के क़िलेदार को लिखा था कि 'इसके साथ का शहर दो सौ बरस की मिहनत में भी दूसरा तैयार होना कठिन है, हज़ारों इमारतें जिनमें बहुतेरी संगमर्मर की बनी है मुसल्मानों के मत की तरह मज़बूत हैं, और मन्दिरों की तो गिनती भी नहीं हो सकती'।

महमूद, हिन्दू जाति के नाश करने को काल स्वरूप था। उसने केवल मथुरा ही के मन्दिरों को नहीं, व्रज के अन्य स्थानों के देवालयों को भी जो अपने भग्न और विकल शरीर से अभी तक उसके अत्याचारों की गवाही दे रहे हैं, तोड़ डाला।

ऊजड़ मथुरा अभी पहिले की तरह बसने भी न पाई थी कि सन् १५०० ई० में सुलतान सिकन्दर लोदी इस पर चढ़ आया और इस पुरी को पूरी तरह लूटा। किन्तु हिन्दुओं ने फिर देवमन्दिरादिक से इसकी शोभा बढ़ा दी। इनको जैसा श्रीकृष्ण की जन्मभूमि को बसाने का आग्रह था वैसा ही मुसलमान बादशाहों को इसके उजाड़ने

का दुराग्रह था। और के। क्या कहें, जब शाहजहाँ जैसे नेक बादशाह ने भी सन् १६३६ ई० में मथुरा को देवपूजा बन्द करने के लिये एक गवर्नर नियत कर दिया!

मथुरा के पुराने मन्दिर तो महमूद ग़ज़नवी ने तोड़ ही डाले थे, पर पीछे से एक मन्दिर केशवदेव जी का छत्तीस लाख रु० लगा के राजा बोरसिंह देव ओर्छा वाले ने बनवाया था, उसे सन् १६६९-१६७० में औरंगज़ेब ने तुड़वा कर उसके मसाले से उसी जगह मसजिद बनवा दी जो अभी तक वर्तमान है। औरंगज़ेब की मथुरा पर चढ़ाई की खबर पाकर उदयपुर के महाराणा राजसिंह केशवदेव जी की मूर्ति अपने राज्य में ले गए थे। कहते हैं कि अब वहाँ श्रीनाथ जी के नाम से उसीकी पूजा हो रही है, वृन्दावन के गोविन्द देवजी का मन्दिर भी इसी समय औरङ्गजेब के हुक्म से तोड़ा गया।

सन् १७५६ में २५००० अफ़गानी घुड़सवारों के साथ एक तिहवार के समय यहाँ अहमदशाह दुर्रानी चढ़ आया और उसने बड़ी निर्दयता से लाखों निरपराध धर्म्मात्मा हिन्दुओं को गाजर मूली की तरह काट डाला और कई सहस्रों को बन्दी बना अपने साथ ले गया। भगवान की यह भी कोई लीला थी, जो ऐसे घोर पापियों का राज्य इतने दिन तक भारतवर्ष जैसे पवित्र देश में टिक गया नहीं तो ऐसे नरपिशाच नारकी जीवों का यहाँ क्या काम था।

जाट और मरहठे

मुसलमान बादशाही की दुर्बलता के समय मथुरा पर भरतपुर के जाट राजों का और मरहठों का भी कुछ दिन अधिकार रहा। दो चार साधारण मन्दिरों के बनवाने के सिवा उन्होंने मथुरा में कोई ऐसा काम नही किया जिसका यहाँ वर्णन करना उचित समझा जाय। सब के पीछे यहाँ अँग्रेज़ी राज्य हुआ जिसे हम वर्तमान मथुरा की उन्नति का हेतु कहें तो कुछ अनुचित न होगा।

मथुराजी की वर्तमान शोभा

मथुराजी की शोभा अब भी देखने योग्य है। इतनी बार उजाड़

होने पर भी इसकी सुन्दरता अतुलनीय है। अब भी यह "अर्द्धचन्द्र प्रतीकाशा यमुना तीर शोभिता" दर्शकों का चित्त आकर्षण करती है। लंबाई में यह काशी जितनी नहीं है, कुल डेढ़ मील लंबी है। किन्तु सुन्दरता में बढ़ी चढ़ी है। उस पार से बहुत सुन्दर दिखाई देती है। रेल में बैठा हुआ यात्री जब पुल पर से मथुराजी के दर्शन करता है तब इन्द्र की अमरावती का दृश्य उसकी आँखों के सामने आ जाता है और वह मन ही मन यह कहने लगता है कि जिसने इसको न देखा, उसने कुछ न देखा। चौमासे में इसकी अधिक शोभा होती है और महीनों में यमुना का प्रवाह बहुत घट जाने से वह बात नहीं रहती।

जन संख्या

इस साल की जन-संख्या के समय मथुरा में ६११९५ मनुष्य थे, अर्थात ३३२८४ पुरुष और ३०९११ स्त्रियाँ। जिनमें ४८७९५ हिन्दू, १०६२२ मुसलमान, ८०६ कृस्तान, ७३७ सिक्ख, २३४ जैन और एक पारसी था। मनुष्यसंख्या के अनुसार यह भारतवर्ष में ६० वां और पश्चिमोत्तर देश में १४ वां शहर है।

"मथुरा का दरवाजा"

मथुरा के चार दरवाजे कहे जाते हैं, जैसे कि वृन्दावन दर्वाजा, दीघ दरवाजा, भरतपूर दरवाजा और होली दरवाजा,। पहिले तीन अब खाली नाम ही नाम के हैं, किन्तु पिछला पत्थर का बहुत उत्तम दर्शनीय बना है। इसका दूसरा नाम 'हार्डिंगगेट' भी है। कारण कि जब मथुरा के हार्डिंग साहब कलेक्टर थे तब उनके समय में बना था। इस पर अनुमान तीन हजार की लागत का घण्टाघर भी है। इस दर्वाजे की कुल लागत १३७३१) रुपये की है। मुख्य प्रवेशद्वार (दर्वाजा) यही है।

सड़क

मथुरा की सड़क सब शहरों से निराली है। पत्थर के अच्छे-

अच्छे चोकों (पटिया) से पाटी हुई हैं। यह सड़क नग्नपद तीर्थ यात्रियों को गरमो के दिनो में तवे का और सर्दी के समय में बर्फ का काम देतो है। "होम करते हाथ जलना" इसी को कहते हैं।

मकान

मथुरा में बहुतेरे मकान और मन्दिर सुन्दर एवं पत्थर के बने हैं। अनेक मन्दिरों में पत्थर पर नक्काशी का दर्शनीय काम है। सब मकान मुड़ेरेदार प्राचीन ढंग के हैं।

यहाँ कपड़े लत्ते की बड़ी-बड़ी दुकानें, छापेखाने, स्कूल और शफाखाने हैं। नए ढंग की देशो कम्पनियों के विज्ञापन सब जगह दीवारों पर दृष्टिगोचर होते हैं। देशीय वस्तुओं का प्रमाणिकता से प्रचार कर यहाँ की "फ्रेण्ड एण्ड कम्पनी" ने नामवरी प्राप्त की है।

मथुरा के पेड़े और खुर्चन बहुत प्रसिद्ध हैं और सुस्वादु होते हैं। पूजा का सामान जिसकी कि तीर्थों पर आवश्यकता होती है बहुतायत से मिलता है।

मथुरा के चौबे

यहाँ के पंडे चौबे हैं। ये लोग बड़े हृष्ट पुष्ट, देखने में सुश्रीक और स्वभाव के बड़े मधुर एवं मिलनसार होते हैं। कटुवचन कहना वा उदास होना तो ये जानते ही नहीं। लड्डू पेड़े के प्रेमी और विजया के पूर्ण भक्त हैं। दण्ड पेलना, कुश्ती करना यही इनका नित्य कर्म्म है। 'जै जमुना मैय्या की' इसी पर चारों वेदों की समाप्ति है। लिखना पढ़ना बिलकुल नहीं जानते। खाना खूब जानते हैं। एक चौबे को चार पाँच सर लड्डू खाना और आधमन दूध पीना कोई बड़ी बात नहीं।

इनकी स्त्रियाँ भी सुन्दरी और स्वभाव को सुशीला तथा मधुरभाषिणी होती हैं। पहरावा उनका 'घाघरा, चोली और चद्दर है।' गीत इनके इतने मधुर, सुरुचि पूर्ण और कवित्वमय होते हैं कि और जगह के कवियों को उनसे शिक्षा मिल सकती है। आर्य्य सङ्गीत का पुराना ठाठ यहाँ देखने में आता है। यहाँ की भाषा को मधुरिमा तो

जगत् प्रसिद्ध है, उसके विषय में केवल यही वक्तव्य है कि मथुरा के चौबे और उनकी स्त्रियाँ तो उसी ब्रजभाषा को बोलती हैं जिसमें कविवर बिहारीलाल आदि ने कविता रचना की पर यहाँ के दूकानदारों और अन्य साधारण जनों की बोलचाल अब इतनी महाभ्रष्ट और विचित्र भाषा परिपूर्ण हो गई है कि उसका नामकरण भी हम नहीं कर सकते।

बन्दर

यहाँ के बराबर धूर्त बन्दर भी अन्यत्र नहीं होंगे। म्यूनिसिपालिटी ने बहुतों को पकड़वा कर वन में भेज दिया तथापि अभी तक संख्या में वे चौबों से न्यून नहीं हैं। हाट, बाट, घाट में जिधर देखिये बन्दर ही बन्दर रहते हैं। इनके भय से बेचारे हलवाइयों की मिठाई सन्दूक ही में बन्द रहती है हवा लगने भी नहीं पाती। यात्रियों को ये बहुत दुःख देते हैं, खाने की वस्तु छीन ले जायँ तो क्या सिर पर से पगड़ी, टोपी इत्यादि को भी उतार कर भाग जाते हैं, विशेषता यह है कि उसे शीघ्र ही नष्ट नहीं करते, कुछ देर तक रोटी इत्यादि की प्रत्याशा करते हैं। यदि खाने की वस्तु एक हाथ से दे दीजिये तो दूसरे में अपनी वस्तु ले लीजिये। बदमाश और निडर ऐसे हैं कि प्रति वर्ष दस पाँच मनुष्यों को छत से गिरा कर यमलोक में पहुँचा देते हैं। इनके भय से मथुरा के मकानों में सर्वत्र लोहे के गज या जँगले लगे रहते हैं। ऐसी रमणीय नगरी में बन्दर महाराज गुलाब में कांटे की तरह खटकते हैं।

कछुवे

मथुरा के कछुये भी देखने की चीज़ हैं। स्थल में जैसा बन्दरों का उत्पात है, वैसा ही यमुना जल में इनका। और जगह के लोगों से जैसे मथुरा के चौबे बड़े मिष्टान्न प्रेमी और स्थूलकाय होते हैं, वैसे ही ये भी हैं। उनमें और इनमें अन्तर इतना ही है कि चौबे किसी को व्यथा नहीं पहुँचाते और ये काट भी खाते हैं। चौबों की नाईं इनका भी प्रधान विश्रान्त घाट है।

मथुरा जी के मन्दिर

द्वारिकाधीश

मथुरा के सब मन्दिरों से इस समय द्वारिकाधीश का मन्दिर लागत और विस्तार में बहुत बड़ा है। इसके घेरे की लंबाई का अनुमान १.०८ फीट और चौड़ाई १२० फीट है। मन्दिर का दरवाजा पूर्वाभिमुख है। इसके भीतर सीढ़ियों द्वारा प्रवेश करना होता है। आँगन के बीच में मन्दिर है और उसके अगल बगल में दुमंज़िले मकान हैं। मन्दिर का लंबा चौड़ा जगमोहन कि जहाँ से द्वारिकाधीश जी की श्यामसुन्दर मनोहर मूर्ति का दर्शन होता है और जिसकी छत में अति सुन्दर चित्र चित्रित हैं, दर्शनीय है। दर्शकों की यहाँ बड़ी भीड़ रहती है। उत्सवों के दिनों में यहाँ की शोभा अपूर्व होती है। यह मन्दिर सन् १८१५ में ग्वालियर राज्य के खजानची पारिखजी ने बनवाया था और वल्लभकुल के गोस्वामियों के समर्पण किया था। इसलिए यहाँ वल्लभ सम्प्रदाय की रीति के अनुसार समय समय पर दर्शन और प्रसाद विक्रय इत्यादि सब कार्य होते हैं। मन्दिर के बनवाने में दो लाख रुपैये लगे हैं और इसके खर्च के लिए २५००० रुपैये वार्षिक की जायदाद लगी हुई है।

आज कल इसका प्रबन्ध कांकरौली के महाराज गोस्वामी श्रीबालकृष्ण लाल जी के हाथ में है।

गतश्रम नारायण

यह मन्दिर द्वारिकाधीश जी के दाहिने विश्रान्त घाट के पास है।

इसको सन् १८०० ईसवी में २५००० रुपये लगा कर प्राणनाथ शास्त्री जी ने बनवाया था। प्रबन्ध श्रीसंप्रदायस्थ श्रीवैष्णवों के अधीन है।

भैरवनाथ का मन्दिर

इसका दूसरा नाम सरव सुलतान भी है। यह लुहारों के मुहल्लों में है। विष्णुलाल खत्री ने दश सहस्र रुपये लगा कर इसे बनवाया है।

बलदेव जी का मन्दिर

सन् १८६५ में २५००० रुपये लगा कर खुशालीराम बोहरे ने कंसखार बाज़ार में इसे बनवाया है।

विजयगोविन्द

यह मन्दिर दतिया के विजयराम बोहरे ने मुहल्ले सतघरे में सन् १८३७ में बनवाया था। ६५००० रुपये लगे हैं।

राधाकृष्ण का मन्दिर

छत्ता बजार में है। इसके बनवाने वाले तेदखेड़ा (जिला जबलपुर) निवासी देवीचन्द्र बोहरे थे, जिन्होंने सन् १८७१ ई० में ४०००० रुपये लगा कर इस शुभ कार्य को पूरा किया।

मदनमोहन जी

रामगढ़ शेखावाटी के सेठ अनन्त राम जी इस मन्दिर के बनवाने वाले हैं। बीस सहस्र रुपये की लागत से सन् १८५९ में यह बना है। स्वामी घाट के पास है।

गोवर्द्धन नाथ का मन्दिर

यह मन्दिर द्वारिकाधीश के मन्दिर के पश्चात् मथुरा के संपूर्ण मन्दिरों से बड़ा हैं। इसमें दो आंगन हैं और दोनों के बगलों में दो-मंज़िले मकान हैं। पत्थर पर नक्काशी का उत्तम काम है। इसको बड़ोदरा राज्य के कामदार खुशाली बोहरे ने, जिसको लोग सेठ बापू भी कहते थे, सन् १८३० में बनवाया था।

बिहारी जी का मन्दिर

स्वामी घाट के समीप है। छक्कीलाल कन्हैयालाल साहूकार नीमच के पास महो के रहनेवाले थे। उन्होंने सन् १८५० ई० में २५००० रुपये लगा कर इसको बनवाया था। चौक और दरवाज़ा इसका भी उत्तम बना है।

गोविन्ददेव जी का मन्दिर

सुप्रसिद्ध मारवाड़ी सेठ रामगढ़ निवासी स्वर्गीय गुरसहाय मल्ल घनश्यामदास जी ने बनवाया है। मरुभूमि रामगढ़ का मोह छोड़

धर्म्मात्मा सेठ गुरुसहायमल जी सकुटुम्ब पुण्यभूमि मथुरा जी में रहते थे। उनकी देवभक्ति, ब्रह्मण्यता और वदान्यता केवल मथुरा ही में नहीं, दूर दूर तक प्रसिद्ध है। सन् १८५० ई० में सेठ जी ने यह मन्दिर और उसके पास ही कुटुम्ब के रहने के लिये हवेली भी बनवाई। गोविन्ददेव जी का सुन्दर मन्दिर पत्थर से बना है। नक्काशी का काम है। आंगन की एक ओर ऊंचा मुड़ेरेदार मन्दिर और तीन ओर दोमंज़िले मकान हैं। मन्दिर की ओर से सदावर्त्त भी बटता है। मन्दिर के बनवाने में अनुमान १०,००० रुपये लगे हैं। इस मन्दिर की देखा देखी कई और मारवाड़ियों ने मथुरा में मन्दिर बनवाने का हौसला किया।

गोपीनाथ जी का मन्दिर

सेठ गुलराज जगन्नाथ चुरूवाल (सीघानिये) ने स्वामी घाट पर तीस सहस्र रुपये लगा कर सन् १८६६ ई० में बनवाया था। इसकी बनावट भी गोविन्ददेव जी के मन्दिर के समान सुन्दर है।

उक्त मन्दिरों के अतिरिक्त दाऊ जी, मथुरानाथ जी, मदनमोहन जी, दीर्घ विष्णु, व्रजगोबिन्द जी इत्यादि देव विग्रहों के और भी अनेक दर्शनीय मन्दिर मथुरा शहर में हैं।

परिक्रमा में मन्दिर

यों तो मथुरा जी की परिक्रमा प्रत्येक एकादशी को होती है किन्तु श्रावण सुदी एकादशी के दिन दूर दूर के यात्री परिक्रमा करने आते हैं। परिक्रमा ५ कोस की है। विश्राम घाट से आरम्भ होती है और वहीं पर समाप्त।

विश्रामघाट से बलभद्रघाट, भोगघाट, प्रयागघाट, रामघाट, श्यामघाट, बङ्गालीघाट, सूर्यघाट पर होते हुए ध्रुवघाट पर पहुँचना होता है, जहाँ ध्रुव जी ने तप किया था। यहाँ एक टीले पर छोटे से मन्दिर में ध्रुव जी की मूर्ति है और घाट पर यात्रीलोग पिण्डदान करते हैं। ध्रुव टीले से चल कर मोक्ष तीर्थ और सप्तर्षियों का टीला मिलता है।

यहाँ से जमुना जी छूट जाती हैं और रास्ता दाहिने हाथ को घूमता है। आगे में राजा बलि का टीला और रावण का टीला, जहाँ उन दोनो ने तप किया था, मिलते हैं। रेलवे सड़क के पास एक टीले पर कृष्णकुब्जा के दर्शन करने के पश्चात् रङ्गभूमि में रङ्गेश्वर महादेव का मन्दिर मिलता है। रङ्गभूमि सचमुच रङ्गभूमि है जिधर दृष्टि जाती है उधर ही यहाँ भीमसेन के समान बलवान चौबे पहलवान दिखाई देते हैं। एक बड़े शिवलिङ्ग पर रङ्गेश्वर महादेव का विशाल मुखमण्डल बना हुआ है। दर्शन अच्छे हैं।

भूतेश्वर महादेव

व्रज में महादेव जी के चार मन्दिर मुख्य हैं। यथा-कामा में कामेश्वर, गोवर्धन में चक्रेश्वर, वृन्दावन में गोपेश्वर और मथुरा में भूतेश्वर। काशी में जिस प्रकार भगवान् विन्दु माधव शिवपुरी के रक्षक कहे जाते हैं, ठीक उसी प्रकार इस विष्णुपुरी में भूतेश्वर माने जाते हैं। इस मन्दिर का मरहठों ने जीर्णोद्धार करवाया। एक ही जलहरी में संगमेश्वर शिवलिङ्ग और मार्बल के भूतेश्वर शिवलिङ्ग हैं। बाराह पुराण में लिखा है कि मथुरा के क्षेत्रपाल भूतेश्वर महादेव हैं। उनके दर्शन न करने से तीर्थयात्रा निष्फल है।

लिङ्ग में शिव जी की सुन्दर मुखाकृति भी बनी है। यह मन्दिर दिल्ली वाली पक्की सड़क के पास है। इसके समीप ही 'बलभद्रकुण्ड' है।

पोतरा-कुण्ड

भूतेश्वर के आगे भगवान् श्रीकृष्ण की जन्मभूमि के निकट पत्थर का एक उत्तम सरोवर है जिसका नाम पोतराकुण्ड है। कहते हैं कि श्रीकृष्ण के जन्मसमय के पोतरे (बालक के बिछौने) यहाँ धोये गये थे, इसलिए इसका नाम पोतराकुण्ड हुआ। यदिच, ऊपरी दृष्टि से यह सरोवर उतना सुन्दर नहीं लगता और न यहाँ कुछ रवन्नक ही है, किन्तु जरा ध्यान देने से प्रतीत होता है कि यह साधारण सरोवर नहीं है। चारों ओर से झुके हुए सघन वृक्ष और

ब्रज की लहलही लताएं इसकी रमणीयता बढ़ाने के लिए मानों यहाँ आजमी हैं। किसी समय ग्वालियर के महाराज ने इस वृद्ध सरोवर को पत्थर से बनवाया था, इसके नीचे बहुत सी कोठड़ियों, तीन ओर की विस्तृत सीढ़ियाँ, एक बगल में गोघाट तथा कई जनाने घाट हैं और ऊपर ऊँची दीवार है। जल इसमें कम ठहरता है। सन् १८५० ई० में ग्वालियर के किसी कामदार ने इसकी मरम्मत करवाई थी। यदि इसको नहर के जल से भरवाया जाय और मथुरा की म्युनिसीपालिटी इसकी सफ़ाई पर विशेष ध्यान रक्खे तो इसमें संदेह नहीं कि ब्रज में अपने ढंग की यह भी एक ही दर्शनीय वस्तु है। इस कुण्ड के ऊपर कंस का कारागृह कहा जाता है, वहीं पर भगवान् की जन्मभूमि है।

केशवदेव जी का मन्दिर

पोतराकुण्ड के पास ही केशव देव जी का नवीन मन्दिर है। मन्दिर नवीन है और बना भी कुछ ऐसा ही है; किन्तु जिस स्थान पर यह बना है, वह मथुरा में सब से पुराना और यहाँ के सब देवमन्दिरों में माननीय है। दुरात्मा औरंगजेब ने केशवदेव जी के पुराने मन्दिर को तोड़ उसके मसाले से वहाँ पर मसजिद बना दी है, उसके नीचे सङ्कुचित भाव से कंसदर्पापहारी केशव जी विराजमान हैं! "कष्टं कालस्य चेष्टितम्।"

महाविद्या देवी का मन्दिर

जन्मभूमि से बहुत दूर तक एक ऊँचे टीले पर शिखरदार मन्दिर में महाविद्या, महामाया और महामेधा की मूर्तियाँ हैं। ४० या ५० सीढियों पर चढ़ कर मन्दिर में पहुँचते हैं। कहते हैं कि वर्तमान मन्दिर को अठारहवीं शताब्दी के अन्त में पेशवाओं ने बनाया था। यहाँ बंदर बहुत रहते हैं और झाड़ियाँ भी बहुत हैं। बौद्धों के समय मथुरा इधर ही बस्ती थी। एक बार यहाँ खोदने से बुद्ध देव की मूर्तियाँ मिली थीं। देखने से प्रतीत होता है कि भगवती महाविद्या अनेक मूर्तियों को दबाए विराज रही हैं। चैत सुदी ८ मी और कार सुदी ८ मी को यहाँ बड़ा मेला लगता है।

गोकर्णेश्वर महादेव

वृन्दावन जाने वाली पक्की सड़क पर एक लंबा टीला मिलता है जिसको मथुरा वाले कैलास कहते हैं। यहाँ गोकर्णेश्वर महादेव का मन्दिर है। ऊपर के मन्दिर में तीन हाथ ऊँची एक बड़ी विशाल और विलक्षण शिव मूर्ति है। बड़ी बड़ी आँखें, लंबे लंबे बाल और दाढ़ी मूछ है! एक हाथ में खप्पर और एक हाथ में फूल का गुच्छा! मूर्ति बहुत पुरानी है। पास ही ताखों में डेढ़ फुट की दो और मूर्तियाँ हैं जिनको लोग सती और पार्वती कहते हैं। यहीं पर गौतम की समाधि है और इधर उधर अनेक प्रकार की अद्भुत मूर्तियाँ पूजी जा रही हैं। मूर्तिरहस्य का जानने वाला यदि कोई पुरातत्ववित् यहाँ आवे तो उसे कल्पना के लिए बहुत कुछ सामग्री मिल सकती है।

कैलास गिरि से आगे सड़क की दूसरी ओर रामलीला का मैदान है। इसके पास सरस्वती कुण्ड है, जो नाप में १२५ फुट वर्गात्माक है।

अम्बरीष का टीला

गोकर्णेश्वर से थोड़ी दूर चक्रतीर्थ में राजर्षि अम्बरीष का टीला है। यह ७० फुट ऊँचा है, लोगों की समझ में यहाँ बहुत धन गड़ा हुआ है। कहते हैं कि दुर्वासा के कोप से सुदर्शन चक्र ने यहीं पर उक्त राजर्षि की रक्षा की थी। अब यहां महाबीर जी की मूर्ति है। इससे आगे सरस्वती सङ्गम मिलता है।

जयसिंहपुर खेड़ा

सरस्वती सङ्गम के सन्मुख जयसिंहपुर खेड़ा है। यहां किसी दर्शनीय इमारत के न होने पर भी यह खेडा कङ्काली टीले के समान पुरातत्वदर्शियों के देखने योग्य है। हम कह चुके हैं कि एक समय मथुरा में बौद्धों का पूरा आधिपत्य होगया था* खेड़ा इसी विषय

*सन् ४०० ई० में चीन का प्रसिद्ध यात्री फाहियान मथुरा में आया था। पंजाब से ६० योजन दक्षिण-पूर्व यमुना (पौना) तट पर भ्रमण करता हुआ फाहियान मथुरा में पहुँचा। फाहियान ने लिखा है कि—"इस नगरी के निकट

में साक्षीभूत है। इसमें से बौद्धमत की बहुत सी मूर्तियां खोद खोद कर निकाली गई हैं और कौन जाने कि अब इसके नीचे कितनी प्रतिमाएं दबी पड़ी हैं।

कंस का क़िला

यह किला बादशाह अकबर के समय फिर से बनाया गया। उस समय जयपुर के महाराज मानसिंह इसमें आकर रहा करते थे। यहाँ से मथुरा नगरी और यमुना तट का दृश्य बड़ा सुन्दर दीखता है। शाही समय में इसकी इमारत भी दर्शनीय होगी पर अब तो बीरान पड़ी है। पूर्व और उत्तर में कई पुश्ते और ईंटों को खड़ी

आने से यमुना नदी के दोनों तटों पर कई सौ सङ्घालय (विहार) दिखाई देते हैं। इन सब सङ्घालयों में न्यून से न्यून तीन सहस्र सन्यासी वास करते हैं। यहाँ पर अब तक बौद्ध धर्म्म का अत्यन्त आदर है। तीर्थ दर्शन की कामना से बहुत से राजा महाराजा बहुत बहुत दूर से मथुरा में आकर मुकुट उतार कर बुद्धदेव की पूजा और सन्यासियों को अपने हाथ से भोजन देकर उनके साथ धर्म्मालोचन करते हैं। नगरनिवासी पापासक्त नहीं समझे जाते इसलिए यहाँ दण्ड की कोई व्यवस्था नहीं है। अर्थदण्ड और दक्षिण हस्तच्छेदन ही पाप का बड़ा दण्ड है। यहाँ के रहने वालों में एक श्रेणी के लोग हैं जो अस्पृश्य हैं, वे चण्डाल (चेन-छा-लो) के नाम से प्रसिद्ध हैं। बाजार में वा नगरी में भ्रमण के समय चण्डाल घंटा बजाते चलते हैं, तब नगरनिवासी छुए जाने के भय से उनसे दूर हट जाते हैं। यहाँ मुद्रा के बदले कौड़ियों का चलन है।"

आनन्द, सारिपुत्र और मौद्गल्यायन के नाम पर यहाँ तीन स्तूप थे, इसके अतिरिक्त अभिधर्म्म में व्युत्पन्न बौद्ध लोग अभिधर्म्मालय में और अन्यान्य बौद्ध लोग मंजुश्री और 'प्रज्ञापारमितालय' में पूजा करने जाया करते हैं।

इससे स्पष्ट अनुभूत होता है कि फाहियान के तीर्थयात्राकाल में अर्थात् ईसा की पञ्चम शताब्दि के आरम्भ में मथुरा में हिन्दू धर्म्म की अपेक्षा बौद्ध धर्म्म का अधिक प्रादुर्भाव था। इसके पीछे जो चीन के और यात्री ईसा की अष्टम वा नवम शताब्दि में आए थे वे कहते हैं कि उनके समय में भारतवर्ष में बौद्ध धर्म्म की अपेक्षाकृत हीनावस्था है, यहाँ तक कि अनेक देवालय मिट्टी में मिल चुके थे। ईसा की बारहवीं शताब्दी में बौद्धधर्म्म-भारत से अन्तर्हित हुआ और सनातन हिन्दू धर्म्म का एकाधिपत्य स्थापित हुआ।

दीवार है। पूर्व की दीवार अनुमान २२५ फोट लंबो और ५० फोट से कम ऊँची है और उत्तर अर्थात् यमुना तट की दीवार ७५ फीट ऊँची होगी। पूर्व में बंद किया हुआ एक फाटक और एक गुफा का द्वार है। पश्चिम और दक्षिण की ओर दीवार नहीं है। ईंटों का पुराना कूप है। दोनों ओर यह टीले के समान थोड़ा ऊँचा है। ऊपर चढ़ने पर दो चार टूटे फूटे घरों के चिह्न और लाल पत्थर के पांच सात पुराने मेहराव और पत्थर ईंटों के टुकड़े वहाँ दृष्टि-गोचर होते हैं। पश्चिम की ओर एक छोटे मन्दिर में कालेश्वर महादेव और कालभैरव की मूर्तियां स्थापित की गई हैं। यहाँ से आगे वसुदेव घाट, वैकुण्ठ घाट, गौ घाट, असिकुण्डा घाट तथा सेठ साहब की हवेली है।

सती बुर्ज

विश्रान्त घाट से थोड़ी दूर दक्षिण की ओर ५५ फीट ऊँची चौकोर लाल पत्थर की बुर्जी सो सती बुर्ज की पुराने ढंग की इमारत है।

यह आंबेर (जयपुर) के राजा भगवानदास की माता तथा राजा भरमल की पतिव्रता धर्मपत्नी के सहमरण का स्मारक है। सन् १५७० ई० में राजा भागवान दास ने बनवाया था।

मथुरा में मसजिद

मसजिद भो मथुरा में दो बहुत बड़ी हैं, एक औरंगजेब को और दूसरी अबदुलनबी खां को। पहली मसजिद नगर के बाहर केशव देव जी के प्राचीन मन्दिर के मसाले से ८०४ फीट लंबे और ६५३ फीट चौड़े चबूतरे पर लाल पत्थर की सन् १६६९ में औरंगजेब ने बनवाई है। यहाँ पर एक जगह नागरी अक्षरों में संवत् १७१३ १७२० खुदा हुआ है। यहाँ वाले इस मसजिद को "कटरा" कहते हैं। यह एक ऊँचे टीले पर जिसके चारो ओर सराय जैसा ईंटों को इमारत का घेरा है और लक्षणों से जो बहुत प्राचीन प्रतीत होता है, बनी है, इसलिए कोसों से दिखाई देती है, टीला भी यह प्राचीन

है। यहाँ से एक यूरोपियन महाशय को एक ऐसा पत्थर मिला था जिस पर गुप्त वंश के नियत करने वाले श्रीगुप्त से समुद्रगुप्त तक्क गुप्तकुल की वंशावली लिखी हुई थी और बुद्ध की प्रतिमा के नीचे संवत् २८१ खुदा हुआ था।

दूसरी मसजिद शहर के भीतर चौक में है और देखने में बड़ी सुन्दर है। इसका आंगन सड़क से १४ फीट ऊंचा है। मसजिद के ४ मीनार १३२ फीट ऊंचे और सुन्दर चित्रों से मनोहर बने हैं। नीचे दुकाने हैं। फाटक के दोनों बगलों में सन् १६६०-१६६१ ई० का फारसी लेख है। यहाँ वाले इसे जमा मसजिद कहते हैं।

पवित्र मथुरा पुरी के वक्षस्थल पर लक्ष्मीकान्त का मंदिर न होकर यवनों की एक मसजिद का होना उनके समय की याद दिलाता है।

मथुरा के घाट

पवित्र नदियों के तटों पर हिंदुओं की जितनी प्राचीन नगरियां हैं, उनकी शोभा से मथुरा जी के घाटों की शोभा किसी प्रकार न्यून नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि घाटों की शोभा काशी जी में भी विलक्षण है, किन्तु उसमें एक यह दोष है कि जब ग्रीष्म के समय भागीरथी जोरों पर नहीं होती तब वाराणसी अनावृत सुन्दरी के समान लगने लगती है। सैकड़ों सीढ़ियों के नीचे पड़ी हुई गङ्गा और तट के वेढङ्गे करारे चित्त को तादृश आनंद नहीं देते। पर मथुरा के घाटों का सिलसिला एक सिरे से दूसरे तक मिला हुआ है, काशी के समान जहाँ तहाँ से छिन्न नहीं। दूसरे ग्रीष्म ऋतु में कालिन्दी के अल्पप्रसरा होने पर भी शोभा घटती नहीं। घाटों की न उतनी सीढ़ियां हैं और न वैसी ऊंचाई ही है। जो हो। यों तो मथुरा में ३० से अधिक घाट हैं, पर मुख्य घाट २४ हैं। १२ घाट उत्तर दिशा में हैं और १२ दक्षिण में। उत्तर के घाटों के नाम यह हैं—१ गणेश घाट २ मानस घाट ३ दशाश्वमेध घाट ४ चक्र तीर्थ घाट ५ सोम तीर्थ घाट या वसुदेव घाट ६ ब्रह्मलोक घाट ७ घंटाभरण घाट ८ राधापतन घाट

९ संगम तीर्थ घाट १० नव तीर्थ घाट ११ असकुण्डा घाट और १२ कृष्णगङ्गा घाट।

दक्षिण दिशा के घाटों के नाम इस प्रकार हैं,—१ अविमुक्त घाट २ विश्रान्त घाट ३ प्रयाग घाट ४ कनखल घाट ५ तिंदुक घाट ६ सूर्य घाट ७ चिन्तामणि घाट ८ ध्रुव घाट ९ ऋषि घाट १० मोक्ष घाट ११ कोटि घाट और १२ बुद्ध घाट।

बहुत से मथुरा के पण्डित इन २४ घाटों में से विश्रान्त घाट को अलग करने के लिए बलभद्र घाट और जोग घाट का और नाम लेते हैं। अस्तु इन घाटों में कई घाट दर्शनीय हैं। उनमें पत्थर की ऐसी अच्छी कारीगरी है कि जो अन्यत्र बहुत ही दुर्लभ है।

विश्रान्त घाट

इसको विश्राम भी कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने कंस को मार कर यहाँ विश्राम किया, इसलिए इसका नाम विश्राम घाट हुआ। यह घाट सब घाटों में मुख्य है, इसका माहात्म्य सब घाटों से अधिक है। बारहों महीने यहां मेला सा लगा रहता है। प्रातःकाल के समय सैकड़ों माथुर ब्राह्मण यहां बैठे पूजा पाठ क्रिया करते हैं। "जप" और आशीर्वादात्मक शब्द यहां सदा चित्त को प्रफुल्लित करते रहते हैं। इस घाट पर पत्थर का फरस और पत्थर की सीढ़ियां हैं। बीच में पत्थर की तीन तुला बनी हुई हैं, जिस महाराज ने यहाँ आनकर जब स्वर्णतुला का दान किया तभी उसने एक पत्थर की तुला बना दी। यह दर्वाजे के समान बनी है और उनके बीच में घंटा लटकता है। सायङ्काल के समय जब यहाँ यमुना जी की आरती होती है तब बहुत आनन्द होता है। एक बहुत बड़ी आरती को जो एक बड़े बलवान चौबे के दोनो हाथों से कठिनता के साथ उठती है और जिसमें सैकड़ों बत्तियां जला करती हैं, एक शुभ्र, एवं पूजोचित वेश-धारी पुजारी ज्योंही वेदी पर ऊंची उठाता है त्योंही घण्टा बजने लगते हैं और उपस्थित दर्शक वृन्द पुष्प वृष्टि के साथ जय जयकार करने लगते हैं। इस शोभा को देखने के लिए नावों पर सवार हो

इतने आदमी उपस्थित हो जाते हैं कि यमुना के प्रवाह में गाससा बसा दिखाई देता है। यहाँ कछुवे बहुत बड़े बड़े रहते हैं। नवीन यात्री को देखने से भय मालूम होता है। यात्री लोग इनको चने और मिठाई डाला करते हैं। कार्तिक शुक्ल यमद्वितीया के दिन इस घाट पर यमुनास्नान करने के लिए प्रतिवर्ष भारत के सब प्रदेशों से लाखों यात्री आया करते हैं।

जमना बाग

मथुरा में सेठ जी का यमुना बाग भी देखने लायक है। यमुना के किनारे और सदर बाजार के सामने है! बाग की सुन्दर रचना बड़ी ही मनोहर है। इसमें सेठ जी की एक कोठी और दो छतरी बनी हुई हैं, एक सेठ पारिख जी की और दूसरी सेठ मनीराम जी की। इनमें पत्थर का कटाव मथुरा के सब स्थानों से अच्छा है, छतरियों के मध्यभाग में सुन्दर शिवलिङ्ग प्रतिष्ठित किया गया है और उनकी प्रति दिन पूजा होती है। पुराने वैष्णव अपने श्मशान में ही भगवान् भूतेश्वर को स्थान देते थे! जमना बाग से सटा हुआ एक और बड़ा बाग है पर वह इतना सुन्दर नहीं है।

गिरजाघर

ईसाइयों के किसी गुरु ने सम्मति दी थी कि हिन्दुओं के तीर्थ स्थानों में बड़े बड़े प्रभावशाली गिरजाघर बनाये जायँ तो यहाँ वालों पर ईसाई धर्म्म का अधिक प्रभाव पड़े। उसी योजना के अनुसार भगवान् द्वारिकाधीश के मन्दिर के निकट एक बड़ा गिरजाघर बनाया गया है! यह अंगरेजी ढंग की बहुत बड़ी इमारत है। इसमें संगमर्मर का तख्त है। यहाँ घंटा इतना बड़ा और आवाज़दार है कि समस्त मथुरा में सुन पड़ता है। ईसाइयों के बालक बालिका दलबद्ध हो गाते हुए यहाँ पढ़ने आते हैं। अबदुलनबीखाँ की मसजिद के समान यह गिरजा भी मथुरा की छाती पर खूब ही बना है।

मथुरा के मेले

ऐसा एक भी महीना नहीं, जिसमें मथुरा वृन्दावन में कोई न

कोई त्योहार वा मेला न होता हो। ब्रज सदा ही उत्सवमय है, फिर उसकी राजधानी का तो कहना ही क्या? चैत्र से फाल्गुन तक बराबर मेले होते हैं। तथापि श्रावण और फाल्गुन में यहाँ अधिक आनन्द है। श्रावण में झूले पड़ते हैं, मन्दिरों में भगवान् के दर्शन और झूलों की कारीगरी देखते ही बन आती है। सोने चाँदी आदि धातुओं के बहुमूल्य हिंडोलों के सिवा प्रतिदिन पत्रपुष्पों के ऐसे ऐसे हिंडोले बनाये जाते हैं कि जिनके सामने रत्नजटित हिंडोले भी मात हैं। लाखों यात्री इस समय यहाँ आते हैं, गाने बजाने और रास आदि की धूम से इस समय मथुरा भरभूर रहती है। फाल्गुन में होली के उत्सवों की भी बड़ी धूम होती है। इसके अतिरिक्त कार्तिक में यहाँ का अन्नकूटोत्सव भी दर्शनीय है। मिठाई, पकवान और व्यञ्जन आदि की उस समय मन्दिरों में प्रदर्शनी होती है।

मथुरा के वैष्णव

मथुरा में वैष्णवों का राज्य कहा जाय तो भी अत्युक्ति नहीं है। घाट में बाट में जहाँ देखिये वहीं वैष्णव। वैष्णव भी यहाँ सब प्रकार के हैं। श्रीवैष्णव, माध्व वैष्णव, निम्बार्क वैष्णव और पुष्टिमार्गीय वैष्णव। फिर वैष्णवों के उपभेद जैसे राधारमणीय, राधावल्लभीय आदि भी बहुत हैं। श्रीसम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी श्रीरामानुजाचार्य हुए जो बारहवीं शताब्दी में थे। इस सम्प्रदाय के दो भेद हैं एक 'तिङ्गल' दूसरे 'बड़गल'। सेठ जी का घराना इसी सम्प्रदाय का शिष्य है। वृन्दावन में तो इनका जगत्प्रसिद्ध श्रीरंगमन्दिर ही है पर मथुरा जी में भी गतश्रम आदि के कई मन्दिर इनके अधीन हैं। माध्व वैष्णवों का कोई उल्लेख योग्य मन्दिर तो नहीं है, पर दर्शन उनके भी यहाँ होते हैं। यदि गौड़ीय सम्प्रदाय को माध्व वैष्णवों ही का भेद मानें तब तो यह कहना पड़ता है कि मथुरा वृन्दावन में इनके मन्दिर भी अनेक हैं। शिष्य भी और वैष्णवों से कम नहीं हैं।

निम्बार्क सम्प्रदाय के वैष्णवों का मन्दिर ध्रुव टीले पर है, इस मत के साधू महात्मा ब्रज में बहुत मिलते हैं। इस सम्प्रदाय के वैष्णव

सीधे सच्चरित्र और महानुभाव होते हैं पर अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा इनमें निज मत की पुस्तकों और विभूति का दारिद्रय है।

पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक विष्णु स्वामी थे और उसके प्रसिद्ध आचार्य वल्लभ हुए। वल्लभाचार्य्य जी की सम्प्रदाय के मन्दिर द्वारिकाधीश जी और गोवर्धन नाथ जी आदि के मथुरा में बहुत से हैं। गोस्वामी लोग जो इस सम्प्रदाय के गुरु हैं बड़े श्रीमान् और भाग्यवान् हैं। इनका ठाठ जगत् के समस्त धर्म्मगुरुओं से निराला है। इस सम्प्रदाय में गुरु की गद्दी शिष्य को नहीं मिलती। वल्लभाचार्य जी का कुल ही गुरुकुल है। मथुरा में कई गोस्वामी महाराज हैं, जिनके यहाँ इस सम्प्रदाय की रीति के अनुसार खूब धूमधाम से भगवान् का भोगराग होता है। इन पर भगवती वीणापाणि की न सही, जगज्जननी कमलालया की अति कृपा है।

राधारमणीय वैष्णव, गौड़ीय सम्प्रदाय के हैं, जिसके चलानेवाले बंगाल में महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्य हुए, इनका चरित बङ्गभाषा के पद्य-मय ग्रन्थ "चैतन्य चरितामृत" में विस्तार पूर्वक लिखा है। इस सम्प्र-दाय का मथुरा वृन्दावन में बड़ा जोर है इसमें सहस्रों नायक हैं जो प्रत्येक अपने को निज जाति वा सम्प्रदाय का मुखिया मानता है! चैतन्य स्वामी के सहचर अद्वैतानन्द और नित्यानन्द थे, जो पीछे महाप्रभु कहलाए।

राधावल्लभीय

सम्प्रदाय स्वामी हरिदास जी ने स्थापित किया है। उक्त स्वामी जी के कुल में पाँच छः सौ मनुष्य हैं। ये सब राधावल्लभीय गोस्वामी कहलाते हैं। वृन्दावन में बाँकेबिहारी जी का मन्दिर इसी सम्प्रदाय का है। उक्त दोनों सम्प्रदाय के गोस्वामी गौड़ ब्राह्मण हैं।

मथुरा के सेठ

मथुरा के सेठ जगत्प्रसिद्ध हैं। इस कुल में उदारचरित, भगव-द्भक्त, गुणग्राही अनेक पुरुष हो चुके। इनकी प्रसिद्ध कोठी सेठ मनीराम लक्ष्मीचंद की कोठी के नाम से विख्यात है। इसके संस्थापक

एक पुष्टिमार्गीय भाटिया वैश्य थे, जिनका असली नाम गोपालदास था पर प्रसिद्ध पारिख जी के नाम से थे। वह ग्वालियर राज्य में खजानची थे। स्वयं निःसंतान थे और भाई से विरोध था। अतएव अपनी कुल सम्पत्ति लेकर मथुरा चले आये और उसका उत्तराधिकारी सेठ मनीराम को बना दिया। इनकी मृत्यु सन् १८३९ ई० में हुई। पुत्र तीन थे, लक्ष्मीचंद, राधाकृष्ण और गोविंददास। पिता की मृत्यु के पीछे बड़े पुत्र सेठ लक्ष्मीचंद सम्पत्ति के अधिकारी और बड़े भाग्यशाली हुए। पहिले इस वंश का जैनधर्म्म था। सुप्रसिद्ध स्वामी रङ्गाचार्य्य के उपदेश से सेठ राधाकृष्ण जी श्रीवैष्णव हुए। तब से यह घराना आज तक वैष्णव चला आता है। वैकुण्ठवासी राजा श्रीलक्ष्मणदास जी इस घराने में अन्तिम प्रतापी सेठ हुए। अब उनके दो कुमार हैं। भगवान् उनको ऐसी सद्बुद्धि दे कि वे अपने लुप्तगौरव का जीर्णोद्धार करें।

मथुरा में एक दूसरा घराना भी है। इसके संस्थापक सेठ गुरुसहाय मल जी रामगढ़वाले थे। यद्यपि सेठ लक्ष्मीचंद वालों की विभूति मथुरा में बहुत बढ़ी चढ़ी थी तथापि धर्मानुष्ठान, ब्रह्मण्यता तथा अतिथिसेवा में इस घराने ने सब को लज्जित कर दिया। मथुरा में जितने ब्राह्मण पण्डित आये सब का सेठ गुरुसहाय मल जी ने यथायोग्य सत्कार किया और पीछे उनके उत्तराधिकारियों में भी इस कुल में सेठ जयनारायण और सेठ लक्ष्मीनारायण प्रभृति अनेक महाभाग पुरुष हो चुके। इस समय सेठ राधाकृष्ण जी अपने बड़े वंश की बड़ी बात बना रहे हैं।

सुना है कि एक मथुरा में कोई डीघवाले और भी सेठ कहलाते हैं पर हमको उनके धर्मानुष्ठान का कुछ पता नहीं है। इन सेठों के सिवा ब्राह्मणों में जोशी बाबा का घराना भी विशेष आदर का पात्र है।

ब्रजमण्डल

मथुरा के आस पास ८४ कोस का घेरा ब्रजमण्डल कहलाता है।

व्रज यात्रा वा व्रज की परिक्रमा भाद्रपद कृष्ण ११ शी से प्रारम्भ होती है। इसी मास में गोकुलस्थ गोस्वामियों की यात्रा भी बड़ी धूम से होती है। व्रज में १२ बन, २४ उपबन, ५ पर्बत, ४ सरोवर, ११ कूप, ८४ कुण्ड, ३ ताल, २ राधा जी के स्थान, ७ बलदेव जी, के ९ देवी के और १० महादेव के कहे जाते है। इनमें से कुछ लुप्त भी हो गए हैं। सावन में व्रज के समान मनभावन स्थान और नहीं है। स्त्री पुरुष छोटे बड़े सब लोग वृक्षों में वा घरों में अपने झूलने के लिए झूला डालते हैं। इस समय व्रजाङ्गनाओं के गीत भी अति मधुर होते हैं। फाल्गुन में बरसाने की फाग भी दर्शनीय होती है।

व्रजभाषा

मथुरा में व्रजभाषा की मिट्टी खराब है। चौबे और कुलाङ्गनाओं को छोड़ कर लोग निजभाषा को त्याग उर्दू मिश्रित एक ऊटपटाँग खिचड़ी भाषा बोलते हैं। एक समय जहाँ की मधुर भाषा की मधुरिमा शेख सादी के चित्त को चुराती थी, आज वहाँ के लोग भ्रष्ट उर्दू की ओर चलचित्त हो रहे हैं! जो हो, मथुरा की स्त्रियाँ शुद्ध व्रजभाषा बोलती हैं और देहाती लोग भी अपने ढंग से उसीको बर्ताव में लाते हैं। व्रजभाषा का मुहाविरा इतना सुरुचि सङ्गत और रसपोषक है कि उसके समक्ष संस्कृत को भी हार माननी पड़ती है। व्रज की बोलचाल और वेशविन्यास में हिन्दूभाव स्थायी रहता है।

मथुरा का ज़िला

आगरा डिवोजन के पश्चिमोत्तर मथुरा जिला है। इसके उत्तर में गुरगाँव ज़िला और पश्चिमोत्तर में अलीगढ़ जिला, पूर्व में अलीगढ़ और एटा जिले, दक्षिण में आगरा ज़िला और पश्चिम में भरतपुर राज्य और पञ्जाब का गुरुगांव जिला है। जिले का क्षेत्रफल १४५२ वर्ग मील है। यह जिला यमुना के दोनों ओर है। दक्षिण और पश्चिम कोण में पहाड़ियाँ हैं। इनमें २०० फीट से अधिक कोई ऊंची नहीं हैं। जिले की साधारण ऊंचाई समुद्र जल से ६२० फोट से ५६६ फीट तक हैं। जिले के आधे पूर्वी भाग में माठ, महाबन और सैदाबाद की

तहसीलें और पश्चिम के भाग में जिसमें यमुना है, कोसी, छाता और मथुरा की तहसीलें हैं। हाल के समय तक सम्पूर्ण मथुरा ज़िले में जंगल और घास लगी हुई थी। बहुत से गाँव अभी तक उपवन और कुञ्जों से घिरे हुए हैं। सन् १८३७-३८ ई० के अकाल में सड़कों के बनने से व्रज के बहुत से बड़े हिस्से अब साफ हो गए हैं। ज़िले के प्रायः सारे जंगल में जलाने योग्य लकड़ी हैं। ज़िले के क्षेत्रफल के २० वें भाग में अब उपवन हैं। ज़िले की पश्चिमी सीमा के भीतर बरसाने और नन्दगाँव के पास पत्थर की खाने हैं, जहाँ से पुल और नहरों के काम के लिये पत्थर जाता है।

औसत् ५० फीट ज़मीन में नीचे पानी है। ज़िले के पश्चिमोत्तर में किसी किसी जगह में ५० फीट से ६२ फीट तक नीचे पानी है। कूप बनाने में ख़र्च अधिक पड़ता है। आगरा नहर से पानी की सिंचाई होती है। ज़िले की प्रधान फसिल—तंबाकू, ऊख, चना, कपास, बाजरा, ज्वार और गेहूँ हैं।

इस वर्ष की मनुष्यगणना के समय मथुरा ज़िले में ७१३१२९ मनुष्य थे अर्थात् ३८२७७७ पुरुष और ३३०३५२ स्त्रियाँ। निवासी प्रायः हिंदू हैं। समस्त मनुष्यसंख्या में लगभग १६०० जैन और बारहवें भाग में मुसलमान हैं। ब्राह्मण, जाट और चमार तीन जातियाँ बहुत हैं। इनके बाद राजपूत और बनियों के नम्बर हैं।

मथुरा ज़िले में ७ क़सबे हैं इनमें भी कई देखने योग्य मन्दिर हैं।

अहिंसा

व्रज में मद्यमांस से बड़ी घृणा है। नीच जाति के हिन्दुओं के अतिरिक्त और कोई हिन्दू छूता तक नहीं। काली और चण्डी के स्थानों में जीवों का बलिदान नहीं होता। व्रज में शिकारी शिकार नहीं खेल सकता। मयूर और हरिण आदि पशु पक्षियों पर हथियार चलाना बिल्कुल मना है। इसलिए व्रज के बन उपबनों में बहुधा इनके गोल दृष्टिगोचर होते हैं।

उक्त लेख पर एक प्रतिवाद छपा था उसका आवश्यक अंश इस प्रकार है। सुदर्शन की गत संख्या में सप्तपुरियों के प्रसङ्ग से जो मथुरा का वृत्तान्त

दिया गया है उसमें कई भूलें रह गई हैं, आशा है कि आप उसको सुधार कर सत्य और इतिहास का उचित सम्मान करेंगे।

यह ठीक नहीं कि—

"औरंगज़ेब की मथुरा पर चढ़ाई की ख़बर पाकर उदयपुर के महाराणा राजसिंह, केशवदेव जी की मूर्ति अपने राज्य में ले गये थे। कहते हैं कि अब वहाँ श्रीनाथ जी के नाम से उसीकी पूजा होती है"।

कारण कि, औरंगज़ेब की चढ़ाई के समय मथुरा के भगवान् केशवदेव जी और गोवर्धन के हरदेव जी को पुजारी लोग इटावे ज़िले में 'रजधान' और 'बुधौली' में जो अजगैन स्टेशन (इटावे ज़िले में अजगैन कोई स्टेशन नहीं है। गंगा पार कानपुर से लखनऊ जाते समय अजगैन पाँचवाँ स्टेशन है। सं०) के पास हैं ले गये थे। अभी तक उन दोनों देवविग्रहों की वहीं पूजा होती है! यह सत्य है कि जिस समय पवित्र व्रजभूमि को दुर्वृत्त यवन कुलाङ्गार औरंगज़ेब, गोहत्या और ब्रह्महत्या से कलङ्कित करने लगा, उस समय सिसोदिया वीर राणा राजसिंह दारुण रोष और जिघांसा से यवनों के विरुद्ध समरभूमि में खड़े हो गए थे। भगवान् श्रीकृष्णदेव की अपमान से रक्षा करने के लिए बादशाह के सन्मुख अपनी तीक्ष्ण कृपाण उठा ली थी। श्रीनाथ जी का पुनीत विग्रह श्रीगोवर्धन को त्याग कर उसी समय मेवाड़ की अरण्य भूमि में जा पहुँचा था। यदि व्रज के अन्य देवविग्रह भी वहाँ पहुँच जाते तो श्रीनाथ जी के समान सुरक्षित रहते, जब तक एक भी सिसोदिया बीर रहता कोई उनका स्पर्श भी नहीं कर सकता किन्तु भयभीत ब्राह्मणों को जिधर मार्ग मिला उधर ही भाग निकले।

दूसरे, मथुरा के चौबे महाशयों के विषय में यह लिखना कि "दण्ड पेलना, कुश्ती करना, यही इनका नित्य कर्म है। 'जै जमुना मैय्या की' इसी पर चारो वेदों की समाप्ति है। लिखना पढ़ना बिल्कुल नहीं जानते"—ज़रा अप्रिय है। आज कल ब्राह्मणों की जैसी शोच्य दशा है उसके अनुसार और ब्राह्मणों की अपेक्षा चौबे लोग धर्म्मानुष्ठान और लिखने पढ़ने में किसी से कम नहीं हैं। दण्ड पेलने और कुश्ती करने का यह फल है कि वे लोग अन्य तीर्थवासियों से बलवान और सच्चरित्र हैं। इनमें अनेक लिखे पढ़े पण्डित भी हैं, कई वेद-पाठी और कर्म्मकाण्डी हैं। ऐसी दशा में "लिखना पढ़ना बिलकुल नहीं जानते" यह न कह कर यह कहना चाहिये कि "लिखना पढ़ना सब नहीं जानते।"

तीसरे चौबे लोगों की स्त्रियों का पहनावा 'घाघरा चोली और चद्दर' नहीं है, वे साड़ी बांधती और अंगिया पहिनती हैं चद्दर नहीं, इधर ओढ़ने का रिवाज़ है। × × ×

मायापुरी [हरिद्वार]

"इदं क्षेत्रं महापुण्यं यावद्द वै यज्ञभूमिका ।
यत्र माया निमित्तं हि जातं सर्वं प्रजापतेः ॥
तस्मादिदं महाक्षेत्रं माया संज्ञं भविष्यति ।
नाम्ना दक्षेश्वरेणैव निवसिष्यामि क्षेत्रके ॥"

(स्कन्दपुराणे)

गङ्गातट पर जितनी पवित्र नगरियाँ हैं, उन सब में मनोहर और सप्तपुरियों की गणना में यह तीसरी पुरी है। इस समय यह हरिद्वार के नाम से प्रसिद्ध है, परन्तु इसका पुराना नाम 'माया' वा 'गङ्गाद्वार' है। पुराकाल में दक्ष प्रजापति ने यहाँ पर उस प्रसिद्ध यज्ञ का अनुष्ठान किया था, जिसकी कथा बहुधा पुराणों में आती है। अभिमानी दक्ष ने उसके द्वारा महेश्वर का तिरस्कार करना चाहा था; किन्तु सतीहत्या की विषम घटना के पश्चात् यज्ञ-विध्वंस और जीवन सङ्कटमय होने पर उन्हें लज्जित हो, श्रीशङ्कर से क्षमा माँगनी पड़ी थी। तब प्रजापति के वर माँगने पर उन्होंने कहा था, कि—

'हे प्रजापते ! जहाँ तक यह यज्ञभूमि है, वहाँ तक यह क्षेत्र बड़ा पवित्र है। जहां माया के कारण सब कुछ हुआ, इसलिए यह स्थान मायाक्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध होगा। मैं इस क्षेत्र में 'दक्षेश्वर' के नाम से निवास करूँगा।"

इसीसे इसका नाम 'मायापुर' वा 'मायाक्षेत्र' विख्यात हुआ। इसके स्कन्दपुराणोक्त माहात्म्य में इस क्षेत्र का विस्तार बारह योजन में लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि हरिद्वार, कनखल और ऋषीकेश आदि सब तीर्थ मायाक्षेत्र ही के अन्तर्गत है। यहाँ आकर पर्वतों से गङ्गा जी निकली हैं, इसलिए शास्त्र में इस स्थान का नाम

'गङ्गाद्वार' भी युक्तिसङ्गत है। महाभारतादि ग्रन्थों में यही नाम बार बार आया है। किसी किसी पुस्तक में 'स्वर्गद्वार' वा 'हरिद्वार' नाम भी देखा गया है। उसका अर्थ भी युक्ति-युक्त ही है। इस क्षेत्र के द्वारा भगवान् वैकुण्ठनाथ के निकट पहुँच सकते हैं, इसलिए यह हरिद्वार है। युधिष्ठिरादि महानुभावों ने यहीं होकर स्वर्गारोहण किया है, अतएव यह स्वर्गद्वार वा हरि की पैड़ी भी कहा जा सकता है।

यों तो इस क्षेत्र में अनेक तीर्थ और अनेक देवों का निवास है, परन्तु "पञ्चतीर्थी" मुख्य है। यथा—

"हरिद्वारे कुशावर्ते विल्वके नीलपर्वते।
स्नात्वा कनखले तीर्थे पुनर्जन्म न विद्यते॥"

"हरिद्वार, कुशावर्त, विल्वकेश्वर, नीलपर्वत और कनखल, इन पाँच तीर्थों में स्नान करने के पश्चात् फिर जन्म नहीं होता।" इन पाँचों का हम क्रमशः वर्णन करते हैं—

हरिद्वार

एक छोटा सा क़सबा है, यह गंगा जी के तट पर दो पर्वतों के बीच में है, इसके पूर्व में नीलपर्वत और पश्चिम में विल्वपर्वत है। उत्तर में भीमगोड़ा वा भीमकुण्ड और दक्षिण में कुशावर्त और कनखल तीर्थ हैं। ज्वालापुर, कनखल और हरिद्वार तीनों कसबों की एक ही म्युनिसिपलिटी है। यद्यपि हरिद्वार के पण्डे और दुकानदार ज्वालापुर में बसते हैं, तो भी यहाँ की रौनक में कुछ न्यूनता नहीं। आगन्तुक यात्रियों की भीड़ से हरिद्वार सर्वदा भरा रहता है। इसके बाजार में सब प्रकार की आवश्यक वस्तु मिलती हैं। यद्यपि यह सारा क्षेत्र ही हरिद्वार कहा जाता है, परन्तु इसका असली स्थान है—

हर की पैड़ी वा ब्रह्मकुण्ड

यही यहाँ का प्रधान घाट है। यहाँ का किया हुआ कर्म्म अनन्त गुण होता है, इसी शास्त्रीय विचार से बहुत से महानुभाव यहीं आकर स्नान, दान, जप, आदि पुण्य कार्यों का अनुष्ठान करते हैं।

उत्तर की ओर दीवार के नीचे हरि अर्थात् विष्णु का चरणचिह्न है। हर की पैड़ियों से थोड़ा हट कर पूर्व की ओर धारा के बीच पत्थर का बांध है और वहीं पर सरकार का बनाया हुआ लोहे का छोटासा पुल है। इसके और पैड़ियों के बीच में जो धारा है, उसका नाम 'ब्रह्मकुण्ड' है। यहाँ पर बड़ी बड़ी मछलियाँ बहुत हैं। प्रायः यात्री लोग उन्हें खाने को आटे की गोलियाँ और बताशे दिया करते हैं। वे निडर इतनी हैं कि यात्री डर जाय तो डर जाय पर उनके द्रुतगमन और जलबिहार में किञ्चित् रुकावट नहीं होती। अपने शरीर का विचार न कर गङ्गापुत्रों की तरह मीठा खाने के लोभ से स्नानार्थी यात्रियों के चरणों में लोटती फिरती हैं! घाट पर पंजाब-केसरी माहाराज रणजीतसिंह के समय के बड़े बड़े सुन्दर पत्थर के मकान और देवमन्दिर बने हुए हैं। मेले के समय उनमें बहुधा यात्री टिकते हैं। ब्रह्मकुण्ड में कमर से अधिक जल नहीं है। घाट का ढंग ऐसा सुन्दर है कि बालक, वृद्ध और स्त्रियां सुख से स्नान कर सकती हैं। गङ्गाप्रवाह के प्रबल होने पर भी बहने वा डूबने का कुछ खटका नहीं।

अँग्रेजी राज्य से प्रथम ब्रह्मकुण्ड का स्नान करना इतना सुलभ नहीं था। बड़े बड़े राजा लोग भी कठिनता से उसे प्राप्त कर सकते थे! पर्वों के समय नागे, निर्बानी, बैरागी, उदासी आदि साधुओं के सैकड़ों आदमी प्रथम स्नान के लिये कट मरते थे। कितने ही यात्री रेलापेल में चकनाचूर हो जाते, तब कहीं लोमहर्षण काण्ड के पीछे यहाँ का स्नान किसी को नसीब होता। पहिले घाट छोटा था। मेले की भीड़ के समय नरहत्या का यह भी एक प्रधान कारण था। सन् १८१९ ई० में स्नान के धक्के के समय अनेक सिपाहियों सहित चार सौ से अधिक मनुष्य चिथ कर मर गए थे। इस भयानक घटना के पीछे अँग्रेजी सरकार ने घाट को बढ़ा कर सौ फीट चौड़ा और साठ सत्तर सीढ़ियों का बनवा दिया, जिससे यात्रियों को अब तक आराम मिलता है।

यहाँ का दृश्य हृदयग्राही बहुत है। उत्तर की ओर से पर्वतों को चीरती स्वच्छसलिला, भागीरथी जी बड़े वेग से आ रही हैं और दक्षिण की ओर मायापुर के पुल के नीचे द्विधाविदीर्ण होती, महामाया के प्रभाव को सूचन करतीं चली जा रहीं हैं। पश्चिम की ओर घाट पर कोलाहलपूर्ण, मन्दिरों की सुन्दर श्रेणी खड़ी है और उसके नीचे ही नीचे, कुशावर्त तक लंबा और प्रवाह तक चौड़ा, अँग्रेज़ी सरकार का बनवाया हुआ पत्थर का दृढ़तर घाट है। सामने पूरब की ओर वृक्षमण्डित, चण्डिकाधर, नीलपर्वत, नीरव दण्डायमान है, जिसके नीचे कोसों लंबी 'मुनिमनसामपिमोहनकारिणी' 'कदली' वन की वृक्षश्रेणी चली गई है। अहा कैसा नयनाभिराम दृश्य है! जितना देखते हैं उतना ही लालसा बढ़ती है। क्यों न हो! आख़िर तो यह वही इतिहास-प्रसिद्ध पुण्यभूमि है न, जहाँ की घटना का भगवान व्यास जी की लोकपाविनी लेखनी ने पुनः पुनः वर्णन किया है। आर्य्यकुल की परमाराध्या, मर्मविद्धा, भगवती, दाक्षायणी ने इसी क्षेत्र में प्राण विसर्जन कर भारत की पतिव्रता स्त्रियों के लिये शिक्षाप्रद कार्य्य किया था। यहीं पर महर्षि भरद्वाज के वीर्य्य से उस वीर ब्राह्मण का जन्म हुआ था; जिससे अर्जुन, भीम जैसे अनेक पराक्रमी क्षत्रियों ने शस्त्रविद्या ग्रहण कर अपने को महारथी बनाया था। जिसने महाविद्वान् महावीर होकर भी ब्राह्मणोचित वृत्ति से निर्वाह करना विचारा था, अपमानित होने पर जिसको लोकशिक्षा के अर्थ मदान्ध पाञ्चालराज के नेत्र खोलने में किञ्चित् भी शङ्का न हुई थी। पाञ्चालनाथ द्रुपद को परास्त कराने पर भी जिस क्षमाशील ने उसके साथ मित्रता का व्यवहार किया था, क्षत्रिय-कुल-कलङ्क धृष्टद्युम्न को अपना प्राणहन्ता समझ कर भी जिस उदार ने विद्यादान कर स्वधर्म्म का पालन किया था, जिसके शस्त्र ग्रहण करने पर कृष्णसहाय पाण्डवों को भी अधीर होना पड़ा था, जिसके प्राण ग्रहण करने के निमित्त स्वयं धर्म्मपुत्र को भी मिथ्या भाषण करना पड़ा था, उसी प्रतापी द्रोणाचार्य्य के उत्पन्न करने का गौरव इसी तीर्थभूमि को प्राप्त है। एक दिन इसी

गङ्गाद्वार से नागनन्दिनी उलूपी कुन्तिनन्दन अर्जुन को जल में खैंच कर ले गई थी। इरावान जैसे वीर पुरुषों के जन्म का द्वार भी यही गङ्गाद्वार है। कहाँ तक लिखें इसका माहात्म्य महाभारत और शिव पुराणादि ग्रन्थों में ठौर ठौर कहा है। ऐसी विख्यात वीरजननी पुण्यभूमि की बातें अब कोई कहाँ तक कह सकता है ?

कुशावर्त

कुशावर्ते महातीर्थे दक्षिणे ब्रह्मतीर्थतः।
तत्र स्नात्वा महाभागः न च भूयोऽभिजायते ॥

ब्रह्मकुण्ड (हर की पैडियों) से दक्षिण की ओर थोड़ी दूर पर महातीर्थ कुशावर्त है। वहाँ स्नान करने से पुनर्जन्म नहीं होता।

कुशावर्त घाट पर दस बीस वर्ष पहिले न कोई स्थान था और न यात्रियों ही को छाया का आराम था। सब लोग चौड़े चप्पाट एक चबूतरे पर पिण्डदान किया करते थे। धूप की तेज़ी और वर्षा के कारण यात्रियों को बहुत कष्ट होता था। पिछले दिनों जब इन्दौर के धर्मात्मा महाराज यहाँ आये तब उन्होंने एक पत्थर का लंबा छायादार मकान बनवा दिया, जिसके नीचे बैठ कर अब यात्री लोग पिण्डदान करते हैं। मेष संक्रान्ति के समय यहाँ बड़ी भीड़ होती है। यह गया का नमूना बन जाता है। तीर्थपुरोहितों का विचित्र रचना पूर्ण सङ्कल्प सुन कर पढ़े लिखे आदमी को हँसी आये बिना नहीं रह सक्ती। दोपहर तक यहाँ बहुत भीड़ रहती है। शान्तिप्रिय पुरुष से श्राद्ध होना भी कठिन है। मध्यान्ह के पीछे सब पण्डे अपने अपने घर चले जाते हैं। तब से रात्रि तक यहाँ ध्यानशील लोगों का समागम रहता है। यह घाट बहुत दृढ़ पत्थर से बना है। सीढ़ियों पर काई लगी रहती है। भागीरथी का जोर यहाँ सब से अधिक है। घाट पर पैर जमने बड़े कठिन हैं। लोहे की जंजीरें पड़ी हुई हैं, उन्हींके सहारे स्नान किया जाता है। यहाँ के दृश्य का क्या कहना है, जिसने देखा है वही जानता है। नहीं तो—"गिरा अनयन नयन बिन बानी" वाली उक्ति यहाँ भी घटती है।

"स्कन्दपुराण" में इस तीर्थ का माहात्म्य बहुत लिखा है। यथा—

स्नानं दानं जपो होमः स्वाध्यायः पितृतर्पणम्।
यद्यत्र क्रियते कर्म तत्तु स्यात्कोटिसंख्यकम्॥

अर्थात् स्नान, दान, जप, होम, वेदपाठ और पितृतर्पण इत्यादि यहाँ जो कुछ कर्म किया जाता है सो कोटि गुण होता है। इसलिए ब्रह्मकुंण्ड पर केवल मुण्डन तथा स्नान ही यात्री करते हैं और यहाँ श्राद्ध गोदानादिक सब कार्य होते हैं। स्कन्दपुराण में इस तीर्थ की उत्पत्ति का वर्णन इस प्रकार है कि—एक समय महामुनि दुर्वासा जी यहाँ उग्र तपश्चर्य्या में तत्पर थे और उनके कुश, चीर, दण्ड, कमण्डलु, भागीरथी के तट पर रक्खे हुए थे। इसी बीच में एक ऐसा प्रवाह आया कि वे सब गङ्गा के आवर्त में चक्कर खाने लगे। जब मुनि तप से निवृत्त हुए और उन्होंने उसी प्रकार अपनी वस्तुओं को जल में फिरते देखा तब बड़े क्रुद्ध हुए! शीघ्र ही देवताओं के प्रसन्न करने पर सन्तुष्ट होकर बोले कि—

"आवर्तेन यतो गङ्गा कुशान्धृतवती मम।
कुशावर्तमितिख्यातं तीर्थमेतद्भविष्यति॥
अत्रैव भवतां स्थाने नित्यं स्यात्तीर्थके वरे।
धन्याः लोकाः करिष्यन्ति स्नानं पितृसमर्चनम्॥"

यहाँ गङ्गा ने अपने आवर्त (जल के चक्कर) से मेरी कुश आदि वस्तुओं को धारण किया, इस कारण आज से इस तीर्थ का नाम "कुशावर्त" होगा। आप लोगों (देवताओं) की यहीं इस श्रेष्ठ तीर्थ पर सदा स्थिति होनी चाहिये। बड़भागी जन यहाँ स्नान और पितृ-पूजन करेंगे। देवता लोग "तथास्तु"—कह कर अन्तर्द्धान हुए। उसी दिन से यह क्षेत्र 'कुशावर्त' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जो हो, कुशावर्त घाट एक उग्रतेजा महात्मा के तपःप्रभाव का स्मारक है। यहाँ आने से इस बात का स्मरण होता है कि, एक समय भारतवर्ष में ऐसे भी

ब्राह्मण थे जिनकी वस्तुओं को भागीरथी भी नहीं डुबा सकती थी और जिनके क्रोध को देवता भी नहीं सहार सकते थे।

विल्वकेश्वर

प्रथम कहा जा चुका है कि हरिद्वार से पश्चिम दिशा में 'विल्व पर्वत' है। इसी पर्वत के नीचे हरिद्वार बसा हुआ है। यहाँ विल्व के वृक्ष अधिकता से हैं। इसलिए इस पहाड़ की "विल्व पर्वत" अन्वर्थ संज्ञा है। सेठ सूर्य्यमल की धर्म्मशाला से अनुमान एक मील दूर इसी पर्वत पर विल्वकेश्वर महादेव हैं। चढ़ाई नहीं है, मार्ग सुगम है। महादेव जी का एक छोटासा मन्दिर है, जो सौ वर्षों से अधिक पुराना नहीं है। प्रेमपुरी गुसाईं का बनवाया हुआ है। मन्दिर के नीचे दक्षिण की ओर वरसाती नदी 'शिवधारा' वर्षाऋतु में बहा करती है। अब एक बिन्दु जल नहीं, सूखी पड़ी है। अनुसन्धान करने पर विदित हुआ कि जो शिवलिङ्ग यहाँ शिवालय में विल्वकेश्वर के नाम से पूजे जा रहे हैं, वे यथार्थ विल्वकेश्वर नहीं हैं। प्राचीन शिवमूर्ति इस मन्दिर के सामने एक चबूतरे पर है। प्रथम यहाँ एक बड़ा जीर्ण पुराना विल्व वृक्ष था, कई वर्ष हुए वह गिर गया है। अब भगवान् विल्वकेश्वर योंहीं निरावरण आकाश के नीचे विराजमान हैं। यहाँ के माहात्म्य के अवलोकन से भी उक्त बात की पुष्टि होती है। विल्व पर्वत के वर्णन के अनन्तर उसमें लिखा है कि—

"तत्रैको विल्ववृक्षस्तु तस्याधः शिवलिङ्गकम्।
यस्य दर्शन मात्रेण शिवतां याति मानवः ॥"

कहते हैं कि जब यहाँ मन्दिर बनवाने की तैयारी हुई और सब मसाला आचुका, तब मन्दिर बनवाने वाले गुसाईं प्रेमपुरी जी को स्वप्न हुआ कि "हमारी मूर्ति को इसी स्थान में इसी विल्ववृक्ष के नीचे रहने दो।" अगत्या गुसाईं जी ने उस सामान को व्यर्थ न खोकर एक शिवालय बनवा ही दिया। जब शिवालय हुआ तो शिवमूर्ति क्यों न हो? निदान नई मूर्ति प्रधान हो गई और प्राचीन गौण।

जो हो, स्थान रम्य और जप तप के योग्य है। पुजारी यहाँ का एक दशनामी गुसाईं बड़ा सन्तोषी और मधुरभाषी है।

विल्वकेश्वर के मन्दिर के पीछे गौरीकुण्ड है जिसके मार्जन और आचमन के पश्चात् विल्वकेश्वर के दर्शन करने होते हैं। कुण्ड एक छोटे से कूप के समान है। लोटे डोर से जल निकाला जाता है। जल में दुर्गन्ध है। लंगूर और बन्दर यहाँ बहुत हैं, पर बड़े ही तपस्वी हैं, मथुरा वृन्दावन जैसे धृष्ट नहीं। यह तो आदमी को देख दूर ही से भागते हैं।

किसी समय यहाँ भागीरथी का प्रवाह था, यह बात यहाँ के चिन्हों और माहात्म्य से स्पष्ट सिद्ध होती है। माहात्म्य में लिखा है कि—

"गङ्गाया स्नानमात्रेण विल्वतीर्थे नरोतम।
कोटिजन्मकृतैः पापैस्तत्क्षणात्परिमुच्यते॥"

काल की भी क्या ही विचित्र गति है? जहाँ प्रवाह था, वहाँ अब पर्वत है! अब गङ्गा जी यहाँ से कोसों दूर हैं। अधिक लोगों को यह निश्चय होना भी कठिन है कि किसी समय यहाँ गङ्गा जी रही होगीं। हमने अपने तीर्थपुरोहित से पूछा कि महाराज! "हरिद्वारे कुशावर्ते"—इस श्लोक के अनुसार तो यहाँ भी स्नान करना चहिये अब विल्वतीर्थ ही न रहा तो स्नान कहाँ करें? क्योंकि यह पाँचों तीर्थ भागीरथी ही में थे ऐसा प्रतीत होता है? पुरोहित जी ने कहा कि सत्य है पर अब तो गौरीकुण्ड में मार्जन कर लीजिये और गङ्गा जी का ध्यान! पाँच तीर्थों की पञ्चायती में से अभी तक चार शेष हैं, यह क्या कुछ कम है। पञ्चायती की बात अब बिदा हुई। अस्तु, उत्तर अनुचित नहीं हुआ। 'पञ्च' नाम की ऐसी ही महिमा है। इसी तीर्थ पर महर्षि ऋचीक का आश्रम है। पास ही शिवधारा के दक्षिण तट पर गुफा में दुर्गादेवी जी की मूर्ति है। गुफा अनुष्ठान करने योग्य बड़े एकान्त की जगह है। कई आदमी इसमें आनन्द से बैठ कर भजन कर सकते हैं। इस पर्वत पर विल्वकेश्वर का विल्वपत्रों से

पूजन करने का यहाँ बड़ा सुयोग और पुण्य है। शिवभक्त यहाँ अनायास ही दोनों हाथ पुण्य सञ्चय कर सकते हैं। लिखा है कि—

विल्वकेश्वर महादेवं विल्वपत्रैस्तु योऽर्चयेत्।
यथा संख्यैर्विल्वपत्रैः स्वर्गे वसति कल्पशः॥

सूर्य्यकुण्ड

हरिद्वार से पश्चिम की ओर विल्व पर्वत से उत्तर पहाड़ के ऊपर सूर्य्यकुण्ड है। दो मील की ऐसी विकट चढ़ाई है कि मार्ग में गिरने का भी भय रहता है। एक हाथ चौड़ा ऐसा बेढब पहाड़ी रास्ता है कि किसी बुद्धिमान् को बालबच्चों को इधर एकाकी भेजना ठीक नहीं। दो मील की चढ़ाई के पीछे उतनी ही विकट उतराई तै करने पर सूर्य्यकुण्ड के दर्शन मिलते हैं। कुण्ड का न जल ही स्वच्छ है और न कोई देखने योग्य और कोई वस्तु है, माहात्म्य में भी इसका कहीं ठौर ठिकाना नहीं है। फिर न जाने लोग भागीरथी का तीर छोड़ कर वहाँ क्यों टकराने जाते हैं? सूर्य्यकुण्ड की यात्रा बुद्धिमान् के निकट पहाड़ खोदने पर चूहे की प्राप्ति के समान है।

नीलपर्वत

हरिद्वार के पश्चिम जिस प्रकार विल्वपर्वत दण्डायमान है उसी प्रकार गङ्गापार पूर्व दिशा में 'नीलपर्वत' खड़ा है। नीलपर्वत की चोटी पर चण्डिका देवी का मन्दिर है। इस पर जाने का मार्ग बड़ा ही विकट और दुर्गम है। मेले के दिनों में 'हरि की पैड़ियों' के निकट नावों का पुल बन्ध जाता है। उस पर से गङ्गा पार हो नीलधारा में स्नान करते नीलपर्वत पर जा सकते हैं। मेले के बिना मायापुर के पुल को पार कर आगे लकड़ी के पुल से उतरना पड़ता है, फिर नीलधारा में स्नान कर पर्वत चढ़ना पड़ता है। दोनों भाँति से छोटी छोटी कई धाराओं और मील डेढ़ मील तक बड़े बड़े गोलाकार "गङ्गापुत्र" नामक रङ्ग-बिरङ्गे पत्थरों के विषम मार्ग को लाँघना होता है। आगे चल कर चढ़ाई खड़ी और बड़ी ही कठिन है। दो ढाई मील से कम नहीं है,

वैसी ही फिर उतराई है। सच पूछिये तो चढ़ाई से उतराई कठिन है। मार्ग में कहीं भी जल का नाम नहीं और प्यास के मारे होंठ सूखने लगते हैं। पहाड़ पर चढ़ने के भी दो मार्ग हैं, एक गौरीशङ्कर महादेव के मन्दिर से होकर और दूसरा कामराज की काली के मन्दिर के पास से। पहिला कठिन है और दूसरा सुगम है। पर उचित यह है कि पहिले से चढ़े और दूसरे से उतरे। इसमें परिक्रमा भी हो जाती है और कठिनता भी मिटती है।

जो हो इतना कष्ट सह कर जब यात्री मन्दिर के पास पहुँचता है, तब ऐसा मनोहर दृश्य देखता है कि सब दुःख भूल जाता है। भगवती चण्डिका के अतिरिक्त प्रकृतिदेवी के ऐसे अलभ्य दर्शनों का लाभ होता है कि जी उतरने को नहीं करता! कनखल, हरिद्वार आदि दूर दूर के नगरों और पर्वतों की अधित्यका तथा सघन वन राजी का मनोरम दृश्य दिखाई देता है। जिस प्रेमपुरी गुसाईं ने बिल्वकेश्वर का मन्दिर बनवाया था उसीने यह चाण्डिका देवी का मन्दिर भी तैयार करवाया था। मन्दिर साधारण होने पर भी पर्वत शिखर पर होने के कारण असाधारण है। इसके सामने ही छोटा सा अञ्जना देवी का मन्दिर है। यहाँ से उतर कर नीचे "नीलेश्वर" महादेव का मन्दिर है। यह भी साधारण और उसी चाल का है। स्थान बड़ा एकान्त अनुष्ठान करने योग्य है। हरिद्वार का दृश्य यहाँ से भी सुहावना लगता है।

महादेव जी के परमभक्त "नील" नामक गण ने यहाँ तप किया था। इसलिए इस पर्वत का नाम नीलपर्वत और गङ्गा की अन्यतम धारा का नाम "नीलधारा" हुआ। और उसने जिस शिवलिङ्ग को प्रतिष्ठित किया था वही 'नीलेश्वर' कहलाया।

भक्तश्रेष्ठ नील के प्रति महादेव जी ने सन्तुष्ट होकर कहा था—

"अस्य वै गिरिराजस्य नामैवं सम्भवष्यति।
नीलपर्वत इति वै स्मरणाच्छिवदायकः॥

अत्र वै निवसिष्यामि त्वया सह गणेश्वरः।
नीलेश्वर इति ख्यातो भक्तानां प्रीतिवर्द्धनः॥"

नीलधारा कोई स्वतन्त्र नदी नहीं है। यह भी गङ्गा की एक धारा है। हरिद्वार में प्रायः गङ्गा जी की तीन धारा बहा करती हैं। उनमें जो नील पर्वत के नीचे से बहे, वही नीलधारा कहलाती है। कभी कभी इसका जल शुष्क भी हो जाता है। नीलधारा के किनारे नील पर्वत पर पहाड़ियों का मेला लगा करता है। उनमें बहुत से लोग वृक्षों पर बन्दरों की तरह रात में बसेरा लेते हैं। इनका कौतूहल पूर्ण नृत्य गीत और ग्रामीणता युक्त रहन सहन देखने की सामग्री हैं। इधर विजनोर का जिला है। अतः वहीं के राजपुरुष यहाँ का प्रबन्ध करते हैं।

हरिद्वार के मन्दिर

अयोध्या, मथुरा के समान हरिद्वार में बहुत मदिन्र नहीं हैं और जो हैं भी, वे भी कुछ ऐसे देखने योग्य नहीं हैं। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि प्रथम तो यह पुरी ही विरक्त पुरुषों के अधिकार में रही। इससे यहाँ न उतनी कभी जनसंख्या बढ़ी और न मन्दिर ही बने और जो और कुछ प्राचीन मन्दिर थे भी वे हिन्दुओं की दुर्दशा के समय मिट्टी में मिल गये। उनका जीर्णोद्वार ही न हुआ। अब प्राचीन मायादेवी का और नये श्रवणनाथ आदि के बनवाये हुए दो चार मन्दिर ही यहाँ देखने की वस्तु हैं।

श्रवणनाथ महादेव

का मन्दिर जो यहाँ सब से सुन्दर है, बाजार के बीच में है। यहाँ के सब मन्दिरों से यहाँ इसका वैभव अधिक है। मन्दिर के अगल बगल में सब मकान पक्के कली चूने के बने हैं और जगमोहन तथा शिखरदार शिवालय पाषाण के हैं। पत्थर की अच्छी कारीगरी है। जगमोहन के खंभों में पत्थर की पुतलियाँ बनी हैं। उसके बीच में कठघरे के अन्दर श्वेत पाषाण (मार्वल) मयी नर्मदेश्वर की सुन्दर और बड़ी प्रतिमा विराजमान है। काशी के नर्मदेवश्र की प्रतिमा यद्यपि इससे बहुत बड़ी है, पर वह इसके समान सुन्दर नहीं। इस

मन्दिर की पञ्चमुखी शिवमूर्ति जैसी सुन्दर है वैसा ही उसका शृङ्गार भी होता है। यहाँ हमारे विभूतिभूषित दिगम्बर भगवान् श्मशान वासी नहीं प्रतीत होते, अनन्त वैभवशाली कैलासनाथ जान पड़ते हैं। 'विभूति' पद का यहाँ केवल भस्म नहीं वैभव भी देखने में आया।

मन्दिर के चारों ओर भैरवादि अन्यान्य देवताओं की प्रतिमाएं हैं और उन्हींमें इस मन्दिर के बनवाने वाले महात्मा साधु श्रवण-नाथ की भी पाषाणमयी प्रतिमा है। असी नब्बे वर्ष हुए कि उक्त महात्मा ने दक्षिण के राजाओं से भिक्षा माँग कर यह मन्दिर बनवाया था। इसके खर्च के लिये कई गाँव लगे हुए हैं। साधु श्रवणनाथ एक विख्यात संन्यासी हो गए। उनके भण्डारे की बातें यहाँ के लोग बड़े चाव से कहा करते हैं। जिन्होंने उनके दर्शन किये हैं, वे उन्हें एक योगिराज के समान सम्मानभाजन समझते हैं। क्या मन्दिर के वर्तमान अधिकारी, उनकी कीर्ति को अटल रक्खेंगे?

श्रवणनाथ के मन्दिर से पूर्व की ओर बीकानेर के महाराज का बनवाया हुआ गङ्गा जी का शिखरदार बड़ा मन्दिर है, जहाँ महाराज की ओर से सदाव्रत भी लगा है। हरि की पैडियों से उत्तर की ओर भीम गोडे के मार्ग में गङ्गा जी के किनारे—

चौबीस अवतारों का मन्दिर

है जिसको काँगड़े के राजा का बनवाया हुआ कहते हैं। मन्दिर बहुत पुराना नहीं है। कुछ बना भी अच्छा नहीं है पर अवतारों की सुन्दर मूर्तियाँ दर्शन के योग्य हैं।

सेठ सूर्य्यमल की धर्म्मशाला से उत्तर की ओर एक मील पर—

भीमगोडा

है। यहाँ पर्वत के नीचे एक छोटा सा मन्दिर और कुण्ड पाण्डव वीर भीम के नाम से विख्यात है। कुण्ड जान्हवी के स्वच्छ जल से भरा रहता है, जिसमें बहुधा यात्री स्नान किम्बा मार्जन करते हैं। भीमगोडे के नामकरण का तत्व हमारी समझ में नहीं आया, कोई

कहते हैं कि 'भीमगदा' का अपभ्रंश भीमगोडा है, पर यह अविचारित रमणीय है। 'भीमगदा' तीर्थ केदारनाथ जी के मार्ग में 'रामबाड़ी चट्टी' के पास है। वहाँ गदा के आकार का एक पाषाण भी वर्तमान है। यहाँ मन्दिर के नीचे पहाड़ की कन्दरा में एक नाभि मात्र गर्त (गढ़ा) है। कहते हैं कि भीमसेन के गोडा रखने से यह हो गया! इसीलिए यह भीमगोडा कहलाता है, इसका मायापुरी माहात्म्य में कुछ पता नहीं चलता है। इसके मूल का अवश्य अनुसन्धान करना चाहिये।

धर्मशाला से दक्षिण की ओर थोड़ी दूर पर सब से पुराने तीनों मन्दिर हैं। पहिला—

मायादेवी

का, दूसरा भैरव जी का और तीसरा नारायण शिला का है। मायादेवी का मन्दिर पत्थर का है। ११वीं शताब्दि से पूर्व का बना हुआ प्रतीत होता है। यह मन्दिर किसी तरह मुसल्मानों की दृष्टि से बच गया। मायादेवी की मूर्ति के तीन शिर और पाँच भुजाएँ हैं, जिसके समीप ही शिवजी की अष्टभुजी मूर्ति है। भैरव जी की प्रतिमा सिन्दूरमण्डित है और उनके पास सर्वदा धूम्रपाथी भैरव दर्शन साधुओं का समागम रहता है! तथापि भागीरथी के तट पर होने से स्थान सुहावना है।

यहाँ से दक्षिण नहर के पुल के पास जो कि मायापुर का पुल कहलाता है,—

मायापुर

हीन दशा में पड़ा हुआ प्राचीनता की दुर्दशा को सूचित करता है। यहाँ गंगनहर और गङ्गा जी का पुल पक्का बना हुआ है। पुल तक भागीरथी का एक ही प्रवाह है। आगे दो भागों में विभक्त हो जाता है, एक भागीरथी नाम के साथ महाभाग भागीरथ का पुण्य बढ़ाता हुआ, कनखल से पूर्व दिशा में बह रहा है और दूसरा गंगनहर के नाम से अँगरेजों के यश का उद्घोष करता हुआ, कनखल से पश्चिम

की ओर प्रवाहित है। अयोध्या मथुरा के पुराने टीलों की तरह यहाँ भी मायापुरी के ध्वंसावशिष्ट प्राचीन मन्दिर और ऊंचे ऊंचे टीले पुरी की पुरानी कथा कहने को रह गये हैं। पास ही राजा वेगु की उजड़ी पुजड़ी गढ़ी पड़ी है। अनेक प्रकार के पुराने सिक्के इन टीलों से मिले हैं। पुरातत्व के खोज करने वालों को यह स्थान अवश्य देखना चाहिये।

उक्त मन्दिर के सिवा घाटों पर अनेक छोटे छोटे मन्दिर और बड़ी बड़ी धर्म्मशालाएँ हैं, जो पञ्जाबकेसरी महाराज रणजीतसिंह के समय की वा उससे पीछे की हैं।

कनखल

खलः को नात्र मुक्तिं वै भजते तत्र मज्जनात्।
अतः "कनखलं" तीर्थं नाम्नाश्चक्रुर्मुनीश्वराः॥

ऐसा कौन खल है जिसकी यहाँ स्नान करने से मुक्ति न हो? यही विचार कर मुनीश्वरों ने इस तीर्थ का नाम 'कनखल' रक्खा है। यह उक्त श्लोक का अर्थ है।

हरिद्वार से कनखल ठेठ दक्षिण तीन मील है। मायापुर के पुल पर से सीधी सड़क गई है। यह एक छोटा कसबा है। हरिद्वार की अपेक्षा बड़ा है। यहाँ संन्यासियों के मठ और अखाड़े बहुत हैं। बाजार भी खासा है। यहाँ की वस्तु हरिद्वार जाकर बिकती है। थोक माल का क्रय विक्रय यहीं होता है। पर यहाँ हरिद्वार जैसा चमत्कार नहीं है। मेले के बिना सर्वदा सुनसान रहती है। मकान यहाँ के बड़े बड़े पर सब बेमरम्मत पड़े खराब हो रहे हैं। राजा महाराजाओं के ऐसे बड़े बड़े स्थान यहाँ उजाड़ पड़े हैं कि अब वैसे स्थान लाखों रुपैयों में भी बनने कठिन हैं। एक एक स्थान में सहस्रों मनुष्यों का भी पता नहीं लगे कि वे कहाँ हैं?

बहुत से राजा महाराजा और सेठ साहूकारों के यहाँ सदावर्त भी है, जो प्रायः वञ्चक विश्वासघाती सदावर्तियों द्वारा नष्ट हो रहे हैं। यदि यहाँ के सदावर्ती अपने अपने मालिकों की इच्छा के अनुसार

सदावर्त दिया करें, तो यहाँ एक भी भूखा मनुष्य नहीं रह सकता। पर यहाँ तो कुएं में भाँग पड़ी है। लोक परलोक की सब सुधि छोड़ बैठे। सब के जी में यही समाई है कि "भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः"। इसलिए यहाँ के नारकी सदावर्ती "वज्रलेपो भविष्यति" को भूल कर अपने लिये कुम्भीपाक का सामान कर रहे हैं। पहले यहाँ संस्कृत की चर्चा बहुत थी। पण्डित बस्तीराम जैसे नामी विद्वान और कर्तव्यपरायण पुरुष विद्यमान थे, जिनके पास आकर कोई अन्नार्थी और विद्यार्थी निराश नहीं गया। उस समय के संन्यासी भी विद्या का व्यसन रखते थे। अब न वैसे पण्डित रहे, न संन्यासी और न कोई पण्डितों का सत्कार करने वाला! भूले भटके विद्यार्थी यहाँ आकर भूखे मरते हैं! अहह! "कालो हि वलवत्तरः"।

हरिद्वार की भाँति कनखल में भी पक्के घाट तीर्थ की शोभा बढ़ा रहे हैं। घाटों पर पटियाला नरेश आदि राजाओं की हवेली और यहाँ के प्रसिद्ध सेठ भारामल के कई दर्शनीय मकान हैं।

लंढोरे वाली रानी की छत्री

और घाट बहुत ही सुन्दर हैं। छत्री में भगवान् मुरलीमनोहर की दिव्य मूर्ति ने बृन्दावन बना रक्खा है। छत्री की चित्रकारी भी देखने योग्य है। यह छत्री महाराज रघुबीरसिंह की विधवा रानी ने अपने पति के स्मरणार्थ बनवाई है। संवत् १९५१ में गोहना झील के टूट जाने से यहाँ के बहुत घाट और बड़े बड़े जंगी मकान नष्ट हो गए। उनका अब पता भी नहीं रहा कि वे कहाँ थे? उस समय जो गङ्गाजी के प्रबल प्रवाह में पड़ गया उसीकी संसार से मुक्ति हो गई!

हम यह पहले कह चुके हैं कि इस क्षेत्र का मायापुरी नाम क्यों हुआ? जिस माया के कारण प्रबल प्रजापति दक्ष का यज्ञ विध्वंस हुआ और उसके ऋत्विजों को योग्यतानुसार दण्ड की दक्षिणा मिली तथा महादेव जी को जिस कारण 'दक्षेश्वर' के नाम से यहाँ निवास करना पड़ा, उसका स्मारक स्वरूप यहाँ—

दक्षेश्वर का मन्दिर

है। मन्दिर पुराना और अपरिष्कृत है। लंढोरे की रानी के अधिकार में है। पूजा पाठ का काम गोसाईं चलाते हैं। दक्षेश्वर का निज मन्दिर बहुत ही सङ्कीर्ण और छोटे द्वार का है। अतएव मेले के समय यात्रियों की बड़ी दुर्दशा होती है। मन्दिर के दाहिने बीरभद्र और भद्रकाली की छोटी मूर्तियां और सामने सतीकुण्ड है। इसके ऊपर छोटा गुंबद है और यह विभूति से भरा रहता है। यात्री लोग विभूति मस्तक पर चढ़ाते और अपने साथ ले जाते हैं। यहाँ पर सघन बटवृक्षों की छाया और बंदरों की क्रीड़ा सर्वदा रहती है। इस मन्दिर में छोटे छोटे अनेक शिवलिङ्ग और एक दालान में पांच छः हाथ से अधिक बड़े महाबीर जी हैं। अगल बगल के ईंटों के सब पुराने मकान दुर्दशायुक्त हैं। मन्दिर जैसा प्रतिष्ठित है वैसा उसका वैभव नहीं है। पर इसके दर्शन से अतीत घटनाओं का स्मरण होता है। प्रजापति का पदाभिमान, भगवान् शिव जी का सती के प्रति प्रबोध, स्नेहमयी और मनस्विनी दाक्षायणी का शरीरत्याग, बीरभद्र की प्रचण्ड वीरता एवं दक्ष यज्ञ का विध्वंस और कैलाशनाथ का लोकोत्तर चरित्र, सब एक एक करके याद आने लगते हैं। सतीकुण्ड की भस्म इस बात की साक्षी दे रही है कि—

संभावितस्य स्वजनात्पराभवो,
यदा स सद्यो मरणाय कल्पते।

संस्कृत विद्या

की जगह विशेषकर तीर्थस्थान थे। विद्वान महात्मा नगरों को छोड़ कर एकान्त में विद्यार्थी पढ़ाते और भगवान् का भजन करते। उन्हें अन्न वस्त्र की कुछ चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी। इसकी चिन्ता धनाढ्य लोग किया करते पर अब वह समय नहीं है। प्रथम तो धनाढ्य लोग तीर्थों पर आते ही कम हैं और जो आते भी हैं उनका विद्वान् पण्डितों तक पहुँचना महा कठिन! इसलिए, अनाहारक्लिष्ट पण्डित और क्षुत्क्षाम कण्ठ विद्यार्थी बहुधा तीर्थों पर कष्ट भोगते हैं और

अविद्या की मूर्ति विरक्त कहलाने वाले रक्त की पोट मौज उड़ाते हैं। यह सब कलिकाल कृत विपर्य्यय हैं तथापि हरिद्वार में दो एक पाठशाला ऐसी हैं जिनमें विद्यार्थियों को अन्न भी मिलता है और पढ़ाने के लिये विद्वान् अध्यापक भी नियुक्त हैं। इनमें सहारनपुर के रईस लाला गणेशीलाल भक्त की संस्कृत पाठशाल और गङ्गा भागीरथी पाठशाला दो मुख्य हैं। पिछली पाठशाला के अध्यापन-कुशल, शिष्ट विद्वान् पण्डित स्वामी हरिवल्लभ शास्त्री जी अध्यापक हैं और धर्म्मोत्साही पण्डित देवीप्रसाद जी चौधरी जो हरिद्वार के एक योग्य पंडे हैं, प्रबन्धकर्ता हैं। ऐसी पाठ-शालाओं का अटल प्रबन्ध प्रार्थनीय है।

हरिद्वार, कनखल और ज्वालापुर तीनों एक म्युनिसीपाल्टी के अधीन हैं। ये तीनों भिन्न भिन्न होने पर भी एक ही मायापुरी के अङ्ग हैं।

ज्वालापुर

हरिद्वार से पश्चिम की ओर अनुमान तीन कोस है। इसका रेलवे स्टेशन हरिद्वार के स्टेशन से २ मील है। यह कसबा हरिद्वार से बड़ा है। यहाँ थाना और अस्पताल भी हैं। उक्त तीनों क्षुद्र नगरों की तह-सील रुड़की है। यहाँ से दो मील पर रानीपुर का दर्शनीय पुल है, जिसके नीचे गङ्गनहर और ऊपर एक नदी बहती है।

हरिद्वार के पंडे

हरिद्वार में नहीं रहते, उनका घर ज्वालापुर में है। ये लोग प्रातः काल ही घर से यहाँ आते हैं और सायंकाल को लौट जाते हैं। यहाँ के पंडे न विलासी ही हैं और न गया के पंडों के समान धनशाली, किन्तु शक्तिसम्पन्न अवश्य हैं। इनका जैसा साहस और समूह है, कहीं वैसी विद्या भी इनमें होती तो यह भी बहुत कुछ कर दिखाते। परन्तु विद्या बिना इनके साहस से सुफल प्रसव नहीं होता। पंडों में अनेक बुद्धिमान भी हैं और वे अपनी मण्डली में विद्वान भी समझे

जाते हैं तथापि जब तक सब पंडों में समान भाव से सुशिक्षा का प्रचार न होगा, तब तक तीर्थ की दुर्दशा नहीं मिट सकती। समझदार पंडों का काम है कि अपने अपने समाज का संस्कार करें और तीर्थों की श्रद्धा न्यून न हो इस का यत्न करें। अपने बालबच्चों को अधिक नहीं तो श्राद्ध और श्राद्ध सङ्कल्प तो सिखावें। क्योंकि अब शुष्क अहङ्कार से काम नहीं चलेगा। हरिद्वार के पंडों को विचारना चाहिये कि सहस्रों कोस से चल कर जो धर्म्मभीरु उनके पास आते हैं, उन्हें उपदेश देने के लिये "श्रद्धया देयम्, ह्रया देयम् भिया देयम्" के सिवाय और उनके पास क्या है ? एक बात और ध्यान देने योग्य है। हरिद्वार के आस पास भागीरथी के पवित्र तट पर जो शराब की कई दुकानें खुल गईं, इनका कारण क्या है ? इन दुकानों के उठा देने के लिये सर्कार से कभी आपने वा कनखल के संन्यासियों ने अनुरोध भी किया है ? किया तो उसका फल क्या हुआ ? और नहीं किया तो विचारें कि लोग इससे क्या समझेंगे ?

धर्म्मशालायें

भी हरिद्वार में बहुत हैं। महाराज रणजीत सिंह के समय की जितनी धर्म्मशालाएँ थीं, उनमें तो प्रायः अधिकारी लोग यात्रियों से किराया लेने लग गए। अब जो नई बनी है उन्हीं से यात्रियों को पूरा आराम मिलता है। स्टेशन के पास गरीब दासी साधुओं की, और उससे थोड़ी दूर आगे कलकत्ते की मारवाड़ी पञ्चायत की, फिर झूरंदे वाले सेठ सूर्य्यमल की और भिवानी के नामी सेठ जयरामदास की धर्म्मशाला ही सर्वप्रधान हैं। विशेष कर पिछली धर्म्मशाला गङ्गा जी के समीप होने से अधिक उपयोगी हैं।



मणिकर्णिका

काशी जी का 'मणिकर्णिका' घाट हमारा प्राचीन तीर्थ है। यहाँ पर जो जो ऐतिहासिक घटना हो चुकी हैं उनके स्मरण से चित्त में एक विलक्षण भाव का उदय होता है। इसके दर्शन से जो आनन्द मिलता है वह कहने योग्य नहीं, अनुभव करने योग्य है। काशीखण्ड प्रभृति पौराणिक ग्रन्थों में लिखा है कि पहिले समय में भगवान् विष्णुदेव ने अपने चक्र से एक 'पुष्करिणी' (तलैया) खोद कर उसके तीर पर पाँच सहस्र वर्ष तक शिव की आराधना की थी। उनकी कठिन तपश्चर्य्या से देवादिदेव महादेव का विभूतिभूषित मस्तक कम्पित हो गया और उनके कर्ण (कान) से मणि निकल पड़ी। जहाँ यह मणि गिरी वह पुष्करिणी पहिले 'चक्र-पुष्करिणी' तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध थी, किन्तु भगवान् की मणिकर्णिका उसमें गिरने के कारण उसी दिन से वह 'मणिकर्णिका' नाम से प्रसिद्ध हो गई।

लिखा है कि जब भवानीपति, भगवान् विष्णुदेव की तपस्या से प्रसन्न हो, उन्हें वरदान देने लगे; तब लक्ष्मीकान्त ने कहा कि 'हमें यह वरदान दो कि जिस मनुष्य का यहाँ प्राण-वियोग हो, उसे उसी समय हमारे वैकुण्ठ में स्थान मिले।' इसके पीछे सुरतरङ्गिणी भगवति भागीरथी ने इस मर्त्यलोक में अवतरण कर, मणिकर्णिका से सङ्गम किया। इत्यादि अनेक कारणों से मणिकर्णिका हिन्दुओं का प्रधान तीर्थ है। यहाँ के जप तप का फल अनन्तगुण है। शिव के वरदान से यहाँ शैव धर्म्म का प्राधान्य सूचित होने पर भी सम्प्रदायों के हिन्दू समान भाव से स्नान दान करते हैं।

यही मणिकर्णिका काशी जी का आदिम तीर्थस्थल है। वरणा और असी के मध्यस्थल में स्थित हो इसने एक दिन महर्षि अगस्त्य और लोपामुद्रा का वेदगान एवं काशिराज के पुत्रों की विकट वृंहन ध्वनि

सुनी थी। एक समय दिवोदास की धर्म्मानुरक्ति और धन्वन्तरि को आयुर्वेद विद्या के प्रकाश ने इस स्थान को आलोकित किया था। रुद्रानुचर क्षेमक के अत्याचार से काशीपुरी सहस्र वर्षों तक जनशून्य रहने पर भी इस मणिकर्णिका का माहात्म्य तिलमात्र भी इधर उधर नहीं हुआ था। एक दिन गार्ग्यबालाकि और अजातशत्रु के उत्कट आध्यात्मिक तर्क से इस मणिकर्णिका की पवित्र जलराशि तरङ्गित हुई थी। इसने भीष्म की वीरता एवं पौण्ड्रक और जरासन्ध के षड्यन्त्र का फल देखा था तथा भगवान् श्रीकृष्ण के सुदर्शन चक्र की विघ्न-नाशिनी विकट ज्वाला का अनुभव भी किया था। एक दिन बौद्धपताका इसके तीर से सारनाथ के मन्दिर तक उड़ रही थी। शेष में प्रायः सहस्र वर्षों पीछे भगवान् शङ्कराचार्य्य की विजयदुन्दुभि ने इसकी जलराशि को अभिनव तेज से आलोडित कर, काशी में हिन्दूधर्म्म का माहात्म्य पुनः स्थापित किया था।

आज तक जितने महापुरुषों का काशीवास हुआ है, उन सब की पवित्र भस्मराशि भी यहाँ प्रवाहित हुई है। काशी में जितने परिव्राजक दण्डी संन्यासी हुए हैं, उनके शरीर त्यागने का भी यही स्थान है। एक दिन इस स्थान से पूज्यपाद गौड़ स्वामी जी ने कैलासयात्रा की थी। अभी उस दिन प्रातःस्मरणीय स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती जी को इसी स्थान पर हमलोग भगवती भागीरथी की गोद में बैठा कर चले आए थे। हमारे चिन्ताशील पाठक अब समझ गये होंगे कि, सुदर्शन के टाइटिल पेज पर मणिकर्णिका का चित्र क्यों छापा जा रहा है। वास्तव में हमें मणिकर्णिका बहुत प्रिय है और इसकी एक एक ऐति-हासिक घटना विचारने योग्य है। हम यथावकाश इस विषय पर अपनी लेखनी अवश्य चलाया करेंगे। क्योंकि इस क्षेत्र के दर्शन मात्र से हमें भारतेन्दु के इस दोहे का स्मरण होता है कि—

कोटि कोटि ऋषि परस तन, कोटि कोटि नृप सूर।
कोटि कोटि बुध मधुर कवि मिले यहाँ की धूर॥

सिमला यात्रा

गत ज्येष्ठ मास की दुपहरी में एक दिन जब कि दुर्भिक्ष, महामारी और ग्रीष्म की प्रचण्डता के कारण भिवानी के लोग भयभीत हो घर घर यह कह रहे थे कि—"छप्पन के भयङ्कर दुर्भिक्ष ने देश का धन, बल, वैभव सब हर लिया; शरीरों में सामर्थ, घरों में अन्न, जङ्गल में पशु और वृक्षों में पत्ते तक को न छोड़ा; पर तिस पर भी विधाता को सन्तोष नहीं हुआ! हा! समझते तो यह थे कि छप्पन के साथ हमारे दुःखों का भी शेष हो जायगा, सत्तावन की शीतल छाया से छप्पन का सन्ताप दूर होगा, पर नहीं, यह आरम्भ ही से भयङ्कर निकला! और हमारे दुःख, द्रौपदी के चीर का अनुकरण कर रहे हैं! अभी अन्न जल की हाय हाय से आकाश फट रहा है, लोगों के आँसू भी सूखने नहीं पाये हैं कि, हैज़े की चढ़ाई ने लोगों के और भी छक्के छुड़ा दिये!

छप्पन के कराल गाल से जिन लोगों ने ज्यों त्यों कर अपना अनाहारक्लिष्ट एवं अस्थिचर्मावशेष शरीर बचा लिया था, हैज़े के दावाग्नि में अब वह भी भस्मीभूति हो रहा है! "हा पिता! हा माता! हा पुत्र!" की हृदयविदारणी ध्वनि के सिवाय अब इस हतभाग्य देश में और शब्द ही सुनाई नहीं देता। जो कुछ हुआ सो हुआ, अब तक तो जेसे तैसे जी बचाया पर अब भगवान् की दया बिना उद्धार होना बिल्कुल असम्भव है......!" तब सिमले की सनातन-धर्म्म-सभा का निमन्त्रणपत्र मिला कि, निर्जला एकादशी तक यहाँ अवश्य आइये, सभामन्दिर की प्रतिष्ठा है।

ऐसे अवसर पर जब कि, गरमी से प्राण व्याकुल हो रहे थे, तत्ती तत्ती लू शरीर को दग्ध कर रही थी और रात दिन हाहाकार

सुनते सुनते हृदय अपनी कोमलता को खो रहा था, सिमले के निमन्त्रण से कैसा आनन्द हुआ होगा, यह भुक्तभोगी सहृदय पाठक स्वयं अनुभव कर सकते हैं, यदि सिमले की सौन्दर्य्य-कथा किसी ने सुन रक्खी हो और मेरी जैसी दशा में होता, तो अवश्य ही यात्रा के लिए अपने भाग्य की प्रशंसा करता।

यद्यपि हमारे देशहितैषियों का दिल कह उठेगा कि "जब देश की दुर्दशा हो रही हो, तब शीतल समीर के लिए सिमले जाना उचित नहीं" तथापि उन्हें समझना चाहिये कौन हम और कैसा हमारा देश! जिनका देश है, जिन्हें प्रजा अपना पिता समझती है, जिनकी ममता पर देश के सुख सौभाग्य की स्थिति है, वही भारतेश्वर जब देश की घोर दुर्दशा के समय सिमले की ठंढी हवा का लोभ परित्याग नहीं कर सकते, तब हमारे जैसे साधारण मनुष्य उस अनिर्वचनीय लोभ को कब परित्याग कर सकते हैं! तिस पर वे बिना बुलाये जाते हैं और हम बुलाने पर! अस्तु।

इसी दिन पण्डित दीनदयालु शर्म्मा जी का दिल्ली से तार और पत्र आया, जिनसे विदित हुआ कि इस अवसर पर हमारा सिमले जाना उन्हें भी इष्ट है और वे हमारी प्रतीक्षा करते हैं; सुतरां, सब बातों की मीमाँसा हो गई। राज्य के स्वामी भारतेश्वर बड़े लाट सिमले जाते हैं और 'भारतधर्म्म' के स्वामी पण्डित दीनदयालु सिमले जाते हैं। हमारी सिमला-यात्रा का यदि अब कोई विलायत-विहारी देशहितैषी विरोधी हो, तो हम लाट साहेब को दिखा सकते हैं और जो धर्म्म की दुहाई मचाने वाला कोई पुरानी प्रथा का पथिक हमारे पथ का कण्टक बने, तो हम पण्डित जी को पकड़ सकते हैं। वास्तव में न हम देशहितैषी हैं और न कोई हमारा धर्म ही से तादृश सम्बन्ध है। दो चार भोले भाले लोग हमें वैसा समझते हैं, इसीसे चित्त में कुछ हिचक थी, सो अब वह भी न रही। क्योंकि,—

यद्यदा चरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजनः।

यात्रा का आरम्भ

जेठ सुदी दशमी ता० ७ जून बृहस्पतिवार को दिन के नौ बजे भिवानी से रेल में सवार हो उसी दिन, दिन के दो बजे दिल्ली पहुँचे। मार्ग में नेत्रों के सामने जो भयङ्कर दृश्य दिखाई दिया, वह हमारे लिए नया न होने पर भी इस देश के लिए नया था। रेल की सड़क के दोनों ओर जहाँ तक दृष्टि जाती थी, न कोई मनुष्य दीखता था, न कोई पशु और न पक्षी! मानों देश एक बार ही महाश्मशान बन गया है! तृण जल की कौन कहे, जहाँ तहाँ वृक्ष मिले वे भी सब श्रीविहीन, रुण्ड मुण्ड! दो चार वृक्षों के नीचे अनाहार-क्लिष्ट धराशायी, मनुष्यों का दर्शन हुआ सही, पर यह जाना नहीं कि वे अपना दम तोड़ रहे थे कि, अनन्त निद्रा में सो चुके थे! आंधी के अन्धकार को देखकर यही प्रतीत होता था कि, वायु को अब किसी का डर ही नहीं रहा, मानों वेद के इस कथन पर कि—"भयादिन्द्रश्च वायुश्च" वह अट्टाट्टहास कर महा उत्पात कर रहा है। गाड़ी से जिस समय उतरे, तो कपड़ों पर कई अङ्गुल रेत चढ़ गया था और अन्यान्य यात्रियों के दर्शन से हमें अपनी आकृति का ज्ञान हो हँसी सी आरही थी।

दिल्ली में पण्डित जी से मिले और उसी दिन सायंकाल के ७ बजे कालिका का टिकट ले रेल में उनके साथ सवार हुए। पण्डित जी के साथ मुरादाबाद के सुपण्डित, सुवक्ता एवं सुविवेचक श्रीयुक्त पं० गोविन्दराम शास्त्री और भारतधर्म्म महामण्डल के कर्त्तव्यपरायण प्रबन्धकर्ता विद्याविनोद श्रीयुत पण्डित बालमुकुन्द शर्म्मा थे। हमारी गाड़ी सुनियत समय पर पानीपत की इतिहासप्रसिद्ध भूमि और स्मरणीय कुरुक्षेत्र में जैसे जैसे पहुँचती गई, वैसे वैसे हमारे मन की गति भी बदलती गई। दुराचारी नादिरशाह आदि यवनों का अत्याचार, एक सामान्य घटना से महाराष्ट्र वीरों का अधःपतन और महाभारत की अनेक युद्धघटनाएँ तब तक चित्त में चुभती रहीं; जब तक भगवती निद्रादेवी की हम पर कृपा नहीं हुई। प्रातःकाल की ठंढी ठंढी

हवा के लगने से जब नेत्र खुले तो गाड़ी को शैलमाला के बीच मन्थरगति से चलते पाया। आगे पीछे दो अंजन जुड़े देख कर आश्चर्य हुआ कि बात क्या है। पूछने पर विदित हुआ कि अंबाले से पहाड़ी भूमि आरम्भ होने से इधर ऊँचाई पर चढ़ना पड़ता है, अतएव दो अंजनों की आवश्यकता होती है। एक आगे से खींचता है, दूसरा पीछे से ढकेलता है।

कालिका स्टेशन

कालिका स्टेशन पर गाड़ी के पहुँचने पर उतर कर देखा कि काले कपड़े पहिने पुलिस के बहादुर यमदूत के समान रज्जु हाथ में लिए खड़े हुए हैं। देख कर प्राण थर्रा उठे। अखबारों में पढ़ी हुई 'कोरंटाइन' की बातें आँखों के सामने आ खड़ी हुईं! पर सौभाग्य यह हुआ कि, दयालु गौराङ्गदेव ने अपने पवित्र कर से हमें स्पर्श कर छोड़ दिया। सुना गया कि जिन स्थानों में प्लेग है, किम्वा जो बीमार हैं, वे ही यहाँ रोके जाते हैं, अन्य नहीं।

पहले जब कालिका तक रेल बनी नहीं थी, तब अंबाले से सिमले आना पड़ता था। अब अनेक प्रकार के कष्ट दूर हो, यात्रियों को बहुत सुभीता हो गया है। कलकत्ते से पञ्जाब की डांक गाड़ी में सवार हो, कोई भी तीसरे ही दिन, दस बजे कालिका और सन्ध्या के समय सिमले पहुँच जा सकता है।

हिमालय

कालिका स्टेशन कसोली पहाड़ की जड़ में है। कसोली पहाड़ को हिमालय ही के परिवार में समझना चाहिये। हिमालय सम्बन्धी बातों से मालूम होता है कि बहुत लोग भ्रमग्रस्त हैं। वे समझते हैं, हिमालय प्रस्तरमय होने पर भी वह सारा बरफ से ढका रहता है, तिल धरने को भी कहीं जगह नहीं। हिमालय की प्रचण्ड सरदी के कारण वहाँ पक्षी भी नहीं उड़ सकते; केवल लोग दूर ही से स्तोत्रपाठ और प्रणाम कर चले आते हैं। हिमालय की ऊँचाई के सम्बन्ध में भी बोध होता है, अनेक लोगों की ऐसी धारणा है कि, वह ज़मीन से

एक दम सीधा सपाट खड़ा हुआ है। चाहे और किसी की न हो, अन्ततः पहले पहिल हमारी ऐसी ही धारणा थी। सुतरां, जब हम सब से पहली यात्रा में यहाँ आये थे, तब कालिका में उतर हिमालय के दर्शन कर निराश हुए थे। न तो कहीं बरफ ही देखने में आई और न अन्यान्य पहाड़ों की अपेक्षा अधिक ऊँचाई देखी गई। किन्तु भौगोलिकों ने कुछ हमसे प्रवञ्चना भी नहीं की है। एक पहाड़ के ऊपर दूसरा, दूसरे पर तीसरा, तीसरे पर चौथा,—इसी प्रकार हिमालय ऊँचा होता गया है। निदान हिमालय की सब से ऊँची चोटी, भूमि से बहुत ऊँची है,—अपनी जड़ से नहीं। पास खड़े होकर देखने से केवल सामने का पहाड़ दृष्टिगोचर होता है;—जैसे दिल्ली में किसी मकान के पास खड़े होकर कोई घंटाघर की ओर मुँह करके देखे तो भी उसे मकान से बहुत ऊँचा घंटाघर दृष्टिगोचर नहीं होता, मकान ही दिखलाई पड़ता है।

और बरफ की यह बात है,—यह सिमला शहर हिमालय के हृदय पर स्थित है; आज कल तो भला जेष्ठ मास है और वर्षा का अब भी यहाँ भी अभाव है, अतः देश की तरह यहाँ भी धूल उड़ रही है! भेद इतना ही है कि वहाँ की धूल उष्ण है और यहाँ की सुशीतल; पर कार्तिक में भी हमने चारों ओर ध्यान करके देखा तो कहीं भी बरफ दिखलाई नहीं दी थी। केवल उत्तर की ओर बहुत दूर बरफ़ से ढकी पहाड़ की चोटी दृष्टिगोचर हुई, किन्तु वह भी चिरस्थायी बरफ नहीं, गरमी के दिनों में गल जाती है। चिरस्थायी बरफ अनेक जगह हिमालय में है सही, किन्तु समग्र हिमालय के कलेवर की तुलना में वह स्थान कुछ वस्तु नहीं है।

हिमालय में मनुष्य वास करते हैं, रीति पूर्वक कृषिकार्य चलता है, गेहूँ, मक्की, आलू इत्यादि प्रचुरता से उत्पन्न होते हैं और इधर उधर चारों ओर पहाड़ी मार्ग हैं। इन सब सङ्कीर्ण और ऊँचे नीचे मार्गों में गाड़ी नहीं चल सकती है सही, किन्तु व्यवसायी लोग भारवाही पशुओं को ले, अनायास आते जाते हैं। सिमले से तिब्बत देश

तक एक लंबा मार्ग चला गया है, दुरन्त शीत में भी वह बरफ से दुर्गम नहीं होता।

कालिका से सिमला ५८ मील है, सुतरां इस दीर्घपथ की एक संक्षिप्त कहानी पाठकों को अप्रीतिकर न होगी, इसलिए यहाँ उसे प्रकाश करते हैं।

कालिका में सवारी

कालिका में कालिका जी का एक मन्दिर है, दुर्गा देवी के नाम पर गाँव बस गया था, जो अब एक छोटा सा कसबा हो गया है। स्टेशन से अनुमान मील भर है। सड़क के दानों ओर बस्ती है। ऊँची ऊँची दुकानों में पञ्जाबी मिठाई बेचते हैं और इधर उधर हिन्दुस्तानी मुसाफिरों के लिए रोजगारियों ने सराय खोल रक्खी हैं। सवारी यहाँ हरेक प्रकार की मिल सकती है। कालिका-सिमले के मार्ग का नाम 'कार्ट रोड' है। डाँक विभाग इस मार्ग में सवारियों का व्यापार करता है। सवारी तीन प्रकार की हैं,—टोंगा, फिटन और आराम टोंगा! टोंगा,—इक्का एवं बग्घी गाड़ी के मेल से उत्पन्न होने वाला एक पदार्थ है। इसमें दो मनुष्य अगली ओर बैठ सकते हैं और दो ही पिछली ओर। दो घोड़े इसे खैंच कर ले जाते हैं जो प्रत्येक चौकी पर बदलते रहते हैं। फिटन का वर्णन अनावश्यक है। आराम टोंगा, सचमुच 'आराम टोंगा' है। इसमें आराम से टांगें (पैर) पसार कर मनुष्य सो सकता है। रोगियों के काम की चीज है। इसके अतिरिक्त देशीय लोग भी घोड़े, इक्के गाड़ी, झप्पान आदि का व्यवसाय करते हैं।

पण्डित जी और शास्त्री जी ने यहाँ टोंगा किराये किया और हमने एवं श्रीपण्डित बालमुकुन्द जी ने इक्का किया। टोंगा केवल सात आठ घंटे में सिमले पहुँचाता है और इक्का, दूसरे दिन दश ग्यारह बजने पर। टोंगे वाले अधर ही अधर जाते हैं और इक्के वालों को जहाँ तहाँ मार्ग में चढ़ाई के समय नीचे उतर कर पैदल भी चलना पड़ता है। टोंगे में प्रत्येक को अटल भाव से ७) रुपैये भेंट करना पड़ते हैं और इक्के राम की दक्षिणा कुछ स्थिर नहीं है, जैसा समय

हो। कभी कभी इसके पुजारी उतराई के समय ॥) ही में सन्तोष कर लेते हैं और चढ़ाई के समय तीन चार रुपैयों में भी कठिनता से सन्तुष्ट होते हैं। हमने एक इक्का ४) में किराये किया था। इक्का भी अपने ढंग का इक्का ही था।

सिमले की सड़क

कालिका से सिमला ४७०० फिट ऊँचा है। कार्ट रोड भी ४७०० फिट ऊँची गई है। किन्तु ५८ मील में यह ऊँचाई बटी हुई है, इसी कारण इसकी क्रमोन्नति अत्यन्त मृदुभाव से हुई है। इसलिए सब प्रकार की गाड़ी इस पथ से जा आ सकती हैं। दार्जिलिङ्ग में रेलवे हो गई है। इस जगह अब तक क्यों न हुई, यह प्रश्न किसी किसी के मन में उठता होगा। इसका उत्तर यह है कि इतने दिनों तक इस विषय में गवर्नमेंट ने अनुमति नहीं दी थी। रेल के आने से सिमले में अधिक जनता की सम्भावना है, सो शौक़ीन साहब लोगों को पसंद नहीं था, परन्तु अब हमारी बुद्धिमती गवर्नमेंट ने आज्ञा दे दी है, सुना है काम भी आरम्भ हो गया, अगले वर्ष तक सम्भव है कि सिमले के शिखर पर रेल भी पहुँच जायगी।

सिमले की सड़क (कार्ट रोड) चौड़ाई में अधिक नहीं है। केवल दो गाड़ी पास पास जा सकती हैं। कालिका शहर के बीचोबीच हो कर यह सड़क पहाड़ पर चढ़ी है। पहाड़ पर सड़क किस प्रकार बनती है सो सब लोग नहीं जान सकते हैं। कोई यह न समझे कि सड़क नीचे से एक बार पर्वत की चोटी को फोड़ कर ऊपर चली गई है। वेलन का पेंच जिस तरह नीचे से ऊपर को चढ़ता है, पहाड़ी सड़क भी उसी प्रकार चक्कर खाती ऊपर को गई है। कह चुके हैं कि, एक पहाड़ दूसरे से मिला हुआ है। सड़क एक पहाड़ छोड़ कर दूसरे पहाड़ पर होती हुई क्रम से सिमले पहुँचती है। ढालू पहाड़ को काट कर यह सड़क बनाई गई है, इसलिए इसके एक पार्श्व में मानों ऊँची पाषाण की प्राचीर खड़ी है, अन्य पार्श्व में भयङ्कर गम्भीर 'खाँड्य' (गर्तविशेष) चली गई है। इस खाँड्य की ओर

पत्थरों का दो हाथ ऊँचा डंडा खिंचा हुआ है जिससे कोई यात्री सड़क से इधर गिरने नहीं पाता।

सिमले के मार्ग की सुन्दरता

इस मार्ग में वैचित्र्यपूर्ण दृश्यावली अधिक नहीं है। 'यथापूर्वस्तथापरः' क्रमागत ही पहाड़, पहाड़ के पीछे पहाड़। बीच बीच में एक दो इक्का वा टाँगे से अथवा ऊँटों की कतार से अचानक साक्षात्,—ऊँटों की कतार न कह कर वरञ्च इसे "ट्रेन" कहना उचित है, कारण कि हमने सर्वत्र देखा, एक एक ऊँट की पूँछ के साथ पिछले पिछले ऊँटों की नाक रज्जु से बँध रही थी। इस प्रकार दस पन्द्रह ऊँटों की श्रेणी एक 'रेलवे ट्रेन' होकर चलती है, ये बिचारे मारवाड़ के जीव हैं, रेल की रेल हैं, परन्तु लोभी बनिये इन्हें इतने ऊँचे पहाड़ों में ला फँसाते हैं। हाय रे लोभ! पर्वत के पत्थर कहीं काले, कहीं पीले और कहीं कहीं मटमैले भी पाये गये। इधर उधर ऊँचे नीचे पहाड़ी कृषकों की एक एक दो दो क्षुद्र कुटीर, जिनकी परम निर्जनता और रमणीयता कवियों का चित्त चुराने वाली है। नीचे "खाँड्य" की ओर सुन्दर सजीले शस्यक्षेत्र हैं। दूर से देखने पर ऐसा मालूम होता है कि, पर्वत के शरीर में लंबी लंबी सीढ़ियाँ तैयार की गई हैं अथवा पर्वताधिराज ने हरित और पीतवर्ण के जनेऊ पहन रक्खे हैं। इस प्रकार सीढ़ी वा पैड़ी की तरह पहाड़ के पत्थरों को काट काट कर इधर खेत बना कर बोये जाते हैं। इसमें बीच बीच में कहीं अति क्षुद्र जलधारा पहाड़ के ऊपर से अति मधुर शब्द के साथ गिर रही है। वह जल भी कैसा मधुर और कैसा सुशीतल बोध होता है। देवराज ने असुरों से डर कर अमृत को हिमालय में छुपा दिया है जो यहाँ जल रूप से बह रहा है।

हमने अनेक पहाड़ों की सैर की है, परन्तु इस पहाड़ पर जैसे मनोहर वृक्ष देखे ऐसे अन्यत्र नहीं। यहाँ सहस्रों प्रकार के वृक्ष देखने में आए पर उनका नाम गुण कौन जाने! सायङ्काल के समय एक जगह देखा गया, पहाड़ पर घास उत्पन्न होकर पक चुकी है, जो देखने में

ऐसी सुन्दर लगी कि, मानों पर्वतेन्द्र एक बाघम्बर को धारण कर सायङ्कालीन उपासना में मग्न हैं। इस मार्ग में विस्मय की बात एक यह है कि एक भी जङ्गली जानवर कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता।

मिस्टर भिल्कू

ऊपर हम जिस 'कार्ट रोड' का वर्णन कर आए हैं वह सहज में नहीं बनी है, गवर्नमेंट का करोड़ों रुपैया इसके बनाने में खर्च हुआ है। यह सड़क हमारे हिन्दू शिल्प का जयस्तम्भ है, इस बात को एक इंजीनियर मित्र द्वारा जान कर जैसा हमें आनन्द हुआ था, बोध होता है, वैसा ही 'सुदर्शन' के विज्ञ पाठकों को होगा, इसलिए उस आश्चर्य कथा को यहाँ प्रगट करना उचित समझते हैं।

पहिले पहिल जब गवर्नमेंट ने यह चाहा कि सिमले की ऐसी एक सुन्दर चौड़ी और दृढ़ सड़क बने, जिस पर घोड़ागाड़ी सहज में जा सके, तब इंजीनियरों ने इस कार्य को बहुत ही दुस्साध्य बतलाया और जब गवर्नमेंट के आग्रह से इसका आरम्भ भी हुआ, तब पद पद में अनेक कष्ट होने लगे, जिनसे एक बड़े भारी अंग्रेज इंजीनियर को भग्नमनोरथ होना पड़ा! कहीं सड़क बनाई और पहाड़ धस गया! कहीं पहाड़ ही ऐसा मिला कि फोलाद का बाप! इत्यादि कारणों से जब कई वर्षों के परिश्रम से भी कुछ न हुआ, तब एक दिन एक हिन्दुस्तानी मित्र ने बड़े इंजीनियर साहेब से आकर कहा कि "महाशय! यदि आप यह सड़क बनाना चाहते हैं तो 'भिल्कू' से मदद लीजिये। पहाड़ों की तासीर और पहाड़ी मार्ग की मीमांसा जैसी वह जानता है, वैसी आप नही जान सकते! इंजीनियर साहेब ने जब आग्रह और आदर के साथ 'भिल्कू' को बुलाकर देखा तो वे यह जान कर हताश हो गये कि 'जिसकी अपने मित्र से इतनी प्रशंसा सुनी थी, वह एक असभ्य पहाड़ी गँवार है, जो किसी भाषा का एक अक्षर तक नहीं जानता और अपने पास एक कम्बल और काठ की एक छोटी सी फावड़ी के सिवाय और कुछ नहीं रखता।"

हिन्दुस्तानी सज्जन के समझाने और धैर्य देने पर साहेब ने

भिल्कू से सड़क के मामले की चर्चा चलाई। तब उन्हें यह जान कर आश्चर्य हुआ कि जिसे वे निपट मूर्ख समझ रहे हैं वह इस विद्या का पारदर्शी है। साहेब उनको अपने अन्यान्य इंजीनियर मित्रों के पास ले गये और एक कमेटी कर के भिल्कू की बातों पर विचार किया और अन्त में अंगरेजों को पीछे रख भिल्कू सड़क बनाने में अग्रसर हुए। कहते हैं कि भिल्कू अपनी चिरसहचरी फावड़ी से सान्ध कर एक पत्थर फेंकता चलता और जहाँ जहाँ पत्थर गिरता, वहाँ वहाँ इंजीनियर चिन्ह करते जाते। इसी प्रकार सड़क का मार्ग निश्चय हुआ था। परीक्षा से जाना गया कि जो मार्ग निश्चय हुआ उसमें कोई इंजीनियर दो चार हाथ का भी लाघव नहीं कर सकता!

अंग्रेज समाज में मिस्टर भिल्कू का बहुत आदर हो गया था, गवर्नमेंट से उन्हें 'रायबहादुर' की पदवी मिली थी। वे अपनी नम्रता, उदारता, शिष्टता और अपूर्व विद्या से सब के प्यारे हो गये थे। सदा कम्बल ओढ़ते थे और कुर्सी पर न बैठ भूमि में बैठा करते और अपनी कुर्सी पर अपने प्यारे कम्बल को रख देते थे। अपने पास कम्बल के सिवाय और कुछ न रखते थे, जो मिलता भूखों को दे देते थे। रेल निकालने का मार्ग मिस्टर भिल्कू ने इंजीनियरों को बतलाया था पर जहाँ से अंग्रेज लेजाना चाहते थे, भिल्कू ने उस स्टेशन का परित्याग किया। कहा कि यहाँ से जा ही नहीं सकती। सुना है कि अब जो रेल बन रही है, वह उसी कम्बलधारी के दिखाये हुए मार्ग का अनुसरण करेगी! यदि भिल्कू भारतवर्ष में उत्पन्न न हो कर इंगलैंड में उत्पन्न होता, तो इतना शीघ्र वह लोगों के विस्मृतिसागर में निमग्न नहीं होता।

धर्मपुर

हमारे इक्कों ने कालिका से चल कर १२ मील पर धर्मपुर में विश्राम किया। इक्के सब यहीं ठहरा करते हैं। धर्मपुर नाम बड़ा है, पर असल में वहाँ दस बारह घर और दो चार दुकानों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। धर्म्म की तो यहाँ कोई बात हो नहीं। स्पर्शास्पर्श

का विचार रखने वाले के लिए तो यहाँ जल का बड़ा भारी कष्ट है। पहिले जब हम शिमले आये थे, तब मार्ग में सर्वत्र वृष्टि होती रही थी, इससे जल ही जल दिखाई दिया था। पर अब के छप्पन ने इधर भी अपने हाथ की सफाई दिखा रक्खी थी! धर्मपुर में धूल उड़ रही थी, तिस पर कड़ाकेदार धूप और मध्यान्ह का समय। न नहाये न धोये। त्राहि भगवन्! आज की निर्जला सचमुच हमारे लिये निर्जला हो जाती, यदि हमारे साथ उत्साही पं० बालमुकुन्द जी न होते।

आपने पता लगा कर कहा कि यहाँ से कुछ नीचे एक बावड़ी है, वहीं चलना चाहिये। कहने की देर थी चट नीचे बावड़ी पर पहुँचे। जा कर देखा कि कुछ स्त्रियाँ मधुमक्षिका के समान उसे घेरे खड़ी हैं। हमारे मित्र के राजपुरुषोचित सुन्दर वेष और सुश्रीक चेहरे को देख कर, जाने उन्होंने उनको पटियाले का दीवान समझा कि नहीं, पर इसमें सन्देह नहीं कि वे ससम्भ्रम वहाँ से हट गईं। हमने उस अमृतोपम जल का पान कर मृतप्राय हृदय को पुनर्जीवित किया। स्नानादि आह्निक कृत्य के करने से जो यहाँ सुख मिला वह वर्णन से बाहर है।

श्रीनगर

धर्मपुर से चल कर सायङ्काल के समय कान्दा घाट पहुँचे, जिसे पटियाले की रियासत वाले श्रीनगर के नाम से पुकारते हैं। मार्ग में डिगसाई की छावनी दूर से देखी और सोलन की छावनी ठीक सड़क ही पर मिली। यह एक छोटी सी पहाड़ी रियासत भी है। राजा की दशा,—जिमि दसनन मँह जीभ विचारी! छावनी के कारण यहाँ बाजार और देवमन्दिर भी अच्छा है। सिमले के मार्ग में एक यही स्थान चमत्कार वाला है। कान्दाघाट वा श्रीनगर एक खासा स्थान है, महाराज पटियाले का यहाँ एक महल भी है और राज्य भी उन्हींका है, ठहरने को यहाँ स्थान बहुत हैं। सिमले से चल कर इक्के यहीं आन कर रात भर ठहरते हैं। यहींसे सिमले का स्वरूप प्रकट होता है। खूब ठंढ पड़ती है। दूसरे दिन प्रातःकाल ही सवार हुए और दस

बजे सिमले पहुँचे। सनातनधर्म सभा के अलङ्कृत "धर्मभवन" में जा कर उतरे, जिसकी प्रतिष्ठा की इस समय यहाँ धूम मच रही थी और श्रीपण्डित गरुड़ध्वज शास्त्री प्रतिष्ठा कार्य्य के आचार्य्य बन रहे थे।

सिमले का इतिहास

सिमले शहर का वर्णन करने से प्रथम हम यहाँ इसका कुछ इतिहास वर्णन करना भी उचित समझते हैं। भिखारी का लड़का यदि क्रम से राजसिंहासन पर बैठ जाय, तो उसके जीवनचरित की चर्चा सब को प्यारी लगती है। सिमले के भाग्यपरिवर्तन की बात भी इसकी अपेक्षा कम विस्मयकर नहीं है। यहाँ क्या था?—वृक्ष थे, पत्थर थे और असभ्य पहाड़ियों के छोटे छोटे दस पाँच घर थे और अब सिमला दूसरा कलकत्ता हो रहा है। इतने बड़े भारतवर्ष की अन्यतम राजधानी हो रहा है। सुतरां आशा करते हैं कि सिमले की एक पुरानी कहानी से उन लोगों को छोड़ कर, जो बिल्कुल ही मधुकर के समान इतस्ततः रस चाखने वाले हैं, अन्य किसी की धैर्य्यच्युति न होगी।

सिमला—परगना पहिले पटियाले के राजा और कौंथल (जुलंगा) के राणा के साझे की जमीदारी थी। सन् १८१४ ईसवी में जब अंग्रेज़ों का 'नैपाल युद्ध' चल रहा था, तब नैपाल के वीर सेनापति अमरसिंह थापा की वीरता के कारण गोरखों ने सब पहाड़ी राज्यों को अपने राज्य के अन्तर्गत कर लिया था। उस समय यमुना और सतलज के मध्यवर्ती देशों में नैपालियों की विजयपताका उड़ रही थी। अंग्रेज़ों ने विचारा कि जब तक इनको इस स्थान से खदेड़ कर बाहर न करेंगे; तब तक युद्ध में मङ्गल की सम्भावना नहीं है। सुतरां देशीय राजाओं की सहायता ले, अंग्रेज़ों ने गोरखों को यहाँ से निकाल दिया। अंग्रेज़ों का उद्देश्य भी पूरा हो गया, पहाड़ी राजाओं को भी धीरे धीरे फिर से अधिकार मिल गये। सिमले का परगना पटियाले के राजा और कौंथल के राणा ही के पास रह गया। अंग्रेज़ों का इस पहाड़ी देश से सब से पहिला यहीं सम्बन्ध हुआ था।

लेफ्टिनेंट रास साहेब उन दिनों पहाड़ी राज्य के सहकारी पोलिटिकल एजेंट थे। नहीं कह सकते कि किस दिन और किस मुहूर्त में, सन् १८१९ में उन्होंने सिमले आकर काठ मिट्टी का एक मकान बनवाया था जिससे सिमले की इतनी श्रीवृद्धि हुई। इसके तीन वर्ष पीछे रास साहेब के उत्तराधिकारी लेफ्टिनेंट 'केनेडी' साहेब ने एक पक्का स्थान निर्माण कराया। यही सिमले में सब से पहिला पक्का मकान बना, जो अब तक खड़ा हुआ सिमले के गृहसमाज में अति वृद्ध प्रपितामह के उच्चासन का अधिकार कर रहा है। इसके पीछे साहेब लोगों ने, विशेषतः जिनका स्वास्थ भङ्ग हुआ था उन्होंने, पटियाले और कौंथल की आज्ञा से धीरे धीरे कोठी बनाना आरम्भ किया और इधर उधर के स्थानों से यहाँ आन कर रहने लगे। उन दिनों साहेब लोगों को बिना किसी प्रकार के कर (वा टैक्स) के यहाँ कोठी बनाने के लिए भूमि मिल सकती थी, केवल इस शर्त पर कि वे लोग न यहाँ गोवध कर सकेंगे और न दोनों रियासतों की आज्ञा बिना किसी वृक्ष ही को काट सकेंगे (सिमले में अब भी कोई वृक्ष नहीं काट सकता; किन्तु हाय! पटियाला! गोवध सम्बन्धी—बस रहने दीजिये, नहीं तो........

पाँच छः साल के पीछे इस प्रकार के रहने वालों की संख्या बढ़ गई और सिमले की आबोहवा की जहाँ तहाँ प्रशंसा होने लगी; जिससे सिमले का पहाड़ भारतवासी और अंग्रेजों में अत्यन्त स्वास्थ्यकर समझा जाने लगा। यहाँ तक इसकी प्रसिद्धि हुई कि, सन् १८२७ में बड़े लाट 'आमहर्ष्ट' साहेब ने भरतपुर की लड़ाई के पीछे, उत्तर पश्चिम का दौरा कर ग्रीष्मऋतु के कई मास सिमले में व्यतीत किये थे। इसी साल से सिमले के महत्व की सूचना हुई। इसके तीन वर्ष पश्चात् केनेडी साहेब को (ये इस समय स्वयं पोलिटिकल एजेंट हो गये थे) गवर्नमेंट ने लिख भेजा कि यदि दूसरी जगह के बदले में, एक अच्छा शहर बसाने योग्य सिमले में भूमि मिल सके, तो रियासतों से ले लेनी चाहिये। केनेडी साहेब ने दोनों रियासतों से बंदोबस्त

कर गवर्नमेंट की आज्ञा का प्रतिपालन किया। सिमले के सिमाने में उस समय छोटे छोटे सोलह गाँव थे। इनमें बारह कौंथल के राणा के थे, जिनकी सालाना आमदनी ९३७) रुपये थी। इसके बदले में कंपनी ने राणा को 'रायेन' नामक एक परगना दिया; जिसकी सालाना आमदनी उस समय १२८९) रुपये थी। शेष चार ग्राम पटियाले के राजा के थे, जिनके बदले में उन्हें बारोली परगने का कुछ अंश मिला; जिसकी वात्सरिक आय २४५) रुपये थी।

इसी समय से बड़े लाट साहेब हर साल सिमले आने लगे। प्रथम प्रथम वे यहाँ कई एक सप्ताह तक ठहरा करते, क्रम से अवस्थिति काल की मर्य्यादा बढ़ कर महीनों तक पहुँच गई। चारो ओर के पहाड़ी राजाओं से मिलने का इस जगह बहुत अच्छा मौक़ा था। इसके सिवा तब बड़े लाट साहेब शीतऋतु में भ्रमण करने बाहर निकलते, कलकत्ते की अपेक्षा सिमले से दौरा आरम्भ करने में अधिक सुभीता था। प्रथम प्रथम लाट साहेब के साथ अल्पसंख्यक कर्म्मचारी आया करते, सर जान लारेंस के समय से सिमला भारतेश्वर की सही तौर पर निदाघ-राजधानी में परिणत हुआ।

सिमला

अब हम सिमले शहर का कुछ वर्णन करते हैं। सिमला कलकत्ते की समतल भूमि से अनुमान ७००० फिट ऊंचा होगा। केवल सिमले ही में नहीं, सभी पहाड़ी शहरों में यह विशेषता है कि वहाँ की जगह ऊंची नीची बहुत है। सिमले के सब से ऊंचे स्थान से, यदि निम्नतम स्थान का अन्तर नापा जाय तो हजार फिट से अधिक निकले। एक जगह से दूसरी जगह आने जाने में प्रायः चढ़ाई चढ़ना पड़ता है, नहीं तो उतराई ही उतरना होगा। जो लोग यहाँ नये नये आते हैं, उन्हें चढ़ाई उतराई में बड़ा ही कष्ट होता है।

सिमले की पूर्व और पश्चिम सीमा में दो गिरिशृङ्ग (पर्वत की चोटी) खड़े हैं। पूर्व प्रान्त में जाखू पहाड़ की ऊँची चोटी है, हमारे पाठकों को यदि इसमें कुछ आपत्ति न हो, तो हम (Peak of Jakho)

को 'यत्तचूड़ा' के नाम से बोल सकते हैं। महाकवि कालिदास के विरही यक्ष ने जिस मेघ को दूत बना प्रिया के पास निज प्रेमवार्ता भेजी थी, वह सम्भवतः बहुत दूर है। तथापि (Jakho) को 'यक्ष' कहने से किसी प्रकार की क्षति नहीं देखते, वरञ्च नाम के गुण से इसके पाषाणस्तूप से कुछ काव्य सौरभ भी मिल सकता है। दूसरी बात और है। यक्ष और गन्धर्व दो भिन्न भिन्न जातियाँ होने पर भी उनमें बहुत कुछ मेल है। इस पहाड़ का रूप, लावण्य, स्वेच्छाचार, नरयान और स्वाभाविक मधुरता आदि देखने से यहाँ के साथ यक्ष वा गन्धर्व जाति का कुछ सम्पर्क भी प्रतीत होता है। जो हो। 'जाखू' के साथ 'यक्ष' शब्द की दिल्लगी भी आनन्द और विचाररहित नहीं है। पश्चिम सीमा में Prospect Hill) है, जिसको एक सुदीर्घ गिरिपृष्ठ Ridge) इन दोनों को जड़ों को मिला देता है। जाखू वा यक्षचूड़ा के नीचे से और एक गिरिपृष्ठ (Ridge' उत्तर की ओर जाकर 'इलिसियम्' नामक पहाड़ की चोटी में शेष हो गया है। बस इतने ही भूभाग में सिमला शहर है।

गंज

सनातनधर्म्म सभा का धर्म्मभवन जिसमें हम ठहरे हुए थे, गंज बाजार में है। 'गंज' नीचे बाजार से कुछ नीचे बसता है, पर धर्म्मभाव में यह ऊँचे से भी ऊँचा है। सिमले भर में यही एक ऐसा बाजार है जहाँ चारो ओर केवल हिन्दुओं ही के घर और दुकानें हैं। इसीमें ऐसे ऐसे धर्म्मात्मा हिन्दू हैं जो प्रति दिन अतिथि अभ्यागतों की पूजा भगवान् के समान करते हैं। सिमले ऐसे शहर में रह कर गोब्राह्मण की रक्षा का विचार यहीं के सज्जन किया करते हैं। नाना प्रकार के अन्न और आलू के गंज में गंज लगे रहते हैं। कोई यह न समझे कि जब गंज नीचे बाजार से भी नीचा है तब उसके नीचे और कुछ होहीगा नहीं; नहीं, 'गंज' को सिमले का मध्य भाग समझना चहिये। उससे नीचे कई सड़कें और हिन्दुस्तानियों के सहस्रों मकान हैं।

नीचा बाजार

गंज से कुछ ऊपर चढ़ने से नीचा बाजार मिलता है। इसीको बड़ा सिमला कहा करते हैं। इसमें सब दुकाने देशियों की हैं और सब प्रकार की जिन्सें भी यहाँ देशियों के काम की बिकती हैं। आदमियों की खचा-खच यहाँ इतनी रहती है कि उसके सामने कलकत्ता बंबई की भीड़ भी मात है। तरकारी, मसाला, कपड़ा और नीलामी माल सब यहाँ सस्ता मिलता है। नीचा बाजार बहुत लंबा बसा है। इससे कुछ आगे दक्षिण की ओर कुछ नीचे उतर कर सरकारी आफिस है। आफिसों की बड़ी बड़ी आलीशान पहाड़ी ढंग की इमारतें बड़ी सुन्दर हैं। इसी स्थान से कुछ ऊपर चढ़ने पर ऊपरला बाजार मिलता है।

ऊपरला बाज़ार

वास्तव में ऊपरला बाजार है। इसके ऊपर और कोई बाज़ार नहीं है। इसकी सड़क साफ सुन्दर और चौड़ी है। यह सड़क सरकारी सड़क है। घोड़ागाड़ी में यहाँ त्रिमूर्ति के सिवाय और कोई चढ़ने का अधिकारी नहीं है। त्रिमूर्ति में भारत के भाग्यविधाता बड़े लाट, पञ्जाबप्रतिपालक छोटे लाट और शत्रुसंहारक जंगी लाट की गणना है। चार बजे से सात बजे तक "जंटिलमेन" के अतिरिक्त साधारण हिन्दुस्तानियों को यहाँ आने जाने की आज्ञा नहीं है। पुलिस सड़क के दोनों ओर पहरे पर खड़ी हुई वैसे आदमियों को रोकती रहती है। यहाँ पर मेम और साहेब लोगों को अधिकता देख कभी कभी यह भ्रम हो जाता है कि यह हिन्दुस्तान है कि इंगलेंड ? यहाँ साहेबों, विशेषतः मेमों की प्यारी सवारी है, रिक्शा। यह एक छोटी सी कमानीदार बग्घी होती है, जिसमें एक सवारी बैठ सकती है। चार सजीव मनुष्य घोड़े का काम देते हैं। दो आगे से खैंचते हैं और दो पीछे से ढकेलते हैं। दौड़ना इनका घोड़े को मात करता है। पूछने पर मालूम हुआ कि वह भारवाही सूर्य्य और चन्द्रवंश में उत्पन्न होने वाली क्षत्रिय सन्तान हैं! हा! अदृष्ट!! कलकत्ते, बंबई

के अंग्रेज चाहे गाड़ी के घोड़ों पर झूल डालना असभ्यता समझें पर इन नरदेहधारी अश्वों को नाना प्रकार की पोशाकों से सजाना अंग्रेज रमणी सभ्यता समझती हैं। किसी ने अफ़गानी किसी ने बिलोचिस्तानी और किसी ने भिन्न भिन्न हिन्दुस्तानी प्रदेश का परिच्छेद धारण किया है। बात निःसन्देह भावुक वृन्द के विचार योग्य है, विजेता और विजित देश का चित्र है।

सिमले के जनरल पोस्टआफिस से ऊपर का बाजार आरम्भ हुआ है और पूर्व की ओर गिर्जाघर से आगे तक चला गया है। यहाँ दक्षिण पार्श्व में अनेक हिन्दुस्तानियों की दुकानें हैं, जो साहेबों के पसंद की चीजें रखते हैं। इस बाज़ार की दुकानें, नीचे बाजार की तरह मैली नहीं हैं और न किसी हलवाई की यहाँ दुकान है और न किसी कसाई की। बाजार के बीच में 'टाउनहाल' है। इमारत सुदृढ पत्थर की है और देखने में भी अच्छी है। बिजली की रोशनी होती है और सप्ताह में कई बार यहाँ साहेब लोगों के नृत्यगीत एवं आमोद प्रमोद की धूम मचती है। उस दिन यहाँ सहस्रों 'रिक्शा' रूपिणी कमनीय बग्घियों की और पशु-कर्म्म-निरत मनुष्यों की पट्टियाँ बन्ध जाती हैं।

महावीर

मङ्गलवार के दिन हम अपने 'विद्यावागीश' शास्त्री जी से अनुरुद्ध हो, श्रीरामदूत महावीर हनुमान जी के दर्शन करने गये। महाबीर जी का मन्दिर "जाखू" के शिखर पर है। यद्यपि सिमले की सरदी प्रसिद्ध है और समय भी सायंकाल का था, तथापि प्रचण्ड चढ़ाई के कारण हमारे पैर थर थर काँपने लगे। दम फूल गया। फिर कर शास्त्री जी की ओर देखा, तो उन्हें बहुत नीचे पाया। एक तो हमारी अपेक्षा वे स्थूलकाय, दूसरे अति सावधानता वशतः देह पर पर्व्वत परिमाण वस्त्र पहिने हुए। इसी कारण वे आरक्त नेत्र हो ऊर्ध्व स्वाँस ले रहे थे। बोलने की जगह 'जै जै सीताराम,' खैर। बड़ी कठिनता से बैठ बैठ कर किसी प्रकार ऊपर पहुँचे। पसीना सुखा कर

महावीर जी के दर्शन किये। मन्दिर एक पुराने ढंग का छोटा सा है। मूर्ति पाषाणमयी सुन्दर पर सिन्दूर से भरी। पुजारी यहाँ का एक खाखी सम्प्रदाय का बुढ्ढा, पर पूरा अक्खड़ नाथ बाबाजी है।

यहाँ से सिमला बड़ी सुन्दरता से दीखता है, क्योंकि जाखू की सब से ऊंची चोटी है। बन्दर भी यहाँ बहुत हैं, जिनकी चपलता देखने को अनेक साहेब और मेम आया करती हैं। पुजारी बाबा ने महावीर जी की यहाँ दो बड़ी ऊंची ध्वजाएँ खड़ी कर रक्खी हैं, जो सारे सिमले में कोसों से दिखाई पड़ती हैं। सुनते हैं एक बार यहाँ भारत के जंगीलाट सैर करने आये थे। महावीर जी के लंबे और बड़े निशानों को अपनी और वायसराय महोदय की वैजयन्ती से ऊपर उड़ते देखकर उन्होंने पुजारी बाबा से कहा कि "राजप्रतिनिधि की वैजयन्ती की अपेक्षा महावीर जी की वैजयन्ती ऊंची नहीं रहेगी"! बाबा जी ठहरा महावीर का चेला, सो कुछ वीरता होनी ही चाहिये। उसने कहा, "राजप्रतिनिधि की अपेक्षा जगदीश्वर महावीर की वैजयन्ती तो ऊंची ही उड़ेगी, इसमें आश्चर्य्य की क्या बात है?"

जाखू की परिक्रमा

जाखू पहाड़ की परिक्रमा कर एक पाँच मील का मार्ग गया है। घोड़े पर सवार हो अथवा पैदल ही जाखू के पहाड़ के चारों ओर चक्कर काटना, यहाँ के साहेब और शौकीन लोगों को आमोदजनक है। किन्तु इधर घोड़ा दौड़ाना कार्तिक पीछे बंद हो जाता है, कारण, उस समय इस मार्ग में कई जगह बरफ जमा रहती है, जिससे घोड़े का पैर फिसल पड़ता है। कई वर्ष हुए इस मार्ग में एक देशी पुरुष की भयङ्कर अकालमृत्यु हो गई थी, जिसका यहाँ उल्लेख किये बिना नहीं रहा जा सकता।

एक दिन शीत के सायङ्काल में बरफ गिरती थी। मार्ग में सर्वत्र बरफ छा गयी थी। ऐसे समय में तीन साहसो बाबू 'जाखू' की परिक्रमा करने बाहर हुए। इनमें से दो जने तो फिर आये और एक

बाहर का बाहर ही रहा ! कुछ भी पता न लगा कि वह कहाँ गया ? भ्रमण के समय तीनों पुरुष अलग अलग हो बिछुड़ गये थे । जो सब के पीछे था, वह पैर फिसलने से गिर पड़ा; बोध होता है कि पहिले हो से शीत के कारण उसके हाथ पैर ठिठुर गये थे । बेचारा फिर इस जन्म में एक बार भी उठने न पाया ! साथियों को इस बात का कुछ भी पता नहीं लगा । उस प्रचण्ड शीतरजनी ने धीरे धीरे उस मृतदेह को बरफ की समाधि में छिपा दिया । दूसरे दिन जब धूप की तेज़ी से बरफ गल गया तब उसका शव बाहर निकला । अहो ! क्या शोचनीय परिणाम हुआ है ? अब तक भी लोग उस मार्ग से निकलते हुए परस्पर में इस दुर्घटना का उल्लेख करते हैं ।

जाखू के उत्तराभिमुखी और पश्चिमाभिमुखी दोनों अंशों पर अंगरेज़ों के बहुत से मकान हैं । इन दोनों अंशों के मिलने की जगह पर गिर्जाघर है । इसी स्थान से जाखू की परिक्रमा वा चक्कर का प्रारम्भ है । बाएं ओर कुछ आगे चलने पर सब से प्रथम—

लक्कड़ बाज़ार

है । सिमले के जिन हिस्सों में मनुष्यों का निवास है, उनमें लक्कड़ बाज़ार ही सब की अपेक्षा अधिक शीतल है । इसका कारण यह है कि जाखू पहाड़ की रुकावट से शीतकाल में दो तीन घंटे से अधिक यहाँ धूप नहीं ठहर सकती । बरफ गिरने पर दूसरी जगह जितना समय उसके गलने में खर्च होता है, लक्कड़ बाज़ार में उसका दूना वा तिगुना समय लगता है । लक्कड़ बाज़ार भी और बाज़ारों की तरह अन्वर्थसंज्ञा (सच्चा नाम) है, क्योंकि यहाँ लकड़ी का काम बहुत अच्छा होता है । यहाँ की काठ की कारीगरी भी उपेक्षा के योग्य नहीं हैं । थोड़ी दूर चल कर लक्कड़ बाज़ार का अन्त होता गया है । फिर आगे केवल अंग्रेज़ों की कोठियाँ हैं । यह कुछ और भी अधिक शीतल हैं । कुछ दूर आगे बाईं ओर भारत के सेनापति—

जंगी लाट

के रहने का स्थान है । इस अट्टालिका के बाहर के आकार में तो कुछ

बड़ाई वा वीरता का चिन्ह नहीं है। इस प्रकार के मकान कलकत्ते में हर एक सड़क पर मिलते हैं। इसके कुछ दूर आगे Mayo Orphanage है। बस यहाँ से बस्ती कम होने लगती है। शीत भी वैसा नहीं है। कारण, इस जगह सूर्य्यदेव का आना मना नहीं है। क्रम से जाखू का जो अंश पूर्वाभिमुख है हम उसी अंश के पास जा रहे हैं। इस मार्ग में कुछ थोड़ी दूर पर उत्तर की ओर बाँयें हाथ—

संजोली

रह जाती है। संजोली सिमले की देहात है, एक छोटा सा गाँव है। सिमले में जिन बाबूओं को घर नहीं मिलता अथवा जो अधिक किराया खर्चना नहीं चाहते, वे यहाँ आन कर रहते हैं। सिमले का सा आनन्द नहीं तो दुःख भी नहीं है। म्यूनिसिपालेटी के गोरखधंधे से संजोली अलग है। इसके पास ही पहाड़ काट कर 'मसोवरे' की सुरंग बनाई गई है। जहाँ बड़े लाट प्रति मास के प्रायः प्रत्येक रविवार को जा कर रहा करते हैं। मसोवरा अत्यन्त शीतप्रधान और एकान्त स्थान है। वहाँ सिमले जैसी मनुष्यों की भरमार नहीं है। इसीलिए वहाँ भारतेश्वर ने अपना एकान्त मन्दिर बनाया है। अस्तु क्रम से हम अग्रसर हुए। हमारे बाँएं हाथ बहुत नीचे खांड्य चली गई और दाहिने हाथ जाखू के आश्रित सुन्दर वृक्षमाला। खाँड्य के भीतर पहाड़ियों की सुरम्य कुटीरें और हरे भरे खेत दृष्टिगोचर हो, मन को मोह रहे हैं।

आगे चलते चलते धीरे धीरे—

छोटा सिमला

आया। जाखू का यह अंश पश्चिमाभिमुखी है। छोटे सिमले में अंग्रेज़ों के सिवाय अनेक बङ्गाली और पञ्जाबी निवास करते हैं। यहाँ एक बङ्गालियों की हरिसभा भी है जिसका वार्षिक उत्सव आश्विन मास में होता है। पञ्जाब के छोटे लाट साहेब का दफ्तर इसी छोटे सिमले में है। छोटे का मेल छोटे ही से मिलता है। छोटे सिमले को पीछे

छोड़ देने पर, फिर साहेबों के मकानों की अधिक संख्या होने लगी। क्रम से उसी गिर्जाघर के निकट हुए। यहाँ अंग्रेज़ सौदागरों की बड़ी बड़ी दूकानें हैं। कलकत्ता और लाहौर के प्रायः सभी बड़े बड़े अंग्रेज़ सौदागरों ने इस स्थान में अपनी शाखाएँ खोल रक्खी है। ये दूकानें तब तक गुलज़ार रहती हैं, जब तक बड़े लाट सिमले रहते हैं। उनके उतरने पर दुकानें भी बन्द हो जाती हैं। गिर्जाघर के निकट पहुँचने पर हमारी जाखू की परिक्रमा पूरी हुई। गिर्जाघर और टाउन हाल के बीच में—

मैदान

है। और शहरों के मैदानों के सामने यह मैदान उपहास्य है, किन्तु सिमले में जहाँ समतल भूमि बहुत दुर्लभ वस्तु है—यह मैदान बहुत बड़ी बात है। सायङ्काल के समय यहाँ की सैर भी कलकत्ते के किले के मैदान की तरह करने और दृश्य देखने योग्य है। सैकड़ों दुग्धफेन-निभ नन्हे नन्हे यूरोपियन बालक इधर से उधर तितली पकड़ते दौड़ रहे हैं। साथ साथ शुभ्रवसना आयादेवियाँ घूम रही हैं। इधर उधर कोने में उम्मेदवार बावर्ची कमेटी कर रहे हैं। प्रेयसी की गाड़ी के साथ प्रेमी युवक फिर रहे हैं। पथश्रान्त पथिकों के लिये इधर उधर कितनी ही बैंचें रक्खी हैं। मधुर ध्वनि से गोरों का अंग्रेज़ी बाजा बज रहा है। ऊपर यहाँ अनेक लीलाएँ हो रही हैं और इसी मैदान के नीचे सिमले की प्यास बुझाने के लिये स्वच्छ जल का तालाब है। यहीं से जल नल के द्वारा सर्वत्र पहुँचता है। यहाँ से सीधे पश्चिम की ओर पोस्टआफिस के सामने से वही पूर्व कथित सरकारी सड़क चली गई है। सड़क से दाहिने हाथ ऊपर को काली जी की काली-बाड़ी है। कुछ दूर और आगे चलने पर इसकी एक शाखा 'कैथू' चली गई है। कैथू में अनेक 'यूरेशियन' और 'इष्ट इण्डियन' वास करते हैं और कुछ दूर चलने पर दाहिने हाथ सड़क से नीचे बङ्गालियों के ब्राह्म समाज का ब्रह्ममन्दिर है। आगे कुछ दूर पहिले कहा हुआ केनेड़ी हाउस है। यहाँ से दक्षिण की ओर जो खांड्य को

मार्ग उतरता है, उसमें Annandale Garden है। यह एक सुसज्जित उद्यान है। सामने चक्करदार घुड़दौड़ का मैदान है। अंग्रेजों की घुड़दौड़, फुटबाल प्रभृति खेल यहीं होते हैं। कभी कभी इन आमोद प्रमोद में भारत के सेनापति और बड़े लाट भी सहयोग देते हैं और पटियाले के महाराज का तो यह लीलाक्षेत्र ही है। कुछ दूर 'Peterhoff' नामक एक कुछ ऊँचा टोला है। इसमें पहिले वाईसरीगल लाज था। अब 'Finance Department' का कार्य्यालय है। इसके कुछ दूर ही 'Observatory Hill' है। पहिले इसके ऊपर एक छोटा मानमन्दिर था। अब यह मर्य्यादा की अन्तिम सीमा को पहुँच गया है। इसके ऊपर ही 'न्यू वाईसरीगल् लाज'—भारतेश्वर का मन्दिर है। बड़े लाट का यह निवासस्थान कलकत्ते के 'गवर्नमेंट हौस' की अपेक्षा बहुत छोटा है, किन्तु है सुन्दरतर। Observatory Hill में अनेक सुन्दर वृक्ष हैं। वाइसरोगेल्लाज मानों सुन्दर वृक्षों के भीतर समाहित है। इसके पीछे—

बालूगंज

है। यह देशियों की बस्ती से भरा हुआ है। बालूगंज के दुकानदार पंजाबी हैं। धर्म्म में रुचि भी रखते हैं। बालूगंज में विशेष उल्लेख योग्य कुछ नहीं है। Prospect Hill की ऊंचाई जाखू की चोटी की अपेक्षा बहुत कम है। अधिक से अधिक पाँच सौ फीट होगी। दूर से Prospect Hill रमणीय दर्शन नहीं है, निकट जाने पर यह लता पता से सुन्दर सुहावना परम मनोहर लगता है। इस चोटी की चढ़ाई के मार्ग में तख्ता टंग रहा है, जिसमें दर्शकों से अनुरोध किया गया है कि कोई पुष्प पत्र को न छेड़े। आज कल Prospect Hill का सौन्दर्य्य बहुत घटा हुआ है। वर्षा के पीछे नये नये फूल पत्तों के अलङ्कारों को पहिर फिर यौवनश्री धारण करेगा। इस चोटी पर भी एक हिन्दू मन्दिर है। मन्दिर में दो तीन बाबाजी अत्यन्त मन लगा कर धूम्रपान कर रहे हैं। यहाँ से सिमला शहर तसवीर की तरह दिखलाई पड़ता है।

धर्म्मभवन

हम लिख चुके हैं कि सनातनधर्म्म सभा के निमन्त्रण से हम इस बार सिमले आये थे। पहिले यहाँ बङ्गालियों की 'कालीबाड़ी' और रामचन्द्र जी के एक छोटे से मन्दिर के अतिरिक्त न कोई हिन्दुओं का देवमन्दिर था न पञ्चायती स्थान और न धर्म्मशाला। जिन हिन्दू यात्रियों को स्पर्शास्पर्श का विचार है उनकी यहाँ मौत थी, बिचारों को होटल में रहने के सिवा गत्यन्तर न थी। यदि कोई धर्म्म-प्रचारक महात्मा आ जाता, तो स्थानाभाव से उसे भी चुपचाप वहीं जाना पड़ता! इन सब कष्टों को अनुभव कर यहाँ की सनातन धर्म्म सभा के उत्साही सभ्यों ने पण्डित जी के उपदेश से यह धर्म्मभवन बनवाया है, जिसकी लागत में अनुमान तीस सहस्र खर्च हुए होंगे। मन्दिर चौमंज़िला है, पत्थर और काठ से सुन्दर एवं दृढ़ बना है। अब इसीकी प्रतिष्ठा है। भगवान् राधामाधव की युगल मूर्ति विराजती है। हम जिस दिन यहाँ पहुँचे उसी दिन निर्जला थी। मध्यान्ह के पीछे राधामाधव की—

सवारी

निकली। सिंहासन में भगवान् थे। सामने मण्डली बांध कर सिमले के दफतरों के बाबू लोग भक्ति भाव से व्रजलीला के पद गा रहे थे। किसी के हाथ में चँवर किसी के हाथ में छत्र, किसी के हाथ में ध्वजा वा छड़ी शोभा दे रही थी। कई सहस्र हिन्दू सिंहासन के आगे पीछे जय जयकार करते चलते थे। सिमले में उस दिन व्रज का भ्रम हो जाता था। बाबू मात्र से घृणा रखने वाले यदि हमारे काशी के पण्डित यहाँ होते, तो इन प्रेमोन्मत्त बाबुओं को देख कर चकित हो जाते। हिन्दुओं की दुकानें इस दिन ध्वजा पताका से अलङ्कृत हो रही थीं। जगह जगह दुकानदार भगवान् की आरती कर भेंट चढ़ाते थे। दिन के चार बजे से रात के नौ बजे तब सवारी सिमले के बड़े बड़े बाज़ारों में घूमी। बड़े बड़े बुड्ढे आदमी कहते हैं कि आज तक ऐसी घूमधाम से किसी का उत्सव नहीं हुआ था। दूसरे दिन जब

भगवान् की मन्दिर में प्रतिष्ठा हो चुकी तब बड़ी धूम के व्याख्यान होने लगे। अनेक दूर दूर के पण्डित निमन्त्रित होकर आये थे जिनमें पण्डित दीनदयालु जी के हृदयग्राही व्याख्यान के अतिरिक्त पं० बालमुकुन्द और विद्यावागीश जी का कथन भी आदरणीय था। अब यहाँ कुछ सिमले की—

सरदी—गरमी

का भी हम निरूपण कर देना उचित समझते हैं। दार्जिलिङ्ग जिन्होंने देखा है, वे जानते हैं कि वहाँ सदा कैसी वृष्टि हुआ करती है। धूप तेज़ पड़ रही है, अचानक बादल हुए, वृष्टि हुई, फिर वही धूप, पन्द्रह मिनट में यह सब खेल हो जाता है! देवचरित्र की ख़ामख़याली का दार्जिलिङ्ग ख़ासा नमूना है। यहाँ यह सब बला नहीं है। इसीलिए शीत भी दार्जिलिङ्ग की अपेक्षा अल्प है।

जनवरी और जून अत्यन्त सरदी और गरमी के महीने हैं। नीचे गत अंग्रेज़ी साल के इन दो महीनों में कलकत्ते और सिमले में सात दिन की गरमी की विचित्रता की एक सूची देते हैं। इससे हमारे पाठक सिमले की सरदी गरमी का अनुभव कर सकेंगे।

	कलकत्ता।		सिमला।	
तारीख	ऊंचे से ऊंची डिग्री	नीचे से नीची डिग्री	ऊंचे से ऊंची डिग्री	नीचे से नीची डिग्री
जनवरी १	७६	६०	४४	३५
,, ८	८०	५४	४८	४२
,, १५	८८	६४	३४	३२
,, २२	८१	५६	४४	३६
,, २६	८०	५५	४१	४०
जून १	६४	७३	६४	५८
,, ८	६५	८१	८०	६६
,, १५	६४	७६	६८	५८
,, २२	६०	८०	७५	६४
,, २६	६०	८२	७६	६२

इस तालिका में पाठक देखते होंगे, कि गत २९ वीं जून को कलकत्ते में जब गरमी ९० डिग्री थी, उसी दिन उसी समय इस जगह गरमी ७६ डिग्री थी। कलकत्ते में पहिली जनवरी को ठीक ७६ डिग्री थी। निदान उक्त २९ तारीख को यदि कोई कलकत्तावासी मन्त्रबल वा जादूगरी के ज़ोर से सिमले में पहुँचा दिया जाय, तो उसे जून की जगह जनवरी का भ्रम होगा। सहसा पंखे और बरफ के गिलास को फेंक सरदी के कपड़ों की खोज करेगा। तात्पर्य्य यह कि यहाँ का वैशाख जेष्ठ कलकत्ते के पौष माघ के बराबर है।

कई साल से यहाँ शीत का प्रकोप कम है। बरफ भी कम गिरती है। बरफ के दिनों का दृश्य भी यहाँ देखने ही योग्य है। जिधर देखिये उधर ही सूर्य्यदेव की कृपा से रजत के समान बरफ चमकती दीखती है। क्या पर्वत, क्या मकान और क्या वृक्ष, सब रजतमय दिखाई देते हैं। मानों साक्षात् कैलास है। कभी कभी सिमले के बाजार में इतनी अधिकता से बरफ गिरती है कि उससे दुकानों के द्वार तक बंद हो जाते हैं। उन दिनों सरकारी सड़क पर पहाड़ी आदमी बरफ को काट काट कर मार्ग बनाते हैं। ऐसे समय में कह चुके हैं कि पैर फिसलने का बड़ा डर रहता है। सरदी के दिनों में यहाँ आठ दस बार बरफ गिरती है। बरफ गिरने के समय विलायती लवण के समान स्वच्छ और कोमल होती हैं, फिर जमने से कठिन काँच सी बन जाती है।

दिल्ली महामण्डल की तैय्यारी के कारण पण्डित जी और हम अपने आत्मीयों की बीमारी का दुस्संवाद पाने से शीघ्र ही सिमले से चले आये, अधिक दिन निवास नहीं हुआ।



होशियारपुर यात्रा

पञ्जाब की सब धर्मसभाओं में होशियारपुर की सनातन धर्म सभा का नाम सब से प्रथम और आदर के साथ इसलिए लिया जाता है कि उसके उत्साही सभ्य और क्रियादक्ष कर्मचारियों ने केवल आर्य्यसमाज के साथ विवाद करने ही में अपने अमूल्य समय को नहीं खोया, वरञ्च देशोपकार और धर्मप्रचार में उसका उचित उपयोग वा सद्व्यय भी किया है। बहुत दिनों से इच्छा थी कि उन लोगों के दर्शनों से अपने को कृतार्थ करूँ जिनके सदुद्योग और प्रशंसनीय परिश्रम से धर्मसभाओं का यह कलङ्क दूर हो रहा है कि वे आर्य्यसमाज को गालियाँ देने के अतिरिक्त और कुछ भलाई की बातें करना ही नहीं जानती अथवा चाहती ही नहीं।

सौभाग्य से उस समय जब कि मैं अपनी जन्मभूमि "भिवानी" में था, उक्त सभा के वार्षिकोत्सव का निमन्त्रणपत्र मिला और यह भी ज्ञात हुआ कि इस सुअवसर पर अनेक सभाओं के प्रतिनिधि और प्रचारक भी, जिनके साथ समालाप करने को मैं कई दिनों से विशेष उत्कण्ठित था, उपस्थित होंगे। इस संवाद को पाकर मैंने यात्रा का तुरन्त विचार किया और उक्त सभा के मन्त्रिमहोदय को तार द्वारा सूचना दे भिवानी से प्रस्थान कर दूसरे दिन १ली मार्च को दिल्ली के वेदान्तगढ़ में डेरा जा लगाया। वेदान्तगढ़, प्रिय मित्र पं० रामचन्द्र वेदान्ती जी के स्थान का पुराना नाम है। इतिहासवेत्ता इसके नामकरण का कारण यह बताते हैं कि दिल्ली में बिपद्ग्रस्त साधु ब्राह्मणों को विधर्मियों से बचाने के लिए यह स्थान वास्तव में गढ़ (दुर्ग) का काम दे रहा है। कोई एक बार यहाँ तक चला आए फिर चाहे उसके विपक्ष में कितने ही बड़े बड़े मौलवी वा पादड़ी क्यों न हों अकुतोभय वेदान्ती उन सब से उसकी अवश्य रक्षा करेंगे। और कोई कोई

मसखरा यह भी कहता है कि यह स्थान 'वेदान्त'—अर्थात बिना दान्त का है, इसका कोई मालिक नहीं, यहाँ पर जो आता है वही मठमर्द बन जाता है। इसलिए इसका नाम वेदान्तगढ़ है। किन्तु इसका पुष्ट प्रमाण नहीं।

जो हो, मैं वेदान्तगढ़ में आनन्द से ठहरा और दुर्गाधिपति की कृपा से किसी प्रकार का कष्ट भी नहीं हुआ। विशेषतः मैं उस क्लेश से बचा जो कभी कभी थर्ड क्लास के यात्रियों को यहाँ भोगना पड़ता है। पुस्तकों द्वारा ही नहीं, यों भी यहाँ त्रिलोकी दिखाई देती है! एक कालावच्छेदन स्वर्ग नरक पाताल सब दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु अदृष्टबल से अब की मैंने केवल स्वर्गसुख लूटा, न रात रहा और न मच्छरों से मुलाकात हुई, सफाई भी ऐसी थी कि मानों म्युनिसिपालिटी के अफसरों की अवाई का समाचार पा पहिले ही से सब ठीक ठाक कर रक्खा था।

१ली मार्च फागुन सुदी एकादशी का दिन था। यमुना जी पर मेला लग रहा था और उसमें बाँगरू गवाँरों के गवाँरपन का खूब डंका बज रहा था। झाँझ, डफ, ढोलक, बांसुरी इत्यादि की न्यूनता न थी। सुरताल की मिट्टी खराब, जैसे बेहूदा गाने वाले वैसे ही असभ्य गीत। "यादृशी शीतला देवी तादृशः खर-वाहनः"। भगवती यमुना का तट, एकादशी का पवित्र दिन और महर्षियों की सन्तान, तिस पर यह हाल! देखकर साहित्याचार्य्य का यह पद याद आया—"या होरिहिं लखि हँसहु हँसे सो आवत हमहिं रुलाई"।

बाज़ार में होली की धूम थी। दिल्ली वालों में कुछ कम, पर मारवाड़ियों के पूज्य नाथूराम की सवारी आज खूब निकली। जैसे वृद्ध महात्मा थे, वैसे ही सन्तान साथ थी। "जस दुलहा तस बनी बराता"। होली के स्वांग जिन्होंने देख रखे हैं उनको समझाने की इसमें कोई विशेष बात न थी। इस बारात के निकलने के बाद कपड़े के मारवाड़ी व्यापारी धूलहँड़ी तक काम काज नहीं करते। आज से उनमें नाना प्रकार के स्वांग तमाशे होने लगते हैं।

अखबारों में पढ़ा था कि प्लेग के हुल्लड़ के समय से दिल्ली के हिन्दू मुसलमानों में एकता होगई, दोनों जाति के लोग मिलकर होली खेलते हैं। किन्तु यहाँ आने पर मालूम हुआ कि वे सब दूर के ढोल सुहावने थे। मैंने अपनी आँखों से देखा कि एक हिन्दू बालक के हाथ से एक मियाँ साहब पर रंग का छींटा पड़ गया था। इतनी सी बात पर मियाँ बहादुर आपे से बाहर निकल पड़े। रंग से तो ज़रा भी लाल होना अनुचित समझा पर गुस्से से एक दम लाल होगये। खैर यही हुई कि बीच बिचाव होगया! मियाँ महाशय का खून जोश से बाहर न निकला, नहीं तो अच्छा न होता। रंग बेरंग हो जाता।

अभी मैं स्टेशन पर जाने की तैयारी कर रहा था कि एक आदमी ने आकर संदेसा दिया कि 'आज आप कदापि नहीं जा सकते' पूछा कि 'इसका क्या तात्पर्य'? उत्तर दिया कि "ऐसे ही बात है"। मैंने घबरा कर फिर पूछा कि 'कृपाकर शीघ्र कहिये क्या बात है'?

आदमी—"क्या आपको आज की मर्दुमशुमारी की खबर न होगी"?

मैं— क्यों नहीं? खबर है।

आदमी—तो बस समझ जाइये।

हम—क्या समझ जाएँ? —आज रेल न मिलेगी?

आदमी—एक मुनादी हुई है।

मैं—क्या मुनादी हुई है?

आदमी—रात के आठ बजे बाद आज कोई घर से न निकले, अगर निकला तो सज़ा मिलेगी।

मैंने कहा कि "आज से नहीं मैं कल से निकला हुआ हूँ, आप मेरे लिए चिन्ता न करें"।

यह आदमी भोला और कृपालु था उसका ख्याल था कि ये स्टेशन के मार्ग में पकड़े जावेंगे। जब मैं सवार होने लगा तब वह एक सिपाही को देख कर चिल्लाया कि "दौड़ो वह आया"।

स्टेशन पर आज बड़ी भीड़ थी। एक तो इस कारण कि इस

समय कई गाड़ियाँ छूटती हैं और दूसरे आज 'मर्दुमशुमारी' वाले वालंटियर बहादुरों की पलटन से और भी खचापच हो गई थी। आश्चर्य यह था कि जिनको नाम लिखने तक का शऊर न था, उनको भी इस बेगार में पकड़ रक्खा था। नाम वय के सिवाय उन बातों को, जो मर्दुमशुमारी का एक प्रधान विषय है, कोई बिरला ही पूछता होगा। "आप हिन्दू हैं न ?" इसके उत्तर में "हाँ" निकलने वा सिर हिलाने की देर हो तो हो, परन्तु शेष प्रश्नोत्तरों के मानसिक व्यापार में देर न होती। क्षणमात्र में एक परचा यात्री को इस बात के प्रमाण में मिल जाता कि उसकी नियमानुसार गणना हो चुकी। हमें यह देख कर खेद होता था कि ऐसे ही छोकड़ों द्वारा की हुई जनसंख्या से धर्म्म सम्बन्धी बातों का अवधारण हुआ करेगा।

जो हो, रात के १० बजे जालंधर का टिकट ले रेल में सवार हुआ। दिल्ली से जालंधर के दो मार्ग हैं, एक अंबाले होकर और दूसरा सहारपुर से। अंबाले की गाड़ी में बड़ी भीड़ होती है, इसलिए मैंने सहारनपुर वाली में बैठना उचित समझा। ५ बजे प्रातः काल सहारनपुर पहुँचा। यहाँ गाड़ी बदलती है। ७ बजे यहाँ से सवार हो १२ बजे जालंधर के स्टेशन पर उतरा। हाँ, यह कहना मैं भूल ही गया कि मार्ग में गाज़ियाबाद, सहारनपुर आदि स्टेशनों पर मर्दुमशुमारी वाले यात्रियों की ख़ूब पूछताछ करते थे। यहाँ प्रबन्ध ऐसा कठिन था कि क्या मजाल जो कोई बिना नाम लिखाये बच कर निकल जाय ? टिकट के साथ वह परचा भी माँग लिया जाता था, जो नाम लिखवाने के समय उन्हें मिला था।

ज़ालंधर के स्टेशन पर सवारियों की कमी न थी। यहाँ पर इक्केवाले पुकार पुकार कर होशियारपुर के यात्रियों की खोज करते हैं। कारण कि ज्वाला जी के यात्री, इसी स्टेशन पर उतर कर होशियारपुर के मार्ग से वहाँ जाते हैं। होशियारपुर जालंधर से अनुमान १९ मील है। सवारी के किराये का कुछ नियम नहीं। यात्रियों की आमद रफ़ के साथ घटता बढ़ता रहता है। तथापि दो तीन रुपयों में

एक इक्का वहाँ तक हो सकता है। मेरा और मेरे सहयात्री पुजारी रामरूप शर्मा का विचार था कि यहाँ स्नानादि से निश्चिन्त होकर सवार होंगे, परन्तु जब हम गाड़ियों के अड्डे पर पहुँचे तब वहाँ हमने महामण्डल के प्राचीन और विद्वान् महोपदेशक पं० श्रीमोहनलाल जी जगाधरी वाले को कई पण्डितों के साथ खड़े हुए पाया। नमस्कार इत्यादि शिष्टाचार के पश्चात् पण्डित जी ने साथ ले चलने का आग्रह किया और मैंने भी ऐसे अवसर पर जब कि दूर दूर के अनेक प्रतिनिधि होशियारपुर जाने को सन्नद्ध थे और उनकी कृपायुक्त चेष्टा इस बात को प्रकट करती थी कि मेरे साथ चलने ही से उन सब को आनन्द होगा, तब वहाँ अकेले रहना अनुचित समझा। अन्ततोगत्वा, हम दोनों भी उनके साथ सवार हुए और सब ने चलते समय भगवन्नामोच्चारण कर उच्चस्वर से आर्य्यवंश का यह सिद्धान्त वाक्य पढ़ा—

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराजयः।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदयस्थो जनार्दनः॥

जालंधर और होशियारपुर दोनों ही ज़िलों में जल ज़मीन से बहुत नज़दीक है, यहाँ तक कि बहुत जगह गज भर खोदने से निकल आता है। भूमि यहाँ की ऐसी उपजाऊ है कि यहाँ भाग्यवान् किसान अकाल का नाम या तो पुस्तकों में पढ़ते हैं या दूसरों से सुनते हैं। कभी उसका मुँह नहीं देखते। ऐसा सजल और समृद्ध देश हमारे देखने में पहिले कभी नहीं आया था। सड़क के दोनों ओर जहाँ तक हमारी दृष्टि पहुँचती थी गेहूँ के हरे भरे खेत कोसों तक दिखलाई देते थे और उनमें कुछ कुछ पीलापन, जो देखने में अति सुन्दर और चित्ताकर्षक था, इस बात को सूचित करता था कि महेन्द्र की कृपा से भगवती वसुन्धरा अन्तर्वत्नी पत्नी के समान आनन्द को प्रकाश कर रही है।

आनन्दपुर* के मेले के कारण सड़क पर घोड़े और गाड़ियों की बड़ी भीड़ थी। गुरुभक्त सिक्ख लोग, सकुटुम्ब गुरुद्वारे की यात्रा कर रहे थे। वीरप्रसविनी सिक्ख सुन्दरियों के गोल के गोल गीत

* सिक्खों का गुरुद्वारा होशियारपुर के पास है।

गाते हुए जाते थे। कहीं पर युवक सिक्खों की टोली ढोलक और करताल के साथ अपने अतीत गौरव का सङ्गीत करते मिलते थे। कहीं पर दरिद्र वृद्धाएँ गुरुओं की करामात की कहानियाँ अपने यष्टि-ग्राही पुत्रों को सुनाती चलती थीं और कहीं धनवान सिक्ख सर्दार अपने गाड़ीघोड़ों को दौड़ाते और "बचो खालसा जी" कहते जाते थे। बीच बीच में "वाहगुरू की फतेह" "वाहगुरू जी का खालसा" इत्यादि शब्दों से आकाश काँपने लगता था।

सड़क के आसपास जहाँ कहीं क्षुद्र ग्राम आते थे, वहाँ छोटे छोटे बालक, 'ज्वाला जी की जय' बोलाते और अनेक प्रकार की दीनता की बातें सुनाते इक्के के पीछे पीछे दौड़ते थे और जब तक उन्हें कुछ दिया न जाता तब तक वे सहज में पीछा न छोड़ते थे। सहस्रों रुपये पाने पर भी जो सुख नागरिक विज्ञ जनों को दुर्लभ है, वह सुख इन सरल स्वभाव ग्रामीण बालकों को केवल एक पैसे की प्राप्ति में सुलभता से मिलता था। पैसा देकर जैसा उनके प्रसन्न मुख के अवलोकन करने से भावुक पुरुष को आनन्द हो सकता है, वैसा जड़ पदार्थ के अच्छे से अच्छे दृश्य में मिलना कठिन है। अस्तु!

होशियारपुर पहुँचने में इक्के को अधिक से अधिक चार घंटे लगते हैं, पर संयोग से हमें ऐसा इक्का मिला कि जिसके अश्वराज 'क्षपणक' के समान देख देख कर पृथ्वी पर पैर रखते थे। ज्यों ज्यों वह अग्रसर होता था, त्यों त्यों परमहंस तुल्य प्रवृत्ति पराङ्मुख होता जाता था। मानों यह इस नीतिवाक्य का अनुसरण करता था कि, 'तिष्ठत्येकेन पादेन चलत्येकेन बुद्धिमान्'। हमारे उच्चैश्रवा का चरित्र देख कर राजर्षि ऋतुपर्ण की विद्या का स्मरण हुआ। श्रद्धालु पण्डित मोहनलाल जी ने उसके कान में कुछ सुनाया भी, पर उस अनाड़ी ने कुछ भी परवाह न की। वह उसी प्रकार मन्थर गति से चलता रहा। जान पड़ता है, पशुओं में भी नास्तिकता की हवा असर कर गई। अगत्या सूत उसकी पूजा करने लगा, तब वह किसी तरह रास्ते पर आया।

जिस समय हम होशियारपुर में पहुँचे, संध्या हो चुकी थी। देवा-

लय की शङ्ख-घंटा-ध्वनि से उस समय हमें जो आनन्द और सुख प्राप्त हुआ वह अन्य किसी प्रकार के वाद्य से नहीं मिल सकता। इस समय दिन भर के काम काज से श्रान्त और अवसन्न हृदय पुरुष भी 'रामनाम' जपने लग गये थे। सनातनधर्म सभा के सुविशाल मन्दिर में पवित्र शान्तिमय और रुचिर स्तोत्रपाठ हो रहा था, सब के चित्त अलौकिक, अनिर्वचनीय एवं शान्तरस से परिपूर्ण थे। दीपमाला से रम्यराजमार्ग आलोकित, आलोकरश्मी से प्रासाद-वातायन उद्भासित और सब के मुखमण्डल एक अलौकिक प्रकाश से प्रकाशित तथा विकसित थे। न किसी के मुख पर विषाद का चिन्ह था और न कुछ कष्ट ही विदित होता था। सभी सभ्य आनन्दोत्फुल्ल और हृष्टपुष्ट दिखाई देते थे, जिससे चित्त में आता था कि यह क्या कलहपूर्ण, उत्साहहीन, मतिमलीन भारतवर्ष का नगर है? ना,—आनन्द निकेतन अमरपुर है।

होशियारपुर के उत्साही एवं तत्वज्ञ पंडित कन्हैयालाल जी, जो यहाँ की सभा के जन्मदाता और पालक हैं, उनके सुयोग्य पुत्र और इस सभा के सजीव मन्त्री श्रीयुत पण्डित जगन्नाथ जी वकील के स्थान पर हमारा वासस्थान नियत हुआ और रात को स्नान सन्ध्योपासनादि कार्य्य यथाकथञ्चित कर सो रहे। स्नानादि के अवरोध और यात्रा के कष्ट से शरीर अवसन्न हो गया।

सनातनधर्म्म सभा का स्थान

दूसरे दिन सभा का स्थान देखा, जिससे यह भलीभाँति विदित हो गया कि होशियारपुर सभा की जो इतनी प्रशंसा हो रही है वह अनुचित नहीं है। सभा के स्थान से पाठक यह कल्पना न करें कि जैसे अनेक सभाओं के हाल हुआ करते हैं, वैसा यह भी एक होगा; नहीं, यहाँ की बात निराली है। एक व्याख्यानादि के निमित्त बड़ा "हाल" जिसके मध्य भाग में एक ओर भगवती वीणापाणी का छोटा सा मन्दिर, जिसके दोनों तरफ संस्कृत पढ़ने वाले विद्यार्थी बैठते हैं और उसके बाहर चारों ओर 'सनातनधर्म्म हाई स्कूल' के कमरे

बने हुए हैं। पास ही सुविशाल "छात्रालय" (बोर्डिङ्ग हाउस) है' जिसमें पाठशाला और हाईस्कूल के विद्यार्थियों के लिये सब प्रकार की सामग्री और स्थान विद्यमान है। इसके साथ ही सटा हुआ भगवान् राधामाधव का मन्दिर और शिवालय है, जहाँ तदुपयुक्त कूपादि सब स्थान बने हुए हैं। सभास्थान के ऊपर ऐसे कितने ही स्थान हैं, जो आए गए धर्म्मात्मा पुरुषों के लिये खुले हुए हैं। ये सब ही स्थान अपने अपए ढंग के निराले हैं। ऐसी अच्छी रीति से तैयार हुए हैं कि पंजाब के लेफ्टिनेंट गवर्नर जब दौरे में आये, तब उन्होंने देख कर मन्त्री महाशय से कहा कि 'तुम्हारा इंजीनियर बड़ा होशियार है' पर जब उत्तर में उन्होने यह सुना कि 'ये किसी इंजीनियर द्वारा नहीं बनाये गए हैं, सभा ने स्वयं विचार कर बनाये हैं,' तो उन्हें बहुत ही अचरज हुआ। वस्तुतः स्थान प्रशंसनीय है। यद्यपि उस पर कली चूने की लिपाई नहीं है तो भी देखने में सुन्दर है। इस समय वार्षिकोत्सव के कारण रासधारियों के श्रीकृष्ण की तरह मुँह पर सफेदी और कई प्रकार के रंग लगा, शृङ्गारयुक्त होरहा था। सब से अच्छी और हमारा चित्त आकर्षक करने वाली बात यह थी कि सभा के स्थान में चारों ओर उपदेशमय वाक्य सुन्दरता के साथ रंग से उसी प्रकार लिखे हुए थे, जिस प्रकार बनारस के सुप्रसिद्ध "क्वींस कालिज" में पत्थर की दीवारों पर खुदे हुए हैं। ये शिक्षामय वाक्य मानों इस बात के साक्षीभूत थे कि पश्चिमोत्तर प्रदेश के हिन्दुओं से पंजाबी हिन्दू, भाषाविज्ञान और हिन्दूभाव में किसी प्रकार न्यून नहीं है।

वेदभगवान् की सवारी

पंजाब के अतिरिक्त पश्चिमोत्तरादि प्रदेशों में ऐसे बहुत कम लोग हैं, जो "वेदभगवान् की सवारी" का यथार्थ अर्थ समझ सकें, इसलिए उनके जानने के लिए यहाँ उस विषय को प्रकाश करना उचित है। वार्षिक पर्वों और उत्सवों के समय और देशों में जैसे भगवन्मूर्तियों की सवारी निकलती है, वैसे पंजाब के सिक्खों में उनके धर्म्मपुस्तक गुरु-

ग्रन्थ साहब की सवारी उठती है। कारण कि इन लोगों में भगवत्प्रतिमा का तादृश अनुराग और पूजन प्रकार का प्रचार नहीं है। ग्रन्थ साहब ही इनकी एकमात्र पूज्य मूर्ति है। अतएव, उसीकी सवारी निलकती है, उसीकी पूजा होती है' उसीके भोग लगता है, और उसीकी आरती उतारी जाती है। पंजाब के धर्म्मभीरु किन्तु बुद्धिमान हिन्दुओं ने ऐसे समय में जब कि आर्यसमाज के कारण वेद की मौखिक उन्नति हो रही थी, वेदभगवान् की सवारी निकालना ही उपयुक्त समझा। यद्यपि यह ढंग एक विलक्षण प्रतीत होता है, यद्यपि ध्यान देने से विदित होगा कि वह शास्त्रविरुद्ध नहीं है, क्योंकि वेद भी तो एक प्रकार की भगवत्प्रतिमा है। वरञ्च यह प्रतिमा अन्य सब प्रतिमाओं से विशेषता रखती है। अस्तु पंजाब में जब धर्म्मसभाओं का वर्षिकोत्सव होता है, तब उसके प्रथम दिन सब को विदित करने के लिए "वेदभगवान्" की सवारी बड़ी धूमधाम से निकलती है। वेदवेदाङ्ग की पुस्तकों को पालकी आदि में विराज कर उसके आगे पीछे सहस्रों हिन्दू गाते बजाते 'सनातनधर्म्म की जय' बोलते चलते हैं। इसीका नाम। वेद भगनान् की सवारी' है। इसे पंजाबी रामलीला की सवारी कहें तो कुछ अत्युक्ति न होगी।

धर्म्मसभाओं की नकल आर्य्यसमाज ने भी आरम्भ की है। वे भी झंडों में ॐ३म् लगाए गाते बजाते फिरते हैं। इसका नाम है "नगरकीर्तन"।

मध्यान्होत्तर सभास्थल से यहाँ भी बड़े समारोह के साथ सवारी धीरे धीरे चली। 'वेदभगवान्' एक सुसज्जित हाथी पर विराजमान हुए। आगे आगे दस बारह भजनमण्डली कीर्तन करती थीं। सनातनधर्म्म हाइस्कूल और सनातनधर्म संस्कृत पाठशाला के अध्यापक निज निज छात्रों सहित श्रेणीवद्ध गाते हुए चलते थे। इस देश के रईस, बाबू और वकील लोग पश्चिमोत्तर वालों की तरह हरिनाम कीर्तन करने में लज्जित नहीं होते। सभा के प्रेसीडेंट, सेक्रेटरी और पण्डित लोग कीर्तन में सोत्साह योग देते थे। अधिक आनन्द की बात यह थी कि

एक भजनमण्डली केवल धर्म्मोत्तेजक संस्कृत पदों का गान करती थी। यह मण्डली स्वर ताल में सर्वोत्कृष्ट न होने पर भी, लयदारी और भाव में किसी से कम न थी। जो दृश्य काशी में दुर्लभ था, वह आज पण्डित कन्हैयालाल जी की कृपा से होशियारपुर में देखा। सवारी के साथ नगर के लब्धप्रतिष्ठ, एवं गौरवगरिष्ठ विद्यावरिष्ठ सब लोग साथ थे। स्थान स्थान पर पुष्पवृष्टि एवं आर्ती होती और चढ़ावा चढ़ता था। मकानों की छतें स्त्रियों से और मार्ग पुरुषों से भरे हुए थे। नगर के सब बाजारों में फिर कर रात के ८ बजे सवारी सभा में पधारी।

व्याख्यान

दूसरे दिन अर्थात् ३री मार्च को सभा के सुविस्तृत प्राङ्गण में एक सुन्दर शामियाने के नीचे सहस्राधिक स्त्री पुरुषों की उपस्थिति में उत्सवारम्भ हुआ। स्वतिवाचन, देवपूजन इत्यादि नियमित मङ्गलानुष्ठान के पश्चात् सभा के सुयोग्य मंत्री पं० जगन्नाथ जी ने सभा की रिपोर्ट सुनाई, जिससे विदित हुआ कि सभा प्रतिदिन उन्नति करती है और उसके हाई स्कूल तथा संस्कृत पाठशाला की परीक्षा का परिणाम सन्तोषजनक है, किन्तु स्थानादि के निर्माण कार्य्य में अधिक व्यय हो जाने से सभा पर कुछ ऋण हो गया, जिसके परिशोध के लिए सभ्य चेष्टा कर रहे हैं।" पीछे पंजाब के कई नामी पण्डितों के व्याख्यान हो सभा विसर्जन हुई। इसी प्रकार प्रति दिन दोपहर से सायंकाल तक तीन दिन बराबर होती रही। अधिकांश व्याख्यान आर्य्यसमाज और सिंह-सभाओं के उत्तर में दिये गए। कुछ दिनों से पंजाब के कुछ सिक्ख 'सिंहसभा' करके कहने लगे हैं कि "हम हिन्दू नहीं हैं!" हमारा पन्थ हिन्दू मुसलमान दोनों ही से भिन्न है। इनको हमारे पण्डित लोग गुरुग्रन्थ साहब के प्रमाणादि से समझाते हैं कि 'नहीं तुम हिन्दू ही हो!' क्या विचित्र बात है? ग्राहक माल खरीदना नहीं, चाहता, पर दूकानदार कहता है कि नहीं, खरीदना ही पड़ेगा। हम नहीं समझते इस प्रकार के अल्पज्ञ सिक्खों को अपने में घसीटने से

हमारे पंजाबी भाइयों ने क्या लाभ सोचा है? जिस दिन सिक्ख, सिक्ख थे उस दिन सिक्ख हिन्दू भी थे। जिस दिन इनकी एक आँख खुल रही थी, उस दिन ये अपने को हिन्दुओं ही का अंग समझते थे, पर हा! अब वह एक आँख भी न रही! एक धार्मिक सत्कवि ने सच कहा है "आज एक काने बिन सबै तीन काने हैं!" इसलिए अब ये जो कुछ कहें वही सच है, "अहह! न च हिन्दू न यवनः।"

हमारे धर्म्मप्रचारक महाशयों को यह समझ लेना चाहिए कि किसी धर्म्म वा समाज की महिमा उसके सभ्यों की अधिक संख्या होने पर नहीं है, वरञ्च वह उनके सच्चे विश्वास पर निर्भर है। वही धर्म्म और समाज अपनी उत्तरोत्तर उन्नति करने में समर्थ होता है जिसके अनुयायियों का आचरण उनके विश्वास सिद्धान्त के प्रतिकूल न हो। अविश्वासियों की अधिक संख्या की अपेक्षा सद्विश्वासियों की अल्प संख्या भी फलप्रदायिनी है, फूस के ढेर से अग्नि की चिनगारी का अधिक बल होता है। आरम्भ में स्वामी शङ्कराचार्य के ४, बुद्धदेव के ५, ईसा मसीह के १२ और मुहंमद साहब के ५ ही अनुयायी थे; किन्तु आज उनके अनुयायियों की संख्या कितनी है? यदि इन लोगों के शिष्य भी आज कल के धर्म्मात्माओं के समान केवल दर्शनीय होते, तो यह कदापि सम्भव नहीं था कि उनका विचार भुवनविजयी होकर इतनी उन्नति करता। सच पूछिये तो हिन्दू समाज की दुर्बलता का प्रधान कारण यही है कि अहिन्दू भी हिन्दू कहला रहे हैं। भ्रान्त भाइयो! जिस रोगविसर्जन से शारीरिक बल बढ़ता है, उसका आप स्वयं आवाहन क्यों कर रहे हैं? कोई आप को छोड़ कर जाता है, तो जाने दीजिये, क्या चिन्ता है? आप स्वयं योग्य बनिये और जगत् को अपना महत्व दिखाइये। एक समय होगा जब वहिर्भूत लोग भी प्रायश्चित्त कर आपके वलोर्जित दल में संयुक्त होने की चेष्टा करेंगे। जो हो, इस समय अहिन्दुओं को हिन्दू बनाने की चेष्टा करना व्यर्थ है, हिन्दुओं को ही हिन्दू बनाना चाहिए। मैंने भी दो दिन धर्म्मजीवन और भक्ति विषय पर कुछ कहा था।

यहाँ के स्त्री पुरुष व्याख्यान के बड़े प्रेमी हैं। खूब मन लगाकर सुनते हैं। यहाँ तक कि इस अवसर पर आस पास के गाँवों से भी नित्य सैकड़ों पुरुष व्याख्यान सुनने ही को आते हैं।

होशियारपुर शहर

पन्द्रह सोलह हजार आदमियों की बस्ती है। किन्तु ऐसा सुन्दर स्वच्छ नगर पंजाब में दूसरा है कि नहीं इसमें सन्देह है। गलियाँ साफ सुथरी, कहीं गन्दगी का नाम नहीं, बाजार चौरस न होने पर भी स्वच्छता और जनाकीर्णता के कारण नयनाभिराम है। मकान यद्यपि ईंटों के हैं तथापि दृढ़ता और सुन्दरता में कुछ कम नहीं हैं। नगर में मुसलमान रईसों के होने पर भी प्रधानता हिन्दुओं ही की है। हिन्दू भी यहाँ के आस्तिक हैं। सब प्रातःकाल स्नान करते और मस्तक पर चन्दन चढ़ाते हैं। जैनमन्दिर का ऊँचा और सुनहला गुंबज भी वहाँ जैनियों के उच्च स्थान का ज्ञापक है। नगर के चारों ओर अच्छे अच्छे बाग़ हैं जिनमें फल अधिकता से उत्पन्न होते हैं, जगह जगह पर बावलियाँ बन रही हैं, जिन पर प्रातःकाल स्नान पूजन करने वालों की भीड़ लगी रहती है। बावली से पश्चिमोत्तर प्रान्त के लोग कम से कम तीस चालीस सीढ़ियों वाली एक प्रचण्ड वस्तु समझते हैं, पर हम पहले कह चुके हैं कि यह सजल देश है पानी यहाँ गज भर नीचे है। इसलिए उतनी नीची और वैसी लंबी चौड़ी बावलियाँ इधर नहीं होतीं। इन्हें हम पानी के स्वाभाविक कुण्ड कहें तो कुछ अनुचित नहीं है। सब का जल स्वच्छ और मधुर है। इनमें जल के सर्प मछली की तरह तैरते रहते हैं। काटते बिलकुल नहीं। होशियारपुर के लोगों का इससे अधिक और क्या सौभाग्य समझा जाय, जो इतने सर्पों के रहते भी बावलियों का जल अमृतोपम है। बावली क्या है मानों जननी जन्म भूमि के स्नेह का उद्गार है, जो यहाँ के लोगों को तृप्त करने के लिए प्रगट हो रहा है। पाठक! इसकी उत्तमता इसीसे समझ जाइये कि जब एक मेरे मित्र यहाँ सैर करने को आये, तब उन्होंने यहाँ की बावलियों को लक्ष्य करके

लिखा था कि "आपके पास देश में भेजने योग्य यहाँ कोई वस्तु नहीं है, पर हाँ एक चीज सुन्दर और सुखकर और सुलभ है। यदि उसके भेजने की कोई तरकीब हो तो अवश्य भेजता।"

शहर के पास ही क्षुद्रकाय पहाड़ी नदी (असल में नाला कहना चाहिए) है, जो अपने चढ़ाव के समय (चौमासे में) क्षुद्र जन की समान दुस्तर और असह्य हो बड़ा उत्पात करती है। मैंने देखा कि नदी में अब वह जीवन (जल) नहीं है, पर उसने जो निज प्रवाह से सर्वसाधारण का हानि पहुँचा कलङ्क का टीका लगवाया, वह ज्यों का त्यों बना हुआ है। सच है, पहाड़ी जल और पाप का द्रव्य, अधिक देर तक नहीं रहता। होशियारपुर के उत्तर काँगड़े का पहाड़ खड़ा हुआ आकाश से बातें कर रहा है। ज्वाला जी यहाँ से दो पड़ाव हैं। एक रोज 'चिन्त्यपूर्णी' में ठहर कर दूसरे दिन वहाँ पहुँचते हैं। म्युनिस्पालिटी, टौनहाल, स्कूल आदि जिन बातों की जिले में अपेक्षा होती है उनका होशियारपुर में भी अभाव नहीं है। पर उनमें उल्लेख योग्य कुछ नहीं। काठ के खिलौने यहाँ अच्छे बनते हैं। एक ही खिलौने में कई खिलौने बन सकते हैं। यूरोपियन इसको बहुत पसंद करते हैं। माँग भी इनकी दूर दूर से आती है। होली, होशियारपुर में नहीं होती। लोग रङ्ग से घरों में और कुछ बाजारों में खेलते हैं सही, पर वह बात नहीं है। न होली बनती है और न पुजती है और न उसका दाह ही होता है। दो चार मारवाड़ियों के घर हैं वही यहाँ अपने देशीय उत्सव को कुछ मनाते हैं, बाक़ी सब खैर सल्लाह हैं।

मैंने सोचा था कि इस अवसर पर होशियारपुर में पंजाब के नामी नामी सभाओं के मुखिया होंगे उनसे मिल कर पंजाब-प्रतिनिधि सभा के स्थापन का यत्न किया जायगा, पर यहाँ आने पर मुझे कई कारणों से फल सिद्धि की आशा न रही। जिन लोगों के आने का मुझे पूरा भरोसा था, उनमें से भी सब को यहाँ नहीं पाया, तो भी मैंने आगन्तुक और स्थानीय महाशयों से अपने विचारों को प्रगट किया और

अधिकांश को उनसे सहमत पाया। मुझे विश्वास था कि पञ्जाब के लोग धर्म्मसभाओं की शोचनीय दशा से अनभिज्ञ होंगे और उन सब रहस्यमयी घटनाओं का भेद नहीं जानते होंगे, जिनको चतुर लोग माया के आवरण में छिपा रहे हैं, पर नहीं, मेरा अनुमान मिथ्या निकला। ये लोग जान बूझ कर किसी कारण वश किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं। सुतरां, निश्चय हुआ कि पञ्जाब प्रसुप्त नहीं, आलस्यग्रस्त है। लोग उठना चाहते हैं, पर उठ नहीं सकते।

सत्समागम

विशेषज्ञ और वीतराग स्वामी प्रकाशानन्दपुरी जी धर्म्मज्ञ और महाभाग पण्डित कन्हैलाल जी और आनन्दमूर्ति पण्डित मोहनलाल जी आदि सत्पुरुषों के समागम से तीन दिन बात की बात में बीत गए। काशी के पश्चात् ऐसा समागम जिसमें शास्त्रचिन्ता के साथ नवीन प्रतिशोध की समीक्षा वा समन्वय करना भी आवश्यक समझा जाय, यहीं देखने में आया।

होशियारपुर के सभ्य

बहुधा धर्म्मसभाओं में ऐसे सभ्य होते हैं, जो धर्म्मोपदेश के अतिरिक्त प्रबन्ध सम्बन्धी विचारों की योग्यता ही कम रखते हैं और जो रखते भी हैं वे उनका ठीक ठीक उपयोग नहीं करते। मुझे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि होशियारपूर सभा के सभ्य योग्य हैं और अपनी योग्यता को काम में लाते हैं, यदिच उनका काम अभी उनकी योग्यता के अनुरूप नहीं हुआ और न पूर्णता ही को पहुँचा है तथापि वह आशाजनक है। जिस सभा के सभ्य श्रीमान् होने पर भी निरभिमान हैं, दरिद्र होने पर भी सन्तुष्ट हैं, वकील होने पर भी धर्म्मिष्ट हैं और सुशिक्षित होने पर भी विनम्र हैं, वह सभा जितनी उन्नति करे, उतनी ही अल्प है। हम आशा करते हैं कि इस सभा के सुयोग्य सभ्य अपने अहङ्कार को विसार, धर्म्मप्रचार का विचार कर अपनी योग्यता का विस्तार करेंगे। सभा को संस्कृत पाठशाला के अध्यापक की योग्यता भी विस्मरण योग्य नहीं है। सभा को

ऐसा विद्वान्, शिष्ट, नम्र और सस्ता कदाचित् काशी जी में भी कोई बिरला ही मिले।

बिदाई

६ मार्च को स्नानादि कार्य्य से निवृत्त हो ८ बजे दिन को हम होशियारपुर की मित्रमण्डली से बिदा हुए। साथ में कई पञ्जाब के उपदेशक महाशय थे। होशियापुर के सज्जनों से बिदा होने पर भी निर्लज्ज चित्त उनसे बिदा नहीं हुआ। वह कुछ चित्त का दोष नहीं प्रकृति का स्वभाव है। तीन चार दिन तक पक्षी भी जहाँ रह लेता है उसकी भी वहाँ ममता हो जाती है, फिर हम तो मनुष्य ठहरे। प्रणयलुब्ध दुष्यन्त के समान मैंने चलते हुए पण्डित जगन्नाथ जी से कहा कि—

"गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य॥"

उसी मार्ग से फिर जालंधर को प्रत्यागमन किया। सौभाग्य से इस बार जिस इक्के में सवार हुए उसका घोड़ा बड़ा तेज़ था। यह 'उच्चैश्रवा' के समान शास्त्रज्ञ और सहिष्णु न था, जो कशाघात होने पर भी शास्त्रानुसार (तिष्ठत्येकेन पादेन) सोच सोच कर पैर रखता। यह पशुधर्म्म का पालन करता था। इसलिए उस पूजा का अधिकारी भी नहीं समझा गया। घोड़ा क्या था, मानों चतुष्पाद रेल थी। सरपट दौड़ता था।

चैत्र मास में होशियारपुर की सड़क का सैर भी एक बात है। गुदगुदे जी पर इसका विलक्षण असर होता है। मार्ग में दो एक जगह ठहर भी लिए तो भी बारह बजे से प्रथम जालंधर आ पहुँचे। हमारा विचार इसी समय अमृतसर जाने का था, किन्तु कुछ ही देर पहिले रेल छूट जाने से हमें दूसरे टाइम (अर्थात् ४ बजे) तक वहीं रहना पड़ा।

जालंधर

जालंधर के दो भाग हैं, एक छावनी दूसरा शहर। शहर की

अपेक्षा छावनी, नवीन, परिष्कृत और जनाकीर्ण है। शहर पुराना है, कई बार उजड़ा और कई बार बसा है। प्राचीन चिन्हों का अभाव है। बाज़ार बक्र और सङ्कीर्ण, गलियाँ कुढंगी और ऊँची नीची, पर मकान पुराने ढंग के अच्छे हैं। देशी कपड़ा यहाँ प्रसिद्ध है, टसर की धोती, दुपट्टे अधिक बनते हैं; साड़ियाँ पवित्र, दृढ़ और स्वल्प मूल्य में मिलती हैं जो पुजारियों के काम की होती हैं।

जालंधर की धर्म्मसभा और आर्य्यसमाज

"नाम बड़े दर्शन थोड़े"—यह कहावत ठीक जालंधर की सभा पर घटती देखी। इस सभा की और इसकी पाठशाला की हम लड़कपन से धूम सुनते थे और इसके पदाधिकारियों में बड़े बड़े आदमियों का नाम पढ़ते थे, पर देखने से विदित हुआ कि ऊँची दूकान के फीका पकवान है। हमने देखा कि सभास्थान में कई कमरे बने हैं, जिनमें अंगरेज़ी के स्कूल का आधिपत्य है और एक तरफ बड़े छोटे से सङ्कीर्ण स्थान में शीर्णकाय, वस्त्रहीन कतिपय ब्राह्मण-कुमार देववाणी संस्कृत की सेवा में तत्पर हैं! विद्यार्थियों की कृशता का कारण पूछने पर विदित हुआ कि विद्यार्थियों के अन्न का प्रबन्ध नहीं है। जिस सभा में अंग्रेज़ी स्कूल के निमित्त द्रव्य है और संस्कृत के ब्राह्मण विद्यार्थियों के लिए अन्न वस्त्र का अभाव है, वह सभा अपने नाम के साथ "धर्म्म" शब्द लगा सकती है कि नहीं?—यह एक चिन्तयितव्य विषय है। खेद है कि जिस समय हम गये, उस समय सभास्थान में न कोई सभ्य था और न कोई अध्यापक। केवल कुछ विद्यार्थी विद्यमान थे। इसलिए कुछ विशेष नहीं ज़ान सके यही विदित हुआ कि पहिले से सभा की दशा ख़राब है। क्यों? जालंधर का आर्यसमाज भी कई कारणों से प्रसिद्धि पा गया है। आर्यसमाज की दो श्रेणियों में से एक का सिंहासन यहीं लगता है। मैंने समाजस्थान वा उसकी पाठशाला को नहीं देखा; किन्तु सुना कि वह प्रति दिन उन्नति पर है और उसने कन्या पाठशाला, समाजभवन और बोर्डिङ्ग हौस निर्माण किया है। उसके गिर्द नवाह में भी प्रचार करने का यत्न कर रहा

है। आर्यसमाज वकील अपने मुअक्किलों से स्वार्थसिद्धि करने की अपेक्षा अपने 'समाज' का लाभ निकालना अच्छा समझते हैं। उनकी उन्नति का यही कारण कहा जाता है। क्या इससे हमारे भाई कुछ शिक्षा नहीं ले सकते ? एक वे लोग हैं, जो सभा के पुरुषार्थ की हानि कर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं और एक ये हैं जो स्वार्थ को जला-ञ्जलि (जलाञ्जलि—नहीं स्वाहा कहना चाहिये) दे, 'समाज' का इष्ट सम्पादन करते हैं ! प्रभो ! तुम्हारी क्या इच्छा है ?

"उलटी गति गोपाल की जान सकत कोउ नाहिं।
काबुल में मेवा करी टींट बिरज के माँहि॥"

गाड़ी आज दो डेढ़ घंटे लेट आई। दिन छिपने के समय रेल पर सवार हो रात के ८ बजे हम 'अमृतसर' में उतरे और पंजाब के इतिहास में सुपरिचित स्वर्गवासी, राजा सर दयालुसिंह साहब जी के स्थान पर श्रीयुत ठाकुर महाचन्द्र जी के पास ठहरे। ठाकुर साहब चिरपरिचित अन्तरङ्ग स्नेही, गुणग्राही, बहुज्ञ और भगवत् प्रेमी पुरुष हैं। उनके दर्शन और समालाप से वह रात सुख से व्यतीत हुई।



अमृतसर

यह नगर भी अपनी सजधज का एक ही है। पंजाब की राजधानी न होने पर भी रौनक में उससे किसी प्रकार कम नहीं है। सिक्खों का प्रधान तीर्थ और व्यापार की मुख्य जगह होने से बहुत बढ़ा चढ़ा है। बाज़ार यहाँ का दिल्ली के समान तो नहीं, किन्तु पंजाब के और शहरों से सब तरह अच्छा है। यहाँ की पशमीने की दूकानें दूसरी विलायतों तक प्रसिद्ध हैं, कालीन यहाँ ऐसा अनुपम बनता है कि चीन, जापान, इंगलेंड आदि कलाकुशल देशों से नित्य माँग आती है! सच पूछिये, तो विदेशीय अमीरों ही के भरोसे यहाँ के कारख़ाने चलते हैं। विलायत वाले नकल कर मरे, पर इस विषय में इस शहर को न पहुँचे।

पहिले इस जगह जंगल से घिरा हुआ "चक" नाम का छोटा सा गाँव बसता था। जब से गुरु रामदास ने यहाँ सर (तालाब) बनाया तब से यह अमृतसर के नाम से विख्यात हुआ। इसकी शोभा की वृद्धि और इतिश्री महाराज रणजीतसिंह के साथ एक साथ ही हो गई। इस समय लाख आदमियों से अधिक बसते हैं। जैसे यहाँ के पुरुष सुन्दर, बलिष्ठ, मधुरभाषी और तेजस्वी हैं, वैसे ही विधाता की असाधारण अनुकम्पा से स्त्रियाँ भी तद्रूप ही हैं किन्तु स्यापे की सत्यानाशी रीति के कारण बहुधा शोकमग्न रहती हैं और एक त्रुटि उनमें यही है कि उनका वेश पुरुषों के समान रुचिकर नहीं! हमारे सुपरीक्षक मित्र पण्डित नन्दकिशोर देव शर्मा का यह कहना कि 'कहीं इनको गुजरात ऐसे वस्त्राभरण मिलते तो अवश्य यह कहा जा सकता कि अमृतसर स्त्री पुरुषों के लावण्य की स्वाभाविक प्रदर्शनी है' केवल विनोदजनक ही नहीं कुछ तत्व भी रखता है। जो हो,—

"एकोहि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जन्तीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः।"

स्या० वृ० १५

अमृतसर में पुराने ढंग के अनेक सुन्दर स्थान होने भी पर विदेशियों के अवश्य देखने योग्य सिक्खों का तीर्थ—

दरबार साहिब

है, जिसका चित्र इस संख्या में दिया गया है। नगर के बीच सुन्दर स्वच्छ जल से भरा हुआ अमृतसर नाम का तालाब, जिसके कारण इस शहर ने प्रसिद्धि पाई १३५ कदम लंबा और इतना ही चौड़ा पक्का बना है और उसके ठीक बीच में एक सङ्गमर्मर के मनोमुग्धकर अनुपम स्वर्णमण्डित गुंबज वाले मन्दिर में सिक्खों का धर्म-पुस्तक 'ग्रन्थ साहब' गुरु गोविन्दसिंह के हाथ का लिखा हुआ है, जिसकी पूजा बड़े ठाठ के साथ हुआ करती है। इसी स्थान का नाम 'दरबार साहिब' है।

प्रातः काल के समय जब लोग स्नान दर्शन करने आते हैं तब यहाँ की शोभा और बढ़ जाती है। तालाब के चारों ओर स्त्री पुरुषों के समूह आते जाते दिखाई देते हैं और जहाँ तहाँ कथक्कड़ लोग तथा इसी प्रकार के अन्य धर्मव्यवसायी अपनी अपनी टोली के साथ अभिनय करते दृष्टिगोचर होते हैं। यहाँ यह बात बहुत प्रशंसा के योग्य है कि कोई पुरुष तालाब के पास जूते पहिने नहीं जा सकता। जब कभी श्रीमान् गवर्नर साहिब भी यहाँ आते हैं तब उन्हें भी जूता उतार कर अंदर जाना पड़ता है और इसी प्रकार पान, तंबाकू, चुरुट आदि के ले जाने का भी बड़ा कड़ा निषेध है। तालाब से ऊपर कुछ हट कर मैदान में जहाँ युवराज के शुभागमन का स्मारक घंटाघर बना है वहीं सब को जूते उतारने पड़ते हैं। चाहे कितने ही पुरुष दर्शन करने को यहाँ आवें पर किसी का जूता खोया नहीं जाता। कारण कि यहाँ के ऐसे विचित्र शक्ति सपन्न पुरुष जूतों के रक्षक बैठे रहते हैं जो सहस्रों जोड़ों में से तत्क्षण जोड़ा निकाल देते हैं। क्या मजाल जो एक दूसरे का जोड़ा अदल बदल हो जाय वा इन्हें कोई धोखा दे जाय। यदि बड़ी बड़ी राजसभाओं वा उत्सवों में इनके खानदान से इसी प्रकार के दो आदमी बुला लिये जाया करें, तो निस्सन्देह वे उस

बड़ी बदनामी वा लज्जा से जो आगन्तुक पुरुषों के जोड़े खोए जाने से बहुधा हुआ करती है, बच सकते हैं।

यों तो दरबार साहिब में जाने के लिये छोटे छोटे अनेक मार्ग और घाटियाँ हैं, किन्तु प्रधान पथ यही है। यहाँ से कुछ सीढ़ियाँ उतर कर तालाब के किनारे ही किनारे पत्थर का चारों ओर फ़र्श है, उसी पर दहिनी ओर चलना पड़ता है। इसके इर्दगिर्द सैकड़ों मकान, जो बहुधा इस मत के साधुओं के लिए धर्मार्थ हैं, बने हैं। मार्ग में कई ब्राह्मणों को अच्छे ठाठ से कथा बाचते देखा। एक कोने में श्रीमद्-भागवत की कथा को अनेक भक्त बड़े ध्यान से सुन रहे थे। कुछ देर यहाँ पञ्जाबी भाई से हमने भी "श्रीकृष्ण दी गल्लाँ" सुनीं "क उत्तम श्लोक गुणानुवादात् पुमान् विरज्येत बिना पशुघ्नात्"। एक स्थान पर एक युवा पण्डित "गजानन" शब्द का अर्थ हाथ उठा कर कह रहा था कि "इक गजदा है, आनन कोऽर्थः मुखारविंद जिन्हदा, ऐसे हन् महाराज श्रीगणेश जी।" धन्य! अमृतसर ऐसे रहस्यवेत्ता पौराणिक अन्यत्र कहाँ? आखिर तो यह भी पञ्जाब की काशी है। एक जगह देखा कुछ स्त्रियाँ परस्पर में विचार कर रहीं हैं। समझा कि और नगरों के समान यहाँ भी कोई व्रत सम्बन्धी कथा वा कहानी होती होगी, किन्तु समीप जाने पर विदित हुआ कि जिस ब्रह्मविद्या के लिए सहस्रों वर्ष तपश्चर्या करनी पड़ती थी, साधन सम्पत्ति के बिना जिसका कोई अधिकारी नहीं समझा जाता था, उसी ब्रह्मविद्या का विचार हो रहा है! "शुद्ध" 'सोपाधिक' में कितना अन्तर है? इसी पर तर्क चल रहा था। प्रधाना ने एक के उत्तर में कहा—ओ! यह बड़ी मोटी बात है! जितना गङ्गा और गङ्गनहर के जल में अन्तर है, उतना ही शुद्ध (ब्रह्म) और सोपाधिक (जीव) में। गङ्गाजल का जहाँ तक नहर के साथ सम्बन्ध रहेगा उतने वह नहर का जल कहलायेगा, सम्बन्ध छूटने पर वह शुद्ध जल गङ्गाजल है।" इस सहज और गम्भीर विचार प्रणाली को देख कर हम तो चकित हो गये।

शङ्करविजय में माधवाचार्य ने दासियों द्वारा मण्डन मिश्र के

प्रताप का वर्णन करते हुए कहा है कि—'जहाँ कीराङ्गना (शुकाङ्गना-मैना) यह विचार करती मिले कि वेदस्वतः प्रमाण है कि परतः प्रमाण? उसीको तू मण्डन मिश्र का द्वार समझ'। यदि इस समय आचार्य महाशय होते तो वे यहाँ दरबार साहिब के द्वार पर अपने लक्षण की अतिव्याप्ति देख कर सम्भव है कि हमारी तरह चकित हो जाते। शास्त्र ने जिनको पापयोनि कहा है, वे कीराङ्गना (कीर-किराट अङ्गना=स्त्री। वैश्याङ्गना इति यावत) यहाँ वेदान्त चर्चा किस प्रकार कर रही हैं यह भी एक विचारणीय वार्ता है। इसे हम दरबार साहिब का महत्व समझें, या साधु निश्चलदास के व्यापक ग्रन्थ विचारसागर का प्रभाव मानें? किम्वा कलिकाल का प्रताप कहें? कुछ कह नहीं सकते। हमारे दूरस्थ मित्रों के निकट यह एक उपन्यास की बात समझी जायगी किन्तु अमृतसर के अनुसंधित्सु पथिक के नजदीक विंशति शताब्दी की ऐतिहासिक घटना है।

जो हो अद्वैतवाद पञ्जाब में आन कर स्थानभ्रष्ट हुआ है अथवा उसने कहाँ तक अनधिकार प्रवेश किया है इसका नमूना यही अमृतसर है। यदिच, आजकल के सुधारकों को यह कहना बहुत सहज है कि ब्राह्मणों ने वेदान्त जैसे अच्छे शास्त्र के पढ़ाने सिखाने में बहुत टालमटोल किया है, बड़ी सख्त कैदें लगा दी हैं किन्तु हमारे तत्वदर्शी महर्षियों ने क्यों ऐसा किया है? अध्ययन के समय अनुबन्ध चतुष्टय पर क्यों इतना जोर दिया है? और क्यों इस दुर्गम मार्ग की छुर की सुतीव्र धारा के साथ उपमा दी है?—यह बात यहाँ आने पर विदित होना कोई बड़ी बात नहीं है।

दरबार साहिब के द्वार पर एक सुन्दर दरवाजा और उसके सामने दो ऊँचे निशान, जिनकी बल्लियों पर सुनहले पत्र जड़े हुए हैं; गुरुओं के गौरव के चिन्ह स्वरूप हैं और इन्हें हम सिक्ख साम्राज्य के स्मारक कहें तो भी कुछ अनुचित नहीं है। दरबार साहिब के पुजारी जिनको हम "ग्रन्थी" के नाम से पुकारते हैं यहीं रहते हैं और उनकी लंबी लंबी दाढ़ी, उज्वल नेत्र, गौर वर्ण और मनोहर

वेश देख कर इस बात का अनुमान कर लेना बहुत सहज है कि महाराज रणजीतसिंह के समय सिक्खों का गौरवमय दरबार कितना अपूर्व रहा होगा। यहाँ से दरबार साहिब के निज मन्दिर तक जिसको ख़ास दरबार साहिब कहते हैं, सङ्गमरमर का पुल बन्धा हुआ है जिसके दोनों ओर रक्षा के निमित्त सङ्गमर्मर का गज भर ऊँचा जालीदार डंडा, और प्रकाश के लिये लालटेनें लगी हुई हैं। जैसे काशी जी में अन्नपूर्णा जी के निकट भिखमंगे बैठते, हैं वैसे ही यहाँ भी पुल पर उनकी भीड़ रहती है।

ख़ास दरबार साहिब

बिल्कुल सङ्गमर्मर का है, इसमें जो पत्थर लगा है वह सब जहाँगीर और नूरजहाँ के मक़बरे से उखाड़ के लगाया गया है। जैसे उन्होंने देव देवियों के मन्दिर तुड़ा तुड़ा कर मंगाया था अन्त में उसका परिणाम भी वैसा ही हुआ। यहाँ जो दीवारों पर बेलबूटे और गुरुओं के चित्र बने हुए हैं, वे आगरे के ताज़महल के तुल्य न होने पर भी उसका स्मरण कराते हैं। ख़ास दरबार साहिब के चार द्वार हैं, पर पुल एक ही ओर है। इसके बीच में एक जरी के सुन्दर वस्त्र से ढका हुआ गुरु ग्रन्थ साहिब की पुस्तक रक्खी है, जिस पर पुष्पों की माला और चढ़ावा आदि मूर्तियों ही की भाँति चढ़ाया जाता है और उसी प्रकार बदले में प्रसाद भी मिलता है। ग्रन्थी साहब पास बैठे हुए चँवर करते हैं और कई गवैये सुरीली तान से भजन गाते हैं। यह तो हम पहिले ही कह चुके हैं कि इसका गुंबज स्वर्णमण्डित है, पर इसके अतिरिक्त मुंडेर से नीचे तक दीवारों पर भी सुवर्ण के पत्र जड़े हुए हैं, जिनमें गुरु ग्रन्थ साहब के उपदेशवाक्य गुरुमुखी अक्षरों में सुन्दरता के साथ खुदे वा बने हुए हैं। ख़ास दरबार साहिब की बनावट का ढंग हिन्दुओं के मन्दिरों की भाँति नहीं, मुसलमानों के मक़बरों जैसा है।

दरबार साहब के पीछे गुरु का बाग है। यहाँ 'अकाली' लोगों का जमघटा रहता है। अकाली गुरु के पक्के सिक्ख हैं और सिर पर लोहे का चक्र तथा अनेक प्रकार के और भी ऐसे ही वीरोचित

सामान रखते हैं। इस जगह सिक्ख जाति के प्रचारक अपनी उत्तेजना पूर्ण वक्तृता देते हैं। इसके पास ही एक बड़ा ऊँचा मकान है जिसका "अटल साहिब" नाम है और जो अटल बाबा की समाधि होने के कारण अधिक पूज्य समझा जाता है। स्थान यह भी प्रशंसनीय है। शिव जी की जलहरी को जिस प्रकार प्रायः भक्त लोग दबाया करते हैं, वैसे ही यहाँ सैकड़ों आदमियों को इस समाधि की दीवारें दबाते देखा। इस समाधि पर दशो गुरुओं के चित्र बने हुए हैं। इस स्थान पर और भी अनेक प्रकार के ऐसे चित्र, जिनमें सिक्खों की वीरता, गुरुओं की धीरता, उनके बालकों के अटल विश्वास और मुसलमानों की असहिष्णुता तथा उनके भविष्य अधःपतन का सजीव दृश्य है, देखने में आते हैं। दरबार साहिब के चारों ओर प्रत्येक गुरु के चरित्र को लक्ष्य कर अनेक प्रकार के तीर्थ बनाये गए हैं; उन सब के वर्णन का यहाँ प्रयोजन नहीं है। कहीं कहीं पर हमारे भगवान् शिव, विष्णु की भी मूर्तियाँ देखने में आईं; पर उनकी गौण भाव से पूजा होती है। मूर्तियों पर वस्त्र तक नहीं हैं और न पूजा ही का ठीक प्रबन्ध है। क्या अमृतसर के धर्म्मात्मा हिन्दू इस बात का कुछ प्रतिकार नहीं कर सकते?

तालाब में जल नहर काट के लाया गया है और वह स्वच्छ इसलिए रहता है कि गोता लगाने के अतिरिक्त कोई इसमें शरीर को भी मलकर नहीं नहा सकता। वस्त्र धोने और कुल्ला करने की तो बात ही भिन्न है। सिक्खों का यह नियमबद्ध तीर्थ, पञ्जाबकेसरी के धर्मानुराग और दूरदर्शिता का निदर्शन है। आज गोविन्दगढ़ पर उनका निशान नहीं है, किन्तु दरबार साहिब का ऊँचा निशान अब तक उनकी कीर्ति को ऊँचा कर रहा है।

कड़ा प्रसाद

दरबार साहब के पास जिस समम विदेशीय दर्शक पहुँचता है, उस समय कई एक दूकानदार भाग कर आते हैं और उसका हाथ पकड़ कर "कड़ा प्रसाद, कड़ा प्रसाद" पुकारने लगते हैं। बात यह है कि, दरबार साहिब में मोहनभोग वा शीरा का भोग लगता है, उसीको यह लोग

कड़ा प्रसाद कहते हैं। कड़ा प्रसाद का अर्थ 'कढ़ाई से बना हुआ प्रसाद'—यह प्रतीत होता है। कड़ा प्रसाद बना बनाया भी तैयार रहता है और वे बना भी शीघ्र ही देते हैं। भोग लगाने के समय ग्रन्थी साहब कुछ अरदास भी करते हैं और गुरु की वाणी पढ़ते हैं।

बिजली की रोशनी

कुछ दिनों पहिले चांदनी रात ही में दरबार साहिब की सैर का आनन्द था पर अब महाराज फरीदकोट की उदारता से बिजली की रोशनी का प्रबन्ध हो गया है जिससे अन्धेरी रात में भी अब यह दर्शनीय बन गया है। बिजली का स्वच्छ प्रकाश जब दरबार साहिब के श्वेत पाषाण और सरोवर के आदर्श सन्निभ स्वच्छ जल पर गिरता है तब इन सब की मिली स्वच्छता किसी स्वच्छ अन्तःकरण में अनिर्वचनीय आनन्द को उत्पन्न करती हैं।

गोविन्दगढ़

शहर के पास ही गोविन्दगढ़ का मज़बूत क़िला है। यद्यपि यह मिट्टी का बना है तथापि जमींदोज़ होने से दृढ़ता बहुत हो गई है। कहीं कहीं मृदुता और नम्रता कठोरता और उच्चता की अपेक्षा अधिक काम देती है। मिट्टी के किले को तोप का गोला सहज में नहीं तोड़ सकता। उसमें ठंडा हो जाता है और इसके नीचा होने से गोला इधर से उधर ऊपर ही ऊपर चला जाता है, लगता नहीं। महाराज रणजीत सिंह का ख़ज़ाना इसीमें रहता था। मकान इसमें कोई देखने योग्य नहीं है।

कालीन का कारख़ाना

कालीन के कारख़ाने अमृतसर में कई हैं; पर सब से पुराना और प्रतिष्ठित रायबहादुर लाला गागरमल साहब का है। खेद है इस कारख़ाने को उन्नत करने वाले लाला ईश्वरदास साहिब का स्वर्गवास हो गया, उनकी बुद्धिमत्ता से इस कारख़ाने ने वह बड़ाई पाई जो बिरलों के भाग्य में घटती है। अमृतसर में जो राजा महाराजा जाता है, अवश्य वह इसके देखने को आता है। हमारे वर्तमान

सम्राट् ज़ार रूस भी अपनी भारतयात्रा में इसे देख गये हैं। वस्तुतः देखने की वस्तु है। छोटे छोटे बालक उन सङ्केतों को जो उनके सामने एक काग़ज़ पर लिखे रहते हैं, देख कर पढ़ते हुए झटाझट काम करते जाते हैं। इस समय उनकी कपड़ा धोने वाले धोबियों के सामन ऊँचे स्वर से तो नहीं, किन्तु साधारण तथा उसके तुल्य आवाज़ गूंजती है। जड़ कारखाने हमने इसके पूर्व अनेक देखे थे किन्तु चैतन्य युक्त यही देखने में आया। यहाँ के इंजन सब चैतन्य हैं। कालीन बनाने वालों को यह विदित नहीं होता कि वे क्या कर रहे हैं? उनके कालीन में कितने फूल वा बूटे बनेंगे? वे बिचारे सङ्केत के अनुसार केवल काम करना जानते हैं और उनको कुछ ख़बर नहीं। सच है "करने वाले की अपेक्षा कराने वाला बड़ा बुद्धिमान् और प्रबल होता है।"

अमृतसर के हिन्दू

केवल अपने बड़े नगर ही के कारण नहीं, वरञ्च अपनी आस्तिकता के कारण भी दूर दूर तक प्रसिद्ध हैं। थोड़े ही दिनों में यहाँ कई स्मार्तयज्ञ भी हो चुके हैं। धर्म्मशाला और अनेक देवमन्दिर भी इस नगर की आस्तिकता के पुष्ट प्रमाण हैं। स्वर्गीय लाला सन्तराम साहब ने एक संस्कृत पुस्तकालय और पाठशाला भी विद्या के प्रचारार्थ खोल दी है। लाला गागरमल आदि की ओर भी अनेक पाठशालाएं हैं, जिनमें दस दस पन्द्रह पन्द्रह विद्यार्थियों को भोजन भी मिलता है। अन्य नगरों की भाँति सभाएँ भी यहाँ बहुत हैं, जो यथाशक्त अपने उद्देश्य के पालन में सयत्न हैं; किन्तु हमारी सनातनधर्म्म सभा एक बड़ा उत्सव करने के पश्चात् निद्रा में निमग्न है! थोड़ी बहुत सनातन-धर्म्म-क्लब टेक निबाह रहा है। खालसा कालिज आदि अंग्रेज़ी की पाठशालाओं का भी अभाव नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि अमृतसर एक सर्वाङ्गपूर्ण आस्तिक हिन्दुओं का नगर है।

अमृतसर में एक बार मैं पहिले भी क्लब के उत्सव पर आया था और व्याख्यान भी दिया था, किन्तु उस समय अवसर स्वल्प

होने के कारण इसका अच्छी तरह अवलोकन नहीं कर सका था। इस बार ठाकुर साहब और देवशर्म्मा जी के अनुग्रह से एक दिन ठहर कर सफलकाम हो दूसरे दिन—

लाहौर

जा पहुँचा। लाहौर और अमृतसर के बीच दिन में कई गाड़ियाँ आती जाती हैं। इन दोनों नगरों के मनुष्य बहुधा प्रतिदिन आया जाया करते हैं। मार्ग में अनुमान घंटा डेढ़ घंटा ही लगता है। स्टेसन यहाँ का भी खासा है। पहिले स्टेशन से अनारकली बाजार तक एक दरिद्र ट्रामवे भी चली थी पर अब फिस हो गई। चलती कैसे? यह कोई कलकत्ते मुम्बई की भाँति बिलासप्रिय धनियों की नई बस्ती तो है ही नहीं, जो यहाँ के लोग सवारी के विना कहीं आ जा न सकें, यह उन लोगों की जगह है जो शरीर पर "कवच-बखतर" का मनों बोझा साधारण वस्त्रों की नाई रखते और कोसों दौड़े चले जाते थे और यदि अब अमीरी ही दिखलावें तो भी किस बिरते पर? जब कि इस दुर्भिक्षग्रस्त देश में अन्न मिलना भी दुर्लभ हो रहा है। यह इतना पुराना नगर है जिसके सामने कलकत्ते मुम्बई ऐसे अनेक नगर हो हो कर उखड़ गये। भगवान् रामचन्द्र जी के बड़े पुत्र कुमार लव ने इसे अपने नाम पर बसाया था और असली नाम इस का लवकोट था। तब से यह अनेक नाम धारण कर कितने ही राजाओं को अपने वक्षस्थल पर खिला चुका। महाराज रणजीत-सिंह से प्रथम इस पर बहुत दिनों तक मुसल्मान अधिपतियों का अधिकार रहा। इस कारण यहाँ दिल्ली के समान शहर और उसके गिर्द नवाह में मसज़िदों, मकबरों और उनके खंडहरों की बड़ी भर-मार है। दो चार इनमें बहुत बड़ी और देखने योग्य इमारतें हैं। यह—

शहर

ऐरवती (रावी) नदी के, जो पंजाब की पाँच नदियों में से एक है, बाएं किनारे पर छः सात मील के घेरे में पक्के नगरकोट (शहर पनाह) के अन्दर बसा है। दिल्ली के समान दर्वाजे इसके भी कई

हैं और उनके नाम पर मुहल्ले हो रहे हैं। बाज़ार गंदा और बिल्कुल तंग है। गलियाँ भी बनारस की भीड़ी गलियों का मुक़ाबला करती हैं। जगह जगह पर आम तौर पर माँस की दुकानें खुली हैं और लशुन आदि की बदबू से मार्ग चलना कठिन हो जाता है। बसती यहाँ अनुमान डेढ़ लाख आदमियों की होगी। यहाँ के निवासी और सब बातों में अमृतसर के समान होने पर भी अंग्रेज़ी शिक्षा में उनसे बहुत बढ़े हुए हैं। हिन्दू यहाँ के अविश्वासी और डाँवाडोल प्रतीत होते हैं; किन्तु जब प्रातःकाल के समय ऐरावती (रावी) के तट पर बहुतों को शीतकाल में स्नान और देवपूजन करते देखते हैं, तब पहिला विचार बदल जाता है। जो हो, आचार यहाँ का बहुत हीन है। ब्राह्मण, शूद्र के हाथ की रोटियाँ बिना किसी प्रकार की "ननु नच" के आनन्द से खा लेता है। जगह जगह तंदूर चढ़े हुए हैं और वहाँ सब लोग सब से पुरुषोत्तमपुरी के समान एकाकार हो रहे हैं। "प्रवृत्ते भैरवी चक्रे सर्वे वर्णाः द्विजातयः"—इस वाक्य का प्रत्यक्ष उदाहरण यहाँ मिलता है। कहाँ पश्चिमोत्तर देश, जहाँ एक ब्राह्मण के हाथ की कच्ची रसोई खाने में शूद्र को भी सङ्कोच है और कहाँ यह देश, जहाँ सबी आचारों विचारों की पूर्णाहुति हो रही है? कालिज और स्कूलों की अधिकता के कारण जिधर देखिये उधर अंग्रेज़ी के छात्र दृष्टिगोचर होते हैं। मज़हबी लोगों का ठाठ इतना बढ़ा हुआ है कि—'अंजुमन इस्लामिया' और आर्य्यसमाज के छात्र श्रेणी बाँध कर नमाज़ पढ़ने और धूमधाम से उपासना करने जाते हैं। बात बेशक मजेदार है। जब सभी बात दल बाँध कर की जाती हैं तब उपासना एकान्त में क्यों हो? आर्य्यसमाज के एक प्रसिद्ध "लीडर" ने मुझसे पूछा कि क्या आप कोई शास्त्रीय रीति ऐसी बता सकते हैं जिसके अनुसार हम सब लोग मिल कर उपासना किया करें? मैंने कहा "क्यों नहीं"—सब लोग मिल कर हरिकीर्तन कर सकते हैं। बिपत्काल के समय जैसे देवसमाज क्षीरशायी की प्रार्थना किया करता, वैसे हम भी कर सकते हैं, किन्तु उपासना नहीं। वैदिक उपासना—तमाशा नहीं

एकान्त की चीज़ है। जो हो, लाहौर में मकान सब ईंटों के हैं, पत्थर यहाँ बहुत दुर्लभ हैं। यहाँ तक कि पुराने शाही मकानों को छोड़ सरकारी मकानों में भी ईंटें लगी हैं। इस समय शहर के दो हिस्से हैं एक पुराना जो शहरपनाह के अन्दर है और दूसरा नया हिस्सा जो अंग्रेजों के समय—

अनारकली

के नाम से शहर के बाहर शाह आल्मी दर्वाजे से सट कर बसा है। इसमें दुकानें नए ढंग की और सड़कें चौड़ी हैं। ऊपर बारबनिता और नीचे सौदागर हैं। इसकी बस्ती सज्जनों की प्रीति के समान प्रतिदिन बढ़ती जाती है। जितने सरकारी मकान और कालिज प्रभृति सामयिक वस्तु हैं सब इसी ओर हैं। पास ही 'पबलिक लाइब्रेरी' और म्युज़ियम' वा अजायबघर है।

इसमें उसी प्रकार की अनेक विचित्र वस्तुएं रक्खी हैं, जो अन्यान्य विचित्रालयों में पाई जाती हैं। महाराज रणजीतसिंह और उनके इतिहासप्रसिद्ध दरबारियों के तैलाक्त (आएलपेन्ट्) चित्र दर्शनीय हैं। पंजाब युनिवर्सिटी के प्रसिद्ध रजिस्ट्रार "स्टेन" साहब के बहु परिश्रम और यत्न से कितनी ही ऐतिहासिक दुर्लभ वस्तुओं का इसमें सङ्ग्रह हो गया है। इसके निकट पंजाबकेसरी की 'भङ्गी तोप' जिसमें कई मनों का गोला पड़ता है, रक्खी हुई है। देशी तोपों की श्रेष्ठता में पहिला नंबर इसीका है। इसके पास ही इधर उधर

लौहार के कालिज

हैं। इधर का यह हिस्सा बड़ा ही मनोरम सुखकर और सैर करने योग्य है। बीच में सरकारी बाग है और उसके आसपास अनेक कालिजों के सुन्दर और स्वच्छ स्थान है', ओरिएटल गवर्नमेंएट, मिशन, इस्लामियाँ, ऐचीशन और मेडिकल कालिज आदि बहुत से विद्यालय जिनके विस्तृत वर्णन से एक बड़ा भारी पोथा बन सकता है, यहाँ हैं। कलकत्ते की कालिज स्ट्रीट में 'स्टूडेएट' दल का जैसा ज़ोर है, वैसा ही यहाँ पर पंजाब के विषय में यदि कोई दूरदर्शी भविष्यवाणी

कहा चाहे तो पहिले एक बार उसे यहाँ आकर इस शोच्य—एवं भविष्य पंजाब का स्वयं दर्शन कर लेना चाहिये। जिनके पवित्र अन्तः-करण में उच्छिन्नप्राय वैदिक धर्म्म के प्रचार करने की आराध्य वासना का उदय हो रहा है, जिनका कोमल चित्त विजातीय भावग्रस्त हिन्दू समाज की दुर्दशा देख नहीं सकता है और जो इस देवपूजित पञ्चनद प्रदेश में फिर भी पवित्र वैदिक अध्यापन प्रणाली को चलाया चाहते हैं, वे यहाँ एक बार आवें और कीटनाल सदृश इन आर्यकुमारों का दर्शन करें और फिर अपना कर्तव्य और उसके फल को विचारें। अस्तु। कालिजों में 'मेडिकल, और 'औरियण्टल' देखने योग्य हैं। पहिले में डाक्टरी और दूसरे में संस्कृतादि विद्याएं पढ़ाई जाती हैं। मेडिकल कालिज के सङ्ग्रहालय में जहाँ शीशियों में दो दो चार चार सिर के बालक और अनेक प्रकार के जीव रक्खे हुए हैं, जाने से परमात्मा की अचिन्त्य शक्ति का ज्ञान होता है। हम अपने परिमित ज्ञान से जिस विषय को असम्भव वा अप्राकृत समझ लेते हैं काल पाकर वे भी प्राकृत जान पड़ते हैं। सुतरां परमात्मा क्या क्या रचना रच सकता है, इसका जानना मनुष्य के लिये असम्भव है और इस बात का निद-र्शन यही विचित्रालय (अजायबघर) है। इसमें बहुत सी ऐसी बातें हैं जिनको देखे बिना मनुष्य कभी मान नहीं सकता। कोई सर्पाकृति बालक है, किसी का आधा शरीर मनुष्य का और शेष पशु का! कोई चतुर्भुज और किसी के हाथ पैर का नाम नहीं! यद्यपि इनकी आकृति छोटी छोटी हैं तथापि अनुमान और विचार के लिये यह क्या कम हैं? यहाँ पर गर्भवास का विषय भी देखने और विचारने योग्य है। गर्भाशय में किस प्रकार गर्भ उत्पन्न होता है? कैसे बढ़ता है? किस तरह बच्चा इसमें लटकता और पुष्ट होता है?—यह बात समझने के लिये यहाँ गर्भ की अनेक कृत्रिम आकृति बनाई गई हैं जिनके देखने से मनुष्य को उस प्रतिज्ञा का स्मरण होता है जो जन्म से पूर्व प्रभु के साथ कर के आया था और जिसका हमारे शास्त्रों में अबाधित प्रमाण है।

ठंढी सड़क

भी यहाँ उसी प्रकार प्रसिद्ध सैर की जगह है जैसी इस नाम की दिल्ली आदि और नगरों में हैं। जहाँ जहाँ अंग्रेजों का जमघटा है वहाँ वहाँ ठंढी सड़क भी अवश्य है। यह भी धूम और अग्नि के समान इस समय व्याप्त हो गई है। और जहाँ जहाँ ठंढी सड़क है वहाँ वहाँ छिड़काव, सफाई, बाइसिकल, फिटन आदि तदुपयुक्त सामग्री का अभाव ही क्यों होना है। इस सड़क के दोनों ओर बड़े बड़े अंग्रेज़ सौदागरों की कोठियाँ और आफिस हैं। पंजाब के लेफ्टिनेंट गवर्नर का मकान, और "एचिसन कालिज" जिसमें पंजाबी राजकुमार अंग्रेजी पढ़ते हैं वह भी इधर ही है। इसी पर एक जगह पंजाब-विजयी लार्ड लारेंस साहब की प्रतिमा रक्खी हुई है जिसके एक हाथ में खड्ग और दूसरे में लेखनी है। खड्ग और लेखनी का महत्व और उनका सादृश्य सौभाग्यशाली अंग्रेजों में प्रगट हो गया है। इस मूर्ति को देख कर पंजाब का वह दृश्य, जब उनकी लेखनी और खड्ग के बल पंजाब में प्रभुत्व स्थापन हुआ था आँखों के सामने आ जाता है। डेढ़ मील आगे—

चिड़िया घर

है। नाम चिड़िया घर है, पर वस्तुतः सिंह, व्याघ्र, ऋक्ष, सर्प, गोमय, मयूर, शूकु, क्रौञ्च, इत्यादि सब प्रकार के पशु पक्षी जीवजन्तु रहते हैं। बहुत से जानवरों के मकान खाली पड़े हैं। कलकत्ते के चिड़िया घर के सामने यह कुछ वस्तु नहीं है, पर "निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते"। 'ना' की जगह 'हाँ' का होना कुछ अच्छा ही है। लाहौर का—

क़िला

बादशाही समय का पुराना है। इसमें महाराज रणजीतसिंह के सीधे सादे सब भवन जिनमें गोत्रघाती सिक्ख वीरों ने अनेक वीर लीलाएं की थीं, अब भी देखने में प्यारे लगते हैं। शीशमहल के एक सुन्दर कमरे में सिक्खों के भारी भारी अभेध्य कवच बक्तर और कई तरह के

शस्त्र जिनको धारण कर वे समरभूमि में शत्रुओं से अजेय हो जाते थे, रक्खे हुए हैं। काल ! आज वह बीर लोग कहाँ हैं ? क़िले का कुछ हिस्सा 'मिलेटरी' प्रबन्ध के अनुसार गुप्त है। वहाँ कोई जा नहीं सकता। क़िले के ठीक सामने बादशाही मसजिद और महाराज रणजीतसिंह का "हजूरी बाग" है। हजूरी बाग में सिवाय एक संगमर्मर की बारहदरी के जिसमें महाराज बैठ कर प्राय: मन्त्रणा किया करते थे और कुछ अवशेष नहीं है।

बादशाही मसजिद

निःसन्देह एक बहुत बड़ी मसजिद है जो लाल पत्थर की दर्शनीय बनी है। यह दिल्ली की 'जुमामसजिद' जैसी सुन्दर तो नहीं है, किन्तु बड़ी बहुत है इसकी मीनारें, जिनके मस्तक, दरबारसाहब के भेंट कर दिये गये बहुत ऊंचे हैं, उनपर चढ़ कर देखने से रावीपार की दूर दूर की चीजें दिखाई देती हैं। महाराज रणजीतसिंह को प्राय: मुसलमान लोग "मुतअस्सिब" कहते हैं; पर यदि सचमुच वे दिल्ली के बादशाहों के समान होते तो इस मसजिद के प्रकाण्ड शरीर का कहीं निशान भी नहीं मिलता। भवतु। पास ही—

पंजाबकेसरी की समाधि

है। यह गौरवगर्भ समाधि मन्दिर अपने वाह्यस्वरूप से अद्भुत और गौरवयुक्त न होने पर भी आन्तर स्वरूप से तुलनीय है। इसमें वह सिंह जिसकी धाक से एक दिन काबुल काँपता था, अनन्तनिशा में सोया पड़ा है! यहाँ वह वीर, जिसके अप्रतिम शौर्य्य से एक समय प्रतापशाली वृटिश सिंह को भी सशङ्क होना पड़ा था, पृथ्वीमाता की गोद में सुख से सो रहा है। समाधि ! तू पंजाब के गौरव, प्रताप और प्रतिष्ठा के समय की समाधि है। काल ! तू भी बड़ा विलक्षण है—

"जो न समाय बाहुबल अटक कटक के बीच।
तीन हाथ धरती तले मीच कियो अब नीच" ॥

पहिले ऐरावती क़िले के समीप ही बहती थी पर अब मील

भर हट गई है। बरसात में अब भी कभी कभी वह अपनी पुरानी हद पर आ जाती है। उस समय यहाँ की शोभा देखने ही योग्य होती है। शहर से दो अढ़ाई मील रावी पार 'शाहदरे' में

जहाँगीर का मक़बरा

भी दर्शनीय है। यद्यपि आगरे के 'ताजगंज' से तो यह सुन्दर नहीं है, किन्तु हुमायूँ प्रभृतिके और सब मकबरों से अच्छा है। दरबार साहब में जो संगमरमर की जालियाँ लग रही हैं, वे सब यहीं से उखड़ कर गई हैं। असली पत्थर के उखड़ जाने और उसके स्थान पर बेहूदा पत्थर लग जाने से इसका सौन्दर्य्य बहुत कुछ नष्ट होगया है। महाराजा रणजीतसिंह को यदि दरबार साहिब के लिये किसी और जगह से संगमरमर मिल जाता तो बोध होता' है, कि वे ऐसा कदर्य कार्य नहीं करते। क्योंकि इसको बुरी तरह न तोड़ कर एक ढंग से पत्थरों को लिया है। पास ही 'नूरजहाँ' के मकबरे का ढेर पड़ा है कोई कहता हैं कि बिजली ने इसकी ऐसी दशा की और कोई कहता है महाराज रणजीतसिंह ने इसका अच्छा अच्छा सब पत्थर दरबार साहिब में लगा इसको इस अवस्था तक पहुँचाया। जो हो, यदि पिछली बात सच है, तो निस्सन्देह हिन्दू महाराज के लिये यह एक बड़े ही कलङ्क की बात है कि वह किसी के धर्म्ममन्दिर वा समाधि को ध्वंस करें। अब बिना किसी विशेषज्ञ के यह जानना भी कठिन है कि इस ढेर के नीचे भुवनमोहनी सुन्दरी नूरजहाँ दबी पड़ी है। जहाँगीर का मकबरा और बादशाही मसजिद कुछ ऐसा सूत बाँध कर बनाये गये हैं कि चाहे जिस मीनार पर चढ़ कर एक दूसरे को देखिये, तीन ही मीनार दिखाई देंगे, चौथा ओट में अलक्षित रहेगा। मकबरे के मीनार पर से रावी के तट का सुविस्तृत दृश्य और लाहौर की शोभा—यह भी बड़े ही नयनाभिराम हैं।

लाहौर से तीन चार मील ईशान कोन में बादशाही समय का चार मील के घेरे में—

सालामार बाग

भी अपने ढंग का एक ही है। इस बाग में ४५० फौबारे छूटते हैं और कई हौज़ संगमरमर के बने हैं और इसके पानी के लिये सवा सौ मील से नहर काट लाए हैं। एक दिन यहाँ "उर्स" होता है, उसी दिन यहाँ रोशनी में फव्वारे और चद्दरों की शोभा भी देखने वाले के मन को मोह लेती है। बाग़ क्या है जादू का खेल है। जब आप बाग़ के अन्दर जावेंगे तो देखेंगे, इस मनोहर बाग का अधिक विस्तार नहीं है, किन्तु जब उसकी हद पर पहुँचेंगे तो उसके कुछ सीढ़ियों के नीचे एक वैसा ही और दिखाई देगा और फिर उसमें प्रविष्ट होने के पश्चात् पहिले बाग़ का चिन्ह भी दिखाई न देगा। इसी प्रकार बाग़ के नीचे बाग बनते चले गए हैं। बाग़ का नया ढंग देख कर आश्चर्य में डूबना पड़ता है। कहते हैं कि, एक रात बादशाह ने स्वप्न में स्वर्ग देखा था। जो कुछ देखा 'सालामारबाग' उसीकी नकल है।

लाहौर में सभाएँ

अगणित हैं। ऐसा कोई दिन नहीं होता जिस दिन किसी न किसी सभा का उत्सव न हो। दवाइयों के नोटिस सभाओं के नोटिसों के समक्ष यहीं परास्त होते देखे। यहाँ के लोगों के बराबर व्याख्यान सुनने का शौक अन्यत्र देखने में नहीं आया। वक्ता भी यहाँ बालक से वृद्ध तक बहुत मिल सकते हैं। मैं यहाँ रविवार के दिन पहुँचा था 'सनातनधर्म्म सभा' के स्थान में 'प्रेमसागर' सभा का एक विशेष अधिवेशन था। पञ्जाब के प्रतिष्ठित राजनैतिक 'ट्रीब्यून' पत्र के सहकारी सम्पादक काली बाबू का 'सच्चा नशा क्या है ?' इस विषय पर व्याख्यान था। बहुभाषारसिक वक्ता महाशय के व्याख्यान से श्रोता लोग मन्त्रमुग्धवत् हो रहे थे। वक्ता के विशेष अनुरोध करने पर मुझे प्रस्तुत विषय की आलोचना अन्त में करनी पड़ी। दूसरे दिन—

थियोसोफिकल सोसाइटी

के उत्सव में उसके उत्साही और शान्त स्वभाव योग्य सेक्रेटरी डाक्टर पण्डित बालकृष्ण कौल महाशय के आग्रह से वहाँ भी मुझे बोलना

पड़ा था। लाहौर के शिक्षित हिन्दुओं में सनातनधर्म सभा की अपेक्षा थियोसोफिकल सोसाइटी का अधिक आदर देखा। यह सब डाक्टर साहब जैसे सोसाइटी के सच्चे प्रेमी पुरुषों के यत्न का फल है। बहुत देर तक डाक्टर महाशय के साथ सोसाइटी के असली उद्देश्य पर बातें हुईं और उनकी अति विश्वासमूलक बात सुन कर मुझे विशेष आनन्द और आश्चर्य हुआ। सोसाइटी के साथ हमारा यह प्रथम परिचय था। यद्यपि हम अनवसर के कारण सोसाइटी के अन्तर्निगूढ़ तत्व तक इच्छा करने पर भी नहीं पहुँचे, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इसकी कार्य्यशैली अत्युत्कृष्ट और इस समय के योग्य प्रतीत हुई।

लाहौर में कई—

देवमन्दिर

हैं, पर उन सब में सुन्दर और प्रशस्त लाला मूलचन्द सौदागर का मन्दिर है। यह अभी बन कर तैयार हुआ है। लाहौर में अब तक ऐसा स्थान कोई न था जहाँ प्रत्येक प्रकार के हिन्दू यात्री को उसकी योग्यता के अनुसार आराम मिल सके, इस अभाव की पूर्ति इस मन्दिर द्वारा हो गई। मन्दिर में भगवान् 'राधा माधव' की मनोहर प्रतिमाएँ हैं और भोगराग का सब प्रबन्ध यथोचित किया गया है वरञ्च मन्दिर के अगल बगल में किराये को बहुत सी दूकानें खोल दी हैं जिसकी आमदनी से यह अपने आप खर्चा सम्हाल ले। मन्दिर दुमंजिला है और उससे सटी हुई पर अलग एक धर्म्मशाला है। जिसमें सन्दिग्ध यात्रियों के ठहरने का प्रबन्ध किया गया है। बनीएँ और उच्च कुल के हिन्दुओं के ठहरने का प्रबन्ध मन्दिर में है। गृहस्थों के लिये जो श्रेणी बनी है, उसमें सस्त्रीक पुरुष ही ठहर सकते हैं। राजा और रईसों के कमरों में फर्श वगैरह का बहुत अच्छा सामान है, इसी प्रकार विद्वान् पण्डितों के लिए भी ऐसा अच्छा प्रबन्ध है कि जो एक बार यहाँ आ लेता है वह लाला मूलचन्द जी को बिना धन्यवाद दिये नहीं रह सकता। कोई यह न समझे, विद्वान् और रईसों ही के लिये मन्दिर में जगह है, नहीं, अन्य प्रकार के यात्रियों को भी

आराम पहुँचाने का यत्न किया गया है। मकान बहुत स्वच्छ और नहाने धोने आदि का सब प्रबन्ध बुद्धिमत्ता से किया गया है। हिन्दुओं की बड़ी बड़ी सभाएँ अब इसीके विशाल प्राङ्गण में होती हैं। कोई आदमी यहाँ हिन्दूधर्म्म के विरुद्ध आचरण वा भाषण नहीं कर सकता। मद्यमांस के व्यवहार का कड़ा निषेध है। और इसी तरह वेश्या के लिये भी यहाँ स्थान नहीं है, स्टेशन के पास होने के कारण शहर में आने के लिए सवारियाँ प्रत्येक समय मिल सकती हैं। जिन लोगों का शहर में परिचय भी हो उनको भी यहीं ठहरना चाहिये, कारण कि यहाँ से बढ़कर आराम वहाँ मिलना कठिन है। मन्दिर के मालिक लाला मूलचन्द जी बहुत ही सीधे सादे लोग हैं। ऐसे सरल और महाभाग लोगों की सम्पत्ति केवल परमार्थ के निमित्त होती है। इस प्रकार के बड़भागियों की भारतवर्ष में जितनी वृद्धि हो उतना ही मङ्गल है।

मैं अपने प्रिय मित्र पण्डित विद्याविनोद जी के पास भाई नन्द गोपाल जी के मन्दिर में ठहरा था। यह स्थान शाह आल्मी दरवाज़े के पास नहर के ऊपर ही है, ठहरने का सुभीता यहाँ भी अच्छा है। लाला मूलचन्द जी के मन्दिर से पहिले यही सब बातों में प्रधान समझा जाता था। पर अब भी शहर केसमीप होने से यात्रियों का इसमें अभाव नहीं रहता। विद्याविनोद जी के कारण मुझे कष्ट तो होना ही क्यों था पर यदि वे न होते तो कष्ट पाकर भो इन सब वस्तुओं को अच्छी तरह नहीं देख सकता था। तारीख ११ मार्च की रात को सवार हो, प्रातःकाल १० बजे 'भिवानी' आ पहुँचा।



सप्तम् खण्ड

धर्मचर्चा और आन्दोलन



श्रीभारत-धर्म्म-महामण्डल

दिल्ली में

श्रीभारत-धर्म्म-महामण्डल ने सं० १९४४ वि० में श्रीमायापुरी हरिद्वार में जगज्जननी गङ्गा के किनारे ब्रह्मकुण्ड पर अवतार लेकर, इन गत बारह वर्षों में जो कुछ कार्य्य किया है, उससे कौन सनातन-धर्म्मावलम्बी परिचित नहीं है ?

जिस समय इसका जन्म हुआ, उस समय इस शान्तिमय भारत में कुछ दिनों से चारों ओर अविद्या का घोर अन्धकार फैल चला था, धर्म्मपथ के पथिक निज मार्ग से भ्रष्ट हो चले थे, अन्धकार के चाहने वाले, भयानक जीव श्रुतिदूषक निर्हाद (शब्द) से सज्जनों की शान्ति भङ्ग कर रहे थे और कुतर्की निशाप्रियों की बिल्कुल बन आई थी।

हर्ष का विषय है कि प्रचण्ड-मार्तण्ड-मण्डल के समान इस 'भारत-धर्म्म-महामण्डल' के प्रकाश से अज्ञान अन्धकार दूर हुआ, मनुष्यों को भले बुरे की पहचान और अपने पराये का ज्ञान हुआ, वर्णाश्रम धर्म्म का विशाल दुर्ग सब को दिखाई दिया, दशों दिशाओं की तरह समस्त सम्प्रदाय प्रकाशित हुए और सनातन धर्म्मावलम्बियों के मुरझाये हुए मुखारविन्द फिर से विकसित हुए।

सूर्य्यमण्डल के प्रकाश होने पर जिस प्रकार मनुष्यों की सोई हुई वृत्तियाँ जाग कर उनको निज निज कृत्य में प्रवृत्त करती हैं और ब्राह्मणादि चारों वर्ण सन्ध्यादि कार्य्यों को करने लगते हैं, ठीक उसी प्रकार इस मण्डल के उदय से भी हिन्दुओं की चिरनिद्रित धर्म्म-वासना जागृत हुई है और वे अपने अपने कर्तव्य कर्म्म का पालन करने लगे हैं।

जिस प्रकार परम भक्त, पवननन्दन महावीर श्रीहनुमान जी ने अपनी बाललीला ही में निज वीरोचित कार्य्य से समस्त देववृन्द को आनन्दित कर दिया था और उनके चित्त में भावी सत्कार्य्यों का ज्ञान

उसी समय हो गया था कि उनके द्वारा बड़े बड़े लोकोपकारक कार्य्य होंगे और संसार का मङ्गल उनकी महावीरता पर निर्भर रहेगा।

अथवा यों कहिये जिस प्रकार महाभारत के महावीर महापराक्रमी महाभागवत, दृढ़प्रतिज्ञ और ऊर्ध्वरेता गाङ्गेय भीष्म को बाल्यावस्था ही में कर्तव्यपरायण एवं पितृभक्त देख कर, सब महर्षियों ने यह जान लिया था कि वे शेष अवस्था में पूर्णतया समुन्नत हो जायँगे और सर्वत्र 'पितामह' के नाम से विख्यात हो आदर पावेंगे, ठीक उसी प्रकार भूत-भावन-भगवान् विश्वम्भर के सत्य सङ्कल्प से मायापुरी में हरिहर-भक्ति-प्रदायिनी, कलि-कल्मष-निवारिणी, सर्व-सन्ताप-हारिणी, जगदम्बा, गङ्गा जी के प्रवाह से उत्पन्न हो, श्रीभारत-धर्म्म-महामण्डल (महावीर) ने भी,—

'वेद-पुराणादि-प्रतिपाद्य सनातनधर्म्म की रक्षा और बृटिश-राज्य-भक्ति'

का बीड़ा उठा कर अपने बाल्यचरित्र ही से सनातन धर्म्मावलम्बियों के समस्त आचार्य्य, परमहंस, यती, सन्यासी, विद्वान्, ब्राह्मण एवं क्षत्रिय-कुल-सम्भूत बड़े बड़े राजा महाराजा और वैश्य-वंशोत्पन्न दानी धर्म्मात्मा सेठ साहूकार तथा सेवापरायण सत्शूद्र आदि को निज कर्तव्य से प्रसन्न कर लिया है।

भारतवर्ष के सब प्रान्तों में इसके विद्वान् धर्म्मप्रचारक सनातन धर्म्म का प्रचार कर रहे हैं, उनके रसभरे गम्भीर व्याख्यानों से दिग्दिगन्त व्याप्त हो रहे हैं। जिनका बड़े बड़े नगरों में ऐसा प्रभाव हुआ है कि जो इस देश के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा।

जो लोग कर्म्म उपासना का उच्छेद कर रहे थे, सदाचार के बन्धन को शिथिल करने ही में अपनी बुद्धि का व्यय कर रहे थे, वैदिक मर्य्यादा को नष्ट भ्रष्ट करना ही वीरता समझ रहे थे और जिनको आधुनिक विद्या और विलायती विज्ञान पर बड़ा अभिमान था, वे सब महामण्डल के सुपण्डितों की युक्तियुक्त मीमांसा सुन कर शान्त और निरस्त हो गये एवं कितने ही भ्रम से भूले हुए अपने प्राचीन मार्ग पर फिर से चलने लगे हैं।

देवमूर्त्तियों का अनादर करनेवाले पश्चात्ताप कर रहे हैं। पितरों की "तिलाञ्जली" बन्द करने वाले अपने कृत्य से घबड़ा गये हैं और पातिव्रत धर्म्म को धूल में मिलानेवाले धूल की तरह उड़ रहे हैं।

महामण्डल द्वारा कितने मण्डल और कितनी सभाएँ इन बारह वर्षों में बनी हैं और उनके द्वारा क्या क्या कार्य्य सम्पन्न हुए हैं, प्रति वर्ष कितने नगरों में वार्षिक महाधिवेशन होकर भगवद्भक्ति और राजभक्ति का प्रचार किया जा रहा है, कितनी संस्कृत पाठशालाएँ और सनातन धर्म्म स्कूल खोले गये हैं और कितने पंचायती देवमन्दिर वा धर्म्मभवन इस काल के स्मारकचिन्ह नियत किये गये हैं, इन सब बातों के जाननेवाले सज्जन धर्म्मात्माओं से छिपा नहीं है कि इस समय भारत-धर्म्म-महामण्डल एक ईश्वर की अपूर्व्व शक्ति है, जिसके द्वारा भगवान् को भविष्य में सनातन धर्म्म का बड़ा उपकार करना अभीष्ट है।

यद्यपि कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं-समर्थ सर्व्वशक्तिमान् भगवान् अपनी माया से क्षणमात्र में सब कुछ कर सकते हैं, तथापि उन्होंने अपने अवतारों के आदरणीय और अनुकरणीय चरित्रों से सिद्ध किया है कि जगत् के समस्त कार्य्य देश, काल और पात्र के अनुसार धीरे धीरे हुआ करते हैं।

भगवान् इच्छा करते तो इस अल्पकाल में ही इससे भी अधिक शक्ति महामण्डल को प्रदान कर सकते थे, परन्तु देश काल और पात्र के नियमों में विरोध होता। तथापि बारह वर्षों पहिले की दशा को आज की अवस्था के साथ मिलान करने से यह भली भाँति सिद्ध हो सकता है कि,—

"इस छोटी सी अवस्था में महामण्डल ने जो कुछ किया है, वह बहुत है और आश्चर्य है" और भविष्य में इसके द्वारा बहुत से धर्म्म-कार्य्यों के पूर्ण होने का अटल विश्वास है।

इन महोत्सवों और कार्य्यों के सिवाय महामण्डल ने अपने भी अनेक महाधिवेशन किये हैं, जिनमें श्रीहरिद्वार और श्रीवृन्दावन के

पश्चात् सं० १९४७ में इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) का महाधिवेशन अपूर्व था। महामण्डल के इन महाधिवेशनों में मण्डल और सभाओं की उन्नति में बहुत कुछ सफलता प्राप्त हुई है।

भगवान् की कृपा से भारत-धर्म्म-महामण्डल अब अपनी बाल्यावस्था के बारह वर्ष येनकेन प्रकार से पूर्ण कर एक ऐसी शक्तिशालिनी यौवन अवस्था को प्राप्त हो रहा है, जिसका इसके हितैषी चिरकाल से चिन्तन कर रहे थे। इस आनन्द के उपलक्ष में महामण्डल का एक ऐसा महाधिवेशन करना निश्चय किया गया है, जिसमें भारतवर्ष के सब प्रान्तों के हिन्दू प्रतिनिधि और हिन्दू सम्प्रदायों के आचार्य्य, महाराज तथा श्रीमान् विद्वान् निमन्त्रित किये जावेंगे, जिनकी उपस्थिति में महामण्डल की बाल्यावस्था के कार्य्यों पर विचार होगा और इस होनहार को भविष्य में अधिक क्षमताशाली बनाने के लिए इसका उचित संस्कार किया जायगा।

भारत-धर्म्म-महामण्डल के संरक्षक, स्वर्गीय दर्भङ्गाधिपति श्रीमहाराज लक्ष्मीश्वरसिंह देव बहादुर, जी० सी० एस० आई० के सिंहासनासीन, सुयोग्य कनिष्ठ सहोदर, ब्रह्म-कुल-कमल-दिवाकर श्रीमहाराज श्रीलश्रीरामेश्वरसिंह देव बहादुर वर्तमान दर्भङ्गाधीश्वर ने इस आदरणीय प्रस्ताव को प्रस्तुत किया है, जिससे महाराज की आन्तरिक धर्म्मनिष्ठा और कर्तव्यपरायणता का प्रकाश हो रहा है।

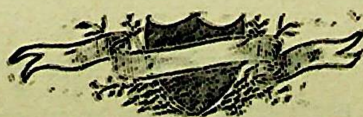
इस महाधिवेशन के लिये महाराज मिथलेश्वर ने बहुत सोच विचार कर इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) को निर्द्धारित किया है, जो वर्तमान् समय में राजकीय रीति पर पञ्जाब प्रान्त से सम्बन्ध रखता है और भाषा तथा रहन सहन, आचार विचार के कारण पश्चिमोत्तर एवं अवध प्रदेश के तुल्य है और राजपूताने का प्राचीन मान्य स्थान होने से राजपूताने से भी भिन्न नहीं है, इसके अतिरिक्त समस्त भारत का केन्द्र, धर्म्मावतार प्रातःस्मरणीय महाराज युधिष्ठिर की राजधानी, विधाता का पुनीत निगमबोध क्षेत्र और न्यायशील प्रजाप्रिय गवर्नमेंट के साम्राज्य महामण्डल (शहंशाही दरबार) का चिरस्मरणीय स्थान है।

इस महाधिवेशन में—

(१) वेद-पुराणादि-प्रतिपाद्य सनातन-धर्म्म-प्रचारक सब सम्प्रदायों के आचार्य्य,
(२) संस्कृत विद्या के माननीय प्रतिष्ठित महाविद्वान,
(३) सनातन धर्म्मप्रचारक, महोपदेशक महात्मा,
(४) हिन्दू धर्म्म के पृष्ठपोषक समाचारपत्रों के सम्पादक महाशय,
(५) धर्म्मरक्षक हिन्दू राजधानियों के धर्म्मात्मा प्रतिनिधि,
(६) समस्त सनातन-धर्म्म-सभाओं के प्रतिनिधि और
(७) समस्त रीति-संशोधनी, जातीय महासभाओं (कांफ्रेंस) के प्रतिनिधि-महोदय निमन्त्रित किये जायंगे।

यह महाधिवेशन श्रावण सु० १३शी से भाद्रपद वदि द्वितीया तक (तारीख ८ अगस्त से १२ अगस्त तक) होगा। इसके प्रवन्ध के लिये दिल्ली के प्रतिष्ठित रईसों की एक प्रवन्धकारिणी सभा स्थापित हुई है, जिसके प्रेसीडेंट दिल्ली के प्रसिद्ध रईस रायवहादुर श्रीकृष्णदास जी गुड़वाले हुए हैं और जिसके द्वारा समस्त व्यय सम्बन्धी कार्य्य निर्वाह होगा।

जैसा कि कहा जाता है, निःसन्देह महामण्डल का यह जलसा बड़ी धूमधाम का होगा और इसमें बड़े बड़े प्रतिष्ठित तथा विद्वान लोग उपस्थित होकर हिन्दूधर्म्म का अपूर्व नमूना दिखलावेंगे। ईश्वर महामण्डल के कार्यकर्ताओं और सहायकों की दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति करे और उनका उत्साह बढ़ावे।



हिन्दुओं की महासभा

भारत-धर्म्म-महामण्डल

अँग्रेज़ी राज्य के प्रताप से सब को समान भाव से स्वतन्त्रता मिल रही है, सब को अपनी अपनी उन्नति की चिन्ता हो रही है और सभी अपने अपने भाग्यों की परीक्षा कर रहे हैं। ऐसे सुअवसर को पा, यदि कोई अपने आपको न सुधारे वा सुधारने की चेष्टा तक न करे, तो उसके मनुष्यत्व में सन्देह करना कुछ अनुचित नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि जो कुछ होनहार है वह पहिले से रचा हुआ है। उसमें घटने बढ़ने को यद्यपि तिलार्द्ध का भी अवकाश नहीं है, तथापि पुरुषार्थ के विना फलप्राप्ति की आशा करना दुराशा मात्र है। फलसिद्धि के लिए मृत्यु पर्य्यन्त पुरुषार्थ करना ही मनुष्य का मुख्य धर्म्म है। पुरुषार्थहीन पुरुष का पुरुष कहलाना वैसा ही है, जैसा भस्म का अग्नि के नाम से प्रसिद्ध होना है।

यह सच है कि देश काल के विपरीत कभी कोई उन्नति नहीं कर सकता, परन्तु पुरुषार्थी के पुरुषार्थ का कुछ फल ही न होगा, यह मान लेना भी क्या मनुष्यता से परे नहीं है? हिमालय में लोग अग्नि को जला कर तापते हैं, मद्रास में खस की टट्टियों के द्वारा हिमालय का आनन्द लूटते हैं और आवश्यकतानुसार रात में दिन का और दिन में रात का काम लेते हैं, फिर किस प्रकार कहा जाय कि पुरुषार्थ का कुछ फल ही नहीं है?

इस संसार में जिसने जन्म लिया है सुख दुःख उसके साथ है। उन्नति अवनति भी बारी बारी अपना काम करती रहती है। जो ऊँचे चढ़ता है वह एक दिन गिरता भी अवश्य है, जो चढ़ेगा नहीं वह गिरेगा कहाँ से? जो चढ़ कर गिरा है, वह उतना शोचनीय नहीं है, जितना वह शोचनीय है, जो गिर कर सम्हलता नहीं। तात्पर्य्य यह

कि गिरने पर केवल पश्चात्ताप करना और शोकाकुल होना कुछ बड़ाई की बात नहीं है; पर गिर कर सम्हलना वा समुन्नत होना यह अवश्य प्रशंसा के योग्य है।

किस कारण हम पहले संसार में उन्नत हुए थे? किस कारण उस समय हमारी प्रशंसा होती थी? क्यों हम आदर्श पुरुष समझे जाते थे? और अब हमारे अधःपतन का क्या कारण है? क्यों लोग हमारी घर घर निन्दा कर रहे हैं और हमें घृणा की दृष्टि से देख रहे हैं? इन्ही सब बातों का निर्णय कर अनुकूल प्रतिकूल में प्रवृत्ति निवृत्ति करना ही सब उन्नतियों का मूल है।

किन्तु, साधारण अल्पज्ञ पुरुष अपने अधःपतन का कारण किस प्रकार जान सकता है। वह किस प्रकार निर्णय कर सकता है कि इतने कारणों में से कौन मेरी अवनति का मुख्य कारण है, और कौन गौण? सब जानते हैं कि अधःपतन के समय वा आपत्काल में बुद्धिमान् पुरुष की भी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, फिर साधरण जनों की तो बात ही और है! कदाचित् कोई एक पुरुष इस बात के निर्णय करने में समर्थ भी हो कि उसकी व्यक्तिगत उन्नति अवनति का अमुक कारण है, तब भी क्या वह अपने बड़े भारी समाज और समस्त देश वा जाति की उन्नति अवनति के दुर्ज्ञेय कारण को अकेला जान सकता है कि यही ठीक है? इसी पर सब कुछ निर्भर है?

हमारे विचार में किसी एक पुरुष का बड़े भारी कार्य्य में कृत-कार्य्य होना भी सम्भव हो तो भी अधिक पुरुषों का एक कार्य्य में सहायता देना उचित हैं, न्यायसङ्गत है और भविष्य उन्नति का मूल है। हमारे त्रिकालदर्शी पूर्वपुरुष यद्यपि योगबल की असाधारण साम-र्थ्य से इस योग्य थे कि उनमें का एक ही महापुरुष सब बातों का भली भाँति निर्णय कर सकता था, तथापि वे धर्म्म सम्बन्धी गूढ़ विषयों में परस्पर सहायता करना अपना कर्तव्य समझते थे और इस लिए वे इस प्रकार के सन्देह का निराकरण बड़े भारी ऋषिमण्डल के सामने किया करते कि एक ही काल में बहुत से जिज्ञासुओं की

जिज्ञासा निवृत्त हो और सिद्धान्तियों के सिद्धान्त अधिकतर दृढ़ हों। इस प्रकार के ऋषिमण्डल में केवल ब्राह्मण ही उपस्थित नहीं होते थे, वरञ्च धर्म्मरक्षक क्षत्रिय महापुरुष भी साथ देते थे। याज्ञवल्क्य आदि महर्षियों ने जो स्मृतियों में 'परिषत्' की व्यवस्था की है, उसकी सृष्टि भी इसी उदार उद्देश्य के कारण हुई है।

नये समय में जितने उन्नतिशील पुरुष हुए वा होते जाते हैं, उन्होंने भी सभा समाज को अपने कल्याण का द्वार न समझा हो सो नहीं है। दो सहस्र वर्षों के पूर्व बौद्धों के समय में "बौद्ध संघ" के एक एक महोत्सव के कारण बौद्ध धर्म्म का असाधारण उपकार और प्रचार होता रहा। ऐतिहासिक विषय पर विचार करनेवाले पुरुष इस बात के मानने में सङ्कोच न करेंगे कि बौद्ध संध में जो बात निर्णय करली जाती थी, बौद्ध लोग प्राणपण से उसीका अनुसरण करते थे, जिससे जाति मात्र की शिथिलता नष्ट हो, कर्तव्य पालन में दृढ़ता उत्पन्न होती जाती थी। बौद्ध संघ के उत्सव का बन्द होना ही भारत के बौद्ध पराजय का हेतु है, यह हमारा पक्ष नहीं है, केवल वक्तव्य यह है कि हमारे नष्टप्राय वैदिक धर्म्म के पुनरुत्थान का यह भी एक कारण माना जा सकता है।

अंग्रेजी राज्य में तो सभा सुसाइटियों की इतनी दर बढ़ी है कि जिसका लेखा करना ही कठिन है, ऐसा नगर नहीं, जहाँ दो चार साइनबोर्ड सभाओं के नाम के दिखलाई न दें। छोटे छोटे गावों तक में इनकी पहुँच हो गई है, तथापि उन्नति के बदले देश की प्रति दिन अधोगति हो रही है! इसका कारण यह है कि एक सभा दूसरी सभा को सहायता देना तो दूर रहा, सहायता देने के बदले उसे नष्ट किया चाहती है। फिर कहिये वे परस्पर में वाक्‌युद्ध करने के अतिरिक्त और क्या कर सकती हैं?

इस समय सभाओं के जितने प्रचारक वा उत्साहदाता हैं, उनमें तीन प्रकार के मनुष्य हैं और तीन प्रकार ही की सभाएँ हैं। राज-नैतिक, सामाजिक और धार्म्मिक। राजनैतिक पुरुषों के विचार में

धर्म्म एक बड़ा असार पदार्थ है अथवा कुछ है ही नहीं! उनकी समझ में जिस धर्म्म की बुनियाद राजनैतिक भाव पर स्थित नहीं है, वह धर्म्म—धर्म्म कहलाने योग्य ही नहीं है। इस सिद्धान्त का प्रचार न केवल वक्तृताओं द्वारा हो रहा है, वरञ्च भारतवर्ष के प्रोन्नत धर्म्मभाव को रसातल में पहुँचाने के लिए देशहितैषी महाशय लेख द्वारा भी उद्योग कर रहे हैं।

यहाँ इस विषय पर विवाद करना इष्ट नहीं है कि राजनीति और धर्म्मनीति एक ही वस्तु है कि भिन्न भिन्न? परन्तु यह कह देना आवश्यक बोध होता है कि, भारतवर्ष में धर्म्मभाव से भिन्न राजनैतिक और सामाजिक विषय को समझना बिल्कुल नई बात है। सच पूछिये तो यह धर्म्मनीति, समाजनीति और राजनीति की त्रिधारा विलायती चक्र की त्रिधाराएँ हैं जिनके द्वारा धर्म्मभाव छिन्न भिन्न हो रहा है। एक कृष्टान अपने धर्म्म से राजनैतिक और सामाजिक विषय को भिन्न समझ सकता है सही, किन्तु सनातन धर्म्मावलम्बी हिन्दूधर्म्म के सिवाय कुछ नहीं समझता। प्रजा यदि राजा के सामने अपने अभाव का अभियोग करती है, तो वह कुछ राजनीति की बात नहीं है, प्रजा का धर्म्म मात्र है। हमारे सनातन धर्म्म का राजनीति भी एक अङ्ग है, इसमें प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं। वर्णाश्रम धर्म्म से राजनैतिक और सामाजिक बातों को अलग न मानना ही इस विषय का प्रत्यक्ष और प्रबल प्रमाण है।

हमारे शास्त्र में राजनैतिक विषय का धर्म्म के साथ भेद न होने पर भी भारतवर्ष में अनेक देशहितैषी महानुभावों के उद्योग से धर्म्म-रहित केवल राजनैतिक विषय का विचार करने के लिये जो 'जातीय महासभा' की अपूर्व सृष्टि हुई है, उसकी कार्य्यप्रणाली सर्वांश में हमारी अनुमोदित न होने पर भी हम उसके विपक्ष में नहीं हैं। वह चाहे भारतवर्षीय जातीय महासभा के सुमिष्ठ और सुदीर्घ नाम से प्रसिद्ध हो तथापि वह विजातीय भाव पर स्थित है और विजातीय नियम से परिचालित हो रही है। सब से अच्छी बात है तो एक

यही है कि भारतवर्ष में जिस प्रकार सामाजिक सभाओं की मिट्टी ख़राब हो रही है उस प्रकार राजनैतिक सभाओं की नहीं। क्योंकि इनमें सर्वप्रधान सर्वोपरि एक जातीय महासभा है।

अब रहीं सामाजिक सभाएँ जो राजनैतिक पुरुषों की देखादेखी विलायती नियमों पर खड़ी हुई हैं और अहङ्कार करती हैं अपने वर्णाश्रम धर्म्म का। वास्तव में इन सभाओं की बड़ी ही शोचनीय दशा है! राजनैतिक दल के अनुकरण पर इन्होंने भी धर्म्म को ताक पर रख दिया और एक इस प्रकार का नियम बना डाला कि इस सभा में धर्म्म सम्बन्धी विचार उपस्थित नहीं किया जायगा; केवल समाज-संशोधन वा रीतिसंशोधन का कार्य्य होगा! इन कुशाग्र बुद्धियों ने एक बार भी नहीं विचारा कि हमारा समाज कृष्टान समाज के समान लौकिक बातों पर निर्भर नहीं है, प्रत्येक रीति रिवाज वा सदाचार का शास्त्र के साथ सम्बन्ध है और धर्म्म में और उसमें कुछ भी विभिन्नता नहीं है।

अधिक खेद की बात यह है कि ये रीतिसंशोधनी सभाएँ 'न्येशनल कांग्रेस' की तरह खड़ी हो कर भी प्रधान सभा पर अपना भरोसा नहीं रखती हैं। प्रत्येक जाति के लोग अपनी डफली पर अपना अपना राग अलाप रहे हैं! उचित तो यह था कि ये लोग भी एक 'हिन्दू महासभा' के द्वारा सब कार्यों का निर्णय करते, जिससे परस्पर में सहानुभूति करने की लुप्त प्रथा का जीर्णोद्धारा होता। व्यय अल्प होता और लाभ होता कल्पनातीत।

अब कायस्थों की कान्फ्रेंस के ढंग पर बनिये ब्राह्मणों की भी 'जातीय सभा या कान्फ्रेंस' निकल पड़ी हैं। ये लोग भी बाबू साहबों की देखादेखी लेक्चर झाड़ने लगे हैं। बड़े दिनों में तीन चार दिन के लिए ख़ूब धूमधाम होती है, तीन चार दिन में सारे समाज की सफाई कर अपना मार्ग लेते हैं। कायस्थ लोग जब कायस्थ कान्फ्रेंस का समस्त कार्य कायस्थों द्वारा सम्पादित कराते हैं, तब पण्डित जी और लाला साहब भी क्यों चूकने लगे, उन्होंने भी यही किया। ब्राह्मणों ने

कोषाध्यक्ष आदि का वैश्योचित कार्य अपने सजातीय ब्राह्मण से लिया और वैश्यों ने भी उपदेशक आदि का ब्राह्मणवर्णोचित कार्य अपने सजातीय वैश्यों से ले अपनी उद्दण्डता का पूरा परिचय दिया है। अब विज्ञ जन विचार देखें कि ये जातिहितैषी महाशय वास्तव में वर्णाश्रम धर्म्म का प्रचार कर रहे हैं कि संहार ?

जब तक चारों वर्ण एक स्थल पर विद्यमान न हों, तब तक रीति विशेष का संशोधन वा आमूल परिवर्तन किस प्रकार हो सकता है ? विशेषतः प्रत्येक वर्ण वाले से ब्राह्मणों का इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि उनकी अनुपस्थिति में यह कार्य हो ही नहीं सकता अथवा वर्णाश्रमाभिमानी ऐसा करना पाप कर्म्म समझता है ! पर देखते हैं विना ब्राह्मण पण्डितों के 'कांफ्रेंस' वाले संशोधन कर रहे हैं ! इस संशोधन के साथ वर्णाश्रम धर्म्म का सम्पर्क ही नहीं है, इस बात को कौन बुद्धिमान् स्वीकार करेगा ?

कहा जाता है कि 'कांफ्रेंस' के साथ धर्म्म का कुछ सम्बन्ध न होगा तो भी देखने में आता है कि बात बात में धर्म्म का अनादर हो रहा है और उनकी प्रतिज्ञा भविष्यवाणी के समान काम कर रही है, कुछ दिनों में 'कांफ्रेंस' के साथ धर्म्म का सचमुच सम्बन्ध न रहेगा ! पैतृक सनातन धर्म्म को एक बार बिदाई दी जायगी ! हमने अब की देखा कि एक जातीय महासभा के संन्यासी लाला साहब वा बाबू साहब 'प्रेसीडंट' की कुर्सी पर सबूट विराजमान हुए और किसी ने भी यह नहीं पूछा कि आपका इस जाति से अब क्या सम्बन्ध है ! कुछ 'कांफ्रेंसें' दान भी अपने आप लेने लग गई हैं। शास्त्र का तत्व समझने वाले विचारें कि ये किस प्रकार की उन्नति कर रहे हैं ? क्या चारों वर्णों के समाज में कोई इस प्रकार की शास्त्रनिषिद्ध गंदी कार्रवाई कर सकता है ? कदापि नहीं ! इस कारण वर्णाश्रम धर्म्म का प्रचार चाहने वालों को चाहिये कि वे उसी सभा को अपनी जातीय सभा समझें जिसमें धर्म्म का आदर हो, वर्णाश्रम का प्रभाव हो और ब्राह्मणादि वर्ण विद्यमान हों।

कान्फ्रेंस के बाबू साहब और नई नई सभाओं के जन्मदाता धर्म्म के नाम से इतना क्यों डरते हैं? हम जब इस प्रश्न के अनुसन्धान में प्रवृत्त होते हैं तो दो ही बातें समझ में आती हैं। प्रथम यह कि जो लोग जातीय कान्फ्रेंसों के जन्मदाता हैं, अधिकांश उनमें इस प्रकार के हैं जिनकी वास्तव में वर्णाश्रम धर्म पर श्रद्धा नहीं है। उनके विचार में असवर्ण विवाह, विधवा विवाह, प्रौढ़ा विवाह और अनूढ़ा विवाह सब होने चाहिये। यथेच्छाचार स्वेच्छाचार ही सदाचार समझा जावे! विलायतयात्रा तीर्थयात्रा के समान आहत हो और अंग्रेजी भाषा मातृभाषा वा धर्म्मभाषा के आसन को ग्रहण करे! पर साथ ही वे समझते हैं कि इन बातों का ब्राह्मण प्रबल विरोध करेंगे और धर्म्मभीरु सजातीय ब्राह्मणों का साथ देंगे। बस यही कारण है कि वे सजातीय सज्जनों पर अपना प्रभाव उत्पन्न करने के लिए ब्राह्मणों की अनुपस्थिति में कान्फ्रेंस करते हैं और इस चाल से चलते हैं कि धीरे धीरे उनका प्रयोजन भी निकल जाय और हल्ला भी न होने पावे।

कुछ लोग इनमें ऐसे भी हैं जो असल में वर्णाश्रम धर्म्म के पक्षपाती हैं और इस बात को भी जानते हैं कि जिसका धर्म्म गया उसका सब कुछ गया। यद्यपि धर्महीन जीवन और धर्म्मरहित कार्य्य सब धिक्कार के पात्र हैं, तथापि वे लोग प्रकाश्य रीति पर धर्म का आग्रह इसलिए नहीं करते कि आज कल धर्म के आडम्बर में जाने क्या क्या छिप रहा है जिसकी मीमांसा करना सहज नहीं है और इस कारण विवाद विसम्बाद होना धर्मकार्य में सहज है और प्रेम प्रीति का प्रसार होना कठिन! बस वे लोग इस सिद्धान्त को पकड़ कर बैठ गये हैं और किसी प्रकार का साम्प्रदायिक विवाद न हो, इसी चिन्ता में व्यस्त रहते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि यह सिद्धान्त निर्बल होने पर भी उपेक्षा के योग्य नहीं है। साम्प्रदायिक विरोध से सभाओं में विवाद होना कठिन नहीं है। पर साम्प्रदायिक विवाद के भय से विश्वरक्षक वर्णा-

श्रम धर्म्म की उपेक्षा करना बुद्धिमान् हिन्दू का कार्य नहीं है। साम्प्रदायिक सङ्कीर्णता भी महापुरुषों की मण्डली में स्थान नहीं पाती और दुर्जनों में देश भर की सङ्कीर्णता सर्वदा भरी रहती है, जिसका बात बात में उद्गार निकलता रहता है। भारत-धर्म-महामण्डल के अधिवेशनों में अनेक बार देखा गया है कि चारों वर्णों के सज्जन सोत्साह मिलते रहे। यद्यपि राजाओं से ऊपर संस्कृत के विद्वानों, पर दरिद्र ब्राह्मणों को आसन मिला तथापि किसी श्रीमान् को इसमें आपत्ति नहीं हुई; वरञ्च इसमें अपना सौभाग्य समझा। शैव वैष्णव आदि सम्प्रदायों के आचार्य एक दूसरे से उसी प्रकार स्नेह और आदर के साथ मिले जिस प्रकार सहोदर भाई को भाई के साथ मिलना चाहिये। महामण्डल के महाधिवेशनों में जहाँ नाना प्रकार के सम्प्रदायों के सहस्रों पुरुष उपस्थित रहते हैं, एक भी सम्प्रदाय सम्बन्धी विवाद नहीं हुआ, तब किस प्रकार माना जाय कि सम्प्रदायनिष्ठ पुरुषों में विश्वप्रेमिक महापुरुषों का अभाव है।

सुतरां, समस्त हिन्दुओं की मङ्गल कामना के लिये हिन्दुओं की एक महासभा की बड़ी भारी आजकल आवश्यकता है। इस बात के स्वीकार करने में बोध होता है किसी को आपत्ति नहीं है। राजनैतिक और सामाजिक सभा हमारा कहाँ तक और कितना हित कर सकती है, जिनमें न धर्म्म कर्म्म की चर्चा चल सकती है और न चारों वर्णों के पुरुष ही सम्मिलित हो सकते हैं जो हिन्दू समाज के दृढ़तर चार खम्भें हैं। इसलिए जिस सभा में धर्म्माधर्म्म का विचार हो, चारों वर्णों और सब सम्प्रदायों के आचार्य उपस्थित हों और भगवद्-भक्ति ब्रह्मनिष्ठ परमहंस भी कृपा करें, वही हिन्दुओं की महासभा समझनी चाहिये। उसीमें जो निर्णय किया जाय उसको विधिवाक्य समझना चाहिये।

इस प्रकार की सभा है कि नहीं इसके निर्णय से प्रथम वर्तमान धर्म्म सम्बन्धी सभा समाजों की ओर भी देखना चाहिये कि उनके द्वारा हिन्दुओं का कुछ उपकार होना सम्भव है कि नहीं ? इस विषय

में सब से प्रथम बङ्गालियों का ब्रह्मसमाज और पंजाबियों का आर्यसमाज दृष्टिगोचर होता है। इनमें पहला मत वेद पुराण का, मूर्तिपूजा का, श्राद्धकर्म का, तीर्थयात्रा का और वर्णाश्रम व्यवस्था का विरोध करने में जगप्रसिद्ध हो चुका है। इस बात को सभी लोग जानते हैं। इस समाज से हिन्दुओं के उपकार की आशा करना जिस प्रकार मूर्खता का कार्य है; उसी प्रकार दूसरे समाज से भी भलाई की सम्भावना व्यर्थ है।

आर्यसमाज भी हिन्दुओं का विरोध करने में ब्रह्मसमाज का पूरा अनुकरण करता है और उसी प्रकार अधोगामी हो रहा है, जिस प्रकार ब्रह्मसमाज हुआ था। जिन बातों को ब्रह्मसमाज स्वीकार कर रहा है आर्यसमाज भी उनसे मुँह नहीं मोड़ता। सुना गया है आज कल इस बात का भी उद्योग हो रहा है कि दोनों समाज एक हो जायं। आर्यसमाज नाम मात्र के लिये वेद का आग्रह कर रहा है और ब्रह्मसमाज हिन्दुओं की अन्यान्य बातों के साथ उसका भी श्राद्ध कर चुका है, यही इन दोनों में भेद समझिये। नहीं तो 'काली भली न श्वेत'—दोनों ही वर्णाश्रम धर्म्म के विरोधी और विधवा विवाह के प्रचारक हैं।

इन दो के सिवाय तीसरे प्रकार की 'सनातन धर्म्म सभा' भी इस देश में धर्मान्दोलन के कारण ख्याति लाभ कर चुकी है। इन सभाओं ने अपना अधिक बल इसी बात में खर्च किया और कर रही हैं कि ब्राह्मसमाज और आर्यसमाज से हिन्दुओं को उसी प्रकार बचाया जाय जिस प्रकार अन्य वेदविरोधी हिन्दूधर्मद्वेषियों से बचाया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस समय जिस प्रकार हिन्दूसमाज की वाह्य शत्रुओं से हमारी गवर्नमेंट ने रक्षा की है, उसी प्रकार सनातनधर्म्म-सभाओं ने भीतरी शत्रुओं के आक्रमण से इसे बचाया है।

ये सभायें प्रतिवर्ष अपना वार्षिकोत्सव धूमधाम से करती हैं। विद्या एवं धर्म्म के प्रचार में भी चुप नहीं हैं, परन्तु दुःख की बात यह है कि, इनकी कार्यवाही सुश्रृङ्खलासम्पन्न नहीं है। एक सभा दूसरी सभा को

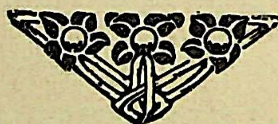
आज्ञा माने तो मान सकती है परन्तु उसके लिये वह बाध्य नहीं है। इनका एक ही उद्देश्य है तथापि इनका प्रताप महामण्डल में परिणत नहीं हुआ, स्थान स्थान ही में रह गया। यदि कहीं सनातन-धर्म्म-सभाओं की एक वार्षिक व यथासमय महासभा होने लगे, तो वह हिन्दू महा-सभा के कार्य को भली भाँति पूरा कर सकती है; परन्तु उसमें हिन्दुओं को उपधर्म्मों से बचाने के साथ साथ विद्या तपोबल से बलवान् करने का भी उद्योग किया जाय।

दर्भङ्गा के प्रातःस्मरणीय, चिन्ताशील एवं धर्म्मपरायण स्वर्गीय महाराज लक्ष्मीश्वरसिंह देव बहादुर ने इस प्रकार की सभा की बड़ी भारी आवश्यकता समझी थी। क्योंकि, वे देख चुके थे कि भारतवर्ष में मुसल्मानों के अनेक सम्प्रदाय होने पर भी 'मुहमिडन कान्फ्रेंस' के द्वारा उनमें विद्या और धर्म्म का प्रचार प्रति दिन हो रहा है तो क्या हिन्दू-महा-सभा के द्वारा हिन्दुओं का उपकार न होगा ? सर सैयद अहमद खां जिस प्रकार अपने व्रत में तत्पर हुए थे महाराज भी वैसे ही होना चाहते थे और कुछ कुछ हो भी गये थे, परन्तु चिर-पतित, हिन्दूसमाज को उन्नत करने में प्रभूत समय और सहायता की आवश्यकता है। महाराज ने एक और पत्र छपाकर हिन्दूपत्र-सम्पादकों और सभाओं के अध्यक्षों के नाम भेजा था। उसमें 'हिन्दू महासभा' के स्थापन करने की अभिलाषा प्रकट की थी।

उस समय महाराज को अनेक बुद्धिमान् पुरुषों ने समझाया था कि जब "भारत-धर्म्म-महामण्डल" एक हिन्दुओं की महासभा उपस्थित है तो दूसरी की क्या आवश्यकता है ? इसीके द्वारा वे कार्य सम्पन्न होने चाहिये जो हिन्दू-महा-सभा के द्वारा आप किया चाहते हैं। इस उचित प्रस्ताव को महाराज ने सहर्ष स्वीकार किया और भारत-धर्म्म-महामण्डल को अपना स्नेहभाजन बनाया था। महामण्डल भी उनकी छत्रछाया में उन्नति का पथ परिष्कार करने लगा था पर कई कारणों से कृतकार्यता लाभ नहीं हुई; पर सर्वथा निराश भी नहीं हुआ।

हर्ष की बात है कि अब महाराज के उत्तराधिकारी एवं अप्रतिम-

सहोदर और दर्भङ्गे के वर्तमान महाराज श्रीयुक्त रामेश्वरसिंह देव बहादुर ने अपने ब्रह्मर्षिकल्प, परमपूज्य ज्येष्ठ सहोदर के सङ्कल्प को पूरा करने का सङ्कल्प किया है। सत्य सङ्कल्प परमात्मा उनके सङ्कल्प को पूरा करें। आशा है कि महाराज के उद्योग और धर्मात्मा जनों के उत्साह से दिल्ली का "भारत-धर्म्म-मण्डल" अपने कर्तव्य को पूरा करेगा। प्रत्येक देश और धर्म्म के हितैषी का यह कार्य है कि, वह महामण्डल को सहायता पहुँचावे। आगामी बार हम महामण्डल के कर्तव्य की आलोचना करेंगे।



परीक्षा

वह बड़भागी धन्य है, जिसका कभी इस तीन अक्षर के शब्द से काम न पड़े, अपना भरम लिये हुए मुंदी भलमंसी के साथ जीवन के दिन पूरे कर दे। परीक्षा वह चीज है, जिसके नाम से बड़े बड़े देवता और ऋषि मुनि भी काँप उठे हैं, हमारे जैसे साधारण मनुष्यों की सामर्थ्य ही कितनी है जो इसके सामने पैर जमा सकें।

परीक्षा कितनी बुरी बला है, इस बात को वे महाशय अच्छी तरह जान सकते हैं, जिनको किसी विद्यालय में परीक्षा देने का अवसर मिला है। जरा उस समय का स्मरण तो कीजिये जब परीक्षा के दिन निकट आ जाते थे, दिन रात कितने श्रम से पढ़ते थे तथापि चित्त का सन्तोष नहीं होता था। जी में यही खटका बना रहता कि कहीं फेल न हो जायँ, खाते-पीते सोते-जागते सर्वदा एक उसी विषय का ध्यान रहता और चित्त पर वही चिन्ता चढ़ी रहती। जो विद्यार्थी देवी देवताओं की दिल्लगी किया करते वे भी उस समय मनहीं मन उन्हीं की मनौती मनाते थे। कोई पण्डित के पास दौड़ा जाता और कोई ज्योतिषी जी के चरण छूता था जैसे उन पर कोई बड़ी भारी विपत्ति आ रही है। सब यही कहते थे कि देखें—परमात्मा क्या करता है।

सचमुच परीक्षा ऐसी ही भयानक है। "स्वर्णकार ने स्वर्ण जब दियोअग्नि में डाल। काँप उठ्यो पानी भयो देख परीक्षा काल।" एक उर्दू के कवि का यह कहना कितना अच्छा है कि 'इस शर्त पर जो लीजे तो हाजिर है दिल अभी। रंजिश न हो फरेब न हो इम्तिहां न हो।' तात्पर्य्य यह है कि परीक्षा सब के जी में खटकती है, प्यारी किसी को नहीं लगती।

ईसाइयों की प्रार्थना में एक वाक्य है, जिसका यह भाव है कि "ईश्वर! तू हमें परीक्षा में ना डाल वरञ्च बुराई से बचा।" भक्तकुल चूड़ामणि प्रह्लादजी ने भी भगवान् नृसिंहदेव से यही प्रार्थना की थी

कि दयासिन्धो ! संसार के जीवों पर दया करना, परीक्षा न करना।" क्योंकि वे भली भाँति जानते थे कि जब मनुष्य का, मनुष्य कृत परीक्षा ही में उत्तीर्ण होना कठिन है, तो ईश्वरीय परीक्षा में उत्तीर्ण होना कितना दुर्घट व्यापार है। जगत् में कितने ऐसे पुरुष हैं, जो परीक्षा के समय उनके समान सहर्ष जलती हुई अग्नि में प्रवेश करें, पर्वत की सब से ऊँची चोटी से कूद पड़ें सिर पर चमकती हुई तलवार से कम्पित न हों, दयामूर्ति अश्रुमुखी जननी में जिनका मोह न हो और काल सर्पवत् प्राणहन्ता पिता से जिन्हें भय न हो ?

परीक्षा यदि इतनी भयानक वस्तु है कि सब लोग उससे डरते हैं, तब कृपालु परमात्मा की सृष्टि में इसकी आवश्यकता ही क्या थी ? पर देखते हैं कि इसकी बड़ी भारी आवश्यकता थी और है। ईश्वरीय परीक्षा की बातें जाने दीजिये, वे जब तक पाप सम्भव मनुष्यों को विशेष कर आज कल के हिन्दुओं की परीक्षा न करें तभी तक मङ्गल है, अब हमारा वह समय नहीं है जब हम में प्रह्लाद जैसे भक्त और हरिश्चन्द्र जैसे महाराज विराजमान थे। हम नारकी जीव अब उनकी परीक्षा में कितनी देर ठहर सकते हैं ? हाँ यदि सब लोग परस्पर में सच्चे होते, तो परीक्षा का कुछ काम न पड़ता। पर जब सब का वैसा व्यवहार नहीं है और इस त्रिगुणमयी सृष्टि में तीन काल में वैसा होना असम्भव है, तब कैसे कहा जाय कि परीक्षा की आवश्यकता नहीं है।

संसार छल छिद्र से भरा है। जिधर देखोगे उधर धोखे की टट्टी और आडम्बर का ठाठ दिखाई देगा। ऐसी अवस्था में यदि परीक्षा से काम न लिया जाय, तो क्या किया जाय ? बहुधा देखा गया है, कि कपटमूर्ति चतुर चूड़ामणि लोग ही बहुत मधुर भाषण और शिष्टाचार प्रदर्शन करते हैं। अल्पज्ञ पुरुषही 'बड़ा धोता बड़ा पोथा पण्डिता पगड़ा बड़ा' का उदाहरण बनते हैं। निर्गन्ध कुसुमही अधिक रङ्गीला होता है। नया मुसल्मान ही 'अल्ला अल्ला' पुकारता है। भूला पाण्डे ही दूनी सन्ध्या किया करता है और अधर्म्मात्मा ही धर्म्मध्वजी बनता है। इसलिये संसार में परीक्षा के बिना काम चलना कठिन है। यदि

किसी की परीक्षा न की जायगी, तो फिर यही कहना पड़ेगा कि—

"काकः कृष्ण पिकः कृष्णः को भेदः पिक काकयोः।"

यों तो जब संख्या (मर्दुमशुमारी) के कागज काले करवाने के लिये हमारे देश में बड़े बड़े पण्डित, महा महा देश हितैषी, भारी भारी सेठ और बड़े बड़े तुन्दिल धर्म्माचार्य्य असंख्य भरे पड़े हैं, पर यदि इनकी परीक्षा की जाय तो कदाचित सौ में दो चार ही ऐसे निकलें जो अपने नाम की रक्षा कर सकें।

बड़े आदमियों के यहाँ यदि कुछ दिन आप का सम्पर्क रहा हो तो आपने देखा होगा कि ऊँची दीवारों के अन्दर कितना व्यभिचार, कितना अत्याचार और कितना दुराचार हो रहा है। उन गुप्त कथाओं को यदि सप्रमाण प्रकाशित किया जाय तो जाने उन बड़े आदमियों के बड़प्पन का क्या हाल हो? धर्म्माचार्य्यों से कभी काम पड़ा हो तो आप को विदित होगा कि प्रगट में जो "ब्रह्माहमस्मि" "श्री कृष्ण शरणंमम" इत्यादि वाक्यों को सुना कर जो ब्रह्म भाव जो भगवत्-प्रेम, जो अनन्यता दिखा रहे हैं वह गुप्त रीति से कितने महापुरुषों में कहाँ तक है।

खेद की बात है कि कभी कभी हम लोग वाह्याडम्बर में भूल कर भ्रमबस पित्तल को काञ्चन, विषधर को कंठहार और शुक्ति को रजत समझ लेते हैं। इस प्रकार के भ्रम में हम अनेक बार पड़ चुके, तथापि 'विषकुम्भ पयोमुख' पुरुषों को हम पहिचान नहीं सकते। जिसको एक दिन नन्दन कानन का पारिजात अमृत का आकार, देवता की प्रतिमूर्ति समझते थे आज देखते हैं कि वह भुजङ्ग वेष्टित जघन्य वृक्ष का प्राणघाती कुसुम है, गरल का आधार और कलिकाल का अवतार है।

पाठक! जो पुरुष तुम्हारे मुंह से "धर्म्म की जय" बुलवा, धर्म्म और प्रेम का उपदेश दे महा धर्म्मात्मा बन रहे हैं, जो पुरुष निरन्तर "धर्म्म धर्म्म" की चीत्कार कर देश हितैषिता और धर्म्म प्रचार का झण्डा उड़ा रहे हैं और जिनको आप भारतवर्ष की उन्नति साधन में

तत्पर देखते हैं, ये सब साधुता के आवरण से अपने असली रूप को छिपाये हुए हैं। एक बार तुम इनके आवरण को हटा देखो, देखोगे कि ये मेषचर्म्माच्छादित शार्दूल हैं। अवसर मिलने पर ये स्वदेशी और स्वजाति के शोणितास्वाद में भी विमुख नहीं हैं।

हम नितान्त ही अकिञ्चित्कर लोगों की बातें नहीं कहते, देश के दो एक मान्य गण पुरुषों ही की बात कह रहे हैं। एक दिन इनसे स्वदेशवासी धर्म्म प्रचार और सामाजिक सुधार की बहुत आशा करते थे, हम भी इनसे निराश न थे। इस समय इनका गुप्त रूप, गुप्त लीला प्रकाश होने पर इन के आचरण को देख कर सब लोग चकित हो गये हैं। मिथ्या, प्रतारणा, प्रवञ्चना प्रभृति यदि कहीं देखा चाहो तो इन महात्माओं के पास जाओ। सब को मूर्तिमान् पाओगे। 'प्रचरन्ति महीतले' का सजीव दृश्य देखोगे।

हिन्दू समाज की जिस जड़ तक स्वधर्म्म प्रेमी सैय्यद अहमदखाँ का हाथ नहीं पहुंचा था, राजा शिवप्रसाद जी अनेक छल कौशल से भी जिसे हानि नहीं पहुंचा सके थे, बाबू केशवचन्द्र और स्वामी दयानन्द जी भी कई वर्षों के श्रम से जिसे हिला नहीं सके थे, उसको इन महापुरुषों ने, इन घर के शत्रुओं ने अल्पकाल ही में अपने हीन चरित्र से हिला दिया है। यदि इनके कार्य पर समुचित विचार न होगा, यदि इनके आवरण भङ्ग में अब भी दया वा उपेक्षा की जायगी तो समझना होगा कि भारतवासी इस समय अपने कर्तव्य की अवहेला कर रहे हैं। मोहमुग्ध होकर स्वदेश के हितसम्पादन से पीछे हट रहे हैं।

परीक्षा करने पर हमें अनेक महापुरुषों की गुप्त मूर्तियों का दर्शन हुआ है। इनमें से अनेक ऐसे निर्लज्ज पुरुष भी हैं जिनके जघन्य चरित्र की दुन्दभी बज रही है और बहुत शीघ्र लोग जिनके कृष्णमुख का अवलोकन करेंगे तथापि अभी तक अपने गन्धर्व नगर की मरम्मत कर रहे हैं। हम देखते हैं जो अपने को ब्रह्मण्य और ब्राह्मणों का सेवक कह रहा था, परीक्षा से जाना गया कि वह ब्रह्मस्व का भोक्ता, ब्राह्मणों का प्रवञ्चक, घोर विश्वासघाती पुण्यजन है और ब्राह्मणों को एक

बुभुक्षित उच्छिष्टभोजी, हीनवर्ण से गाली दिलाने में अपना उत्कर्ष और गौरव समझ रहा है! जो नौकरी करने में अपनी पराधीनता, दान लेने में अपनी हानि और माँगने में अपनी दीनता समझता था और जिसे हमने इसीलिए एक दिन त्याग की मूर्ति समझ मान्य और धर्म्म माना था, उसे अब निर्लज्जता के साथ देशवासियों का शोणित स्वरूप चन्दा हज़म करते हुए देखा! सनातन धर्म्म सभाओं की मिलित शक्ति का जिसे संस्थापक समझा था, कार्य्य-काल में उसे देखा कि वह पापी पेट के लिए प्राणपण से इसके विरुद्ध आचरण कर रहा है। संस्कृतविद्या और हिन्दी भाषा के सहायकों में जिसे अन्यतम जाना था, परीक्षा के समय उसे इनके प्रचार को चातुर्य्य से रोकनेवाला और उर्दू का एक घोर पक्षपाती मुन्शी पाया! जिसको हमने मित्रों का परम सहायक, परमसुहृद, परम विश्वास-भाजन समझा था, उसे देखा कि वह अपने एक जीवन रक्षक प्रतिष्ठित मित्र के परिवार की अप्रतिष्ठा करने और गंदगी से भरी दिल्लगी उड़ाने में रसिकता की सीमा समझ रहा है। जो महापुरुष दूसरे की "धर्म्म-भिक्षा" औषध और पुस्तकों की दुकान को केवल प्रतारणा और ठगी के हथकंडे कहा करते, अहो! अब उन्हीं धर्म्मध्वजियों को इसी प्रकार के कार्य्य में संलग्न पाया! जो वणिक् पुत्र एक दिन अपने अन्नदाता शूद्र स्वामी को साहङ्कार कह रहा था—

"स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः पर धर्म्मो भयावहः"

आज वह अपने धर्म्म कर्म्म को छोड़ 'धर्म्मभिक्षा' और अत्युल्वण 'ब्रह्मस्व' से निज दग्धोदर की पूर्ति कर रहा है। जिस वाग्मिवर को वल्लभकुल की सुतीव्र आलोचना करने के समय सहस्र जिह्व देखा था, उसे अपने दिव्य चरित्र की चर्चा के समय मूकवत् पाया। हा हन्त! कहाँ तक कहें— जिसे कृष्ण समझा था, उसे '**आनन्द' का रूप देख चकित और निराश हो गए! इसलिये अगत्या यही कहना पड़ता है कि भाई! विश्वासभाजन केवल एक ईश्वर है और परीक्षा के समय जिसकी पोल न निकले वही धन्य है।

औरों को चाहे जैसी लगे, पर हमारे शास्त्रकारों को तो परीक्षा बड़ी प्यारी लगती थी। परीक्षा बिना अध्ययनाध्यापन नहीं होता था और न गुरु शिष्य का सम्बन्ध ही स्थिर होता था। श्रुति कहती है कि "परीक्ष्य लोकान् कर्म्म चितान् ब्राह्मणों निर्वेदमायाति" अर्थात् विरक्त पुरुष परीक्षा से संसार को विनाशी जान कर संन्यासी होता है। "न्याय दर्शन" में तो परीक्षा का मानों डंका ही बज रहा है। महर्षि गौतम प्रत्येक पदार्थ का लक्षण कर फिर उसकी परीक्षा करते हैं—

"लक्षितस्यइदं लक्षणं सम्भवति न वा"

अर्थात् लक्षित पदार्थ का यह लक्षण हो सकता है कि नहीं—इस प्रकार के विचारपूर्वक परीक्षा की हैं। हमारे महर्षि लोग जब ईश्वर और अपौरुषेय वेद तक की परीक्षा किए बिना नहीं रहे, तो हम अपने को परीक्षा से बचावें—इसका क्या अर्थ ? स्मरण रखना चाहिये एक दिन न एक दिन हमको विश्वपति के परीक्षामन्दिर में अवश्य जाना पड़ेगा, पर वहाँ से उत्तीर्ण होना न होना यह सब हमारे कर्म्माधीन है। हाँ यह कहा जा सकता है कि मनुष्य की बुद्धि अल्प है अतः प्रत्येक विषय की परीक्षा में उसका सफल-काम होना सम्भव नहीं तो फिर परीक्षा की उलझन में पड़ना ही क्यों ? इसका सीधा उत्तर यही है कि पूर्ण-काम वा परीक्षक ही सब विषयों की परीक्षा में कृतार्थ हो सकता है पर उस पद तक पहुँचने का यही श्रेष्ठ सरल मार्ग है कि जिससे जितना निश्चय हो सके उतना ही परीक्षा से काम लें। जो जितना परीक्षक होगा उतना ही वह अन्धकूप से बचेगा ! जो पुरुष अपने इष्ट मित्र बन्धुओं की यथासाध्य परीक्षा किए रहता है, वह कभी धोखा नहीं खाता और जो केवल अन्ध विश्वास का आग्राही है, अवश्य उसे एक दिन अपने कार्य्य पर पश्चात्ताप करना पड़ता है। इसलिये पुराने लोगों ने कहा है कि "गुरु कीजै जान कर पानी पीजै छान कर"।

जिनका यह सिद्धान्त है कि इस असार संसार में ईश्वर ने हमें परीक्षा के लिये भेजा है और वह हमारे प्रत्येक कार्य की परीक्षा करता है उन्हें फिर संसार में कोई डर ही नहीं है। वे चाहे सहस्र वार परीक्षा

में पड़ें किन्तु प्रह्लाद के समान सदा ही उत्तीर्ण होंगे। उनका कोई बाल भी बाँका न कर सकेगा। क्योंकि जिस पुरुष का यह विश्वास है कि परमात्मा सर्वव्यापक है और वह "विश्वतश्चक्षु" सर्वत्र हमारे कामों को देख रहा है। ऐसा कोई स्थान ही नहीं है जहाँ उसकी दृष्टि को बचा कर पापकर्म्म किया जाय, उससे क्या फिर कोई दुष्कर्म्म हो सकता है? जब कोई दुष्कार्य नहीं, पाप का संभव नहीं तो फिर परीक्षा में भय किस बात का है?

और यदि परमात्मा की सत्ता पर तुम्हारा विश्वास नहीं है, लोगों की दृष्टि में तुम पूरे धर्मात्मा बन रहे हो, तो स्मरण रहे, तुम्हारे पाप चाहे जितने गुप्त हों और तुम चाहे जितने प्रतापी और बलशाली हो, तथापि एक दिन न एक दिन परीक्षा की प्रचण्ड आंच से तुम्हारी कलई खुल कर ही रहेगी "अंतः प्रच्छन्न पापानाँ शास्ता वैवस्वतो यमः"। परीक्षा कड़वी है सही, पर 'परिणामेऽमृतोपमा' अवश्य है। परीक्षा ही के प्रताप से संसार में श्रमशाली और चरित्रवान लोगों का आदर हो रहा है। यह परीक्षा ही की महिमा है कि जो विद्यार्थी केवल अपने रंगरूप और वाचालता के कारण छात्र समाज के नेता बने हुए थे, अपना सा मुँह लेकर पीछे पड़े रह गये और जो बेचारे होनहार परिश्रमी बालक अर्थाभाव से किसी गिनती ही में न थे वे सब के मुखिया बन बैठे। जो हो; इसमें सन्देह नहीं कि परीक्षा में पड़ना बड़ा ही कठिन कार्य है, पर यदि कोई माई का लाल इससे उत्तीर्ण हो जाता है, तो फिर उसके आनन्द की सीमा भी नहीं है।

परीक्षा में भय उसे है जो खोट से भरा हो। जिसे निश्चय हो कि उसके पास शुद्धता का लेश नहीं है। अतः भगवद्भक्त और तत्वज्ञ को डर क्या है? परीक्षार्थ अग्नि में तपाये जाने पर वही सुवर्ण जलता और घटता है, जिसमें खोट भरा है और नहीं तो साँच को आँच ही क्या है? वरञ्च यों कहना चाहिए कि स्वर्ण सदा ही सुवर्ण है, वह कभी नहीं जलता। जलता वही है जो जलने के योग्य है और जो सुवर्ण के असली रूप को बिगाड़ रहा है। शुद्ध सुवर्ण को कोई चाहे जितना

तपा देखे वह न रत्ती भर घटेगा न रत्ती भर जलेगा और न कुछ उसकी असलीयत ही में फर्क आयेगा वरञ्च तपाने से दूना दमकने लगेगा। पर हाँ सुवर्ण के नाम से बिकनेवाले पित्तल को सदा भय है।

हमारे पूर्वज सुवर्ण के समान थे। परीक्षा उनकी प्यारी वस्तु थी। परीक्षा के लिये वे सर्वदा सन्नद्ध रहते थे। परीक्षा से उनका प्रताप कुछ ह्रास नहीं, वरञ्च वृद्धि को प्राप्त हुआ। हरिश्चन्द्रादि की यदि परीक्षा न हुई होती, तो उनके चरित्र में औरों से विशेषता ही क्या थी? इस परीक्षा के कारण ही तो उनका इतना आदर हो रहा है। "सिसोदियावंश" क्षत्रियों में ही नहीं वरञ्च सम्पूर्ण हिन्दुओं में किस लिये पवित्र समझा जाता है! इसीलिये कि वह कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुका है। परीक्षा के समय यदि "चित्तौड़" निज गौरव को नष्ट कर देता, तो आज उसकी मृत्यु का—नहीं नहीं, उसके अमरत्व का चिह्न (७४॥) हिन्दुओं की चिट्ठियों पर दिखलाई न देता। इस समय भी जो चरित्रवान् हैं और इस कारण से सताये जा रहे हैं कि वे अपने समाज और स्वजातियों के हितसाधन में निरत हैं, सतानेवाले देखें कि उनका सताने से हो क्या गया? परीक्षा की अग्नि से वे और भी प्रचण्ड हो गए! हिन्दू समाज में उनकी अधिकतर प्रतिष्ठा हुई।



धृति

धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म्म लक्षणम् ।

महर्षि मनु जी ने कहा है कि धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये धर्म्म के दश लक्षण हैं । जिसमें ये लक्षण विद्यमान हों उसीको धर्म्मात्मा समझना चाहिये ।

"धृति" सब से पहिला धर्म्म का लक्षण है । धर्म्म पथ में अग्रसर होने के लिये सब से प्रथम 'धृति' का पाथेय चाहिये । धर्म्म मन्दिर में प्रविष्ट होने के समय सबसे पहिले 'धृतिमान की पूछ होती है । जिसके पास धृति नहीं, उसके पास धर्म्म भी नहीं होता । क्षमा आदि सब गुणों से प्रथम 'धृति' का नाम लेकर महर्षि मनु ने इसी बात को सूचित किया है । इसलिए आज हम भी और लक्षणों से प्रथम इसीका विचार करते हैं ।

स्मार्त टीकाकारों ने 'धृति' शब्द का अर्थ बहुधा "सन्तोष" किया है और किसी किसी ने इसका अर्थ धैर्य भी लिखा है । दार्शनिक विचार से दोनों ही अर्थ ठीक हैं । क्योंकि दोनों का एक ही मूल विशुद्ध विचार है और फल भी एक ही धर्म्म प्रेम की प्रबलता वा सात्विक भाव की प्रगाढ़ता यद्पि दोनों के स्वरूप में कुछ पार्थक्य है, पर सूक्ष्म विचार करने पर दोनों एक विचार में परिणत हो जाते हैं और उनकी पृथक्-सत्ता का लेश तक नहीं रहता ।

चाहे धैर्य और सन्तोष को कोई दार्शनिक एक ही अर्थ के अभिव्यञ्जक हो उनका फल भी एक बतलावें, पर हमें तो इस स्थान पर धृति शब्द का धैर्य अर्थ ही मनोहर और युक्ति युक्त लगता है सन्तोष नहीं । इसका कारण यह न समझना चाहिये कि आजकल के देश-

हितैषियों के समान हम सन्तोष को पुरुषार्थ का परम शत्रु और भारत के सत्यानाश का मूल समझते हैं वरञ्च हमारी समझ में सन्तोष एक बहुमूल्य वस्तु है। वह धर्म की पहिली सीढ़ी नहीं ठहर सकता क्योंकि जब मनुष्य धर्म मन्दिर पर कुछ ऊंचे चढ़ने का कष्ट उठाले, तब कहीं सन्तोष महाराज के दर्शन होते हैं सहज में नहीं।

वह लोग बड़े भूलते हैं जो सन्तोष को अवनति का मूल ठहराते हैं। सन्तोष अवनति का मूल नहीं, वरञ्च परमोन्नति का कारण है। यह सन्तोषी ही की सामर्थ्य है, जो जीव को ब्रह्म पद तक पहुँचा देता है। सन्तोष वह शक्ति है जिससे ईश्वरीय शक्ति पर अपना अधिकार हो जाय। सन्तोषी पुरुष के दो हाथ और दो पैर रुकें तो रुक सकते हैं पर उसके लिये सहस्रबाहु और सहस्रपाद चलने लगते हैं। कायर, अलस और कर्महीन को यदि कोई सन्तोषी समझ बैठे तो बड़ी भूल है। सन्तोषी वह है कि जिसके पास रत्ती भर स्वार्थ न हो और परार्थ वा परमार्थ की गहरी पूंजी साथ हो।

इस समय जब कि—

"ह्वै है वही जो राम रच राखा। को कर तर्क बढ़ावै शाखा॥"

अथवा—

"अजगर करे न चाकरी पंछी करै न काम।
दास मलूका यों कहे सब के दाताराम॥"

इत्यादि वाक्यों की झड़ी लगा कर लोग सन्तोष की महिमा दिखा रहे हैं, तब देखना चाहिये इनमें सच्चे सन्तोषी कितने हैं? परीक्षा करने पर सिद्ध होगा कि सच्चे सन्तोष का कहीं नाम नहीं केवल प्रतारणा है। पहिले महात्माओं का सन्तोष स्वार्थ में था और अब के इन महापुरुषों का परमार्थ में है। उस समय के सन्तोषी भीष्म, प्रह्लाद, रंतिदेव आदि महापुरुष थे, जिनके सत्कर्म का हम पर बड़ा भारी ऋण है और इस समय के सन्तोषियों में हम हैं जो रात दिन स्वार्थ की झोली भर रहे हैं और परोपकार वा परमार्थ के समय सन्तोष की शरण पकड़ लेते हैं जिससे कुछ करना कराना न पड़े।

जवानी जमा खर्च कोई चाहे जितना करे पर इसमें सन्देह नहीं कि अब यहाँ सन्तोष की केवल कथा शेष रह गई। सन्तोष के साथ परमार्थ भी बिदा हुआ। अब यहाँ इस बात के समझने वाले कहाँ कि—

"सर्वाः सम्पत्तयस्तस्य सन्तुष्टं यस्य मानसं।"

ध्रुव प्रह्लाद के समान ईश्वर के सच्चे विश्वासी और विहितकर्म के करने वाले ही इस तत्व को समझ सकते हैं कि—

"सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्त चेतसां।
कुतस्तद्धनलुब्धानां मितश्चेतश्च धावताम्॥"

अर्थात् जो सुख सन्तोषामृत से तृप्त शान्तचित पुरुषों को है वह इधर उधर भटकने वाले धन के लोभियों को कहाँ?

इसलिये हमने कहा है कि सन्तोष धार्मिक की परिपक्व दशा में हो सकता है, आरम्भ में नहीं। क्योंकि वह धर्माचरण का फल है और इसलिये यह कहना भी कोई अनुचित नहीं कि इसके अधिकारी सब नहीं हो सकते विरले ही जिज्ञासु पुरुष हो सकते हैं। सुतरां, प्रस्तुत विषय में धृति का अर्थ धैर्य ही ठीक ठहरता है क्योंकि इस समान धर्म की सोपान भी धर्माचार्य्यों की अधिकार प्रणाली के कौशल से खाली नहीं है।

धृति वा धैर्य उस धारणा का नाम है जो मनुष्य को अपने विचार पर दृढ़ बनाए रक्खे। अपनी बात से कदाचित् भी हटने न दे। चाहे कोई निन्दा करे वा स्तुति, चाहे लक्ष्मी की प्राप्ति हो वा विनाश, चाहे प्राण सदैव बने रहें वा आज ही निकल जायँ, इसकी कुछ चिन्ता नहीं, पर धीर पुरुष अपनी बात से नहीं हटता। वह अपने स्वीकृत न्याय मार्ग का परित्याग नहीं करता। राजर्षि भर्तृहरि के सिद्धान्त के समान उसका विचार भी सदैव दृढ़ रहता है—

"नीति निपुण नर धीर बीर कछु सुजस कहो किन।
अथवा निन्दा कोटि करौ दुर्जन छिन ही छिन॥

सम्पति हू चलि जाहु रहौ अथवा अगणित धन ।
अब हि मृत्यु किन होहु होहु अथवा निश्चल तन ॥
पर न्याय वृत्ति को तजत नहिं जो विवेक गुण ज्ञान निधि ।
यह संग सहायक रहत नित देत लोक परलोक सिधि ॥"

धर्म का मार्ग बड़ा कठिन है। उसमें मनुष्य की बड़ी भयानक परीक्षा होती है। उस आपत्काल में बचने के लिये धैर्य की बड़ी भारी आवश्यकता है। यदि विपत्ति के समय धैर्य ज्यों का त्यों बना रहा, तब तो विपत्ति की भी वहीं इति श्री समझिये और यदि उस समय कहीं धैर्यच्युति हो गई, तब फिर दुःखों का कहीं अन्त नहीं है। इसीलिये हमारे कवियों ने विपत्काल को धैर्य की परीक्षा का उत्तम काल ठहराया है, जैसे—

"विपदि धैर्य्यमथाभ्युदयेक्षमा"

"धीरज धर्म्म मित्र अरु नारी। आपत्काल परखिये चारी ॥"

इत्यादि वाक्य हैं।

जो पुरुष अपने को धार्मिक वा हरिभक्त बनाया चाहे उसे समझ लेना चाहिये कि एक दिन उसे प्रह्लाद के समान अग्नि में बैठना पड़ेगा, ध्रुव के समान लोभ का त्याग करना होगा और भीष्म के समान जीवन परार्थ करना पड़ेगा। वह युधिष्ठर के सदृश पुनः पुनः अपमानित होगा, द्रौपदी के समान सताया जायगा और उसको हरिश्चन्द्र की तरह पुत्रकलत्रादि से हाथ धोने पड़ेंगे एवं रन्तिदेव की नाईं भोजन के भी लाले पड़ जायँगे। उसे कुमारिल भट्ट के समान जीते जी जलना पड़ेगा, शङ्कर के समान देश में निरन्तर भ्रमण करना होगा और मीरा के समान हर्षपूर्वक हलाहल भी पान करना पड़ेगा। यदि ऐसे कार्य के लिए तुम बद्धपरिकर हो, तब तो तुम्हारे अधिकारी होने में सन्देह नहीं और यदि इसके लिए तुम तैयार नहीं हो, तो समझ रक्खो कि यह मार्ग सहज नहीं है—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति ।"

भगवद्गीता में सात्विकी, राजसी, तामसी भेद से धृति तीन प्रकार की कही है जैसे—

"धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रिय क्रिया।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सापार्थ सात्विकी॥
ययातु धर्म कामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसंगेन फलाकांक्षी, धृतिः सा पार्थ राजसी॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेवच।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥"
(१८-३३, ३४, ३५)

इसका तात्पर्य यह है कि वह धृति सात्विकी है (मोक्ष की साधन) जो अहैतुकी हो, जैसे प्रह्लाद को। वह धृति राजसी है (त्रिवर्ग की साधन) जो हैतुकी हो जैसे ध्रुव की और वह धृति तामसी है जिससे मदमोहादिका धारण किया जाय जैसे दुर्य्योधन की। सब से उत्तम प्रह्लाद का विचार है जिसमें तन्मयता के अतिरिक्त किसी कामना की गन्ध तक नहीं इसीलिए वह सात्विक और मोक्ष का उपयोगी समझा गया। ध्रुव का विचार उससे गिरा हुआ है क्योंकि उसमें त्रिवर्ग के फल की इच्छा बनी हुई है अतः वह राजस है और स्वर्ग का उपयोगी है। दुर्य्योधन का विचार सब से निकृष्ट है क्योंकि उसने अहङ्कार के वशवर्ती जिस तामस भाव को ग्रहण कर लिया इसे नहीं छोड़ा यह त्रिवर्ग का कारण नहीं इस लोक का कारण है, जिस प्रकार प्रह्लाद और ध्रुव ने जो बात पकड़ी थी अन्त तक उसका निबाह किया उसी प्रकार महाबीर दुर्य्योधन ने भी मृत्यु पर्यन्त अपनी इस बात की रक्षा की कि—

"शुच्यग्रं नैव दास्यामि बिना युद्धेनकेशव।"

अपने इस तामस विचार की रक्षा ही के कारण दुर्योधन ने स्वर्ग लोक पाया था। हा! आज इस देश में तामसी धारणा का भी अभाव हो गया। जरासी बात में सब की धैर्यच्युति हो जाती है। मानो भारत की राज्यश्री के साथ धृतिदेवी भी यहाँ से कूँच कर गई।

क्षमा

क्षमा धर्म्म का दूसरा लक्षण है। जो पुरुष धीर होता है, क्षमा भी उसी को ग्रहण करती है। धैर्य के बिना क्षमा शील होना कठिन ही नहीं वरञ्च असम्भव है।

परापराध सहन करने का नाम क्षमा हैं। जैसे कि बृहस्पति जी कहते हैं—

वाह्ये चाध्यात्मिके चैव दुःखे चोत्पादिते क्वचित्।
न कुप्यति न वा हन्ति सा क्षमा परिकीर्तिता॥

अर्थात् किसी के दुर्वचन कहने पर भी या मार देने पर न तो आप क्रोधित होता है और न उसे मारता है उसको क्षमा कहते हैं। उस पुरुष का नाम क्षमाशील है, जो दुःखित किए जाने पर भी अचल, अटल बना रहे, धर्म्म मार्ग से विचलित न हो।

यों तो संसार में सभी लोग दूसरों के अपराध सहन किया करते हैं। प्रबल पुरुषों से पुनः पुनः तिरस्कृत होने पर भी विचारे दुर्बल पुरुष कुछ कहने का साहस नहीं करते। क्षमताशाली अत्याचारी राजपुरुषों से प्रपीड़ित होने पर भी दीन प्रजा बारंबार रोकर चुप रह जाती है किन्तु यह सहन शीलता क्या क्षमा कही जा सकती है? कभी नहीं। क्योंकि क्षमा नाम उस गुण का है, जिससे शक्तिशाली पुरुष शक्ति रखने पर दूसरे के अपराध क्षमा कर दे और जो पुरुष कायरता वा असामर्थ्य से उस कार्य के करने में स्वभावतः असमर्थ है, उसकी क्षमा क्षमा कहलाने योग्य नहीं है।

हाँ, यदि किसी के दुःख पहुँचाने पर उसके अन्तः करण में अपने शत्रु के प्रति किसी प्रकार का कुभाव वा प्रतिकार की इच्छा तक उत्पन्न न हो और उस कार्य के लिये यह घृणार्ह न समझा जाय, तो वह पुरुष भी निःसन्देह क्षमावान् है क्योंकि, जिस बात की शक्ति उसमें

विद्यामान् थी उससे उसने काम नहीं लिया। माना कि वह दीन पुरुष जिसको हमने धनमद से मत्त हो कर अभी मारा है, रोकर वा चिल्ला कर हमारी कुछ हानि नहीं कर सकता तो भी क्या इस बात के लिये वह प्रशंसनीय नहीं है कि वह रो सकता था, पर रोया नहीं। हमारा बुरा चिन्तन भी कर सकता था पर उसने वैसा नहीं किया प्रत्युत उसके चित्त में इसके प्रतिकूल विकार तक न हुआ!

गृहस्थ के लिये क्षमा अत्यावश्यक है जैसा कि—

"गृहस्थस्तु क्षमायुक्तो न गृहेण गृही भवेत्।"

अर्थात् केवल घर बनाने से कोई गृहस्थ नहीं होता, वरन क्षमा-युक्त होने से गृहस्थ बनता है यदि गृहस्थ क्षमा शील हो, तो दिन रात उसको कलह करना पड़े और गार्हस्थ का सब सुख मिट्टी में मिल जाय। मुकद्दमें बाजी में समस्त धन लुट जाय और फिर कोई कौड़ो को भी न पूछे कि आप का क्या हाल है। इसलिये नीति विशारदों ने कहा है कि जिसके हाथ में क्षमा रूपी खड्ग है उसका दुर्जन क्या कर सकता है।

महाभारत में लिखा है कि बनवास के समय अपनी शोचनीय दशा देख कर बीरनारी द्रौपदी से चुप न रहा गया। कौरवों से युद्ध करने के लिए महाराज युधिष्ठिर को इस प्रकार के तीव्र वचन सुनाए जिनको सुन कर एक बार तो कायर पुरुष भी अपनी जान पर खेल जाय और आगा पीछा बिना सोचे युद्ध कर बैठे। किन्तु धर्म्म पुत्र युधिष्ठिर उन असह्य वचनों को जो निर्वासिता तिरस्कृता और सुदु:खिता विदुषी द्रुपदनन्दिनी के मुँह से निकले थे सुन कर कुछ भी क्रोधित न हुए और अनेक प्रकार से क्षमा ही की महिमा दिखाई जिसका यह तात्पर्य है कि क्षमा से बढ़ कर कोई धर्म्म नहीं, क्षमा ही से यह जगत ठहरा हुआ है विवेकी पुरुष को निरन्तर क्षमा ही करना चाहिये और क्षमावान् का लोक और परलोक सब सुधरता है। यथा—

"क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतञ्च भावि च।
क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत्॥

क्षन्तव्यमेव सततं पुरुषेण विजानता ।
यदाहि क्षमते सर्व्वं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावतान् ।
इह सम्मानमर्हन्ति परत्र च शुभांगतिम् ॥

यह सिद्धान्त है कि जितना दुर्बल होता है, उतना ही वह क्रोधी है और जितना बली होता है, उतना ही वह क्षमावान् है । गरुड़पुराण में क्षमाशील पुरुषों में एक दोष भी दिखाया है । वह यह कि—

"एकः क्षमावतां दोषो द्वितीयो नोपपद्यते ।
यतेनं क्षमता युक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥"

अर्थात् क्षमाशील पुरुषों में एक ही दोष पाया जाता है, दूसरा नहीं । इस क्षमायुक्त को लोग असमर्थ समझते हैं ।

सच है, दुर्ज्जन लोग क्षमावान् को अवश्य ही अशक्त मानते हैं । वे समझते हैं कि इसने हमारे दोष क्षमा नहीं किए, वरञ्च इसकी ऐसी समर्थ्य ही नहीं थी जो हमें दण्ड देता । इसलिये वे उसे बार बार सताते हैं खिजलाते हैं और नाना प्रकार के दुःख पहुँचाते हैं । कितने नराधमों को यह कहते देखा है कि ईश्वर कोई चीज नहीं है । यदि वह होता तो क्या हमें पापों का दण्ड न देता ? पर वे इस बात को नहीं समझते कि यह सब उस कृपालु की अपार दया का फल है जो दण्ड देने में विलम्ब कर रहा है ।

कभी कभी क्षमा से ऐसे भी कार्य हो जाया करते हैं जिनका प्रकारान्तर से होना बहुत ही कठिन है । एक बार आगरे में महात्मा हरिदास जी यमुना से स्नान कर अपने स्थान पर आते थे । मार्ग में शाही किला था जिस पर नव्वाब खानखाना बैठे हुए उनकी ओर घृणा से देखते थे । नव्वाब साहब को यह बात बहुत बुरी लगी कि महात्मा अपने शरीर को मुसलमानों के स्पर्श से बचाते आ रहे हैं । इसलिये इन्होंने उनके ऊपर घृणा से थूक दिया और वे इनकी ओर देख कर फिर यमुना की ओर चले गये । थोड़ी देर के बाद नव्वाब ने

देखा कि फिर भी वे स्नान कर उसी तरह आते हैं। किले के नीचे आने की देर थी कि फिर इन्होंने उन पर थूका और वे देख कर उसी तरह चुपचाप लौट गए।

इस प्रकार वे स्नान कर आते रहे और वे उन पर थूकते रहे। जब ग्यारहवीं बार वे आये तो नव्वाब का भाव बदल गया। उन्होंने सोचा कि चिउंटी को भी पैर के नीचे दबाने से वह काटती है परन्तु मनुष्य हो कर भी इन्होंने मुझे कुछ भी न कहा! क्या ये मुझे जुबान से भी कुछ न कह सकते थे पर नहीं ये सच्चे खुदा दोस्त हैं। इनसे अपने गुनाह माफ करवाने चाहिये। यह सोच ये उनके चरणों में जा गिरे और उनसे अपने अपराधों की क्षमा चाही। स्वामी हरिदास जी प्रसन्न हो गए और उन्होंने उपदेश दे इनको हरिभक्त बनाया। और ऐसा बनाया कि जिसकी भक्ति देख कर हिन्दुओं को भी कहना पड़ा कि "हरिभक्त खानखाना धन्य है।" यदि स्वामी जी उस दिन क्षमा न करते तो आज हम लोगों को खानखाना के भगवद्भक्ति मय सरस श्लोक देखने को न मिलते। इसलिये किसी ने बहुत अच्छा कहा है, कि—

"मृदुना दारुणं हन्ति मृदुना हन्त्यदारुणम्।
नासाध्यं मृदुना किञ्चित् तस्मात् तीव्रतरं मृदुः॥"

अर्थात् मृदुता से मनुष्य कठोर को काट सकता है और कोमल को भी काट सकता है। ऐसी कोई वस्तु नहीं जो मृदु से साध्य न हो। इसलिये सब से तीव्र मृदु को समझना चाहिये। मसल है कि ठंडा लोहा गरम को काट सकता है, गरम ठंढे को नहीं।



वेद और नागरी प्रचारक

काशी नागरी प्रचारिणी सभा हिन्दुओं की एक प्यारी सभा है। सब सम्प्रदाय के हिन्दू उसे अपनी सभा समझते हैं। क्योंकि उन्होंने सुना है उसके यत्न से पश्चिमोत्तर प्रदेश के न्यायालयों में नागरी का प्रचार होगया। इसके सिवाय यह भी कि वह नाना प्रकार से नागराक्षर का प्रचार कर रही है और मातृभाषा की उन्नति में दत्तचित्त है। बस इसी कारण हिन्दू लोग उसे प्यार प्रीति की दृष्टि से देखते हैं और कोई विशेष बात नहीं है। इस सभा को न तो कभी हिन्दुओं ने अपनी धर्मसभा माना और न यह सभा ही ने अपने नियमों में स्वीकार किया। अब यदि सभा अपनी पुस्तक पत्रिका आदि के द्वारा हिन्दुओं के धर्म्म में हस्तक्षेप करे और हिन्दूधर्म्म के ग्रन्थों की समालोचन में प्रवृत्त हो तो समझना चाहिये वह अपने नियमों के विरुद्ध और साथ ही धार्मिक हिन्दुओं के चित्त को विचलित और दुःखित करने का उपाय कर रही है जिससे उनकी यह भक्ति अधिक दिनों तक सभा पर नहीं रह सकती।

सनातन धर्म्म के प्रतिकूल यदि सभा की पुस्तक और पत्रों में कुछ प्रकाशित हो तो वह धार्म्मिक हिन्दुओं को सह्य नहीं हो सकता। क्योंकि उनके द्वारा घोर अनर्थ हो सकता है। काम पड़ने पर सनातन-धर्म्म विरोधी लोग कह सकते हैं कि काशी की जिस नागरी प्रचारिणी सभा के बड़े बड़े विद्वान् धर्म्मात्मा हिन्दू सभ्य हैं उसकी अमुक पुस्तक वा अमुक वर्ष की पत्रिका में यह बात मीमांसित हो चुकी है। यह कौन जानता है कि सभा की पत्रिका प्रभृति दो चार सभ्यों द्वारा अन्धाधुन्ध रीति से सम्पादित होती है। सुतरां, इस प्रकार सभा की अनवधानता से हिन्दू समाज का बहुत कुछ अनिष्ट हो सकता है इस बात को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता।

हमारी इच्छा तो यह थी कि सभा के पत्रिकादि में प्राचीन महा कवियों के प्रति भी सन्मान दिखाया जाय किन्तु इसके विपरीत दुःख के साथ देखते यह हैं कि गद्यपद्य के द्वारा हिन्दुओं के सर्वमान्य वेद भगवान पर प्रहार हो रहा है। नागरी प्रचारकों को चित्त में सनातन धर्म्म का चाहे रत्ती भर गौरव न हो, चाहे वे वर्ण विभाग वा जाति भेद को भी मान्य न समझें किन्तु जो सभा धार्म्मिक हिन्दुओं के द्रव्य से परिपुष्ट होती है उसको पुस्तक पत्रिकादि में वेद शास्त्र को निन्दा करने कराने का कोई अधिकार नहीं है।

सभा का रंग ढंग देख कर हमें भय होता है कि कहीं इसके द्वारा थोड़े ही दिनों में वह कार्य न हो जाय जिसे ब्राह्मसमाजी और कृस्तान आज तक नहीं कर सके हैं। अब तक भी हिन्दुओं का वेद पर विश्वास है और उसकी निन्दा करने वाले को वे नास्तिक समझते हैं? नागरी प्रचारकों में विजातीय भाव और वेबर भक्ति का अधिक आदर देख कर तो यही आशङ्का होती है कि अब वह दिन दूर नहीं, जब लोग काशी में यह कहते फिरें कि "वेद कृषकों का गान है, मनुष्यों से रचा गया है और उसकी रचना का अमुक काल है! अमुक सन् में अमुक स्मृति बनी थी और अमुक वर्ष में अमुक पुराण!! मनु याज्ञ-वल्क्य के नाम से जाली ग्रन्थ बनाए गए हैं और समय समय बढ़ाये गये हैं!!"

हम लोग हिन्दी की उन्नति चाहते हैं किन्तु साथ ही अपने धर्म और स्वजातीय भाव की भी मङ्गल कामना करते हैं। हमारी समझ में नागरी के प्रचार ही से क्या होगा जब हिन्दुओं की यह धारणा हो गई कि वेद मनुष्यकृत हैं, अपौरुषेय नहीं। ध्वंसावशेष प्राचीन आर्य्य वंश सर्वनाश का, यही तो एक उपाय है कि अनादि सिद्ध अपौरुषेय वेद पर से उसका कुल क्रमागत विश्वास उठ जाय। जिन वेदों का शस्त्रसम्पात के समय भी आर्य्य जाति ने परित्याग नहीं किया आज यदि नागरी प्रचारकों के उपदेश से उनको अत्यन्त कटु, अत्यन्त नीरस और अति कर्कश साधारण पुस्तक समझ कर आप से आप त्याग

दें तो सोचिए कितनी भयङ्कर बात है। वह दुर्ग, जिसकी सत्ता से आर्य्य जाति सुरक्षित रही, अब बिना धुएँ की विचित्र विलायती बारूद से उड़ा दिया जाय जिसमें काम भी बन जाय और आवाज भी न हो यह हमको इष्ट नहीं है। निन्दा करने वाले निन्दा कर सकते हैं किन्तु सजीव जाति अपनी धर्म्म पुस्तकों की निन्दा नहीं सुन सकती। हिन्दू समाज प्रसुप्त है, किन्तु विगत प्राण नहीं है। हमें विश्वास है कि इस विषय में 'श्रीमती नागरी प्रचारिणी सभा' अधिक लिखने का अवसर न देगी और इसका कारण प्रकाश करेगी कि वह क्या समझ कर वेद निन्दा में प्रश्रय दे रही है? नागरी प्रचारक यदि सचमुच सभा के हितैषी हैं तो उनको चाहिये कि इस प्रकार का उद्‌गार जिसमें किसी की धर्म्मपुस्तक पर कटाक्ष हो तो किसी दूसरे पत्रों में निकाला करें, सभा सम्बन्धी में नहीं।



ब्राह्मणों पर वृथा आक्रमण

स्वार्थान्ध-प्रकाशिका

सृष्टि के आरम्भ से ब्राह्मण और क्षत्रियों का पवित्र सम्बन्ध चला आता है। यहाँ तक कि क्षत्रियों का प्रताप बढ़ाने के लिए ब्राह्मणों ने कोई बात उठा नहीं रक्खी और उन्होंने भी भूदेव समझ कर इनके चरणों पर सहर्ष प्राण तक न्योछावर कर दिये। कलिकाल के प्रताप से यह सम्बन्ध कुछ शिथिल होने पर भी इतना दुर्बल नहीं हुआ है कि कोई वीर क्षत्रिय ब्राह्मण के अपमान को सहन कर सके। अथवा किसी अच्छे ब्राह्मण के नेत्रमें उसके अधःपतन से जल न भर जाय। इन दोनों कुलों का प्रेम कितना अलौकिक और पुण्यमय है यह बात हम अपने 'ब्राह्मण और क्षत्रिय' नामक निबन्ध में दिखलावेंगे परन्तु हमें यह देख कर खेद होता है कि किसी किसी की आँखों में इस सम्बन्ध का दृढ़ बन्धन काँटा सा खुटकता है। 'स्वार्थान्ध प्रकाशिका' के लेखक ने भी इस बात की चेष्टा की है कि ब्राह्मणों पर भयङ्कर दोष लगा कर क्षत्रियों का उनसे मन फेरा जाय और गवर्नमेंट को यह दिखाया जाय कि सब फिसादों की जड़ केवल ब्राह्मण जाति है।

इस पुस्तक के असली कर्ता कौन हैं, यह हम नहीं कह सकते पर यह काशी के "तारा यन्त्रालय" में 'ठाकुरदास गुप्त' के नाम से छपी है। यहाँ एक प्रसिद्ध अग्रवाल बाबू ठाकुरदास गुप्त हैं जो ऐसी भ्रष्ट पुस्तक के लेखक नहीं हो सकते। क्योंकि, अग्रवाल जाति जैसी ब्रह्मण्य और गौड़ ब्राह्मणों की कृतज्ञ है, उसमें ऐसे कृतघ्न और ब्रह्मद्रोही पुरुष का होना सम्भव नहीं कि जो इस दुःसमय में सर्वदुःखाक्रान्त ब्रह्मकुल पर अकारण आक्रमण कर अपनी राक्षसी बुद्धि का परिचय दें? इस पुस्तक के कलुषित विषय की आलोचना करने में कदाचित् हम इतने शीघ्र प्रवृत्त न होते, यदि काशी में यह किंवदन्ती

न सुनते कि एक "राजा" नामधारी पुरुष ने इसको बनवाया है और मथुरा के एक महात्मा द्वारा राजपूताने के स्वाधीन नृपतियों और क्षत्रिय महासभा के सभ्यों में इसके वितरण करने का प्रबन्ध किया गया है।

हमको विश्वास नहीं होता कि कोई क्षत्रिय पुरुष ऐसी पुस्तक को लिखावे वा ग्रहण करे जब कि एक पवित्र जाति और गवर्नमेंट की प्रजा के विरुद्ध ऐसी पुस्तक कोई बुद्धिमान ईसाई व मुसल्मान भी नहीं लिख सकता है। कारण कि ब्राह्मण जाति ने अपने उन्नत पूर्वाधिकार से च्युत होने पर भी अपना वह स्वत्व नहीं खोया है जो न्यायवान प्रजाप्रिय महाराज सप्तम एडवर्ड की एक साधारण प्रजा का है। इस समय जब कि भारतवर्ष का बड़े से बड़ा राजपुरुष भी किसी जाति विशेष का चित्त दुःखित नहीं कर सकता तब हम कैसे विश्वास करें कि उस क्षत्रिय जाति में कि जिसका गोब्राह्मण की रक्षा करना परम-धर्म है, ऐसे भी लोग उत्पन्न हो जाँय! हमें आशा है कि ब्रह्मकुल के हितैषी और राजनीति के मर्मज्ञ इस पुस्तक के विषय में यथायोग्य व्यवस्था करेंगे।

भूमिका से पुस्तक का तात्पर्य्य भली भाँति समझा जा सकता है कि उसकी रचना का समय और उद्देश्य क्या है? इसलिए आज उसी की आलोचना करेंगे।

पुस्तक का 'उपक्रम' इस प्रकार है—

"सम्प्रति भारतवर्षीय राजा महाराजाओं को उनको अनभिज्ञता से स्वार्थियों द्वारा जो हानि पहुँच रही है उससे उनकी शुभचिन्तकता के अनुरोध से सूचित करना आवश्यक समझ यह छोटी सी पुस्तिका कई एक विद्वज्जनों की सहायता से विरचित कर उनकी सेवा में समर्पित की जाती है। आशा है कि आद्योपान्त अवलोकन कर मेरे परिश्रम को सफल करेंगे और अन्य सुजनों से भी यह निवेदन है कि निष्पक्ष भाव से इसे एक बार अवश्य पढ़ वा सुनकर मुझे कृतार्थ करें।

ठाकुरदास गुप्त।"

उपक्रम के पश्चात् "प्रस्तावना" है, जिसमें गुप्त महाशय अपने 'ठाकुरदास' नाम को शिखण्डी की नाईं आगे कर पितामह रूप क्षात्र-धर्म्म के वध की व्यवस्था करते हुए "राजा महाराजाओं" को स्वार्थी ब्राह्मणों से यों सावधान करते हैं—

"बहुत काल से इस देश की जो हीनावस्था हो रही है उसके मुख्य कारण वे ही स्वार्थी लोग हैं जिनके विषय में आगे लिखा जायगा। जब महाभारत के युद्ध में अनेक क्षत्रिय विद्वान् महानुभाव मारे गये तो सारे भारतवर्ष में अविद्यान्धकार फैल गया। उस समय से ही इनको अपने स्वार्थ साधन का समय मिला और ज्यों ज्यों समय व्यतीत होता गया इनकी स्वार्थान्धता भी बढ़ती चली गई और यवनों के आक्रमण तक इन्होंने यहाँ तक प्रबलता प्राप्त कर ली कि किसी विचारवान पुरुष को भी इनकी कपोलकल्पित बातों के प्रतिवाद करने का साहस न हो सका। मुसल्मानी बादशाहत के आरम्भ में जब कुतुबुद्दीन प्रथम बादशाह (दिल्ली) ने अपने सेनापती बख़्तियार खिलजी को बंगाल विजय करने के लिये भेजा तो बङ्गदेशाधिपति राजा लक्ष्मणसेन के साथ इन स्वार्थियों ने जैसा विश्वासघात किया वह किस इतिहासवेत्ता पर विदित नहीं है। इन लोगों ने राजा लक्ष्मणसेन को परामर्श दिया था कि महाराज यह कलिकाल है यवनों की अवश्य विजय होगी इसलिए उचित है कि सब धन ब्राह्मणों को देकर आप किसी तीर्थ स्थान में जाकर वास कीजिए। राजा ने ब्राह्मणों के वचनों पर विश्वास करके कुछ युद्ध प्रबन्ध न किया, परन्तु ब्राह्मणों को भी विश्वासघात का फल शीघ्र ही मिल गया अर्थात राजा के राजकोष का द्रव्य जो छल कर के लिया था वह यवनों ने छीन लिया और इनकी सब प्रकार दुर्दशा की परन्तु राजा तो यवन सेना के आजाने पर भाग कर बच गये।"

पाठक! भारतवर्ष की दुर्दशा का कारण ब्राह्मणों को बताना ऐसा ही है जैसा किसी रोगी की मृत्यु का कारण उसके चिकित्सक को समझना। महाभारत के युद्ध में तो "क्षत्रिय विद्वान महानुभाव" थे

उनको किसी स्वार्थी ब्राह्मण ने युद्ध के लिए उभारा भी नहीं था फिर उन्होंने आप ही आप अपना सर्वनाश क्यों कर लिया ? भला राजा लक्ष्मण सेन को तो ब्राह्मणों ने बहका दिया पर यहाँ किसने बहकाया था जो सब क्षत्रियभाई परस्पर कट कर मर गए। भवितव्यता के दोष को निर्दोष ब्राह्मणों पर लगाना बड़ी भारी कृतघ्नता है ? लक्ष्मणसेन के पूछने पर अवश्य ही ब्राह्मणों ने भविष्य कह दिया था और उसका तात्पर्य भी यह नहीं था जैसा कि लेखक की अयोग्य लेखनी लिख रही है क्षत्रियकुल के एकान्त हितैषी ब्राह्मणों ने सोचा था कि इससे महाराज जी खोल कर क्षात्रधर्म का पालन करेंगे। यदि लक्ष्मणसेन कायर न होता तो स्त्री के समान पलायनपर न हो कर चित्तौड़ के प्रातःस्मरणीय क्षत्रियों की तरह युद्ध में प्राण देकर "स्वर्गद्वार मपावृतं" का लाभ करता, किन्तु कायर बङ्गाधिप से भागने के सिवा और कुछ न हो सका ? यवनों के विजय का जैसा ज्ञान लक्ष्मणसेन को हुआ था, वैसा ही पण्डितों द्वारा महाराणा समरसिंह को भी दृषद्वती के तट पर हो गया था पर उस राजर्षि ने नौका में बैठ कर लक्ष्मणसेन की तरह भाग कर प्राण बचाना न चाहा; पितामह भीष्म के समान शरशैय्या पर लेटना ही श्रेयस्कर समझा। दूर न जाइए इसी समय की तो बात है। ट्रान्सवाल के वृद्ध प्रेसीडेंट क्रूगर ने यह जान कर भी कि अन्त में अङ्गरेजों से पराजय अवश्य होना है, भागने पर ध्यान नहीं दिया, युद्ध ही किया। मुसल्मान इतिहासलेखक जो बहुधा हिन्दुओं के भीतरी भेद न जानने के कारण वा मात्सर्य्य के कारण ब्राह्मणों पर आक्षेप कर गये हैं उनका हिन्दू इतिहासलेखकों के ग्रन्थ देखे बिना उद्धृत करना बड़ा हानिकारक है। लेखक यदि योग्यता से कार्य लेता तो इस बङ्गाली राजा की अपेक्षा उन बङ्गाली ब्राह्मणों की प्रशंसा करता जिन्होंने मरने से प्रथम राजकोष का द्रव्य यवनों को नहीं दिया। महाभारत के पश्चात् ब्राह्मणों ने अवश्य ही अपने कुलगौरव का जीर्णोद्धार कर दबदबा बैठा लिया था और उसका क्षत्रिय वंश और उस देश के लिये यह फल हुआ था कि विक्रम भोज

जैसे प्रतापी और विद्वान क्षत्रियों ने इस देश की शोभा बढ़ाई ? ब्राह्मण स्वार्थसाधन करते तो शङ्कराचार्य सीमान्त प्रदेशों में मठ स्थापन न कर स्वयं राज्यशासन कर सकते थे और कुमारिल भट्ट भी जान बूझ कर अनल में प्रवेश न कर खूब आनन्द लूट सकते थे।

आगे चल कर लिखा है कि "प्रायः ३० वर्ष का समय व्यतीत हुआ कि मध्यभारत के एक बड़े राज्य में इन लोगो ने प्रबल हो कर ऐसा उत्पात मचाया था कि वहाँ के महाराजा को राजप्रबन्ध करना दुस्साध्य हो गया। ये लोग चोर डाकू इत्यादि को और राज़कर न देना चाहने वाले मनुष्य को धनप्राप्ति की कामना से आश्रय देते थे। अन्त में विवश हो कर वहाँ के महाराज ने गवर्नमेंट के सुपुर्द राज-प्रबन्ध कर दिया जिससे इन उत्पातियों को यथोचित दण्ड मिला और राजप्रबन्ध में बाधक होने का फिर साहस न कर सके।"

वाचकवृन्द यदि इस घटना में कुछ भी यथार्थता होती तो लेखक ऊर्द्धोक्त की नाईं मध्यभारत के इस बड़े राजा का अवश्य नामोल्लेख करता, समय भी दूर का नहीं, पास का था इससे उसका पक्ष भी बहुत पुष्ट होता, पर नाम लेने से असत्य के पकड़े जाने का भय था। इसी-लिए नाम न लिखा। सच्चा इतिहास तो लिखना ही न था, ब्राह्मणों की निन्दा करना था सो हो ही गई।

इसी प्रकार आगे चल कर बेसिर पैर की एक और बात लिखी है। कहा है कि—

"इसी समय के लगभग राजपूताने के एक सुप्रसिद्ध और अति सुयोग्य नरेश ने इन्हीं अविचारियों से अप्रसन्न होकर अपनी पूर्व दीक्षा का विसर्जन करके दूसरी दीक्षा ग्रहण की थी और सब उपद्रवियों को जो उनके पूर्व गुरु से सम्बन्ध रखते थे अधिकारच्युत किया था।"

नहीं समझ सकते कि इस प्रकार की बातों से लेखक ने अपनी वा देश की क्या भलाई सोची है। राजपूताने के इस राजा का नाम लेखक लिखता तो वह देखता कि बालू की भीत की तरह उसकी बात कितनी दुर्बल है। यदि किसी 'नरेश' ने अपनी पूर्व दीक्षा का विसर्जन

कर के दूसरी दीक्षा ग्रहण की थी' तो इससे क्या हुआ ? क्या उसने दूसरी दीक्षा ब्राह्मणों से न लेकर किसी भिन्न जाति से ली थी ? दीक्षा भाव तन्त्र होती है। कोई वैष्णव होता है कोई शैव बनता है। ब्राह्मणों के दुःख से यदि राजा खृष्टान हो गया होता तब ऐसा लिखते तो भला कुछ बात भी होती। वैष्णवों का अधिकार कम हुआ होगा तो शैवों का डङ्का बज गया होगा। इससे राजा की ब्रह्मण्यता और ब्राह्मणों की पूज्यता को क्या हानि पहुँची ? आगे चल कर लिखा है—

विदित रहे कि क्षत्रिय पिता को अपने पुत्र के प्रति गायत्री उपदेश करने पर जो इस पुस्तक में आगे अधिक बल दिया गया है, उसका कारण यही है कि इस समय में भी क्षत्रिय वर्ण के राजा महाराजा अधिकतर हैं; परन्तु मुख्य अभिप्राय हमारा यह है कि समस्त राजे-महाराजे चाहे किसी वर्ण के हों इन स्वार्थियों के फंदे से बचें और इसी हेतु से नाना प्रकार की दीक्षायें अधिकारी भेद से लिखी गई हैं क्योंकि कान फूँकने से अधिक सुलभ उपाय आज कल इन स्वार्थियों की कार्य्यसिद्ध के लिए दूसरा नहीं है।"

यह तो लेखक ने स्पष्ट कह दिया कि वह क्षत्रियों का हितैषी नहीं है, ब्राह्मणों का द्वेष्टा है; उसका कहना यह है कि कोई ब्राह्मण का शिष्य न हो चाहे और किसी का हो जाय। इस विषय में इसका शास्त्रज्ञान कैसा है यह आगे चल कर विदित होगा।

फिर लिखा है कि—

"राजा का परम धर्म्म प्रजा का रक्षण है और जब राजा ही स्वतन्त्र न रहा और इन धर्मध्वजियों के हाथ में कठपुतली के सदृश नाचने लगा तो फिर प्रजारक्षण की क्या आशा ? क्योंकि विना स्वतन्त्रता और निष्पक्षपातता के न्याय नहीं हो सकता और विना न्याय के प्रजारक्षण असम्भव है।"

पाठकमहाशय ! जो राजा सद्ब्राह्मणों के हाथ की कठपुतली होगा सम्भव नहीं कि उससे कभी कुकार्य हो। इस विषय में सोम और सूर्यवंश का पुराना इतिहास ही प्रकृष्ट प्रमाण है। निस्सन्देह

"राजा का परमधर्म प्रजारक्षण है" यदि राजा स्वतन्त्रता के साथ निज प्रजा की रक्षा करने में समर्थ हो तो फिर चाहे वह ब्राह्मणों के हाथ की कठपुतली हो वा किसी दूसरे के हाथ की, उनको कुछ खेद न होगा। राजाओं को स्वतन्त्रता ही के लिए ब्राह्मणों ने जंगलों में घर बनाया था। कन्दमूल फल पर सानन्द निर्वाह किया था। आज कल के राजाओं को नचा कर बेचारे ब्राह्मण अपना क्या स्वार्थ सिद्ध कर सकते हैं? जिन दिनों कुछ कर सकते थे तब भी उन्होंने कुछ नहीं किया। रघुवंश के माननीय गुरु वशिष्ठ जी ने और पाण्डवों के पुरोहित महात्मा धौम्य ने कहाँ तक स्वार्थसिद्धि की थी यह सब "स्वार्थान्ध प्रकाशिका" के प्रकाशक को नेत्र खोल कर देखना उचित था।

यहाँ से आगे लेखक ब्राह्मणों पर एक बार ही खड्गहस्त हो गया है। न्यायशीला गवर्नमेंट की दृष्टि में ब्राह्मणों को विद्रोही सिद्ध करने के लिए वह इस प्रकार लिखता है कि—

"इस काल में भी विचारहीन ब्राह्मण कुछ कम उत्पात नहीं मचाते, काशी में राममन्दिर के झगड़े, बलिया इत्यादि जिलों में गोरक्षा सम्बन्धी झगड़े और पूना में गवर्नमेंट के निरपराध कर्म्मचारियों की हत्या के कारण यही स्वार्थी लोग हैं। इन लोगों का गोरक्षा से मुख्य प्रयोजन यह था कि यदि इसमें सफलता प्राप्त हो तो ब्रह्महत्या (अर्थात् ब्राह्मणों को फांसी द्वारा मृत्युदण्ड) के रोकने को क्षत्रिय आदि वीर जातियों को उभारें। परन्तु कुशल यह हुआ कि यह मुआमिला गोरक्षा तक ही रह गया, नहीं तो इन स्वार्थियों के बहकाने से न जाने कितनी हानि उठानी पड़ती। ये अदूरदर्शी शूरवीर क्षत्रियों को धर्म्म के मिस से किसी बात के लिए उत्तेजित करके आप तो अलग हो जाते हैं और क्षत्रिय अपनी वीरता के अभिमान में नीतिविरुद्ध कार्य्य करके दण्ड भागी होते हैं। हमने माना कि गाय की रक्षा करना कर्तव्य है, परन्तु पराई गाय को छीन लेना महा अधर्म्म है।"

गोविन्द! गोविन्द!! यह असत्यपूर्ण भयानक लेख क्या सचमुच किसी हिन्दू का है? ऐसा लेख तो कोई सजीव आर्यसमाजी ब्रह्मसमाजी

भी नहीं लिख सकता जिनसे कि प्रायः लोग ब्राह्मणों का निन्दक समझते हैं। इस लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है कि लेखक स्वार्थान्ध हो ब्राह्मणों की निन्दा के द्वारा किसी गुप्त अभिप्राय के सिद्ध करने के लिए पुस्तक के नाम को चरितार्थ कर रहा है। यद्यपि किसी किसी सङ्कीर्णचेता अङ्गरेज ने भ्रमवश ब्राह्मणों को झगड़ालू समझा है और सम्भव है कि उस विदेशीय पुरुष को भारतभूमि की कुसन्तान ही ने धोखा दिया हो, तथापि ऐसा होने पर भी क्या उक्त झगड़ों के कारण ब्राह्मण सिद्ध हो सकते हैं ? कदापि नहीं। हम तो समझते हैं उन्मत्त और भ्रमान्ध पुरुष के अतिरिक्त और कोई ऐसा न कहेगा। झगड़ालू पुरुष और मातृभूमि के शत्रु किस जाति में नहीं हैं ? सुसभ्य-देशों में भी झगड़ा हुआ करता है; ट्रान्सवाल के युद्ध में कई अङ्गरेजों ने बोअर वीरों का पक्ष ग्रहण किया था तो क्या इससे समस्त अङ्गरेज जाति उसका कारण समझी जायेगी ? यदि 'हां' कहो तो सब बराबर ही ठहरे और 'नहीं' कहो तो फिर किसी ब्राह्मण विशेष के कार्य पर ब्राह्मण मात्र का क्यों विरोध किया जाता है ? अन्य जातियों के इतिहास से यदि ब्राह्मण जाति के इतिहास का मिलान किया जाय तो यह सब से शान्त और सहिष्णु जाति सिद्ध होगी।

काशी के राममन्दिर के झगड़े का भार ब्राह्मणों के सिर पटकना सूर्य पर धूल फेंकने के समान है। हाईकोर्ट के एक जज ने इस झगड़े का कारण एक वैश्य को कहा है पर बहुत से सज्जनों की समझ में इसका कारण काशी म्युनिसिपालिटी की अनुचित जिद थी। हम नहीं कह सकते कि उसमें ब्राह्मण मेम्बर कितने हैं और अन्य जातीय कितने हैं ? यदि सभी ब्राह्मण हैं तो अवश्य लेखक का पक्ष कुछ सिद्ध हो सकता है। इसी तरह बलिया आजमगढ़ आदि के उपद्रवों का मूल कारण दुर्ज्ञेय होने पर भी उनके इतिहास की आलोचना से भली भाँति जाना जा सकता है। उस समय के अखबार "एडवोकेट" प्रभृति और लखनऊ के स्वदेश हितैषी ब्राह्मण वारिस्टर पण्डित विष्णु-नरायण दर की रिपोर्ट तथा नागपुर गोरक्षिणी सभा के मुद्रित पत्रों

से अच्छी तरह सिद्ध होगा कि इस विषय में ब्राह्मणों को दोषी कहना बिल्कुल भूल की बात है। अनुसन्धान से यह भी सिद्ध होगा कि मिस्टर हूपर्ने आदि कतिपय राजकर्मचारियों की विचारमूढ़ता ही झगड़े का प्रधान कारण थी। यद्यपि पूना में गवर्नमेंट के कर्मचारियों की हत्या के हेतु दामोदर चापेकर आदि दो तीन ब्राह्मणकुमार ठहराये गये हैं, तथापि समाचारपत्रों में इस हत्या का मूल कारण उस समय का असह्य प्लेगपीडन कहा गया है। पूना में जिस प्रकार दुर्घटनावश दो एक ब्राह्मणों के हाथ से अंग्रेजों की हत्या हुई है, वैसे ही अमीरअली आदि मुसल्मानों के हाथ से लार्ड मेओ प्रभृति अन्य अंग्रेज भी मारे गये हैं और इधर बहुत से अंगरेजों की ठोकरों से अभागे हिन्दुओं के प्राणपखेरू भी उड़ चुके हैं, तो क्या इससे मुसल्मान वा अंग्रेज मात्र को उनका हत्यारा समझा जायगा ? यदि योंही हत्यारों का अनुसन्धान होगा तो कोई जाति हत्या के कलङ्क से मुक्त न हो सकेगी। स्वीकार करते हैं कि एक समय में गोब्राह्मण का जीवन इस देश में बहुमूल्य था। 'ब्राह्मणार्थं गवार्थं वा सद्यः प्राणान् परित्यजेत्' यह यहीं का सिद्धान्त था। इस देश की वीर जननियों का निज पुत्रों के लिए सर्वप्रिय आशीर्वाद यह था कि "गो विप्रार्थो वत्स मृत्युं व्रजेया"। (इस देश में मुसल्मान और अंगरेजों के पदार्पण करने के बहुत पूर्व) भारतवासी इन दोनों की मङ्गलकामना के लिए भगवान् से भी कहते थे कि "गोब्राह्मण हिताय च"। पर इसका तात्पर्य्य यह न था कि क्षत्रिय आदिक वीर जातियाँ इतनी मूढ़ थीं कि वे किसी स्वार्थी के बहकाने वा उभाड़ने से इन दो के लिए लड़ती थीं, वे समझती थीं कि गोब्राह्मण भारतवर्ष के कल्याण के हेतु हैं। "एकत्रमन्त्रा स्तिष्ठन्ति हविरेकत्र संस्थितम्' ब्रह्मकुल से विद्या की रक्षा होती है और गोवंश से घृत दुग्ध की। सभी सजीव बलिष्ठ जातियां अपने धर्मगुरु पुरोहितों का प्राण सहस्रों प्राणियों की अपेक्षा बहुमूल्य समझती आईं। स्वार्थान्ध लेखक यदि चीन युद्ध के इतिहास को नेत्र खोल कर पढ़ता, तो विदित होता कि सुसभ्य अंगरेज जाति

चीनियों और अपने वीरों की अपेक्षा पुरोहित पादरियों के जीवन को कितना बहुमूल्य समझती हैं ? समय समय पर ब्राह्मणों ने अवश्य ही क्षत्रियों को युद्ध के लिए उत्तेजित किया है, पर स्वार्थसाधन के लिए नहीं, अपने पवित्र कर्तव्यपालन के लिए। वे क्षत्रियों को किसी कार्य में फँसा कर अलग नहीं हुए, वरञ्च द्रोणाचार्य की तरह अनेक धर्म्म-गुरुओं ने काम पड़ने पर उनके साथ ही प्राण भी दिये हैं। अब भी सच्चे ब्राह्मण, क्षत्रियों को यही उपदेश कर रहे हैं कि, खटिया में प्राण न देकर अपने सम्राट् महाराज एडवर्ड की मङ्गलकामना के लिए वीरता के साथ प्राण दें। अवश्य ही हिन्दू शास्त्र गोब्राह्मण की रक्षा का विधान करता है; किन्तु सदोष ब्राह्मण को दण्ड से नहीं बचाता और न किसी की गाय को चुराने व छीनने का उपदेश करता है। हिन्दूशास्त्र का सिद्धान्त इस विषय में कितना दृढ़ और परिष्कृत है, यह हम कभी वारान्तर में समझाने की चेष्टा करेंगे। स्वार्थान्ध लेखक प्रकारान्तर से स्वार्थ सिद्ध करे, हमें कोई आपत्ति नहीं, किन्तु विपत्ति-सङ्कुल ब्रह्मकुल का विरोध अतितुच्छजनोचित मार्ग से क्यों कर रहा है ? वह यदि शिष्टता के साथ ब्राह्मणों के गुण दोष की समालोचना करता तो अवश्य ही समाज का कुछ उपकार होता; पर इस प्रकार उनको गालियाँ दे और विद्रोही ठहरा कर, स्वदेश और स्वजाति का कितना उपकार कर रहा है, एक बार विचार कर देखे। काशी की पुण्यभूमि में निवास करने पर भी उसने तामसी बुद्धि को अभी तक तिलाञ्जलि न दी, यह आश्चर्य का विषय है। उसकी इस अधम गति को देख केवल ब्राह्मणों ही को नहीं, धार्मिक हिन्दूमात्र को दुःख होगा, इसमें सन्देह नहीं। हमारे प्रिय पाठक पुस्तक का मर्म इस प्रस्तावना ही से समझ गये होंगे, तथापि हम वारान्तर में इसके भीतर का भी दृश्य दिखलाने का यत्न करेंगे।



अष्टम् खण्ड

कहानियाँ

पुरोहित का आत्मत्याग

[१]

सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में एक दिन दो क्षत्रिय राजकुमार उदयपुर के जंगल में जी बहला रहे थे, दोनों ही मृगया (शिकार) खेलने में चतुर और दोनों ही आकृति में प्रायः एक से थे। दोनों के हाथों में भाले चमक रहे थे। कमरों पर तलवारें लटक रही थीं और पीठ पर ढाल तथा धनुर्बाण शोभा दे रहे थे। दोनों ही अश्वारूढ़ थे। दोनों का शरीर सुन्दर, सुडौल, फुरतीला और तेजस्वी था। अंग अंग से वीरता प्रगट होती थी। पाठक! यह दोनों युवा वीर महाराणा उदयसिंह के पुत्र थे। एक का नाम प्रतापसिंह और दूसरे का शक्तिसिंह था।

प्रतापसिंह ने शिकार खेलते खेलते हँस कर कहा कि, शक्तिसिंह! "तुम्हारा लक्ष्य ठीक नहीं है।"

शक्तसिंह ने रूक्ष स्वर से उत्तर दिया कि, "क्या कभी सच्चे क्षत्रिय का निशाना चूक सकता है? कभी नहीं।"

"कभी नहीं!" प्रतापसिंह ने गम्भीर भाव से प्रतिध्वनि की कि 'कभी नहीं। शक्तसिंह! सच्चे क्षत्रिय का निशाना नहीं चूक सकता।"

शक्तसिंह। (क्रोध से) "तो क्या आप मुझे सच्चा क्षत्रिय नहीं समझते? आइये, ज़रा एक बार सच्चे झूठे की परीक्षा करलें। देखें, फिर किसमें कितनी सामर्थ्य है।"

प्रतापसिंह। (तेजस्विता से) "यदि तुम्हारी यही इच्छा है तो यही सही। कौन अस्वीकार करता है?"

देखते देखते दोनों में द्वन्द्व युद्ध का ठान ठन गया। दोनों ने अपना अपना घोड़ा फेर कर शस्त्र सम्हाल लिये।

[२]

पाठकों को आश्चर्य होगा कि एक साधारण सी बात पर एक भाई क्यों दूसरे से इतना शीघ्र बिगड़ बैठा ? पर इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। क्षत्रियों का स्वभाव ही ऐसा होता था। अपनी सामर्थ्य और शस्त्रों की निन्दा वे किसी से सुन नहीं सकते थे। एक बार अपने गाण्डीव धनुष की निन्दा सुन अर्जुन भी बड़े भाई युधिष्ठर को मारने चले थे। आज शक्तसिंह भी अपने वीर भ्राता प्रतापसिंह की शस्त्र से पूजा करने लगे हैं।

प्रतापसिंह महाराना के ज्येष्ठ कुमार हैं। इसलिए गद्दी उन्हींको मिली है और शक्तसिंह उनके आश्रित हो रहे हैं। प्रतापसिंह में वीरता के साथ ममता और गम्भीरता भी है और इनमें वीरता के साथ असहिष्णुता और कठोरता अधिक है। एक बार महाराना के दरबार में एक शस्त्र की धार की परीक्षा सूत की रस्सी पर की जा रही थी। उस समय शक्तसिंह भी उपस्थित थे। इन्होंने गम्भीरता से कहा था कि जो शस्त्र मनुष्य के हाड़ मास को काटेगा उसकी परीक्षा सूत पर करना उचित नहीं है।' यह कह कर शस्त्र उठा अपनी उँगली पर आघात कर उसकी परीक्षा की थी। इसमें उँगली से बहुत सा रक्त निकला था। उस समय शक्तसिंह पाँच वर्ष के थे ! जो पुरुष इतनी छोटी उमर में ऐसा साहस दिखावे, वयोवृद्धि के समय उसके बढ़े हुए साहस और तेज का क्या ठिकाना है ? पर बड़े भाई के साथ द्वेष होने के कारण इनके गुणों का विपरीत फल हुआ। प्रतापसिंह ने अतुल वीरता दिखा तथा चिरकाल तक स्वाधीनता की उपासना कर पवित्र कीर्ति लाभ की और इन्होंने द्वेषबुद्धिवश स्वदेशियों की हत्या की। यदि प्रतापसिंह को जातीय गौरव की सजीव मूर्ति कहा जाय तो इनको क्षत्रिय जाति का कलङ्क कह सकते हैं ! दुर्भाग्यवश, बात की बात में इन दोनों तेजस्वी वीर भाइयों में विरोध खड़ा हो गया। यदि दोनों में प्रेम होता और मेल बढ़ता तो मेवाड़ का महत्व अधिकतर प्रगट हो सकता था। पर हाय ! वैमनस्य ने दोनों का बल व्यर्थ कर दिया।

[३]

मेवाड़ की समस्त आशा और सब भरोसा जिन राजकुमारों पर हैं, आज उन दोनों तेजस्वी वीरों का जीवन संशय में पड़ गया। एक ने दूसरे पर भाला उठा लिया है। दोनों वीरों की जिघांसा बढ़ रही है। मेवाड़ के सर्वनाश में अब विलम्ब ही क्या है? जिस समय एक भाई दूसरे को अपने भाले का लक्ष्य बना रहा था, उस समय अचानक दोनों वीरों के बीच में एक मधुर मूर्ति के दर्शन हुए। इस तेजस्वी पुरुष ने दोनों के बीच में खड़े होकर कहा कि 'यह क्या करते हो? राजस्थान का सर्वनाश! देश पर म्लेच्छों का आक्रमण हो रहा है और तुम्हारा यह हाल है।' पर हाय! इस महात्मा के वाक्य पर किसी ने भी ध्यान नहीं दिया। यह दोनों के जीवन की रक्षा के उद्देश्य से धीर गम्भीर स्वर से फिर बोले—

"यह क्रीड़ाभूमि है, युद्धभूमि नहीं है। और भाई भाई में युद्ध होना वास्तविक क्षत्रियों का धर्म्म नहीं हैं। लड़ाई बन्द करो। तुम्हारे भाले बैरियों के हृदय में प्रविष्ट हों तथा यह घोड़े शत्रु शोणित की सरिता में तैरने के योग्य हैं। वंश की मर्य्यादा नष्ट मत करो। महापुरुष वाप्पारावल के पवित्र कुल को कलुषित न करो। देखो! भाई के रक्त से भाई के शस्त्र की पवित्रता नष्ट करना उचित नहीं है।'

इस वाक्य से भी कुछ फल न निकला। दोनों वीर परस्पर प्राण संहार से विमुख नहीं हुए। दोनों के बरछे चमकने लगे। यह देख कर वह पवित्र स्वभाव कुछ काल तक चिन्ता करते रहे। कुछ बोले नहीं। फिर कटार से अपना वक्षस्थल विद्ध कर लिया! पाठक यह महात्मा कौन थे? यह महोदय राजस्थल के पवित्र सिसोदिया कुल के मङ्गल विधायक देवता थे।

[४]

शुभचिन्तक पुरोहित ने जब देखा कि युद्धोन्मुख दोनों भाइयों पर उपदेश का कुछ फल नहीं होता, तब उनकी प्राणरक्षा के लिये स्वदेश के मङ्गल के लिए और अपने कर्तव्यपालन के लिए अकातर भाव से एवं अम्लान वदन से अपना जीवन विसर्जन कर दिया।

प्रताप और शक्त यह देख कर सन्न होगए। दोनों के शस्त्र हाथ ही में रह गए। मेवाड़ के परम पूज्य राजपुरोहित का मृतक शरीर उनके मध्य में पड़ा है। उनके हृदय का रक्त दोनों के शरीरों को स्पर्श कर चुका। यह देख प्रतापसिंह मर्मपीड़ा से कातर होगए। फिर छोटे भाई पर शस्त्र नहीं चलाया। पुरोहित के आत्मत्याग का उद्देश्य सिद्ध हुआ। प्रतापसिंह ने हाथ उठा कर छोटे भाई से राज्य छोड़ कर निकल जाने को कहा। शक्तसिंह मेवाड़ छोड़ कर यवन सम्राट् अकबर से जा मिले।

कुलपुरोहित के अपूर्व आत्मगौरव का यह वृत्तान्त कुछ साधारण बात नहीं है। साधारण पुरुष तो इस बात को समझ भी नहीं सकते। अपने प्राण विसर्जन कर दूसरों के प्राण बचाना महापुरुष का कार्य्य है। यदि संसार में निःस्वार्थपरता कोई वस्तु है, तो उसकी जीवन्त मूर्ति यह पुरोहित जी हो गए हैं। यदि उदारता और महानुभावता का कोई आश्रय स्थान था तो इन्हीं महोदय का हृदय इस नाशवान् जगत में इस बिजली से चञ्चल जीवलोक में, इस दानवीर पुरोहित जी की तुलना किसी के साथ नहीं हो सकती।

आज इस महास्वार्थ त्याग और परमोत्कृष्ट तेजस्विता को कौन समझेगा ? आज इस चरित्रवान् पुरुष के उदार चरित्र से 'टका'-सर्वस्व स्वार्थपरायण पुरोहित क्या शिक्षा ग्रहण करेंगे ? वचन वीर महोपदेशको ! तुम केवल पूज्यपाद पूर्वजों का नाम डुबाने के लिए उत्पन्न हुए हो। तुम्हारे साढ़े तीन हाथ के शरीर में कदाचित् प्राचीन ब्राह्मणों का लेश मात्र भी नहीं हैं। सो तुम इस उदारता को क्या समझोगे ? तुम तो आश्चर्य नहीं जो इन पुरोहित जी को 'आत्मघाती' कह कर घृणा करो पर सच्चे देशहितैषी इस असाधारण पुरोहित को दूसरी दृष्टि से देखेंगे। हाय ! इस महिमा को समझने वाले आज भारत में ऐसे असाधारण पुरुष कितने हैं ? प्रतिध्वनि प्रश्न करती है, कितने हैं ? भारत तो अब निर्जीव और निश्चेष्ट हो रहा है। फिर हमारे प्रश्न का उत्तर कौन देगा ? प्रतिध्वनि पूछ रही है—कौन देगा ?



जापानी मारवाड़ी

वीरभूमि जापान की राजधानी टोकियो से एक प्रवासी मारवाड़ी महाशय ने हमारे पास "आप बीती" कहानी का कुछ आश्चर्यजनक अंश, वैश्योपकारक में प्रकाश होने के लिए लिख भेजा है, जिसका आशय हम अपनी भाषा में क्रमशः प्रकाश करेंगे। सम्भव है कि उसके पाठ से हमारे पाठकों के चित्त में कई तरह के विचार उत्पन्न हों और वे इस विषय में कुछ विशेष जानने की अभिलाषा करें परन्तु लेखक की इच्छा नहीं है कि उन बातों के सिवाय जिन्हें वे स्वयं अपने पत्र द्वारा प्रकाश न कर दें कोई अधिक जानने की चेष्टा करे। उनकी इच्छा के विरुद्ध करने से फिर उन्हें उन बातों का भी पता न लगेगा जिन्हें उनके पत्रों से वे अनायास जान सकते थे। जब तक पूरी जीवनी प्रकाश न हो ले तब तक सब यही समझते रहें कि यह सच्ची कहानी नहीं, खाली उपन्यास है। पीछे जैसी धारणा हो वैसा विचार कर लेना।

सम्पादक

पहली चिट्ठी

भाई एडीटर ! जै गोपाल !

मैं जिस दिन से जापान में आया हूँ, दो तीन बार से ज्यादे मुझे मेरी प्यारी मारवाड़ी भाषा बोलने अथवा सुनने का अवसर नहीं मिला। पिछले सप्ताह, जब मैं अपने जापानी दोस्तों के साथ,—नहीं नहीं—बन्धु और कुटुम्बियों के साथ, लियांग-विजय की खुशी में अपने यहाँ का जातीय गीत गा रहा था, तब मेरी अचानक एक हिन्दुस्तानी स्टुडेंट के साथ मुलाकात हुई; जिसके हाथ में आपके "वैश्योपकारक" पत्र की कई प्रतियाँ थीं।

पन्दरह साल से पहले मैं कलकत्ते के उसी बाजार में रहता था जिसकी प्रधान घटनाओं का संवाद लेकर आपका पत्र निकलता है।

क० १

मैंने वहीं पर अपनी भेदभरी ज़िन्दगी का एक हिस्सा पूरा किया था। उसकी गलियाँ मेरी बालक्रीडा की प्यारी गलियाँ हैं। सुना है कि अब वहाँ सैर करने के लिए हेरिसन रोड बन गई, बिजली की रोशनी और ट्रामवे के होने से दूनी शोभा बढ़ गई है, पर मेरी आँखों को तो उस समय भी वहाँ स्वर्ग की छवि लगती थी। तब मुझे मातृभाषा हिन्दी के प्रचार का बड़ा शौक़ था। इसके लिए मैंने अंग्रेज़ी पढ़ी थी, लेक्चर देना सीखा था, और मैं सभा सुसायटियों में आने जाने भी लगा था। पर कुछ दिनों बाद कुछ से कुछ हो गया। थोड़े दिनों तक तो मैं विदेश में भी "सारसुधानिधि" मँगाता रहा, कलकत्ते की खबरों को चाव से पढ़ता रहा, जन्मभूमि छोड़ देने पर भी मुझे उसका मोह सताता रहा; बन्धु, बान्धव दोस्त आशना सब याद आते रहे, पर जब देखा कि उनकी खबरों से चित्त शान्त होने के बदले उलटा व्याकुल होता है, घर की भूली हुई बातों का स्मरण होने से छाती पर साँपसा लोटने लगता है, और सजल नेत्रों के सामने अन्धकार छा जाता है, तब प्रतिज्ञा कर ली कि अब कलकत्ते की बात तक न सुनूंगा, अखबारों में उसकी खबर तक न पढूँगा। पहले तो इस प्रतिज्ञा से भी मुझे दुःख ही मिला, पर धीरे धीरे अभ्यास बढ़ गया और अन्त को मातृभूमि से मेरा सब प्रकार का सम्बन्ध छूट गया।

जिनके साथ एक दाँत की तोड़ी हुई रोटी खाता था और जिनसे मिले बिना चैन ही नहीं पड़ता था और जिनके सामने दिल की कोई बात भी छिपाकर नहीं रखता था, हाय! उन लोगों को १६ वर्षों से एक पत्र भी नहीं लिखा। शायद उन्होंने समझ लिया होगा कि उनका दोस्त या तो भागीरथी में डूब गया या तान्त्रिकों के द्वारा देवी की बलि बन गया या किसी दूसरी तरह से स्वर्गवासी हो गया! उन्हें यह थोड़े ही ख्याल होगा कि उनका बन्धु जीता जागता इसी जननी एशिया की सुरक्षित गोद में बैठा हुआ है।

उस रात का दृश्य, जिस दिन मैं कलकत्ते से बिदा हुआ था अब भी मेरी आँखों के सामने है। चन्द्रमा की चाँदनी से भागीरथी का

निर्मल निस्तरङ्ग जल चाँदी की सिल्ली दिखाई देता था। राजधानी के ऊँचे ऊँचे आलीशान मकानों की छाया से जल में स्थल की भ्रान्ति हो रही थी और तटों पर बैठे हुए उपासक ब्राह्मणों के स्तोत्रपाठ से मेरे टूटते हुए दिल में मज़बूती आ रही थी। उस दिन पहले ही मैं कई मित्रों से दूसरे दिन मिलने की प्रतिज्ञा कर चुका था, मुझे यह क्या ख़बर थी कि आज की रात की घटना से इस जीवन की ऐसी काया-पलट हो जायगी कि मेरी प्रतिज्ञा, मेरी उत्कण्ठा और मेरे विचार, सब पानी के बुदबुदे की तरह नष्ट हो जाँयगे।

मैं सब बातों को भूल गया था। सत्यनारायण जी की झाँकी, धर्म्मसभा का समारोह और पिंजरापोल का ठाठ, कुछ भी याद नहीं रहा था; किन्तु इतने वर्षों के बाद "वैश्योपकारक" को देख कर फिर वही दृश्य सामने आ गया। पत्र पढ़ने से प्रथम मुझे यह मालूम होता कि यह कलकत्ते से निकलता है तो उसको छूता तक नहीं। स्टूडेंट महाशय ने यह कह कर मेरे हाथ में दे दिया था कि "यह एक हिन्दी का बहुत अच्छा सामाजिक पर्चा है।" मैं चित्र देखने लगा कि उसके साथ ही कविता पढ़ी गई और फिर लेखों के पढ़ने का मोह हो गया। इतने दिन का नियम बात की बात में टूट गया! "कनक सुन्दर" की भाषा ने हमारे घरू नाटक की एक सीन दिखा दी। पढ़ते पढ़ते शरीर कण्टकित हो गया। आहा! आज मेरे पुराने दोस्त बाबू ——— वग़ैरा इतने मशहूर हो गए कि अख़बार उनकी यों चर्चा करते हैं और मैं अपने समाज, अपने देश और अपनी जाति को छोड़ कर इस प्रकार अज्ञातवासी हो रहा हूँ। हाय! मैं अपने समाज की कुछ भी भलाई करने नहीं पाया। ख़ैर, भगवान् की मरज़ी। अब मेरी इच्छा है कि इतने दिनों तक मैंने क्या किया और मुझ पर क्या क्या बीती, सो सब इस पत्र के द्वारा सब भाइयों को कह सुनाऊँ जिससे जी का बोझ कुछ हलका हो जाय। परन्तु मेरा एक अनुरोध है कि मेरी भाषा आपके पाठकों के निकट एक विचित्र भाषा होगी, उसको अपनी मरज़ी के अनुसार सुधार कर छापना। आपके पाठकों में से कोई यह जानने

की इच्छा न करें कि मैं कहाँ का रहने वाला और कौन हूँ? केवल यही समझ लें कि मैं उनका एक बिछुड़ा हुआ प्रवासी और अभागा भाई हूँ जो अब यहाँ केप्टेन ———— के नाम से प्रसिद्ध है।

दूसरी चिट्ठी।

"किं दुःसहं तु साधूनां विदुषां किमपेक्षितम्।
किमकार्य्यं कदर्य्याणां दुस्त्यजं किं धृतात्मनाम्॥"

भागवत् १०।१।

जिस रात का वर्णन मैं अपनी पहली चिट्ठी में कर चुका हूँ उसे मेरी पुरानी जिन्दगी की कालरात्रि कही जाय तो कुछ अनुचित न होगा। क्योंकि उसी दिन उन सब बातों का अन्त हो गया था जिनका एक मुद्दत से उस जीवन के साथ गहरा सम्बन्ध था। उस दिन अपना मनोरथ पूरा करने के लिए कितना व्याकुल हुआ था, कितना कष्ट उठाया था और कैसे निर्मोही लोगों से पाला पड़ा था, जब इस बात का स्मरण होता है तब मेरा वह कठोर हृदय भी, जो कई भयानक लड़ाइयों के सिवाय उस चीन की चढ़ाई को भी देख चुका है जिसकी भयानकता सन् सत्तावन के ग़दर से किसी प्रकार कम न थी, विदीर्ण होने लगता है और उसमें एक साथ ही घृणा तथा क्रोध का आविर्भाव हो जाता है। आह! उस दिन कलकत्ते की गलियों में भलाई की आशा से इतना मारा मारा फिरा और उसका फल यह मिला कि जननी जन्मभूमि से सदा के लिए हाथ धोने पड़े! यद्यपि अपनी नेकनियती, मिलनसारी और मेहनत से मैंने उस कठिनता का बहुत कुछ उपाय किया जिसके दूर होने से कई वर्षों का परिश्रम सफल हो जाता और लोग मुझे अपने मित्रों का सच्चा हितैषी तथा विश्वासपात्र समझते और इसके साथ ही बाप दादों की प्रतिष्ठा भी शेष रह जाती तथापि अफसोस कि मेरा विचार अपनी उठान में ही लोट पोट हो गया! दुर्भाग्य से उस वृक्ष की जड़, जिसके फलने की बहुत कुछ आशा की गई थी फूलने से पहले कट गई!

मैंने अपने उस मदान्ध बन्धु को जिसने मुझे अपने अनोखे खेल

की कठपुतली बना रखा था और जिसके दुर्बल हाथ में मेरे पूजित विश्वास और बढ़ती हुई प्रतिष्ठा की डोर थी, बार बार समझाया और गिड़गिड़ा कर कहा कि, "भाई ! मान जावो, जिस रास्ते पर आप चलना चाहते हैं वह भले मनुष्यों के चलने योग्य नहीं है। अच्छे लोग अपने कुटुम्ब और अपनी सम्पत्ति के सिवा कभी भी बाजार की सम्पत्ति के लोभ में पड़कर अपनी इज्जत और धर्म्म को नहीं डुबोते।" मेरी इस कड़वी, पर हित से भरी हुई बात को सुन कर कृतज्ञतापूर्वक धन्यवाद देना तो दूर रहा उलटे बाबू साहब जामे से बाहर हो गये और इस बात का ख्याल न कर कि मैं कौन हूँ और उनके साथ मैंने आजतक कैसा सलूक किया है, मुंह आई कहने लगे। उन्होंने आवेश में आकर मुझे क्या क्या कह डाला, उसके विस्तार की कोई आवश्यकता नहीं, केवल यही कह देना काफ़ी होगा कि उनकी सारी समझ का निचोड़ यही था कि मैं उनका हितैषी और बन्धु नहीं बल्कि उन्हें बदनाम करने और दुःख पहुँचाने वाला शत्रु हूँ, यद्यपि वे जानते थे कि उनका ऐसा समझना अन्याय से ख़ाली नहीं है। उनके क्रोधपूर्ण फड़कते हुए होठों से जो पिछले शब्द निकले थे, वे यही थे कि—"तुम हमारे कामों में दख़ल देने वाले कौन हो ? हमारी जो ख़ुशी होगी करेंगे, साथ रहना हो तो अच्छी तरह रहिए नहीं तो रास्ता पड़ा है।" उक्त बातों से जब यह देख लिया गया कि मेरे समझाने बुझाने का फल उतना भी न हुआ जितना चिकने घड़े पर एक बूंद का हो सकता है तो लाचार होकर अन्त में मुझे उस उपाय का अनुष्ठान करना पड़ा जिसको मैंने इस मौक़े के लिए पहले से सोच कर ठीक कर रखा था।

मैं "बहुत अच्छा" कह कर चुप होगया और अपनी डबडबाई हुई आँखों से मैंने एक बार उनकी ओर देखा पर उन्होंने इसकी कुछ भी परवाह न की कि उनके अनुचित बर्ताव का असर मुझ पर कैसा ग़ज़ब हो रहा है ! मुझे उसी तरह दुःखित अवस्था में छोड़ कर वे एक ऐसे सलाहकार के साथ जो उनके मलीन-कार्य के सम्पादकों में से एक था, दूसरे कमरे में चले गये ! थोड़ी देर के बाद कुछ कानाफूसी कर वे

दोनों आये और इस ढंग से बातचीत करने लगे मानों वे मुझे ख़ुश करने की इच्छा से वहाँ पधारे हों। मेरी उनके साथ घंटों तक बातें हुईं, परन्तु एक बार भी उन्होंने यह स्वीकार नहीं किया कि वे उस कार्य्य से हाथ खींच बैठे जो इस सारे फिसाद की जड़ है! उनकी लंबी चौड़ी बातों का सार यही था कि पञ्चों का कहा सुना सिर माथे पर पनाला यहीं रहेगा। आखिर मैं कुछ आखिरी बातें करके, वहाँ से झिड़कियां खाकर, लंबी साँस लेता हुआ उसी प्रकार खड़ा हो गया जिस प्रकार मन्दमति धृतराष्ट्र के दरबार से भ्रातृ-भक्त विदुर खड़ा हुआ था और चलने से पहले एकबार सतृष्ण-दृष्टि से उस घर के चारों ओर लख कर जिसमें मेरे बहुत से दिन सुख से बीते थे मन ही मन यह शेर गुन गुनाता कि "दरो दीवार पै हसरत की नजर करते हैं, खुश रहो अहले वतन हम तो सफर करते हैं" बाहर चला आया।

रात आधी से अधिक जा चुकी थी पर कलकत्ते के बड़े बाजार में इस समय भी भुगतान वालों की उसी प्रकार भीड़ थी जैसी दूसरे शहरों में दिन के समय हुआ करती है। सायंकाल के पवित्र समय में शिवजी के "थडे" पर जगज्जननी लक्ष्मी जी के सिंहासन पर, पैर पसार कर पड़े रहना और निद्रा के स्वागत के समय आधी रात के बाद भुगतान देना यह तीन लोक से न्यारा "कलकत्ते के काण्डज्ञानहीन मारवाड़ी समाज का विचित्र नियम है। कुल कामिनियां, "वासक सज्जा" हो कर स्वामियों की बाट देखती देखती थक जातीं, पर उनके चित्त में यह विचार नहीं होता कि उनकी लापरवाही का नतीजा समाज के लिए बहुत ही भयानक है। अस्तु, जिस वक्त घर से निकल कर मैं राजा के कटड़े के पास पहुँचा, मेरा आज्ञाकारी नौकर (जिसका नाम प्रकाश करना मैं मुनासिब नहीं समझता) मोड़ पर खड़ा हुआ मिला। उसके हाथ में एक छोटी सी गठरी देख कर मुझे निश्चय हो गया कि जिन चीजों के मँगाने के लिए उसे भेजा था उन्हें वह ले आया है।

मैंने जल्दी से उसके हाथ से गठरी ले ली और इधर उधर देखने के लिए उसे नियुक्त कर दिया कि कोई इस समय की कार्रवाई देखता

न हो। वह मेरे कहे के अनुसार चारों ओर देखने लगा और मैंने कटड़े के उत्तर तर्फ वाले दरवाजे में कदम बढ़ाकर जहाँ चन्द्रमा की किरनों की पहुँच न थी, गठरी से ओवरकोट निकाल कर पहन लिया और उसकी लम्बी "पाकेट" में अपनी रंगीन पगड़ी रख कर सर पर छज्जे-दार टोपी रखली और साथ ही चेहरे पर नकली दाढ़ी लगा, आंख पर चश्मा भी चढ़ा लिया जिससे कोई विशेष जानकार भी मुझे पहचान न सके। इस समय मेरा भेष इतना बदल गया था कि यदि मैं अपने नौ-कर से बोलता नहीं तो वह भी ठिठक कर वहीं रह जाता; बिल्कुल नहीं पहचान सकता। खैर, वेष बदल कर आगे आगे मैं हो लिया और मेरे पीछे पीछे वह चला।

लोहाघाट पर आकर मैंने उससे कहा कि "मैं उनसे कहकर आया हूँ कि यदि उन्होंने कल मेरे कहे के अनुसार अपना कर्तव्य पालन नहीं किया, तो मेरा उनसे दूसरा रास्ता हो जायगा और आज की मुला-कात मेरी जिन्दगी के इतिहास में आखिरी समझी जायगी। या तो इस श्रीहतजीवन को नष्ट कर दिया जायगा या अपना कलङ्कित मुख लोगों की दृष्टि से छुपा लिया जायगा। शायद मेरी इस बात का उनके जी पर कुछ असर पड़ जाय और मैं आने वाली बला से बच ही जाऊँ। यदि बदकिस्मती से वे इस बात की परवाह ही न करें और कल वही बात कर डालें जिसका मेरे दिल में खटका हो रहा है, तो खबरदार! जिस तरह कहा गया है उसी तरह करना! कोई तुझे पूछे, तो कहना कि "बाबू! नहाने को गये थे फिर मालूम नहीं कि क्या हुआ!" और कल रात को दश बजे इसी जगह पर मुझसे मिलना।"

कहना न होगा कि, मेरी इन भेद-भरी बातों से मेरे सेवा-परायण नौकर को सन्तोष होने के बदले दुःख हुआ और वह उदास होकर मेरे साथ चलने के लिए जिद करने लगा। मैंने धीरज देकर कहा कि "जरूर मैं तुम्हें अपने साथ ले चलता, पर तुम्हारे बिना न तो मुझे घर का हाल ही मालूम होगा और न कोई उस बेचारी को तसल्ली ही दे सकेगा जिसको धीरज बँधाना उस समय के लिए बहुत जरूरी

है जब कि वह दिल दहलाने वाली खबर चारों ओर फैले। मैंने विचार कर लिया है कि कल दिन भर मैं उस पार रानी रासमनी के बगीचे में रहूँ और परमहंस रामकृष्ण देव के सिद्ध पीठ में महामाया भगवती काली की आराधना कर मैं उस बात के सुनने और करने के लिए तैयार हो जाऊँ, जो भाग्य के फेर से मेरे सामने आने के लिये तैयार है। कल इसी वेष में यहीं आनकर मिलूँगा। इसके बाद तुम उसी मकान में उनको ले आना वहाँ मिलकर निश्चय करेंगे कि अब हमें क्या करना और कहाँ जाना चाहिए।"

कम्पित स्वर से "जैसी सरकार की मरजी" कहकर वह चुप हो गया। उसके ढंग से मैं समझ गया कि वह उत्साह न दिखाने पर भी मेरे प्रस्ताव से असम्मत नहीं है। जब मैं नौका पर सवार हुआ तो वह मुँह फेर कर रोने लगा। कई बार मैंने घाट की ओर फिर फिर कर देखा, मेरा स्वामिभक्त नौकर टकटकी लगाये दूर तक मुझे खड़ा हुआ ही दिखाई दिया।

तीसरी चिट्ठी

प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ, विलयत्वमेति बहुसाधनता।
अवलम्बनाय दिनभर्तुरभू-न्न पतिष्यतः करसहस्रमपि॥

साहित्यदर्पण।

दूसरा दिन मेरा "दक्षिणेश्वर" ही में बीता! रानी रासमनी प्रतिष्ठित काली मूर्ति के दो बार दर्शन किए पर चित्त की व्यग्रता के कारण एकाग्रता न हुई। दुःख के समय भगवान में मन लग जाया करता है, पर भाग्य की बात है कि मेरा नहीं लगा। स्नान तो किसी प्रकार कर लिया, पर खाने पीने के नाम कै होने लगी। दिन भर भविष्य की आशङ्का से छाती धड़कती रही और तरह तरह के विचार चित्त को तरङ्गित करते रहे। मैं कई घण्टों तक, एक वटवृक्ष के नीचे पड़कर सोचता रहा कि संसार की दशा भी कैसी विचित्र है? लोग इधर तो शिष्टता का दावा करते हैं और यह चाहते हैं कि जगत में वे दानियों

में हरिश्चन्द्र, प्रतापियों में इन्द्र, वीरों में अर्जुन और जितेन्द्रियों में शुकदेव समझे जावें; सब कोई उन्हें पंचायत की नाक, समाज का सिरमौर, जाति का कर्णधार समझा करें और उधर स्वार्थसाधन के समय निर्लज्जता का चश्मा चढ़ाकर ऐसे ऐसे घृणित कार्य्य कर डालते हैं, जिसका फल अनेक जन्म तक कुम्भीपाक में वास करना है। कलकत्ते के इस प्रकार के धनियों से, जो दूसरों की पूंजी से अमीर बनना चाहते हैं वे किसान लोग बहुत अच्छे हैं जिनकी निज की पूंजी चाहे एक खेत और बैलों की जोड़ी से ज्यादा नहीं है पर जिनका निर्मल जीवन आडम्बर से रहित और सरलता से परिपूर्ण है। इस प्रकार सोचते सोचते बड़ी मुश्किल से दिन कटा। रात को नौका पर सवार हो, कई घंटों में उसी ठिकाने पर पहुँचा जहाँ पहले दिन नौकर से मिलने का सङ्केत हो चुका था।

यद्यपि मैं नियत समय से कुछ देर पहले पहुँच गया था तथापि तब तक सीढ़ियों से आगे नहीं बढ़ा, जब तक मेरे मलिन-मुख नौकर ने आकर मुझसे मुलाकात न की। उसके उदास चेहरे को देखने से ही कहने के पहले उस दिन की घटना मालूम होगई तथापि मैंने उससे सब बातें भिन्न भिन्न पूछी। उसकी बातें सुनकर हृदय की धड़कन दूर हो गई और चञ्चल चित्त में एक प्रकार की शान्ति आ विराजी। आज मुझे मालूम हुआ कि मरने से बढ़कर जिस प्रकार तड़पने की दशा भयानक होती है, उसी प्रकार अकार्य कुकार्य की अपेक्षा सन्देह की दशा अधिक बुरी होती है। मुझे सोच विचार में देख कर मेरे उस बुद्धिमान सेवक ने कहा "अब यहाँ ठहर कर बातें करना ठीक नहीं, मेरे पीछे पीछे उसी मकान पर चलिए और मिल कर जरूरी बातों का फैसला कर लीजिए कि अब क्या करना होगा। रास्ते में मेरे साथ बातें न करना, आज आपके विषय में लोग मुझसे पूछताछ बहुत करते हैं, ऐसा न हो कि कोई पहचान ले। मेरे पीछे पीछे चले आइए। मैं सीधा वहीं चलता हूँ।"

मेरे नौकर का कहना मुझे बहुत ठीक मालूम हुआ। मैं उसके पीछे

पीछे चल पड़ा। उसका कहना बहुत ही ठीक निकला। हुक्कापट्टी से निकलते ही उस पर लोगों के प्रश्न होने लगे "कुछ पता लगा" वह "नहीं नहीं" करता आगे बढ़ रहा था कि किसी को सामने आता देख कर झुककर "सलाम" करने के साथ ही वह चौरस्ते के मोड़ पर ठिठक कर खड़ा हो रहा। कुछ क्षण के बाद उसके निकट भक्तिभाजन रायबहादुर सेठ सूर्यमल्लजी कई आदमियों सहित दिखाई दिए। जिस पुण्यात्मा के दर्शन मैं देवदर्शन की बराबर समझता था, जिनके हितवाक्य मारवाड़ी बालकों के निकट सगे पिता से बढ़ कर आदरणीय थे और जो मुझ पर निष्कारण कृपा रखते थे, समय की बात है कि आज उनको देखते ही मैं सन्न होगया! और मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि मेरा नौकर उनसे सब भेद कह रहा है और मैं बहुत शीघ्र गिरफ़्तार होने वाला हूँ। जिस तरह अपने डरे हुए दिल से बालक या अबोध पुरुष अपनी छाया को भूत समझ निष्कारण दुःखित और भयभीत हुआ करता है, ठीक उसी तरह मैंने अपने आप को व्यर्थ के झंझट में डाल दिया। एक बार भी इस बात की परीक्षा नहीं की कि मेरे अनुमान में कहाँ तक सत्यता है। मेरी आखों के सामने अंधेरा छा गया और मैं यह निश्चय नहीं कर सका कि अब क्या करूँ। जाऊँ या खड़ा रहूँ ? मैं घबरा कर हटा और मेरे कान में दो परिचित मित्रों के शब्द पड़े जो मेरे ही विषय की बातें करते जा रहे थे। मैं भी उनके पीछे पीछे हो लिया।

एक ने मेरा नाम लेकर कहा "वह बेचारा इस दुःख का मारा आज घर से निकल गया, पर कोई कोई कहते हैं कि गङ्गा में डूब मरा।" दूसरे ने पहले के जवाब में कहा "अजी, यह तो सब ढोंग हैं, भला कोई आज तक मारवाड़ियों में ऐसी बात पर मरा भी है ? मरना क्या सहज है ? वह गया ही कहाँ होगा ? यहीं कहीं छिप रहा होगा दो चार दिनों में फिर यहाँ आ जायगा ?" पहले ने फिर कहा कि "नहीं, ऐसे अवसर पर उस जैसे सज्जन के लिए मरना या देश छोड़कर चले जाना कुछ कठिन नहीं है—"सतां माने म्लाने मरण-

मथवा दूर शरणम् ।" दूसरा बोला "भाई! बस करो, ऐसा ही सज्जन होता तो वह ऐसा काम क्यों करता ? और अपने विश्वासी मित्रों को किसलिए धोखा देता ?" पहला कहने लगा कि "उसने अपनी जानकारी में कभी किसी को धोखा नहीं दिया। सच पूछिए तो वह भी धोखे में आगया। वह विश्वास और लज्जा की मूर्ति ॐॐ।" दूसरा बात काट कर बोला "बस बस, अपनी विश्वास और लज्जा की मूर्ति को ढकी ही रहने दीजिए। ऐसे लोग ही जो विश्वासी हैं तो फिर विश्वासघाती कौन समझे जायंगे! अपने विश्वासी मित्रों के हजारों रुपये गटक कर गुलछर्रे उड़ाना भी क्या सज्जनों का काम है ? अपने घरू रोजगार के लिए वा परिवार की प्रसन्नता के लिए उन मित्रों को कि जो लखपती नहीं हैं रुपये की विपद् में ढकेल देना भी क्या पुण्य कर्म है ? कुछ दिनों में उनको जूतियाँ चटकाते हुए यहीं दिखा देंगे। ऐसे कृतघ्न कुमार्गियों का यही नियम होता है कि पहले तो वे राजदण्ड से डरकर अथवा किसी और कारण से मुंह छिपा लिया करते हैं पर पीछे उन्हें अपने अनुचित साहस पर इतना घमण्ड हो जाता है कि अपने पापपङ्किल मुख की झड़क दिखाते ज़रा भी नहीं लजाते। जब कुलस्त्रियाँ कुमार्ग-गामिनी होती हैं तो लजाती भी हैं और डरती भी हैं पर थोड़े दिनों में उनकी लाज यहाँ तक उठ जाती है कि सरे बाजार बैठकर अपने कलङ्कित मुख की चमक दिखाने में गौरव समझने लगती हैं। यही हाल यहाँ के बहुत से दूकानदारों का भी है। क्या तुम कलकत्ते के उन कोठीवालों की बात भूल गए जो काम फेल होने के समय लज्जित भी हुए थे, छिपे भी थे और कुछ दुःखित से भी दिखाई दिये थे पर अब नया फर्म खोलकर इतने अकड़ कर चलते हैं मानों वे वैसे ही पुश्तैनी साहूकार हैं और उनको धर्म्मतः किसी का कुछ देना ही नहीं है। आगे उन दोनों में ऐसी बातें हुई कि जिनका यहाँ प्रकाश होना व्यक्ति विशेष के लिए उत्तम नहीं है। उन बातों से मेरा हृदय विदीर्ण होगया और मैंने निश्चय कर लिया कि "अब प्राण विसर्जन करने में ही कल्याण है"। मैं इसी खयाल से उन लोगों का पीछा छोड़

सीधा गङ्गाजी पर चला आया और एक खाली नौका पर सवार हो अकेला मझ-धार में पहुँच गया। नाववालों को "उस घटना की कुछ भी खबर न थी जो अभी उनकी नावपर होने वाली थी।" वे मुझ से आठ आने पाकर खुश हो रहे थे और इस विचार से जल्दी जल्दी डांड़ चला रहे थे कि पार में जल्दी से पहुँचकर किसी दूसरे आसामी को तैय्यार करें। इस समय हवा के तेज होजाने से भागीरथी में तरङ्गें उठ रही थी और हमारी नौका मेरे चित्त की तरह डगमगा रही थी। मैंने इसी समय को प्राण विसर्जन करने के लिए उत्तम समझा।

पहले आत्महत्या को मैं महापाप समझता था और मुझे यह भी विश्वास था कि ऋणी पुरुषों का मरने पर भी सङ्कट से छुटकारा नहीं हो सकता पर इस समय विचारशक्ति के लोप हो जाने से मैं अपने कर्तव्य पर कुछ भी विचार न कर सका। भागीरथी में कूदने से प्रथम एक बार कलकत्ते की ओर लखा। दूर से वह घाट दिखाई दिया जहाँ मैं प्रतिदिन अनेक मित्रों सहित आया करता था। क्षणमात्र के लिए कई एक मूर्तियों का स्मरण हुआ जिनके बहुमूल्य स्नेह का मैं अनुत्तम पात्र था। परन्तु उनकी याद से मैं न तो अपने सोचे हुए काम से डगमगाया और न उनके लिए कुछ व्याकुल ही हुआ तथापि मेरे नेत्रों में जल भर आया और रोम खड़े हो गए और मैं यह कह कर कि "मा! गङ्गे! इस अभागे सन्तान को तुम्हारी गोद के बिना अब दूसरा ठिकाना नहीं है, जननी! धारण करो" जल में कूद पड़ा। क्षणमात्र में मैं तरङ्गों से विह्वल हो डूब गया और दम टूटने से पेट में पानी भर आया। कई गोते खाने पर मैंने यही समझ लिया कि इस नौ जवानी में ही आज तेरा दुनियाँ से नाम मिट गया। यह क्या खबर थी कि डूब जाने पर भी मैं बच जाऊँगा और मरने पर भी जी उठूँगा।

चौथी चिट्ठी

"रक्षन्ति पुण्यानि पुरा कृतानि"

"कानन भूधर बारि बयारि महाविष व्याधि दवा अरि घेरे।
सङ्कट कोटि जहाँ तुलसी सुत मातु पिता हित बन्धु न नेरे॥

राखिहैं राम कृपालु तहाँ हनुमान से सेवक हैं जेहिं केरे।
नाक रसातल भूतल में रघुनायक एक सहायक मेरे ॥

गो० तुलसीदास

ईश्वर की महिमा अपरम्पार है जो बात मनुष्य की कल्पना में भी नहीं आ सकती, उसको भगवान सहज ही में कर डालता है और मजा यह है कि सब कार्य्यों को स्वयं करते भी वह दयालु नाम के लिए आगे मनुष्यों ही को रखता है। जो नेत्र संसार का अन्तिम दृश्य देख कर गङ्गाजी के गर्भ में बंद हो चुके थे, जिनके खुलने की इस जीवन में कोई आशा ही न थी और देखने की शक्ति जिनसे एकदम तिरोहित हो गई थी ईश्वर की कृपा से वे नेत्र भी फिर से खुले।

आखें खुलने पर मैंने देखा कि एक सुन्दर सजे हुए कमरे में एक स्वच्छ पलंग पर मैं सोया हुआ हूँ और एक बंगाली युवा मेरे पास कुर्सी पर बैठा हुआ, मेरी ओर इस तरह देख रहा है मानों उसकी आशा सफल हो गई। उसकी हीरे की अंगूठी, कमीज के सुनहले बटनों को देख कर यही मालूम होता था कि वह किसी बड़े आदमी का आनन्द वर्द्धन है। पर यह जादू है कि स्वप्न है, लोक है कि परलोक है, मेरी समझ में कुछ भी नहीं आया। दो तीन बार आँखें खोल कर उसकी ओर देखा मुख परिचित सा दिखाई दिया पर यहनहीं जान सका कि वह कौन है और मेरे पास क्यों बैठ हुआ है। मुझको सन्देहाकुल देख कर युवा ने मेरा नाम लेकर कहा कि—"भाई! ❀❀ कहो, अब कैसे हो?" मैं अपना नाम सुन कर चौंक पड़ा, पहले दिन की घटना का ख्याल होते ही मूर्छा हो गई। कितनी देर तक मैं मूर्छित रहा सो नहीं कह सकता परन्तु जब मूर्छा दूर हो गई तो अपने पास एक तीसरे बूढ़े बंगाली को ओर देखा जो मेरी नाड़ी परीक्षा बड़े ध्यान से कर रहा था। थोड़ी देर पीछे युवा ने उससे पूछा "कविराज महाशय! दशा कुछ खराब तो नहीं है?" बूढ़े कविराज ने मेरे दहिने हाथ को अपने हाथ में थामे हुए ही उत्तर दिया—"नहीं, महाशय! खराब कुछ नहीं, अब वैसा ज्वर भी नहीं है, सन्निपात होने का भय भी नहीं है।"

"तो फिर महाशय ! बार बार मूर्छा क्यों होती है ?" युवा ने व्यग्रता से पूछा। कविराज को चुप देख कर उसने फिर कहा कि "कल परसों के समान अब प्रलाप तो नहीं रहा, परन्तु अब से पहले आज कई बार मूर्छा हो चुकी !" युवा के प्रश्न का उत्तर देने से पहले कविराज महाशय ने मेरे शरीर को कई जगह से छूकर और फिर एक शीशी दे कर कहा कि "भय की बात नहीं है, रात को जल की जगह इस अर्क को पिलाना; इससे नींद भी आवेगी और खुराक का काम भी निकल जायगा। बोध होता है कल नाड़ी शुद्ध हो जायगी अभी किञ्चित ज्वर बना है। अत्यन्त दुर्बलता के कारण मूर्छा होती है और इस दशा में तब तक परिवर्तन न होगा जब तक इनको यह मालूम न कर दिया जायगा कि ये एक निरापद स्थान में हैं। कुछ चेत होने पर आप इनको धैर्य्य और अपना परिचय दे दीजिएगा।" यह कह कर कविराज तो चले गए और युवा मेरी सेवा में प्रवृत्त हुआ।

कविराज की बातों से किसी विशेष बात का परिचय न मिलने पर भी मुझे यह मालूम हो गया कि मैं निरापद स्थान में हूँ। साथ ही कमरे में प्रसिद्ध प्रसिद्ध बंगाली सज्जनों के कई क़ीमती तैल-चित्र लगे हुए देख कर यह भी निश्चय हो गया कि वह पुलिस का कमरा नहीं है। मेरे जी में बार बार यही विचार होता था कि या तो यह सब स्वप्न है, या मेरे मृत आत्मा की अवशिष्ट आशा संसार का कोई कल्पित चित्र देख रहा है और यदि सचमुच मैं जीवित हूँ और यदि सचमुच यह स्वप्न नहीं, तो कलकत्ते के पुलिस कमिश्नर का यह कोई रमणीक स्थान होगा। मैं आत्महत्या के अपराध में पकड़ा जाकर यहाँ लाया गया हूँ पर अब मेरा वह खटका दूर हो गया; तौ भी कौतूहल निवृत्त नहीं हुआ।

जिस समय युवा अपने ख़ुशबूदार रेशमी रूमाल से मेरा मुँह पोंछने लगा, उस समय मैंने अपनी क्षीण आवाज़ से कहा कि "आप कौन हैं और मैं कहाँ हूँ ?" उसने प्रसन्नता के चिह्न प्रगट कर कहा "आप मेरे स्थान में हैं और मैं आपका मित्र हूँ, मेरे परमोपकारी भाई ! क्या तुम अपने लड़कपन के मित्र नगेन्द्रनाथ को भूल गए ?"

पाँचवी चिट्ठी

"अधोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते ।
उपर्य्युपरि पश्यन्तः सर्व एव दरिद्रति ॥"

एडीटर साहेब ! जैगोपाल ।

आज कई महीनों के बाद आपको पत्र लिखता हूँ। पहले मैंने विचारा था कि पन्द्रह दिनों में एकबार आपको पत्र लिखा करूँगा, परन्तु मनुष्यों के विचार संसार की घटना के अधीन है। जिस दिन मैंने पिछली चिट्ठी लिखी थी उसके दूसरे दिन ही जापान का रंग बदल गया। हमारे आक्रमणकारी वीरों के चलते हुए पैर एक दम थर्रा उठे! जनरल "नोगी" ने सूचना दी "नई सेना की सहायता बिना पोर्ट आर्थर का अधःपतन होना असम्भव है। हमारा एक अफसर शत्रुओं को भेद बतला रहा है।" उधर खबर मिली "बाल्टिक बेड़ा धावे के लिए आ रहा है और रूस के साथ यूरोप के कई कृतघ्न नरेश भीतर से मिल गए हैं।" साथ ही यह भी ख़बर पहुँची "रूसी सेना एक विलक्षण चाल से जापान पर आक्रमण करना चाहती है। रूस सेनापति कुरोपाटकिन उसी प्रकार का एक दृश्य दिखलाना चाहता है जैसा बोअर युद्ध में लार्ड राबर्ट ने दिखलाया था।"

इत्यादि भयानक खबरों के साथ ही चारों ओर "सावधान" "सावधान" के तार दौड़ने लगे। हम लोगों को और खबरों की उतनी परवाह न थी, जितनी इस बात की थी "हमारा एक अफ़सर शत्रुओं को भेद बतला रहा है"। कारण, घर के भेदी लङ्का ढाई ! इस ख़बर के साथ ही युद्ध का सब प्रोग्राम बदल गया। नोगी की सहायता के लिए नई सेना भेजी गई और दो लाख नई सेना राजधानी टोकियो में इसलिए तैय्यार की गई कि वह हुक्म पाते ही युद्ध के लिए फ़ौरन प्रस्थान करे। इसी सेना के एक दल के कमांड करने का भार मुझ पर हुआ। आप को यह सुनकर अचरज होगा, मेरे इस नए दल में सब योद्धा खाली विद्यालयों के छात्र थे जिनमें अधिकाँश की वय सोलह

वर्षों से अधिक न थी। ये लोग सोत्साह और सानुराग जन्मभूमि की पूजा के लिए अपने सिर को फूल की तरह हथेली पर रख कर अग्रसर हुए। उस दिन मुझे भारतवर्ष की प्रातःस्मरणीय भूमि चित्तौड़ की पुरानी बातें याद आईं। एक दिन चित्तौड़ में भी इसी प्रकार वीर-बालक मातृभूमि की सेवा के लिए तैय्यार हुए थे, एक दिन वहाँ की वीर नारियों ने भी आज की तरह अपने वीराङ्गजों को युद्ध के लिए बिदा किया था और एक दिन वहाँ के वीरों ने भी आज की तरह "स्वर्गद्वारमपावृतम्" का राग गाया था, भारत में एक वह भी दिन था और एक आज का भी दिन है!! ख़ैर, मेरे लिए तो आज भी सुख ही का दिन था। जिस जन्मदायिनी जननी को सन्तान के विसर्जन के समय कष्ट होता है, वह मेरे सन्निकट कहाँ थी? वेद विधि से जिस पुत्री का पाणिग्रहण किया था, उसका मैं स्वयं विसर्जन कर चुका!! मुझ बन्धुहीन प्रवासी के लिए कौन व्यग्रता प्रगट करता? इस देश में जिनके साथ प्रेम हो चुका है, जिन्होंने मुझे अपना समझ लिया है, वे सब स्वयं मेरे साथ थे! यही मेरे लिए विशेष आनन्द था। जब से यह युद्ध आरम्भ हुआ है, तब से सिर्फ़ एक ही दिन मुझे युद्ध में जाना पड़ा था। वह भी दिन में नहीं, रात में। स्थलयुद्ध में नहीं जलयुद्ध में! जिस दिन अभिमानी रूसाधिराज के रणपोत जलमग्न किए गए थे वह सब से पहला दिन ही मेरे इस बार के युद्ध का पहला दिन था। जापान के एक पुराने नियम और दैवज्ञ के कथनानुसार यह निश्चय हो चुका था कि शत्रुओं पर प्रथम आक्रमण दिन को नहीं रात्रि को किया जाय, वह भी पुरुषों के द्वारा नहीं, स्त्रियों के द्वारा! तोप के ऊपर सब से पहली बत्ती जिन के विजयशील हाथों से रक्खी गई थी, (वे किसी पुरुष के हाथ नहीं थे) वे हमारी मातृ-स्वरूपा, महामान्या, जापानराज की विजयलक्ष्मी के हाथ थे। इस दिन महामाया, सहस्रानना, सहस्रभुजा, रणचण्डी के रूप में सहस्र वीर नारियों ने युद्ध का शकुन किया था। उस दिन मुझे हमारे पूर्वजों के कण्ठहार "सप्तशती का" रत्न स्वरूप यह वाक्य याद आया "स्त्रियः समस्ता स्तव

देवि भेदा:—" हा! भारतवर्ष! हा! मारवाड़ी समाज! इन्हीं सर्व-शक्ति रूपा देवियों से धर्म्म-सङ्गीत, युद्ध-सङ्गीत, जातीय-सङ्गीत के बदले तू अब ऐसे समय में भी व्रीड़ा-उत्पादक, लज्जा विनाशक सीठने ही सुनता है! अस्तु, गुप्त रीति से शकुन और मङ्गलाचार करके स्त्रियों के साथ मुझे उसी रात को राजधानी में लौट कर आना पड़ा। तब से युद्ध में जाने की आज्ञा नहीं मिली।

आज अपना मनोरथ सिद्ध होता देख कर बड़ी प्रसन्नता हुई। प्रतिदिन आदेश की प्रतीक्षा होने लगी, युद्ध की उत्कण्ठा बढ़ती गई। यहाँ तक कि नवीन योद्धाओं के आग्रह से मुझे महामान्य प्रभुवर मिकाडो की सेवा में निवेदन करना पड़ा कि मुझे युद्ध में जाने का शीघ्र ही अवसर दिया जाय। परन्तु आज्ञा नहीं मिली। वहीं कुछ दिन पड़ाव में रहने का हुक्म हुआ। इधर परमात्मा की दया से लड़ाई का भी रुख बदला। वह देश शत्रु अफसर पकड़ा गया, और मारा भी गया। वीरवर नोगी का विजय हुआ। स्थल में भी हमारी फौज ने विजय पाया। बाल्टिक बेड़े के अफ़सर इस विजय-संवाद से मार्ग में ही हतारा हो गए। शत्रुओं के दल को जो घनघोर घटा छा रही थी, उससे जापान निर्मुक्त हुआ, परन्तु युद्ध की प्रचण्डता कम नहीं हुई है। आज तक लाखों जापानी वीरों का युद्ध के अग्नि में स्वाहा होगया और लाखों ही अकर्म्मण्य हो गए।

अभी हमारे प्रधान सेनापति एक मन्त्रणा के लिए राजधानी में आए थे। कहे देता हूँ कि रूस के साथ जापान की सन्धि अवश्यम्भावी है। किन्तु विजयी जापान युद्ध की क्षति दिल खोलकर पूरी तरह करेगा। सम्पूर्ण विजित देश और युद्ध के खर्चे के सिवा रूस की रेलवे लाइन भी हम लेंगे और मंचूरिया स्वतन्त्रता के साथ पञ्चायत के हाथ सुपुर्द करेंगे! अब भी सब शक्तियों के निकट हमारे विजय का अन्त और फल अनिश्चित है, परन्तु हम उसको प्राप्त कर चुके हैं। हमारे अफसरों के विचार में इस समय जापान को योरप की उस पालिसी का अधिक मुकाबला करना पड़ेगा जो युद्ध की अपेक्षा भी भयानक है

और जिसके कुचक्रपूर्ण उदर में महावीर नेपोलियन जैसे कितने ही सम्राट् समा चुके। किन्तु चिन्ता क्या है? शस्त्र पकड़ने के लिए जितना जापान का हाथ दृढ़ है उतना ही विचार करने के लिए उसका मस्तक परिष्कृत है। यह आशङ्का करनी व्यर्थ है कि जापान सन्धि के बाद अपनी हानि की शीघ्र ही पूर्ति न कर सकेगा, जापान के निकट वर्त्तमान हानि का गौरव लाघव उतना ही विचारणीय है जितना एक बढ़े हुए वृक्ष की कलम करने पर उसके मालिक की हानि लाभ का विचार किया जाय। यथा समय कलम करने पर जिस तरह वृक्ष दूना बढ़ता है, उसी तरह एक वीरदेश भी समय समय पर अपने वीर पुत्रों को युद्ध में भेज कर उनका अधिकता के साथ प्रसव करता है। चीन युद्ध के पीछे जापान जितना उन्नत हुआ था, उसकी अपेक्षा इस बार अधिक होगा। संसार का यह एक नियम है, जो देश अपने अभाव को जहाँ तक समझेगा वहीं तक वह उन्नति भी करेगा।

जिस दिन सशस्त्र हो कर हम लोग प्रभुवर मिकाडो के सामने से अभिवादन करते हुए निकले थे, उस दिन यही आशङ्का हो गई थी कि कलकत्ते के लोगों को अब मेरी शेष जीवनी पढ़ने का अवसर जाने मिलेगा, कि नहीं? भगवान ही जाने फिर जीते हुए "टोकियो में प्रवेश कर सकेंगे कि नहीं? परन्तु आज कल करते करते दो महीने और सात दिन हो गए, हम लोग राजधानी से पन्द्रह मील "उकामओ" के पड़ाव में पड़े हैं। पार्वती की तरह "न ययौ न तस्थौ" ठीक यही दशा है। हमारे छात्रवीर युद्ध में जाने के लिए बड़े व्याकुल हैं। पोर्ट आर्थर के विजय संवाद पर सरकारी तौर से विशेष आनन्द नहीं मनाया गया था। नहीं मनाने का कारण यह था कि अच्छे अच्छे जापानी वीरों का वहीं ढेर हो गया, जो भारी शोक का कारण था। तथापि हमारे दल ने उत्सव मनाया और एक स्वर हो कर जापान गवर्नमेंट से प्रार्थना की कि आज से उनकी मृत सन्तान, वीरचूड़ामणि नोगी के पुत्र कहलाने का गौरव दिया जाय!. प्रार्थना सहर्ष स्वीकार हुई और वीर जननी, वीर रमणी नोगी की पुत्री ने लिखा "युद्ध में पुत्र दान करने का

कितना बड़ा फल है, यह आज तुम लोगों ने प्रत्यक्ष दिखा दिया।"

परसों हमारा परिदर्शन करने के लिए प्रभुवर मिकाडो हमारे कैंप में आए थे आहा! जब उस तेजस्वी पुरुष ने हमारे दल को लक्ष्य कर के कहा "युवकगण! जापान का भविष्य अब तुम्हारे ऊपर ही निर्भर है। जापान विद्यार्थियों ही के कारण गणना के योग्य हुआ है और उन्हींका उसे प्रयोजन है तब हम लोगों के आनन्द की सीमा न रही! यहाँ की मैं किन किन बातों को लिखूँ? बहुत सी ऐसी बातें हैं, जिनका लिखना युद्ध नियम के बहिर्भूत हैं। यही इच्छा होती है कि यदि कोई ऐसा मन्त्र यन्त्र होता जिसके बल से मैं कलकत्ते के मारवाड़ियों को यहाँ का दृश्य दिखा सकता, तो बड़ा काम निकलता। उन्हें उड़ा कर यही ले आता और दिखाता कि एक जाति के पुनरुज्जीवन के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है वे सब यहाँ हैं और मारवाड़ी जाति के पास क्या है? बैर विरोध—और मिथ्या अहङ्कार!!

एक मेरे अफसर ने एक अंग्रेजी पत्र दिखलाया जो हिन्दुस्तान से एक हिन्दू परिवार ने हमारी दयाशीला महाराणी के पास भेजा था और जिसमें प्रार्थना की गई थी कि अमुक नाम का मनुष्य जापानी फौज में है, उसके बिना उसके परिवार की दुर्दशा हो रही है। उसकी जाति के लोग उसे आदर के साथ ग्रहण करने के लिए तैय्यार हैं, आप दया कर उसकी स्थिति का परिचय दें इत्यादि। यह पत्र इतना करुणापूर्ण था कि हमारी महाराणी को ऐसे समय में भी अनुसन्धान की आज्ञा देने के लिए बिवस कर दिया। मैंने अफ़सर से कहा मैं इस नाम के आदमी को नहीं जानता। जापान की सेना में ऐसा कायर और कृतघ्न कोई नहीं है जिसको ऐसे अवसर पर अपने परिवार की दुर्दशा पर इतनी दया हो। और फिर हिन्दुस्तान में ऐसी कौन सी जाति है, जो विलायत से लौटे हुओं का आदर करे! जिस जाति के बूढ़े पञ्च गङ्गाजली उठा कर झूठ बोल दें, देवता के सामने प्रतिज्ञा कर दो दिन पीछे उसे तोड़ दें और घर में रुपये रख कर दिवाला निकाल दें; उस जाति के लोगों का क्या विश्वास? हुजूर! भारतवर्ष में अब वे लोग नहीं हैं

जिनकी कथा आपने पुस्तकों में पढ़ी हैं। अफसर मेरी बात इतनी ही समझे कि मैं उस पुरुष को नहीं जानता और इसी में कुशल हुआ। पीछे मुझे भी खेद हुआ कि मैंने ऐसे तीव्र शब्द अपने पुराने देश के लोगों के विषय में क्यों कहे?

आपने जो हिन्दी के साप्ताहिक पत्रों का पुलिन्दा भेजा, वह मुझे अढ़ाई महीनों के बाद मिला। उससे हमारे देश की बहुत सी बातें विदित हुईं, परन्तु मेरे ओफिसरों ने इस कार्य्य को अवैध बतलाया है। जब तक युद्ध रहेगा, तब तक छान बीन के बिना कोई विदेशी पत्र सेना में नहीं आ सकता, और न कोई मंगा सकता।

अच्छा, अब चिट्ठी न लिखने का कारण तो आपको मालूम हो ही गया। अब मैं जीवन की कहानी आरम्भ करता हूँ। "सर्वे श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु"—

छठी चिट्ठी

"औरसं कृतसम्बन्धं तथा वंश-क्रमागतम्।
रक्षितं व्यसनेभ्यश्च मित्रं ज्ञेयंचतुर्विधम्॥"

महाभारत।

नगेन्द्रनाथ के कहने पर भी याद नहीं आया कि वे कौन हैं? मेरे साथ उनकी कहाँ जान पहचान हुई थी? और अब वे किस नाते से मुझे अपना परमोपकारी भाई तथा "लड़कपन का मित्र" बतलाते हैं। अचरज से उस मनोहर-मूर्ति की ओर चुपचाप देखने लगा। समझ में नहीं आता था कि उनकी बात का क्या उत्तर दिया जाय? जान पड़ता है, कि किसी दूसरे के धोखे से इन्होंने मेरी सेवा शुश्रूषा की है। यदि ऐसा ही होता, तो फिर मेरा नाम लेकर क्यों पुकारते? हो सकता है कि इनके मित्र का भी वही नाम हो, जिससे मैं पुकारा जाता हूँ। क्या एक नाम के और कुछ अनुहार के अनेक आदमी नहीं होते? अवश्य ऐसा ही है, अब मैं बहुत शीघ्र इस मकान से निकाला जाऊँगा। मेरा तभी तक यहाँ निवास है जब तक प्रश्न का उत्तर नहीं

दिया जाता है। जब मैं उक्त प्रकार के सङ्कल्प विकल्प कर रहा था तब उन्होंने नम्रता से फिर पूछा "क्या सचमुच आपने मुझे नहीं पहचाना?"

मैंने कहा, "महाशय! क्षमा करें। मैं झूठ बोल कर आप से सेवा कराना नहीं चाहता। मैंने आपको नहीं पहचाना। पहचानता भी कैसे? मुलाकात होती तब न? मालूम होता है, आपने धोखा खाया? किसी दूसरे के खयाल से मुझपर यह दया की है।"

नगेन्द्रनाथ ने शीघ्रता से उत्तर दिया—"हरगिज़ नहीं! मेरे माननीय भाई! हरगिज नहीं! धोखा मैंने नहीं खाया वरञ्च आप खा रहे हैं, क्या सात वर्ष पहले स्कूल में किसी बंगाली स्टूडेंट को आपने ५०), रुपैये नहीं दिये थे? क्या आपने एक मरते हुए भाई के प्राण नहीं बचाए थे?"

अब मुझे एक पुरानी बात का स्मरण हुआ और मैं नरेन्द्रनाथ के विस्मय-व्याकुल नेत्रों की ओर देखने लगा। यद्यपि चढ़ते वय के साथ साथ सात ही वर्ष में उनके चेहरे की आकृति और वाणी के स्वर में बहुत परिवर्तन हो गया था तो भी नेत्रों ने बता दिया कि नरेन्द्र ने नहीं, मैंने ही धोखा खाया है। अपनी भूल से लज्जित सा हो कर मैं बोल उठा कि हमारे स्कूल के "तमञ्चा" आप ही थे।

इस पर नरेन्द्रनाथ खूब हंसे। मैंने समझा कि मुझसे बड़ी बेअदबी हुई, जो इस नाम से उनको स्मरण किया। पर उन्होंने बड़े प्यार से कहा "हाँ भाई! मैं वही तमञ्चा हूँ जिसको स्कूल के सब लड़के इस नाम से खिजाया करते थे।"

मैं—"ओः! आप हैं! क्षमा कीजिएगा। मैंने फिर वही खिजानेवाली बात कह डाली। मेरे मुँह से वे शब्द असावधानता से निकल गए।"

नरेन्द्र—"क्या चिन्ता है? ये शब्द उस समय बुरे लगते थे पर बहुत दिनों के बाद इनकी दुर्लभता समझ में आई। अब कहाँ वह प्रेमपरायण मित्रों का समागम; और कहाँ वह सरलतापूर्ण हास्य विनोद!

मैं—अच्छा, परमात्मा ने आपके दर्शन तो कराए, मैंने तो भाई समझ लिया था कि आप संसार में नहीं रहे हैं।

नरेन्द्रनाथ कुछ लज्जित हो गए। इसका कारण यह था कि वे यद्यपि वय में मुझसे बड़े थे तथापि स्वभाव के कुछ चञ्चल थे। इसलिए स्कूल के लड़के उनको तमञ्चा कह कर खिझाते और वे चिढ़कर उन्हें गालियाँ देते। एक दिन वे अपने घर से ५०) रुपये चुराकर घुड़दौड़ में हार आए और पिता से डरकर मरने के लिए विष खाने लगे। ठीक समय पर मुझे यह मालूम हो गया था, इसीसे मैंने पचास रुपये दे कर उनकी जीवन रक्षा कर ली थी किन्तु उस दिन के बाद फिर न तो नरेन्द्रनाथ से समागम ही हुआ और न उनका कोई पत्र ही मिला। उनकी लज्जा का यही एक मुख्य कारण था। जो हो, कुछ देर सोच कर वह बोले—"आपका वैसा समझना ठीक ही है, पहले तो मेरे पास देने को रुपये न थे इसलिए मिलने में सङ्कोच रहा और पीछे मिलने में लज्जा आने लगी।"—नरेन्द्र ने इतनी बात कहकर सिर नीचा कर लिया। मैंने बात टालने के लिए अपनी आवश्यक बात पूछी "मैं आपके मकान में किस तरह पहुँचा?"

नरेन्द्र—हाँ, सुनिए, सब किस्सा सुनाता हूँ और आपसे पूछना भी चाहता हूँ। सात वर्ष पहले जब मैं स्कूल में पढ़ता था, मेरे पिता बहुत ही तंग हो गये थे, ऊपर से हम धनवान से जान पड़ते थे, पर भीतर का यह हाल हो गया था कि समय पर भात भी नहीं जुटता था। एक दिन ऋण के लिए मेरे पिता कई जगह घूमें परन्तु उनके सब धनवान मित्र तरह देगए। भाग्य के साथ ही सब का भाव बदल गया। ऐसा अन्नकष्ट देख कर मेरी स्नेहमयी जननी ने अपना शेष अलङ्कार भी बेचने पर जोर दिया जिसको मेरे पिता सुहाग का चिन्ह समझ कर अब तक बचाए हुए थे। अनन्योपाय होकर बड़े कष्ट से पिता उस अलङ्कार को बेचकर ५०) रुपये लाये। मैं चौगुना करने की अभिलाषा से उन्हें चुरा लाया और घुड़दौड़ में जाकर हार गया। सुना तो यह था कि वहाँ एक के चार होते हैं पर मेरे लिए उसका फल विपरीत हुआ। घबरा कर तब मैंने यही उचित समझा कि अब जिन्दगी का खातमा कर डालूं। अपनी आत्महत्या के कारणसहित, मां बाप को

शान्त करने के लिए एक प्रबोधपत्र लिखा और वह मेरे मरने से पहले नौकर की भूल से आपके हाथ में जा पहुँचा।

मैं—"यह सब पुराना किस्सा तो मुझे पहले मालूम है, यह सुनाओ कि मैं किस तरह आया ?"

नरेन्द्र—"हाँ यहाँ तक आपको मालूम ही है, मैंने सिलसिले के लिए उसका उल्लेख किया था, आपने दयापूर्वक रुपये दिये और मुझे बचाया। उन रुपयों की ऐसी कुछ बरकत हुई कि भाग्य पलटता ही देख पड़ा। थोड़े ही दिनों में हम धनवान होगए। सात लाख की सम्पत्ति छोड़ कर गत वर्ष पिता जी स्वर्ग को सिधार गये और मरते समय उपदेश देगए कि मैं जापान जाकर कारीगरी की विद्या अवश्य सीखूँ। कई दिनों से हमारे पार वाले बगीचे में चीन के पर्यटक मि० आचुया ठहरे हुए हैं जो हाल ही में जापान से आये हैं। मैं उनसे यह परामर्श कर कि आगामी आठ तारीख़ को उनके साथ जापान की यात्रा करूँगा, बगीचे से नाव में बैठा आरहा था कि अचानक आपकी चोटी मेरे नाव की पतवार में फँस गई। मेरे मल्लाहों ने आपको जीता समझ कर निकाल तो लिया पर मैं चिराग के चांदने में आपके चेहरे को देख कर भी बनावटी दाढ़ी के कारण नहीं पहचान सका। मैं नौका किनारे लगा कर जलपुलिस को सूचित करना ही चाहता था कि एक मल्लाह ने बनावटी दाढ़ी को अलग कर मुझे अचरज में डाल दिया। यद्यपि सात वर्षों में आपने मुझे नहीं देखा था तथापि मैं आपको कई बार देख चुका था। मुझे पहचानने में कुछ भी विलम्ब नहीं लगा और आपके बदन से गीले कपड़े उतरा कर अपने कपड़े उढ़ा दिये। कोट के पाकेट में आपकी पगड़ी देख कर मैंने समझ लिया कि वेष आपने जान बूझ कर बदला है पर उसका कारण समझ में नहीं आया। पुलिस को सूचना देने में भी उस समय कोई लाभ नहीं समझा और न आपके घर पर ख़बर करना ही मुनासिब जाना। बड़ी सावधानता से चुपचाप घर पर ले आया और आप से उऋण होने की भरपूर चेष्टा करने लगा। आज सबेरे ही आपके एक मित्र से भेंट हुई थी, उससे आपके जल में

डूब मरने की बात भी सुनी, पर यह नहीं कहा कि आप हमारे घर को पवित्र कर रहे हैं। यही सोचा जो कुछ कहा सुना जाय आपको आरोग्य करके और सब बातें पूछ ताछ करके ही कहा जाय! इसी विचार से सब भेद गुप्त रक्खा है। यहाँ तक कि मेरे घरवालों को भी आपके उद्धार की बात विदित नहीं है।" नरेन्द्रनाथ कह ही रहे थे कि एक आवाज़ के साथ कमरे के द्वार खुले और जिसको देख कर उनके चेहरे पर मुर्दनी सी छागई।

सातवीं चिट्ठी

"विसरत एकहु छन नहीं, दहत जात नित गात।
रहत याद परदेस महँ, जन्मभूमि की बात॥"

प्रणाम!

❀ ❀ ❀ ❀ क्षमा कीजिएगा। परिचय जान कर आनन्द हुआ। आपके सब प्रश्नों के उत्तर इस समय भी नहीं दिए जा सकते, दूसरे समय में सब का उत्तर दिया जायगा।

आपने पूछा "स्वामी रामतीर्थजी ने जापान में आकर क्या किया और उनका वहाँ वालों पर कैसा प्रभाव रहा?" इसका उत्तर यह है कि एक उद्देश्यहीन आत्माराम अवधूत जो कर सकता है, वह ही उन्होंने किया और जो भारतवर्ष का देशहितैषी सम्प्रदाय नहीं कर सकता वह भी उन्होंने करके दिखा दिया। उनकी आत्मनिष्ठा, अगाधविद्या और व्यवसायात्मिका बुद्धि देख कर यहाँ वालोंने उनके व्याख्यान चाव से सुने और जापान के राजर्षि मन्त्रिप्रवर वृद्ध "मार्किस हिरोबूमी ईटो" ने उनके आश्चर्य्य कारक भाषण को सुन कर कहा—"भारतवर्ष के युवक सन्यासी! तुम्हारे हृदयद्रावक भाषण में ही दैवीशक्ति का प्रवेश नहीं हुआ है; वरञ्च तुम्हारे शान्त दर्शन में भी, जिससे मेरे नेत्र तृप्त नहीं होते।" स्वामीजी के आगमन के समय जापान का लक्ष्य होनहार युद्ध का साधन सामग्री में था, और वे शीघ्र ही जाना चाहते थे। इसलिए विशेष कार्य्य नहीं हुआ तथापि "वेदान्त सोसायटी" और उसका अं-

ग्रेज़ी पाक्षिक पत्र उनके आगमन के स्थितिशील स्मारक हैं। "वेदान्त शान की गोशन" जिसके प्रेसीडेंट कौंट मुत्सुकता के उत्साही भतीजे मि० मारचू यामा हैं। वह भी इन्हींके शुभागमन से उत्पन्न हुए हैं। सम्राट मिकाडो ने उनके दर्शन कर भारतवर्ष का जो गौरव बढ़ाया वह भी कुछ साधारण नहीं है। कर्म्मशील जापान ब्रह्मविद्या से प्रेम रखता है पर वह उद्यमहीन भारत के समान उसके पीछे सन्यासी नहीं हो रहा है तथापि स्वामी रामतीर्थ जी ने भी भारतवर्ष की क्षीणप्राय ज्योति की जो यहाँ झलक दिखाई वह क्षीण होने पर भी मनोहर और श्लाध्य थी और लोगों ने आश्चर्य्य से उधर देखा।

आपने लिखा कि अखबारों में देखा गया था कि जापान की वर्ण-माला चीनी वर्णमाला के समान दुरूह और निकम्मी है, वहाँ की गवर्नमेंट किसी उपयुक्त वर्णमाला को ग्रहण करना चाहती है। यदि यह बात सत्य हो तो क्या आप कोई ऐसा यत्न नहीं कर सकते जिससे जापान भारतवर्ष के नागरी अक्षरों को अपने यहाँ जारी करदे?" सत्य है नागरी वर्णमाला के सामने जापानी वर्णमाला दुरूह और साथ ही निकम्मी भी है पर उच्चारण के लिहाज से उसके निकम्मेपन को लोग स्वीकार नहीं कर सकते। इस विषय का वादानुवाद "जापान मेल" "होशी शम्बोन" "मनेशी शम्बोन" आदि संवादपत्रों में चलता था। परिणाम यह हुआ कि इसका निर्णय करने के लिए एक कमेटी हुई जिसकी रिपोर्ट अभी तक प्रकाश नहीं की गई। मैंने चाव से सुना था माननीय बैरन शिबुसावा ने प्रस्ताव किया है कि यदि लिपि परिवर्तन करने में जापान को कुछ सुभीता हो तो वह नागराक्षरों को ही ग्रहण करे। परन्तु मुझे इस विषय का निर्णय करने के लिए अभी तक अवसर नहीं मिला। इस विषय में आपके उत्तेजनापूर्ण शब्दों ने मेरा ध्यान इस ओर आकर्षित किया है। मैं स्वीकार करता हूँ कि जापान और भारतवर्ष के युक्त भाग्योदय का भार इस योजना पर अधिकता से निर्भर है। इस विषय में निर्णय कर पीछे से लिखूँगा।

जापान की प्रजा में भारतवर्षीय विचार फैलाने के लिए कई एक मासिक पत्र हैं पर वे केवल विद्वानों के पास पहुँचने वाले विद्या सम्बन्धी पत्र हैं। साधारण रीति से "जापान मेल" ही इस विषय में उपयुक्त है और उसमें इस प्रकार के प्रभाव आदर के साथ ग्रहण किये जाँयगे।

❀ ❀ ❀ ❀

हाँ यहाँ कई विद्यालयों में हिन्दी भी पढ़ाई जाने लगी है, पर यह जापानी वोशिक भाषा है। इसका नमूना "रामायन ःसागिन" में देखिये जो आज की डाक से मिलेगा। जापानी भाषा यदि भारतवर्ष में पढ़ाई जाने लगे तो उससे भी उपकार हो सकता है।

❀ ❀ ❀ ❀

जापान का इतिहास सुमार्जित और सिलसिलेवार है किन्तु यहाँ का दर्शन भारतीय दर्शन के सामने कुछ नहीं है। जो है वह भी समालोचकों ने दूसरों के घर का कहा है।

❀ ❀ ❀ ❀

माननीय टोगो जलयुद्ध में कभी परास्त नहीं हो सकते। जापान को दृढ़ विश्वास है कि उसके दो क्षिप्रकर्मी सेनापति और उसका सहचर वर्ग रूसी बेड़े को चातुर्य के साथ सहज में नष्ट कर डालेगा, भले ही अखबारवाले कोलाहल करें कि बालटिक बेड़ा युद्ध का रंग बदल देगा परन्तु उन्हें विश्वास रखना चाहिये, जापान अपना काम रूस की तरह अहङ्कार के साथ करना नहीं चाहता, चुपके से करना अच्छा समझता है, जिसके फल को देख के लोग दंग हो जाँगे।

युद्ध की खबरों के लिए जैसे विलायत में नियम बने हुए हैं वैसे ही यहाँ भी हैं। यहाँ भी गवर्नमेंट की इच्छा के विरुद्ध कोई युद्ध का रहस्य प्रकाश नहीं कर सकता। देशशत्रु भेदियों को यहाँ भी प्राणदण्ड मिलता है।

लार्ड कर्जन की वक्तृता को यहाँ के पत्रों ने भी दिल्लगी उड़ाई है किन्तु जापान की स्वाधीन प्रजा लार्ड कर्जन की स्पीच का प्रतिवाद करके उन्हें गौरव देना नहीं चाहती और न इसकी आवश्यकता ही है कि जापान

और भारतवर्ष का राजनीतिक सम्बन्ध इस समय प्रगट किया जाय।

❀ ❀ ❀ ❀

रहने दीजिये इन बातों को, आगे की कथा सुनिये और अगले पत्र में इन बातों का उत्तर दीजिये—

१ कलकत्ते के प्रसिद्ध प्रसिद्ध वर्तमान मारवाड़ियों के फोटो मिल सकते हैं कि नहीं ?

२ अंग्रेजी अथवा हिन्दी में क्या कोई ऐसी पुस्तक बनी है जिसमें कलकत्ते के मारवाड़ियों की रहन सहन की आलोचना की गई हो ?

३ सीठणे बन्द हुए कि नहीं ? अन्य कुरीतयों की क्या दशा है ?

४ ❀ नेमाणी ❀ चोखाणी कौन हैं ?क्या पहले— और दूसरे हमारे ❀ के कुछ लगते हैं ?

५ ❀ पोद्दार ❀ गोयेनका ❀ जालाण ❀ किसाण की क्या दशा है ?

६ बाबू शिवप्रसादजी क्या अपने जातीय विद्यालय को स्थान दान कर यशस्वी होंगे ? अथवा यह सब अरण्यरोदन होगा ?

आठवीं चिट्ठी।

जो मनुष्य बराबर के कमरे से निकल कर आया था उसकी सूरत को देख कर मैं चकित होगया। पहले तो मुझे यही पता नहीं लगा कि वह स्त्री है या पुरुष। दूसरे उसने जो बात कही मेरी समझ में उसका एक अक्षर भी न आया। उसके मस्तक पर एक सफेद रुमाल बँध रहा था और स्त्रियों की तरह गुंथी हुई चोटी कमर के नीचे तक लटक रही थी। उसके मुंह पर दाढ़ो व मूछें न थी जिससे वह एक बुढ़िया स्त्री सी जान पड़ती थी परन्तु उसकी छाती पर स्त्री का कोई चिन्ह न था। उस विकट जीव को देख कर नरेन्द्रनाथ खड़ा हो गया और उसके इशारे के अनुसार उसके पोछे पीछे उसी कमरे में चला गया जिसमें से वह निकल कर आया था।

आध घंटे तक मैं अकेला पड़ा पड़ा सोचता रहा कि वह विकट

जीव कौन है और उसको देखकर नरेन्द्र के चेहरे पर मुर्दनी किस लिए छाई थी पर मेरी समझ में कुछ नहीं आया। तो भी मैंने एक प्रकार निश्चय कर लिया कि इसमें कोई न कोई भेद की बात जरूर है। इसके बाद जब नरेन्द्र आया तो उसका चेहरा चिन्तायुक्त दिखलाई दिया। मैंने चाहा कि उससे पूछा जाय कि उसके प्रफुल्ल चेहरे के मुरझाने का क्या कारण है ? परन्तु सभ्यता ने इस प्रकार के प्रश्न करने की इजाजत न दी। थोड़ी देर तक नरेन्द्र ने वहाँ बैठ कर मेरे स्वास्थ की व्यवस्था की और फिर नौकरों को सचेष्ट करके चला गया और जाते समय कह गया; "महाशय ! क्षमा करना, एक जरूरी कार्य्य के लिए जाता हूँ इच्छा तो न थी कि आपको छोड़ कर जाऊँ। कल दस बजे मिलूँगा। आशा है कि तब आप आज से भी अच्छे मिलेंगे ?"

इच्छा थी, कि नरेन्द्र की इस कृपा का धन्यवाद किया जाय पर उसकी शीघ्रता ने मुझे इस बात का अवसर नहीं दिया। वह खट खट करता झटपट कमरे के बाहर निकल गया।

रात को मैं अपने भविष्य की चिन्ता करता करता सो गया। सोचते विचारते देर होगई इसलिए खूब गहरी नींद आई। कोई दो बजे होंगे जब रात को एक विचित्र आवाज से मेरी नींद टूटी। मानों पास-वाले कमरे के द्वार को खोलकर किसी ने कहा "ओजी! थेम्ड्ाने बचाओ जी। इसके साथ ही ऐसा भी शब्द सुनाई दिया कि किसी ने उसका मुंह बन्द करके मानों उसे अन्दर की ओर ढकेल दिया हो। मैंने कर-वट लेकर उधर आंखें की तो कमरे के किवाड़ों को बन्द होते देखा। पर इसके पीछे वैसा कोई शब्द नहीं सुना तथापि ऐसा मालूम दिया कि जैसे कुछ भीतर ही भीतर घुसफुस हो रही है।

मैंने सोचा कि सच्चा दृश्य है कि स्वप्न ? पर सचाई का कोई कारण दिखलाई नहीं दिया। यही सिद्धान्त किया कि शरीर की कम-जोरी में ऐसे स्वप्नों का आना और बिना हुए दृश्यों का दिखाई देना कुछ विचित्र नहीं है। यदि इस विषय में पहले मैं वैद्य और डाकटरों की राय सुने हुए न होता तो आज की घटना को भूतलीला समझ

कर डर जाता। यद्यपि में डरा नहीं और न मैंने उसको सत्य ही समझा तथापि मेरे हृदय में कुछ गुदगुदी सो होगई। बीच बीच में उस कमरे की ओर देखता रहा जिससे नींद हवा हो गई।

ठीक दस बजे नरेन्द्रनाथ आया। उसने प्रफुल्ल मुखारविन्द से पूछा कहो "रात को नींद कैसी आई"? मैंने कहा "कुछ नहीं" उसने व्यग्रता से पूछा कि "क्यों? शरीर तो अच्छा है न? मैं बोला—"हां, शरीर तो ठीक ही है, पर कुछ स्वप्न खराब खराब आते रहे।" मैं कमरेवाली बात सुनाने ही को था पर बीच ही में नरेन्द्र कह उठा "ओ स्वप्न की क्या बात?" इससे चुप हो रहा। थोड़ी देर बाद नरेन्द्र कहने लगा—"महाशय! परसों मैं आपसे बिदा हो कर जापान जाऊंगा। आप कहें तो आपको घर पहुँचा दिया जाय, यहाँ रहें तो आपका घर ही है, सेवा सुश्रुषा की अलग व्यवस्था कर दी जाय?"

घर के नाम से मेरा सिर घूमने लगा। आखों के सामने अन्धेरा दिखाई दिया! मैं बोला—"नरेन्द्र! यदि मुझे ऐसी ही दशा में छोड़ कर जाने का विचार था तो भागीरथी से क्यों निकाल कर लाए थे? घर मेरा कहाँ है? वह होता तो जीते जी गङ्गाजी में डूबना क्यों पड़ा? इसमें सन्देह नहीं जो आदमी आत्महत्या करता है वह कायर है परन्तु जो दूसरे को मरने न देकर तड़पाता है, वह दयालु नहीं क्रूर है।"

"महोदय! मुझे क्रूर न कहिये, आज्ञा दीजिये क्या करूँ? जापान यात्रा नहीं रुक सकती और जो चाहें, सो हो सकता है।"

"दो ही बातें हैं, या तो आप मुझे भी अपने साथ ले चलें या मरने के लिए छोड़ दें। आप निर्धन मित्र की यात्रा का व्यय नहीं उठा सकते तो दूसरी बात बहुत सहज है।"

"मेरे प्यारे भाई! फिर वही बात, बीमार अदमी कमज़ोर होकर अपने ही लोगों पर वाक्यवाण वर्साने की बहादुरी दिखाया करते हैं। पर समझदार कभी उनकी परवाह नहीं करते। मेरा जो कुछ है वह तुम्हारा है, यात्रा का व्यय उठाना तो एक मामूली बात है। मुझे यह स्वीकार नहीं है कि आप इस प्रकार चुपके चुपके देशत्यागी होवें और

सामान्य बात के लिए अपनी जाति को खोवें ?"

"यदि यह स्वीकार नही है, तो दूसरी बात अवश्य होनहार है।"

"कभी नहीं, कभी नहीं, वैसे कायरपन का काम कभी कर्तव्य नहीं है।"

इस विषय में नरेन्द्रनाथ के साथ कई घंटों तक मेरा शास्त्रार्थ हुआ। मैंने अपनी हृदयविदारक रामकहानी सुना कर उसे समझा दिया कि यहाँ रहने से मेरे बचने की कोई आशा नहीं है। वह बेचारा पहले तो मेरे विचार से बहुत खिन्न हुआ, पीछे यह कह कर सम्मत हुआ अच्छा, मैं डाक्टर को बुलवाता हूँ। यदि उन्होंने समुद्र की हवा आपके स्वास्थ्य के अनुकूल बताई तो फिर मुझे आपको साथ ले चलने में कोई उजर नहीं।" उसी समय डाक्टर बुलाने को गाड़ी भेजी गई। आध घंटे के बाद वे आए। मैं डरा कि कहीं वह जाने के विरुद्ध सम्मति न दें पर विरुद्ध सम्मति देना तो दूर रहा वरञ्च उन्होंने ऐसी यात्रा का करना मेरे लिए आवश्यक बतलाया। नरेन्द्र ने प्रसन्न होकर कहा अब आप चलने के लिए तय्यार रहें परसों सबेरे ही यहाँ से चलना होगा। आपके लिए जो आवश्यक होगा उसको मैं संग्रह कर रखूँगा।

इस बीच में लिखने योग्य कोई बात नहीं हुई, खाली दूसरी रात को एक बार फिर उस कमरे से "झाने बचावो" का शब्द सुनाई दिया। आवाज किसी मारवाड़िन स्त्री के गले की मालूम दी। मैंने सोचा यह स्वप्न है, जिस अभागी स्त्री को छोड़ कर तूं देशत्यागी होता है, कदाचित् यह उसीके स्नेह की छायामूर्त्ति है। इस स्मृति से यद्यपि हृदय में वेदना होने लगी, तथापि दूसरी बातों में मन ऐसा उलझा कि अधिक देर तक उसका अनुभव नहीं कर सका। मेरे ये दोनों दिन इतनी उत्कण्ठा से कटे कि क्या कहूँ। मैं यही चाहता था किसी तरह चुपचाप जहाज में सवार हो जाऊँ। बड़े बाजारवाले मुझे देखने न पावैं। इसके सिवाय मेरा किसी बात की ओर ध्यान ही नहीं हुआ।

तीसरे रोज़ सबेरे ही गाड़ी आई, मैं यूरोपियन वेश कर सवार हुआ। आर्मिनियन घाट पर "डलहोजी" नामका सुन्दर स्टीमर खड़ा

था जिसमें मैं सवार हो लिया। रास्ते में मैंने कई परिचित मारवाड़ियों को देखा पर कोई मुझे पहचान न सका। स्टीमर में मैंने नरेन्द्र को नहीं देखा, पूछने पर मालूम हुआ कि वह दूसरे स्टीमर से "डायमंड हारबर" पहले इसलिए चला गया कि जहाज में सब यात्रा का सामान रखावे और सब जरूरी बातें ठीक कर रखे। जो हो स्टीमर में और आरोही न थे मेरे सवार होते ही वह चल पड़ा। जिस समय वह डायमंड हारबर पहुंचा चार बज चुके थे। यद्यपि अभी जहाज के छूटने में कई घंटों की देरी थी, तथापि नरेन्द्र की व्यवस्था के अनुसार मुझे उसी समय में सवार हो जाना पड़ा। हमारे जहाज का नाम विक्टोरिया था।"



यक्ष युधिष्ठिर संवाद

एक दिन मैंने अफीम का नशा कुछ ज्यादा चढ़ा लिया, इससे चेतना में कुछ विलक्षण विकार उत्पन्न हुए। यह सायंकाल की बात है। सबेरे ही मैंने महाभारत का पाठ किया था, इससे उसी की कई बातें उस समय सिर में घूम रही थी। नशे की तरङ्ग में मैंने देखा यक्ष और युधिष्ठिर मिलकर बातें कर रहे हैं। परन्तु युधिष्ठिर को देखते ही कुछ सन्देह हुआ कि यह वेश और देह कुछ देखा हुआ है। सिर-पर लंबे घुंघराले बाल, उन पर एल्वर्ट फेशन की टेढ़ी माँग अधरोष्ठ पर मुलायम हंसी, विलायती शर्ट, काली किनार की विलायती धोती, हाथ में एक बहुत पतला बेत और मुँह में एक धूमोद्गारी वर्त्तिका—यही उसका शृङ्गार था। पहले तो मुझे अपने नेत्रों का विश्वाश नहीं हो सका परन्तु पीछे प्रत्नतत्व की शरण लेकर स्थिर किया कि कलि के प्रारम्भ के जीव युधिष्ठिर ने जो युगोचित साज पहरा, इसमें क्या विलक्षणता है?

यक्ष को कहते सुना मुझे आपसे दो चार प्रश्न पूछने हैं।

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया पूछिए, मैं उनका यथाज्ञान उत्तर दूँगा। किन्तु जल्दी पूछिये और संक्षेप से, क्योंकि मुझे ईवनिङ् वाक को जाना है।

युधिष्ठिर म्लेच्छभाषा में सुपण्डित थे ही।

यक्ष पूछने लगा—आदित्य को कौन उन्नत करता है? कौन उसके चतुर्दिक भ्रमण करते हैं? कौन उसे अस्तमित करता है? और वह काहे में प्रतिष्ठित है?

मालूम हुआ, युधिष्ठिर बड़े रसिक थे। उन्होंने उत्तर दिया विज्ञान ही आदित्य को उन्नत करता है। क्योंकि पहले यह विश्वास था कि वह दफ्तर के बाबू की तरह पृथ्वी के आफिस में प्रातःकाल से सायंकाल

पर्य्यन्त पच मरता है' परन्तु अब विज्ञान की सहायता से स्थिर हो गया है कि आदित्य मुंशी नहीं है परन्तु दफतर का बड़ा साहब है, वही सब को अपने चौतरफ घुमाया करता है। ग्रह ही उसके चौतरफ भ्रमण करते हैं। पृथ्वी की गति और छाया ही उसे अस्त करती है। वह महापुण्य में प्रतिष्ठित है।

यक्ष बोला—पृथ्वी की अपेक्षा गुरुतर क्या है? आकाश की अपेक्षा उच्चतर क्या है? वायु की अपेक्षा शीघ्रगामी क्या है? और किसकी संख्या तृण से भी ज्यादा है?

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—स्त्री पृथ्वी की अपेक्षा गुरुतर है और साला आकाश से भी उच्चतर है। विद्युत्तरङ्ग वायु की अपेक्षा भी शीघ्रगामी है और हिन्दुस्तान के शत्रु तृण की अपेक्षा भी बहुतर हैं।

यक्ष—गृहवासी का मित्र कौन है? प्रवासी का मित्र कौन? आतुर का मित्र कौन और मुमूर्षु का मित्र कौन?

युधिष्ठिर—गृहवासी का मित्र स्त्री। प्रवासी का मित्र डाक का चपरासी, आतुर का मित्र डाक्टर और मुमूर्षु का मित्र यम है।

यक्ष—किसके हृदय नहीं है और कौन चीज बहुत शीघ्र बढ़ती है?

युधिष्ठिर—अंग्रेजों के हृदय नहीं, क्योंकि वे मृतकल्प भारतवर्ष के हृत्पिण्ड को जोर से बूटों के नीचे पीसते हैं; इण्डिया गवर्नमेंट का ऋण बहुत शीघ्र बढ़ता है। दरिद्र की कन्याओं की संख्या और पुत्रवान पिता की वर का मूल्य लेने की इच्छा बहुत बढ़ती दिखाई देती है।

यक्ष बोला, धर्म का चरम स्थान क्या है? यश का चरम स्थान क्या है? स्वर्ग और सुख का आश्रय क्या है?

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया धर्म का चरम स्थान गृहिणी का सन्तोष है, यश का चरम स्थान "पैट्रियट" नाम से परिचित होना है। स्वर्ग और सुख का एक मात्र आश्रय स्वदेश के लिए प्राणपात करना ही है।

यक्ष—उपजीविका और प्रधान आश्रय क्या?

युधिष्ठिर—दास्य और भिक्षा ही भारतवासियों की प्रधान उपजीविका है। विदेशी राजा ही उनका आश्रय है।

यक्ष—धन्यों में श्रेष्ठ क्या ? धनों में श्रेष्ठ कौन सा ? लाभों में श्रेष्ठ क्या ? और सुखों में श्रेष्ठ क्या ?

युधिष्ठिर—धन्यों में श्रेष्ठ अंगरेज़, धनों में श्रेष्ठ स्वाधीनता, लाभों में श्रेष्ठ अंगरेज़ों का बूट वाञ्छित श्रीचरणारविन्द और सुखों में श्रेष्ठ दुर्भिक्ष में प्राणत्याग मानो।

यक्ष—धर्मों में प्रधान क्या है ? कौन सा धर्म सर्वदा बलवान् है और किस के साथ सन्धि करने से नहीं टूटती ?

युधिष्ठिर—धर्मों में श्रेष्ठ अंगरेज़ों की सेवा है, यही धर्म सर्वदा बलवान् है। दुर्बल के साथ सन्धि करने से कभी नहीं टूटती, जैसे भारतवर्षी राजाओं के साथ अंगरेज़ों की सन्धि।

यक्ष—ब्राह्मण, नट, नर्तक, भृत्य और राजा; इन्हें दान देना चाहिए वा नहीं ?

युधिष्ठिर—धर्मशास्त्र के अनुसार विलायतयात्रा का अनुमोदन करने को ब्राह्मणों को, ठट्टा करने को नट और नर्तकों को, अपनी प्रशंसा फैलाने को भृत्य को और नाम के पीछे अक्षरमाला लगवाने को राजा को दान देना आवश्यक है।

यक्ष—लोग किससे आवृत है, और किससे अप्रकाशित रहते हैं ? और क्यों वे स्वर्ग जाने में असमर्थ हैं ?

युधिष्ठिर—कपड़े से लोग आवृत है और अन्धकार से अप्रकाशित रहते हैं। आज पर्य्यन्त किसी कोलंबस ने स्वर्ग नामक किसी देश का आविष्कार नहीं किया, और किसी रावण ने उसकी सीढ़ी तैयार नहीं की, इससे लोग स्वर्ग पहुँचने में असमर्थ हैं।

यक्ष बोला—जल क्या होता है ?

युधिष्ठिर—एक भाग समज़ान और दो भाग उद्जान का जो रासायनिक सम्मिलन है वही जल है। संक्षेप से वही HO कहा जाता है।

यक्ष—दम, क्षमा और लज्जा के क्या लक्षण हैं ?

युधिष्ठिर—"निरीह शान्त, निरस्त्र प्रजा को विद्रोही सिद्ध करना, साहबों से ताड़ित हो कर भी उनसे कुछ न कहना और मानसिक

शालीनता न होने पर भी बाहरी आडम्बर करना, अर्थात् अश्लील सीठने गाते हुए भी डेढ़ हाथ का घूंघट काढ़ना यही दम, क्षमा और लज्जा के लक्षण हैं।

यक्ष—दान और ज्ञान के लक्षण क्या हैं ?

युधिष्ठिर—कुछ देकर अखबारों में चौगुना छपवाना या जहाँ सरकार से राय बहादुरी मिलती हो वहीं देना, यह तो दान हुआ। विलायती पण्डितों की पुस्तकों की पूछे बेपूछे चोरी करके मासिक पुस्तकों में लेख देना यही ज्ञान का लक्षण है।

यक्ष—कौन शत्रु दुर्जय शत्रु है ? कौन व्याधि अनन्त है ? कौन से लोग साधु हैं और कौन से असाधु हैं ?

युधिष्ठिर—प्रेम ही दुर्जय शत्रु है, या मारवाड़ियों में अज्ञान, स्त्रियों का मान और भारतवर्ष का दुर्भिक्ष अनन्त है। जो हमारी प्रशंसा करें वे साधु और जो हमसे धन माँगे वे ही असाधु हैं।

यक्ष—पण्डित कौन है ? मूर्ख कौन है ? नास्तिक कौन है ?

युधिष्ठिर—पण्डित अंगरेज़ हैं। भारतवासी मूर्ख हैं। तीस करोड़ हो कर भी हज़ारों वर्षों से परपदलेही हैं। वे ही नास्तिक हुए, क्योंकि निश्चेष्ट होने से उनके न यह लोक है और न परलोक है।

यक्ष—हे मतिमन् ! किस कार्य के करने से अक्षय नरक में जाना होता है शीघ्र कहो।

युधिष्ठिर—जो धनी हो कर भी स्वदेश हित में तो बद्धमुष्टि रहते हैं, परन्तु सरकार की तरफ से चंदे की फर्द खुलते ही सर्वस्व देने को तैयार हो जाते हैं, वे ही अक्षय नरक में जाते हैं।

यक्ष—प्रिय वचन कहने से क्या लाभ होता है ? विवेचना पूर्वक कार्य करने से क्या लाभ होता है ? बहुत मित्र होने से क्या लाभ होता है और धर्म में अनुरक्त रहने से क्या लाभ होता है ?

युधिष्ठिर—प्रिय कहने से घृणार्ह होना पड़ता है, लोग ऐसे आदमियों को खुशामदी समझते हैं। विवेचना करते करते काम का सुयोग

हाथ से फिसल जाता है। बहुमित्रों वाले मनुष्य का अर्थनाश होता है और धर्मानुरागी मनुष्य भण्ड कहलाता है।

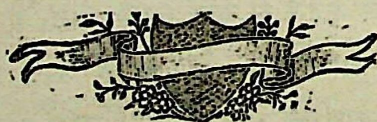
यक्ष—सुखी कौन है ? आश्चर्य क्या है ? पथ कौन सा है ? वार्ता क्या है ? इन चार प्रश्नों का उत्तर दे दोगे तो मैं तुमारे ईवनिङ्ग् वाक में बाधा नहीं दूँगा।

युधिष्ठिर—वधू द्वितीय पुरुष ही सुखी है। शूद्र जाति बहत्तर जाती का नाक मरोड डालती है और केवल आँख चमकाने से ही उसके हृत्कम्प पैदा कर देती है इससे बड़ा आश्चर्य और क्या हो सकता है ? रेल ही सुन्दर पथ है, दुर्भिक्ष और तिल्ली कटना यही भारतवासियों की रोज की वार्ता है और वैज्ञानिकों के लिए आकाश तरङ्ग ही वार्ता है।

यक्ष—हे बुधिमन् ! आपने मेरे सब प्रश्नों का उत्तर दिया है, अब पुरुष कौन है और सब में धनिक कौन है यह निरूपण करें।

युधिष्ठिर—जापान ही पुरुष है और अमेरिका के राकफेलर साहब ही सर्वापेक्षा धनी हैं।

अब मुझसे सहा न गया मारे क्रोध के युधिष्ठिर का कान पकड़ने को हाथ बढ़ाया, कि अचानक खटिया पर जोर से हाथ पटकने से आँख खुल गई। देखा कि यह स्वप्न न था, मेरे एक प्रिय मित्र पास बैठे बैठे हँस कर कह रहे थे कहो, तुम्हारे प्रश्नों का ठीक उत्तर दिया न ? अब चलो टहलने चलें। मुझे, इस प्रश्नोत्तर की चिन्ता में से, मित्र महाशय घसीट कर ले चले।*



* 'मौरवी' के एक लेख का अनुवाद।

बड़ा बाजार

स्थान, मि० —— का बंगला।

(साहब और दो मारवाड़ी)

साहब—वैल बाबू टुम लोग बंगाली से बाट करटा ?

१—मारवाड़ी—नहीं हजूर सब झूठा बात है।

साहब—आयू रास्कल ! हमने सुना टुम जरूर करटा ।

२—मारवाड़ी—दुहाई ! हजूर, कई बंगाली बाबू हमारै कनै आया था। हम बोला तुम "सूद खोर" हो। इंग्रेज हमारे मा बाप हैं। उन्हींके दिए दिन हैं।

साहब—आगे बोलो क्या हुआ ?

२—मारवाड़ी—बै बोल्या म्हानै मदत द्यो।

साहब—(गुस्से होकर) टुमने मडट डिया ?

मारवाड़ी—(डरकर) नहीं सरकार ! बैही बखत उन्हांने घर से निकास दिया।

साहब—ओ ! बरा बहादुरी का बाट किया। टुमारी हम बरे साहब से शिपारिस करेगा।

१—मारवाड़ी—सरकार माई बाप ! इबके हजूर मारवाड़ियाँ ने खिताब मिलैगा ?

साहब—खिटाब ! मिलने सकटा। राजा शिवबकस् बागला ने टीस हजार गोरू के हस्पिटल में डिया ठा। टुम डेगा ? डेने से सब होने सकटा।

२—मारवाड़ी—हजूर ! इब के लुकसाण ज्यादा हुयो ओर पैदावा र कमती हुई।

साहब—सो हम नहीं पूचटा। हम बोलटा डेने सकटा या नहीं ?

१—मारवाड़ी—जो सरकार की मरजी।

सोहब—(अंग्रेजी अखबार पढ़ कर) ओयू खराब आडमी। टुम बोला मारवाड़ी बेंगाली का बाट नहीं सुनटा ? लेकिन डेको बेंगाली लिकटा है टुम उनकी मीटिंग में जाटा !

१—मारवाड़ी—साहब ! अच्छा आदमी कोई नहीं जाता, लड़का लोग जाता है।

साहब—लरका लोग ! ओः पहले टुम बोला कोई नहीं जाटा सब जूटा वाट हैं अब बोला लरका लोग जाटा ! डो बाट बोलटा लरका लोग मीटिंग की बाट कबी नहीं जानने सक्टा।

२—मारवाड़ी—हजूर ! साला इसा जाणहार हैं सब कुछ जाणै हैं।

साहब—टुम मना करने नहीं सकटा।

१—मारवाड़ी—हजूर ! इस बात में कैणो बै आपणै बाप को भी कोनी मानै।

साहब—टुम उनको कैसा समझटा ?

मारवाड़ी—महा खराब, कुलकुलङ्की। हजूर हम वड़ा आदमी तो इब बङ्गालियाँ की गलियाँ ही माँ कोनी जावाँ। कमीणा लोगों की कव्हां कोनी।

साहब—डेको, जो एस. एन. बनरजी की मिटिंग में अपने मुलक का बाट सुनने जाटा वो सब चोटा आडमी ओर टुम बरा ! (खफा होकर) जाओ० इसी डम चले जाओ।

दोनों मारवाड़ी—हजूर ! इतणी खपगी कैय्यां हुई ?

साहब—बस अब जाडा मट बोलो !

दोनों—सरकार कुछ तो बताओ ?

साहब—बैरा ! बैरा !! डोनों बाबू को बाहर जाके चोड़ो (खानसामा आता है और बाबुओं को बाहर ले जाता है)

दूसरा दृश्य

स्थान—लालडिग्गी।

पहला—(चिन्ता करके) रुपैया तो इब देणाही पड़सी० साहेब जद अपड़ मूंसे कै चुक्या जैणा रुपैया तो लाग चुक्या।

दूसरा—हाँ साब ! रुपैया लागणैमां इब के सक रह्यो ? इतणा बड़ा इंगरेज को कैणो कंण मेट सकै ?

पहला—पण, साब कफा कैयां हुयो, यो बेरो कोनी पट्यो ?

दूसरा—यो थानै इब बी कोनी माल्यम हुयो। बा ही छोरयां आली वात पर। ❀❀ आज काल का छोरा बड़ा जाणहार हैं। मटा बंगालियों की देखा देखी इंग्रेजों की कूट कढावें हैं और लिकचर देणां सीखैं हैं !!

पहला—थे बिन्हा को कोई उपाव कोनी कर सको के ? ऐयां तो बैह्मानै सै जगां सूंधक्का लगवा देसी।

दूसरा—ईमां के सक है, पण ह्मारो के चारो है। ❀❀ इसा चांदड़ा हैं कैणै सूं दूणा फिंगरेंगा। बोलो मत० थोड़ा दिनां मां बंगालीडा रो भीख कर बैठ जासी० जंणा ये आप ही रैज्यासी०

पहला—ठीक है, साब तो यूं समझ्या बैठ्या है के बड़ाबाजार मां ह्मारै बिना पत्ती ही कोनी हालै। बीन्हांनै यो कोनी बेरा अठयै का घणाही जलोकडा आदमी ह्मासू ही खींच राखैं हैं।

दूसरा—खैर जी सब ठीक हो ज्यासी। हां, ह्मैं सुण्यो हैं थे भूखा लोगा खातर देसमां सदाबरत भी खोल्यो है ? और गोशालाने जमीन लेदी हैं ?

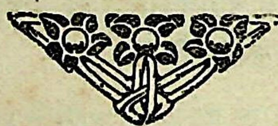
पहला—थे तो इसी ही सुण्या करो हो। भलो, देस का भूखा लोगां को और गोसाला को पुरी की साहूकार हो सकै है ? यो तो राजा लोगां को काम है। पहलां ह्मबी मनसूबी कियो थी,

पण इब साब कैंसो सो करणो पड़सी । ईमां नाम को नाम होसी और धरम को धरम ।

दूसर—पणजी ! सुण्यो है, इब इंगरेज बी स्याणया होग्या हैं । रुपैया भी ले लेवें हैं और खिताबबी कोना देवें ।

पहला—(घबरा कर) जो इसी बात हुयो तो मटा चौरस्ते वाला खि-जावैंगा ।

(दोनों जाते हैं)



नोट—मिश्र जी की सात आख्यायिकाएं पृथक पुस्तकाकार छापी जा चुकी हैं । वे इस ग्रन्थ में नहीं दी गयीं ।

परिशिष्ट-खण्ड

विविध

होली

किसी समय हिन्दुओं का जीवन आनन्दमय था। इनके बारहों महीने आनन्द से गुजरते थे। आठ पहर चौंसठ घड़ी आनन्द से कटती थी। चैत्र से फाल्गुन तक बराबर उत्सव हुआ करते। चौबीस अवतारों की जन्मतिथियों पर ऐसा उत्सव होता कि देखनेवाले वर्ष दिन तक याद किया करते, ऐसा मनहूस महीना एक भी न था कि जिसमें किसी न किसी प्रकार का उत्सव वा त्योहार न होता हो। तात्पर्य्य यह कि पूर्व्वजों ने शोक और दुःख को कभी कुछ समझा ही नहीं; समझा केवल आनन्द को; क्योंकि वे जानते थे कि शोक और दुःख में फँसना अज्ञानियों का काम है। आत्मा आनन्द स्वरूप और अजर अमर है।

इतिहासवेत्ता इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि "मुहर्रम" के समय 'करबला' के मैदान में मुसलमानों के यहाँ जो कुछ शोचनीय व्यापार हो चुका है, उससे कहीं बढ़ कर हिन्दुओं के यहाँ 'प्रभास' और 'कुरुक्षेत्र' में घटना घट चुकी है। भगवान् यदुनाथ की उपस्थिति में उनके प्यारे यदुवंशी 'जलंदेही जलंदेही' पुकारते वैकुण्ठ में पधारे थे और सहस्रों शस्त्रधारी शिष्यों के देखते देखते समाधि में बैठे हुए वृद्ध ब्राह्मण गुरुदेव द्रोणाचार्य्य का पूजनीय सिर शस्त्र से काटा गया था! कहिये यह घटना करबला से किस बात में कम थी? विचार कर देखा जाय तो 'प्रभास' और 'कुरुक्षेत्र' हर एक अंश में बढ़ा चढ़ा है! फिर क्या कारण है कि मुसलमानों की तरह उस शोकसंयुक्त घटना की हमारे यहाँ यादगार नहीं? इसका कारण वही है जो हम ऊपर लिख चुके हैं, कि 'शोक और दुःख में फँसना अज्ञानियों का काम है'।

हमारे पूर्व्वजों ने ऐसी बात की यादगार स्थापन करनी उचित नहीं समझी, जिससे हाहाकार की वृद्धि हो और एक वंश दूसरे वंश को

अपना शत्रु समझे। वरन् इस प्रकार के स्मारक नियत किये जिससे परस्पर के कलह, ईर्ष्या, द्वेष, समूल नष्ट हों और एकता, मित्रता तथा सुजनता का प्रचार हो। वे शोक दुःख को अज्ञानमूलक समझते थे। सब प्राणियों में एक आत्मतत्व का चिन्तन करते थे। न उन्हें कभी शोक सताता था और न कभी मोह घेरता था। वे जो कुछ करते थे कर्त्तव्य और धर्म्म समझ कर करते थे, शोक मोह से नहीं। जो एक आत्मा को सर्वत्र देखता है उसके शोक मोह क्या चीज़ है? निदान उन्होंने उत्सव और त्योहारों की रचना रच कर शोक को घटाया और आनन्द को बढ़ाया। एक एक उत्सव और त्योहार के आमोद प्रमोद में धर्म्म सम्बन्धी और नीति सम्बन्धी ऐसे ऐसे गूढ़ तत्व रख छोड़े, जिनसे हिन्दू समाज की निरन्तर पुष्टि होती रहे और जिनका मूर्खों को ज्ञान न होने पर भी फल अवश्य मिलता रहे। पर अब देखते हैं कि लोग अपनी ना समझी से उन सामाजिक उत्सवों की शोभा घटा रहे हैं और वे बहुत कुछ घटा भी चुके हैं। इतना ही नहीं, उन आनन्द बढ़ाने वाले उत्सवों का नाम तक मेंटना चाहते हैं। इनमें एक वह असभ्य दल है जो उत्सव में अपने पैशाचिक भाव को मिला कर पूर्व्वजों की बदनामी का कारण हो रहा है। दूसरा वह सभ्य दल है जो अपनी रोनी सूरत पर गुलाल तक लगवाना पसन्द नहीं करता। मानों पहला हिरण्याक्ष का दल है और दूसरा हिरण्यकशिपु का! आज हम अपने लेख में यह दिखलाया चाहते हैं कि हमारे उत्सवों का कोई अपवित्र भाव नहीं है। यदि कहीं किसी को कुछ दिखलाई भी देता है तो वह उसकी दुर्व्वासना वा नासमझी का दोष है, हमारे उत्सव का नहीं।

यों तो हमारे उत्सव वा त्योहार अनगिनत हैं, तथापि उनमें चार मुख्य हैं। एक श्रावणी (सलोनो) दूसरा दशहरा, तीसरो दीपमालिका (दिवाली) और चौथी होलिका वा होली है। इनमें विशेष कर श्रावणी ब्राह्मणों का, दशहरा क्षत्रियों का, दीपमालिका वैश्यों का और होलिका शूद्रों का त्योहार वा वार्षिक उत्सव है। जिस वर्ण का उत्सव होता है, उसमें उसीके गुण की प्रधानता होती है। एक वर्ण के उत्सव में दूसरे

वर्णवालों का सहयोग देना यह प्राचीन समय की सभ्यता और मेल मिलाप का उत्तम उदाहरण है। ये चारों उत्सव चारों वर्णों के खाली त्योहार ही नहीं हैं, अपने अपने गृह्योक्त नैमित्तिक अनुष्ठान करने के निर्दिष्ट दिन भी हैं। सन्ध्यादि नित्य कर्म्म के परित्याग में जिस प्रकार मनुष्य को प्रत्यवाय (पाप) लगता है, उसी प्रकार नैमित्तिक कर्म्म के त्याग से।

हमारा विचार था कि, हम क्रमशः चारों त्योहरों की आलोचना कर, उनकी उत्तमता अपने पाठकों को दिखायें। किन्तु हमारे सामने "होली" का उत्सव उपस्थित है। उपस्थित विषय का परित्याग कर, श्रावणी और दशहरा आदि के अनुपस्थित उत्सवों की समालोचना करना क्रम सङ्गत होने पर भी युक्तिसङ्गत नहीं है। इसलिए इसी उत्सव के विषय में आज हमारा कुछ निवेदन है।

जानना चाहिये कि हिन्दुओं के त्योहार दो प्रकार के होते हैं। एक वे जिनमें और दिनों की अपेक्षा अच्छा खाना पीना, गाना बजाना और केवल आमोद प्रमोद करना ही बड़ी बात समझी गई है। दूसरे वे हैं जिनमें शास्त्रोक्त कर्म्म (धर्म्म भाव) की प्रधानता है और आमोद प्रमोद गौण हैं। ये उत्सव किसी न किसी निमित्त को लेकर होते हैं, इसी कारण इनका नाम 'नैमित्तिक' है और प्रत्येक वर्ष में होते हैं इसलिये इन्हे 'वार्षिक' कहा जाता है। गृह्यसूत्रों की विभिन्नता और देश-भेद के कारण एक ही त्योहार उत्सव नाना प्रकार से हुआ करते हैं।

जिस प्रकार हमारा शरीर वात, पित्त और कफ, इन तीनों से बना हुआ है, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड की हर एक वस्तु सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण से मिली हुई है। जो वस्तु उत्पाद्य है अर्थात उत्पन्न होती है अवश्य वह सत्वादिक तीनों गुणों की मिली हुई रचना है। जो सात्विक वस्तु है उसमें भी कुछ न कुछ तमोगुण का अंश अवश्य है और जो तामसिक है उसमें सत्वगुण का। इस कारण तीनों गुण एक दूसरे के सहारे हैं। एक के नाश से तीनों का नाश होता है और एक की उत्पत्ति से तीनों की उत्पत्ति। अब यदि किसी वस्तु में

रजोगुण वा तमोगुण की स्थिति है तो वह बनाने वाले का अपराध नहीं है। उसका अपराध तब होता जब संसार में कोई ऐसा तरीका होता जिससे शुद्ध सत्व गुण की कोई वस्तु बन सकती, जब ऐसा नहीं है तब तमोगुण का होना दुःख का हेतु नहीं है। दुःख का कारण है सत्वादि गुणों से उसका बढ़ना। जब तक गुणातीत परमात्मा की कृपा नहीं होती, तब तक इन त्रिविध गुणों से छुटकारा होना तीन काल में असम्भव है।

हमारे जितने यज्ञादिक वैदिक अनुष्ठान और नैमित्तिक कर्म्म हैं, उन सभी में अल्पाधिक परिमाण से तमोगुण भी रहता है। वह तमोगुण मनुष्य के तमोगुण की वृद्धि नहीं करता, वरन उसको निर्मूल करता है। पैर में जो कांटा लग चुका है वह कांटे ही से निकलता है। दूसरा कांटा जैसे उस पहले कांटे की पीड़ा को बढ़ाता नहीं, घटाता है; वैसे ही हमारे यज्ञादिक उत्सवों की तमोगुणी क्रिया तमोगुण के प्रवाह को रोकती है, बढ़ाती नहीं। पर इस बात का समझना सहज नहीं है। हमारे तत्वदर्शी महर्षि समझा गये हैं कि सत्वादिक से मिली हुई तमोगुणी क्रिया तमोगुणी पुरुष का अत्यन्त उपकार करती है, क्योंकि 'विषस्य विषमौषधम्'।

जो लोग वेद का प्रमाण नहीं मानते, यज्ञादिक शुभ कर्म्म को सत्कर्म्म नहीं समझते और जो श्रौतस्मार्त विधि विधान को तिलाञ्जलि दे चुके हैं वे लोग यदि 'होली' के त्योहार पर नाक सिकोड़ें, भौं चढ़ावें और खड्गहस्त हों तो कुछ आश्चर्य नहीं। आश्चर्य तो उन महापुरुषों की समझ पर है जो अपने को आस्तिक कह कर भी होली के त्योहार को इसलिए नष्ट किया चाहते हैं कि उस दिन लोग आमोद प्रमोद में परस्पर यथारुचि शब्दों को कहा करते हैं। उनकी विशाल बुद्धि में 'हंसी दिल्लगी' करना असभ्य गंवारों का काम है और शत्रुता का उत्पादक है। खेद है कि वे लोग अपनी उलटी समझ से उलटी ही बात समझ रहे हैं।

रंग गेरना, गुलाल लगाना, और यथेच्छ अनर्गल शब्दों का

बोलना यदि किसी को दुःखदायक होता तो इस व्यवहार की प्रवृत्ति ही क्यों होती, क्योंकि प्रवृत्ति उसीमें होती है जो सुख स्वरूप वा सुख का साधन होता है, दुःख वा दुःख के साधन में नहीं। होली के खिलाड़ी होली के समय की गाली को गाली नहीं समझते। गाली वह है जो किसी के अन्तःकरण को बुरी लगे। विष वा ज़हर वह चीज़ है जो मारक हो और विष होकर भी जो किसी काल विशेष में व्यक्ति विशेष को सुख पहुँचा कर जीवन का हेतु हो रहा है, उसे उस समय विष कहना भूल ही नहीं वरन् अन्याय की बात है। विवाह और होली के समय की 'गाली' से उन्हींको कष्ट होता है जो हिन्दू नहीं हैं वा किसी मृत्यु के कारण शोकग्रस्त हैं, शेष सब हिन्दुओं को आनन्द ही होता है। कोई महात्मा वा विक्षिप्त जब किसी को गाली देता है तब न किसी को उससे दुःख होता है और न किसी को लज्जा! क्योंकि वे जानते हैं कि दुःख देना इनका लक्ष्य नहीं है। इसी कारण उनको दुःख के बदले सुख मिलता है। कभी कभी माता पिता और गुरू भी अनकहनी कह बैठते हैं। उनकी रसभरी गाली सुपुत्र को कभी भी कड़वी नहीं लगती। संस्कृत के प्रसिद्ध कवि आचार्य गोवर्द्धन ने आर्यासप्तशती में कहा है कि "जो दूसरे मुँह में जाकर गाली वा निन्दा कहलाती है वही अपने प्यारे के मुँह में परिहास व हँसी समझी जाती है। जैसे दूसरे काष्ट का धूम धुवाँ कहलाता है और अगर का वही धुवाँ धूप। आचार्य का यह कथन केवल सरस ही नहीं युक्ति युक्त भी है। पर जो विद्या-जड़ हैं और अपने को कुछ पण्डित समझने लगे हैं, उनके लिए कुछ नहीं। "ज्ञानलव दुर्विग्धं ब्रह्मापि तं नरम् न रञ्जयति" अथवाः—

फूलें फलहिं न बेंत, यदपि सुधा बर्षहिं जलद।
मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहिं विरञ्चि शिव॥

निदान होली की गाली से बंदूक की गोली के तुल्य जिनका हृदय विदीर्ण होता है और होली के रङ्ग से जिनके मनहूस चेहरे का रङ्ग फीका पड़ जाता है, उनको हमारे हिन्दू भाई भी न छेड़ा करें। अपना रङ्ग बिगाड़ें और उनका चित्त! इससे क्या लाभ? यदि वे

कुछ हिन्दुओं के होते तो उन्हें कष्ट भी न होता, जब ममत्व ही नहीं तो ममत्व का फल कैसे मिले? इस कारण वे इस सामाजिक प्रेमप्रथा के अधिकारी भी नहीं हैं।

शास्त्र में होली के होला, होलिका और होलाका आदि कई नाम हैं। होलिकोत्सव एक प्रकार का वसन्तोत्सव है, इस बात को कई एक पुराने आचार्यों ने भी स्वीकार किया है। यह उत्सव किस समय यहाँ प्रचलित हुआ इसका ठीक पता लगाना बहुत कठिन है। परन्तु यह पुराना इतना है कि संस्कृत के बड़े बड़े आचार्य्य निज निज ग्रन्थों में इसका उल्लेख कर गये हैं। मीमांसा दर्शन के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में होलिकाधिकरण इसी होलिकोत्सव को लेकर चलता है। वार्तिककार और माधवाचार्य्य ने इसको केवल आचारप्राप्त कहा है; परन्तु हेमाद्रि आदि प्राचीन निबन्धकारों ने इस पर उनको फटकारा है और यह सिद्ध किया है कि यह विधिप्राप्त है।

मीमांसा के ग्रन्थों से इस बात का भी पता लगता है कि पुराने समय में इस उत्सव का भारत के पश्चिम प्रान्त में बड़ा जोर था जो वहाँ अभी तक दिखाई देता है। प्रसङ्ग से वहाँ यह भी निर्णय किया है कि भारत की मध्यरेखा से पूर्व्व और पश्चिम देश का भाग समझना चाहिए। होली का दाह किस समय करना चाहिये इस विषय का पुराणों में खूब विचार हुआ है। भद्रा में दाह करना बहुत ही बुरा माना गया है। होली के दिन मनुष्य यथारुचि बक सकता है पर यह काम्य कर्म्म है। यदि रुचि न हो तो नहीं करे। इसमें प्रत्यवाय भी कुछ नहीं।

हम पहले कह चुके हैं कि परमात्मा की सृष्टि ही तीनों गुणों से मिल कर बनी है। सृष्टि के प्रत्येक कार्य्य में गुणों का न्यूनाधिक मिलाव रहता है। इसी सृष्टि के नियमानुसार यज्ञों की रचना हुई। उसीके अनुसार त्योहारों की। होली के त्योहार में भी तीनों गुण विद्यमान हैं। सत्वगुण का कार्य्य भक्तोत्तम प्रह्लाद का स्मरण है। रजोगुण का कार्य्य गाना बजाना आदि है और तमोगुण का कार्य यथा-

रुचि बकना है। तमोगुण से इस उत्सव का आरम्भ होता है और सत्व गुण में अन्त। जो दिन भर बकता रहता है वह भी सायंकाल को प्रह्लाद भक्त की जय जय कार करता है! वर्ष दिन की छिपी हुई दुर्व्वासना सर्वसाधारण में प्रगट कर होली में भस्म कर दी जाती हैं। पाप के प्रायश्चित्त की क्या सुन्दर प्रणाली है! अन्तःकरण को निर्मल रखने का क्या अच्छा उपाय है! सभी लोग सानन्द अपने अपने अच्छे बुरे मनोभाव को प्रगट करते हैं। गुरुजन सुनते और देखते रहते हैं एवं उन्हें यों प्रत्येक मनुष्य की योग्यता जांचने का अवसर मिलता है। कहिये यह पाप है कि पाप के नाश का उपाय? माता, पिता और गुरुजनों के सामने जो सहर्ष कृत्य किया जाय, वह क्या कभी पाप हो सकता है, उसको पाप कहने वाला स्वयम् पापी है।

अश्वमेध प्रकरण में ऋत्विक लोग यजमान पत्नी से हँसी करते हैं, विवाह प्रकरण में सब के सामने वर वधू का हृदय स्पर्श करता है, गम्फी भरता है और गर्भाधान के समय एक अपवित्र इन्द्रिय का स्पर्श कर वेद के पवित्र मन्त्रों का पाठ करता है, कहिये यह धर्म्माचरण है कि पापाचार? यदि आपकी समझ में यह सब पापाचार है तो फिर आपकी हमारी दूर से नमस्ते है और यदि यह सब धर्म्माचरण है तो होलिकोत्सव के व्यवहार को निन्दित कहने का आपको अधिकार ही क्या है?

हमारी समझ में होली के बराबर उत्तम एक भी त्योहार नहीं यह केवल इसलिए नहीं कि यह ऋतुराज बसन्त का उत्सव है और इस समय जल प्रक्षेप से वैद्य लोगों के मतानुसार रक्तसञ्चार में सहायता मिलती है और न केवल इसी बात से कि इस दिन पुराण प्रसिद्ध 'ढूंढ़िका' नाम राक्षसी की, बालबच्चों की खैर के लिए पूजा की जाती है और उसकी प्रसन्नतार्थ गाना बजाना और नाच कूद आदि धूमधाम का सामान करना पड़ता है, वरन् यह उत्सव इसलिए अधिक प्यारा है कि हमारे देशी भाई इसको भक्तोत्तम प्रह्लाद जी की परीक्षा का दिन मानते हैं। इसी दिन दैत्य-कुल-नन्दन बालक प्रह्लाद अपनी एक कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण हुए थे।

हम लोग जब एक अधेली की 'हंडिया' को मोल लेते हैं तब उसे बजाकर देखते हैं कि कहीं यह फूटी तो नहीं, जो समय पर काम न आवे। इसी तरह हर एक चीज की परीक्षा कर उसे जाँचा करते हैं। त्रिलोकीनाथ यद्यपि सर्वज्ञ हैं, यद्यपि उनको भूत भविष्य का सब कुछ ज्ञान है, तथापि अपने भक्तों के नाम और यश के लिए कभी कभी उनकी परीक्षा भी किया करते हैं कि देखें यह अपने काम में कैसा उतरता है। यदि ऐसे समय में भक्त भगवान् की भक्ति में दृढ़ रहा तो वैकुण्ठ का राज्य मिला, नहीं तो जो कुछ पहिले कर चुका था उस सब की धूल हो गई! परमात्मा कभी किसी जीव की परीक्षा न लें मनुष्य की क्या सामर्थ्य है जो उनकी परीक्षा में उत्तीर्ण होवे। वही उत्तीर्ण होता है जिसे वे स्वयम् प्यार करते हैं।

प्रह्लाद! तुम धन्य हो। जिस परीक्षा के दिन बड़े बड़े ऋषि मुनि काँप गये थे उस दिन तुम पर्वत की तरह अचल रहे। न पिता के राज-पाट का लोभ हुआ और न पर्वत से गिरने का डर, हिंसक पिता ने अपना धर्म छोड़ दिया पर तुमने नहीं। जब तुम्हारे कोमल शरीर को पृथ्वी में रौंदने के निमित्त मदोन्मत्त हाथी छोड़े गये, तब तुम्हारे बालक मित्र रोने लगे थे, माता चिल्ला उठी थी, पर तुमको उसकी कुछ परवाह न थी। हाथी तुम्हारा कुछ न कर सके, थर्रा उठे— यह क्या तुम्हारा प्रताप है? नहीं! नहीं! पिता के पूछने पर तुमने जो वाक्य कहे थे वह अभी तक भारत के आकाश में गूंज रहे हैं। सुनिये वह ध्वनि अभी तक वर्तमान है:—

दन्ता गजानां कुलिशाग्र निष्ठुराः शीर्णा यदेत न बलं ममैतत्।
महाविपद्-पाप विनाशनोऽयं, जनार्दनानुस्मरणानुभावः॥

हा! प्यारे! तुम्हारे इस सच्चे कथन की पिता ने कुछ भी क़दर न की। वे पैर से छुए सर्प की तरह और भी क्रुद्ध हो गये और असुरों को आज्ञा दी कि:—

ज्वाल्यताम् सुरावह्नि रूप सर्प्पत दिग्गजाः
वायो समेधयाग्निं त्वं दह्यतामेष पाप कृत।

बात की बात में काठ के ढेर लग गये। होली बनाई गई और हँसमुख बालक प्रह्लाद उसमें बैठाये गये। कठोर पिता जीते हुए निर-पराध पुत्र का दाह करने लगा। इधर अग्नि जलने लगी उधर देखने वालों का हृदय! मन ही मन सब रोते थे पर मजाल क्या कोई चूं तक करे। दैत्यराज्य हिरण्यकशिपु के खौफ से सब काँपते थे। सब ने आश्चर्य से देखा कि प्रज्वलित अग्नि में हँसते हुए प्रह्लाद कह रहे हैं:—

तातैष वह्निः पवनेरितोऽपि, न मां दहत्यत्र सनन्ततोऽहम्।
पश्यामि पद्मास्तरणास्तृणानि शीतानि सर्व्वाणि दिशां मुखानि ॥

और भी अधिक आश्चर्य हुआ जब उन्होंने देखा कि अग्नि बुझ गई पर उसने तुम्हारे रोम तक को स्पर्श नहीं किया। होली का ढेर हो गया पर तुम्हारा कुछ न बिगड़ा! प्रह्लाद! जैसे उस समय के अवि-श्वासी राक्षस तुम्हारे महत्व को नहीं जान सके थे, वैसे ही इस समय राक्षसोपम अश्रद्धालु पुरुष तुम्हारी पुराणप्रसिद्ध महिमा नहीं जान सकते। पर देखना, भारतवर्ष अपने को भूल गया है, किन्तु अभी तक तुमको नहीं। संसार में हम कब कब सताये गये यह हमें याद नहीं है, पर तुम जिस दिन सताये गये थे वह दिन अभी तक याद है। वह दिन ज्यों का त्यों याद हैं, जिस दिन तुम जलाये जाने पर भी जलने न पाये थे। यह होली नहीं है, भारतवर्ष को उस दिन जो तुमसे शिक्षा मिली थी कि जलाने वाले स्वयं जल जांयगे और भक्तवत्सल भगवान् हमारी रक्षा करेंगे, उसीका स्मरण मात्र है। देखें हतभाग्य भारतवर्ष के पास यह स्मरण भी रहता है कि नहीं?



पंजाब के धर्म्मवीरो ! उठो !

"क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ नैतत् त्वय्युप पद्यते ।
क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥"

(भगद्गीता)

कृस्तानों की उन्नीसवीं शताब्दी, पञ्चनदीय हिन्दुओं के धर्म्म भाव में भी शोचनीय परिवर्तन कर उसे उत्तराधिकारणी बीसवीं के भरोसे छोड़ गई। अब यह पहली का सर्वथा अनुकरण कर—"मरे को मारे शाह मदार" की कहावत के अनुसार इसे अवनति के चरमसोपान पर पहुँचावेगी वा दयादृष्टि से इस गिरते हुए को थाम कुछ विलक्षणता दिखावेगी यह अभी भविष्य की ओट में है, किन्तु पूत के पैर पालने में पहिचान कर तो व्याकुल हो यही कहना पड़ता है कि "अशरणशरण ! त्रायस्व त्रायस्व ।"

जिस देश ने म्लेच्छों के प्रचण्ड आक्रमण के समय भी जब कि स्वधर्म्मसेवक जीते अग्नि में जलाए और दीवार में चुनाए जाते थे, निज धर्म्म-भाव को परित्याग नहीं किया, अब वह सम्पूर्ण संसार में "धर्म्म वीर" कहला कर इस निरुपद्रव काल में चिरपूजित असहाय सनातन धर्म्म का साथ छोड़ रहा है। जिसने भगवत्-प्रतिमा विरोधियों का अनेक बार युद्ध में विध्वंस कर वीरता के साथ भगवद्भक्ति का परिचय दिया था अब वही प्रणम्य प्रदेश मूर्तिपूजा की निन्दा में योग दे रहा है ! जहाँ सहस्रों वीर नारी दाहिर नरेश के पीछे सानन्द चिता पर चढ़ गई थीं, जहाँ अद्यापि सहमृता पतिव्रताओं की पूजा प्रत्येक कुल में हो रही है, जहाँ की स्त्रियाँ परपुरुष का पाणिग्रहण करने की अपेक्षा निज प्राण दान करना ही श्रेयस्कर समझती थीं, वहाँ अब विधवा विवाह के मण्डप तन गए, और त्यक्तलज्ज इसीके गीत गाने लगे। ऐरावती, दृषद्वती आदि महा नदियों के पवित्र तट पर जहाँ वैदिक

मंत्रों के साथ 'स्वाहा स्वधा' इत्यादि सुखप्रद शब्द श्रवण गोचर होते थे, वहाँ अब देवनिन्दा, पितृनिन्दा और द्विजनिन्दा का पाठ हो रहा है ! कल तक जहाँ के वीरों को भगवान को विश्वनाथ और सोमनाथ के मानमन्दिर तथा अपहृत कपाटों की चिन्ता में व्यस्त देखते थे, अब वहाँ के सपूत पूर्वजों की सर्वश्लाध्य पद्धति को त्याग, जातीय सहानुभूति, सौजन्य और शिष्टता आदि सद्गुणों सहित देवभक्ति अग्नि कुण्ड में—नहीं नहीं, भाड़ में झोंक हिन्दूधर्म्म द्वेषियों का अनुकरण कर रहे हैं ! अहह !—काल ! तेरी महिमा अपार है। तूने उस देश को दबा लिया जो कभी दूसरों को भी दबने नहीं देता था। समय ! तू उसकी दुर्गति कर रहा है, जिसने औरों की सदा सद्गति की।

पंजाब ! जब तेरे प्राचीन इतिहास की ओर ध्यान जाता है तो यही निश्चय होता है कि तू निज गौरव नष्ट नहीं करेगा, स्वधर्म्म रक्षा में फिर भी प्रवृत्त होगा। तेरी कीर्ति कवियों का सर्वस्व रही। तेरा महत्व सब ने स्वीकार किया। तेरे असीम बल की बैरियों ने धाक मानी। तूने पाणिनि जैसे महावैयाकरणों को उत्पन्न किया। तेरी गोद में बाण-भट्ट और चन्द ऐसे महा कवियों ने क्रीड़ा की। तेरी सेवा के लिये सहस्रों वीर पुरुषों ने रक्त बहाया। अधिक कहाँ तक कहें, अपौरुषेय वेद ने भी तेरा महत्व बखान किया। अहा ! जब तेरी पुरानी बातें स्मरण होती हैं, तब चित्त को कैसा परितोष होता है। हृदय में कितना उल्लास होता है कुछ कह नहीं सकते।

वीर पंजाब ! जब ग्रीक वीर सिकन्दर शाह अपनी विजयनी सेना सहित तेरे पास आये तब तू कुछ भी विचलित न हुआ था। तेरे पवित्र अन्न जल से परिपुष्ट महाराज पुरु ने अधीनता स्वीकार न की और वे उसकी गति रोकने के लिए सन्नद्ध हो गए। उनका प्राणाधिक पुत्र रणस्थल में मारा गया और वे आप भी घायल और विजेता के बंदी हुए; किन्तु ऐसी अवस्था में भी उनकी तेजस्विता अन्तर्हित न हुई। सिकन्दर शाह ने सम्मानपूर्वक उनको अपने पास बुलाया। आबद्ध सिंह के समान पुरु सिकन्दर के शिविर द्वार पर पहुँचे। वीर बलाभिज्ञ

सिकन्दर ने बन्दी के सत्कार के लिए सेनापतियों सहित द्वार पर आन कर जो देखा उससे उनके विस्मय की सीमा न रही। बन्दी का सुदीर्घ कलेवर, उज्वल लोचन और प्रशान्त कान्ति देख कर ग्रीक वीर ने विस्मय के साथ पूछा कि—"आप के साथ कैसा बर्ताव करें?" बन्दी ने तेजस्विता के साथ उत्तर दिया कि "जैसा एक राजा के साथ राजा को करना उचित है" सिकन्दर ने हँस कर फिर कहा कि "यह तो मैं आप ही करूंगा; किन्तु विशेष क्या किया जाय?" इस बार भी वीर बन्दी निज तेजस्विता से किञ्चित भी डिगे नहीं, विजेता के समीप अवनति स्वीकार कर नीचा होना न चाहा। तेजस्वी पुरुष ने इस बार भी पहिले की तरह दृढ़ता के साथ कहा कि 'मेरे पहिले उत्तर ही में सब का उत्तर है।' ग्रीक नरेश ने फिर कुछ न कहा आपद्गत अवस्था में भी इस प्रकार की तेजस्विता और दृढ़ता देख बन्दी को मुक्त कर आलिङ्गन पूर्वक निज मित्र बना लिया और अपने देश में जा कर कहा कि पंजाब के द्वार ही पर मुझे विदित हो गया कि वहाँ के लोग कर्तव्य के पक्के और धर्म्म के दृढ़ हैं।

सत्रहवीं शताब्दी के मध्य भाग में जब प्रज्वलित प्रताप, रक्त-लोलुप धर्मान्ध मुगल-सम्राट् दिल्ली के सिंहासन पर अधिष्ठित था, प्रतापी प्रतापसिंह का वीर पुत्र जब राजपूताने में गौरव की रक्षा कर रहा था, गो-ब्राह्मण-प्रति-पालक प्रातःस्मरणीय शिवा जी जिस समय दक्षिण देश में अपूर्व तेजस्विता का परिचय दे रहे थे, उस समय पंजाब! तेरे एक पितृ-हीन वीर बालक ने बाजी मार ली थी। मुगल सम्राट् की गर्हित आज्ञा से बालक का निर्दोष और हरिभक्त पिता मारा गया था। उसके सजातीय और समान धर्म्मी लोग प्रतिदिन सताये और पशुवत् मारे जाते थे, तथापि इस असहाय और दारुण दशा में उस पन्द्रह वर्ष के बालक ने सर्वप्रकार की कठोरता सहन की किन्तु स्वधर्म्म का त्याग नहीं किया। महाशक्ति की उपासना का फल, भोगाभिलाष शून्यता का महत्व और पंजाब के वीर्य्यप्रद अन्न जल की महिमा सब को प्रत्यक्ष दिखा 'जय दुर्गे' 'वाह गुरु जी दी फतह'

इत्यादि धर्मोत्तेजक, उत्साह वर्द्धक शब्दों से शत्रुओं का हृदय कम्पित कर दिया। तरुण वयस्क गुरु गोविन्दसिंह ने अपना दृष्टान्त दिखाया कि पञ्चनद के अन्न जल में एक ऐसी अद्भुत शक्ति है (यदि वह) कुण्ठित न हो तो) जिसके कारण इस देश के पुरुष धर्म्मरक्षा के लिये समस्त कष्ट सहन कर सकते हैं।

पंजाब, महर्षियों के पूजन का पुण्यस्थल है। आधुनिक विद्वान अपनी अभिचरित रमणीय कल्पना में इसे अपौरुषेय ऋग्वेद का उत्पादक ठहराते हैं परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह श्रुतियों का सब से पहिला श्रोता है। दक्षिण की प्राचीन विद्वत्ता से कई सहस्र वर्ष पूर्व यह श्रोत्रिय ब्राह्मणों से परिपूर्ण हो चुका था। सरस्वती के सच्चे पुत्र सहस्रशः सारस्वतों का यहीं पर अविर्भाव हुआ था। इसके एक प्रत्यन्त देश काश्मीर ने काशी की तुलना पाई थी। यहीं वह पुण्यभूमि है जहाँ एक समय लोग सरस्वती के लोक पावन प्रवाह का प्रत्यक्ष दर्शन करते थे, पर हाय! पञ्चनद भूमि! अब वह कहाँ गया? कहाँ है, वह पवित्र प्रवाह जिसमें लोग पाँव रखते काँपते और जिसके पार होने के लिए पञ्चनदीय कर्णधारों की कृपा चाहते थे? हा! अम्ब! असंख्य पुत्रों की जननी! इतने सारस्वतों का भार वहन करने पर भी आज तू अश्रुमुखी हो श्रुति श्रवण करने के लिये ....का मुख अवलोकन कर रही है।

इतिहासवेत्ता इस बात को अस्वीकार न करेंगे कि हिन्दू-धर्म्मद्वेषी यवनों के जितने आक्रमण इस वीर भूमि पर हुए हैं, उतने यदि किसी दूसरे देश पर होते तो वहाँ यवनों के अतिरिक्त अन्य कुछ दिखाई न देता, हिन्दुत्व का कहीं चिन्ह भी दृष्टिगोचर न होता और वहाँ फिर राम कृष्ण के नाम का स्वप्न हो जाता।

इसमें सन्देह नहीं कि मेवाड़ की प्रणम्य भूमि पर भी यवनों का बार बार आक्रमण हुआ, पुनः पुनः मातृभूमि की स्वाधीनता के लिए राजपूतों ने युद्ध किया, अनेक बार चित्तौड़ के विस्तृत प्राङ्गण में वीर जननी राजपूत रमणियों के सुन्दर शरीर जल कर भस्मीभूत हुए,

कितनी ही बार सहस्त्रों अजातश्मश्रु क्षत्रिय बालकों ने मेवाड़ की रक्षा के लिए सानन्द प्राण दिये और वहाँ के पुण्यश्लोक राणाओं को स्वदेश एवम् स्वधर्म्म के लिये पर्वतों और जंगलों में दुःसह दुःख भोगने पड़े। भगवान् रामचन्द्र के वंशधरों ने अन्न के बिना घास के बीज द्वारा उदर-पूर्ति की, किन्तु इतना होने पर भी हिन्दू धर्म के काल स्वरूप यवनों के दुःशासन का दुःख नहीं भोगना पड़ा, परन्तु पंजाब ने कई शताब्दियों तक यह दुःख भी सहन किया है।

कौनसा देश है जिसने भारतवर्ष के द्वारपाल पंजाब के तुल्य प्रथम से अन्त तक यवनों का अत्याचार सहा? स्वधर्म्म के लिए हँसकर प्राण देने वाले हकीकतराय जैसे धर्म्मवीर बालकों ने पंजाब के सिवा और किस देश में जन्म लिया है? यह गौरव पंजाब के सिवा और किसी देश को प्राप्त हुआ है कि जहाँ के बालकों ने गुरु गोविन्दसिंह के पुत्रों की भाँति स्वधर्म्म त्याग को अपेक्षा जीते दीवार में चुना जाना अच्छा समझा हो? सच तो यों है कि पंजाब पंजाब ही है। इसने धर्म्म-द्वेषियों से अपने को बचाया ही नहीं, वरञ्च शत्रुओं से यथासमय बदला भी लिया।

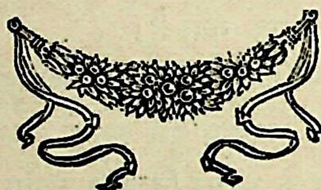
खेद यही है कि उक्त गुण विशिष्ठ वैदिक धर्म्म का आग्रही अपने प्राचीन गौरव का विस्मरण कर क्षुद्र जन क्षुद्र मार्ग की ओर जाने को उद्यत हैं। इस समय यदि पंजाब के साहसी पुरुष मारुति के समान निज साहस का स्मरण कर सनातन धर्म्म की रक्षा में विशेष यत्नपरायण न होंगे तो उनके पहिले श्रम का फल भी वैसा ही है, जैसा उस कर्णधार के कार्य्य का, जिसने अपनी भरी हुई नाव को तूफ़ान से बचा किनारे से कुछ थोड़ी दूर पर ऐसी स्थिति में छोड़ दिया हो कि जो शीघ्र ही उसको किनारे पर न पहुँचाया जाय तो उसके अधिक देर तक रहने की सम्भावना नहीं।

पञ्चनदीय भ्रातृगण! जिस प्रकार से आपके आर्य पितरों ने स्वधर्म्म रक्षा के लिए सुख की अपेक्षा दुःख को श्रेय समझा, उस प्रकार का उदाहरण क्या आप नहीं दिखा सकते? नवीन शिक्षा के दुष्परि-

णाम से स्वदेशियों को बचाने के निमित्त आपने सब से प्रथम सनातन धर्म्म सभाओं की रचना की, तदनन्तर महामण्डल खड़ा किया, लोगों को आशा हुई कि इसके द्वारा आप अपने ही देश की चिकित्सा न करेंगे वरञ्च दूर दूर की व्याधियों को शमन करने में समर्थ होंगे; किन्तु अभी तक आशा पूर्ण होने का ढंग दिखलाई नहीं देता। आरम्भ के समय जो बात, जो उत्साह देखा था वह दृष्टिगोचर नहीं होता, इसका क्या कारण है ? भाइयो ! जिस दिन महामण्डल का बेड़ा मझदार में डूबने लगा था, उस दिन तुम्हारे ही एक परोपकारी ब्राह्मण भाई पण्डित खुशीराम जी ने अपनी उदारता से बचाया था। समय समय सदैव आपने बुद्धिमत्ता का परिचय दिया। किन्तु इस समय की उदासीनता से सब ही मिट्टी हो रहा है। आपको हतोद्योग हतोत्साह देखकर विपक्षियों का साहस बढ़ गया है।

वीर भाइयों ! जिस दिन नितान्त ही असहाय थे, उस दिन भी कभी तुमने यह न सोचा कि अब हम कृतार्थ किस प्रकार होंगे। जगत्पिता के कृपालु स्वभाव के भरोसे निरन्तर उद्योग कर सफल होते रहे, किन्तु अब किस सोच विचार में हो ? अब किसकी बाट देखते हो ? किसका ध्यान कर रहे हो ? कौन सी वस्तु का अभाव समझते हो ? विचार कर देखो तुम क्या थे और क्या हो गये ? अब भी भगवद्वाक्य (नमे भक्तः प्रणश्यति) पर विश्वास करो कुछ नहीं बिगड़ा है। पूर्वजों की धर्म्म पद्धति को निज जीवन का आदर्श समझो, उन्हींके मार्ग का अनुसरण करो। भगवान् पर भरोसा कर स्वधर्म्म रक्षा में तत्पर रहो, सब बाधाएँ दूर होंगी। शीघ्र ही तुम पहिले के समान गौरवान्वित हो सकोगे ? परन्तु स्मरण रक्खो चाहे तुम धन में कुबेर हो, विद्या में बृहस्पति हो, बल में भीम से भयङ्कर हो, कुटुम्ब में रावण से बड़े हो, चतुरता में चाणक्य से भी चालाक हो, किन्तु जब तक तुम्हारा धन, तुम्हारी विद्या, तुम्हारा बल तुम्हारे आत्मीय और तुम्हारा चातुर्य परोपकार में काम न आये, तब तक तुम किसी काम के नहीं हो। क्योंकि पूज्यता का महत्व पदार्थों के अधीन नहीं,

परोपकार के हाथ है। इसलिए सब भयों को दूर कर लज्जा को त्याग कर अपने समाज की भलाई करो। सदा से दूसरों ने तुम्हारी कीर्ति का बखान किया है, कार्य में तुम्हारा अनुकरण किया है। इस समय दूसरों से पीछे रह कर उपहास्य होना ही नहीं है, वरन पूर्वजों की सत्कीर्ति का लोप भी करना है।



क्वीन्स कालिज बनारस

अङ्गरेज जाति में विद्या का आदर है। वह इस बात को कि, शारीरिक बल की अपेक्षा विद्या का बल बहुत बड़ा है, जानती है। वह खूब जानती है कि, सहस्रों तोपों की मार से भी जो कार्य्य होना असम्भव है, वह एक विद्वान की सम्मति वा नीति द्वारा सम्पन्न हो सकता है। जिन सिंहों के एक दिन कोई पास भी नहीं फटक सकता था, विद्या के बल से विद्वानों ने उनको भी मस्तक झुकाना सिखा दिया और वे पीठ ठोंकने पर कुत्ते की तरह क्रीड़ा करने लग गए। सच पूछिये तो अङ्गरेज जाति की उन्नति विद्याबल ही के कारण हुई है। इसलिए वह विद्याप्रचार में निरन्तर चेष्टा कर रही है। मनुष्य की तो बात ही क्या, वह पशुओं को भी सुशिक्षित कर, उनसे अपना काम ले रही है।

अङ्गरेज राज्य से सहस्रों वर्षों पहिले भारतवर्ष विद्या का घर था, एक एक 'कुलपति' ऋषि के आश्रम में दश दश सहस्र विद्यार्थी विद्याध्ययन करते थे। बौद्धों के समय में इसके निमित्त कई सहस्र 'विहार' काबुल, कन्दहार से रामेश्वर तक बने हुए थे। एक एक विहार में सहस्रों ही साधु और गृहस्थ शिक्षा पाते थे। विपत्ति के समय में भी काशी, मिथिला और नदिया आदि में विद्या की पाठशालाएँ खुलीं रहीं पर वह पुरानी तथा पुराने राजाओं के राज्य के साथ ही चली गईं।

अङ्गरेजों ने राज्यारम्भ के साथ ही इस देश में नये ढंग के विद्यालयों (कालिजों) की सृष्टि की और उनमें अङ्गरेजी के साथ साथ संस्कृत, अरबी आदि के पढ़ाने की व्यवस्था हुई। पहिले पहिल लोगों ने इनमें प्रविष्ट हो पढ़ना अगौरवकर समझा। फिर धीरे धीरे सरकारी पारितोषिक और परीक्षोत्तीर्ण व्यक्तियों को ऊँचे ऊँचे पद मिलने से लोगों की इधर प्रवृत्ति होने लगी। अब यहाँ तक हुई कि पहिली

व्यवस्था में बिलकुल उलट फेर हो गया, तथापि लोगों की प्रवृत्ति इधर दिनों दिन वृद्धि पर है।

ओरिएंटल कालिज लाहौर और संस्कृत कालिज कलकत्ता आदि, इस देश में, ऐसे सरकारी विद्यालय जिनमें अङ्गरेजी के समान संस्कृत की भी पूरी पढ़ाई होती है, अनेक हैं; किन्तु "क्वीन्स कालिज बनारस" को कोई नहीं पहुँच सकता। काशी जैसे विद्यापीठ क्षेत्र में स्वर्गीय महारानी भारतेश्वरी क्वीन विक्टोरिया का जैसा स्मारक होना चाहिये, वास्तव में यह वैसा ही बना है।

यह कालिज 'जगत्गञ्ज' सड़क के पास एक नयनाभिराम मनोहर उद्यान में बना है। इसकी सुन्दरता और सङ्गीन अङ्गरेजी ढंग की इमारत चुनार के पत्थर की है। इसमें नक्काशी का काम देखने योग्य है। चारों कोनों पर और चारों दिशाओं में एक एक मनोहर 'टावर' और पतले पतले वैसे ही अनेक टावर जो देखने में बहुत ही सुहावने लगते हैं, बने हैं। नीचे बीच में बहुत बड़ा ऊँचा हाल जिसके बगलों में भीतर से दो मञ्जिले कमरे हैं अति सुन्दरता से बनाया गया है। इसके चारों ओर नये ढंग के बहुत से द्वार हैं। सब से अच्छी और हिन्दू दर्शक का चित्त खींचने वाली बात यहाँ यह है कि, इस कालिज का जो हिस्सा जिसके खर्च से बना है उसका नाम उस हिस्से में अङ्गरेजी वा हिन्दी कविता में खोदा गया हैं। कदाचित् ऐसी इमारत जिस पर संस्कृत और हिन्दी कविता सुन्दर रीति से खोदी हुई हो, भारतवर्ष भर में अङ्गरेजों की बनाई हुई यही प्रथम है। इसके बनाने में और लोगों के चंदे के अतिरिक्त सर्कारी कोष से अनुमान सवा लाख व्यय हुआ है। अङ्गरेजी वाले क्वीन्स कालिज और संस्कृत के पण्डित इसका नाम "राजकीय प्रधान संस्कृत पाठशाला" लिखते हैं।

कालिज के पुस्तकालय में संस्कृत की लिखित और मुद्रित सब प्रकार की पुस्तकें हैं। ऐसी अनेक पुस्तकें जो ताड़पत्र पर लिखी हुई हैं, यहाँ सुरक्षित हैं। इन पुस्तकों से ऐसे विद्यार्थियों का, जो ग्रन्थाव-

लोकन के प्रेमी हैं और दारिद्र्य के कारण पुस्तक ख़रीद नहीं सकते हैं, बड़ा उपकार होता है।

अङ्गरेज़ी और संस्कृत पढ़ने वालों का यहाँ एक समय नहीं है। प्रातःकाल से १० बजे तक संस्कृत की और १० बजे से ४ बजे तक अङ्गरेज़ी पढ़ाई होती है। पण्डित लोग अपने अपने कमरों मे गद्दी पर बैठ कर पढ़ाते हैं और विद्यार्थी दरी के फ़र्श पर बैठते हैं। ओरिएंटल कालिज वालों की तरह यहाँ कुरसी और टेबुल के लोभ से संस्कृत के अध्यापक और अध्येताओं ने अभी तक अपनी पुरानी प्रथा का विसर्जन नहीं किया है। कलकत्ते के संस्कृत कालिज की तरह यहाँ 'महामहोपाध्याय' पदभाक् पण्डितों और उनके छात्रों के बैठने के लिए अभी तक आस्तरण(फ़र्श) का दारिद्र्य नहीं है, यहाँ के अध्यापक और छात्रों की रहन सहन चाहे प्राचीन समय की अपेक्षा कितनी ही गिरी क्यों न हो, पर तो भी वह अन्य प्रान्त वालों के अनुकरण योग्य है।

लाहौर और कलकत्ते में जिस प्रकार संस्कृत की सर्वोत्तम परीक्षा से उत्तीर्ण होने वालों को "शास्त्री" और "तीर्थ" की उपाधि मिलती है, उसी प्रकार यहाँ "आचार्य" की पदवी दी जाती है। प्रत्येक शास्त्र की भिन्न भिन्न आचार्य परीक्षा देने से भिन्न भिन्न पद मिलते हैं। जैसे व्याकरणाचार्य, वेदान्ताचार्य, सांख्ययोगाचार्य इत्यादि। एक शास्त्र की आचार्य परीक्षा देने में बुद्धिमान को पाँच छः वर्ष लगते हैं। और सब पाठशालाओं से यहाँ की परीक्षाएं कठिन किन्तु अधिक बोधप्रद हैं।

जब से कालिज हुआ है, तब से काशी के बड़े बड़े महाविद्वान् पण्डितों ने यहाँ अध्ययन कार्य किया और इस कालिज से पढ़कर बहुत से अच्छे विद्वान् निकलते हैं। वर्तमान समय में यहाँ महामहोपाध्याय पण्डित गङ्गाधर शास्त्री, महामहोपाध्याय पण्डित स्वामि श्री राममिश्र शास्त्री, महामहोपाध्याय पण्डित कैलाशचन्द्र शिरोमणि भट्टाचार्य, पण्डितवर श्रीरामकृष्ण पट्टवर्धन, तांतिया शास्त्री, महामहोपाध्याय पण्डित दामोदर शास्त्री और महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी आदि अनेक पण्डितप्रवर यहाँ पढ़ाते हैं। इसमें सन्देह नहीं

कि संस्कृत विद्या के लिए काशी और उसके लिए यह कालिज विशेष गौरव की वस्तु है।

जिस समय यह कालिज खुला, उस समय कहा गया था कि इसमें संस्कृत ही को प्रधानता रहेगी, किन्तु धीरे धीरे संस्कृत का स्थान अङ्गरेजी ने छीन लिया। पण्डितों को जितना वेतन पहले मिलता था उतना अब नहीं मिलता। जितना उनका आदर पहले था उतना अब नहीं है और भविष्य में यह दशा भी इसी रूप में रहेगी कि नहीं, इसमें भी सन्देह हो रहा है। कलकत्ते की संस्कृत कालिज की अध्यक्षता एक विद्वान् ब्राह्मण को मिल चुकी, किन्तु आज तक इस महाविद्यालय को यह सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ कि इसके अध्यक्षपद पर भी हम किसी देशीय विद्वान को देखते।

स्वर्गीया राजराजेश्वरी के इस समय जहाँ तहाँ स्मारक बन रहे हैं, किन्तु जो सब से पुराना और सब से उत्तम उनका स्मारक है, उसकी ओर किसी का ध्यान ही नहीं। उत्तम यह होता कि महारानी के नये स्मारक बनाने की अपेक्षा इस प्रचीन स्मारक का अधिक विस्तार किया जाता। हमारे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि, राजभक्त प्रजा और राजप्रतिनिधि महाशय नया स्मारक बना कर अपनी उमङ्ग न निकालें, किन्तु वक्तव्य यह है कि नये स्मारक की अपेक्षा पुराने की रक्षा और विस्तृति अधिक प्रयोजनीय होती है।

छात्रवृत्ति के अभाव से संस्कृतपाठी विद्यार्थियों की संख्या दिनों दिन घट रही है। मीमांसादि प्राचीन शास्त्रों को विरला ही कोई पढ़ता है। नाम मात्र के लिए इनकी परीक्षा अवशिष्ट है, नहीं तो बस इतिश्री ही समझिये और इस प्रकार इन शास्त्रों का पढ़ना पढ़ाना यहाँ से विदा हो रहा है। विद्याप्रिय अङ्गरेज जाति का संस्कृतानुराग लोगों में प्रसिद्ध है, महाराणी भारतेश्वरी भी स्थानों की अपेक्षा विद्या को अधिक प्यार करती थीं। हिन्दू शास्त्रों की रक्षा करना भारतवासियों का भी कर्त्तव्य है, इसलिए भारतेश्वरी के स्मारक का जो यह काशी में प्रदीप प्रकाश कर रहा है, इसकी ओर सब का ध्यान होना चाहिए।

इसके स्नेहपूर्ण होने से सब ओर प्रकाश होगा। इसके बिना अन्धकार में बने बनाए स्मारक भी दिखाई न देंगे। क्या हमारे देश के शुभचिन्तक और राजपुरुष लोग हमारी इस समयोचित प्रार्थना पर ध्यान देंगे ?

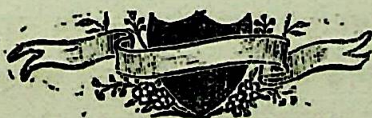
कालिज के द्वार पर पत्थर की पाँच छः बत्तकों पर एक फौवारे का कड़ाह, दाहिने और पीछे एक हौज़, एक में मगर और दूसरे में मछलियाँ तैरती हैं बना है, पत्थर की एक धूपघड़ी भी वहाँ है। पास ही एक ३२ फीट ऊँचा एक ही पत्थर का (जैसा दिल्ली में फिरोजशाह के कोटले में है) स्तम्भ खड़ा है। यह पहले गाज़ीपुर के निकट गङ्गा के तट पर था। सन् १८५४ ई० में उस समय के लेफ्टिनेंट गवर्नर ने अपने खर्च से इसे मँगवा कर यहाँ खड़ा कर दिया। इस स्तम्भ पर गुप्तलिपि है।

पुरातत्ववेत्ताओं के विचार में यह सन् ई० की चौथी सदी का निश्चित हुआ है। यहाँ पर एक और पत्थर भी पड़ा है, जिसकी लिपि भी अति प्राचीन प्रतीत होती है। कालिज में अनुमान सात सौ छात्र पढ़ते हैं। १० बजे जब संस्कृत के अध्यापक और छात्र लौटते हैं और इधर से अङ्गरेज़ी वाले आते हैं तब दोनों के उदयास्त को देख कर कविवर माघ का यह श्लोक याद आता है—

उदय महिम रश्मिर्याति शीतांशुरस्तम्

× × × ×

हत विधि ललितानांहि विचित्रो विपाकः।



हिन्दूविधवा-सहायक फंड

"दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं विदुः॥"

(भगवद्गीता)

हिन्दुओं में जितना दान होता है, उतना दुनियां की किसी जाति में नहीं होता—बोध होता है यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है; किन्तु दुःख की बात है कि अब उसकी व्यवस्था बिगड़ गई। यह कितने दुःख की बात है कि जिनकी वर्णमाला में "द्" कार का नाम तक नहीं है, वे लोग तो दानियों में अग्रगण्य हो जांय और जिनकी धर्म्मपुस्तकों में "श्रद्धया देयम्" "ह्रिया देयम्" "भिया देयम्" इत्यादि वाक्यों से बार बार दान का विधान किया गया है, वे इस विषय में सब से पीछे पड़े रहें !! यह इस देश का दुर्भाग्य है कि, "पतिव्रता भूखी मरें माल मसखरे खायं" की कहावत यहाँ चरितार्थ होने लगी ! जो असल में दान के पात्र हैं, उन्हें फूटी कौड़ी नहीं मिलती और जो दान के योग्य नहीं हैं; उन पर रुपयों की वर्षा होती है। विचारने पर यह भी मालूम होता है कि आजकल जो दान के नाम से पुण्यकार्य्य होते हैं उनकी ओट में स्वार्थ ने भी घर कर लिया है। लोग अब पात्र अपात्र का विचार न कर उसीको दान देना चाहते हैं जिससे उन्हें किसी न किसी प्रकार के लौकिक लाभ पहुँचने की सम्भवाना हो; परन्तु इस प्रकार का दान उत्तम कभी नहीं कहा जा सकता। ऊपर लिखे हुए भगवद्गीता के वाक्य का भी यही आशय है कि, सात्त्विक दान वही है जिसमें प्रत्युपकार की वासना न हो और जो देश, काल पात्र के अनुसार किया जाय। पात्रों को दान देना तो दूर रहा जब कि धन-वान् लोगों के चित्त में उनके जानने वा पहचानने की इच्छा तक उत्पन्न नहीं होती, ऐसे समय में कलकत्ते के एक विचारशील धनी पुरुष के संस्थापित किए हुए "विधवा-सहायक फंड" के दान की सद्व्यवस्था

सुनकर हमारा चित्त बहुत ही प्रसन्न हुआ है। जिस प्रशंसित पुरुष ने हिन्दूजाति की अनाथ विधवा स्त्रियों की सहायता के लिए यह भण्डार खोला है, उनका नाम बाबू रामचन्द्र जी गोएनका है।

पहले अन्न सस्ता था, देश के लोग दयालु और सदाचारी थे, साथ ही दुर्भिक्ष और प्लेग आदि फैलानेवाले रोगों के अभाव से विधवाओं की संख्या भी बहुत कम थी। हजार स्त्रियों पीछे कहीं एक दो विधवा देखने में आती थीं। वे या तो अपने कुटुम्बियों की धर्म्ममयी दृष्टि से अन्न वस्त्र पाती थीं या सूत कातकर वा पीसना पीस कर किसी प्रकार शारीरिक श्रम से अपनी और अपनी अबोध सन्तति की रक्षा कर लेती थीं। पर हाय! अब वह समय नहीं रहा। अन्न का भाव एक दम गिर गया, लोग ममत्वहीन हो गए! खेती की जगह दुर्भिक्ष और प्लेग की खेती होने लगी, जिससे विधवा स्त्रियों के ढेर लग गए! सीने, पिरोने, कातने, पीसने आदि जिन व्यवसायों से विधवाओं का गुजारा होता था, इस समय की रुचि और कलों ने उनका भी शेष कर दिया। ऐसी अवस्था में अनाथ विधवाओं को बच ने के लिए दो ही मार्ग रह गए; या तो वे अपने वैधव्यदग्ध जीवन की इतिश्री कर डालें या अपने कुलधर्म्म को तिलाञ्जली दे कर किसी कुपथ का अनुसरण करें। दोनों प्रकार से घोर पातक हैं एक ओर आत्महत्या का महापाप और दूसरी ओर आत्मा से भी प्यारे स्वधर्म्म की हत्या!! इसलिए "यथा रोग स्तथौषधम्" के अनुसार उनकी सहायता के लिए उक्त प्रकार के दातव्य भण्डारों का स्थापन करना, समयसङ्गत है; इसमें सन्देह नहीं। जिस देश में लाखों धनियों के होते हुए भी उदरपूर्त्ति के लिए अनाथ विधवाओं को जीवन वा धर्म्म नष्ट करना पड़ता है, उस देश के भारस्वरूप धनाढ्य लोगों को हम जीवन्मृत के सिवाय और क्या कह सकते हैं?

कई वर्षों की बात है कि, कलकत्ते में एक बार हमारे कई धनाढ्य मारवाड़ी भाइयों का ध्यान हिन्दूजाति की अनाथ विधवा स्त्रियों की शोचनीय दशा पर आकृष्ट हुआ था और उन्होंने विचार किया था कि, इसके लिए एक धनभण्डार स्थापन किया जाय। इन विचारवान् पुरुषों में

मृत रायबहादुर बाबू भगवानदास बाघला आदि कई अन्य सज्जनों के साथ उक्त बाबू रामचन्द्र जी भी शामिल थे। दुःख की बात है कि, इस विषय पर बहुतसा वादानुवाद और परस्पर में लिखा पढ़ी होने पर भी किसी अकथनीय कारण से तब "विधवा सहायक फंड" नहीं खुल सका। यदि सब की सम्मति से उस समय यह काम हुआ होता, तो कई लाख रुपये बात की बात में एकत्र हो जाते, पर इस जाति का भाग्य इतना प्रबल नहीं था कि, उतने ज़ोर शोर से इस धर्म्म-कार्य्य की नींव पड़ती। तथापि बाबू रामचन्द्र जी को हम धन्यवाद देते हैं कि, आखिर इस उत्तम कार्य्य में वे निज की उदारता दिखाए बिना नहीं रह सके। उन्होंने संवत् १९५६ में अपने नाम से हिंन्दू-विधवा-सहायक फंड को खोल ही तो दिया। अनुमान १५ सहस्र नक़द और एक मकान जो हरिसन रोड पर है और जिसका अनुमान ३५०) रुपये मासिक भाड़ा आता है, इसके लिए दान कर दिया।

सब से अधिक संसार में दयापात्र वे ही होते हैं, जिनका कोई रक्षक नहीं है और उनमें भी अधिक दया के अधिकारी ऐसे गृहस्थ हैं, जो भूखे होने पर भी लज्जावश किसी से माँग नहीं सकते और ऐसे लज्जालुओं में भी पुरुषों की अपेक्षा वे स्त्रियाँ अधिक दया की पात्री हैं जिनके हाथ पकड़ने वाले अपनी जगह संसार से खाली कर उठ गए और अब उनके शिर पर शून्य आकाश के सिवा कुछ रहा नहीं है। यदि गोद में दो एक बालक बच्चे हैं, तो और भी कठिनता है। माँ स्वयं भूखी मर सकती है, किन्तु सन्तान को भूखी नहीं देख सकती। ऐसी दुर्दशाग्रस्त स्त्रियों को बचाने लिए उक्त फंड खोल कर गोयनका महाशय ने जितनी बुद्धिमानी दिखाई है, उसकी अपेक्षा कहीं बढ़ कर उनकी बुद्धिमानी उसकी सम्पति को एक कमेटी के अधीन कर देने में पाई गई है। बुद्धिमान पुरुष को दान कर रुपैया खाली अपने वंश ही के अधिकार में कभी नहीं रखना चाहिये। जो हो, इस फंड की कमेटी में कलकत्ते के अच्छे अच्छे प्रतिष्ठित पुरुष हैं।

पिञ्जरापोल

एक बार जोधपुर के महाराज से बादशाह अकबर ने पूछा था कि, हिन्दू किस को कहते हैं? परन्तु महाराज उस समय हिन्दू का लक्षण नहीं कह सके। कहा कि यह फिदवी सोचकर जवाब देगा। महाराज को उत्तर देने की बड़ी चिन्ता हुई और उन्होंने अपने एक उदयपुरी सामन्त मित्र से पूछा कि क्या उपाय किया जाय। उसने हँस कर कहा कि "महाराज, यह एक मामूली प्रश्न है इसका उत्तर तो उदयपुर का एक साधारण आदमी भी दे सकता है", पर महाराज को इस पर विश्वास न हुआ। उन्होंने उसी समय उदयपुर के मामूली मनुष्य की खोज करायी तो एक नाई मिला। महाराज के पूछने पर उसने कहा—"हिन्दू वह है जो गो ब्राह्मण की पूजा करे और उनमें श्रेष्ठ वह है जो उनकी रक्षा करने में प्राणों तक की परवाह न करे।" नाई के कथन से महाराज सन्तुष्ट हुए और उन्होंने बादशाह के सामने जाकर हिन्दू शब्द की यों व्याख्या की—

परमात्मा न करे किसी हिन्दू के घर में आग लग जाय और वह इतनी प्रचण्ड हो उठे कि या तो वह अपने कुढंगे कुपढ़ बूढ़े ब्राह्मण ही को जो उस मकान में पड़ा हुआ जिन्दगी के अन्तिम सांस ले रहा हो, बचा ले, किम्वा अपनी लूली लंगड़ी बूढ़ी बांझ गऊ ही की, जो वहाँ उस समय बंध रही हो, रक्षा कर ले। अथवा अपने बुढ़ापे की लकड़ी, घर के चिराग एकमात्र पुत्र ही के प्राण रख ले। कारण कि समय की इतनी न्यूनता हो कि एक की रक्षा के पश्चात् दूसरे की रक्षा असम्भव जान पड़ती हो। अग्नि की बढ़ती हुई ज्वाला में दूसरे के भस्म हो जाने का निश्चय हो चुका हो। ऐसी कठिन अवस्था में जो वीर पुरुष सुत सम्पत्ति का मोह छोड़ उस अकर्मण्य ब्राह्मण वा बूढ़ी गऊ के प्राणों की रक्षा में तत्पर हो, वही श्रेष्ठ हिन्दू है और साधारण वे

हैं जो इन दोनों की पूजा करते हैं। (कहते हैं कि, उस दिन से बादशाह ने गोवध बन्द कर दिया था)।

वास्तव में है भी ऐसा ही "ब्राह्मणार्थं गवार्थं वा सद्यः प्राणान् परित्यजेत्"—यह यहाँ के वीर पुत्रों का सिद्धान्त था। इस देश की वीर नारी अपने वीराङ्गजों से यही कहती कि—"गोविप्रार्थे वत्स ! मृत्युं व्रजेथाः" यहाँ के लोगों की भगवान् से प्रार्थना भी यही थी कि "ब्राह्मणाश्चैव गावश्च सन्तु देव निरापदाः"। परन्तु अब वह समय नहीं है। किसी समय हिन्दुओं का यह भाव प्रज्वलित था अब उसकी चिनगारियाँ रह गई हैं। उन्हींका फल वर्तमान समय की पिञ्जरापोल, गोशालाएँ और अन्नसत्र हैं। विद्वान् ब्राह्मण को आर्यसमाजी भी मान सकता है, दूध देने वाली गऊ को ईसाई और मुसल्मान भी प्यार कर सकते हैं, परन्तु कुपढ़ ब्राह्मण और बिना दूध की गऊ का गुज़ारा हिन्दुओं के घर के सिवा अन्यत्र नहीं हो सकता; यही हिन्दुओं में एक विशेष गुण है। गो ब्राह्मण की रक्षा करना हिन्दुओं का परम धर्म्म सब पुराणों में कहा गया है। ब्राह्मण मनुष्य हैं, वे अपने सुख दुःख का विचार स्वयं भी कर सकते हैं, परन्तु बेचारी गोमाता अपने दुःख की स्वयं पुकार भी नहीं कर सकती। ऐसे दयापात्र जीवों की रक्षा के लिए जिन सज्जनों ने पिञ्जरापोल की सृष्टि की है, वे कितने धन्यवाद के पात्र हैं, इसका बुद्धिमान स्वयं विचार कर लें।.........

......एक समय था जब प्रत्येक गृहस्थ देवताओं के साथ पशुओं की पूजा करना विराट पुरुष की पूजा समझता था, "देवा मनुष्याः पशवो वयांसि"—कह कर बलिवैश्व देव में उनका भाग निकालता था और "पशवस्तृप्यन्ताम्"—कह कर तर्पण करता था, पर अब यह समय है कि जिन्दगी भर काम लेकर घर में पले हुए पशुओं को बुढ़ापे में दश पाँच के लोभ के लिए बेचने में हमें कष्ट नहीं होता। समयानुसार उन हिन्दुओं को भी धन्य ही कहना चाहिये जो बूढ़े पशुओं की बिक्री न करके पिंजरापोल (या गोशाला) में भेज देते हैं। जो हो, हमको इन पशुओं की चिन्ता नहीं है, चिन्ता है उन बूढ़े पिता माताओं की जो

ज़िंदगी भर गऊ की तरह छाती का दूध पिलाकर और घोड़ों की तरह पुत्रों को पीठ पर लाद कर भी अन्त में सन्तान के भक्तिभाजन वा स्नेहपात्र भी नहीं रहते। एक महाशय ने उस दिन मुझसे कहा कि अँग्रेज़ी राज्य से पहले हिन्दुओं के समय में भारतवर्ष में पिञ्जरा-पोल नहीं थी। मैंने कहा उस समय इसकी आवश्यकता ही क्या थी? इसकी आवश्यकता तो तब हुई जब गौ आदि रक्षणीय जीवों के लिए हमारे घरों में जगहें न रहीं। उस समय हर एक वैष्णव और जैन जीवरक्षा करना अपना कर्तव्य समझता था, जिन घरों में गायें न होतीं, दयापात्र जीवों का पालन न होता, लोग कहते कि "श्मशान तुल्यानि गृहाणि तानि"—वे घर नहीं, श्मशान हैं। अस्तु, ये सब पुराने समय की बातें हैं। इस समय देशकाल, पात्र का विचार करने से पिञ्जरापोल की बड़ी भारी आवश्यकता जान पड़ती थी और फिर कलकत्ते ऐसे नगर का तो कहना ही क्या; जहाँ पशुओं की कौन कहे बड़े बाजार के मनुष्य भी जगह के सङ्कोच से पैर फैलाकर सोने नहीं पाते।



शिल्प और वाणिज्य

यह देश पहले से दरिद्री है कि धनवान ? जब इस प्रश्न का विचार होने लगता है, तब हमारे बहुत से भोले भाई कहने लगते हैं कि धनवान। इसके प्रमाण में वे कहने लगते हैं कि पहले जिन वैश्यों के यहाँ झोंपड़े थे उनके अब महल बन गए, जो किसी समय स्वयं बोझा ढोया करते थे, अब वे घोड़ागाड़ियों पर सवार होकर निकलते हैं। जिनकी स्त्रियों के हाथों पैरों में रूपे के दो एक गहने कठिनता से दिखाई दिया करते थे; अब उनकी स्त्रियाँ स्वर्ण से लद रही हैं, फिर किस प्रकार कहें कि देश धनवान था ?

बात सच है, पर अविचारित रमणीय है। सच है बहुत से निर्धन पुरुष धनवान होगए और बाहर की तूमतड़ाक देखने से यही मालूम होता है कि देश दिन प्रति दिन धनवान होता जाता है; पर सोचने विचारने पर ठीक इसके विपरीत फल दिखाई देता है। कुछ आदमियों के धनवान होने से देश की भलाई अवश्य है, पर उससे देश धनवान नहीं समझा जाता। वही देश धनवान समझा जाता है जो अपनी आवश्यकता को आपही पूरी कर ले। दरिद्र वही देश है जिसको विदेश की सहायता बिना आवश्यकता पूरी न हो। कुछ रुपये वा सोने चाँदी के पास होने से ही कोई धनवान नहीं हो सकता।

मान लीजिए कि आपके पास एक करोड़ रुपये तो हैं, परन्तु न खाने के लिए अन्न है न पहनने के लिए वस्त्र है और न रक्षा के लिए शस्त्र ही हैं। परन्तु एक दूसरा पुरुष है जिसके पास रुपया एक भी नहीं, परन्तु खाने, पीने, ओढ़ने, पहरने और रक्षा करने का इतना सामान है कि वह अपना ही नहीं काम पड़ने पर दूसरों की भी रक्षा कर सकता है। अब आप विचारें कि धनवान आप हैं कि वह पुरुष ? यदि आप अपने को धनवान समझें तो बड़ी भारी भूल है। क्योंकि आप ख़ाली रुपये से तो अपनी रक्षा कर ही नहीं सकते, उसके लिए

अन्न वस्त्र का भी प्रयोजन होता है। जब तक रुपया आपके पास रहेगा, तबतक आपको उसके बदले में अन्न वस्त्र मिलते रहेंगे; परन्तु ज़रा विचार कर तो देखें, इस अनन्त और विस्तृत काल में इस तरह आपकी वा आपके वंश की कबतक रक्षा होगी?

समुद्र बहुत बड़ा है, परन्तु उसमें यदि जल की आय हो नहीं, और ख़र्च होता रहे तो कौन कह सकता है कि एक दिन उसका अन्त नहीं हो जायगा? एक एक बूंद के टपकने से जब हम एक जलपूर्ण कलस को खाली होता देखते हैं, तो यह सहज ही अनुमान होता है कि आय के बिना व्यय से एक न एक दिन कुबेर के भण्डार का भी अन्त हो सकता है। बस जब यह बात है तो आप अपने उस देश को किस प्रकार धनवान समझते हैं जो अपनी रक्षा और भरण पोषण के लिए सर्वदा विलायत का मुँह देखता रहता है?

यह मान भी लिया जाय कि एक दिन आपका झोंपड़ों में निवास था, पहरने के लिए कोई आभूषण भी पास न था और रेशमी कपड़ों की कौन कहे, मलमल का भी कहीं ठौर ठिकाना न था, परन्तु तो भी आप उस दिन दरिद्र न थे। क्योंकि आपकी आवश्यकता उस दिन अपने घर की वस्तुओं से ही पूरी होती थीं। उस दिन आपको विलायती वस्तुओं की आवश्यकता न थी। धोती, दुपट्टा, पगड़ी, जूता, छत्ता, सब घर के ही थे; पर आज यदि एक मास के लिए विलायती जहाज न आवें तो आपकी और आपके देश की क्या दशा हो? फिर आप अपने देश को धनवान कैसे समझते हैं? धनवान यह तभी कहला सकता है जब विदेशी वस्तुओं की इसे आवश्यकता न रहे।

अब रही यह बात कि इस देश में सोना चाँदी पहले अधिक था कि अब? इसका उत्तर हम तो यही देंगे कि पहले अधिक था। आजकल की सम्पत्ति इधर उधर लोगों में बटी हुई दिखलाई देती है वह वैसी ही है जैसी भागीरथी के स्वाभाविक प्रवाह के रुकने पर उसकी एक क्षुद्र नहर का जल बंजड़ भूमि में कोसों तक छितरा जाय और तब कोई भोला भाई जो उसकी स्थिति और गहराई को न जानता

हो, कहने लगे कि पहले की अपेक्षा जल अब अधिक है। क्योंकि पहले गङ्गा सिर्फ आध कोस के प्रवाह में बहती थी और अब कोसों तक समन्दर सा दिखाई देता है। पहले सम्पत्ति चाहे सर्वसाधारण में इस प्रकार बिखरी हुई न हो; परन्तु वह जहाँ कहीं थी वहाँ बहते हुए प्रवाह की तरह थी जिसके निर्गम के साथ अन्य का अटूट सम्बन्ध था।

महाभारत में लिखा है कि—

"अष्टादश सहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः।
भुञ्जन्ते रूक्मपात्रिभिर्युधिष्ठिर निवेशने ॥"

अर्थात् अठारह हजार स्नातक स्वर्ण के पात्रों में प्रतिदिन महाराज युधिष्ठिर के भवन में भोजन किया करते थे। अब कहिए कौनसा महाराज है जिसके इस प्रकार का ठाठ हो? यदि यह कहा जाय कि यह तो पौराणिक उपाख्यान हैं बढ़ा करके लिखे गए हैं, तो जाने दीजिए। उनकी बातें सुनिए जो दूसरी जाति के थे। तवारीख फरिश्ता आदि के मुसलमान इतिहास लेखकों ने जहाँ महमूद ग़जनवी की लूट का वर्णन किया है वहाँ लिखा है कि मथुरा के मन्दिरों की लूट में उसके हाथ इतना माल लगा कि खाली सोने चाँदी की बहुमूल्य मूर्तियों से सैकड़ों ऊँट भरे गए थे। सोमनाथ जी के घंटे की सुनहरी जंजीर कई मन की थी जो लाखों की लागत की थी। अंग्रेजों के आने से पहले जगत सेठ ऐसे अनेक धनी थे, जिनके यहाँ कराड़ों की लूट हो जाने पर भी दिवाला नहीं निकला।

अस्तु, सेठों की बात जाने दीजिए। गरीब लोगों के लिए भी वह समय बहुत ही सुखप्रद था। खाने पीने की वस्तु इतनी सस्ती थी कि अब उनका भाव लिखा जाय, तो कुपढ़ लोग अलिफलैला के किस्से के साथ उसकी तुलना करने लग जाय। बात यह है, कि रुपये के रुपये नहीं लगते, वरञ्च शिल्प और बाणिज्य की बेल में रुपये लगते हैं। जिस देश का शिल्प और बाणिज्य उन्नत और सजीव हो, वही देश धनवान है और जहाँ इसकी अवनति है वहाँ लक्ष्मी की भी इतिश्री है। कारण कि मनुष्य की आवश्यकता वाणिज्य और शिल्प द्वारा पूरी होती है।

खेती करना बुरा नहीं है

नई शिक्षा के प्रताप से बहुत से लोगों का यह विचार हो गया है कि खेती करना असभ्य पुरुषों का कार्य्य है और साथ ही इसके यह भी खयाल किया जाता है कि यह एक पापकर्म्म है ! इसी पापकर्म्म के कारण वैश्यवर्ण की पापयोनि में गणना हुई है, परन्तु विचारने पर विदित होता है कि यह कोरी भ्रान्तिमूलक कल्पना है।

वेदाध्यायी, सात्विक ब्राह्मण के लिए मुन जी ने 'शिलोञ्छ' वृत्ति की प्रशंसा कर "प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्" इस वाक्य से खेती को 'प्रमृत' बतलाया है अर्थात् इसे हिंसाप्रधान कहा है, किन्तु वैश्य के लिए यह अवश्य कर्तव्य ठहराया है। भगवान् ने भी भगवद्गीता में "कृषि गोरंक्ष्य वाणिज्यं वैश्य कर्म्म स्वभावजम्" यहाँ पर वैश्य का सबसे पहला कर्म्म खेती ही को कहा है।

भले ही आजकल के पढ़े लिखे और धनवान पुरुष खेती को नीच कर्म्म समझें, परन्तु यह वाणिज्य की अपेक्षा पवित्र और अर्थप्रद है, इसमें कुछ सन्देह नहीं। खेती से मनुष्यों की और पशुओं की ही रक्षा नहीं होती, वरञ्च सम्पूर्ण संसार की रक्षा इसी कर्म्म पर निर्भर है। खेती न हो तो राजाओं के भण्डार खाली हो जायँ और मांसाहारियों को सर्वदा इतने जीव भी नहीं मिलें, जिनसे उनके उदर की ज्वाला-अन्न के बिना शान्त हो जाय।

कृषिकार्य्य की स्मृतियों ही में नहीं, वेद में भी जगह जगह बहुत सी प्रशंसा की गई है। सामवेद के ब्राह्मण (१७) में कहा है कि—

"हीना वा एते हीयन्ते, ये व्रात्यां प्रवसन्ति, न हि ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति, न कृषिं, नन वाणिज्याम्;"।

अर्थात् नीच उनको कह सकते हैं, जो व्रात्यता अवलम्बन कर प्रवास में ही समय व्यतीत करते हैं। न तो ब्रह्मचर्य्य (वेदाध्ययनादि) करते, न कृषिकार्य्य ही और न वाणिज्य ही; सुतरां दिन दिन अधिक-तर हीन होते चले जाते हैं।

इसी वेद में (११।५) कृषिकार्य्य की समृद्धिकारिता का इस प्रकार वर्णन किया है—

"अष्टौ वा एताः कामदुधा आसथंस्ता सामेका समशीर्यत सा कृषि रभवद्दृध्यतेऽस्मै कृषौ य एवं वेद।"

अर्थात् संसार में आठ प्रकार की कामधेनु गऊ हैं, उन्हींका एक रूपान्तर कृषि है, जो कोई इस तत्व को जानता है वह अवश्य ही समृद्धिशाली होता है। जिस खेती को वेद भगवान इस प्रकार प्रशंसा करते हैं, उसको नीच कार्य्य कौन कह सकता है?

सुप्रसिद्ध वङ्गीय विद्वान् सर रमेशचन्द्र दत्त सी० आई० ई० प्राचीन भारतवर्ष की सभ्यता के इतिहास में लिखते हैं कि आर्य्य शब्द ही जिस नाम से कि आर्य्यावर्त के जीतने वाले लोग अपने को वहाँ के पुराने रहने वालों अर्थात् दासों से अलग करते थे, उसीकी उत्पत्ति एक ऐसे शब्द से कही जाती है जिसका अर्थ 'खेती करना' है। प्रोफेसर मेक्समूलर का मत है कि इसी शब्द के चिन्ह ईरान वा फारिस से लेकर एरिन वा आयरलेंड तक बहुत से आर्य्य देशों के नामों में मिलते हैं। वे कहते हैं कि आर्य्य लोगों ने अपनी सब से पहिली रहने की जगह में इस शब्द को खेती में अपनी प्रीति दिखलाने के लिए और उन घुमन्तू तुरानियों से (जिनका नाम विश्वास किया जाता है कि उनकी शीघ्र यात्रा और उनके घोड़ों की तेज़ी जाहिर करता है) अपने को अलग करने के लिए गढ़ा।"

बाबू रमेशचन्द्र और प्रोफेसर मेक्समूलर चाहे जितनी अटकल लगावें परन्तु जिन्होंने संस्कृत का व्याकरण पढ़ कर प्रत्नतत्व जाना है, वे कभी इस बात को स्वीकार नहीं करेंगे कि "आर्य्य" खेती करने वाले को कहते हैं। संस्कृत के किसी कोष व्याकरण में 'ऋ' धातु का जिससे कि यह आर्य्य शब्द बना है वैसा अर्थ नहीं मिलता। "मान न मान मैं तेरा महमान" की कहावत के अनुसार मेक्समूलर साहिब आर्य्य शब्द का यही मुख्य अर्थ ठहराते हैं! पर तो भी हम इस बात को सहर्ष स्वीकार करते हैं कि हमारे ऋग्वेद आदि माननीय ग्रन्थों में

कृषि कार्य्य की उपेक्षा नहीं की गई वरञ्च उसे प्रधानता दी गई है।

आजकल के भक्तों की तरह यदि हमारे पूर्वज भी सङ्कीर्णचेता होते तो वह भी 'रूपं देहि, जयं देहि, यशो देहि द्विषो जहि' 'खाली अपने ही लिए कहकर रह जाते, परन्तु उन उदारमना तत्वदर्शी लोगों का ध्यान भिन्न प्रकार का था। वे देवताओं से स्वार्थ कामना करने की अपेक्षा परार्थ कामना करना ही श्रेयस्कर समझते थे। इसीलिए उन्होंने जगत् के उपकारार्थ वहुत से सूत्रों में कृषि कार्य्य की सफलता के लिए प्रार्थना की है।

पारस्कार गृह्य सूत्र में वर्षा के लिए "सीता यज्ञ" का विधान है। कर्कादि जितने भाष्यकार हैं, सभी का यही मत है कि "स चायं कृष्यादि प्रवृत्तस्यैव साग्नेर्भवति" अर्थात् जो पुरुष अग्निहोत्री होने पर भी खेती करता है, यह अनुष्ठान उसके करने योग्य है। इससे यह सिद्ध हुआ कि साग्निक पुरुष भी खेती कर सकता है। यदि खेती करना ऐसा दुष्कर्म्म होता जैसा आजकल के लोग समझते हैं, तो कभी सम्भव न था अग्निहोत्री पुरुष के लिए वेद उसका अवकाश देता।

खेद की बात है कि पिछले समय में यह कार्य्य केवल ग्रामीणों की बुद्धि पर छोड़ दिया गया और भारतवर्ष के विद्वान और धनवान इस कर्म्म को छोटा समझ कर अलग हो गए जिसका परिणाम यह हुआ कि यहाँ की उर्वरा भूमि क्रमशः अनुर्वरा हो गई। विद्या और धन के बिना मूढ़ लोग उसकी उपजाऊ शक्ति की रक्षा नहीं कर सके और उधर यूरोप के विद्वान् और श्रीमानों का काम ठीक इसके विपरीत हुआ। वे इस बात की परीक्षा करने लगे कि किस चीज़ की खाद से किस भूमि में कौन कौन सी वस्तु उत्पन्न हो सकती हैं? इस प्रकार की परीक्षा और परिश्रम का यह फल हुआ कि जिन वस्तुओं की यहाँ से यूरोप में रफ़तनी हुआ करती थी अब उनकी यूरोप से आमदनी होने लगी है। किसी समय गेहूँ, जो, कपास आदि का वहाँ नाम भी न था, परन्तु अब वहाँ इनकी इतनी उपज होने लगी कि, भारत वसुन्धरा उसके सामने दरिद्रा हो रही है।

क्या वैश्य को आर्य्य नहीं कह सकते ?

आजकल "ब्राह्मण सर्वस्व" और "वेदप्रकाश" में इस विषय पर कुछ महाशयों की छेड़ हो रही है कि वैश्य को आर्य कह सकते हैं कि नहीं ? पहले पत्र के सम्पादक पण्डित भीमसेन शर्म्मा और दूसरे के पण्डित तुलसीराम जी हैं। भीमसेन जी स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के पद शिष्य होने पर भी इस समय सनातनधर्म्म सभावों के पक्ष में हैं और तुलसीराम जी निज नाम से पौराणिक प्रतीत होने पर भी स्वयं आर्यसमाज के उपदेष्टा हैं। जो हो, मत दोनों महाशयों का अलग अलग है, पर यह कुछ आवश्यक नहीं है कि यदि दो पुरुषों का धर्म्मविश्वास अलग अलग हो तो उनके सत्य की खोज का परिणाम भी एक दूसरे का विरोधी ही हो। पर आज कल देखते हैं कि यह एक परिपाटी चल निकली कि अपने विरोधी का अवश्य विरोध किया जाय चाहे वहाँ विरोध करने को कुछ अवकाश भी न हो ! हमें उनके परस्पर के झगड़ों से कुछ प्रयोजन नहीं, खाली ऊर्द्धोक्त प्रश्न पर विचार करना है।

यूरप के पण्डितों ने सबसे पहले यह सिद्धान्त निकाला कि पहले ब्राह्मण और क्षत्रिय दो ही वर्ण थे और दोनों ही आर्य कहलाते थे। पीछे से एक तीसरा वैश्यवर्ण भी खड़ा किया गया पर उसे "आर्य" कहलाने का हक़ नहीं दिया ! शूद्र को तो इन द्विजातियों ने अपने से एक दम अलग ही रक्खा। यहाँ तक कि उन्हें अनार्य दस्यू इत्यादि दूषित नामों से स्मरण किया है, इत्यादि हमारे देश के इतिहासलेखकों ने भी यूरपवालों का आँख बन्द कर अनुसरण करना शुरू किया और यह न सोचा कि उसका परिणाम आर्य जाति के लिए कितना भयानक है।

सब से अधिक उन्होंने शूद्रवर्ण को उत्तेजित किया जिससे शिक्षित शूद्र जाति ब्राह्मण वर्ण और सनातन धर्म्म से क्रमशः विमुख हो रही है। इसके पश्चात् वैश्य और क्षत्रियों का नंबर है।

वैश्यों के विषय में जो बेतुकी बातें कहीं हैं उनमें से एक तो यह है कि पाणिनी के व्याकरण में "ऋहलोर्ण्यत्" इस सूत्र से "आर्य्य" शब्द सिद्ध होता है। इस सूत्र का अपवाद "आर्यः स्वामि वैश्ययोः" यह सूत्र है, जिसका यह अभिप्राय है कि और सब अर्थों में तो ऋ धातु से "ण्यात" प्रत्यय होने पर आर्य शब्द बनेगा, परन्तु स्वामि और वैश्य अर्थवाच्य होने पर ऋ धातु से "यत्" प्रत्यय होकर आर्य शब्द ही सिद्ध होगा। बस, इससे योरप के पण्डितों ने सत्वर ही यह सिद्धान्त निकाल लिया कि पाणिनी के समय तक ब्राह्मण और क्षत्रिय, वैश्यों को इतना हीन समझते थे कि उन्हें "आर्य" नाम से भी अलग रखते थे। पर उन्होंने यह नहीं सोचा कि यदि सूत्रकार का वैसा ही सङ्कीर्ण मत होता तो "आर्यः स्वामि वैश्ययोः" इस सूत्र में वैश्य के साथ "स्वामि" शब्द को नहीं घसीटते। कारण, संसार में "स्वामी" को कोई भी छोटे नाम से नहीं पुकारता।

ऋग्वेद में "तन्नो इन्द्र सत्रमार्याः" इत्यादि मन्त्रों में बार बार आर्य नाम जाति मात्र का ही आया है उससे केवल ब्राह्मण और क्षत्रियों का ग्रहण करना दुराग्रह मात्र है। रामायण और महाभारत में सीता और द्रौपदी आदि साध्वी स्त्रियाँ पुनः पुनः अपने स्वामियों को "आर्य" नाम से पुकारती हैं और इधर तुलाधार के विशेषण की भाँति भी हम इसे प्रयुक्त होता देखते हैं। फिर यह कहना कि स्वामी और वैश्य को आर्य नहीं कह सकते कितनी भूल की बात है? जब महाकवि भवभूति और कालिदास नटों के मुख से बार बार सूत्रधार को "आर्य" कहलाते हैं, तब इस प्रकार की शङ्का को अवकाश ही कहाँ है?

महर्षि मनु इस शब्द की व्याख्या खूब कर गये हैं कि—

कर्त्तव्यमाचरन् काममकर्त्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्रकृत्याचारे स वा आर्य इति स्मृतः॥

अर्थात् जो पुरुष कर्त्तव्य को करै और अकर्त्तव्य को नहीं वही सच्चा आर्य है वह चाहे जिस वर्ण का हो। अब रही पाणिनि के अपवाद सूत्र की बात, सो उसका प्रयोजन इतना ही है कि कुछ स्वामी और वैश्य शब्द का आर्य पर्याय नहीं है, जो चाहे जैसे स्वामी को आर्य कह दिया जाय केवल गुणवान् से तात्पर्य है। और यदि व्याकरण का कोई सूत्र दूसरे शास्त्रों के नियमों से व्यर्थ भी होता हो, तो हुआ करे, सब की परिभाषा और सङ्केत भिन्न भिन्न हैं। पाणिनि के व्याकरण का अधिकार जैसा हमारे वाक्यों पर है वैसा मन्वादि के वचनों पर नहीं। सुतरां, श्रेष्ठ वैश्यों को आर्य कहने में कभी भी आपत्ति हुई हो, यह सिद्ध नहीं होता और विलायतवालों के गुरूघण्टाल मैक्समूलर साहिब तो आर्य शब्द का असली अर्थ "किसान" ही बताते हैं, ऐसी अवस्था में आर्य शब्द का गौरव ही क्या है, जिसमें ब्राह्मण लोग कृपणता करते हैं?

दान की दुर्दशा

वैश्य महासभा मेरठ के उपमन्त्री लाला रामानुज दयालु जी ने एक पत्र "श्रीवेंकटेश्वर-समाचार" में इस अभिप्राय का प्रकाश कराया है कि दान देने की रीति जो इस देश में अच्छे उद्देश्य से चली थी अब वह बहुत बिगड़ गई है इसलिए उसमें सुधार होना चाहिए। उन्होंने इस विषय में कई नियम भी प्रकाश किए हैं, यदि उनके अनुसार वैश्य जाति के नेता व्यवहार करने लगें, तो कुछ काल में इस देश का उपकार हो सकता है। इधर एक पत्र बम्बई की मारवाड़ी पंचायत से विचारार्थ हमारे पास आया है, उस पर मारवाड़ी वैश्य जाति के सरपञ्च सेठ ताराचन्द जी घनश्यामदास के हस्ताक्षर हैं। उसका अभिप्राय भी वैसा ही है। उसमें कहा गया है कि मारवाड़ियों में द्वादशाह के दिन कारज पर जो हेड़ा (बाड़ा) देने की चाल चली है आरम्भ में

उनका उद्देश्य बहुत अच्छा था। श्राद्ध के अवसर पर देश के दीन दुःखित लोगों का सत्कार करना एक तो बड़ा भारी पुण्य है, दूसरे ऐसा करने से देश का उपकार और अन्तरात्मा की तृप्ति होती है। जिस समय यह रीति चली थी उस समय भूखे लोग ही हेड़ा लेने आया करते और उन्हें मिलता भी बहुत कुछ था। अब भूखे पीछे रह जाते हैं और हर तरह के लुचे गुंडे बदमाश उनमें शामिल हो यहाँ तक भीड़ कर देते हैं कि कितने ही दुर्बल मनुष्यों के धक्कम धक्के में प्राण चले जाते हैं। इसके सिवा अब हेड़ा लेने के लिए भीड़ चाहे जिसके द्वार पर इकट्ठी हो जाती है जिससे इज्जतदार को इज्जत बचानी बहुत कठिन हो जाती है। इन सब बातों को सोच कर बम्बई की पंचायत प्रस्ताव करती है कि हेडा देने की रीति बन्द कर दी जाय और उसके बदले अनाथालय खोल कर अनाथ पालन की व्यवस्था की जाय। जिससे कुरीति तो बन्द हो जाय और शुभकार्य वा दान की प्रथा बन्द नहीं हो सके।

निसन्देह प्रस्ताव बहुत उत्तम है पर इसको काम में लाना सहज नहीं है। वैश्य महासभा के अवसर पर अथवा दूसरी पञ्चयतों में जो लोग प्रस्ताव कर आते हैं वे ही काम पड़ने पर फिसल जाते हैं। अच्छे अच्छे बुद्धिमान लोगों को देखा है कि वे जिस काम को घृणा की दृष्टि से देखते हैं, काम पड़ने पर दबाव में आकर उसीको वे करने लगते हैं। जितने वैश्य हैं, सभी चाहते हैं कि उनके पुरोहित कुपढ़ न रहें पर अपने पुरोहितों के पढ़ाने की अथवा उनके बदलने की किसने व्यवस्था की ? सब चाहते हैं कि बाप दादों के कारज और विवाह शादी के खर्च घट जायं, पर जबानी जमा-खर्च के सिवा आगे कोई बढ़ता दिखाई नहीं देता !

अभी बड़े बाजार में दो कारज हो गए है एक राय बहादुर हरि-राम जी गोइनके की दादी का और दूसरा सारस्वत पण्डित बिनायक मिश्र का। इन दोनों कारजों की बात बड़े बाजार में कई दिनों तक होती रही ! दोनों ही में लाखों रुपैयों का ख़र्च हुआ। गोइनका वंश जिस-

तरह अपने उत्तम विचारों के लिए प्रसिद्ध है उसी तरह पं० बिनायक मिश्र जी के उत्तराधिकारियों में पं० छोटूलाल मिश्र जी जैसे विचार-शील पुरुष हैं। यदि ये लोग अपनी स्वतन्त्रता को काम में लाकर खर्च करते तो देश की आवश्यकता के अनुसार उतने खर्च से कोई स्थायी कार्य हो जाता अथवा सुपात्रों को मिलता। सुना है कि डूंडलाद में हेड़ा देने के समय गोइनकों के एक लाख से अधिक मनुष्य इकट्ठे हो गए थे! कारज कई जगह हुआ और उनके लाखों रुपैये खर्च हो गए होंगे परन्तु दान करने से जो शान्ति हुआ करती है वह कहाँ तक हुई इस बात को वे स्वयं सोच लें।

यद्यपि हम चाहते थे कि इस अवसर पर उक्त महोदय लोक-निन्दा की परवाह न कर कोई सर्व साधारण के उपयोगी कार्य करते और दूसरे लोग भी उसका अनुकरण करने लगते, पर जब वैसा साहस नहीं है तो जो कुछ हुआ वही बहुत है। हमसे अनेक लोगों ने यह तो कहा कि फलाने को इतना देना चाहिए था और फलाने को इतना पर यह विरलों ही ने कहा कि जो दिया गया वह क्या कुछ कम है। यों तो इस देश में हरिश्चन्द्र और परशुराम जी की तरह सर्वस्व देकर भी कोई बड़ाई नहीं पा सकता पर हम उन्हें भी धन्य ही कहते हैं जो बड़ाई के लिए करते हैं। क्या कभी ऐसा समय भी होगा जब दान से इस देश के ब्राह्मणों को घृणा हो और वे दूसरे कार्यों में लगें? कलकत्ते के ब्राह्मण और वैश्य अपनी ब्रह्मपुरियों की प्रशंसा करते हैं पर यह नहीं सोचते कि इन ब्रह्मपुरियों ही की बदौलत वे परतन्त्र और निकम्मे हो रहे हैं। यदि इन निकम्मो घृणार्ह ब्रह्मपुरियों में एक दिन विद्वान ब्राह्मणों के सत्कार का भी दिन होता तो मारवाड़ियों को विदित हो जाता कि बंगाली और मारवाड़ियों में विद्या का कितना अन्तर है। विवाह शादी में मङ्गलामुखियों से छुटकारा नहीं और गमी में ब्रह्मपुरियों से। भगवति! विद्यादेवि! अब तुम्हारी बिदाई में बिलम्ब नहीं है।



विशुद्धानन्द विद्यालय

[१]

गत सप्ताह हमने कलकत्तावासी विलासी मारवाड़ियों का विद्या-धर्म्म सम्बन्धी जातीय कार्य्य देखा। चार साल पहले जब हम यहाँ आये थे, तब मारवाड़ी विद्यालय के अभाव से उनके बालकों को इधर उधर बङ्गाली स्कूलों में फिरते देख जो व्यथा उत्पन्न हुई थी, वह इसके दर्शन से बहुत कुछ दूर हुई और आशा हुई कि इस विद्याङ्कुर को मारवाड़ी लोग सींचते रहें, तो यह किसी समय बड़े वृक्ष का रूप धारण कर अपने फल से सब को तृप्त करेगा। यदि कलकत्ते जैसे नगर की ओर जहाँ बड़े बड़े कालेज, स्कूल और पाठशालाएँ अधिकता से हैं, ध्यान धर कर देखा जाये, तो इस विद्यालय के सम्बन्ध में लिखने योग्य कोई विशेष बात नहीं है। ऐसे विद्यालय यहाँ बहुत हैं, किन्तु निजता के विचार से स्वीकार करना पड़ता है, कि यह विद्यालय सब से प्रथम गिनने योग्य है। अन्य विद्यालयों में राजभाषा अङ्गरेजी के साथ बङ्गला है और यहाँ हमारी मातृभाषा हिन्दी विराजमान है। और भी ऐसे अनेक कारण हैं जिससे यह हमारी विशेष वस्तु समझी जा सकती है। विशेषतः श्रीस्वामी जी महाराज का स्मारक होने के हेतु यह और भी मधुर हो गया है। मधुरं पयः स्वभावेन ननु कीदृक सित शर्कराञ्चितम्।

जब कि महात्मा गौड़ स्वामी जी का काशीस्थ विद्यापीठ जहाँ से कितने ही शक्तिशाली महानुभाव पण्डित निकले हैं; लोगों की स्मृति से बहुत दूर जा चुका है, जब कि स्वामी जी के विशुद्ध भक्त रणवीर सिंह की जम्बू पाठशाला चुपके चुपके स्थानान्तरित हो चुकी है; जब उनकी भिक्षा का धन 'दरभङ्गा की पाठशाला' अपनी अचल वृत्ति को त्याग कर नये महाराज की नामवरी के लिए दरभङ्गा जाने के लिए

वि० ६

चलचित्त हो रही है; जब कि स्वामी जी के विशुद्धाश्रम की स्मारक वस्तुओं का पता तक भी नहीं है, तब भारतवर्ष की राजधानी में उनके नाम की एक वस्तु देख कर तदीय जनों को आनन्द होगा, इसमें सन्देह ही क्या है ? विशेषतः ऐसी दशा में जब कि उनके बड़े बड़े नृपति शिष्य कुछ भी नहीं कर सके।

विद्यालय का स्थान

हरिसन रोड नामक प्रसिद्ध राजपथ में एक अच्छी जगह पर है। यह बहुत बड़ा न होने पर भी विद्यालय की वर्तमान अवस्था के अनुसार ठीक है। इसके द्वार पर का साइन बोर्ड देखने ही से सड़क पर आने जाने वाले लोग यह जान सकते हैं कि, यहाँ मारवाड़ियों का विद्याभण्डार स्वामी जी के नाम पर खुला हुआ है, इसके ऊपर नीचे कई कमरे और भी तय्यार हो रहे हैं। यह स्थान विद्यालय के निज की सम्पत्ति होता, तो उसकी स्थिरता का एक प्रमाण समझा जाता। जिसके घर का घर होता है, लोग उसकी प्रतिष्ठा करते हैं; किरायेदार चाहे कैसाही भलामानुस क्यों न हो, किन्तु जमानत बिना उसे कोई वस्तु नहीं मिल सकती। यह चंदे से चलनेवाला विद्यालय निर्धन मारवाड़ियों के समान भाड़े के मकान में स्थित है। जिस जाति के धर्म्मात्मा लोग रायबहादुर सेठ सूर्य्यमल जो जैसे हरिद्वार हृषिकेश, गया, प्रयाग, आदि तीर्थों में धर्म्मशाला बनवाकर कीर्ति लूट चुके हैं; उसमें क्या कोई ऐसा दूरदर्शी बुद्धिमान धर्म्मपरायण नहीं है, जो अपनी जाति के लिए इस विद्यामन्दिर का एक स्थान बनवा दे। जो लोग पञ्चायती मकान के लिए लाखों की सम्पत्ति दान करने का विज्ञापन देते हैं, वे ऐसे पञ्चायती मकान बनवाकर यशस्वी क्यों नहीं होते ? जिस जाति का एक एक मनुष्य लाखों की सम्पत्ति रखता है, उस जाति का विद्यालय किरायेदार हो कर रहे, यह कैसे सहा जा सकता है ?

जहाँ देव-द्विज-भक्ति के लिए लाखों का पुण्य हो रहा है, जहाँ शारीरिक सुखों के लिए भी किसी बात की कमी नहीं है, वहाँ त्रिलोक-

पावनी भगवती विद्या देवी के उचित आदर के लिए मुट्ठियाँ बंद हो रही हैं, यह बड़े ही परिताप का विषय है। कलकत्ते के भाग्यवान मारवाड़ियों का यही तो एक विद्या सम्बन्धी पञ्चायती कार्य्य है। और इसको स्थानाभाव से रहने के लिए प्रति मास प्रचुर धन देना पड़े, यह मारवाड़ी पञ्चों के लिए शोभाजनक नहीं।

अध्यापक

बहुत से लोग अनुमान करते होंगे कि इसमें अध्यापक भी मारवाड़ी ही होंगे। क्योंकि और लोगों के आजकल जातीय कार्यों में स्वदेशी और स्वजाति लोगों का बड़ा आग्रह है, पर यह बात 'वसुधैव कुटुम्बकम्' मानने वाले मारवाड़ियों में नहीं है। यहाँ तक कि अध्यापकों तथा पढ़ानेवालों में एक भी मारवाड़ी नहीं है और हेडमास्टर महाशय एक बङ्गाली सज्जन हैं। एक ही नहीं उनके सहकारी शिक्षकों में एक और भी बङ्गाली हाल ही में घुसाये गये हैं। सुना है कि पढ़ाने वाले सब सनातन धर्म्मावलम्बी हैं। उनका मधुर भाषण और शिष्टाचार प्रशंसनीय है। पढ़ाई का फल भी उत्तम कहा गया है और अध्यापन-शैली लक्ष्य करने योग्य है। अङ्गरेज़ी के पढ़ानेवाले अनेक और संस्कृत के पढ़ानेवाले एक हैं। 'भाग्यं फलति सर्वत्र।'

छात्र और विद्यार्थी

अनुमान से तीन सौ पढ़नेवालों में पहरावे से तो नहीं जान पड़ा कि उनमें कितने मारवाड़ी लड़के हैं; किन्तु पूछने से ज्ञात हुआ कि उनकी संख्या सब से अधिक है। पढ़नेवाले ग़ैरहाजिर बहुत रहते हैं। पढ़ानेवालों से मालूम हुआ, कि इस विद्या-विमुख-जाति में यह दोष अनिवार्य है। चेष्टा करने पर भी विद्यालय-कमेटी इस विषय में सफलकाम नहीं हुई। हम आशा करते हैं, कि यदि छोटे-छोटे बालकों में पारितोषिक अथवा इनाम बाटने का प्रबन्ध किया गया, तो इस काम में भी सफलता हो सकती है। यहाँ के मारवाड़ी बालकों के मुख से विशुद्ध हिन्दी का उच्चारण सुन कर प्रसन्नता होती है और मारवाड़ियों की बिगड़ी भाषा के सुधारने की आशा भी होती है। उनके उच्चारण को

यदि हमारे नागरी-धुरन्धर चौखम्भा वाले सुनें, तो कभी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते। संस्कृत के छात्रों की दशा यहाँ भी संस्कृत के फूटे भाग्य के समान है। छात्रों के भोजनाच्छादन के प्रबन्ध बिना यह दशा सुधर भी नहीं सकती। जिनके तीर्थों में सैकड़ों अन्नक्षेत्र हैं, उनके लिए इसका प्रबन्ध कर देना कोई बड़ी बात नहीं है।

धर्म्मभाव

विद्यालय कमेटी इस बात का भी यत्न करती है कि विद्यार्थियों में धर्मभाव की वृद्धि हो; किन्तु अब तक जो इसने इस विषय में किया है वह सन्तोषजनक नहीं। न्यून से न्यून इतना तो होना चाहिये, कि कार्यारम्भ और छुट्टी होने के समय प्रधान अध्यापक सब विद्यार्थियों को एक स्थान में एकत्र कर उनसे किसी भजन अथवा भगवन्नाम की थोड़ी देर आवृत्ति कराया करें। इस प्रकार की सामूहिक प्रार्थना का बालकों के चित्त पर कुछ कम प्रभाव नहीं पड़ेगा।

कोष

विद्यालय का मूलधन इतना होना चाहिये कि जिसके सूद से यह अच्छी तरह चल सके। चंदे का कार्य चाहे जैसा दृढ़ समझा जाये किन्तु चिरस्थायी नहीं होता। इस विषय में वारान्तर में लिखेगें।

[२]

मारवाड़ी

मारवाड़ी शब्द का असली अर्थ है मारवाड़ देश का रहने वाला, परन्तु इस समय मारवाड़ियों की वाणिज्य विभूति के समान इसके अर्थ का भी विस्तार हो गया है। अब मारवाड़ी कहने से केवल जोधपुरियों ही का बोध नहीं होता वरञ्च, बीकानेरी, जैसलमेरी, फतहपुरी और भिवानी वालों का भी इसमें समावेश होता है। विजेता अङ्गरेज़ों के प्रताप की तरह वाणिज्य-विजयी मारवाड़ियों की भाषा, भेष, भाव का प्रभाव हरियाने आदि के सीधे साधे पड़ोसी लोगों पर भी पड़ चुका है। यहाँ तक कि शेषावाटी वालों के समान वे लोग भी अपने को विदेश

में मारवाड़ियों ही का एक अङ्ग समझते हैं और जिस प्रकार उन लोगों के चित्त में इनसे सम्बन्ध करने की रुचि बढ़ रही है, उसी प्रकार यदि यह पूरी भी होती गई, तो इसमें सन्देह नहीं कि कुछ ही दिनों में दिल्ली वालों की सीमाबद्ध जीर्ण रीति भी मारवाड़ियों की उच्छृङ्खल नवीन नीति का अनुगमन करेगी। जो हो वर्तमान समय में मारवाड़ के रहने वाले ही नहीं वरन् अन्य प्रान्त के रहने वाले मारवाड़ी कहलाते हैं। यह बात विचित्र होने पर भी आनन्दजनक अवश्य है। कारण, जातीय विचार जितने ही विस्तृत हों, उतना ही हिन्दू समाज का मङ्गल है।

मारवाड़ियों का केन्द्र

हर एक जाति का कोई न कोई नगर केन्द्र होता है; जिसके द्वारा सुधार वा शासन उसके मुखिया लोग किया करते हैं और वहीं के व्यवहारों को और नगरों के लोग आदर्श समझते हैं। जैसा मुसलमानों के लिए दिल्ली, सिक्खों के लिए अमृतसर और पारसियों के लिए बम्बई है, उसी प्रकार यदि हम सब प्रकार के मारवाड़ियों के लिए केन्द्र बनाना चाहें, तो कलकत्ते के सिवाय और कौन हो सकता है। यद्यपि बम्बई में भी बहुत से मारवाड़ी रहते हैं तथापि वहाँ उनकी दशा वैसी ही है जैसे गोरे अफसरों के साथ में रहने वाले काले कुलियों की। वहाँ छोटे से छोटा गुजराती अथवा पारसी सेठ कहलाता है, किन्तु बड़े से बड़ा मारवाड़ी वहाँ सेठ कहलाने का हक़ नहीं रखता।

मारवाड़ियों के अन्य जातीय नौकरों के साथ वहाँ वाले 'भैया जी' वा 'सेठ' जी कह कर मीठा बर्ताव करते हैं, परन्तु वहां का गाड़ीवान भी मारवाड़ी 'सेठ' को मारवाड़ी कहकर घृणा प्रकट करता है। किन्तु कलकत्ते में यह बात नहीं। यहाँ मारवाड़ी अच्छी दृष्टि से देखे जाते हैं। जन-संख्या में भी वह कम नहीं हैं। कलकत्ते का बड़ा बाजार मारवाड़ियों से कबूतरों की तरह भरा हुआ है। ऊपर, नीचे, अगल में बगल में, जहाँ देखो; उधर ही मारवाड़ी दृष्टिगोचर होते हैं। हरिसन रोड के दोनों ओर पचमंजिले और सतमंजिले सुन्दर सजीले मकानों पर

मारवाड़िनियों की लटकती हुई घाघरी और सूखती हुई धोतियाँ उनकी कीर्तिमयी झंडियों की तरह फड़क रही हैं। बम्बई में एक पञ्चायती वाड़ी और जगदीश जी का मन्दिर ही बनवा कर वहाँ वाले कृतार्थ हो गये, परन्तु यहाँ अनेक धर्मशाला तथा मन्दिरों के होते हुए भी लोग इसी ढंग के नित्य नये नये मकान बनवा रहे हैं। इतना ही नहीं, प्रति सप्ताह यहाँ के बगीचों में मारवाड़ी लोगों की जैसी धूम होती है, वैसी अन्यत्र वर्षों में भी नहीं होती। जितना खर्च यहाँ का एक मारवाड़ी अपना बगीचा बनवाने में करता है, उतना खर्च रामगढ़ के सेठ अपने बच्चों के विवाह में भी नहीं कर सकते। इसीलिए कहते हैं कि कलकत्ते की माया अपरम्पार है। यहाँ का भण्डार अटूट है। स्वर्ग और नरक का सब सामान तयार है। मारवाड़ियों के अधःपतन तथा ऊर्द्ध-गमन का द्वार यहीं पर विद्यमान है। इस कारण मारवाड़ियों के केन्द्र स्थान में श्रीविशुद्धानन्द विद्यालय जैसे जातीय अनुष्ठान का होना अत्यन्त आनन्द की बात है, किन्तु मूलधन के बिना इसकी स्थिति दुर्घट है, इसमें सन्देह नहीं। "मूलं नास्ति कुतः शाखा।"

मूल धन कैसे संग्रह हो ?

यदि मारवाड़ी समाज में ऐसे माई के लाल भी उत्पन्न हो गये हों जिनके विचार विस्तृत और जातिहित से पूर्ण हों, तो उन्हें उचित है, कि वे इस समय श्रीविशुद्धानन्द विद्यालय के लिए मूलधन संग्रह करने को उद्यत हों। यदि प्रत्येक मारवाड़ी के घर से १) मुद्रा भी संग्रह की जाये तो भी सब प्रकार के मारवाड़ियों से इतना द्रव्य एकत्रित हो सकता है, जिसके सूद से विद्यालय भी चल सके; तदङ्गीभूत पुस्तकादि का प्रचार भी होता जाये। विद्यालय कमेटी जब अपने अनुष्ठानपत्र में उन विषयों का, जिनसे कलकत्ता-स्थित मारवाड़ियों की ही नहीं, वरन् सब प्रदेशों के भाइयों की भलाई है, उल्लेख करेंगी, तब उसकी लाग (?) देने में किसी को कुछ भी आपत्ति नहीं होगी; किन्तु यह कार्य तब तक आरम्भ नहीं करना चाहिये जब तक कलकत्ते के प्रधान-प्रधान मारवाड़ियों से उनकी योग्यतानुसार कुछ मूलधन ले लिया जाये। हमारे

विचार में यह कार्य यहाँ के प्रसिद्ध उदार पुरुष सेठ दुलीचन्द जी के स्थान से आरम्भ होना चाहिए।

[३]

श्रीविशुद्धानन्द विद्यालय को निर्धन तथा परगृहवासी सुन कर बहुत लोग समझते होंगे, कि उसके संस्थापकों में कोई बड़े भारी सेठ नहीं हैं। ऐसे वैसे ही लोग होंगे, नहीं तो कब यह सम्भव था कि बड़े बाज़ार की वेश्याओं तक के लिए स्थान बन गये और मारवाड़ियों का एक मात्र विद्यालय गृहहीन होकर रहे। पर वस्तुतः ऐसा नहीं है। विद्यालय के नेताओं में दो एक नहीं, बहुत सेठ हैं और वे भारी-भरकम भी हैं। यदि मौज हो जाये तो एक ही सेठ सब कुछ कर सकता है, पर दुःख है कि उनका इधर ध्यान नहीं है। गुरुसहायमल जी की तरह सेठ सब बनना चाहते हैं; पर उन जैसे कार्य्य नहीं करते। कलकत्ते के मारवाड़ी विलासिता में चाहे खत्री और बङ्गालियों को भी मात कर जायें, किन्तु विद्या का आदर करने में अभी दूसरों से पीछे पड़े हुए हैं। सुना है, कि इसी विद्यालय की देखादेखी खत्रियों का भी एक विद्यालय खुला है। उसकी सम्पत्ति थोड़े ही दिनों में इससे बढ़ गई, पर इसकी कीर्ति बढ़ने पर भी आय नहीं बढ़ी। एक खत्री डाक्टर और एक खत्री स्त्री ने दश-दश सहस्र की सम्पत्ति इस अपने विद्यालय में दे दी है, किन्तु मारवाड़ी सेठ वज़न में भारी होने पर भी भारी कार्य नहीं कर सके।

अब तक इस विद्यालय में जो उन्नति हुई है, उसके मुख्य कारण मारवाड़ी एसोसियेशन के संस्थापक बाबू रङ्गलाल पोद्दार और बाबू मोतीचन्द गोठिया प्रभृति कई एक सज्जन पुरुष हैं। वे राजा नहीं, रायबहादुर नहीं और न आनरेरी मेजिस्ट्रेट वा कोई बड़े भारी सेठ ही हैं, किन्तु भगवान विश्वेश्वर की उस सृष्टि में से हैं जो अपनी जाति में ऐसे लोगों की संख्यावृद्धि के हेतु होते हैं। यह लोग अपनी प्रतिष्ठा की परवा न कर दूसरों की प्रतिष्ठा करते हैं और जातिहित के लिए निर्जीव व्यक्ति के पेट में भी सञ्जीवनी शक्ति के सञ्चार की इच्छा करते

हैं। यदि इसी प्रकार ये लोग इस कार्य्य के व्रती रहें तो एक दिन अवश्य कृतकार्य्य होंगे और हिन्दू समाज के कई आरम्भ शूर धर्म्मध्वजी महापुरुषों की तरह यदि इनका रङ्ग नहीं बदला तो बहुत शीघ्र अपने जैसे अनेक पुरुषों को उत्पन्न कर लेंगे। न इन लोगों को प्रशंसा कराने की इच्छा और न हम इनकी सुरुचि की अधिक प्रशंसा कर बड़े आदमियों के कान इस समय खड़ा करना चाहते, पर यह पूछे बिना नहीं रह सकते कि उन लोगों ने विद्यालय में इकट्ठे होकर क्या किया?

मारवाड़ियों के रत्न अकेले राजा शिवबक्स बहादुर बागला ने श्री सत्यनरायण जी का मन्दिर, धर्म्मशाला, अन्नक्षेत्र श्रीकाशीधाम में बनवा दिया है। कलकत्ता धर्म्मशाला का स्थापन कर पाठशाला और स्कूल खोल दिया, किन्तु विद्यालय के लिए उन्होंने क्या किया सो अभी तक विदित नहीं हुआ।

श्रीयुक्त बाबू रामचन्द्र गोयनका ने अपनी जाति की अनाथ विधवा स्त्रियों की रक्षा के लिए लाखों की सम्पत्ति अलग कर मदोन्मत्त मारवाड़ियों के लिए एक अनुकरणीय अच्छा मार्ग दिखला दिया, पर उनके पुत्ररत्न चतुरशिरोमणि बाबू हरिराम जी गोयनका ने राय बहादुर की पदवी पाने के सिवा और कौनसा प्रतिष्ठित कार्य किया सो विदित नहीं। अलीगढ़ के नवाब मुहसिनमुल्क सय्यद अहमद खाँ के स्मारक के लिए द्वार द्वार घूमने में नहीं थकते। भारतवर्ष के वायसराय अपनी महारानी के स्मारक के निमित्त माँगने में नहीं लजाते, पर हमारे गोयनका बहादुर विश्वपूजित यतिराज श्री १०८ स्वामी विशुद्धानन्द के स्मारक के लिए चन्दा संग्रह करने में लजाते हैं। यह हमारे समाज के दग्धभाग्य की महिमा है। नहीं तो जो पुरुष अपनी शिष्टता और सुचरित्रता से उच्चासन प्राप्त कर चुका है और साथ ही मनुष्य शरीर की क्षणभङ्गुरता भी देख चुका है, वह क्या कभी भी ऐसा महत्त्वपूर्ण कार्य करने में विलम्ब करता!

सेठ सूर्यमल जी की बात पहले कह चुके हैं कि वह कैसे दानी थे, पर आज यह कहना है कि वह समझदार भी कुछ कम नहीं थे।

लक्ष्मण झूले का यदि पुल अभी तक नहीं बना होता, तो अब उसको बहुत से लोग बनवा सकते थे, पर समय पर उन्होंने उसकी ख़बर ले ली थी। हमने एक महाराज के मुख से इस विषय में सुना था। उनकी उपस्थिति में यह कब सम्भव था, कि विद्यालय स्थानहीन रहे। उनके सुयोग्य पुत्र बाबू शिवपूजन लाल झुनझुनवाले को हम इस बात का धन्यवाद देते हैं, कि उन्होंने विद्यालय को भाड़े ही पर सही, पर स्थान तो दे रक्खा है, हम यह नहीं कहते, कि वह विद्यालय से भाड़ा न लें वा मकान का भाड़ा कुछ कम कर दें, किन्तु यह चाहते हैं, कि वे अपने प्रातःस्मरणीय पिता के कार्यों को स्मरण कर, "आत्मा वै जायते पुत्रः" इस सिद्धान्त-वाक्य का उदाहरण दिखा दें। उनके पिता ने गङ्गा तट विहारी तपोवनवासी सन्यासियों तक के लिए स्थान बनवा दिया, किन्तु उनके पुत्र के हृदय में कलकत्तास्थ विद्यालय के स्थाननिर्माण की चिन्ता नहीं; यह आश्चर्य की बात है ?

[४]

मारवाड़ी समाज की आलोचना के समय मृत राय बहादुर बाबू भगवान दास बागड़ी की विल और उनके घर का मामला भी भूलने की चीज़ नहीं है। किस तरह उन्होंने इतना द्रव्य कमाया, किस तरह यह मुट्ठी बंद किये चले गये, उनकी स्त्री और पुत्र में किस तरह द्वेष भड़का और उनके मुकदमे के राजसूय यज्ञ के किस तरह कौन-कौन महात्मा ऋत्विज एवं होता आदि बने थे, उन सब बातों को लिख कर हम आपके लेख को नहीं बढ़ाया चाहते, तो भी हम इतना याद दिलाना उचित समझते हैं, कि बाबू भगवानदास जी की धर्मपत्नी ने स्त्री होकर भी अपने स्वामी की विल के अनुसार मारवाड़ियों के लिए कलकत्ते में एक बड़ा भारी अस्पताल बनवा दिया और बाबू रामरिख जी पुरुष कहला कर भी अपने स्वामी लक्ष्मीनारायण बागला की विल के अनुसार कार्य्य नहीं कर सके। कर भी सके तो, सिर्फ़ इतना ही, कि एसोसियेशन की ओर से नालिश होने पर एक आध मकान के द्वार पर पत्थर लगा दिया।

मारवाड़ियों में याद रखने लायक दो लक्ष्मीनारायण हुए हैं। एक तो सुप्रसिद्ध सेठ गुरुसहायमल के पोते और दूसरे उक्त बागला के दत्तक पुत्र वही लक्ष्मीनारायण जी। दोनों के आचरणों में जैसे आकाश पाताल कासा अन्तर था, वैसा ही उनकी प्रसिद्धि में भी अन्तर है। पहले ने हरिभक्ति और ब्राह्मणों की सेवा कर अपने बड़े घराने का बड़ा नाम किया और दूसरे ने गोद लेने वाली माता के साथ मुकद्दमा लड़कर नामवरी हासिल की। पहले ने इन्द्रियों का दमन कर और विषयसुख को तुच्छ समझ, पुण्यभूमि व्रज में भगवान् का मन्दिर बनवा, वहीं डेरा डाल दिया था और दूसरा अपनी अतृप्त वासना से डावाँडोल हो जिन्दगी भर भटकता रहा। पहले का स्वर्गवास जिस प्रकार हुआ उसे भी सब जानते हैं और दूसरे ने जिस प्रकार प्राण दिये वह भी छिपा नहीं है। दोनों की बातों में बहुत भेद होने पर भी एक बात में एकता है कि दोनों ही दानी थे। दोनों ही अपनी जिंदगी में मरने के पहले विल कर गये थे। पहले ने अपने पुत्र का भाग अलग कर शेष सम्पत्ति देवोत्तर कर दी थी और दूसरे ने अपने प्यारे मुनीब को सर्वस्व देकर अवशिष्ट सवा पाँच लाख के दान की व्यवस्था बना दी थी। पहले के दान के ट्रष्टियों के समान दूसरे के ट्रष्टी भी कर्त्तव्य का पालन करते, तो मारवाड़ी जाति का ही नहीं, समस्त हिन्दू समाज का अनेकांश में उपकार होता, पर इस देश का ऐसा भाग्य कहाँ ? जो ऐसा हो। अपने मृत मालिक के मनोरथ को पूर्ण किये विना उन्होंने एक लाख रुपये विक्टोरिया स्मारक फंड में तो देदिये, पर जो मुख्य कर्त्तव्य था, उसकी ओर उनका ध्यान भी नहीं हुआ। हम नहीं कह सकते कि, यह उनकी भूल थी या उनके सलाहकारों की। यदि वे एक लाख रुपया विशुद्धानन्द विद्यालय को भी दे देते, तो उनका नाम अमर हो जाता। प्रत्येक मारवाड़ी छात्र उनके नाम को भक्ति के साथ उच्चारण करता और विद्यालय के साइन बोर्ड की तरह जातिहितैषियों में उनका नाम चित्ताकर्षक होता। तथापि हम इस बात को स्वीकार किये बिना नहीं रह सकते, कि इस विद्यालय में पांच हजार की रकम

बाबू रामरिखराम ने भी दी है जो कि चन्दा देने वालों में सब से अधिक है। बहुत से लोग कह उठेंगे, कि बाबू रामरिखराम जी ने विद्यालय को पाँच हजार दिया तो क्या दिया ? उनके ऊपर जब आप से आप बिना बादल की वर्षा के समान लक्ष्मी आ गिरी थी, तो अधिक उदारता दिखानी थी ; पर हम कहते हैं कि उन्होंने पांच हजार तो दिये। विद्यालय और मारवाड़ी एसोसियेशन की प्रेसिडेंटी का दम भरने वालों ने कितना दिया ? जो लोग और एसोशियेशन को पदाधिकारिता को लौकिक उन्नति का द्वार वना रहे हैं, उनसे हम अप्रसन्न नहीं हैं,' किन्तु उनको यह बात सुनाते हैं, कि जिससे अधिक फल मिलता हो उसकी अधिकता के साथ रक्षा करना चाहिए। यह बात ठीक नहीं, कि स्वयं कुछ न करें और दूसरों की दिल्लगी करने में तत्पर रहें।

राय बहादुर भगवानदास बागले की दानशीला स्त्री को मुकद्दमें के चक्कर में फसाने के लिए बड़े बड़े महारथी आ खड़े हुए। कहनेवाले डंके की चोट लाखों के वारे न्यारे कर गये, पर बड़े बड़े मुच्छन्दरों में एक भी ऐसा माई का लाल नहीं मिला, जो उस उदार स्त्री को इस विद्यालय की बात सुना कर उससे कुछ द्रव्य दिलाता। बाबू भजन लाल लोहिया मारवाड़ियों में चलते पुरजे सुने गये हैं, दीन दुःखिया लोगों के आँसू पोंछने कुलीडिपों के फन्दे से स्त्रीपुरुषों के निकालने और दुर्बलों का पक्ष लेने में वे एक ही कहे जाते हैं। ऐसे दीनबन्धु पुरुष को उलटा समझा कर, झगड़ा करानेवाले अनेक मिल सकते हैं, पर यह कहनेवाले विरले हैं, कि मारवाड़ियों की उन्नति का मूल विद्यालय है।

[५]

विद्यार्थियों की वृत्ति

इस विद्यालय की प्रथम वार्षिक रिपोर्ट की आलोचना करते समय हम ज्येष्ठ के 'सुदर्शन' में दिखा चुके हैं कि इस विद्यालय में संस्कृत के विद्यार्थियों की वृत्ति के लिए विशेष प्रबन्ध होना चाहिए। इस बात को प्रकट करने में हमें बहुत कष्ट होता है कि जहाँ पाँच सौ रुपये मासिक अङ्गरेजी के लिए खर्च होते हैं, वहाँ हमारी देववाणी

संस्कृत के हिस्से में केवल तीस पैंतिस रुपये ही आते हैं। जो विद्यालय श्री १०८ स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती जी के नाम पर प्रतिष्ठित है, उसमें संस्कृत की यदि ऐसी दरिद्र दशा रहे, तो बहुत ही दुःख की बात है।

पहले संस्कृत विभाग में दो पण्डित पढ़ाते थे; अब उन्नति हुई तो यह कि दो की जगह एक पण्डित जी रह गये। पचास रुपये मासिक की बचत निकाल कर अङ्गरेज़ी की उन्नति की गई। हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि अङ्गरेज़ी की उन्नति न की जाये, हम चाहते हैं कि अङ्गरेज़ी पढ़ने के स्वार्थ में बेचारी परमार्थ विद्या संस्कृत की यदि उन्नति न हो सके तो टांग भी न तोड़ी जाय।

इस विद्यालय के लिए चंदा संग्रह होने के समाचार जब समाचार पत्रों में प्रकाशित हुए, तो बहुत से मारवाड़ी पण्डितों को आशा हुई थी किन्तु अब इस ढंग से तो सिद्ध होता है, कि उनका विचार सफल होना बहुत कठिन है।

विद्यालय में जब हम गये तो देखा, कि चिड़ावे के तेजस्वी पण्डित लोहीराम जी के स्थान पर एक कोठरी में बैठे हुए एक क्षीणकाय मैथिल पण्डित कुछ विद्यार्थियों को व्याकरण पढ़ा रहे हैं। तीस पैंतिस विद्यार्थियों में केवल आठ दस उपस्थित थे। अङ्गरेज़ी क्लास के विद्यार्थियों के बैठने के लिए बेंचें थीं, पर बेचारे संस्कृत वालों के लिए दरी तक न थी। अङ्गरेज़ी विभाग में उस विद्या का मुखमण्डल उन्नति की शुभाशा से दीप्तिमान दिखाई देता था और वहाँ देववाणी का मुख निराशा से मलीन होरहा था। जान पड़ता है कि, विद्यालय के प्रेसिडेंट महाशय कभी इस कोठरी के सामने खड़े नहीं हुए होंगे, नहीं तो उनको अपने काम की हैसियत का पता लग जाता; पर यह नहीं कह सकते, कि शृङ्गाररस के बदले वहाँ करुणरस की मूर्त्ति देख कर उनके जी पर कुछ प्रभाव पड़ता, कि नहीं।

अङ्गरेज़ी और हिन्दी की श्रेणियों को देख कर विद्यालय का भविष्य अच्छा जान पड़ता है, पर इस संस्कृत कक्षा को देख कर जी

टूट जाता है। विद्यालय के अधिकारियों में गाड़ी घोड़े रखनेवाले और अपने आनन्द ने लिए सहस्रों रुपये खर्च करनेवाले बहुत से लोग हैं, पर उनमें एक भी ऐसा नहीं है, कि जो इस विद्यालय के दस पन्दरह विद्यार्थियों को भोजन देता वा दो चारों के लिए छात्रवृत्ति देने लगता। कलकत्ते के मारवाड़ी काशी, हरिद्वार, हृषीकेश आदि तीर्थों में अनेक अन्नक्षेत्र खोल चुके हैं और भेड़ियाधसान की तरह उधर नये नये और भी उनके द्वारा खुल रहे हैं, परन्तु विद्यालय के विद्यार्थियों के लिए अन्नक्षेत्र स्थापित करने का कोई हौसला नहीं करता। ऐसे स्थान में जहाँ भोजन करनेवालों की कोई निर्दिष्ट श्रेणी नहीं है और जहाँ मुनीम लोग आधे से ज्यादे गटक जाते हैं, वहाँ तो क्षेत्र खुलें और जहाँ सेठ साहिब स्वयं उपस्थित हों, वहाँ कुछ भी न करें। इसीका नाम "चिराग तले अंधेरा" है।

आज कल यहाँ के एक प्रसिद्ध मारवाड़ी सेठ लड़की का विवाह करने पटने गये हैं। वर और कन्या पक्ष के लोग श्रीमान् और साथ ही बुद्धिमान् भी हैं। उनके चित्त में यदि कोई विचारशील पुरुष यह जमा दें, कि जहाँ आप नाच कूद में सहस्रों रुपये खर्च करेंगे, वहाँ विद्यालय के निमित्त भी कुछ कर दिखावें और वह यही हो, कि इस विद्यालय के किसी विद्यार्थी को नियत काल के लिए मासिक वृत्ति दें, तो जाति का बहुत उपकार हो सकता है तथा आगे के लिए यह प्रथा भी पड़ जाती है। अन्न, वस्त्र और छात्रवृत्ति के नियत किये बिना यहाँ संस्कृत की उन्नति करना दुराशा मात्र है। और संस्कृत की मरणोन्मुख दशा के सन्मुख उनका प्रताप भी अकीर्तिनीय और उपहास्य है।

हम स्वीकार करते हैं, कि राजा शिवबक्स बहादुर बागले जैसे पुराने ढंग के अनेक दानी हैं, जो यात्रियों को किराया, वस्त्रहीन को वस्त्र और भूखों को अन्न सदा देते रहते हैं। ऐसे लोग हमें कह सकते हैं, कि आप कैसे पुरुष हैं, जो विद्यालय के तो इतने गीत गाते हैं और दूसरी धर्म्म सम्बन्धी बातों पर ध्यान नहीं देते, परन्तु बात यह है, कि विद्या को सब उन्नतियों का मूल समझ कर, हम इसकी चर्चा बाध्य

होकर करते हैं। बाबू हरिराम गोयनका राय बहादुर आदि चाहें, तो यह बात की बात में सिद्ध हो सकती है।

अब रही हमारे विद्यालय के प्रेसीडेंट और नन्दनवन-बिहारी स्वर्णकटक धारी सेठ दुलीचन्द जी की कथा, सो अगले सप्ताह सुनावेंगे।

[६]

गत सप्ताह में आशा हुई थी, कि इस बार सेठ दुलीचन्द जी की बातें सुनावेंगे, परन्तु इस सप्ताह की एक विशेष घटना से अपना पहला विचार आज रोकना पड़ा है। गत बृहस्पतिवार को मारवाड़ी एसोसिएशन के डिपुटेशन ने बङ्गदेश के छोटे और नये लाट फ्रेजर साहेब को एक एड्रेस दिया था, उसमें हमारे इस विद्यालय का भी प्रसङ्ग आया है, इसलिए इस बार पाठकों को वही विषय सुनाना पड़ेगा।

लाट साहब एसोसिएशन में नहीं पधारे थे। नये लाट का स्वागत करने को डेपुटेशन स्वयं वलभद्रराज राजभवन में गया था। डेपुटेशन में मारवाड़ी वैश्यजाति के बड़े बड़े धुरंधर सेठ मौजूद हो गये थे। श्रीयुक्त राजा शिवबक्स बहादुर अपने सुयोग्य पुत्रसहित आये थे। राय बहादुर बाबू हरिराम गोयनका पटने से एक दिन पहले यहाँ पधार चुके थे, जिससे इसकी शोभा और भी अधिक हो गई थी। इसके लिए सेठ दुलीचन्द जी भी अपना बगीचो छोड़कर चले आये थे। तात्पर्य्य यह कि जो विद्यालय कमेटी में कभी उपस्थित नहीं होते वे भी इस दिन आये थे और जो उसके कार्य्य को अपना कर्त्तव्य समझते हैं वे भी उपस्थित हुए थे। बहुत लोगों के मन में इस बात का खटका था, कि अपनी आदत के अनुसार कहीं वे लोग डेपुटेशन के समय को लेट न कर दें, परन्तु आनन्द की बात है, कि सब लोग समय पर पहुँच गये थे। यदि इसी प्रकार बङ्गाल के लाटसाहब बड़े बाजार के श्रीमानों से सप्ताह में एक बार मिल लिया करें, तो सब भाइयों का एक जगह जमाव भी हो जाये और बहुतों की आदत भी सुधर जाय। जो हो, हमें इस बात का आनन्द है, कि ऐसोसिएशन की बदौलत मारवाड़ियों को भी (एक बड़े भारी समुदाय का) "प्रतिनिधित्व" कर लेने का हौसला हुआ।

समयान्तर में हम इस बात की आलोचना करेंगे, कि मारवाड़ी जाति के प्रतिनिधि कौन कहे जा सकते हैं। वे सगुण होने चाहिये, कि शुद्ध निर्गुण।

एड्रेस में कई बातें कही गई हैं उनकी आलोचना के लिए अवकाश नहीं है, किन्तु विद्या सम्बन्धी बातों पर कुछ कहे बिना नहीं रह सकते। एड्रेस में एक विद्यालय और एक लाइब्रेरी की बात कही गई है। यह लाइब्रेरी कैसी है, किसने क़ायम की है? सो विदित नहीं, परन्तु जब इतने बड़े आदमियों ने, कि जो अपने को एक बड़ी जाति का प्रतिनिधि कहते हैं, उसकी बात कही है, तो अवश्य वह एक ऐसा पुस्तकालय होगा जिसमें वेद, वेदाङ्ग, धर्म, दर्शन, काव्य, नीति आदि के सब जातीय ग्रन्थ मिल सकें। हम यहाँ तक जानते हैं कि मारवाड़ियों के ऐसे दो पुस्तकालय हैं, एक कलकत्ता धर्मसभा का और दूसरा विद्यारसिक विद्वद्प्रिय बाबू रूड़मलजी गोयनका का। जातिमात्र के प्रतिनिधियों को व्यक्ति विशेष के कार्य को अपनाने का अधिकार हो, तो अवश्य ही ऐसे किसी पुस्तकालय से अपनी विद्यारसिकता को बानगी दिखाना कुछ अनुचित नहीं है।

इस अनिर्दिष्ट लाइब्रेरी के अतिरिक्त दूसरी बात विद्यालय के विषय में है। मारवाड़ी जाति को विद्या विषय में पीछे पड़ी हुई बतलाकर एड्रेस में कहा गया है, कि उस दोष को दूर करने लिए एसोसिएशन ने श्रीविशुद्धानन्दन विद्यालय के नाम से कलकत्ते में एक स्कूल खोला है जिसमें बहुत से लड़के पढ़ते हैं और बिना फ़ीस शिक्षा दी जाती है। इसके उत्तर में लाटसाहेब ने यह जान कर, उसमें बिना फीस के लड़के पढ़ाये जाते हैं विद्यालय के कार्य को सराहा पर साथ ही यह भी कहा, उससे उच्च शिक्षा का द्वार नहीं खुला है जिसको आपकी जाति में बड़ी आवश्यकता है। पर लायब्रेरी की बात पर उन्होंने एक अक्षर भी नहीं कहा। क्यों नहीं कहा, इस बात को डेपुटेशन के लोग स्वयं समझ सकते हैं।

हमारे लिए यह बड़े आनन्द की बात है कि, माधवप्रसाद हलवा-

सिये की प्रेसीडेंटी में मारवाड़ियों का पहिला डेपुटेशन लाट साहेब से आशानुरूप मधुर उत्तर पाकर कृतार्थ हुआ। परन्तु इस आनन्द के समय हम इतने अधीर नहीं हो सकते, कि विद्यालय की असली बात का लोगों को स्मरण तक भी न करावें। डेपुटेशन के लोगों ने एड्रेस में अभिमान से कहा है कि इस प्रान्त के वाणिज्य का एक बड़ा भाग उनके हाथ में है और उनकी जायदाद इस प्रान्त में बहुत कुछ फैल रही है। पर हम उनको लज्जित न कर यह पूछना चाहते हैं, कि किस विद्यालय की बात को अगाड़ी कर सरकारी कामों में अपनी पूछताछ कराया और जातीय आवश्यकता मिटाया चाहते हैं? उसकी क्या दशा है? उसको कितनी पूंजी और जायदाद है?

क्या हमारे सेठ साहबों को उचित नहीं था कि अपनी जायदाद और वाणिज्य का वंगेश्वर के सम्मुख घमंड दिखलाने से पहले वाणिज्य पर विद्यालय की कुछ लाग लगा देते और अपने विद्यालय के लिए स्थान तो बनवा देते!

[७]

मारवाड़ियों के डेपुटेशन ने एड्रेस में स्वीकार किया है कि उनकी जाति अङ्गरेजी शिक्षा में पीछे पड़ी हुई है, पर असली बात यह है, कि वह अङ्गरेजी ही में नहीं, शिक्षामात्र में पीछे पड़ी हुई है। इस विषय में उनका एड्रेस भी साक्षी दे रहा है।

विद्यालय के सिवा मारवाड़ियों ने अपने उत्तम कार्यों में पिञ्जरा-पोल का नाम लिया है। यह कार्य निस्सन्देह उनका है और सब तरह प्रशंसा योग्य है। लाट साहब ने भी इसकी उपयोगिता को स्वीकार किया है। यद्यपि एड्रेस और उसके उत्तर में पुराने धर्मभाव की ओर उनका लक्ष्य नहीं है, तो भी यह प्रसङ्ग आनन्दजनक है, इसमें सन्देह नहीं।

एड्रेस मे कहा है—"मारवाड़ी जाति के सज्जनों ने सर्वसाधारण के हितार्थ इस नगर में कई एक उत्तम कार्य किये हैं? राय बहादुर सूर्यमल ने धर्मशाला; रायबहादुर भगवानदास ने ख़ैराती अस्पताल

और बाबू रामचन्द्र गोयनका ने हिन्दू-विधवा-सहायक-फाण्ड खोला है; परन्तु हमारे विचार में इन सब के नाम जताने की कोई आवश्यकता न थी और यदि अपनी जाति का महत्व दिखाने और ऐसे उपकारी पुरुषों का नाम लेने की आवश्यकता ही समझी गई थी, तो इस प्रकार के दूसरे कार्यों का नामोल्लेख न करना एसोसियेशन की बड़ी भारी भूल है। राजा शिवबक्स बागले की (जो सत्यनारायण जी की) धर्म्मशाला नाम से प्रसिद्ध है, विष्णुदयालु हरदयाल की, रामकृष्ण श्यामदेव भोती का सराबगी आदि की धर्मशालायें भी भूलने की चीजें न थीं। इन सब के साथ राजा शिवबक्स और विश्वदयाल हरदयाल जी के दोनों मन्दिरों का नाम ले लिया जाता, तो भी कुछ पाप न होता। यदि युक्तप्रदेश की कोई सभा ऐसे अवसर पर देवमन्दिरों का उल्लेख न करती, तो हम यही समझते, यह नये पन्थों की महिमा है। परन्तु यहाँ यह शङ्का करनी व्यर्थ है। जहाँ तक हम जानते हैं, अभी तक मारवाड़ी जाति इस रोग से मुक्त है। यदि यह कहा जाये कि एसोसियेशन केवल वाणिज्य सभा है यह कोई धर्मसभा नहीं है, फिर इसमें सत्यनारायण जी का क्या काम? तो इसके उत्तर में हम यही कहते कि यह ठीक नहीं; स्वधर्म के विना कोई जातीय भाव स्थिर नहीं रह सकता। यदि यह सभा वैसी ही सभा होती जो अपने नियमों में धर्म्म के नाम मात्र से चौंकती है, तो फिर पिञ्जरापोल आदि का भी नाम न लेती। जो हो उत्तर में लाट साहिब ने यही कहा, इन सब में मैं राय भगवान दास के अस्पताल को जानता हूँ। है भी ठीक! जानते तो तब न, जब कोई लाट साहब के द्वारा उन कामों को कराता या रङ्गीन रिपोर्ट लिखकर उनको अपने धर्मकार्य की नुमाइश दिखाता। पुराने मारवाड़ियों के विचार में पृथ्वी के राजा से बड़ा एक और भी राजा था, जिसको वे अपने कर्म का साक्षी और फलदाता समझते थे, परन्तु अब के लोगों में बहुत से इस प्रकार के हैं, जिनके निकट वह कोई वस्तु नहीं है। अब से आगे लाट साहब के पास सब धर्मकार्यों की रिपोर्ट पहुँचायी जाया करेगी; क्योंकि इस समय धर्म,

कार्य के फलदाता भी लाट साहब ही समझे गये हैं। अब उन लोगों का जमाना नहीं है, जो गुप्त दान को सब से बढ़िया काम समझा करते थे। लाट साहब जल्दी न करें, अब धर्मशाला भी लोग उन्हींके द्वारा बनवाया करेंगे और बनने से प्रथम उसके संवाद अखबारों में छप जाया करेंगे। इस समय तो लाट साहब ने पिञ्जरापोल को काम की चीज़ मिउनिसिपलटि के चैयरमैन के कहने से जाना है, आगे कदाचित् वे स्वयं जान जायें। अभी तक उसकी रिपोर्ट देवनागरी ही में छपती है, कदाचित् एड्रेस की तरह वह भी अब शुद्ध अङ्गरेज़ी में छपने लगे।

लाट साहब ने जो मारवाड़ियों के गुण वर्णन किये हैं, उनकी यथार्थता में कुछ सन्देह नहीं है। परन्तु वह पुरानी चाल के हैं। नई चालवालों से नेकी के कार्य में जी खोलकर सहायता मारवाड़ियों में करने वाले होते, तो विशुद्धानन्द विद्यालय कभी का कालेज बन गया होता। डेपुटेशन के महाशयों का सब से पहला काम यह है, कि जिस उच्च शिक्षा की लाट साहब ने मारवाड़ी जाति में बहुत आवश्यकता बतलाई है, उसका द्वार खोलने में अपनी बहादुरी दिखलावें और तब तक लाट साहब के सामने जाने में सङ्कोच करें, जब तक वे कथित कार्य को पूरा न कर सकें। अब तक सेठ दुलीचन्द विद्यालय-कमेटी के प्रेसीडेंट थे, पर सुना है कि इस बार एसोसियेशन की प्रेसीडेंटी का मुकुट भी उन्हींके शिर पर रक्खा जायेगा। लोग चाहते हैं कि मारवाड़ियों के डबल प्रेसीडेंट हो कर भी सेठ दुलीचन्द्र जी अपने बगीचे की उन्नति करते रहेंगे, कि विद्यालय की ओर भी उनका ध्यान होगा। वे बगीचे में बैठे हो डबल प्रेसीडेंटी करते रहेंगे, कि कमेटी में आने का भी कष्ट उठाया करेंगे।

[८]

चार साल पहले की बात है कि इस विद्यालय की उन्नति के लिए भरी सभा में दो सज्जनों ने उत्साहभरी वाणी में प्रतिज्ञा कर जो कहा था, उसका भाव यह था, कि इस उत्तम कार्य के लिए दस बीस हज़ार रुपये देना हमारे लिए कोई बड़ी बात नहीं, पर हम रुपया देते इसलिए

हिचकते हैं कि कहीं हमारे और भाई फिर इस कार्य को हमारा निज का कार्य समझ पीछे न हट जायें। इसलिए हम लोग अपना उत्साह तब प्रकट करेंगे, जब पञ्चायत इसको अपना कार्य समझ लेगी। परमात्मा की दया से इस समय विद्यालय मारवाड़ियों की पञ्चायती चीज़ बन गया है। इसलिए आज हम उस पुरानी बात का स्मरण कराना उचित समझते हैं।

उन प्रतिज्ञा करने वाले वीर पुरुषों में एक तो बड़े बाज़ार में सेठ कहलाने वाले उदार बाबू दुलीचन्द थे और दूसरे बड़े बाज़ार के एक दूसरे धनी पुरुष थे। उन्होंने जो बातें कही थीं यद्यपि वह बड़े मौके की थीं, परन्तु बैठे ही बैठे पुराने ढंग के पञ्चों की तरह कह डाली थीं, परन्तु दुलीचन्द जी अपनी बातों के लिए खड़े ही हो गये थे, इतना ही नहीं, वरञ्च इस बात के लिए उन्हें पगड़ी भी हाथ में लेनी पड़ी थी। इन सब बातों को हम यथासमय अन्यत्र प्रकाशित कर चुके हैं, इसलिए यहाँ उसके विस्तार की आवश्यकता नहीं। आशा है, कि उनके पुराने दृश्य का हाल बड़े बाजार के बहुत से मारवाड़ियों को स्मरण होगा।

दुलीचन्द जी के साथ उसी दिन जिस दूसरे सज्जन ने प्रतिज्ञा की थी, यदि उस समय उसे पूरा करना चाहते, तो कर सकते थे, पर इस समय उनका वह समय नहीं है। इसलिए न हम उनका नाम प्रकाश करना उचित समझते हैं और न उनको कुछ कह कर कष्ट ही पहुँचाना चाहते हैं। मनुष्य का मोल समय के हाथ है, कुछ शरीर के साथ नहीं। चार साल पहले जो मारवाड़ियों में किसी गिनती में न थे, आज वे कई लाखों के मालिक हो गये और जो उस समय पञ्चायती और सराफे की नाक समझे जाते थे अब उनको कोई बात भी नहीं पूछता। संसार की ऐसी विचित्र गति देखकर भी मनुष्यों का मोह नहीं टूटता, यह आश्चर्य की बात है। मनुष्य का मन मायाचक्र की तरह सदा घूमता रहता है, स्थिर नहीं रहता। इसलिए जीवन को क्षणभङ्गुर और समय को स्थिर समझ कर मनुष्य को यथासमय अपना कर्त्तव्य पूरा करना चाहिए। भगवान् की दया से जब उनका फिर अच्छा समय आवेगा

तब हम इस विषय की उनसे बातें कहेंगे, परन्तु अब यदि दुलीचन्द जी को उनकी पुरानी बातों का स्मरण करा कर विद्यालय को चिर-स्थायी करने के निमित्त, आगे बढ़ने को कहा जाये, तो कुछ अनुचित नहीं होगा।

ईश्वर की दया से इस समय उनका बहुत अच्छा समय है। आज कल वह बड़े बाजार के सब से बड़े अमीर कहे जाते हैं। उदारता भी उनकी विख्यात हो रही है। इसके सिवा दो एक बातों में वह सब से बढ़े चढ़े हैं। मारवाड़ के रेत में कोरे आक ही आक उत्पन्न होते हैं। इसलिए वहाँ के लोगों को अनेक देशों के विविध वृक्षों का ज्ञान होना कठिन है। परन्तु दुलीचन्द जी के बग़ीचे में बोटानिकल गार्डन के समान उनको सुरक्षित देखकर चित्त बड़ा प्रसन्न होता है। सुना है, कि एक एक पौधे की रक्षा में बहुत सा व्यय होता है और मनुष्यों से बढ़ कर उनका यत्न किया जाता है। साधारण लोगों की दृष्टि में चाहे यह कार्य केवल तमाशा समझा जाये, किन्तु विचारवान लोग इसे ही विद्या का एक अङ्ग समझेंगे और यह भी आशा करेंगे कि जो लोग वृक्षों की रक्षा में इतना यत्न करते हैं, वह अपनी समाज की भलाई भी करेंगे; जो इसकी अपेक्षा उनका प्रधान कर्त्तव्य है।

वृक्षों की तरह गवैयों, बजवइयों का भी उन्हें बड़ा शौक है। दूर दूर से यह लोग इनके पास आते हैं और पुरस्कार पाकर यहाँ से जाते हैं। अवश्य ही यह बड़े आनन्द की बात है। मारवाड़ियों में ऐसे ही समझदार आदमियों का होना कम गौरव की बात नहीं है; परन्तु इस विषय में हम सिर्फ़ इतना ही सुधार चाहते हैं कि यह विद्या के लिए हो, व्यसन के लिए नहीं। मारवाड़ियों में गाने बजाने की चर्चा और बगीचे लगाने का चाव बढ़ते देखकर हम नाराज़ नहीं हैं, किन्तु हम यह नहीं चाहते कि उनमें वाजिदअली शाह जैसे लोग पैदा हों, जो गाने बजाने ही में अपनी विद्या और सम्पत्ति का मटिया-बुर्ज बना दें। हमारी इच्छा है कि इस विषय में उनका अनुराग भी हो तो बङ्गाली राजा सौरेन्द्र मोहन जैसा हो। राजा साहब ने गाने बजाने की चर्चा

से केवल अपने टुकटेर खुशामदियों से वाह वाह नहीं लूटी और न दो चार डुमडल्ली ही से "वल्लाह" की सदा सुनी, वरञ्च अपने मन को प्रसन्न और देश-विदेश में निज कीर्ति का विस्तार किया। जो बड़ाई बड़े बड़े महाराजाओं को सैकड़ों गवइयों के रखने पर भी नहीं मिली, बुद्धिमान सौरेन्द्र मोहन को वह सहज ही में मिली। उनके पीछे भी उनका नाम अमर रहेगा, किन्तु वाजिदअली का क्या शेष है? वह मटियाबुर्ज कहाँ गया?

[९]

विद्यालय के कार्य में हम सेठ दुलीचन्द जी का आवाहन इसलिए कर रहे हैं, कि उन जैसा जवानी उत्साह किसी दूसरे मारवाड़ी रहीस ने नहीं दिखाया था। दूसरे वह श्रीस्वामी विशुद्धानन्द जी महाराज के कृपापात्र और विद्यालय के साथ उनके नाम का सम्बन्ध स्थिर करने में सब के आगे हुए थे। तीसरे धर्मकार्यों में थोक चन्दा देते हुए भी उन्हें सुना है। पाँच हजार दिल्ली कालेज के लिए उन्होंने दिया और जगन्नाथ जी में धर्मशाला बनवाने को सोलह हजार गवनमेंट को उन्होंने सुपुर्द किया। इसी प्रकार और भी न जाने उन्होंने किस किस को क्या क्या दिया उसका विस्तार करना यहाँ आवश्यक नहीं है। ऐसी अवस्था में उन जैसे बड़े आदमियों की पुरानी प्रतिज्ञा का स्मरण करा देना उनके शुभचिन्तकों का कर्त्तव्य है। कारण, कि निज प्रतिज्ञा का पालन करना भी हिन्दू धर्म में सार बात है।

प्रतिज्ञा भी दो प्रकार की होती है। एक साधारण और दूसरी असाधारण। मामूली ढंग से कही हुई बात का पूरा करना पहली है और धर्म, देवता वा गुरुजनों की साक्षि में क्वचित् बात को पूर्ण करना दूसरी है। पुराने समय में जो बात साधारण तरह से भी कह देते थे, उसको जब तक पूरा न कर देते थे तब तक लोगों को चैन नहीं पड़ता था। पर अब हिन्दुओं की ऐसी दशा हो गई है कि लोग अब सैकड़ों आदमियों में कह कर भी अपनी बात को भूल जाते हैं, सो भी ब्राह्मणों की उपस्थिति में और यज्ञोपवीत तथा पगड़ी को हाथ में लेकर

धर्म की रक्षा के लिए। द्विजातियों में यज्ञोपवीत से बढ़ कर कोई वस्तु नहीं और समाज में बड़प्पन के लिए पगड़ी से बड़ी कोई चीज़ नहीं। पहले के भरोसे मनुष्यों को परलोक है और दूसरे पर लोगों का यह लोक है, जिसे दोनों का ध्यान न हो उसे इहलोक और परलोक का कितना ज्ञान है इसे बुद्धिमान स्वयं समझ सकते हैं।

बड़े आदमियों को सोचना चाहिये कि बड़प्पन की उनमें कौन-कौन बात है। भूख प्यास गरीब लोगों की तरह उनको भी सताती है और साधारण जनों के समान मल मूत्र उनके शरीर से भी निकलता है। उनमें कुछ अधिकता है तो इस बात की कि लोगों का जितना उपकार उनसे हो सकता है उतना औरों से नहीं। बड़ा आदमी मुट्ठी बंद करके भी देगा तो बहुत कुछ होगा। और साधारण लोग उदारता भी दिखलावें, तो उसका परिमाण बहुत ही स्वल्प होगा।

इसलिए सब लोग बड़े आदमियों को अपना नेता बनाकर प्रसन्न होते हैं। उनकी सभा में न पधारने पर भी उनका पद अटल रह सकता है। उनका चाहे स्वभाव न बदले पर उनके लिए सभा का नियम बदल सकता है और जलसा बंद हो सकता है। वे चाहे साधारण अवस्था के अपने भाइयों को आदमी भी न समझें, पर वे इसको अपना देवता समझते हैं। वे चाहे बिरादरी के पुराने नियम की परवा न कर, लोकलज्जा को भी धता बता दें, तो भी देश और जाति के उपकार के लिए लोग उनको सिर झुका सकते हैं; किन्तु ऐसा होने पर भी उनकी प्रभुता अधिक देर तक नहीं ठहर सकती, रुपये वालों को जिस बात के लिए बड़ा कहा जाता है, जब उसको वह समझे ही नहीं अथवा समझ कर करें ही नहीं, तो फिर उसके बड़पन्न की दूसरे कब तक परवाह करेंगे।

पचास वर्ष पहले पञ्च बनाने के लिए धन की आवश्यकता नहीं थी, चरित्रबल का प्रयोजन था। बिरादरी का एक फटे पुराने कपड़ों वाला पञ्च खराब चाल चलन वाले बड़े से बड़े धनवान को धमका सकता था और चीं चपड़ करने पर सदा के लिए बिरादरी से उसे

खारिज कर सकता था, पर अब यह बात नहीं है। अब सभी जातियों में धनवान की पूछ है, पर तो भी समाज में ऐसे लोगों की प्रभुता को नहीं पसन्द करते, जो मुखिया भी बने और सत् कार्यों में सहायता दे कर, प्रतिज्ञा को भी पूरी न करें।

अभी हमारी पहली बात पूरी भी नहीं होने पाई थी, कि इसी बीच में एसोसियेशन की वार्षिक लीला भी हो चुकी। मीटिङ्ग होने से प्रथम उसके विषय में कई तरह की चर्चा चल रही थी। एसोसियेशन काउंसिल से (secret) बिल पास होने पर भी यह बात समाचार पत्रों तक पहुँच गई थी कि सभा के मेम्बरों की भीतरी दशा क्या है और तीन चार दिन से बड़े बाजार के बड़े आदमियों में किस बात की काना-फूसी हो रही है। परमात्मा को धन्यवाद है, कि पदाधिकारियों के चुनाव को लेकर जो उनमें महाभारत मच उठा था, उसके उद्योग पर्व ही पर समाप्ति हो गई नहीं तो फल अच्छा न होता। इस वार की घटना से चाहे इसे कोई लाभ न हो, पर मारवाड़ी वैश्य जाति को अपने नेता लोगों की दशा का ज्ञान हो गया।

महाभारत के समय पाण्डव गण को इस बात का अभिमान हो गया था, विजयप्राप्ति की बड़ी भारी कामयाबी उनके ही परिश्रम का फल है; जिसका फल यह हुआ कि प्रत्येक महारथी यह समझने लगा कि "अस्माकमेवाय विजयोऽस्माकमेवाय महिमा" अर्थात् यह जो कुछ जीत हुई है, वह हमारी ही महिमा है। इस पर मायामानव भगवान कृष्ण उनको शिव के निकट ले गये कि उन्होंने सारा युद्ध देखा है। उनसे जाकर पूछें, कि वास्तव में यह विजय किसकी महिमा से उनको मिला है। कहते हैं कि प्रश्न करने पर शिव जी उनसे बोले; "समस्त महाभारत में मुझे तो कोई दूसरा वीर नहीं दिखाई देता। जहाँ तहाँ श्रीकृष्ण का चक्र चलता और द्रौपदी का खप्पर भरता दिखाई देता था और लोग तो मरे हुओं को मारने वाले थे।" यह सुन कर सब सन्न हो गये और समझ लिया कि उनका अभिमान करना वृथा है। बिना भगवान की इच्छा के वे कुछ नहीं कर सकते।

इस कथा के कहने का यह तात्पर्य है, कि चाहे ऐसोसियेशन के लोग अपनी अपनी चतुरता का कितना ही बखान करें, पर हमारे समझ में तो यह उनकी महिमा नहीं, उनके भगवान की महिमा है। यह तो हम पहले से भी जानते थे, कि आजकल बड़े बाजार के मारवाड़ियों में कोई बड़ा कार्य गोयनका बहादुर की इच्छा के बिना नहीं हो सकता। पर यह हमें नहीं विदित था, कि सचमुच वह, "कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ" हैं। हरिराम नाम की महिमा उनके कार्य में भी विद्यमान है। पर इस बार उसका उदाहरण प्रत्यक्ष देख लिया। चारों ओर उन्हींका चक्र चलता दृष्टिगोचर हुआ।

एशोसियेशन के प्रस्ताव के विरुद्ध आपत्ति उठाने में अग्रणी, फिर सब को समझा बुझा कर एकता कराने में अग्रणी, त्यागपत्र देकर रूठने वालों में अग्रणी, और रूठे हुओं को मनाने वालों में अग्रणी, पदाधिकारियों के चुनाव को बदलवाने में अग्रणी और पदाधिकारियों को चुनने में भी अग्रणी, कहाँ तक कहें; शिष्टता में, चतुरता में, कार्यतत्परता में, सभी बातों में उन्हें अग्रणी देखा। केवल एक ही बात में गोयनका बहादुर को अग्रणी होते नहीं देखा। विद्यालय को चिरस्थायी करने में वह अब तक भी अग्रणी नहीं हुए। अवश्य यह उनके चरित्र की त्रुटि नहीं, मारवाड़ियों के प्रबन्ध की न्यूनता कही जा सकती है।

कुछ लोग सोचते थे कि जब गोयनका बहादुर जैसे प्रभावशाली लोग, दुलीचन्द जी जैसे रङ्गीले पुरुष को प्रेसिडेंट बनाते हैं, तब उसमें विद्यालय के लिए अवश्य कुछ अच्छा रङ्ग निकलेगा और बाबू भजनलाल जी की वायसप्रेसिडेंटी के लिए जो घोर परिश्रम हुआ है, वह भी फलप्रद होगा, पर उस दिन दो एक मामूली बातों के सिवा न कुछ रङ्ग ही निकला और न कुछ फल ही हुआ। नई बातों में दुलीचन्द जी की वक्तृता यह थी, कि अब तक चार वायस प्रेसीडेंट होते थे, किन्तु अब पाँच वायस प्रेसिडेंट होने की व्यवस्था हुई। वक्तृता में दुलीचन्द जी ने कलकत्ते के मारवाड़ियों को, और नगरों के मारवाड़ियों से उत्तम बताया और तुलना में उनको औरों की अपेक्षा

"राजा" ठहराया; पर हमारी समझ में अब तक वह नहीं आया, कि अपने मुह से उन्होंने इतनी अपनी प्रशंसा क्यों की ? यदि यहाँ के मारवाड़ी राजा हो सकते हैं, तो सेठ दुलीचन्द जी शाहसाह एडवर्ड कहे जा सकते हैं। किन्तु फिर सृष्टि-स्थिति-विनाशाय-सम्भूत मारवाड़ियों के श्रीहरि क्या कहलायेंगे जिन लोगों के एसोसियेशन में धन की जगह हरिराम जी का नाम है, जिनके एक मात्र विद्यालय को भाड़े के लिए अपनी आमदनी का आधा हिस्सा देना पड़ता है और अनेक पुरुषों के उद्योग करने पर भी जिनके विद्यालय की स्थिति अटल न हुई, उन लोगों को होली से इतने दिनों पूर्व राजा कह देना आश्चर्य की बात है !

चार प्रेसीडेंट की जगह अब श्रीमती ऐसोसियेशन के पञ्चपति हो गये हैं। यह अच्छा हुआ और इसके लिए हम हरिराम जी को बधाई देते हैं। पञ्चायती कार्यों में पाँच पञ्चों का मिलना पाँच देवों के बराबर है। परमात्मा करे, कि शुभ कार्यों में ये लोग पाँच पाण्डवों की तरह पराक्रम दिखलायें और परस्पर के कलह से कोसों दूर रहें।

दो एक सभाओं की कार्रवाई को देखकर हमने यह निश्चय कर लिया है, कि प्रायः चलते पुरजे बड़े आदमियों में यह दोष रहता है कि, जब तक वह किसी सभा के ऊँचे पद पर आरूढ़ नहीं हो लेते, तब तक उसके काम को चलने नहीं देते। ऐसे लोगों में जो निर्मल चित्त के होते हैं, वह जी की बात प्रकट कर देते हैं और जो उनमें कूटनीतिज्ञ हैं, वह पकड़ में भी नहीं आते और काम को भी आगे नहीं चलाते; और पदारूढ़ होकर चलाया भी तो इस ढंग से कि, परिश्रम तो और लोग करें और उसका फल उनको मिल जाय।

सभा की पाठशाला में छात्रों की क्या दशा है, देववाणी संस्कृत का आदर कहाँ तक है और उनमें धर्मभाव की उन्नति होती है कि नहीं; इन बातों का कभी विचार भी न करेंगे, पर वार्षिकोत्सव के समय चौड़े होकर बैठ जायँगे ! उन लोगों का लक्ष्य इतना ही रहता है कि किसी राजपुरुष के सुख और दुःख के समय उनके नाम से सभा एक सहानुभूति सूचक तार भेज दिया करे और किसी हाकिम वा अंग्रेज़

की सभा में पधारें, पर सभ्य लोग यह कह दिया करें, कि सभा के मा बाप यही महाशय हैं। उनका सिद्धान्त रहता है, कि सभा के फंड में चाहे एक कपर्दिका तक न हो, पर किसी अंग्रेज को एड्रेस देने के समय अवश्य हौसले से खर्च किया जाय। चाहे बेचारे अध्यापकों के पास फर्श तक न हो, पर किसी बूटधारी अँगरेज से विद्यार्थियों को इनाम बटवाने के समय अवश्य ही उदारता से काम लिया जाय।

ऐसे शुभ समय पर वह अतिरिक्त चन्दा भी कर सकते हैं और कुछ गाँठ का भी लगा सकते हैं। वह सभा को टूटने इसलिए नहीं देते कि फिर हाकिमों से परिचित होने का द्वार न रहेगा, खुशामद करने का सुन्दर मौक़ा हाथ से जाता रहेगा और सभा के फंड को वह इसलिए नहीं बढ़ने देते, कि फिर उनकी ऐसी पूछ नहीं रहेगी। फिर समाज की बढ़ी हुई शक्ति पर एक व्यक्ति का प्रभाव नहीं रहेगा। फिर सेठ बहादुरों के बिना भी साधारण दशा के लोग भी काम करना सीख जायँगे। परतन्त्रता की मनोहर घृणास्पद बेड़ियाँ तोड़कर लोग स्वतन्त्रता की माला धारण करने लगेंगे। यह क्या कम अनर्थ है!

सोचा था, कि जिन लोगों ने शुद्ध धर्मभाव से पिञ्जरापोल को प्रतिष्ठित किया है, जगह जगह अन्नसत्र तथा सदाव्रत खोलकर अपनी धर्मबुद्धि का परिचय दिया है, स्थान स्थान पर पाठशाला, धर्म्मशाला आदि बनवा कर मारवाड़ी जाति की कीर्ति बढ़ाई है, उन लोगों की मण्डली में भी ऐसे अनुदार लोगों की सृष्टि कब हो सकती है? पर जब देखते हैं, कि मारवाड़ी समाज के कई एक प्रभाव-शाली नेता स्वर्ग-वासी हो गये और जो हैं सो अपने स्नेह-सिञ्चित-कुलदीपकों की ज्योति देख कर, पञ्चायत के जीर्ण शीर्ण सिंहासन से उदासीन हो एसोसिएशन की नई रङ्गदार कुर्सी की ओर केवल टक टकी लगा रहे हैं, पर उसको दृढ़ करने को यत्न नहीं करते; तो क्या समझा जाय? यही न, कि "यत्र धूमः तत्राग्निः"। गत सप्ताह में गुप्त प्रकट रूप से विद्यालय फंड के लिए कई कमिटियाँ हुईं, पर अन्त में "कर देस्यां" के सिवा सार क्या निकला। सच है, सब स्वाङ्ग आसकते हैं, पर "बोहरे" का नहीं आ सकता।

यदि उक्त सभाओं के समान एसोसिएशन की स्थिति होगई हो, तो फिर उसकी वा विद्यालय की उन्नति के लिए निम्न लिखित कार्य किये जा सकते हैं।

१म वर्त्तमान पदाधिकारियों के सिवाय एसोसियेशन का एक जनरल "प्रेसीडेंट" होना चाहिये और एक लाइफ प्रेसीडेंट। यह दोनों पद उन पुरुषों को देना चाहिए जो सेठ दुलीचन्द के समकक्ष हों। पूछने पर कदाचित् बहुत लोग यही कहेंगे, कि इन पदों को ग्रहण करने के लिये गोयेनका बहादुर और झुंझनू के सेठ साहब से प्रार्थना की जाय। प्रार्थना स्वीकार होने पर मारवाड़ी समाज की यह त्रिदेवमूर्ति विद्यालय की कामना भी पूरी कर सकती है, इसमें सन्देह किसको हो सकता है ?

२य स्वामी श्री १०८ विशुद्धानन्द जी की दिव्यमूर्ति न खोलकर किसी दूसरे धनी पुरुष की प्रतिमा बनाई जावे और उसकी प्रतिष्ठा का आचार्य्य किसी लाटसाहब जैसे पुरुष को किया जाय।

३य विद्यार्थियों को इनाम बटवाना हो, तो किसी गौराङ्ग प्रभु की पधरावनी की जाय। जिस समय तक बड़े आदमियों को इस नामाङ्कित विद्यालय के वक्षःस्थल पर किसी अङ्गरेज का सबूट चरणारविन्द दिखाई न देगा तब तक उन्नति का उपाय होना भी कठिन है; तब तक मारवाड़ी विद्यार्थियों को यह ज्ञान भी न होगा, कि उनकी स्वामी जी के नाम में भी उतनी भक्ति नहीं है जितनी कि एक अंग्रेज के शुभ्रचरणारविन्द में। हिन्दुओं की लक्ष्मी ही नहीं, किन्तु विद्यादेवी भी अब उनके सबूट पद को सहन कर सकती है, यह दृश्य भी हिन्दू कोमल हृदय बालकों के लिए शिक्षाप्रद होगा।



7


भारती पुस्तकालय
3503